# एशिया का आधुनिक इतिहास

प्रथम भाग

( जापान, कोरिया, इन्डोचायना, फिलिप्पीन, इन्डोनीसिया,
थाईलेण्ड, मलाया और बरमा )

लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार, डी० लिट् (पेरिस)
( मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता )

प्रकाशक

सरस्वती सदन, मसूरी

करण ] मार्च, १९५२ [ मूल्य १०)

प्रकाशक
सरस्वती सदन, मसूरी (उत्तर-प्रदेश)

मुद्रक—
यूनाइटेड कमर्शियल प्रे० लि०
३२, सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट,
कलकत्ता-७

# प्रकाशक का निवेदन

स्वतन्त्र भारत के शासन विधान में यह बात स्वीकृत कर ली गई है, कि हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है, और अधिक से अधिक पन्द्रह वर्षों में भारत की संघ सरकार अपने प्रायः सभी कार्य हिन्दी में करने लगेगी। भारतीय संघ के अन्तर्गत अनेक राज्य हिन्दी को अपनी राजभाषा स्वीकार कर चुके हैं। अनेक विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा भी हिन्दी के माध्यम द्वारा दी जाने लगी है।

इस दशा में हिन्दी के लेखकों व प्रकाशकों पर विशेष उत्तरदायित्व आ गया है। अब यह आवश्यक हो गया है, कि इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, रसायन, भौतिकविज्ञान आदि सभी आधुनिक विषयों पर उच्च से उच्च ज्ञान हिन्दी में उपलब्ध हो। हिन्दी का साहित्य भण्डार विविध वैज्ञानिक व आधुनिक विषयों की उच्च कोटि की पुस्तकों से इतना अधिक परिपूर्ण हो जाय, कि किसी को यह कहने का अवसर न रहे, कि पुस्तकों की कमी के कारण हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने व सरकारी कार्यों के लिये प्रयुक्त करने में रुकावट होती है। हमारा प्रयत्न यह है, कि विविध विषयों पर उच्चकोटि की पुस्तकें हिन्दी में तैयार कराके उन्हें प्रकाशित करें।

इसी उद्देश्य से, दो साल हुए, हमने डा० सत्यकेतु विद्यालंकार द्वारा लिखित 'यूरोप का आधुनिक इतिहास' दो भागों में प्रकाशित किया था। हिन्दी संसार में इस पुस्तक का अच्छा आदर हुआ। इसका प्रथम संसकरण दो साल से भी कम समय में बिक कर समाप्त हो गया। अनेक विश्वविद्यालयों व कालिजों के अध्यापकों ने इस पुस्तक को बी० ए० के विद्यार्थियों के लिये प्रयुक्त किया। समाचारपत्रों और विविध विद्वानों ने भी इस पुस्तक का उत्साहपूर्वक स्वागत किया। इससे उत्साहित होकर हमने गत वर्ष राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्तों पर भी एक उच्च कोटि का ग्रन्थ प्रकाशित किया था। हमें सन्तोष है, कि इस पुस्तक का भी हिन्दी संसार ने स्वागत किया और अनेक विश्वविद्यालयों ने इसे बी० ए० की पाठ्य पुस्तकों में सम्मिलित कर हमारे उत्साह को बढ़ाया।

अब हम 'एशिया का आधुनिक इतिहास' लेकर आपके सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं। हमें आशा है, हिन्दी के विज्ञ पाठक हमारी अन्य पुस्तकों के समान इसका भी स्वागत करेंगे। एशिया के आधुनिक इतिहास पर सम्भवतः हिन्दी में यह प्रथम

पुस्तक है । इसमें चीन, जापान, कोरिया, फिलिप्पीन, इन्डोचायना, इन्डोनीसिया, थाईलैण्ड, मलाया और बरमा के आधुनिक इतिहास पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है । उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में ये देश किस प्रकार पाश्चात्य साम्राज्य-वाद के शिकार हुए, किस प्रकार इनमें राष्ट्रीय स्वाधीनता का आन्दोलन प्रबल हुआ और किस प्रकार ये देश बीसवीं सदी के मध्य भाग में साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त होकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के मार्ग पर अग्रसर हुए, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर इस पुस्तक में विस्तृत रूप से विचार किया गया है । 'एशिया का आधुनिक इतिहास' का द्वितीय भाग भी हम शीघ्र प्रकाशित कर रहे है । इसमें साइबीरिया, मध्य एशिया, अफगानिस्तान, ईरान, अरब और टर्की का आधुनिक इतिहास दिया जायगा ।

सम्भवत: पाठक यह स्वीकार करेंगे, कि हम अपने ग्रंथों की छपाई व कागज आदि की उत्कृष्टता पर विशेष ध्यान देते हैं । साधारणतया इस साइज की हिन्दी पुस्तकों में प्रति पृष्ठ २६ लाइनें दी जाती है । हम जहां प्रति पृष्ठ ३२ लाइन देते हैं, वहां प्रत्येक लाइन की चौड़ाई भी अधिक रखते हैं । इसीलिये हमारी पुस्तकों के एक पृष्ठ में जितना मैटर आता है, उतना साधारण छपाई की पुस्तकों के १॥ पृष्ठों में भी कठिनता से आता है । अत: हम विज्ञ पाठकों से अनुरोध करेंगे, कि हमारी पुस्तकों के मूल्य पर दृष्टिपात करते हुए हमारी पुस्तकों की छपाई, कागज, व पाठ्य सामग्री को भी ध्यान में रखने की कृपा करें । यूरोप और एशिया के इति-हास पर इसी ढंग की जो पुस्तकें अंग्रेजी में हैं, उनका मूल्य हमारी पुस्तकों के मुका-बले में तिगुने से भी अधिक होता है । उपन्यास आदि लोकप्रिय पुस्तकों की तुलना में इस ढंग की पुस्तकों का मूल्य अधिक होना स्वाभाविक है ।

आशा है, हमारी अन्य पुस्तकों के समान 'एशिया का आधुनिक इतिहास' का भी हिन्दी संसार में अच्छा आदर होगा।

सरस्वती सदन, मसूरी

# विषय-सूची

# सहायक पुस्तकों की सूची


Latourette K. S, : The Chinese : Their History and Calture.

Latourette K. S. : A Short History of the Far East.

Vinacke H. M. : A History of the Far East in Modern Times.

Gubbins J. H. : The Making of Modern Japan.

Holcombe A, N, : The Chinese Revolution.

Mclaren W. W. : A Political History of Japan during the Meiji Era.

Wells H. G. : Outline of History.

Bisson T. A. : Japan in China.

Borton H. : Japan since 1931.

Mills L. A. : The New World of South-east Asia.

Wehl D. : The Birth of Indonesia.

Van Mook H. J. : The Stakes of Democracy in South-east Asia.

Mills L. A. & Emerson R. : Government and Nationalism in South-east Asia.

Hammer E. : The Emergence of Viet Nam.

Chou Hsiang-Kuang : Modern History of China.

Keetan G. W. : China, The Far East and the Future.

Reischauer E. O. : Japan, Past and Present.

Takekoshi Y. : Self portrayal of Japan.

Yanaga C. : Japan since Perry.

Cambridge Modern History, Vols. XI & XII.

Payne R. : The Revolt of Asia.

Pannikar K. M. : The Future of South east Asia.

Furnivall J. S. : Netherlands India.

Thompson : Thailand, the New Siam.

Pankratova A. M. : A History of the U. S. S. R. (3 Vols).

Astafyev G. : China, from a Semi-colony to a People's Democracy.

Mao Tse-Tung : China's New Democracy.

Vasilieva V. Y. : Viet-Nam & Malaya fight for Freedom.

Shabshina F. I. : Korea after the Second World War.

Chatterji B. R. : The last Hundred Years in the Far East : Japan.

राहुल सांकृत्यायन : बौद्ध संस्कृति

राहुल सांकृत्यायन : तिब्बत में बौद्ध धर्म

इन पुस्तकों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ के लिखने के लिये निम्नलिखित पत्रिकाओं के विविध लेखों से सहायता ली गई है—

People's China.

Foreign Affairs Quarterly.

World Today.

विश्व दर्शन

Pacific Affairs

# प्रारम्भिक शब्द

हमारे देश के लिये एशिया का आधुनिक इतिहास बहुत अधिक महत्त्व रखता है। अठारहवीं सदी में यूरोप के साम्राज्यवादी देशों ने एशिया में अपने आधिपत्य का विस्तार शुरू किया। उन्नीसवी सदी के अन्त तक एशिया के प्राय: सब देशों में किसी न किसी रूप में यूरोप का प्रभुत्व व प्रभाव स्थापित हो गया। अनेक ऐतिहासिक यह प्रतिपादित करने लगे, कि पाश्चात्य जगत के गौराङ्ग लोग एशियन लोगों की तुलना में नसल व जाति की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट हैं, और यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि पाश्चात्य लोग संसार की अन्य जातियों पर शासन करें और उन्हें सभ्यता व संस्कृति का पाठ पढ़ावें। पर एशिया पर यूरोप का यह प्रभुत्व देर तक कायम नहीं रहा। बीसवी सदी में एशिया के प्राय: सभी देशों में राष्ट्रीय स्वाधीनता और लोकतंत्रवाद के आन्दोलन विकसित होने शुरू हो गये, और अब तक यह दशा आ चुकी है, कि एशिया पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से प्राय: मुक्त हो गया है।

एशिया में जो यह भारी परिवर्तन आया है, उसी का इतिहास मैंने इस ग्रन्थ म संक्षिप्त रूप से लिखने का प्रयत्न किया है। एशिया के विविध देशों की उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भकाल में क्या दशा थी, उन्नति की दौड़ में वे किस प्रकार यूरोप के मुकाबले में पीछे रह गये थे, पाश्चात्य देशों ने उन्हें किस प्रकार अपने साम्राज्यवाद का शिकार बनाया, पाश्चात्य देशों की आधुनिक वैज्ञानिक उन्नति के सम्पर्क में आकर किस प्रकार एशिया में नवजीवन का प्रारम्भ हुआ, किस प्रकार इन देशों में राष्ट्रीय स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद के आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, और किस प्रकार ये देश स्वतन्त्र होकर राष्ट्रीय उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुए,—इसी को प्रदर्शित करना इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। क्योंकि भारत भी एशिया का अन्यतम देश है, और प्राचीन समय में धर्म, ज्ञान और सभ्यता के क्षेत्र में एशिया का नेतृत्व करता रहा है, अत: भारतीय पाठकों के लिये एशिया के इस आधुनिक इतिहास का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है।

महाभारत के अनुसार इतिहास एक ऐसे प्रदीप के समान है, जो मोह (प्रेज्युडिस) रूपी अन्धकार का विनाश कर सब बातों व घटनाओं को उनके यथार्थ रूप

में प्रकट करता है। इसमें सन्देह नहीं, कि इतिहासकार को यही लक्ष्य अपने सम्मुख रखना चाहिये। ऐतिहासिक का कार्य यही है, कि वह सब घटनाओं को उनके यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करे, अपने विचारों और सम्मतियों को वह इतिहास लिखते हुए सामने न लावे। घटनाओं के यथार्थरूप में निरूपण द्वारा वह पाठकों को यह अवसर दे, कि वे स्वयं अपनी सम्मति बना सकें। ऐतिहासिक के लिये यह आदर्श निस्सन्देह अत्यन्त उच्च है, पर इसे क्रिया में परिणत कर सकना सुगम नहीं है। विशेषतया आधुनिक इतिहास को लिखते हुए किसी भी ऐतिहासिक के लिये यह सुगम नहीं होता, कि वह अपने विचारों व मत को भुलाकर घटनाओं के यथार्थ रूप को पाठकों के सम्मुख रख सके। वर्तमान युग विचारधाराओं के संघर्ष का युग है। वैयक्तिक सम्पत्ति पर आश्रित लोकतन्त्रवाद और समाजवाद के पारस्परिक संघर्ष के कारण इतिहासलेखक के लिये निष्पक्ष रहकर घटनाओं का यथार्थरूप से निरूपण कर सकना और भी अधिक कठिन हो गया है। दक्षिण-पूर्वी एशिया पर कुछ समय के लिये जापान ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, इस घटना का वृतान्त यूरोप के साम्राज्यवादी देशों के ऐतिहासिक इस ढंग से लिखते हैं, जैसे कि जापान इस क्षेत्र के लोगों के स्वाधीन जीवन का अन्त कर उन्हें अपना गुलाम व वशवर्ती बनाने के लिये प्रयत्नशील था। जिन लोगों को जापान के उत्कर्ष के कारण पाश्चात्य साम्राज्यवाद से छुटकारा पाने का अवसर मिला, वे इस घटना के सम्बन्ध में दूसरा ही दृष्टिकोण रखते हैं। आधुनिक इतिहास पर लिखे हुए विविध ग्रन्थों को पढ़िये, उनमें आपको भारी मतभेद दृष्टिगोचर होगा। रूस व चीन के कम्युनिस्ट लेखक एक घटना को किस ढंग से लिखते हैं, अमेरिका व ब्रिटेन के ऐतिहासिक उसे सर्वथा भिन्नरूप से प्रतिपादित करते हैं। इस दशा में निष्पक्ष ऐतिहासिक का कार्य और भी अधिक कठिन हो जाता है। मैंने इस बात का प्रयत्न किया है, कि इस पुस्तक में प्रत्येक घटना को निष्पक्ष रूप से प्रतिपादित करूँ, अपने विचारों को कहीं प्रकट न होने दूं। एशिया के आधुनिक इतिहास के सम्बन्ध में मैं भी अपने विचार रखता हूँ, समाजवाद और लोकतन्त्रवाद जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर मेरे कोई अपने विचार न हों, यह बात नहीं है। पर मैंने उन विचारों को इस इतिहास से पृथक् रखने का प्रयत्न किया है। मुझे अपने प्रयत्न में कहां तक सफलता हुई है, इसका निर्णय तो पाठक ही कर सकते हैं।

भारत में अभी एशिया के इतिहास के अध्ययन को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। यूरोप का इतिहास हमारे विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत है, और शिक्षित लोग शौक से उसका अध्ययन करते हैं। पर संसार की राजनीति में अब एशिया का महत्त्व निरन्तर बढ़ता रहा है। चीन, भारत, इन्डोनीसिया आदि विविध

एशियन देश पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त होकर जिस तेजी के साथ उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं, उसके कारण अब एशिया संसार में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त करने लगा है। इस दशा में हमारे लिये एशिया के इतिहास का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है। यह प्रसन्नता व सन्तोष की बात है, कि कतिपय विश्वविद्यालयों ने एशिया के आधुनिक इतिहास को भी वैकल्पिक रूप से अपने पाठ्य विषय में स्थान दिया है। इससे हमारे देश के नवयुवकों में एशियन इतिहास के प्रति रुचि बढ़ेगी। चीन, इन्डोनीसिया, इन्डोचायना, थाईलैण्ड आदि एशियन देश सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से हमारे बहुत समीप हैं। उनके सहयोग से भारत संसार की राजनीति में अपने उन उच्च आदर्शों व विचारों को समाविष्ट कर सकता है, जिन पर मानव समाज का हित व कल्याण निर्भर है। मुझे आशा है, कि इस पुस्तक द्वारा हिन्दी पाठकों को एशिया के आधुनिक इतिहास को समझने में सहायता मिलेगी और वे अपने पड़ोसी देशों के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातें जान सकेंगे।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ज्ञान के उपार्जन और
सरस्वती की सेवा में व्यतीत किया, और जिनकी
यह हार्दिक इच्छा थी, कि मैं भी उन्हीं के
पदचिह्नों का अनुसरण करूं, अपने
उन धर्मपिता (श्वसुर)
**स्वर्गीय श्री पण्डित भवानीप्रसादजी**
की पुण्य स्मृति में

पहला अध्याय

# विषय प्रवेश

## (१) प्रस्तावना

संसार के इतिहास में एशिया का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। मानव सभ्यता का उदय सबसे पूर्व एशिया में ही हुआ था। सिन्ध और गंगा, युफ्रेटिस और टिग्रिस, ह्वांग-हो और यांग-त्से-कियांग नदियों की घाटियों में अत्यन्त प्राचीन समय में जिन सभ्यताओं का विकास हुआ था, उन्होंने मनुष्य जाति के इतिहास को बहुत प्रभावित किया है। संसार के सभी प्रमुख धर्मों का अभ्युदय एशिया में हुआ। बुद्ध, ईसा और मुहम्मद एशिया के ही निवासी थे। बौद्ध धर्म के प्रचारकों ने मनुष्य जाति के बहुत बड़े भाग को अपने विचारों द्वारा प्रभावित किया। इस्लाम के अनुयायियों ने उत्तरी अफ्रीका और यूरोप में भी अपने धर्म का विस्तार किया। किसी समय स्पेन, सिसली और बाल्कन प्रायद्वीप में भी इस्लाम की सत्ता थी। पश्चिमी एशिया में प्रादुर्भूत हुए ईसाई धर्म ने तो न केवल यूरोप में अपितु अमेरिका में भी करोड़ों नर-नारियों को अपना अनुयायी बनाया। ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में भी एशिया संसार का अगुआ रह चुका है। गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों का विकास सबसे पूर्व एशिया में ही हुआ था। दिग्दर्शक यन्त्र, छापाखाना और बारूद भी पहले पहल एशिया में ही आविष्कृत हुए थे। राजनीतिक दृष्टि से भी किसी समय एशिया संसार का नेतृत्व कर चुका है। यदि यूरोप से सिकन्दर ने एशिया पर आक्रमण किया था, तो प्रसिद्ध मंगोल विजेता चंगेज खां और बातू खां भी उराल पर्वतमाला को पारकर सम्पूर्ण रूस को अपने आधिपत्य में लाने में समर्थ हुए थे। मंगोल और तुर्क आक्रान्ताओं ने यूरोप में वीएना तक पर आक्रमण किये थे। अरब लोग तो सम्पूर्ण स्पेन को अपनी अधीनता में लाकर फ्रांस के दक्षिण में पिरेनीज की पर्वतमाला तक अपनी शक्ति का विस्तार करने में समर्थ हुए थे। यदि पिछली दो सदियों के इतिहास को आंखों से ओझल कर दिया जाय, तो यह समझ सकने में जरा भी कठिनाई नहीं होगी, कि धर्म, सभ्यता, संस्कृति, विज्ञान और राजनीति के क्षेत्रों में एशिया का महत्त्व यूरोप से बहुत अधिक रहा है और एशिया इन सब विषयों में मानव समाज का नेतृत्व करता रहा है।

पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम भाग में यूरोप के आधुनिक उत्कर्ष का सूत्रपात हुआ। जब पश्चिमी एशिया से अरब लोगों के प्रभुत्व का अन्त होकर तुर्क लोगों की शक्ति स्थापित हुई, तो यूरोप के व्यापारियों और मल्लाहों ने एशिया के देशों के साथ सम्पर्क रखने के लिये नये मार्गों की खोज शुरू की। इसी प्रयत्न के कारण उन्हें अमेरिका का पता लगा और वे अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत आदि प्राच्य देशों में आने जाने लगे। सोलहवीं और सतरहवीं सदियों में यूरोपियन लोगों ने एशिया के विविध देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों का विकास किया। पर इस काल में एशिया की राजनीतिक शक्ति निर्बल नहीं थी। भारत के मुगल सम्राट् और चीन के मिंगवंशी सम्राट् राज्यशक्ति की दृष्टि से यूरोप के किसी राजा या सम्राट् के मुकाबले में हीन नहीं थे। दिल्ली और पेकिंग के राजदरबार वैभव, कला, समृद्धि व सैन्यशक्ति की दृष्टि से पेरिस, वीएना व मैड्रिड के राजदरबारों के मुकाबले में कहीं बढ़े चढ़े हुए थे। अठारहवीं सदी में यूरोप के लोगों ने एशिया के विविध प्रदेशों में अपने प्रभुत्व को स्थापित करना शुरू किया। भारत में मुगल बादशाहत इस समय निर्बल होने लग गई थी। दिल्ली के सम्राटों के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे सुदूरवर्त्ती प्रान्तों पर अपने प्रभुत्व को कायम रख सकें। परिणाम यह हुआ, कि भारत की राजनीतिक दुर्बलता से लाभ उठाकर फ्रेञ्च और अंग्रेज लोगों ने इस देश में अपने राजनीतिक प्रभुत्व की नींव डालनी प्रारम्भ कर दी। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक अंग्रेज लोग भारत में अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफल हो गये। पर इस समय तक चीन, जापान, अरब, ईरान आदि एशियन देश यूरोप के राजनीतिक प्रभुत्व में नहीं आये थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में विविध पाश्चात्य देशों ने पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया। बीसवीं सदी के शुरू तक यह दशा आ गई थी, कि जापान के अतिरिक्त अन्य सब एशियन देश किसी न किसी रूप में पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व में आ गये थे। एक तरफ जहां भारत, बरमा, लंका, फिलिप्पीन, इण्डोनीसिया, इण्डोचायना आदि विविध देश राजनीतिक दृष्टि से किसी न किसी पाश्चात्य देश के अधीन थे, वहां चीन, तिब्बत, पर्शिया, अरब आदि देशों पर पाश्चात्य देशों का आर्थिक व अन्य प्रकार का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। लेकिन एशिया पर यूरोप व अमेरिका का यह प्रभुत्व देर तक स्थिर नहीं रह सका। बीसवीं सदी के मध्य भाग तक भारत, लंका, बरमा, अरब, इण्डोनीसिया आदि सब देश पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकंजे से मुक्त हो गये। जो चीन पाश्चात्य देशों के आर्थिक साम्राज्यवाद का बुरी तरह से शिकार था, वह न केवल पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया, अपितु संसार की सर्वप्रधान राजनीतिक शक्तियों में गिना जाने लगा। एशियन देशों की पराधीनता का काल बहुत देर

तक नहीं रहा । भारत सवा सदी के लगभग तक अंग्रेजों की अधीनता में रहा, और अन्य एशियन देशों की पराधीनता का काल आधी सदी से लेकर एक व सवा सदी तक रहा । मानव जाति का इतिहास हजारों साल पुराना है । यदि संसार के इतिहास की दृष्टि से एशिया के राजनीतिक अपकर्ष के काल को देखा जाय, तो वह बहुत ही छोटा प्रतीत होगा । इससे कहीं अधिक समय तक उत्तरी व पूर्वी यूरोप एशियन देशों की अधीनता में रहा था । आज एशिया स्वतन्त्र हो चुका है । उसके कुछ प्रदेशों पर पाश्चात्य देशों का जो प्रभाव व प्रभुत्व अब तक भी कायम है, उसे नष्ट होने में भी अधिक समय नहीं लगेगा, यह बात सर्वथा निश्चित है । अब वह समय दूर नहीं है, जब एशिया संसार के इतिहास में फिर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसका प्रमुख स्थान होगा ।

इस पुस्तक में एशिया का आधुनिक इतिहास हमें लिखना है । एशिया के विविध देश किस प्रकार पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद के शिकार हुए, उनमें किस प्रकार राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई, किस प्रकार उन्होंने अपनी आन्तरिक निर्बलताओं को दूर कर उन्नति के मार्ग पर कदम बढ़ाया और किस प्रकार वे विदेशी प्रभुत्व को नष्ट कर अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करने में सफल हुए—इसी का वृत्तान्त संक्षिप्त रूप से लिखना इस ग्रन्थ का प्रयोजन है । अठारहवीं सदी में यूरोप में वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रारम्भ हुआ था । व्यावसायिक क्रान्ति में पहल करने के कारण पाश्चात्य देशों को यह अवसर मिल गया था, कि वे एशिया पर अपना प्रभुत्व कायम कर लें । किसी समय बारूद आदि के आविष्कार में पहल करने के कारण एशियन देश भी इसी प्रकार अपना उत्कर्ष करने में समर्थ हुए थे । पर एशिया पर पाश्चात्य संसार का यह आधिपत्य केवल सामयिक था । यूरोप के लोगों में कोई ऐसी स्वाभाविक उत्कृष्टता नहीं थी, कि वे एशियन देशों को सदा के लिये अपनी अधीनता में रख सकते । लगभग सवा सदी के समय में पाश्चात्य लोगों के उत्कर्ष का अन्त हो गया और स्वाधीन एशिया फिर से अपने उत्कर्ष में प्रवृत्त हो गया । इस ग्रन्थ में हमें एशिया के इसी संघर्ष का वृत्तान्त लिखना है ।

## (२) एशिया महाद्वीप

**एशिया की विशालता**—पृथिवी के सब महाद्वीपों में एशिया सबसे अधिक विशाल है । इसका क्षेत्रफल १,७०,००,००० वर्गमील के लगभग है । उत्तरी ध्रुव के हिममय समुद्र से शुरू होकर दक्षिण में यह भूमध्यरेखा के भी नीचे तक फैला हुआ है । एशिया के अन्तर्गत अनेक द्वीप भूमध्यरेखा के दक्षिण में भी स्थित हैं । सम्पूर्ण भूमण्डल का एक तिहाई स्थल भाग एशिया में है । इस विशाल

महाद्वीप की जनसंख्या १,२०,००,००,००० के लगभग है। क्षेत्रफल और जनसंख्या दोनों की दृष्टि से पृथिवी का अन्य कोई महाद्वीप एशिया का मुकाबला नहीं कर सकता।

एशिया में सब प्रकार की प्राकृतिक परिस्थितियां, जलवायु और भौगोलिक दशाएं विद्यमान हैं। जहां एक तरफ इसमें ऐसे प्रदेश हैं, जो प्रायः बारहों महीने हिम से आच्छादित रहते हैं, वहां ऐसे भी प्रदेश हैं, जहां ग्रीष्म की प्रचण्डता मनुष्य और जीव-जन्तुओं को व्याकुल कर देती है। कुछ स्थान रेगिस्तान हैं, कुछ ऊंचे पथार हैं, कुछ शस्यश्यामल उपजाऊ मैदान हैं और कुछ सघन जंगलों से आवृत हैं। पृथिवी की कोई भी ऐसी प्राकृतिक दशा नहीं है, जो एशिया में न पाई जाती हो। यही कारण है, कि इस महाद्वीप में बहुत सी विभिन्न जातियों का निवास है, जो सभ्यता की दृष्टि से एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इसके कुछ प्रदेशों में अब तक ऐसी जातियां बसती हैं, जो इस बीसवीं सदी में भी प्रस्तर युग से आगे नहीं बढ़ सकी हैं। दूसरी तरफ इसमें ऐसे लोग भी विद्यमान हैं, जो सभ्यता के क्षेत्र में यूरोप और अमेरिका के अत्यन्त उन्नत व सभ्य लोगों के समकक्ष हैं। पहाड़ों की गुफाओं, खाल के डेरों और फूंस के झोंपड़ों में निवास करनेवाले लोगों के साथ-साथ एशिया में ऐसे भी लोग निवास करते हैं, जो लोहे और सीमेन्ट की बनी विशाल इमारतों में रहते हैं, और जो उपरली मंजिलों तक पहुंचने के लिये बिजली के लिफ्टों का उपयोग करते हैं। तेल अवीव, जमशेदपुर, कोम्सोमोल्स्क सदृश एशियन नगर व्यावसायिक क्षेत्र में यूरोप व अमेरिका के प्रसिद्ध व्यावसायिक केन्द्रों का सुगमता से मुकाबला कर सकते हैं।

**एशिया की एकता**—एशिया में अनेक भाषाओं, अनेक जातियों, अनेक धर्मों व अनेक संस्कृतियों की सत्ता है। इस महाद्वीप के ठीक मध्य में हिमालय तथा उससे सम्बद्ध पर्वतों की एक ऐसी शृंखला है, जो ५००० मील के लगभग लम्बी है। इसकी अधिकतम चौड़ाई भी २००० मील के लगभग है। पर्वतों, नदियों, रेगिस्तानों और समुद्रों ने एशिया को अनेक ऐसे विभागों में विभक्त कर दिया है, जहां न केवल पृथक् राज्यों का अपितु पृथक् सभ्यताओं का भी विकास हुआ है। राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एशिया को एक नहीं समझा जा सकता। यही कारण है, कि विविध एशियन देशों का समग्र रूप से एक साथ इतिहास लिख सकना सुगम कार्य नहीं है। एशिया की विशालता और विविधता ऐतिहासिक के सम्मुख एक विकट समस्या उपस्थित करती है, और उसके कार्य को अत्यन्त कठिन बना देती है।

धर्म, नसल, जाति, भाषा, सभ्यता, संस्कृति, भौगोलिक दशा और ऐतिहासिक परम्परा की विभिन्नता के बावजूद भी विविध एशियन देशों ने कुछ ऐसी समानताएं

हैं, जो उसके निवासियों को यूरोप, अफ्रीका व अमेरिका के लोगों से पृथक् करती हैं। अरब, भारत और चीन अत्यन्त प्राचीन समय से उन्नत सभ्यताओं के केन्द्र रहे हैं। इन प्राचीन सभ्यताओं में परस्पर सम्बन्ध भी विद्यमान था। मैसोपोटामिया की प्राचीन सुमेरियन, असीरियन और बैबिलोनियन सभ्यताओं का भारत की सिन्ध नदी की घाटी की सभ्यता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। प्राचीन भारतीय आर्य चीन से परिचय रखते थे और इन दोनों देशों का व्यापारिक सम्बन्ध था। ईरान, भारत, अफगानिस्तान, एशिया माइनर और मध्य एशिया में कभी एक ही आर्य जाति का विस्तार हुआ था, और इन सब देशों के धर्म व संस्कृति में बहुत कुछ समता थी। बौद्ध धर्म का प्रचार न केवल भारत में, अपितु मध्य एशिया, अफगानिस्तान, चीन, जापान, लंका, बरमा, मलाया, स्याम, तिब्बत आदि सर्वत्र हुआ और उसके कारण एक समय में एशिया के बहुत बड़े भाग में धार्मिक व सांस्कृतिक एकता की स्थापना हुई। इस्लाम के धर्म प्रचारक दक्षिणी एशिया के प्रायः सभी देशों में धर्म प्रचार के लिये गये, और उनके प्रयत्नों से एशिया के अच्छे बड़े भाग में धार्मिक एकता का विकास हुआ। बौद्ध धर्म और इस्लाम के कारण एशिया के निवासियों का जीवन के सम्बन्ध में एक ऐसा विशिष्ट दृष्टिकोण है, जो यूरोप व अमेरिका में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव भारत में हुआ था और उसके धार्मिक सिद्धान्त भारत के प्राचीन आर्य धर्म से घनिष्ठ सामीप्य रखते हैं, अतः एशिया की संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्त इस प्रकार के हैं, जो इस महाद्वीप के बड़े भाग में समान रूप से मान्य हैं। राजनीतिक दृष्टि से भी बहुत से एशियन देश एक शासन में रह चुके हैं। चंगेज खां द्वारा स्थापित मंगोल साम्राज्य पूर्व में प्रशान्त महासागर से शुरू कर पश्चिम में कैस्पियन सागर तक विस्तृत था। उसका विस्तार उत्तर में साइबीरिया तक और दक्षिण में ईरान की खाड़ी तक था। भारत का उत्तर पश्चिमी भाग भी कुछ समय के लिये मंगोल साम्राज्य के अन्तर्गत रहा था। चीन के अतिरिक्त अन्य भी अनेक एशियन देश मंगोल साम्राज्य के अधीन थे। आधुनिक समय में एशिया के बहुसंख्यक देश यूरोप और अमेरिका के साम्राज्यवाद के समान रूप से शिकार हुए। विज्ञान के क्षेत्र में यूरोप के लोगों ने जो एशिया की अपेक्षा पहले उन्नति की, उसके कारण विविध यूरोपियन देश एशिया के बड़े भाग को अपनी अधीनता व प्रभाव में ला सकने में समर्थ हुए। बीसवीं सदी में एशिया में सर्वत्र राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियां प्रबल होनी शुरू हुईं, और पिछले दस सालों में प्रायः सभी एशियन देश यूरोप व अमेरिका के साम्राज्यवाद से छुटकारा पाने में समर्थ हुए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, एशिया के इतिहास को समग्र रूप से एक साथ लिख सकने के लिये पर्याप्त कारण विद्यमान

है। विशेषतया, एशिया के आधुनिक इतिहास को लिखते हुए ऐतिहासिक को जिन घटनाओं व प्रवृत्तियों को स्पष्ट करना है, वे प्रायः सभी एशियन देशों के लिये एक समान हैं। एशिया अठारहवीं सदी में यूरोपियन लोगों के चंगुल में फंसना शुरू हुआ। उन्नीसवीं सदी तक प्रायः सब एशियन देश श्वेताङ्ग साम्राज्यवाद के शिकार हो गये, उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में सर्वत्र जागृति प्रारम्भ हुई, और बीसवीं सदी के मध्य तक प्रायः सम्पूर्ण एशिया राष्ट्रीय स्वाधीनता स्थापित करने में समर्थ हुआ। इस इतिहास में हमें एशिया के इसी इतिवृत्त को संक्षेप के साथ उपस्थित करना है।

**एशिया के विविध विभाग**—भौगोलिक दृष्टि से एशिया को छः भागों में विभक्त किया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन छः विभागों का उपयोग है। ये विभाग निम्नलिखित हैं:—

(१) पूर्वी एशिया—इसमें चीन, कोरिया, मंचूरिया, जापान और प्रशान्त महासागर के तटवर्ती विविध द्वीप अन्तर्गत हैं।

(२) दक्षिणी-पूर्वी एशिया—बरमा, इण्डो-चायना, सियाम, मलाया, सुमात्रा, बोर्नियो, जावा, फिलिप्पीन द्वीप समूह और प्रशान्त महासागर में स्थित हजारों छोटे बड़े द्वीप इसके अन्तर्गत हैं।

(३) उत्तरी एशिया—एशिया के जो उत्तरी प्रदेश इस समय सोवियत रूस के अधीन हैं, उन्हें उत्तरी एशिया कह सकते हैं।

(४) एशिया का विशाल पथार या ऊर्ध्व एशिया—इसमें तिब्बत, सिंगकियांग और बाह्य मंगोलिया के प्रदेश अन्तर्गत हैं। यह प्रदेश न केवल पर्वत प्रधान है, पर इसके मैदान भी समुद्रतट से बहुत अधिक ऊंचाई पर होने के कारण एक पथार के रूप में हैं।

(५) भारतवर्ष—भारत, पाकिस्तान, लंका और अफगानिस्तान इसके अन्तर्गत हैं। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से इस समय ये चारों राज्य एक दूसरे से पृथक् हैं, पर भौगोलिक व ऐतिहासिक दृष्टि से इनकी एकता में कोई सन्देह नहीं हो सकता।

(६) दक्षिण पश्चिमी एशिया—टर्की, अरब और ईरान इसके अन्तर्गत हैं। ये मुसलिम सभ्यता के केन्द्र हैं, और ऐतिहासिक दृष्टि से इनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

एशिया के इस आधुनिक इतिहास को लिखते हुए हम इन्हीं विभागों का उपयोग करेंगे। ऐतिहासिक दृष्टि से भी ये एक दूसरे से पृथक रहे हैं, और इनके इतिवृत्त का पृथक् रूप से निरूपण विषय को स्पष्ट करने के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

**विविध विभागों का क्षेत्रफल और जनसंख्या**—एशिया के इन विविध विभागों का कितना कितना क्षेत्रफल है, और उनमें कितने मनुष्य निवास करते हैं, इसका उल्लेख भी आवश्यक है । इससे यह भी भलीभांति स्पष्ट हो सकेगा, कि किस विभाग में कितने मनुष्य प्रति वर्गमील में निवास करते हैं ।

| विभाग | क्षेत्रफल | जनसंख्या प्रति वर्गमील | आबादी |
|---|---|---|---|
| पूर्वी एशिया | १७,००,००० | ५२,३०,००,००० | ३०८ |
| दक्षिण-पूर्वी एशिया | १७,००,००० | १५,१०,००,००० | ९० |
| उत्तरी एशिया | ६३,००,००० | ४,१०,००,००० | ७ |
| पथार का प्रदेश | २८,००,००० | १,७०,००,००० | ६ |
| भारतवर्ष | १७,००,००० | ३६,४०,००,००० | २३२ |
| दक्षिण-पश्चिमी एशिया | २५,००,००० | ५,५०,००,००० | २२ |
| सम्पूर्ण एशिया | १,६७,००,००० | १,१८,१०,००,००० | ७१ |
| सम्पूर्ण पृथिवी (स्थल) | ५,००,००,००० | २,१५,५०,००,००० | ४३ |

इस तालिका से स्पष्ट है, कि एशिया के कतिपय प्रदेशों में जनसंख्या क्षेत्रफल के अनुपात से बहुत अधिक है । चीन और जापान में ३०८ मनुष्य प्रति वर्गमील में रहते हैं, इसी तरह भारतवर्ष की आबादी प्रति वर्गमील में २३२ है । इसके विपरीत सोवियत रूस द्वारा अधिकृत उत्तरी एशिया में आबादी बहुत कम है । वहां एक वर्गमील में केवल सात मनुष्यों का निवास है । इसी प्रकार तिब्बत, सिंगकियांग और बाह्य मंगोलिया के पथार में एक वर्गमील में केवल छः मनुष्यों की आबादी है । अरब के दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में भी क्षेत्रफल के अनुपात से बहुत कम मनुष्यों का निवास है । अब तक इतिहास में प्राकृतिक परिस्थितियां जनसंख्या पर बहुत प्रभाव डालती थीं । शस्य श्यामल उपजाऊ प्रदेशों में अधिक मनुष्य बसते थे, और रेगिस्तान, पथार व झाड़ियों से आच्छादित प्रदेशों में मनुष्य को अपने लिये भोजन व अन्य सामग्री इतनी मात्रा में उपलब्ध नहीं होती थीं, कि वहां जनसंख्या अधिक बढ़ सके । यही कारण है, कि उत्तरी एशिया व एशिया के विशाल पथार में अधिक जनसंख्या नहीं हो सकी । पर आधुनिक युग में जो वैज्ञानिक उन्नति हुई है, उनके कारण इस दशा में बहुत परिवर्तन हो गया है । मनुष्य विज्ञान की सहायता से उजाड़ प्रदेशों को खेती के लिये उपयुक्त बना सकता है, और वह रेगिस्तान, पथार आदि से भी ऐसे पदार्थों को प्राप्त कर सकने की आशा रखता है, जो मानव के हित और कल्याण के लिये अत्यन्त सहायक हों । इसी-

लिये एशिया में सोवियत रूस का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। ६३ लाख वर्गमील का जो विशाल भूखण्ड उसके संघराज्य के अन्तर्गत है, वह भविष्य में उसकी समृद्धि में बहुत सहायक हो सकता है। यही कारण है, कि तिब्बत, सिंगकियांग और बाह्य मंगोलिया के प्रदेशों पर विविध उन्नत देश अपना आधिपत्य व प्रभाव स्थापित करने के लिये उत्सुक हैं। भारत, चीन और जापान में जो एक अरब के लगभग लोग निवास करते हैं, वे भी विश्व की राजनीति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण अस्त्र-शस्त्रों का चाहे युद्ध के लिये कितना ही महत्त्व बढ़ गया हो, पर वर्तमान समय में भी अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के लिये जनसंख्या का बहुत महत्त्व है। एशिया के विविध प्रदेशों में जनसंख्या का जो अन्तर है, वह भी आधुनिक इतिहास पर बहुत प्रभाव डालता है। जापान जो साम्राज्य विस्तार के लिये विशेष रूप से तत्पर हुआ, उनमें उसकी अत्यधिक जन-संख्या भी एक महत्त्वपूर्ण कारण थी। भारत के लोग जो बहुत बड़ी संख्या में अन्य देशों में मजदूरी आदि की तलाश में गये, उसमें भी इस देश की सघन आबादी एक बड़ा कारण थी। इसमें सन्देह नहीं, कि भविष्य में एशिया की जनसंख्या की यह विभिन्नता एशिया महाद्वीप के इतिहास पर बहुत अधिक प्रभाव डालेगी।

## (३) एशिया के आधुनिक इतिहास का विषय विभाग

एशिया अत्यन्त विशाल महाद्वीप है, और भौगोलिक व ऐतिहासिक दृष्टि से इसे अनेक विभागों में विभक्त किया जा सकता है। यह सम्भव नहीं है, कि सम्पूर्ण एशिया के इतिहास को एक देश के इतिहास के रूप में लिखा जा सके। एशिया के आधुनिक इतिहास की जिन बातों पर हमें विशेष रूप से प्रकाश डालना है, वे निम्न-लिखित हैं:—(१) एशिया के विविध देश किस प्रकार पाश्चात्य देशों के साम्राज्य-वाद के शिकार हुए। (२) साम्राज्यवाद के शिकार होने के समय इन देशों की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक दशा किस प्रकार की थी। इन देशों में वे कौन सी निर्बलतायें थीं, जिनके कारण ये इतनी सुगमता से साम्राज्यवाद के शिकार हो गये। (३) इन देशों में किस प्रकार राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई और ये किस प्रकार उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुए। (४) किस प्रकार इन देशों ने पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकंजों से छुटकारा पाकर स्वतन्त्रता प्राप्त की और अब इन देशों की क्या दशा है?

इन बातों पर विचार करने के लिये हम एशिया के आधुनिक इतिहास का विषय विभाग इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) **चीन और जापान**—इन्हीं को हमने पहले पूर्वी एशिया के नाम से

कहा है। उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में पाश्चात्य देशों ने इनमें अपने प्रभुत्व की स्थापना शुरू की। जापान शीघ्र ही विदेशी प्रभाव से मुक्त होकर उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ हुआ और पाश्चात्य देशों के समान स्वयं भी साम्राज्यवाद के प्रसार के लिये तत्पर हुआ। जापान के साम्राज्यवाद का क्षेत्र प्रधानतया चीन था, अतः इन दोनों देशों का इतिहास एक दूसरे से सम्बद्ध है। इनके इतिहास को हमने इस ग्रन्थ में हमने एक साथ लिखा है। तिब्बत और सिंगकियांग के प्रदेश चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत हैं, और ऐतिहासिक दृष्टि से इनका चीन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अतः इनका इतिहास भी चीन और जापान के साथ लिखना ही उचित और क्रियात्मक है। राजनीतिक दृष्टि से मंगोलिया दो भागों में विभक्त है, बाह्य मंगोलिया और आभ्यन्तर मंगोलिया। इस समय बाह्य मंगोलिया में सोवियत रिपब्लिक विद्यमान है और आभ्यन्तर मंगोलिया चीन का एक भाग है। अतः आभ्यन्तर मंगोलिया का इतिहास चीन और जापान के साथ लिखना उचित है, और बाह्य मंगोलिया के इतिहास की कुछ घटनाएं जहां चीन के साथ आवेंगी वहां उसका मुख्य इतिहास रूस के साथ दिया जायगा।

(२) **दक्षिण-पूर्वी एशिया**—इस क्षेत्र में जो अनेक देश व द्वीप सम्मिलित हैं, वे उन्नीसवीं सदी में पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व में आये। ब्रिटिश, पोर्तुगीज, डच, फ्रेंच और अमेरिकन लोग इनमें अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफल हुए। इनका इतिहास हम पृथक् रूप से लिखेंगे।

(३) **उत्तरी एशिया**—इस सुविस्तृत प्रदेश में रूस ने अपने आधिपत्य का विस्तार किया। यह अब भी रूस के अधीन है। रूस में इस समय समाजवादी व्यवस्था के अनुसार शासनसूत्र का पुनः संगठन हो चुका है और उत्तरी एशिया के प्रदेश को विविध सोवियत रिपब्लिकों के रूप में संगठित कर दिया गया है, और ये रिपब्लिकें रूसी सोवियत संघ के अन्तर्गत हैं। इस क्षेत्र में रूस के प्रभुत्व का किस प्रकार विकास हुआ और फिर किस प्रकार इसमें स्वतन्त्र समाजवादी रिपब्लिकों की स्थापना हुई, इसका वृत्तान्त पृथक् रूप से ही दिया जाना उचित है। बाह्य मंगोलिया और मध्य एशिया के प्रदेशों में भी इस समय सोवियत रिपब्लिकें स्थापित हैं। पहले ये रूसी साम्राज्यवाद के शिकार हुए और फिर रूस में समाजवादी व्यवस्था के स्थापित होने पर इन्हें पृथक् व स्वतन्त्र रिपब्लिकों के रूप में परिणत किया गया। अतः इनका वृत्तान्त भी उत्तरी एशिया के साथ देना ही अधिक क्रियात्मक होगा।

(४) **दक्षिण-पश्चिमी एशिया**—इसमें टर्की, अरब और ईरान सम्मिलित हैं। ये सब मुस्लिम राज्य हैं, और इनका इतिहास प्रायः अन्य एशियन देशों से पृथक रहा

है। अरब पहले तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत था। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में वह टर्की की अधीनता से मुक्त हुआ, पर यूरोपियन देशों के प्रभाव में आ गया। बाद में उसने पाश्चात्य प्रभाव से स्वतन्त्रता प्राप्त की। ईरान ब्रिटिश और रूसी साम्राज्यवाद का शिकार हुआ और अब तक भी वह इन देशों के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सका है। ऐतिहासिक दृष्टि से अफगानिस्तान का सम्बन्ध भारत से अधिक रहा है। पर क्योंकि इस ग्रन्थ में हम भारत का इतिहास विशद रूप से नहीं लिखेंगे, अतः अफगानिस्तान की ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य मुसलिम देशों के साथ करना ही क्रियात्मक होगा।

(५) **भारतवर्ष**—एशिया के आधुनिक इतिहास में भारत का बहुत अधिक महत्त्व है। पर क्योंकि इस ग्रन्थ के पाठक भारत के इतिहास से भलीभांति परिचित होंगे, अतः हमारे लिये यह उचित नहीं होगा, कि उस पर हम संक्षेप के साथ भी प्रकाश डालें। यदि एशिया का आधुनिक इतिहास भारतीयों के अतिरिक्त अन्य देशों के पाठकों के लिये लिखा जायगा, तो उसमें भारत के इतिहास को चीन और जापान के वृत्तान्त के समान ही प्रमुख स्थान दिया जायगा। पर हम भारत के इतिहास की केवल उन घटनाओं का ही उल्लेख करेंगे, जो अन्य एशियन देशों के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं।

इस ग्रन्थ में एशिया के आधुनिक इतिहास को लिखते हुए हम इसी विषय विभाग का उपयोग करेंगे।

## (४) चीन का प्राचीन इतिहास

एशिया के आधुनिक इतिहास को भलीभांति समझने के लिये यह आवश्यक है, कि हम उसके प्राचीन व मध्यकालीन इतिहास का भी संक्षेप के साथ उल्लेख करें। पर विषय के प्रतिपादन की दृष्टि से यह अधिक उपयोगी होगा, कि हम इस प्रकरण में पहले केवल पूर्वी एशिया और विशेषतया चीन के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालें। अन्य एशियन देशों के प्राचीन इतिहास का निदर्शन तभी अधिक उपयुक्त होगा, जब हम इन देशों के आधुनिक इतिहास को शुरू करेंगे।

**प्राचीन चीन**—उत्तरी चीन में अनेक स्थानों पर पुरातन प्रस्तर युग के अवशेष मिले हैं। इससे सूचित होता है, कि प्राचीन काल में भी इस देश में मनुष्य जाति का निवास था, और चीन के ये प्राचीनतम निवासी सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर होना शुरू कर चुके थे। चीन में कई स्थानों पर नूतन प्रस्तर युग के भी अवशेष मिले हैं। ये लोग पत्थर के बने हुए सुन्दर उपकरणों का प्रयोग करते

थे, बरतन बनाते थे और खेती द्वारा अनाज उत्पन्न करना भी प्रारम्भ कर चुके थे।

पर चीन में सबसे पहली उन्नत सभ्यता का विकास ह्वांग हो और यांग-त्से कियांग नदियों की घाटियों में हुआ। ये दोनों नदियां तिब्बत की उत्तरी पर्वतमाला से निकलती हैं, और हजारों मील की यात्रा कर प्रशान्त महासागर में मिल जाती हैं। इन नदियों के तटवर्ती प्रदेश बहुत उपजाऊ हैं। बहुत प्राचीन काल में मनुष्यों ने इनमें बस कर खेती और पशुपालन करके अपना निर्वाह प्रारम्भ किया था। धीरे धीरे उनकी बहुत सी बस्तियां इस प्रदेश में बस गईं। शुरू में ये बस्तियां नगर-राज्यों के रूप में थीं। प्रत्येक बस्ती एक स्वतन्त्र और पृथक राज्य थी, और अपना शासन स्वयं करती थी।

**सामन्त पद्धति**—इन बस्तियों के पड़ोस में बहुत सी ऐसी जातियों का निवास था, जो अभी पशुपालक दशा में थीं। समय-समय पर वे इन सभ्य बस्तियों पर हमले करती रहती थीं। उनसे अपनी रक्षा करने के लिये प्राचीन चीन के नगर-राज्यों में अनेक ऐसे वीर व्यक्ति उत्पन्न हुए, जिन्होंने बाकायदा सेनाओं का संगठन कर आक्रान्ताओं का मुकाबला किया। उनकी सुसंगठित सेनाओं के कारण पशुपालक जातियों के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वे चीन के नगर-राज्यों पर हमले कर सकें। पर जिन वीर पुरुषों ने विदेशियों के आक्रमणों से अपने देश की रक्षा की थी, शीघ्र ही उन्होंने अपने राज्यों में भी अपनी शक्ति को बढ़ाना शुरू किया। अपनी सेनाओं द्वारा उन्होंने विविध नगर-राज्यों के शासन को अपने हाथों में ले लिया, और उनमें वे स्वतन्त्र राजाओं के समान शासन करने लगे। चीन के इन प्राचीन राजाओं की संख्या हजारों में थी। बाद में वे अपनी शक्ति का विस्तार करने में प्रवृत्त हुए, और धीरे-धीरे कुछ प्रतापी राजाओं ने अन्य राजाओं को जीतकर अपने विस्तृत साम्राज्य स्थापित किये। इस प्रकार स्वतन्त्र राजाओं की संख्या कम होने लगी, और कुछ समय बाद ऐसे शक्तिशाली सम्राटों का विकास हुआ, जिन्होंने ह्वांगहो और यांग-त्से-कियांग नदियों की घाटियों के सब राजाओं को जीतकर अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार के पहले चीनी चक्रवर्ती सम्राट शांग वंश के थे। इस वंश ने १६५० से ११२५ ई० पू० तक शासन किया। शांग वंश के बाद चाऊ वंश का शासन ११२५ से २५० ई० पू० तक रहा। पर इन दोनों राजवंशों के शासन काल में विविध राजाओं का अन्त नहीं हो गया था, सम्राट की अधीनता में सामन्त रूप से उनकी सत्ता कायम थी। ये सामन्त राजा सम्राट की निर्बलता से लाभ उठाकर विद्रोह कर देने और स्वच्छन्द रूप से शासन करने के लिये सदा तत्पर रहते थे। यही कारण है, कि इस काल में चीन

में शान्ति और व्यवस्था नहीं थी। चौथी सदी ई० पू० तक यह दशा हो गई थी, कि विविध सामन्त राजा सम्राट की सत्ता की सर्वथा उपेक्षा कर स्वतन्त्र रूप से शासन करने लग गये थे।

**सम्राट शिन शी**—इस दशा में तीसरी सदी ई० पू० में चीन में एक शक्तिशाली सम्राट का उदय हुआ, जिनका नाम त्शिन-शी था। इसने चीन के विविध राजाओं और सामन्तों को जीतकर अपने अधीन किया और देश में एक व्यवस्थित शासन की स्थापना की। इस समय चीन पर हूण लोगों के आक्रमण बड़ी तीव्रता के साथ जारी थे। हूण लोग असभ्य और जंगली थे। वे चीन के उत्तरी प्रदेश में निवास करते थे। उनका मुकाबला करने के लिये सम्राट त्शिन शी ने तीन लाख सैनिकों की एक शक्तिशाली सेना का संगठन किया। इस सेना के सम्मुख हूण लोग नहीं टिक सके। उनके हमले बन्द हो गये। भविष्य में हूण लोग फिर हमले न करें, इसके लिये सम्राट त्शिन शी ने एक विशाल दीवार का निर्माण किया, जो लम्बाई में १८०० मील है। इस दीवार के बन जाने से असभ्य व जंगली जातियों से चीन की रक्षा कर सकना सुगम हो गया। इसके कारण चीन एक विशाल दुर्ग के रूप में परिवर्तित हो गया, जिसमें स्थान-स्थान पर सेनाएं रखकर बाहरी आक्रमणों के भय को बहुत कुछ दूर किया जा सकता था। १८०० मील लम्बी दीवार को बनवा सकना सुगम बात नहीं थी। सम्राट त्शिन शी का शासन कितना समृद्ध व उन्नत था, चीन की दीवार इसका प्रमाण है।

हूणों के आक्रमण से निश्चिन्त होकर चीनी लोगों ने मंचूरिया, मंगोलिया, तुर्किस्तान और तिब्बत में अपने साम्राज्य का विस्तार किया। त्शिन शी के समय में चीन में जो उन्नति शुरू हुई थी, वह उसके बाद भी जारी रही। तिब्बत से मंचूरिया तक एकछत्र साम्राज्य स्थापित हो जाने से चीन की शक्ति व समृद्धि बहुत बढ़ गई। वह संसार के प्रमुख राज्यों में गिना जाने लगा।

**प्राचीन धर्म**—चीन के लोग प्राचीन समय में विविध देवी देवताओं की पूजा करते थे। प्रत्येक बस्ती के अपने अपने पृथक देवता थे। कुछ देवता ऐसे भी थे, जिन्हें चीन के सब निवासी मानते थे। इनको सन्तुष्ट रखने के लिये वे विविध प्रकार के विधि विधानों और पूजा पाठ का अनुष्ठान करते थे। राजा जहां अपने राज्य का शासक होता था, वहां साथ ही वह उसके देवताओं का प्रधान पुजारी व धर्माचार्य भी होता था। इसी कारण जनता उसे देवतुल्य मानती थी। इस दृष्टि से संसार की प्राय: सभी प्राचीन सभ्यताओं में समता है।

पर छठी सदी ईस्वी पूर्व में चीन में एक विचारक का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका नाम कन्फ्यूसियस था। वह लू नामक एक छोटे से राज्य का निवासी था। उसने

धर्म के सम्बन्ध में एक नई कल्पना अपने देशवासियों के सम्मुख पेश की। वह कहता था, विविध देवी देवताओं की पूजा की अपेक्षा सदाचारमय और पवित्र जीवन मनुष्य के लिये अधिक हितकारी है। मनुष्य का यह ध्येय होना चाहिये, कि वह अपने जीवन को पवित्र व परोपकारी बनावे। संसार में हमें सब ओर कष्ट नजर आता है। इस कष्ट को दूर करने का उपाय यही है, कि संसार के सब मनुष्य एक दूसरे की सहायता करें। मनुष्य केवल अपने लिये ही न जिये, अपितु सबकी सुख-समृद्धि में ही अपना हित समझे। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब कि मनुष्यों का जीवन अधिक ऊंचा और मर्यादित हो। मानव समाज के कष्टों का तभी अन्त हो सकता है, जब कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करे। अपने विचारों के प्रचार के लिये कन्फ्यूसियस ने एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की, और गुरु शिष्य परम्परा द्वारा उसके विचार धीरे-धीरे सारे उत्तरी चीन में फैल गये। लगभग इसी समय में भारत में महात्मा बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ था। उन्होंने भी इसी प्रकार के विचार अपने देशवासियों के सम्मुख रखे थे। इसमें संदेह नहीं, कि कन्फ्यूसियस और महात्मा बुद्ध जैसे महापुरुषों द्वारा संसार में एक नये प्रकार के धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जो पुराने समय के विधि विधानों और अनुष्ठानों से पूर्ण धर्म से बहुत भिन्न था।

इसी समय के लगभग चीन में एक अन्य विचारक उत्पन्न हुआ, जिसका नाम लाओ त्से था। वह कहता था, मनुष्य को भोग विलास के जीवन से बचकर पवित्र और सादा जीवन बिताना चाहिये। कन्फ्यूसियस जीवन के नियन्त्रण और विनय पर बहुत जोर देता था। लाओ त्से की शिक्षाओं का सार यह था, कि मनुष्य त्याग की ओर जाय और तपस्या का जीवन बिताये। उसकी शिक्षाओं का भी बहुत प्रचार हुआ। विशेषतया, दक्षिणी चीन में बहुत से लोग लाओ त्से के अनुयायी हो गये। इस समय भी चीन में कन्फ्यूसियस और लाओ त्से की शिक्षाओं का बड़ा प्रचार है। यद्यपि वहां के लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, पर वे इन दो पुराने आचार्यों को भी बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं, और इनके विचारों का उन पर बड़ा प्रभाव है।

**सभ्यता**—चीन के प्राचीन निवासियों ने सभ्यता के क्षेत्र में अच्छी उन्नति की थी। बहुत पुराने समय में ही उन्होंने लिपि का आविष्कार कर लिया था। ईजिप्ट के समान उनकी लिपि भी एक प्रकार की चित्रलिपि थी। कला में भी वे बड़े प्रवीण थे। मिट्टी के नमकीले बरतन बनाने में वे अत्यन्त कुशल थे। रेशम के कीड़ों को पालकर उनसे रेशम तैयार करना और फिर उसके सुन्दर वस्त्र

बनाना उनका प्रमुख व्यवसाय था। आजकल भी चीन का रेशम संसार भर में प्रसिद्ध है। बहुत पुराने समय में भी चीनी रेशम दूर-दूर तक विदेशों में बिकने के लिये जाता था।

खेती के लिये पुराने चीनी लोगों ने बहुत सी नहरों का निर्माण किया था। ह्वांगहो और यांग-त्से-कियांग नदियों से अनेक छोटी छोटी नहरें निकाल कर उन लोगों ने अपने खेतों की सिंचाई करने का बड़ा उत्तम प्रबन्ध कर रखा था। यही कारण है, कि प्राचीन चीन में भोजन की प्रचुरता रहती थी और उसकी सुख-समृद्धि से आकृष्ट होकर विविध जंगली और पशुपालक जातियां उस पर हमले करती रहती थीं।

**चिन वंश**—सम्राट् त्शिन शी चिनवंश का था, उसी के कारण इस देश का नाम चीन पड़ा।

सम्राट त्शिन शी ने जहां एक तरफ हूणों से अपने देश की रक्षा करने के लिये १८०० मील लम्बी विशाल दीवार का निर्माण शुरू किया, वहां साथ ही उसने यह भी अनुभव किया, कि देश की उन्नति के लिये ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे चीन के विविध राज्य अपनी पृथक् सत्ता को एकदम भूल जावें। उसने सोचा, इसका सर्वोत्तम उपाय यह है, कि चीन के लोगों को अपने पुराने इतिहास का ज्ञान न रहे। पुराने समय में जिन नगरों व राज्यों ने अच्छी उन्नति की थी, जिन विद्वानों के ग्रन्थों का उन्हें अभिमान था, उन सबको वे विस्मृत कर दें। इस उद्देश्य से त्शिन शी ने यह आज्ञा जारी की, कि पुराने समय की सब पुस्तकों को अग्नि के अर्पण कर दिया जाय, केवल चिकित्सा शास्त्र और विज्ञान की पुस्तकों को रखा जाय। चीन के विद्वानों को अपनी पुरानी पुस्तकों से बहुत प्रेम था। उन्होंने इन्हें छिपाकर बचाने का यत्न किया। परिणाम यह हुआ, कि सैकड़ों चीनी विद्वानों को जीते जी जमीन में गाड़ दिया गया। सम्राट त्शिन शी तीसरी सदी ई० पू० में हुआ था। भारत में इसी समय के लगभग सम्राट अशोक का शासन था। चीन और भारत के इन सम्राटों की नीति में कितना अन्तर था।

**हान वंश**—२०९ ई० पू० में त्शिन शी की मृत्यु हुई। उसके बाद विशाल चीनी साम्राज्य की राजगद्दी के लिये झगड़े शुरू हो गये। इस स्थिति से लाभ उठाकर हान वंश के एक साहसी व्यक्ति ने चिन वंश का अन्त कर एक नये वंश का प्रारम्भ किया। यह हान वंश २०६ ई० पू० से शुरू होकर २२० ई० पू० तक कायम रहा। त्शिन शी के प्रयत्न से चीन में जो राजनीतिक एकता कायम हुई थी, हान सम्राटों के शासन में वह स्थिर रही। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध सम्राट वू-ती था। उसके समय में चीनी साम्राज्य अपने विस्तार की चरम सीमा तक

पहुंच गया था। पूर्व में प्रशान्त महासागर से पश्चिम में कैस्पियन सागर तक उसका एकछत्र शासन था। मध्य एशिया की सब जातियां उसकी अधीनता स्वीकृत करती थीं। हान वंश के इस चीनी साम्राज्य का विस्तार सिकन्दर के मैसिडोनियन साम्राज्य व ट्राजन के रोमन साम्राज्य की अपेक्षा बहुत अधिक था।

हान वंश के शासन काल में बौद्ध धर्म का चीन में प्रवेश हुआ। अशोक के समय में बौद्ध भिक्षुओं ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिये विदेशों में जाना प्रारम्भ किया था। धीरे धीरे सम्पूर्ण चीन बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। बौद्ध भिक्षु केवल चीन में ही भगवान बुद्ध के सन्देश को पहुंचा कर संतुष्ट नहीं हो गये, वे और आगे बढ़े और कोरिया तथा जापान में भी उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया। बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण चीन और भारत का सम्बन्ध बहुत बढ़ गया। भारत से बहुत से व्यापारी समुद्र के मार्ग से व्यापार के लिये चीन जाने लगे। चीन का व्यापारिक सम्बन्ध रोम के साथ भी स्थापित हुआ। पहली सदी ई० पू० में रोम का साम्राज्य पूर्व में कैस्पियन सागर और टिग्रिस नदी तक विस्तृत हो गया था। उधर चीनी साम्राज्य की पश्चिमी सीमा कैस्पियन सागर को छूती थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि इन दोनों साम्राज्यों में परस्पर व्यापार की उन्नति हो।

हान वंश के शासन काल में चीन में छापेखाने का आविष्कार हुआ। लकड़ी के ब्लाक बनाकर चीनी लोग उन्हें पुस्तकें छापने के लिये प्रयुक्त करने लगे। इस समय तक पश्चिमी संसार में कहीं भी छापेखाने का प्रवेश नहीं हुआ था। सिकन्दरिया आदि के विविध पुस्तकालयों में पुस्तकों की नकल करने का ही रिवाज था।

हानवंश के शासन में ही चीन में उस परीक्षा पद्धति का सूत्रपात हुआ, जो वहां दो हजार वर्ष तक कायम रही। इस समय अन्य देशों में राजकीय पदों पर नियुक्ति के लिये किसी परीक्षा की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। राजकुल व उच्च कुल के अमीर उमराओं को विविध पदों पर नियत कर दिया जाता था। किस पद पर कौन व्यक्ति नियत किया जाय, यह बात राजा की इच्छा व कृपा पर आश्रित थी। पर हान सम्राटों ने चीन में विविध राजकीय पदों पर नियुक्ति के लिये परीक्षापद्धति को शुरू किया। जो व्यक्ति चीन के पुरातन ग्रन्थों और विद्याओं में निष्णात हों, और राज्य द्वारा संचालित परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जावें, वे ही विविध राजकीय पदों पर नियत किये जाते थे। जन्म, कुल आदि का कोई भेद इसमें नहीं किया जाता था। जो भी व्यक्ति इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जावे, राजकीय पदों को वह प्राप्त कर सकता था।

**तीन राज्य**—हान वंश के शक्तिशाली राजाओं का वैभवपूर्ण व विशाल साम्राज्य तीसरी सदी ई० प० में समाप्त हो गया। अनेक सदियों के सुदृढ़ शासन ने भी चीन में भलीभांति एकता उत्पन्न नहीं की थी। परिणाम यह हुआ, कि २२० ई० प० के लगभग चीन तीन भागों में विभक्त हो गया। यह दशा सातवीं सदी के शुरू तक रही। इस बीच में भारत के बौद्ध भिक्षु बड़ी संख्या में चीन गये, और वहां उन्होंने न केवल अपने धर्म का, अपितु अपने ज्ञान, विज्ञान और कला का भी प्रसार किया। चीन के लोग इस समय भारत को अपनी धर्मभूमि समझते थे। इसी कारण बहुत से चीनी यात्री इस समय भारत आये, और उन्होंने यहां आकर विविध विद्यापीठों में धर्म और दर्शन का अध्ययन किया। इन चीनी यात्रियों में फाइयान और ह्युन्त्सांग सबसे प्रसिद्ध हैं। फाइयान चौथी सदी ई० पू० में भारत आया था, और सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल में उसने भारत का भ्रमण किया था। ह्युन्त्सांग सातवीं सदी के शुरू में भारत आया था। उस समय देश का सबसे शक्तिशाली राजा हर्षवर्धन था। ह्युन्त्सांग ने नालन्दा विद्यापीठ में रहकर बौद्ध धर्म का विशद रूप से अनुशीलन किया।

**तांग वंश**—६१८ ई० प० में चीन में तांग वंश का शासन शुरू हुआ। इस वंश का पहला राजा काओ त्सु था। वह बड़ा वीर और महत्वाकांक्षी था। उसने सम्पूर्ण चीन को जीतकर फिर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। अनाम और कम्बोडिया के राज्य भी उसने विजय कर लिये। उसके साम्राज्य की पश्चिमी सीमा कैस्पियन सागर तक विस्तृत थी। तांग वंश का शासन ९०७ ई० प० तक कायम रहा।

तांग सम्राटों के शासन काल में चीन ने बहुत उन्नति की थी। तांग सम्राट् बड़े उदार और वैभवपूर्ण थे। उन्होंने विदेशी व्यापार को उन्नत करने के लिये अनेक यत्न किये। वे विदेशियों का आदर करते थे, और उनसे नई-नई बातें सीखने के लिये सदा उत्सुक रहते थे। यही कारण था, कि ईसाई और मुसलिम धर्म के प्रचारक भी बड़ी संख्या में इस समय चीन गये। चीन के लोग इन धर्म प्रचारकों का आदर करते थे, और रोमन सम्राटों के समान तांग वंशी सम्राट् धर्म के मामले में संकीर्णहृदय व असहिष्णु नहीं थे।

**सुङ्ग वंश**—तांग वंश के बाद दसवीं सदी में सुङ्ग वंश ने चीन में शासन किया। इस काल में भी चीन राजनीतिक दृष्टि से एक रहा। [illegible] में बहुत कुशल थे। जनता के हित और कल्याण के लिये उन्होंने अनेक नये कानून बनाये। सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं सदियों में भारत राजनीतिक दृष्टि से अनेक राज्यों में विभक्त था। इन राज्यों के आपसी युद्धों के कारण देश में

व्यवस्था और शक्ति का अभाव था। यही दशा यूरोप में भी थी। रोमन साम्राज्य इस समय खण्ड-खण्ड हो चुका था। पश्चिमी एशिया में कुछ समय के लिये अरबों ने एक व्यवस्थित साम्राज्य कायम किया था, पर वह भी देर तक स्थिर नहीं रह सका था। संसार के अन्य प्रदेशों के मुकाबले में इन सदियों में चीन का साम्राज्य बहुत व्यवस्थित और शान्तिमय था। यही कारण है, कि इस युग में चीन संसार का शिरोमणि था। छापेखाने के विकास के साथ-साथ चीनी लोगों ने ही पहले पहल बारूद और बन्दूक का आविष्कार किया। इसमें सन्देह नहीं, कि इस समय चीन संसार में सबसे अधिक उन्नत देश था।

**ह्रास का काल**—पर सुङ्ग वंश का शासन देर तक स्थिर नहीं रहा। बारहवीं सदी के शुरू में चीन में फिर अनेक राज्य स्थापित हो गये। इनमें तीन प्रमुख थे—(१) उत्तर में किन राज्य, (२) दक्षिण में सुङ्ग राज्य और (३) उत्तर-पश्चिम में हि-सया राज्य।

इस प्रकार जब चीन में कोई एक शक्तिशाली साम्राज्य नहीं रहा था, चीन के उत्तरी प्रदेशों में एक नई जाति का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ, जिसने कुछ ही समय में न केवल सम्पूर्ण चीन को, अपितु पश्चिमी एशिया और पूर्वी यूरोप को भी विजय कर एक अत्यन्त विशाल साम्राज्य की स्थापना की। यह शक्ति मंगोल लोगों की थी, और इनका प्रधान नेता चंगेज खां था।

**मंगोल जाति**—बारहवीं सदी में चीन के उत्तरी प्रदेशों में एक पशुपालक जाति का निवास था, जिसे मंगोल कहते थे। शिकार और पशुपालन इसके मुख्य व्यवसाय थे। मंगोल लोग प्रधानतया घोड़ों को पालते थे, और डेरों में निवास करते थे। उनकी कोई स्थिर बस्तियां व नगरियां नहीं थीं। बारहवीं सदी के अन्तिम भाग में इस जाति में एक ऐसे वीर नेता का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने इसे एक प्रबल राजनीतिक शक्ति बना दिया। इस नेता का नाम चंगेज खां था। उस समय मंगोल लोग देवी-देवताओं की पूजा करते थे, और उन्हें सन्तुष्ट करने के लिये विविध विधि-विधानों का अनुष्ठान करते थे। चंगेज खां के नाम से यह भ्रम नहीं होना चाहिये, कि वह मुसलमान था। मंगोल लोगों के सरदारों की उपाधि खां या खान होती थी।

**चंगेज खां का साम्राज्य**—उन दिनों उत्तरी चीन में किन वंश के चीनी सम्राटों का शासन था। मंगोलों ने किन साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। अब उन्होंने किन साम्राज्य पर हमला किया, वह परास्त हो गया और उसकी राजधानी पेकिंग चंगेज खां के हाथ में आ गई। पेकिंग की यह विजय १२१५ ई० में की गई थी। उत्तरी चीन के पश्चिम में उस

समय तुर्क जाति का एक शक्तिशाली साम्राज्य विद्यमान था, जिसकी राजधानी खीवा थी। खीवा का तुर्क राज्य बहुत प्रबल था। धीरे-धीरे उसके सम्राटों ने पड़ोस के अन्य राज्यों को जीतकर अपनी शक्ति का बहुत विस्तार कर लिया था। युफ्रेटस और टिग्रिस नदियों से शुरू कर पूर्व में तिब्बत की सीमा तक खीवा का तुर्क साम्राज्य विस्तृत था। चंगेज खां की सेनाओं ने इस तुर्क साम्राज्य पर हमला किया। मंगोल सेना के सम्मुख तुर्क लोग नहीं टिक सके। खीवा का सम्पूर्ण साम्राज्य चंगेज खां के हाथ में आ गया।

पर चंगेज खां की साम्राज्य की भूख खीवा के तुर्कों का विनाश करके ही शान्त नहीं हो गई। वह पश्चिम और उत्तर में निरन्तर आगे बढ़ता गया। कैस्पियन सागर के उत्तर में रूस पर उसने हमला किया। रूसी लोग उसका मुकाबला नहीं कर सके। काला सागर (ब्लैक सी) के उत्तर में कीफ में रूसी सेना मंगोल लोगों द्वारा बुरी तरह परास्त हुई। रूस का राजा मंगोलों के हाथ कैद हो गया। इसी समय एक अन्य मंगोल सेना ने भारत पर आक्रमण किया। उत्तरी भारत में इस समय अफगान सुलतानों का शासन था। तुर्क विजेता महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण कर कन्नौज के शक्तिशाली राजा व अन्य विविध राजाओं को परास्त कर इस देश में भी तुर्क शासन स्थापित किया था। तुर्कों का शासन उत्तरी भारत में देर तक कायम नहीं रहा। गजनी के पड़ोस में एक छोटा सा प्रदेश था, जिसे गोर कहते थे। जब गजनी व तुर्क सुलतानों की शक्ति कमजोर पड़ी, तो गोर स्वतन्त्र हो गया, और उसके अफगान सरदार अलाउद्दीन ने गजनी को भी जीतकर अपने अधीन कर लिया। अलाउद्दीन के उत्तराधिकारियों ने भारत पर आक्रमण किया, और बारहवीं सदी के अन्त में उत्तरी भारत को अपने अधीन कर लिया। चंगेज खां के समय में भारत के उत्तरी प्रदेशों में अफगानों का ही शासन था। मंगोल सेनाओं ने भारत पर हमला किया और लाहौर तक के प्रदेश को जीतकर अपने अधीन कर लिया। इस समय अफगान सल्तनत का स्वामी अल्तमश (१२११-३६ ई०) था। वह चंगेज खां के सम्मुख असहाय था।

१२२७ ई० में चंगेज खां की मृत्यु हुई। उसका साम्राज्य प्रशान्त महासागर से शुरू होकर काला सागर तक विस्तृत था। सिकन्दर जैसे विजेताओं के साम्राज्य चंगेज खां के साम्राज्य की तुलना में तुच्छ थे। इस विशाल मंगोल साम्राज्य की राजधानी उत्तरी चीन में कराकुरम थी। यह मंगोलों की सबसे बड़ी बस्ती थी। इस प्रदेश को अब तक भी मंगोलिया कहते हैं, उसका कारण ये मंगोल लोग ही हैं।

**उगदई खां**—१२२७ ई० में विशाल मंगोल साम्राज्य का अधिपति उगदई खां बना। वह चंगेज खां का लड़का था, और अपने पिता के समान ही वीर और साहसी था। उगदई खां ने मंगोल साम्राज्य को और अधिक विस्तृत किया। काला सागर से आगे बढ़कर उसके भाई बातू खां ने सम्पूर्ण रूस को अपने अधीन किया, और पोलैण्ड पर आक्रमण कर उस देश को भी जीत लिया। इसके हमलों के कारण यूरोप में खलबली मच गई। उस समय पवित्र रोमन सम्राट के पद पर फ्रेडरिक द्वितीय विराजमान था। उसने अपनी जर्मन सेनाओं के साथ उगदई खां का मुकाबला करने की कोशिश की। पर उत्तर-पूर्वी जर्मनी में १२४१ ई० में जर्मन सेनाएं मंगोलों द्वारा परास्त कर दी गईं। बातू खां शायद यूरोप में और भी आगे बढ़ता, पर इसी समय (१२४२ ई०) उगदई खां की मृत्यु हो गई। विशाल मंगोल साम्राज्य का स्वामी कौन हो, इस बात को लेकर झगड़े शुरू हो गये और पश्चिमी यूरोप मंगोल लोगोंके आक्रमणोंसे बच गया। उगदई खां के समयमें ही एक अन्य मंगोल सेना ने दक्षिणी चीन पर हमला किया। इस प्रदेश में उस समय सुंग वंश का राज्य था। सुंग सम्राट् मंगोलों का मुकाबला नहीं कर सके। धीरे-धीरे उनका सब राज्य भी मंगोलों के हाथ में आ गया, और सम्पूर्ण चीन मंगोल साम्राज्य में शामिल हो गया।

**मंगू खां**—उगदई खां का उत्तराधिकारी कौन हो, इस बात को लेकर कुछ समय तक झगड़े चलते रहे। अन्त में मंगू खां १२५१ ई० में विशाल मंगोल साम्राज्य का अधिपति बना। उसके समय में मंगोल साम्राज्य का और अधिक विस्तार हुआ। चीन पहले ही मंगोलों के अधीन था। अब तिब्बत पर हमला किया गया और इसे भी जीतकर मंगोल साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। एक अन्य मंगोल सेना ने बगदाद पर आक्रमण किया। यहां अब तक भी अरब खलीफाओं का शासन था। मंगोलों ने बगदाद को जीत लिया। मुसलिम धर्म और अरब सभ्यता के इस प्रसिद्ध केन्द्र का मंगोलों के हाथ से बुरी तरह विनाश हुआ। बगदाद से आगे बढ़कर मंगू खां ने सीरिया और एशिया माइनर को भी अपने अधीन कर लिया। कान्स्टेन्टिनोपल के पूर्वी रोमन सम्राट् उसके भय से थर थर कांपने लगे। १२५९ ई० में मंगू खां की मृत्यु हो गई।

**मंगोल साम्राज्य के विभाग**—मंगू खां की मृत्यु के बाद विशाल मंगोल साम्राज्य चार भागों में विभक्त हो गया। (१) चीन—इसका शासक कुबले खां था। मंगू खां के समय में वह चीन का शासक नियत हुआ था। उसने अपनी राजधानी काराकुरम की जगह पेकिंग को बना लिया था। मंगोलिया, चीन, तिब्बत और तुर्किस्तान कुबले खां के अधीन थे। (२) पर्शिया—इसका शासक

हुलगू खां था। अफगानिस्तान, पर्शिया मैसोपोटामिया और सीरिया के प्रदेश हुलगू खां के अधीन थे। एशिया माइनर के तुर्क सरदार भी हुलगू खां को अपना अधिपति मानते थे। (३) रूस---कैस्पियन सागर और काला सागर के उत्तर में रूस और पोलैण्ड के प्रदेश इस तीसरे मंगोल राज्य के अन्तर्गत थे। इसे 'किपचक' कहा जाता था। (४) साइबीरिया---किपचक और चीन के मंगोल राज्यों के बीच में एक अन्य मंगोल राज्य था, जिसे साइबीरिया कहते थे।

शुरू में ये चारों मंगोल राज्य कुबले खां का आधिपत्य स्वीकार करते थे। पर जब १२९४ ई० में कुबले खां की मृत्यु हो गई, तो ये चारों मंगोल राज्य एक दूसरे से पृथक व स्वतन्त्र हो गये।

**चीन में मंगोल शासन**----कुबले खां के उत्तराधिकारी चीन में राज्य करते रहे। चीन के इतिहास में कुबले खां से एक नये राजवंश का प्रारम्भ हुआ, जिसे युआन वंश कहते हैं। यह वंश १२५९ से १३६८ ई० तक चीन का शासन करता रहा। युआन वंश के शासन काल में चीन ने अच्छी उन्नति की। कुबले खां के समय में मार्को पोलो नाम के एक यूरोपियन ने चीन की यात्रा की थी। कुछ समय तक वह कुबले खां के दरबार में भी रहा था। मार्को पोलो इटली के वेनिस नगर का निवासी था। उसने कुबले खां के राज-दरबार का भी वृत्तांत लिखा है, जिससे इस मंगोल सम्राट के वैभव, शक्ति और विद्याप्रेम का अच्छा परिचय मिलता है।

**मिंग वंश**---कुबले खां के वंशज १३६८ ई० तक चीन का शासन करते रहे। एक सदी के काल में मंगोल राजा निर्बल हो गये थे। परिणाम यह हुआ, कि १३६८ ई० में उनके विरुद्ध विद्रोह हो गया और मिंग वंश के शासन का चीन में प्रारम्भ हुआ। मिंग वंश का शासन १३६८ से १६४४ ई० तक स्थिर रहा। १६४४ ई० में मञ्चू वंश के प्रतापी राजाओं ने चीन पर अपना अधिकार कर लिया। मञ्चू लोग उत्तरी चीन के निवासी थे। इन्हीं के पूर्वज पहले उत्तरी चीन के शासक थे। चंगेज खां ने इन्हीं ( किन वंश ) को जीतकर अपने साम्राज्य का विस्तार शुरू किया था। मञ्चू वंश का शासन चीन में १६४४ से १९१२ ई० तक कायम रहा। १९१२ में वहां रिपब्लिक की स्थापना हो गई।

दूसरा अध्याय

# उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में चीन की दशा

## (१) मञ्चू साम्राज्य

**मञ्चू शासन की स्थापना**——१६४४ ई० में चीन में मिंग वंश ( १३६८—१६४४ ) के शासन का अन्त हुआ। चीन के उत्तरी प्रदेशों में, जिसे आजकल मञ्चूरिया कहते हैं, एक जाति का निवास था, जो मञ्चू कहलाती थी। सतरहवीं सदी के शुरू में मंचू लोगों ने अपनी शक्ति को बढ़ाकर विशाल चीनी दीवार के दक्षिण की ओर आक्रमण प्रारम्भ किये। १६४४ में उन्होंने पेकिंग को विजय कर लिया। चीनी सम्राट् मञ्चू आक्रमणों से अपने साम्राज्य की रक्षा करने में असमर्थ रहे। अन्तिम मिंग सम्राट ने पराजय के अपमान को न सह सकने के कारण आत्म-हत्या द्वारा अपने जीवन का अन्त किया और चीन में मञ्चू राजवंश का प्रारम्भ हुआ। मञ्चू लोग सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से चीनियों से अधिक भिन्न नहीं थे। वे बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और कन्फ्यूसियस सदृश आचार्यों ने चीन में जिस मर्यादा व परम्परा का प्रारम्भ किया था, उसका आदर करते थे। इसीलिये चीनी लोग उन्हें विदेशी नहीं समझते थे और वे चीनी जनसमाज के ही अंग हो गये थे।

मञ्चू वंश के सम्राटों में कांग-ह्सी और चिएन लुंग सबसे प्रसिद्ध हैं। कांग-ह्सी का शासनकाल १६६१ से १७२२ तक है। वह फ्रांस के लुई चौदहवें, रूस के पीटर द ग्रेट और भारतवर्ष के औरङ्गजेब का समकालीन था। वह इन सम्राटों के समान ही महत्त्वाकांक्षी और शक्तिशाली था। विशाल चीनी साम्राज्य पर उसने बड़ी योग्यता और शक्ति के साथ शासन किया। चिएन-लुंग का शासनकाल १७३९ से १७९६ तक था। इसके शासन के समय में मञ्चू साम्राज्य अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच गया था। भारत में इस समय मुगल साम्राज्य का पतन शुरू हो चुका था। न केवल विविध सूबेदार मुगल साम्राज्य की अधीनता से स्वतन्त्र होने शुरू हो गये थे, अपितु इङ्गलिश और फ्रेंच लोग भी भारत में अपनी शक्ति व आधिपत्य की स्थापना में तत्पर थे। पर इस युग में चीन का विशाल साम्राज्य सर्वथा अक्षुण्ण दशा में था, विदेशी लोगों ने भी वहां अभी अपने प्रभाव का विस्तार शुरू नहीं किया था। चिएन-लुंग के

बाद मञ्चू सम्राटों की शक्ति क्षीण होने लगी। साम्राज्य के अनेक सुदूरवर्ती प्रदेश सम्राट् के शासन की उपेक्षा करने लगे। चिएन-लुंग के साम्राज्य में वास्तविक चीन के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रदेश अन्तर्गत थे। उत्तर में उसकी सीमा आमूर नदी तक विस्तृत थी, सम्पूर्ण मञ्चूरिया उसके अधीन था। सिंगकियांग और तिब्बत उसके आधिपत्य में थे। नेपाल और बरमा उसे बाकायदा कर देते थे। अनाम, कोरिया, फार्मूसा और प्रशान्त महासागर के तटवर्ती अनेक द्वीप मञ्चू सम्राट की अधीनता को स्वीकार करते थे। चिएन-लुंग (१७३६-१७९६) के बाद चीनी साम्राज्य में शिथिलता आने लगी, और अनेक सुदूरवर्ती प्रदेश व राज्य मञ्चू सम्राटों की उपेक्षा करने लगे।

**उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में चीनी साम्राज्य**—१८४२ के लगभग यूरोपियन लोग चीन में अपनी शक्ति व प्रभाव का विस्तार करने के लिये प्रवृत्त हुए। उस समय मञ्चू सम्राटों की अधीनता में निम्नलिखित प्रदेश थे—

(१) वास्तविक चीन—जिसे चीन के लोग मध्यदेश के नाम से कहते थे। इसमें कुछ अठारह प्रान्त थे।

(२) मञ्चूरिया—यह चीनी मध्यदेश के उत्तर में है। यह मञ्चू साम्राज्य के अन्तर्गत था।

(३) अधीनस्थ राज्य—तिब्बत, मंगोलिया और सिंगकियांग मञ्चू सम्राटों की अधीनता स्वीकृत करते थे, और पेकिंग की केन्द्रीय सरकार उनके शासन पर निरीक्षण रखती थी।

(४) करद राज्य—कोरिया, अनाम और फोर्मूसा चीन से पृथक थे, पर वे मञ्चू सम्राटों को कर प्रदान करते थे। बरमा पर इस समय अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो चुका था और नेपाल चीन के प्रभाव से मुक्त हो गया था।

करद राज्यों को न गिनकर मञ्चू साम्राज्य का क्षेत्रफल इस समय ४२,७७,१७० वर्गमील था और इसकी जनसंख्या ३७ करोड़ के लगभग थी। इस विशाल साम्राज्य के सब निवासी जातीय दृष्टि से एक नहीं थे। पर धर्म, संस्कृति और आचार विचार की दृष्टि से उनमें एक इस प्रकार की एकता अवश्य विद्यमान थी, जो उन्हें अन्य सब देशों के लोगों से पृथक करती थी।

## (२) चीन के निवासी

चीन के सैंतीस करोड़ के लगभग निवासी अपने कार्य व पेशे की दृष्टि से पांच भागों में विभक्त थे। ये पांच विभाग पण्डित, कृषक, शिल्पी, व्यापारी और सेवक इन नामों से प्रकट किये जा सकते हैं।

(१) पण्डित वर्ग---चीन के जन समाज में पण्डित वर्ग प्रतिष्ठा की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्व रखता था। जिस प्रकार भारत में ब्राह्मणों को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है, वैसे ही चीन में पण्डित वर्ग का स्थान बहुत सम्मानित है। पर चीन का पण्डित वर्ग कोई पृथक जाति नहीं है और न ही कोई मनुष्य किसी कुल विशेष में उत्पन्न होने के कारण पण्डित माना जाता है। चीन में पंडित पद को पाने के लिये विद्याभ्यास की आवश्यकता होती है, और इस पद को प्राप्त करने के इच्छुक मनुष्य वर्षों तक कठिन तपस्या करते हैं। सात साल की आयु में बालक अपने गांव की पाठशाला में शिक्षा को शुरू करता था। यदि बालक के माता-पिता गरीब हों और बालक होनहार हो, तो ग्राम पंचायत उसकी पढ़ाई के बोझ को अपने ऊपर ले लेती थी। पाठ्य विषय में प्राचीन ग्रंथों और धर्म पुस्तकों का प्रमुख स्थान होता था। भारत के पुरातन परिपाटी के पण्डितों के समान चीन के पंडित भी व्याकरण, कोश और धर्मग्रन्थों को शिक्षा में प्रमुख स्थान देते थे। जिले में जितने विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे होते थे, पहले उनकी परीक्षा ली जाती थी। इस परीक्षा में जो विद्यार्थी सबसे उत्तम स्थान प्राप्त करें, उन्हें प्रदेश की परीक्षा में बिठाया जाता था। प्रदेश की परीक्षा में बैठनेवाले विद्यार्थियों की संख्या हजारों में होती थी। इसमें जो विद्यार्थी उत्तीर्ण हो जाते थे, उन्हें ह्सिउ-त्सेई (स्नातक) की उपाधि प्रदान की जाती थी। प्रदेश की परीक्षा उत्तीर्ण करके विद्यार्थी प्रान्त की परीक्षा में बैठते थे। इसे उत्तीर्ण कर लेने पर चू-ज़ेन की उपाधि दी जाती थी। चू-ज़ेन (वाचस्पति) की उपाधि प्राप्त कर लेने पर विद्यार्थी को इस योग्य समझा जाता था, कि वह राजकीय पद को प्राप्त कर सके या अन्यत्र कार्य कर सके। चू-ज़ेन की उपाधि प्राप्त कर लेने के बाद चीनी पण्डितों में जो सबसे अधिक योग्य होते थे, वे पेकिंग की सर्वोच्च परीक्षा चिन-शिह (आचार्य) के लिये बैठ सकते थे। चिन-शिह परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर राज्य के किसी भी उच्च पद पर नियुक्ति की जा सकती थी। जो विद्यार्थी उच्च परीक्षाओं में उत्तीर्ण नहीं हो पाते थे, वे साधारण पाठशालाओं में अध्यापन का कार्य करते थे, या मुंशी आदि की ऐसी नौकरी प्राप्त कर लेते थे, जिसके लिये शिक्षित होना आवश्यक समझा जाता था। आर्थिक दृष्टि से चीन का यह पण्डित वर्ग बहुत समृद्ध नहीं होता था, पर इसमें संदेह नहीं कि समाज में इसका मान बहुत अधिक था। चीन के शिक्षणालयों में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का प्रवेश अभी नहीं हुआ था। अठारहवीं सदी में यूरोप में जो वैज्ञानिक उन्नति प्रारम्भ हुई थी, चीन के लोग उससे प्रायः अपरिचित थे। वे पुराने समय के शास्त्रों और साहित्यिक ग्रन्थों से ही सन्तुष्ट थे और इन्हीं का

भलीभांति अध्ययन कर वे पण्डित पद को प्राप्त कर लेते थे। अठारहवीं सदी के मध्य तक यूरोप में भी शिक्षा की प्रायः यही दशा थी। वहां भी प्राचीन लैटिन-ग्रन्थों के अध्ययन को ही विद्वत्ता के लिये आवश्यक माना जाता था। पर इसमें सन्देह नहीं, कि शिक्षा और ज्ञान की दृष्टि से चीन यूरोप की अपेक्षा एक सदी के लगभग पीछे रह गया था।

(२) **कृषक वर्ग**—चीन की आबादी का अस्सी फी सदी कृषक वर्ग था। कृषक लोग गांवों में निवास करते थे। गांव के बाहर खेती की भूमि होती थी, जिस पर ये कृषक खेती किया करते थे। कृषि के उपकरण पुराने ढंग के थे और खेतों का आकार छोटा होता था। पिता के बाद उसकी जमीन उसके लड़कों में बंट जाती थी और इस कारण खेतों का आकार निरन्तर अधिक छोटा होता जाता था। किसानों के लिये यह सुगम नहीं होता था, कि वे अपने खेत में पर्याप्त अन्न उत्पन्न कर सकें और अपने परिवार का भलीभांति पालन-पोषण कर सकें। बहु-संख्यक किसान गरीब थे और मट्टी के बने हुए झोंपड़ों में निवास करते थे। गांवों का प्रबन्ध करने के लिये ग्राम पंचायतें संगठित थीं। इनके सदस्य निर्वाचित नहीं होते थे। प्रत्येक परिवार का मुखिया अपने अधिकार से ग्रामपंचायत का सदस्य होता था। परिवार में मुखिया का बहुत महत्त्व होता था। शादी-विवाह की व्यवस्था वही करता था। तलाक की प्रथा चीन में विद्यमान थी। सन्तान न होने की दशा में पति को यह अधिकार था, कि वह दूसरा विवाह कर सके। पर दूसरी पत्नी की परिवार में वह स्थिति नहीं मानी जाती थी, जो कि पहली पत्नी को प्राप्त थी।

(३) **शिल्पी वर्ग**—कारीगर या शिल्पी लोग अपने घर पर रहकर कार्य करते थे। कल-कारखानों का विकास अभी चीन में नहीं हुआ था। व्यावसायिक क्रान्ति के अभाव में पूंजीपति और मजदूर ये दो पृथक श्रेणियां अभी चीन में विकसित नहीं हुई थीं। जुलाहे, मोची, तेली, रंगसाज आदि सब प्रकार के शिल्पी पुराने ढंग के मोटे व भद्दे औजारों से आर्थिक उत्पत्ति का कार्य किया करते थे। शिल्पी लोग आर्थिक श्रेणियों (गिल्ड) में संगठित थे। प्रत्येक शिल्प की अपनी पृथक श्रेणी होती थी। प्रत्येक कारीगर के पास अनेक अन्तेवासी (शागिर्द) काम सीखा करते थे, और सात-आठ साल तक आचार्य (उस्ताद) के घर रह कर शिल्प में प्रवीणता प्राप्त करते थे। अन्तेवासी का काल समाप्त कर चुकने पर या तो कारीगर अपना स्वतन्त्र कार्य प्रारम्भ करता था, और या अपने आचार्य के साथ रहकर काम करता रहता था, जिसके लिये उसे निश्चित वेतन दिया जाता था। प्रत्येक शिल्प के लिये बाकायदा नियम बने होते थे, जिनका निर्माण उस शिल्प की श्रेणि (गिल्ड) द्वारा

किया जाता था। तैयार माल की क्या कीमत हो, कारीगरों को कितना वेतन दिया जाय, किस ढंग का माल तैयार किया जाय—ये सब बातें श्रेणि द्वारा ही निश्चित की जाती थीं। प्रत्येक श्रेणि का एक प्रधान होता था, जिसे सब शिल्पी (केवल आचार्य, अन्तेवासी नहीं) मिलकर चुनते थे। प्रधान को अपने कार्य में परामर्श देने के लिये एक कार्यकारिणी समिति भी होती थी, जिसके सदस्यों की नियुक्ति भी निर्वाचन द्वारा की जाती थी। शिल्प सम्बन्धी सब विवादों का निर्णय श्रेणि द्वारा किया जाता था। इस बात की आवश्यकता बहुत कम होती थी, कि शिल्प के झगड़े राजकीय न्यायालय के सम्मुख उपस्थित हों। चीन में प्रायः सर्वत्र शिल्पी लोग इसी प्रकार की श्रेणियों में संगठित थे। प्रत्येक नगर में विविध शिल्पों की पृथक्-पृथक् श्रेणियां विद्यमान थीं, और उनके द्वारा चीन का व्यावसायिक जीवन बहुत सुन्दर रूप से संचालित होता था। कल-कारखानों के अभाव के कारण उन व्यावसायिक समस्याओं का चीन में सर्वथा अभाव था, जो इस युग में यूरोप के देशों में उत्पन्न हो गई थीं।

(४) **व्यापारी वर्ग**—व्यापारी वर्ग के लोग संख्या में अधिक नहीं थे, कारण यह कि शिल्पी लोग प्रायः स्वयं ही अपने माल का क्रय-विक्रय किया करते थे। शिल्पी लोगों का निवास स्थान ही उनका कारखाना होता था, जहां वे अपने माल का उत्पादन करते थे। यही उनकी दूकान भी होती थी, जहां से उनका माल सुगमता से बिक जाता था। पर कुछ नगर ऐसे भी थे, जहां किसी खास किस्म का माल बहुत अधिक परिणाम में तैयार होता था, और उस सब की खपत उस नगर में नहीं हो सकती थी। यह माल व्यापारी लोग खरीद लेते थे और उसे अन्यत्र जाकर बेचा करते थे। इस प्रकार एक पृथक व्यापारी वर्ग का विकास हो गया था, जिसका कार्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल को ले जाना व वहां उसे बेचना होता था। बड़े नगरों में बाकायदा बाजार होते थे, जहां व्यापारी लोग दूर-दूर से माल को लाकर उसका विक्रय करते थे। माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकना बहुत सुगम नहीं था। उस युग में चीन में न अच्छी सड़कें थीं, और न ही अच्छे यानों की सत्ता थी। सड़कें प्रायः कच्ची और खराब हालत में थीं। पशु या उनसे खींची जानेवाली गाड़ियां माल ढोने के काम में लाई जाती थीं। समुद्र तट पर स्थित नगरों में व्यापार की अधिक सुविधा थी, क्योंकि उनके माल को नौकाओं द्वारा अन्यत्र सुगमता से पहुंचाया जा सकता था। नौकाएँ व छोटे जहाज केवल समुद्रतट के साथ-साथ ही नहीं आते जाते थे, अपितु नदियों में भी उनको प्रयुक्त किया जाता था। नौकाओं द्वारा नदियों में हजारों मील तक व्यापारी लोग माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले

जा सकते थे और जल मार्गों द्वारा चीन के आन्तरिक व्यापार ने अच्छी उन्नति की हुई थी।

शिल्पी वर्ग के समान व्यापारी लोग भी अपने संगठनों (निगमों) में संगठित थे। ये निगम व्यापार सम्बन्धी नियमों का निर्माण करते थे, व्यापारियों पर निरीक्षण रखते थे और आपस के झगड़ों का निबटारा करते थे। निगमों के प्रधान व अन्य अधिकारियों की नियुक्ति भी निर्वाचन द्वारा की जाती थी।

(५) **सेवक वर्ग**—इस वर्ग में वे लोग सम्मिलित थे, जो नौकरी द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे। मजदूर श्रेणी का उस समय तक चीन में विकास नहीं हुआ था, अतः ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी, जो वेतन या भृति प्राप्त करके अपना निर्वाह करते हों। पर समृद्ध व धनी लोग इस स्थिति में थे, कि अन्य लोगों को अपनी नौकरी में रख सकें। साथ ही राज्य की ओर से बहुत से लोग सेना की नौकरी में रखे जाते थे। सैनिक वर्ग को चीन में विशेष सम्माना-स्पद स्थान प्राप्त नहीं था। समाज में उसकी स्थिति हीन समझी जाती थी, और उनकी गणना सेवक वर्ग में ही की जाती थी।

## (३) राजनीतिक संगठन

**चीन के विविध विभाग**—शासन के लिये वास्तविक चीन (मध्य देश) को अठारह प्रान्तों में विभक्त किया गया था। प्रत्येक प्रान्त के अनेक उपविभाग (प्रदेश) होते थे, जिन्हें 'फू' कहते थे। चीन के अठारह प्रान्तों में कुल मिलाकर १८४ प्रदेश या फू थे। प्रत्येक फू अनेक जिलों (हि्सअन) में विभक्त होता था। चीन में इस प्रकार के कुल १४७० जिले थे। जिले में बहुत से नगर व ग्राम होते थे, जिनमें अपनी-अपनी ग्रामपंचायतें विद्यमान थीं। पर शासन की दृष्टि से जिले या हि्सअन को इकाई माना जाता था, और चीन की राजधानी पेकिंग से इन जिलों के शासकों द्वारा ही देश के शासन का संचालन किया जाता था।

**सम्राट् की स्थिति**—चीन में शासन का केन्द्र सम्राट् होता था। उसकी शक्ति असीम थी। यह समझा जाता था, कि वह न केवल अपनी इच्छा से कानूनों का निर्माण कर सकता है, पर राज्य के सब अधिकारी उसी की इच्छा और आदेश के अनुसार अपने-अपने क्षेत्र में शासन का कार्य करते हैं। सम्राट् अपने शासन कार्य के लिये किसी पार्लियामेंट या विधान सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं था और न ही चीन में इस प्रकार की किसी सभा की सत्ता ही थी। सम्राट् दैवी अधिकार से शासन करता है, ईश्वर ने उसे राज्य के शासन का कार्य सुपुर्द किया है और इसलिये जनता को यह अधिकार नहीं है, कि वह उसके कार्य में हस्तक्षेप कर सके, ये

विचार इस युग में चीन में सर्वसम्मत रूप से स्वीकृत किये जाते थे। राजा स्वयं अपने पदाधिकारियों को नियुक्त करता था, और ये अधिकारी अपने कार्यों के लिये उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। पर यह सब कुछ होते हुए भी चीन के सम्राट् अठारहवीं सदी के यूरोपियन राजाओं के समान निरंकुश व स्वेच्छाचारी नहीं थे। फ्रांस का लुई चौदहवां, स्पेन का फिलिप द्वितीय, रूस का अलेक्जेण्डर प्रथम व इंगलैण्ड का जेम्स प्रथम जिन अर्थों में निरंकुश राजा थे, उन अर्थों में चीन के कांग-ह्सी या चिएन-लुंग को निरंकुश व स्वेच्छाचारी नहीं कहा जा सकता। इसके कारणों को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

(१) चीन में प्रचलित राजनीतिक विचारों के अनुसार ईश्वर जब राजा को शासन का अधिकार प्रदान करता है, तो उसे यह कर्तव्य भी सुपुर्द करता है, कि वह देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखे, जनता सुखी और समृद्ध हो और प्रजा के लोग किसी प्रकार से पीड़ित न हों। ईश्वर ने जहां राजा को अपरिमित अधिकार व शक्ति प्रदान की है, वहां साथ ही उसके कतिपय कर्तव्य भी निश्चित कर दिये हैं। इस दशा में यदि किसी राजा के शासन काल में दुर्भिक्ष पड़ता है, प्रजा अन्न के अभाव में दुख उठाती है, तो इसका कारण केवल यही हो सकता है, कि राजा अपने कर्तव्यों के पालन में विमुख है। इस अवस्था में जनता को अधिकार है, कि वह राजा के विरुद्ध विद्रोह कर सके। विद्रोह के कारण यदि राजा अपने पद पर स्थिर न रह सके, तो इसका स्पष्ट अभिप्राय यह होगा, कि अब ईश्वर की यह इच्छा नहीं है, कि वह राजा राजपद पर रहे। ईश्वर ने जनता पर शासन करने का जो अधिकार राजा को प्रदान किया था, अब वह उसने वापस ले लिया है। इसीलिये चीन के प्राचीन ग्रन्थों में ये विचार प्रतिपादित किये गये थे, कि "जो जनता सुनती है, वही ईश्वर सुनता है। जो जनता देखती है, वही ईश्वर देखता है।" और "राज्य में जनता का स्थान सर्वोच्च है, राजा का स्थान सबसे हीन है।" इस प्रकार के विचार चीनी जनता में बद्धमूल थे, और इसी कारण वह समझती थी कि राजा उसी समय तक अबाधित रूप से शासनकार्य का संचालन कर सकता है, जब तक उसके शासन में प्रजा सुखी रहे। इस सिद्धान्त का यह परिणाम था, कि चीन में राजा के विरुद्ध विद्रोह के अधिकार को न्याय्य व उचित माना जाता था।

(२) यद्यपि राजा को अपनी इच्छानुसार कानून बनाने का अधिकार था, पर चीन के लोग यह मानते थे, कि परम्परागत रूप से जो नियम व कानून देश में चले आ रहे हैं, पुराने समय के राजाओं ने जिन कानूनों को जारी किया था और जो नियम प्राचीन शास्त्रों व ग्रन्थों में लिखित हैं, राजा को उनका उल्लंघन नहीं करना चाहिये। चीन के कानून में चरित्र, धर्म और परम्परा का बहुत महत्त्व

था। अतः चीन के सम्राट् उनके विरुद्ध आज्ञाएँ प्रचारित नहीं करते थे। वे पुरानी परिपाटी का आदर करते थे और इसी कारण वे किन्हीं ऐसे कानूनों का निर्माण नहीं करते थे, जो चीन के परम्परागत कानून व चरित्र के विपरीत हों।

(३) चीन में ऐसी संस्थाओं व सभाओं की भी सत्ता थी, जो राजा को उसके कार्य में परामर्श देती थी और जिनके परामर्श को राजा अत्यन्त महत्त्व देता था। इस प्रकार की एक संस्था 'राजसभा' थी, जिसके छः सदस्य होते थे। ये छः सदस्य राज्य के प्रधान विभागों के मुख्य अधिकारी होते थे। ये विभाग निम्नलिखित थे—राजकीय पदों पर नियुक्ति का विभाग, राजकीय आमदनी का विभाग, राजकीय अनुष्ठान सम्बन्धी विभाग, युद्ध विभाग, दण्ड विभाग और सार्वजनिक इमारत व सड़क आदि का विभाग। केन्द्रीय शासन के विविध राजकीय विभागों (अधिकरणों) में इन छः का सबसे अधिक महत्त्व था, और इन छः विभागों के प्रधान अधिकारी राजसभा के सदस्य होते थे। यह राजसभा राजा को राज्य-कार्य के सम्बन्ध में परामर्श देती थी, और राजा उसकी सम्मत्ति के अनुसार कार्य करता था। राजसभा के अतिरिक्त एक अन्य संस्था थी, जिसे 'निरीक्षण सभा' कहते थे। निरीक्षण सभा के इन सदस्यों (निरीक्षकों) का यह कार्य था, कि विविध राजकर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करें, उनकी आलोचना करें, और उनके कार्यों के विषय में राजा को परामर्श देते रहें। पेकिंग की केन्द्रीय सरकार में इस प्रकार के चौबीस निरीक्षक थे, और प्रान्तों की सरकारों में निरीक्षकों की संख्या छप्पन थी। केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन से सम्बद्ध ये निरीक्षक सरकार के विविध कार्यों की स्वतन्त्र व निर्भीक आलोचना करना अपना कर्तव्य समझते थे। जो राजकर्मचारी अपना कार्य सुचारु रूप से कर रहे हैं, ये उन्हें पुरस्कृत करने की सिफारिश करते थे। जो अपने कर्तव्यों से विमुख हों, उन्हें ये दण्ड देने के लिये अपनी रिपोर्ट भेजते थे। ये निरीक्षक अपने कर्तव्य का पालन करते हुए राजा व उसके कृत्यों की आलोचना करना भी आवश्यक समझते थे। इसी का यह परिणाम था, कि चीन के राजा भी आलोचना से ऊपर नहीं माने जाते थे, और वे भी अपने कर्तव्यों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे।

**प्रान्तों का शासन**—चीन की राजधानी पेकिंग थी। साम्राज्य के शासन का संचालन वहीं से होता था। पर प्रान्तीय शासन के लिये सूबेदारों की नियुक्ति की जाती थी। उस समय चीन में आवागमन के साधन अधिक उन्नत नहीं थे। इस कारण प्रान्तीय शासकों पर नियन्त्रण रख सकना बहुत सुगम नहीं था। सूबेदार लोग अपने अपने प्रान्त में स्वतन्त्र शासक के रूप में शासन करते थे और

प्रान्तों की स्थिति अर्द्धस्वतन्त्र राज्यों के समान थी। पर प्रान्तों के सूबेदार भी अपने क्षेत्र में स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते थे। इसका कारण यह था कि (१) सूबेदार के समान अन्य अनेक प्रान्तीय राजकर्मचारियों की नियुक्ति भी सीधी केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती थी। ये कर्मचारी सूबेदार की शक्ति को नियन्त्रित रखने में बहुत सहायक होते थे। (२) प्रान्तों के शासन में भी परम्परागत कानून, व्यवहार और चरित्र का बहुत महत्त्व होता था। सूबेदार लोग इनकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। (३) प्रान्तों के जो अन्य उपविभाग थे, उनके शासकों को भी शासन सम्बन्धी बहुत से अधिकार प्राप्त थे। यदि कोई सूबेदार देश की परम्परा का उल्लंघन कर स्वेच्छाचारी होने का प्रयत्न करे, तो ये उसका विरोध कर सकते थे। (४) सूबेदार लोग अपने क्षेत्र में शक्ति को बढ़ाकर कहीं स्वतन्त्र होने का प्रयत्न न करें, इसलिये समय समय पर उनकी बदली कर दी जाती थी। कोई सूबेदार सुदीर्घ समय तक किसी एक प्रांत में नहीं रहने पाता था। इस व्यवस्थाओं का यह परिणाम था, कि चीन के विशाल साम्राज्य में अकेन्द्रीभाव (डीसेण्ट्रलाइजेशन) की प्रवृत्तियां बहुत प्रबल नहीं हो सकती थीं।

सूबेदार के अतिरिक्त प्रान्तीय शासन के अन्य प्रमुख राजकर्मचारी निम्नलिखित होते थे—(१) कोषाध्यक्ष—इसकी स्थिति सूबेदार के समकक्ष मानी जाती थी। राजकीय करों को एकत्र करना व राजकीय व्यय की व्यवस्था करना इसी का कार्य था। साथ ही यह केन्द्रीय सरकार की ओर से सूबेदार पर निरीक्षण भी रखता था। (२) [illegible] के न्याय विभाग का प्रधान अधिकारी होता था। (३) [illegible] के व्यवसाय पर राज्य का एकाधिकार था। लवणाध्यक्ष इस विभाग का संचालन करता था। (४) समाहर्ता—इसका कार्य टैक्स के रूप में प्राप्त अन्न को एकत्र करना व उसकी व्यवस्था करना था। चीन में कृषकों से टैक्स अन्न के रूप में लिया जाता था। अतः इस विभाग का चीन में बहुत महत्त्व था।

**प्रान्त के उप विभाग**—हम पहले लिख चुके हैं, कि चीन में प्रान्त अनेक प्रदेशों (फू) में विभक्त होते थे, फू के प्रधान अधिकारी को ताओ-तेई कहा जाता था। फू जिन जिलों में (शि[illegible]) में विभक्त होता था, उनके प्रधान अधिकारियों के हाथ में जनता का वास्तविक शासन निहित था। इसीलिये चीन की [illegible] 'मां बाप' कहते थे। वह न केवल सरकारी टैक्सों को एकत्र करता था, अपितु दीवानी और फौजदारी के मामले भी उसी की अदालत में पेश होते थे। जिले के शिक्षाविभाग का प्रबन्ध भी उसी के सुपुर्द था। सर्वसाधारण जनता का सीधा सम्बन्ध उसी के साथ होता था, और इसीलिये जनसाधारण के हित व

कल्याण का उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने के लिये भी उसी को उत्तरदायी समझा जाता था। यही कारण है, कि जिले के प्रधान अधिकारी की योग्यता और कार्य कुशलता पर देश के शासन की क्षमता प्रधान रूप से निर्भर करती थी।

**कर्मचारियों की नियुक्ति**—इस युग में चीन में लोकतन्त्र शासन का सर्वथा अभाव था। जनता को अपने मामलों का स्वयं संचालन करने का अवसर यदि कहीं मिलता था, तो केवल ग्राम पंचायतों, शिल्पियों की श्रेणियों और व्यापारियों के निगमों में ही मिलता था। देश के शासन का संचालन राजकर्मचारी लोग करते थे, जिनकी नियुक्ति सम्राट् व उसके सहकारियों द्वारा की जाती थी। पर सरकारी कर्मचारियों को अपने पदों पर नियुक्त करते हुए उनकी शिक्षा को बहुत महत्त्व दिया जाता था। हम ऊपर उन परीक्षाओं का उल्लेख कर चुके हैं, जिन्हें चीन के पण्डितवर्ग के लोग उत्तीर्ण किया करते थे। जो व्यक्ति जितनी उच्च परीक्षा उत्तीर्ण कर लेता था, उसे उतने ही उच्च राजकीय पद के लिये योग्य समझा जाता था। इस व्यवस्था का यह परिणाम था, कि चीन के शासक व राजकर्मचारी वर्ग में केवल सुयोग्य व्यक्ति ही नियुक्त हो सकते थे। परीक्षा पद्धति के कारण राजकर्मचारियों की नियुक्ति में सिफारिश बहुत काम नहीं देती थी। जिस प्रकार अठारहवीं सदी में यूरोप के विविध देशों में राजकीय पदों की नियुक्ति के समय दरबारियों और राजा के कृपापात्रों की सिफारिशों का महत्त्व था, वैसा चीन में नहीं था। यूरोप में कुलीन श्रेणी के लोग उच्च राजकीय पदों को बहुत सुगमता के साथ प्राप्त कर सकते थे, क्योंकि दरबार में रहते हुए वे राजा को अपनी मुट्ठी में रखते थे। पर चीन में उच्च परीक्षाओं को उत्तीर्ण किये बिना कोई व्यक्ति राजकीय पद को प्राप्त करने की आशा नहीं रख सकता था। विविध पदों पर नियुक्ति पहले तीन साल के लिये की जाती थी। कोई व्यक्ति साधारणतया तीन साल से अधिक समय तक एक स्थान पर व एक पद पर नहीं रह सकता था। मञ्चू राजवंश के अन्तिम काल में इस स्थिति में परिवर्तन आने लगा। मञ्चू सम्राट् भोग विलास में फंसकर अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करने लगे। राजकीय पदों पर नियुक्ति करते हुए व राजकर्मचारी को तरक्की देते हुए वे अपने अनुचरों व पार्श्वचरों की सिफारिशों को महत्त्व देने लगे। परिणाम यह हुआ, कि परीक्षा पद्धति की उपेक्षा होने लगी और चीन का शासनसूत्र शिथिल पड़ने लगा। मञ्चू शासन के विरुद्ध क्रान्ति होकर जो राजसत्ता का अन्त हुआ और रिपब्लिक की स्थापना हुई, उसमें यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

**चीनी साम्राज्य की सार्वभौम सत्ता**—चीनी लोग समझते थे कि, उनका

सम्राट् सार्वभौम शासक है । जिस प्रकार संसार में एक ही सूर्य होता है, वैसे ही मनुष्य जाति का एक ही राजा हो सकता है । इसमें सन्देह नहीं, कि चीनी लोगों की दृष्टि में जो सभ्य मानव समाज था, वह सब चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत था । चीन का मध्य देश वस्तुत: एक विशाल देश था । उसके चारों ओर के विविध राज्य भी चीनी सम्राट् की अधीनता को स्वीकृत करते थे । जिन देशों का चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध था, वे सब चीन के सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकृत करते थे । इसी युग में यूरोप में अनेक छोटे बड़े राज्य थे । ये सब राज्य प्रभुत्त्व शक्तिसम्पन्न और अपने आपमें पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थे। उनमें परस्पर सम्बन्ध रखने के लिये शक्ति-समुत्तुलन (बेलेन्स आफ पावर) के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता था । यूरोप के विविध राज्य व उनके शासक आपस में किस प्रकार का सम्बन्ध रखें, इसके लिये कूटनय ( डिप्लोमेसी) का विकास हुआ था, और यूरोप के विविध राजनीतिज्ञ इस कूटनय में अत्यन्त दक्ष थे । पर चीन में न शक्तिसमुत्तुलन की आवश्यकता थी और न कूटनय की । चीन का अपना विस्तार यूरोप से अधिक था । उसके समीपवर्ती सब राज्य चीनी सम्राट् की अधीनता स्वीकृत करते थे । इस दशा में यदि चीन में अपने सम्राट् व साम्राज्य की सार्वभौमता का विचार विकसित हुआ हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था । इसीलिये जब यूरोप के विविध देशों से चीन का सम्पर्क स्थापित हुआ, तो चीनी राजनीतिज्ञ यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे, कि संसार में कोई ऐसे भी देश हैं, जो उनके अपने देश के समान ही पूर्णतया स्वतन्त्र व प्रभुत्त्वशक्तिसम्पन्न हैं । चीन की इस मनोवृत्ति पर हम आगे चलकर अधिक विशद रूप से प्रकाश डालेंगे ।

## (४) चीन की संस्कृति

नसल व जाति की दृष्टि से विशाल चीनी साम्राज्य के सब निवासी एक नहीं थे । पर उनमें एक प्रकार की एकानुभूति विद्यमान थी, जिसका आधार सांस्कृतिक एकता थी । इस चीनी संस्कृति का विकास कन्फ्यूसियस (५५१–४७९ ई० पू०) के समय से शुरू हुआ था । इस प्रसिद्ध विचारक के सम्बन्ध में हम पहले लिख चुके हैं । कन्फ्यूसियस ने जिस विचारधारा का प्रारम्भ किया था, वह ढाई हजार साल बीत जाने पर भी अब तक चीन के सांस्कृतिक जीवन का आधार थी । चीन में कितने ही अन्य विचारक उत्पन्न हुए, कितनी ही नई विचारधाराएं चलीं, कितने ही नये धर्मों का प्रवेश हुआ, बौद्ध धर्म ने बहुसंख्यक चीनी जनता को अपना अनुयायी बना लिया, इस्लाम और क्रिश्चिएनिटी का भी चीन में प्रवेश हुआ, पर कन्फ्यूसियस द्वारा प्रतिपादित विचारों का प्रभाव इन सबसे मिटा नहीं । विशाल चीन के सब

निवासी कन्फ्यूसियस द्वारा प्रारम्भ की गई विचारधारा और संस्कृति का आदर करते थे और यह बात चीन की सांस्कृतिक एकता की आधार शिला थी। जो कोई जाति चीन की इस प्राचीन संस्कृति को अपना ले, वह चीनी जनसमाज का अंग बन जाती थी। मञ्चू लोग चीन के लिये विदेशी थे, उन्होंने आक्रमण द्वारा चीन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। पर क्योंकि उन्होंने चीन की प्राचीन संस्कृति को अपना लिया था, अतः चीनी लोग उन्हें विदेशी नहीं समझते थे। अपने शासन कार्य में भी मञ्चू सम्राट् चीन की पुरानी परम्परा का अनुसरण करते थे, और इसका यह परिणाम था, कि चीनी लोग उनके शासन को सर्वथा उचित व स्वाभाविक समझते थे। इसी प्रकार जो विविध जातियां समय समय पर चीन में प्रविष्ट हुईं, या जो बाह्य प्रदेश चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत होते गये, वे सब भी चीन के अंगरूप होते गये। यही कारण है, कि चीन में उस प्रकार की जातीय समस्याओं का प्रादुर्भाव नहीं हुआ, जैसा कि इस युग में यूरोप में हो रहा था। आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य में चेक, पोल आदि विविध जातियों का निवास था। ये सब अपने को आस्ट्रियन (जर्मन) लोगों से भिन्न समझती थीं और अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील थीं। पर विशाल चीनी साम्राज्य में निवास करनेवाली विभिन्न जातियों में अपने पृथक्त्व की भावना का अभाव था, क्योंकि सांस्कृतिक दृष्टि से वे परस्पर एकानुभूति रखती थीं।

**भाषा**—भाषा की दृष्टि से चीन में एकता नहीं है, वहां अनेक भाषाएं बोली जाती हैं। जो व्यक्ति केवल कैन्टन की भाषा जानता है, वह फूचो या तीन्त्सिन की भाषा को नहीं समझ सकता। भाषा के इस भेद के रहते हुए भी बहुसंख्यक चीनी लोग एक सर्व सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं, जो 'मन्दारिन' नाम से प्रसिद्ध है। मन्दारिन के भी अनेक भेद हैं, पर उत्तरी चीन में जो मन्दारिन भाषा प्रयुक्त होती है, वह यांगत्से नदी की घाटी के प्रदेश में भी समझी जा सकती है। चीन की विविध भाषाओं में चाहे कितना भी भेद क्यों न हो, पर सारे देश की लिपि एक समान है। कैन्टन का निवासी उत्तरी चीन के निवासी से चाहे बातचीत न कर सकता हो, पर वह उसके साथ पत्रव्यवहार कर सकता है। इसका कारण चीन की लिपि की विशेषता है। चीन की लिपि में उस प्रकार के अक्षर नहीं हैं, जैसे कि हमारी देवनागरी लिपि में हैं। हिन्दी का 'क' या 'प' एक ध्वनि विशेष को सूचित करते हैं, किसी भाव या अर्थ विशेष को नहीं। पर चीन की लिपि में जो विविध चिह्न हैं (हम उन्हें अक्षर नहीं कह सकते), वे किसी विशिष्ट भाव या अर्थ के सूचक हैं। अतः उन चिह्नों को देखकर चीन के किसी भी प्रदेश का निवासी उस भाव को समझ सकता है। मान लीजिये, 'क्ष' यह चिह्न

गरम इस भाव को सूचित करता है। उर्दू भाषा में जिसे गरम कहेंगे, संस्कृत या हिन्दी में उसे ही उष्ण और अंग्रेजी में उसे ही हाट कहेंगे। यदि हम भी चीन की लिपि के समान एक ऐसी लिपि को विकसित कर लें, जो 'क्ष' इस चिह्न से उष्णता के भाव को प्रकट करे, तो उसे देख कर उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी आदि विविध भाषाओं को जाननेवाले पाठक उस चिह्न से ग्रीष्मता के अभिप्राय को भलीभांति समझ सकेंगे। चीनी लिपि के विविध चिह्न, जिनकी संख्या सैंकड़ों में है, भाव व वस्तु सूचक हैं। इसीलिये उसमें लिखी हुई पुस्तक को चीन के विविध भाषा-भाषी लोग समान रूप से समझ सकते हैं। पर इसके लिये लिखित पुस्तक को आंखों से देखना व पढ़ना आवश्यक होता है। यदि उसे पढ़कर सुनाया जाय, तो सब लोग उसे सुगमता से नहीं समझ सकेंगे। लिखित चीनी भाषा जिस रूप में विद्वान लोग पढ़ते हैं, वह सबके लिये सुबोध नहीं होती। पर उसकी लिपि में इस प्रकार की विशेषता है, जो चीन के विविध भाषा भाषी लोगों को एक सूत्र में बांधे रख सकने में समर्थ होती है।

**साहित्य**—सम्भवतः कागज का आविष्कार सबसे पहले चीन में ही हुआ था। यह बात तो निर्विवाद है, कि मुद्रण कला सबसे पहले चीन में ही आविष्कृत हुई थी। जिस समय यूरोप में छापेखाने का प्रवेश हुआ, उससे अनेक सदी पहले चीन में पुस्तकें छपने लग गई थीं। इसका यह परिणाम हुआ, कि चीन में साहित्य के विकास में बहुत सहायता मिली। उन्नीसवीं सदी के शुरू में चीन में जितना साहित्य था, उतना संसार के अन्य किसी देश में नहीं था। ये पुस्तकें प्रधानतया इतिहास, धर्म, दर्शन, काव्य और गद्य साहित्य के सम्बन्ध में थीं। इतिहास पर चीनी लोगों ने बहुत ग्रन्थ लिखे। इनमें चीन के विविध राजवंशों का इतिवृत्त क्रमिक रूप से उल्लिखित है। यद्यपि शुरू के राजवंशों का इतिहास बहुत कुछ कल्पनात्मक है, पर इसमें सन्देह नहीं, कि इन इतिहास ग्रन्थों में चीन की ऐतिहासिक अनुश्रुति बहुत कुछ अविकल रूप में सुरक्षित है। कन्फ्यूसियस आदि जो बहुत से विचारक व तत्त्ववेत्ता प्राचीन चीनमें उत्पन्न हुए, उनके ग्रन्थोंका चीनमें बहुत आदर है। इन आचार्यों ने जो विचारधाराएं प्रारम्भ कीं, उनकी शिष्य परम्परा ने उन्हें बहुत विकसित किया और उनकी पुष्टि व प्रतिपादन में अनेक ग्रन्थों की रचना की। बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद चीनी विद्वानों ने न केवल भारतीय बौद्ध ग्रन्थों का अपनी भाषा में अनुवाद किया, पर उन पर अनेक नई पुस्तकें भी लिखीं। चीनी पण्डितों ने विश्वकोश के रूप में भी बहुत सी पुस्तकों का संकलन किया। गद्य और पद्यात्मक काव्यों के निर्माण पर भी उन्होंने बहुत ध्यान दिया। विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने चिकित्साशास्त्र, कृषि विज्ञान और ज्योतिष पर अनेक ग्रन्थ

लिखे। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक चीनी लोग इसी साहित्य का अध्ययन करते थे। आधुनिक युग में पाश्चात्य देशों ने परीक्षण द्वारा जिस नये ज्ञान विज्ञान का विकास किया, उसका उन्हें कोई परिचय नहीं था। उनमें स्वयं भी यह प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हुई थी, कि प्राचीन प्रमाणवाद का परित्याग कर निरीक्षण और परीक्षण द्वारा प्रकृति के विविध तत्त्वों का परिज्ञान प्राप्त करें और इस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति करें। भारत, ईरान, तिब्बत और अरब आदि अन्य प्राच्य देशों में भी उन्नीसवीं सदी के शुरू तक वैज्ञानिक खोज की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हुई थी। इस अंश में यूरोप ने संसार का नेतृत्व किया और इसी कारण वह भूखण्ड के बड़े भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हुआ।

**धर्म**—धर्म के विषय में चीनी लोग समन्वयवादी थे। जिस प्रकार इस्लाम या क्रिश्चिएनिटी के अनुयायी अपने को केवल मुसलिम या ईसाई समझते हैं, अन्य किसी धार्मिक सिद्धान्त को न मान कर केवल अपने विशिष्ट धर्म का अनुसरण करते हैं, वैसी बात चीनी लोगों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। चीनी लोगों के धार्मिक विधि विधानों व अनुष्ठानों का आधार वे रीति रिवाज थे, जो उनमें बहुत प्राचीन काल से चले आते थे। यद्यपि बहुसंख्यक चीनी लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, पर वे कन्फ्यूसि-यस और लाओ-त्से के सिद्धान्तों का भी समान रूप से आदर करते थे। जिस प्रकार भारत के बहुसंख्यक हिन्दू लोग परम्परागत सनातन धर्म को मानते हैं, शिव, विष्णु आदि विविध देवताओं की समान रूप से पूजा करते हैं, बौद्ध, जैन, सिक्ख, वैष्णव व शैव सन्तों व आचार्यों को आदर की दृष्टि से देखते हैं, वैसे ही चीन में भी था। चीन के बौद्ध लोग जहां बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को मानते थे, वहां साथ ही कन्फ्यूसियस और लाओ-त्से जैसे प्राचीन आचार्यों के उपदेशों व मन्तव्यों का भी अनुसरण करते थे। धार्मिक क्षेत्र में वे बहुत सहिष्णु थे। इस्लाम व क्रिश्चिएनिटी जैसे विदेशी धर्मों से भी उन्हें विरोध व विद्वेष नहीं था, बशर्ते कि ये धर्म चीन की परम्परागत संस्कृति के विरोध में आवाज न उठावें। चीन में बौद्ध धर्म, कन्फ्यूसियस और लाओ-त्से के अनुयायियों के मन्दिर विद्यमान हैं। बौद्ध मन्दिरों में बौद्ध भिक्षु व भिक्षुणियों का निवास है, और कन्फ्यूसियस व लाओ-त्से के मन्दिरों में इन धार्मिक सम्प्रदायों के पुजारियों की सत्ता है। पण्डित, भिक्षु और पुजारी चाहे अपने विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते रहें और विविध मन्दिरों में चाहे विशेष प्रकार की पूजा व अनुष्ठानों का अनुसरण होता रहे, पर सर्वसाधारण चीनी जनता इन सबको आदर की दृष्टि से देखती है। वह कन्फ्यूसियस द्वारा प्रतिपादित नैतिक जीवन के आदर्शों को स्वीकार करती है, लाओ-त्से के मन्तव्यों का आदर करती है और बौद्ध धर्म का अनुसरण करती है। इन विविध सम्प्रदायों के पण्डित

लोग चाहे सैद्धान्तिक दृष्टि से एक दूसरे का विरोध भी करें, पर जनता का उससे विशेष सम्बन्ध नहीं होता । धर्म के मामले में चीनी लोग समन्वयवादी हैं, वे विविध धर्मों के सामञ्जस्य पर विश्वास रखते हैं । चीन की जनता के धार्मिक विश्वासों में पितरों की पूजा का महत्त्वपूर्ण स्थान है । पितरों के अतिरिक्त वे बहुत से देवी देवताओं में भी विश्वास रखते हैं, और उनकी पूजा के लिये अनेक विधि विधानों का प्रयोग करते हैं ।

परम्परागत प्राचीन धर्म के अतिरिक्त चीन में इस्लाम और क्रिश्चिएनिटी का भी प्रवेश हुआ है । विविध ईसाई मिशन किस प्रकार इस विशाल देश में कार्य करते रहे, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं । पश्चिमी चीन में इस्लाम का भी पर्याप्त प्रचार है । पर ये धार्मिक विभिन्नताएं चीन के निवासियों में विशेष भेद उत्पन्न नहीं करतीं । धार्मिक दृष्टि से भिन्न होते हुए भी चीनी लोग सांस्कृतिक दृष्टि से एक हैं ।

**सेना**—मञ्चू सम्राटों की सेना का संगठन प्रायः उसी प्रकार का था, जैसा कि भारत में मुगल सम्राटों या यूरोप में फिलिप द्वितीय व लुई चौदहवें की सेनाओं का था । चीन की राजधानी पेकिंग में सम्राट की अंगरक्षक सेना रहती थी, जो सैन्य नीति में विशेष कुशल थी । इस सेना के सैनिकों की संख्या चार हजार थी । राजधानी की यह सेना जहां सम्राट् की रक्षा करती थी, वहां राजधानी में भी शान्ति और व्यवस्था कायम रखने का काम करती थी । चीन के उत्तरी प्रदेश मंचूरिया में एक बड़ी सेना रखी जाती थी, जिसमें दो लाख के लगभग सैनिक होते थे । चीनी मध्य देश के अठारहों प्रान्तों में प्रान्तीय सेनाएं थीं, जिनके सैनिकों की कुल संख्या पांच लाख के लगभग थी । ये प्रान्तीय सेनाएं अपने अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिये उपयोगी थीं । किसी बाह्य शत्रु के आक्रमण का चीन में विशेष भय नहीं था, क्योंकि चीन का साम्राज्य अत्यन्त विशाल था । अतः सेना का मुख्य प्रयोजन आन्तरिक विद्रोहों को शान्त करना और देश में व्यवस्था स्थापित करना ही था । बारूद का आविष्कार सबसे पहले चीन में ही हुआ था । [illegible] अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना में समर्थ [illegible] मंगोल आक्रान्ताओं द्वारा [illegible] में परास्त [illegible] थी । पर उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जब [illegible] लोग वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण अनेक नये [illegible] शस्त्रों का उपयोग करने लगे थे, चीन के [illegible] पुराने ढंग की वस्तुओं [illegible] का ही प्रयोग करते थे । यही कारण है, कि [illegible] सेनाओं का वे [illegible] नहीं कर सके ।

**कला और व्यवसाय**—उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में चीन में व्यावसायिक क्रान्ति

का प्रारम्भ नहीं हुआ था। कारीगर लोग अपनी आर्थि ... यों में मालको तैयार करते थे। पर इस युग में चीन इस प्रकार की अनेक वस्तुओं का उत्पादन करता था, जिनकी दुनिया के बाजारों में बहुत अधिक मांग थी। यूरोप और अमेरिका में जिस चाय की बहुत अधिक मांग थी, उसका बड़ा भाग चीन में ही पैदा होता था। चीन का रेशम संसार में सर्वोत्कृष्ट माना जाता था। वहां के बने हुए मिट्टी के बरतन कला के उत्कृष्ट नमूने होते थे। चाय, रेशम और मिट्टी के बरतन इस प्रकार के पदार्थ थे, जिन्हें चीन बहुत बड़े परिमाण में अन्य देशों को बेचता था। यूरोप के व्यापारी इस माल को खरीदकर अपने देश में ले जाने के लिये बहुत उत्सुक रहते थे। पर चीन अपनी सब आवश्यकताएं स्वयं पूर्ण कर लेता था, उसे विदेशी माल की कोई जरूरत महसूस नहीं होती थी। यही कारण है, कि जब यूरोपियन व्यापारियों ने चीन में व्यापार के विस्तार के लिये अपनी कोठियां कायम कीं, तो वे चीन के माल की कीमत सोना चांदी में अदा करते थे। उनके पास कोई ऐसा माल नहीं था, जिसे वे चीनी लोगों को बेच सकें। इसी कारण अंग्रेजों ने चीन में अफीम के व्यापार का प्रारम्भ किया। उन्होंने जान बूझकर यह कोशिश की, कि चीनी लोगों में अफीम खाने की आदत पैदा करें और इस अफीम को चीन में बेचकर बदले में वहां से चाय आदि अन्य माल प्राप्त करें।

**मन्चू शासन की निर्बलता**—सम्राट् चिएन-लुंग (१७३६-१७९६) के समय तक मन्चू सम्राटों की शक्ति अक्षुण्ण रही। पर उसके बाद विशाल चीनी साम्राज्य के शासन में निर्बलता आने लगी। राज्य के विविध कर्मचारियों की नियुक्ति के लिये चीन में जिस परीक्षा पद्धति का आश्रय लिया जाता था, वह अठारहवीं सदी तक अवश्य उपयोगी थी। पर इन परीक्षाओं को उत्तीर्ण करने के लिये उन्नीसवीं सदी में भी प्राचीन शास्त्रों का पण्डित होना आवश्यक था। जो व्यक्ति जितना बड़ा विद्वान हो, जितना शास्त्र पारंगत हो, उतना ही वह इन परीक्षाओं के लिये योग्य होता था। पर शास्त्र पारंगत होना एक बात है, और सुयोग्य शासक होना दूसरी बात है। उन्नीसवीं सदी में जो विविध नये ज्ञान विज्ञान विकसित हो रहे थे, चीन की इन परीक्षाओं में उन्हें कोई भी स्थान प्राप्त नहीं था। इसका परिणाम यह था, कि चीन का शासन समय के अनुसार उन्नति करने में असमर्थ था। साथ ही इस युग में चीन के शासन में अन्य प्रकार से भी विकार आना शुरू हो गया था। राजकीय पदों की प्राप्ति के लिये रिश्वत और सिफारिश का महत्त्व बढ़ने लगा था, और अनेक उच्च राजकीय पदों का क्रय विक्रय प्रारम्भ हो गया था। यही कारण है, कि जब उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में चीन और विविध यूरोपियन राज्यों का सम्पर्क हुआ, तो चीन उनका मुकाबला नहीं कर सका।

तीसरा अध्याय

# यूरोप और चीन का सम्पर्क

## (१) चीन और यूरोपियन राज्यों का व्यापार-सम्बन्ध

पन्द्रहवीं सदी तक यूरोप के लोगों को बाहरी दुनिया का बहुत कम परिचय था। उस समय यूरोप और एशिया का व्यापारिक मार्ग लाल सागर से ईजिप्ट होता हुआ भूमध्य सागर पहुंचता था। एक दूसरा मार्ग पर्शिया की खाड़ी से बसरा बगदाद होता हुआ एशिया माइनर के बन्दरगाहों पर जाता था। पहले इन व्यापारिक मार्गों पर अरबों का अधिकार था। अरब लोग सभ्य थे और व्यापार के महत्व को भलीभांति समझते थे। पर पन्द्रहवीं सदी में तुर्क लोग इन प्रदेशों के स्वामी हो गये और एशिया व यूरोप के व्यापारिक मार्ग रुद्ध होने लगे। १४५३ में जब तुर्क विजेता मुहम्मद द्वितीय ने कोन्स्टेन्टिनोपल को भी जीत लिया, तब तो यूरोप के लोगों के लिये इन पुराने मार्गों से व्यापार कर सकना कठिन हो गया।

अब यूरोपियन लोगों को नये मार्ग ढूंढ़ निकालने की चिन्ता हुई। उस समय यूरोप का भारत आदि प्राच्य देशों से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। विशेषतया मसाले बहुत बड़ी मात्रा में पूर्वी देशों से यूरोप में आते थे। इस व्यापार से लाभ उठाने के लिये अब नये मार्गों की खोज प्रारम्भ हुई। इस कार्य में पोर्तुगाल और स्पेन के लोगों ने विशेष तत्परता प्रदर्शित की। इस समय तक यूरोप में दिग्दर्शक यन्त्र का प्रवेश हो चुका था। जहाजों का आकार भी पहले की अपेक्षा बड़ा होने लगा था, और इन्हें चलाने के लिये पाल का प्रयोग शुरू हो गया था। पाल से चलनेवाले और दिग्दर्शक यन्त्र से युक्त जहाजों के लिये यह सम्भव था, कि महासमुद्रों में दूर दूर तक आ जा सकें। पोर्तुगीज लोगों के मन में पहले पहल यह कल्पना उत्पन्न हुई, कि अफ्रीका का चक्कर काटकर पूर्व में पहुंचा जा सकता है। इसी दृष्टि से अनेक पोर्तुगीज मल्लाहों ने अफ्रीका के समुद्रतट के साथ साथ यात्रा प्रारम्भ की। आखिर १४९८ में वास्कोडिगामा नामक पोर्तुगीज मल्लाह अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुंचने में सफल हुआ।

एशिया आने जाने के लिये पोर्तुगीज लोगों को जो नया सामुद्रिक मार्ग ज्ञात हो गया था, उससे वे दूर दूर तक पूर्व में आने जाने लगे। १५११ में उन्होंने मलक्का

पर अपना अधिकार कर लिया। मलक्का को आधार बनाकर वे पूर्वी एशिया में दूर दूर तक जाने लगे, और १५१४ में वे चीन पहुंच गये। पोर्तुगीज लोगों का एशियन लोगों के साथ व्यवहार अच्छा नहीं था। वे उन्हें अपने से हीन समझते थे और उनमें ईसाई मत का जबर्दस्ती प्रचार करने का उद्योग करते थे। भारत, मलाया आदि में जब पोर्तुगीज लोग शुरू शुरू में गये, तब उन्होंने इन देशों के निवासियों के साथ बहुत बुरा बरताव किया। उनका खयाल था, कि जैसे स्पेनिश लोगों ने अमेरिका के मूल निवासियों (मय और अजटक सभ्यताओं) को नष्ट कर वहां अपनी स्थिर बस्तियां बसा ली हैं, वैसे ही एशिया में भी किया जा सकता है। पोर्तुगीज लोगों का उद्देश्य एशिया के विविध प्रदेशों में व्यापार करना ही नहीं था, वे इनके वास्तविक निवासियों को सर्वथा नष्ट कर या अपना गुलाम बनाकर इन्हें अपने उपनिवेश के रूप में विकसित करने के लिये भी प्रयत्नशील थे। पोर्तुगीज लोगों के इस व्यवहार के समाचार चीन में पहुंच चुके थे। सोलहवीं सदी में चीन में मिंग वंश के सम्राटों का शासन था। उन्होंने यह निश्चय किया, कि पोर्तुगीज लोगों को चीन में प्रविष्ट न होने दिया जाय। अतः पोर्तुगीज लोग चीन में कहीं अपनी बस्ती नहीं बसा सके और न ही वे व्यापार के लिये कहीं कोठी ही कायम कर सके। पर कैन्टन के समीप एक द्वीप को उन्होंने अपना केन्द्र बनाया और वहां रहकर वे चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील हुए। १७५७ में पोर्तुगीज लोगों ने मकाओ में अपनी एक बस्ती कायम की, जो अब तक उनके अधीन है। इसी बीच में स्पेनिश लोग फिलिप्पीन द्वीप समूह को अपनी अधीनता में ला चुके थे। १५५७ में वे फिलिप्पीन से चीन आये और वहां के व्यापार में हाथ बटाने लगे। डच और इङ्गलिश लोगों ने पोर्तुगीज व स्पेनिश लोगों का अनुसरण किया। १६३७ में डच लोग चीन आये और १६३७ में अंग्रेजों ने वहां आना शुरू किया। सोलहवीं सदी में रूसी लोग बड़ी तेजी के साथ उत्तरी एशिया में आगे बढ़ रहे थे। साइबीरिया उनके प्रभुत्व में आ गया था। सतरहवीं सदी के अन्त (१६८९) तक रूस की सीमा चीन के साथ आ मिली थी और रूसी लोग भी इस बात के लिये प्रयत्नशील थे, कि चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध को स्थापित करें। इस प्रकार सोलहवीं और सतरहवीं सदियों में विविध यूरोपियन राज्यों के व्यापारियों ने चीन में आना जाना प्रारम्भ कर दिया था और चीन के शासकों के सम्मुख यह समस्या थी, कि इन विदेशियों से किस प्रकार का सम्बन्ध रखा जाय।

चीनी लोग स्वभाव से ही अतिथिसेवी होते हैं। विदेशियों का वे स्वागत करते हैं। स्थलमार्ग से जो यूरोपियन लोग पिछली सदियों में चीन आते जाते थे, उनके साथ चीनी लोग बहुत अच्छा व्यवहार करते थे। पर समुद्र मार्ग से आने

जाने वाले ये यूरोपियन लोग केवल व्यापार से ही संतुष्ट नहीं थे। अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये वे कटिबद्ध थे। उनका यह यत्न था, कि एशिया के विविध प्रदेशों पर अपने आधिपत्य की स्थापना करें। यही कारण है, कि इस समय चीनी लोग यूरोप के व्यापारियों का स्वागत करने के लिये इच्छुक नहीं थे। १६४४ में चीन में मिंगवंश का अन्त होकर मञ्चू वंश के शासन की स्थापना हो गई थी। १६८५ में सम्राट् कांग-ह्सी ने एक उद्घोषणा प्रकाशित की, जिसके अनुसार यूरोपियन लोगों को चीन के तटवर्ती सब बन्दरगाहों में व्यापार की अनुमति प्रदान की गई। पर यूरोपियन व्यापारियों ने इस सुविधा का दुरुपयोग किया और वे चीन के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने लगे। परिणाम यह हुआ, कि १७५७ में सम्राट् चिएन-लुंग ने यह आज्ञा प्रकाशित की, कि विदेशी यूरोपियन लोग केवल कैन्टन में ही व्यापार कर सकें, अन्यत्र नहीं। कैन्टन चीन का सबसे दक्षिणी बन्दरगाह था। १७५७ के बाद यूरोपियन व्यापारियों के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे कैन्टन के अतिरिक्त किसी अन्य बन्दरगाह में व्यापार के लिये आ जा सकें। चीन ने जो यह व्यवस्था की थी, उसका कारण यह नहीं था, कि चीनी लोग विदेशी व्यापार के विरोधी थे या उन्हें यूरोपियन लोगों से कोई घृणा थी। ईसाई मिशनरियों को अपने धर्म का प्रचार करने के लिये चीनी सरकार ने अनुमति दे ही दी थी, पर साम्राज्यवादी यूरोपियन लोग चीन में जिस नीति का अनुसरण कर रहे थे, उसी से विवश होकर चीन के सम्राट् ने उनके व्यापार के क्षेत्र को केवल कैन्टन तक सीमित कर दिया था।

**कैन्टन के साथ व्यापार**—कैन्टन में भी यूरोपियन व्यापारियों को यह अनुमति नहीं थी, कि वे साल भर वहां रह सकें। ग्रीष्म ऋतु में उन्हें वहां रहने की अनुमति नहीं थी। वे केवल व्यापार के दिनों में ही कैन्टन आकर रह सकते थे। अन्य समय में उन्हें मकाओ चले जाना पड़ता था। व्यापार के दिनों में भी यूरोपियन व्यापारी अपने परिवारों को कैन्टन में नहीं ला सकते थे। चीनी सरकार इस बात के लिये उत्सुक थी, कि यूरोपियन लोग कैन्टन में अपनी स्थिर बस्तियां न बसा सकें।

यूरोपियन व्यापारियों को यह अनुमति नहीं थी, कि वे जिस किसी चीनी व्यापारी से माल खरीद सकें या जिस किसी चीनी व्यापारी को अपना माल बेच सकें। १७२० में सम्राट् द्वारा एक व्यापारी को नियुक्त करने की व्यवस्था की गई थी, और यूरोपियन व्यापारियों को यह आदेश दिया गया था, कि वे केवल उस एक सम्राट् के प्रतिनिधि व्यापारी से ही माल का क्रय विक्रय कर सकें। यूरोपियन लोगों को चीन से जो माल खरीदना होता था, वे इस एक व्यापारी से उसे खरीद सकते

थे और इसी को वे अपना माल बेच सकते थे।' पचास साल बाद १७५२ में इस एक व्यापारी के स्थान पर व्यापारियों के एक संघ (को-होंग) का निर्माण किया गया और यूरोपियन व्यापारियों को यह सुविधा दी गई, कि वे एक चीनी व्यापारी के स्थान पर इस व्यापारी संघ से माल का क्रय-विक्रय कर सकें। इस समय चीन के सब बन्दरगाह यूरोपियन लोगों के लिये खोल दिये गये थे, और इन विविध बन्दरगाहों में यूरोपियन देशों के व्यापारी को-होंग से माल का क्रय-विक्रय किया करते थे। १७५७ में कैन्टन के अतिरिक्त अन्य सब बन्दरगाह यूरोपियन लोगों के लिये बन्द कर दिये गये। को-होंग के व्यापारी कैन्टन में आ गये और वहीं पर चीन के साथ यूरोप के लोगों का सब व्यापार केन्द्रित हो गया। को-होंग में सम्मिलित व्यापारियों की संख्या तेरह थी। यूरोपियन व्यापारियों को यह अवसर नहीं था, कि वे अन्य किसी चीनी व्यापारी के साथ व्यापार कर सकें। इसी प्रकार यदि अन्य किसी चीनी व्यापारी को यूरोपियन लोगों के साथ माल का क्रय विक्रय करना होता था, तो वह भी यह को-होंग की मार्फत ही कर सकता था।

यूरोपियन लोग कैन्टन शहर के बाहर निवास करते थे। वहां उनकी व्यापारिक कोठियां कायम थीं। यूरोपियन लोग चीनी भाषा सीखने का कष्ट नहीं उठाते थे। बातचीत व पत्र-व्यवहार के लिये उन्होंने चीनी लोगों को दुभाषिये के रूप में नौकरी में रखा हुआ था। कैन्टन के इन विदेशी व्यापारियों में इङ्गलिश लोग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थे। १७१५ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से कैन्टन में कोठी की स्थापना हुई थी। कम्पनी की ओर से वहां अनेक सुपरिन्टेन्डेन्ट निवास करते थे। स्वतन्त्र अंग्रेज व्यापारियों को यह अधिकार नहीं था, कि वे कम्पनी से पृथक् अपना व्यापार कर सकें। १७८९ में अमेरिकन लोगों ने भी कैन्टन में अपनी कोठियां कायम कीं और इस प्रकार इङ्गलिश, पोर्तुगीज, स्पेनिश, डच और फ्रेञ्च लोगों के समान अमेरिकन लोग भी चीन के साथ अपने व्यापार का विकास करने में तत्पर हुए।

शुरू में विदेशी लोग चीन से केवल माल ही खरीदते थे। उनके पास कोई ऐसा माल नहीं था, जिसे वे चीन में बेच सकें। इसके विपरीत चीन की चाय, रेशम व मिट्टी के बरतन आदि की यूरोप में बहुत मांग थी। इन्हें खरीदकर यूरोपियन व अमेरिकन व्यापारी खूब ऊंची कीमत पर अन्य देशों में बेचते थे। चीन के माल की कीमत सोने चांदी में अदा की जाती थी। पर धीरे-धीरे इन विदेशी व्यापारियों ने चीन में भी बाहर से माल लाना शुरू किया। इङ्गलैण्ड में इस समय तक व्यावसायिक क्रान्ति का प्रारम्भ हो चुका था। वहां कपड़े के बड़े बड़े कारखाने स्थापित होने शुरू हो गये थे, जिनमें तैयार किये गये वस्त्र संसार के विविध

बाजारों में सस्ते मूल्य पर बिक सकते थे। इसी तरह कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका के जंगलों से जो फर एकत्र की जाती थी, दुनिया के धनी लोग उन्हें बड़े शौक से खरीदने लगे थे। इङ्गलैण्ड के कपड़ों और अमेरिका की फरों की चीन में भी मांग बढ़ने लगी और इस प्रकार विदेशी माल का विक्रय भी चीन में शुरू हुआ। पर ब्रिटिश लोग केवल इतने से सन्तुष्ट नहीं थे। वे चाहते थे, कि चीन में किसी ऐसे पदार्थ की खपत को बढ़ाया जाय, जिससे चीन में निर्यात माल की अपेक्षा आयात माल की मात्रा अधिक हो जाय और उन्हें चीन के माल के लिये सोना चांदी के रूप में कीमत न अदा करनी पड़े। इस समय (अठारहवीं सदी) तक भारत के अनेक प्रदेश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रभुत्त्व में आ चुके थे। कम्पनी के व्यापारी वहां अफीम की खेती बड़े परिमाण में करा रहे थे और उनका यह प्रयत्न था, कि चीन में इस अफीम के लिये बाजार तैयार किया जाय। चीनी लोग अफीम के आदी नहीं थे। पर ब्रिटिश लोगों ने उन्हें अफीम का सेवन करना सिखाया। उन्होंने पहले तम्बाकू में अफीम मिलाकर चीनी लोगों को इसकी आदत डाली। एक बार अफीम के आदी होकर चीनी लोगों ने तम्बाकू के बिना शुद्ध रूप से भी अफीम खाना व उसका हुक्का पीना शुरू किया। सन् १८०० तक चीन में अफीम का इतना अधिक प्रचार हो गया था, और इतनी अधिक अफीम यूरोपियन व्यापारियों द्वारा चीन में बिकनी प्रारम्भ हो गई थी, कि उसकी कीमत उस माल की कीमत से अधिक बढ़ गई थी, जो विदेशी व्यापारी चीन से खरीदते थे। चीन की सरकार इस स्थिति से बहुत चिन्तित थी। अफीम के प्रचार को वह अत्यन्त आपत्तिजनक समझती थी। स्वास्थ्य और नैतिकता दोनों की दृष्टि से अफीम का सेवन अत्यन्त हानिकारक था। अतः १८०० में चीन के सम्राट् ने यह आज्ञा प्रकाशित की, कि कोई विदेशी व्यापारी चीन में अफीम न ला सके। अफीम का क्रय विक्रय गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया, पर इससे भी उसका प्रचार रुका नहीं। यूरोपियन व्यापारी छिपकर अफीम को चीन में लाते थे, और चीनी लोग उसके इतने अधिक आदी हो चुके थे, कि उसे छिपकर खरीदते थे। सरकारी अफसर भी इस व्यापार में सहायक थे, क्योंकि इससे उन्हें बहुत आमदनी थी। यूरोपियन व्यापारियों से रिश्वत लेकर वे उन्हें अफीम बेचने से नहीं रोकते थे और इस प्रकार अफीम का व्यापार निरन्तर उन्नति करता जाता था। पर चीन की सरकार इस ओर से विमुख नहीं थी। वह अनुभव करती थी, कि अफीम से देश को भारी नुकसान पहुंचता है, अतः वह इस बात के लिये प्रयत्नशील थी कि जिस प्रकार भी सम्भव हो, अफीम के व्यापार को रोका जाय। १८३८ में चीनी सरकार ने अफीम के व्यापार के विरुद्ध सख्त कार्रवाई शुरू की। परिणाम यह हुआ, कि अंग्रेज व्यापारियों को नुकसान

होने लगा। आर्थिक दृष्टि से अफीम का व्यापार अंग्रेजों के लिये अमदनी का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन था। उसे नष्ट होता देखकर उनके रोष की सीमा नहीं रही। इसी का यह परिणाम हुआ, कि अंग्रेजों की चीन के साथ लड़ाई का सूत्रपात हुआ। ब्रिटिश लोग अपने स्वार्थ के कारण इस बात की जरा भी चिन्ता नहीं करते थे, कि अफीम से चीन के लोगों को कितना अधिक नुकसान पहुंच रहा है। वे समझते थे, कि उन्हें इस बात का पूरा अधिकार है, कि जिस माल को चाहें चीन में बेच सकें। अपने व्यापार पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण उन्हें सह्य नहीं था। चीनी सरकार जो अफीम के व्यापार पर रुकावट डाल रही थी, उसका कारण भी केवल नैतिक नहीं था। अफीम की मांग के अत्यधिक बढ़ जाने से चीन में एक प्रकार का आर्थिक संकट उपस्थित हो रहा था। निर्यात माल की अपेक्षा आयात माल की मात्रा अधिक बढ़ गई थी और इस माल की कीमत चीन के लोगों को सोना चांदी के रूप में अदा करनी पड़ती थी। इससे देश का धन निरन्तर विदेशों में पहुंच रहा था, और यह स्थिति चीन के लिये अत्यन्त चिन्ताजनक थी।

## (२) इंगलैण्ड और चीन का युद्ध

**युद्ध के कारण**—अफीम के व्यापार को बन्द कर देने के कारण ब्रिटिश व्यापारियों को बहुत अधिक नुकसान था। इसलिये वे इस बात के लिये उत्सुक थे, कि चीन के साथ युद्ध को शुरू कर व्यापार सम्बन्धी अधिक सुविधाएं प्राप्त करें। पर ब्रिटेन और चीन के युद्ध का एकमात्र कारण अफीम की समस्या ही नहीं थी। इस युद्ध के कारणों को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है—

(१) ब्रिटिश लोग चाहते थे, कि चीन में अपना प्रभुत्व स्थापित करें। उन्नीसवीं सदी के शुरू तक भारत के अनेक प्रदेश ब्रिटेन के प्रभुत्व में आ चुके थे। भारत में ब्रिटेन का आधिपत्य निरन्तर बढ़ता जा रहा था। पूर्वी एशिया के अन्य भी अनेक प्रदेशों व द्वीपों पर ब्रिटिश लोग अपना शासन स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। वे समझते थे, कि चीन की निर्बलता से लाभ उठाकर वहां भी अपना प्रभाव कायम किया जा सकता है।

(२) इस युग में यूरोपियन लोगों में अपनी उत्कृष्टता की भावना भलीभांति विकसित हो चुकी थी। व्यावसायिक क्रान्ति और वैज्ञानिक उन्नति के कारण यूरोप के देश एशिया के लोगों के मुकाबले में उन्नति की दौड़ में बहुत आगे निकल गये थे। इसलिये उनमें यह विचार बद्धमूल हो गया था, कि हम एशिया व अफ्रीका के निवासियों की अपेक्षा बहुत उत्कृष्ट हैं। प्रभुत्व शक्ति (सोविरेनिटी) राज्यों की एक अनिवार्य विशेषता होती है, चीन भी एक प्रभुत्वशक्ति सम्पन्न राज्य है और

उसे यह अधिकार है, कि व्यापार आदि के सम्बन्ध में अपनी इच्छानुसार व्यवस्था कर सकें, यह बात उनकी समझ में नहीं आती थी। चीनी सरकार ने यह व्यवस्था की थी, कि विदेशी व्यापारी केवल को-होंग द्वारा व्यापार कर सकें, जनता व सरकार के साथ उनका सीधा सम्पर्क न हो। पर ब्रिटिश लोग कहते थे, कि कैन्टन में स्थित उनके सुपरिन्टेन्डेन्ट ब्रिटेन के प्रतिनिधि हैं। चीनी सरकार को चाहिये, कि उनके साथ वैसा व्यवहार न करे, जैसा कि साधारण व्यापारियों के साथ किया जाता है। उन्हें ब्रिटेन का प्रतिनिधि माना जाना चाहिये। १८३४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार का अन्त कर दिया गया था। ब्रिटिश व्यापारियों को यह अधिकार दे दिया गया था, कि वे कैन्टन में स्वतन्त्र रूप से व्यापार कर सकें। इस दशा में ब्रिटिश सरकार ने वहां एक सुपरिन्टेन्डेन्ट की नियुक्ति कर दी थी, जो विविध ब्रिटिश व्यापारियों के कार्यों पर निगाह रखता था। १८३४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एकाधिकार का अन्त होने के बाद सुपरिन्टेन्डेन्ट के इस पद पर लार्ड नेपियर की नियुक्ति की गई। कैन्टन में लार्ड नेपियर का कार्य राजनीतिक नहीं था, उसकी नियुक्ति केवल व्यापार के लिये हुई थी। इस दशा में चीन की सरकार को यह अधिकार था, कि वह उसके साथ कोई सम्बन्ध न रखे। चीनी सरकार का कहना था, कि सरकार का व्यापार के मामलों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका कार्य केवल यह है, कि वह जनता का शासन करे और अपराधियों को दण्ड दे। व्यापार सदृश विषय ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध व्यापारियों से है, राज्य से नहीं है। इसलिये यदि चीनी सरकार लार्ड नेपियर से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहती थी, तो इसमें कोई अनौचित्य नहीं था। पर ब्रिटिश लोग समझते थे, कि चीनी सरकार उन्हें नीची निगाह से देखती है, इसीलिये ब्रिटेन के प्रतिनिधि से वह कोई सम्पर्क नहीं रखना चाहती। पर वास्तविक बात इससे ठीक उलटी थी। कैन्टन में विद्यमान ब्रिटिश व्यापारी अपने को केवल व्यापारी ही नहीं समझते थे। वे चीन में ब्रिटिश प्रभाव को स्थापित करने के लिये उत्सुक थे और इसी कारण यह समझते थे, कि उनका सुपरिन्टेन्डेन्ट ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त होने के कारण यह अधिकार रखता है, कि व्यापार विषयक मामलों पर सम्राट् या उसके उच्च अधिकारियों से ब्रिटिश राजदूत के रूप में विचार विनिमय कर सके। चीन की सरकार ब्रिटिश सुपरिन्टेन्डेन्ट की इस स्थिति को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थी। ब्रिटेन और चीन में जो विरोध बढ़ रहा था, उसमें यह भी एक प्रधान कारण था।

(३) कैन्टन में निवास करनेवाले ब्रिटिश लोग कानून की दृष्टि से चीन के अधीन हैं या नहीं, इस प्रश्न पर भी ब्रिटेन और चीन में मतभेद था। १७८४ में एक अंग्रेज की बन्दूक से एक चीनी नागरिक की हत्या हो गई थी। चीन की सरकार

का कहना था, कि इस अंग्रेज को चीनी पुलीस के सुपुर्द किया जाय और चीनी अदालत में उसके अपराध का निर्णय हो। ब्रिटिश लोग कहते थे, यह सम्भव नहीं है कि कोई अंग्रेज चीन की अदालत के सम्मुख पेश हो और वहां उसके अपराध का निर्णय किया जाय। १७८४ के इस मामले में उस अंग्रेज को गिरफ्तार करके चीनी अदालत द्वारा प्राणदण्ड दिया गया। अंग्रेज लोग इससे बहुत असंतुष्ट हुए। १७९३ में मैकार्टने नामक अंग्रेज के नेतृत्त्व में एक ब्रिटिश मिशन ने यह प्रयत्न किया, कि कैन्टन की अंग्रेज बस्ती में अंग्रेजों को स्वशासन का अधिकार मिले और अंग्रेज अभियुक्तों का निर्णय अंग्रेजी अदालत द्वारा ही हो। पर इस प्रयत्न में मैकार्टने मिशन को सफलता नहीं हुई। १७९३ के बाद भी अनेक ऐसे मामले पेश आये, जिनमें ब्रिटिश अभियुक्तों पर चीनी अदालतों में मुकदमे दायर किये गये और वहां उन्हें दण्ड दिया गया। ब्रिटिश लोग इस बात से बहुत असन्तुष्ट थे। उन्हें यह अत्यन्त अपमानजनक प्रतीत होता था, कि चीन का न्यायाधीश किसी अंग्रेज के मामले का निर्णय करे।

(४) अफीम की समस्या ब्रिटेन और चीन के इस युद्ध का प्रमुख व तात्कालिक कारण थी। १८३९ में चीन की सरकार ने कैन्टन में एक विशेष राजकर्मचारी की नियुक्ति की, जिसे अफीम के व्यापार का अन्त करने का कार्य सुपुर्द किया गया। उसने ब्रिटिश व अन्य यूरोपियन व्यापारियों को इस बात के लिये विवश किया, कि उनके पास अफीम की जो पेटियां हों, उन सबको वे सरकार को दे दें, ताकि उन्हें नष्ट कर दिया जाय। इस राजकर्मचारी ने यह भी कहा, कि यूरोपियन व्यापारियों को यह भी आश्वासन देना होगा कि वे भविष्य में फिर कभी अफीम कैन्टन में नहीं लावेंगे। ब्रिटिश व अन्य यूरोपियन व्यापारियों ने अपने पास विद्यमान अफीम को तो चीनी राजकर्मचारी के सुपुर्द कर दिया, पर वे भविष्य के लिये किसी प्रकार का आश्वासन देने के लिये तैयार नहीं हुए। उनका खयाल था, कि वे शक्ति का उपयोग कर चीनी सरकार के आदेश की उपेक्षा कर सकते हैं। इस दशा में युद्ध का प्रारम्भ हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था।

**चीन और ब्रिटेन का युद्ध**—१८३९ से १८४२ तक चीन और ब्रिटेन का युद्ध जारी रहा। ब्रिटिश जलसेना ने कैन्टन का घेरा डाल दिया। समुद्र में ब्रिटेन की शक्ति का मुकाबला कर सकना चीन के लिये कठिन था। प्रशान्त महासागर के तटवर्ती अनेक नगर और द्वीप ब्रिटेन के कब्जे में आ गये। ब्रिटिश सेना ने चिंकियांग को भी जीत लिया और नानकिंग पर हमला करने की तैयारी शुरू कर दी। इस दशा में चीनी सरकार ने यही उचित समझा, कि ब्रिटेन के साथ समझौते की बात प्रारम्भ की जाय। अस्त्र-शस्त्र और सैन्य की दृष्टि से इस समय चीनी लोग

ब्रिटेन का मुकाबला नहीं कर सकते थे। २९ अगस्त, १८४२ के दिन चीन और ब्रिटेन में समझौता हो गया। यह समझौता नानकिंग की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है।

**नानकिंग की सन्धि**—इस सन्धि की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं:—(१) ब्रिटिश लोगों को न केवल कैन्टन में, अपितु अमॉय, फूचो, निंगपो और शंघाई में भी बसने और व्यापार करने का अधिकार हो। (२) हांगकांग का द्वीप ब्रिटेन को मिले। (३) चीन और ब्रिटेन के राजकर्मचारी परस्पर समानता के आधार पर रहें। (४) चीन के निर्यात और आयात माल पर किस हिसाब से कर लगाया जाय, इसकी दरें निश्चित कर ली जावें और इन दरों को प्रकाशित कर दिया जाय, ताकि उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार के विवाद की गुंजाइश न रहे। (५) को-हांग को तोड़ दिया जाय और ब्रिटिश व्यापारी चीनी व्यापारियों के साथ स्वतन्त्ररूप से माल का क्रय विक्रय कर सकें। (६) चीनी सरकार ब्रिटेन को दस करोड़ रुपया हरजाना दे। इसमें से तीन करोड़ रुपया उस अफीम की कीमत थी, जो चीनी सरकार के विशेष कर्मचारी ने ब्रिटिश लोगों से छीनकर नष्ट कर दी थी। छः करोड़ रुपया लड़ाई के खर्च के लिये चीनी सरकार को हरजाना देना पड़ा था, और शेष रकम वह थी, जो कि को-होंग के व्यापारियों को ब्रिटिश व्यापारियों को प्रदान करनी थी।

**अन्य राज्यों से सन्धियां**—नानकिंग की सन्धि के बाद अन्य पाश्चात्य देशों ने भी चीन से इसी ढंग की सन्धियां करने का प्रयत्न किया। संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति श्री. टाइलर ने श्री. कशिंग को चीन में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा और श्री. कशिंग को यह कार्य सुपुर्द किया गया था, कि वह चीन जाकर सम्राट् से मिले। यदि सम्राट् से भेंट कर सकना सम्भव न हो, तो वह किसी अन्य उच्च राज्य पदाधिकारी से मिलकर अमेरिका के साथ सन्धि स्थापित करने का प्रयत्न करे। २४ फरवरी, १८४४ को श्री. कशिंग मकाओ पहुंचे। वे पेकिंग जाकर सम्राट् से तो नहीं मिल सके, पर चीन के साथ सन्धि करने में सफल हुए। इस अमेरिकन सन्धि की शर्तें प्रायः वही थीं, जो नानकिंग की सन्धि की थीं। पर इनमें एक शर्त नई व अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। इस शर्त के अनुसार यह व्यवस्था की गई थी, कि यदि चीन के किसी नागरिक के खिलाफ यह अभियोग हो, कि उसने किसी अमेरिकन नागरिक के साथ किसी प्रकार की फौजदारी की है, तो उसपर चीनी अदालत में मुकदमा चले और उसे चीनी कानून के अनुसार दण्ड दिया जाय। इसी प्रकार यदि किसी अमेरिकन नागरिक पर फौजदारी का कोई अभियोग हो, तो उसका फैसला अमेरिकन अदालत में अमेरिकन कानून के अनुसार किया जाय। ऊपर से देखने पर यह शर्त बहुत उचित और न्याय्य प्रतीत होती है। पर इससे चीन में उस पद्धति का प्रारम्भ हुआ, जिसे अंग्रेजी में 'एक्स्ट्रा-टेरिटोरियलिटी' कहते हैं। यह तो उचित

ही था, कि चीन के नागरिकों के मुकदमों का फैसला चीनी अदालत में हो । पर प्रभुत्व शक्तिसम्पन्न चीनी राज्य को अमेरिकन अभियुक्तों के अपराधों का फैसला करने का अधिकार न हो, यह बात चीन की प्रभुत्वशक्तिसम्पन्नता और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के सर्वथा विपरीत थी । कुछ समय बाद दीवानी मामलों में भी अमेरिकन नागरिकों के मुकदमों का फैसला अमेरिकन अदालतें ही करें, यह बात भी चीन की सरकार ने स्वीकार कर ली । इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ, कि चीन में निवास करनेवाले अमेरिकन लोग चीनी सरकार के शासन में नहीं रह गये । चीनी सरकार न उन्हें गिरफ्तार कर सकती थी और न उन्हें किसी प्रकार का दण्ड दे सकती थी । इस व्यवस्था के कारण चीन में विदेशी लोगों के एक इस प्रकार के प्रभुत्व का सूत्रपात हुआ, जिसने चीन की प्रभुता और स्वतन्त्र सत्ता को भारी आघात पहुंचाया । अमेरिका के बाद ब्रिटेन व अन्य यूरोपियन राज्यों ने भी 'एक्सट्रा-टैरिटोरिएलिटी' के इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त किये ।

अमेरिका और ब्रिटेन के अनुकरण में कुछ समय बाद फ्रांस ने भी चीनी सरकार के साथ सन्धि की । इस सन्धि में एक विशेष बात यह थी, कि फ्रांस के रोमन कैथोलिक मिशनरियों को यह अधिकार दिया गया, कि वे कैन्टन व अन्य बन्दरगाहों में (जो कि अब यूरोपियन व्यापारियों के लिये खोल दिये गये थे) अपने गिरजाघरों का निर्माण कर सकें, और अपने धर्म का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रचार कर सकें । बाद में अन्य पाश्चात्य देशों के ईसाई पादरियों को भी यह अधिकार दिया गया और रोमन कैथोलिक व प्रोटेस्टेन्ट पादरी गिरजाघरों के निर्माण व धर्म-प्रचार के कार्य में सर्वथा स्वतन्त्र हो गये ।

**सन्धियों का परिणाम**—ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस के साथ जो संधियां उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में हुईं, उनका मुख्य परिणाम यह हुआ, कि चीन के विशाल प्रदेश पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद के विस्तार के लिये खुल गये । इन सन्धियों का प्रयोजन केवल यह नहीं था, कि पाश्चात्य लोग चीन के साथ व्यापार कर सकने की उचित सुविधायें प्राप्त कर सकें । पाश्चात्य देशों के लोग इन सन्धियों द्वारा चीन में ऐसे अधिकारों को प्राप्त कर रहे थे, जो आगे चलकर उनकी प्रभुता व शक्ति की स्थापना में बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुए । कैन्टन आदि बन्दरगाहों में अब पाश्चात्य देशों की व्यापारिक कोठियां के साथ साथ उनकी बस्तियां भी विकसित होनी शुरू हुईं । इन बस्तियों में ये देश अपनी सेना रखते थे और अपने देशवासियों का शासन भी स्वयं करते थे । व्यावसायिक और वैज्ञानिक दृष्टि से चीनी लोग पाश्चात्य लोगों के मुकाबले में पिछड़े हुए थे । सैनिक दृष्टि से उनकी शक्ति पाश्चात्य देशों की अपेक्षा कम थी । इस स्थिति से लाभ उठाकर पाश्चात्य

देश इस बात के लिये प्रयत्नशील थे, कि चीन की सरकार पर सब प्रकार से दबाव डालकर उसे विदेशियों को सब प्रकार की सुविधायें प्रदान करने के लिये विवश करें।

## (३) पाश्चात्य राज्यों से चीन का दूसरा युद्ध

१८४२ में ब्रिटेन और चीन में जो सन्धि हुई थी, ब्रिटिश लोग चाहते थे, कि अब उसे दोहराया जाय। अमेरिका और फ्रांस के साथ की गई सन्धियों में तो इस बात की व्यवस्था भी की गई थी, कि दस साल बीत जाने पर इन सन्धियों को दोहराया जायगा। ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस अनुभव कर रहे थे, कि चीन पर दबाव डालकर उसे सन्धियों को दोहराने के लिये विवश किया जा सकता है।

**युद्ध के कारण**---(१) पाश्चात्य लोग समझते थे, कि चीन में अपने प्रभाव को बढ़ाने का एक ही उपाय है, वह यह कि उसके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग किया जाय। व्यापार की सुविधायें प्राप्त करने की आड़ में वे अपने साम्राज्य विस्तार के लिये प्रयत्नशील थे। (२) कैन्टन आदि बन्दरगाहों में अनेक ऐसे मामले पेश आते रहते थे, जिन पर चीनी व पाश्चात्य लोगों में मतभेद व विवाद बहुत सुगम था। कैन्टन के समीप एक जहाज लंगर डाले हुए पड़ा था, जिसका मालिक एक चीनी व्यापारी था। पर यह जहाज हांगकांग में रजिस्टर्ड था और हांगकांग पर ब्रिटेन का अधिकार स्वीकृत किया जाता था। चीन के एक राजपदाधिकारी की आज्ञा से इस जहाज के मल्लाहों को गिरफ्तार कर लिया गया। ब्रिटिश लोगों ने दावा किया, कि इन मल्लाहों को गिरफ्तार कर सकने का अधिकार चीन की पुलिस को नहीं है। चीनी पदाधिकारी समझते थे, कि क्योंकि जहाज का मालिक चीन का एक नागरिक है, अतः उनको पूरा अधिकार है, कि वे उसके मल्लाहों को गिरफ्तार कर सकें। इस मामले ने बहुत गम्भीर रूप धारण किया। इसी प्रकार की अन्य भी समस्यायें उत्पन्न होती रहती थीं, जिनका मूल कारण यह था, कि कैन्टन आदि बन्दरगाहों में पाश्चात्य लोग भी अपने विशेष अधिकार समझते थे। (३) १८५६ में फ्रांस का एक रोमन कैथोलिक पादरी चीनी पुलीस द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। यह पादरी अपने धर्म प्रचार के सिलसिले में चीन में बहुत दूर तक चला गया था और वहां कतिपय ऐसे कार्यों में लगा हुआ था, जिन्हें चीनी सरकार आपत्तिजनक समझती थी। इस पादरी पर चीनी अदालत में मुकदमा चलाया गया और इसे प्राणदण्ड दिया गया।

**युद्ध की प्रगति**---१८५६ में एक ब्रिटिश सेना ने कैन्टन पर आक्रमण किया और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। कैन्टन की [illegible] ने उत्तर की तरफ प्रस्थान किया। फ्रेंच लोग इस युद्ध में ब्रिटेन के सहायक थे। ब्रिटेन की इच्छा थी, कि अमेरिका और रूस भी इस युद्ध में उसकी सहायता करें, पर

अमेरिका और रूस ने उदासीन रहना ही उचित समझा। कैन्टन से उत्तर की ओर आगे बढ़ती हुई ब्रिटिश और फ्रेंच सेनायें तीनत्सिन तक पहुंच गईं। अब चीन की सरकार के सम्मुख एक ही उपाय था, वह यह कि पाश्चात्य देशों की मांग को स्वीकृत कर ले और इन देशों के साथ जो सन्धियां पहले स्थापित हुई थीं, उन पर पुनर्विचार करे।

तीन्त्सिन में सन्धि के लिये बातचीत शुरू हुई। पर नई सन्धियों की अन्तिम स्वीकृति पेकिंग की केन्द्रीय सरकार द्वारा ही दी जा सकती थी। यद्यपि तीन्त्सिन में सन्धि की शर्तों के सम्बन्ध में समझौता हो गया था (१८५८), पर पेकिंग में वे स्वीकृत नहीं हो सकीं। इस दशा में ब्रिटेन और फ्रांस ने एक बार फिर चीन के खिलाफ लड़ाई शुरू कर दी। इस बार वे आक्रमण करते हुए पेकिंग तक पहुंच गये। चीनी सेनायें उनका मुकाबला कर सकने में असमर्थ रहीं। पेकिंग पर ब्रिटिश और फ्रेंच सेनाओं का कब्जा हो गया, और मञ्चू सम्राट् पेकिंग छोड़कर बाहर चले जाने के लिये विवश हुआ। ब्रिटिश और फ्रेञ्च सेनाओं ने चीन के सम्राट् की राजसत्ता की जरा भी परवाह नहीं की। उन्होंने उसके एक प्रासाद को भस्म कर दिया। अब चीनी सरकार के सम्मुख इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं था, कि इन विदेशी राज्यों के साथ इनकी इच्छानुसार सन्धि कर ले।

**१८६० की सन्धि**—१८५६-६० के युद्ध के बाद विदेशी राज्यों के साथ चीन की जो नई सन्धि हुई, उसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) ग्यारह नये बन्दरगाह पाश्चात्य देशों के व्यापार व निवास के लिये खोल दिये गये। ये बन्दरगाह उत्तर में न्यूच्वांग (मंचूरिया में) से शुरू कर दक्षिण में स्वातो तक फैले हुए थे। कैन्टन आदि पांच बन्दरगाहों में पाश्चात्य लोगों को पहले ही व्यापार और निवास का अधिकार प्राप्त था। अब इस प्रकार के बन्दरगाहों की संख्या सोलह हो गई। प्रशान्त महासागर के तट पर स्थित प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण बन्दरगाहों में अपनी बस्तियां बसाने व स्वतन्त्र रूप से व्यापार करने का अधिकार इस सन्धि द्वारा पाश्चात्य देशों ने प्राप्त कर लिया। (२) पाश्चात्य देशों के जहाजों को यह अनुमति दी गई, कि वे यांग-त्से नदी में आ जा सकें। (३) पाश्चात्य देश अपने राजदूत पेकिंग में रहने के लिये भेज सकें, यह स्वीकृत किया गया। (४) जिन विदेशियों के पास बाकायदा पासपोर्ट हों, वे चीन में जहां चाहें स्वतन्त्रता के साथ आ जा सकें। (५) ईसाई धर्म प्रचारकों को यह अधिकार हो, कि वे चीन में अपने धर्म का प्रचार कर सकें और जो चीनी नागरिक ईसाई धर्म को स्वीकार कर लें, उन्हें अपने धर्म के पालन में किसी प्रकार की रुकावट न हो। (६) फ्रांस के रोमन कैथोलिक पादरियों को अधिकार हो, कि वे ऊपर लिखे सोलह बन्दरगाहों के अति-

रिक्त भी चीन में जहां चाहें, जमीन को खरीद सकें या किराये पर ले सकें और उस पर गिरिजाघर व अन्य इमारतें बना सकें। (७) एक्स्ट्रा-टैरिटोरियलिटी की नीति को और अधिक विशद किया गया और उन नियमों को बहुत स्पष्ट और विशद रूप से बताया गया, जिनके अनुसार पाश्चात्य लोगों को चीन में रहना है। (८) चीन की सरकार युद्ध के लिये ब्रिटेन और फ्रांस को हर्जाना प्रदान करे, यह व्यवस्था की गई। (९) अफीम के व्यापार के लिये पाश्चात्य देशों को अनुमति देना चीनी सरकार ने स्वीकृत किया।

१८५६-६० के युद्ध में रूस चीन का मित्र रहा था। पर वह उत्तर की तरफ से चीन की सीमा की ओर निरन्तर आगे बढ़ रहा था। १८५८ में चीन की सरकार ने स्वीकृत किया, कि आमूर नदी के उत्तर का चीनी प्रदेश रूस को दिया जाता है। इसी प्रकार १८६० में उसूरी पूर्व के प्रदेश पर रूस के अधिकार को स्वीकृत किया गया। ये प्रदेश पहले चीन के अन्तर्गत थे। पर रूस पूर्वी एशिया में अपने आधिपत्य का विस्तार करने में तत्पर था। इन प्रदेशों को वह पहले ही हस्तगत कर चुका था। १८५८ और १८६० में चीन की सरकार ने इन प्रदेशों पर रूस के प्रभुत्व को स्वीकृत कर लिया।

**इन सन्धियों की विवेचना**—१८४२ से १८६० तक चीन ने पाश्चात्य देशों के साथ अनेक सन्धियां कीं। पर चीन ने ये सन्धियां स्वेच्छापूर्वक नहीं की थीं। पाश्चात्य देशों ने अपनी सैन्यशक्ति का प्रयोग कर चीन को इन सन्धियों के लिये विवश किया था। चीनी लोगों को इन सन्धियों के खिलाफ मुख्य शिकायतें निम्नलिखित थीं—(१) चीनी लोग समझते थे, कि ये सन्धियां वैसी नहीं हैं, जैसी कि समान स्थिति के राज्यों में की जाती हैं। इनके कारण जो विशेष अधिकार पाश्चात्य लोगों ने चीन में प्राप्त किये, उसी तरह के अधिकार चीनी लोगों को इन यूरोपियन देशों व अमेरिका में नहीं दिये गये थे। (३) चीनी सरकार का यह स्वयंसिद्ध अधिकार था, कि वह इस बात का निश्चय कर सके कि उसके निर्यात व आयात माल पर कितना कर लगाया जाय। राज्य की प्रभुता की दृष्टि से इन करों का निर्णय करते हुए किसी भी विदेशी राज्य से बातचीत व समझौते की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। पर इन सन्धियों द्वारा यह भी निश्चित किया गया था, कि आयात और निर्यात माल पर टैक्स की दर नियत हो। चीनी सरकार के लिये यह सम्भव नहीं था, कि पाश्चात्य देशों से समझौते के बिना टैक्स की इन दरों में परिवर्तन कर सके। यह बात राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और गौरव की दृष्टि से अत्यन्त अनुचित थी। (३) एक्स्ट्रा-टैरिटोरियलिटी के रूप में जो विशेष अधिकार चीन में पाश्चात्य देशों ने प्राप्त किये थे, वे तो किसी भी प्रकार उचित व न्यायसंगत नहीं समझे जा सकते

थे। ये विशेषाधिकार चीन के लोगों की दृष्टि में बहुत ही अनुचित थे, क्योंकि ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदि किसी भी देश में इस प्रकार के अधिकार चीनी लोगों को नहीं दिये गये थे। पाश्चात्य लोग इनका दुरुपयोग करने में भी संकोच नहीं करते थे। उन्हें इस बात का जरा भी भय नहीं था, कि चीनी पुलीस उन्हें गिरफ्तार कर सकेगी या चीनी अदालतों द्वारा उन्हें किसी भी प्रकार का दण्ड मिल सकेगा। इस कारण वे चीनी नागरिकों के साथ दुर्व्यवहार करते थे और बहुधा ऐसा उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार करते थे, मानो वे किसी अधीनस्थ देश में निवास कर रहे हों।

**साम्राज्यवाद**—१८४२ और १८६० की इन सन्धियों द्वारा चीन का पाश्चात्य देशों के साथ जिस ढंग का सम्बन्ध स्थापित हुआ था, उसे समान रूप से स्वतंत्र व प्रभुत्वशक्तिसम्पन्न देशों का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। यह पाश्चात्य साम्राज्यवाद का एक नया रूप था और सैन्यशक्ति का उपयोग कर इसे स्थापित किया गया था। इस नये प्रकार के साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) *१८४२ की सन्धि द्वारा हांगकांग का प्रदेश ब्रिटेन को प्राप्त हुआ था।* इसकी स्थिति एक क्राउन कोलोनी के समान थी। चीनी सरकार का इसके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रहा था। ब्रिटिश लोगों ने यहां एक समृद्ध नगर का विकास किया और कुछ समय बाद यह प्रशान्त महासागर के चीनी तट के समीप का सबसे महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह बन गया। इसके बहुसंख्यक निवासी चीनी लोग थे, पर राजनीतिक दृष्टि से यह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत था।

(२) कैन्टन आदि सोलह नगर जिन्हें इतिहास में ट्रीटी पोर्ट (सन्धि के अधीन बन्दरगाह) कहा जाता है, विदेशी राज्यों के प्रभुत्व में थे। धीरे धीरे इन नगरों में ऐसी बस्तियों का विकास हुआ, जिस पर चीनी सरकार का कोई भी अधिकार नहीं था। एक्स्ट्रा-टेरिटोरिएलिटी की पद्धति के कारण ये बस्तियां पूर्ण रूप से विदेशी लोगों के कब्जे में थीं और इनका शासन भी उन्हीं के द्वारा होता था। उदाहरण के लिये शंघाई को लीजिये। शंघोई के पुराने नगर के बाहर ब्रिटिश, अमेरिकन और फ्रेंच लोगों की पृथक् पृथक् बस्तियां थीं, जिनका शासन इन विदेशी लोगों के हाथ में था। बाद में अमेरिकन और ब्रिटिश बस्तियां मिलकर एक हो गईं, और उन्हें एक अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती का रूप प्राप्त हुआ। शंघाई की इस अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती का शासन करने के लिये एक म्युनिसिपल कौंसिल का निर्माण किया गया, जिसके लिये सदस्य चुनने का अधिकार केवल विदेशी लोगों को प्राप्त था। यद्यपि शंघाई की इस अन्तर्राष्ट्रीय नगरी (या बस्ती) की बहुसंख्यक जनता चीनी थी, पर चीनी लोगों को इस कौंसिल के चुनाव के लिये वोट तक देने का अधिकार नहीं

था। चीन के ये सोलह नगर सामुद्रिक व्यापार के लिये अत्यधिक महत्त्व रखते थे। चीन के विदेशी व्यापार के ये ही केन्द्र थे। पर इन पर विदेशी लोगों का इस प्रकार का अधिकार चीन की स्वतन्त्रता के लिये विघातक था।

(३) चीन के निर्यात और आयात माल पर चीनी सरकार जो टैक्स लेती थी, पहले उसे वसूल करने के लिये चीनी कर्मचारी नियुक्त होते थे। पर बाद में (१८६०) यह कार्य भी विदेशी लोगों ने अपने हाथ में ले लिया। इसके लिये एक इम्पीरियल मेरीटाइम कस्टम्स सर्विस संगठित की गई, जिसका पहला अध्यक्ष (इन्स्पेक्टर जनरल) रोबर्ट हार्ट नाम का एक आयरिश था। इस सर्विस के लोग चीनी सरकार की नौकरी में समझे जाते थे, पर इसके बहुसंख्यक कर्मचारी यूरोपियन व अमेरिकन थे। तटकर चीनी सरकार की राजकीय आमदनी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन था। इसे वसूल करनेवाली सर्विस जब विदेशी लोगों के हाथ में चली गई, तो चीन की सरकार पर विदेशी लोगों का प्रभुत्त्व और अधिक दृढ़ हो गया।

(४) चीन का सब विदेशी व्यापार मुख्यतया विदेशी लोगों के हाथ में था। समुद्र के मार्ग से जो भी माल चीन से जाता था या चीन में आता था, उस सबकी ढुलाई विदेशी जहाज करते थे। व्यापार के लिये इस समय चीन में अनेक बैंकों की स्थापना हुई, जिनमें सबसे मुख्य हांगकांग एण्ड शंघाई बैंकिंग कारपोरेशन था।

(५) चीन के बन्दरगाहों में विदेशी लोग बड़ी संख्या में निवास करते थे। चीनी जनता से इनका सम्पर्क नाममात्र को था। ये शहर से बाहर अपनी पृथक् बस्तियों में बड़ी शान शौकत और समृद्धि के साथ रहते थे और चीनी लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। चीनी भाषा को सीखने तक की ये विदेशी लोग आवश्यकता अनुभव नहीं करते थे। ये अपने को चीनियों से उत्कृष्ट समझते थे और उनकी भावनाओं की जरा भी परवाह नहीं करते थे।

इस प्रकार चीन में पाश्चात्य देशों द्वारा एक नये प्रकार के साम्राज्यवाद का विकास हो रहा था, और चीन की सरकार उसके सम्मुख अपने को असहाय अनुभव करती थी।

## (४) ईसाई मिशन और उनका विरोध

**ईसाई मिशन**—चीन के सुविस्तृत प्रदेशों को पाश्चात्य देशों के प्रभाव में लाने में पाश्चात्य व्यापारी जितने सहायक हुए, उसके कहीं अधिक ईसाई मिशनरियों ने इस सम्बन्ध में कार्य किया। १८५८ और १८६० की सन्धियों द्वारा ईसाई मिशनरियों को यह अधिकार प्राप्त हो गया था, कि वे चीन में जहां चाहें आ जा सकें और अपने धर्म का प्रचार कर सकें। फ्रांस के रोमन कैथोलिक पादरियों को यह अधिकार भी मिल गया था, कि वे जमीन को खरीदकर या किराये पर लेकर

गिरजाघरों व अन्य इमारतों का निर्माण कर सकें। इन सन्धियों का लाभ उठाकर ईसाई मिशनरियों ने चीन में दूर-दूर तक आना जाना शुरू किया। ये पादरी न केवल अपने धर्म का प्रचार करते थे, अपितु चीनी लोगों के धार्मिक विश्वासों, विधि विधानों और पूजा के तरीकों पर आक्षेप भी करते थे। चीन की सर्व साधारण जनता इससे बहुत उद्वेग अनुभव करती थी।

**विरोध के कारण**—ईसाई पादरियों के खिलाफ चीन में जो भावना उत्पन्न हो रही थी, उसके कारण निम्नलिखित थे—

(१) पाश्चात्य देशों के ईसाई मिशनरी चीन में दूर दूर तक फैले हुए थे। उनकी जान व माल को कोई क्षति न पहुंचे, इसकी उत्तरदायिता चीनी सरकार पर थी। पर यदि किसी पादरी को किसी प्रकार का नुकसान पहुंच जावे, तो पादरी लोग चीन के राजकर्मचारी से अपनी रक्षा व क्षतिपूर्ति के लिये आवेदन करना अपने लिये अपमानजनक समझते थे। वे अपने देश के राजदूत व कैन्टन आदि बन्दरगाहों में निवास करनेवाले व्यापारियों व अन्य कर्मचारियों से सहायता की अपील करते थे। विदेशी लोग तो सदा इस बात की प्रतीक्षा में ही रहते थे, कि उन्हें कोई बहाना मिले और वे चीन की प्रभुता व स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करें और इसके लिये सैन्यशक्ति का उपयोग करें। सुदूरवर्ती किसी प्रदेश में किसी ईसाई पादरी पर आक्रमण हो गया, या उसके साथ किसी प्रकार का झगड़ा हो गया, तो उसके देशवासी उसके मामले को लेकर चीन के विरुद्ध शस्त्र प्रयोग करने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। यह बात चीनी लोगों की आंखों में कांटे की तरह चुभती थी।

(२) जो चीनी नागरिक ईसाई धर्म को स्वीकृत कर लेते थे, पाश्चात्य देशों के विदेशी पादरी उचित अनुचित सब उपायों से उनका पक्ष लेते थे। यदि इन चीनी ईसाइयों ने अपने देश के किसी कानून का उल्लंघन किया हो, या कोई अपराध किया हो, तो भी ईसाई पादरी यह चाहते थे, कि चीन के सरकारी कर्मचारी उन्हें दण्ड न दे सकें। वे चीनी ईसाई को अपनी प्रजा समझते थे, और यह बात चीन के लोगों को बहुत बुरी लगती थी।

(३) केवल कानून का उल्लंघन करने व अपराध करने के मामलों में ही ईसाई पादरी हस्तक्षेप नहीं करते थे। वे चीनी अदालतों के साधारण मामलों में भी ईसाइयों का अनुचित रूप से पक्ष लिया करते थे। मान लीजिये, एक आदमी ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया है, उसका अपने बन्धु बान्धवों से जायदाद या विरासत के सम्बन्ध में कोई मुकदमा चल रहा है। इस दशा में विदेशी पादरी उस चीनी ईसाई का पक्ष लेकर न्यायाधीश पर चीनी ईसाई के पक्ष में फैसला करने के लिये जोर देते थे। यदि न्यायाधीश का फैसला ईसाई के खिलाफ हो,

तो ये पादरी समझते थे, कि उसके साथ अन्याय हुआ है । न्याय के क्षेत्र में ईसाई पादरियों का इस ढंग का हस्तक्षेप चीन की जनता को बहुत आपत्तिजनक प्रतीत होता था ।

(४) चीनी लोगों में अपने पितरों की पूजा का बड़ा महत्त्व था । परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वजों के प्रति असाधारण रूप से आदर का भाव रखता था और उन्हें तृप्त रखने के लिये अनेक प्रकार के विधि-विधानों का अनुष्ठान करता था । ईसाई पादरी इस पितृपूजा के भी विरुद्ध प्रचार करते थे । परिवार का जो व्यक्ति ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेता था, वह पितृतर्पण को बन्द कर देता था । परिवार के अन्य लोग इसे बहुत अनुचित समझते थे और उस ईसाई व्यक्ति का अपने परिवार के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रह जाता था ।

(५) ईसाई मिशनों में केवल पुरुष पादरी ही नहीं होते थे, यूरोप और अमेरिका से बहुत सी नवयुवतियां भी चीन में धर्म प्रचार के उद्देश्य से इस युग में आ रही थीं । ये युवतियां प्रायः अविवाहित होती थीं और पुरुष पादरियों के साथ स्वतन्त्रता से घूमती फिरती थीं । चीनी लोग यह समझ नहीं सकते थे, कि कोई अविवाहित नवयुवती इस प्रकार स्वतन्त्रता के साथ पुरुषों के साथ घूम फिर सकती है । उनका खयाल था, कि ईसाई पादरी नैतिक दृष्टि से बहुत पतित हैं, और उनके द्वारा चीन में जिस धर्म का प्रचार किया जा रहा है, वह यहां भी इसी ढंग की अनैतिकता का प्रवेश करा देगा ।

(६) रोमन कैथोलिक पादरियों के अनेक विधिविधान व अनुष्ठान चीनी लोगों को बहुत अद्भुत प्रतीत होते थे । उनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की ऐसी अफवाहें चीन में फैल रही थीं, जो चीनी जनता के हृदय में विदेशी पादरियों के प्रति तीव्र विरोध को उत्पन्न करती थीं । चीनी लोग कहते थे, पादरी लोग अपने अस्पतालों में चीनी रोगियों की आंखें व अन्य अंग निकाल लेते हैं । उनका प्रयोग दवाइयों के निर्माण में किया जाता है । ये अफवाहें चाहे कितनी ही निराधार क्यों न हों, पर गर्व में मस्त हुए विदेशी पादरियों ने कभी इस बात की आवश्यकता अनुभव नहीं की, कि चीनी जनता के मिथ्या भ्रम को दूर करने का प्रयत्न करें ।

**मिशनों के कार्य का विस्तार**—१८६० के बाद ईसाई मिशनरियों के प्रचार कार्य में बहुत वृद्धि हुई । विशेतया रोमन कैथोलिक चर्च के अनेक सम्प्रदाय इस समय चीन के विविध प्रदेशों में अपने कार्य में तत्पर थे । इन सम्प्रदायों में जेसुइट, फ्रांसिस्कन, पेरिस की विदेशी मिशन सोसायटी और लजारिस्ट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रोटेस्टेन्ट पादरियों ने चीन में अधिक जोर से प्रचार कार्य को शुरू किया । पहला प्रोटेस्टेन्ट जो चीन में प्रचार

के लिये गया था, उसका नाम राबर्ट मोरिसन था । वह १८०७ में चीन पहुंचा था । पर उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में प्रोटेस्टेन्ट लोगों ने चीन में अपने कार्य का अधिक विस्तार नहीं किया था । पर १८९५ तक यह स्थिति आ गई थी, कि चीन में प्रोटेस्टेन्ट पादरियों की संख्या रोमन कैथोलिक पादरियों की अपेक्षा अधिक बढ़ गई थी। इन पादरियों ने चीनी भाषा में बाइबल का अनुवाद किया और व्याख्यान तथा पुस्तिकाओं द्वारा ईसा के सन्देश को चीनी लोगों तक पहुंचाना शुरू किया। प्रोटेस्टेन्ट लोगों ने धर्म प्रचार के लिये अनेक शिक्षणालय और अस्पताल भी स्थापित किये । उन्नीसवीं सदी के अन्त तक चीन में ढाई हजार से अधिक ईसाई पादरी अपने धर्म के प्रचार में व्याप्त थे और उन्होंने आठ लाख के लगभग चीनी नागरिकों को अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था ।

**ईसाइयों के विरुद्ध विद्रोह**—चीन में ईसाई धर्म का प्रचार जिस प्रकार तेजी के साथ बढ़ रहा था और विदेशी पादरी जिस ढंग से चीन के नागरिकों के साथ बरताव कर रहे थे, उसका यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि चीन का जनता उनके प्रति अपनी विरोध भावना को प्रकट करे । इस समय चीन में अनेक स्थानों पर ईसाई मिशनों के विरुद्ध विरोध प्रदर्शित किया गया । तीन्त्सिन में चीनी लोगों ने ईसाई गिरजे पर हमला करके उसे जला दिया और इस झगड़े में बहुत से आदमी मारे भी गये। इस झगड़े का कारण यह था, कि ईसाई पादरियों ने तीन्त्सिन में एक अनाथालय खोल रखा था ।अनाथालय में ईसाई बच्चे अधिक संख्या में नहीं थे, अतः इसाई पादरियों ने यह पद्धति शुरू की थी, कि जो आदमी अनाथालय में बच्चे लायगा, उसे प्रति बालक कुछ रकम इनाम के तौर पर दी जायगी । ईसाई पादरी यह भी कहते थे, कि जब कोई बच्चा बहुत बीमार हो, उसके इलाज की कोई सम्भावना न रहे, तो उसे अनाथालय में ले आया जाय, ताकि मरने से पहले उसका बपतिस्मा कर दिया जा सके। चीनी जनता इस व्यवस्था के बहुत विरुद्ध थी । उसका खयाल था, कि पादरी लोग रुपया देकर बच्चों को खरीदते हैं, और मृत्यु से पहले उनकी आंख आदि को निकाल लेते हैं । तीन्त्सिन के लोगों में यह विचार इसलिये भी उत्पन्न हो गया था, कि इस साल (१८७०) वहाँ के ईसाई अनाथालय में चालीस के लगभग बच्चे किसी संक्रामक रोग के कारण कुछ ही दिनों में मर गये थे । तीन्त्सिन में चीनी लोगों ने जिस ढंग से ईसाई पादरियों पर हमला किया, वह किसी षड्यन्त्र का परिणाम नहीं था । चीन की जनता में विदेशी पादरियों के विरुद्ध जो घृणा व विद्वेष की भावना थी, वह इस आक्रमण के रूप में अकस्मात् ही फूट पड़ी थी । इसी ढंग के अन्य भी अनेक आक्रमण इस समय चीन में अन्यत्र विदेशी पादरियों के ऊपर किये गये । धर्म प्रचार करते हुए भी विदेशी पादरियों

में जो अपने को उत्कृष्ट और चीनी लोगों को हीन समझने की भावना थी, उसी ने चीनी लोगों में इन धर्म प्रचारकों के विरुद्ध विद्वेष का भाव उत्पन्न कर दिया था।

## (५) विदेशियों के साथ सम्बन्ध

**मार्गरी हत्याकाण्ड**—ईसाई पादरियों और विदेशी व्यापारियों के रुख के कारण लोग सब विदेशियों के प्रति विद्वेष का भाव रखने लगे थे। विदेशियों के प्रति चीनी लोगों की इस समय क्या मनोवृत्ति थी, वह एक घटना द्वारा भलीभांति स्पष्ट की जा सकती है। ब्रिटिश लोग चाहते थे, कि बरमा के रास्ते से दक्षिणी चीन के साथ व्यापार की सुविधा प्राप्त करें। १८७६ में उन्होंने इस विषय में अनुसन्धान करने के लिये एक मिशन चीन भेजा। दक्षिणी चीन के यूनान प्रदेश का अवगाहन करने के लिये उन्होंने मिशन के सदस्यों के लिये चीनी सरकार से पासपोर्ट भी प्राप्त कर लिये। जब यह मिशन यूनान पहुंचा, तो उसे सूचना मिली कि चीनी लोग उसपर आक्रमण करने के लिये उद्यत हैं। मिशन का एक सदस्य श्री मार्गरी अपने कुछ साथियों को साथ में लेकर इस बात की सत्यता का पता लगाने के लिये आगे बढ़ा। वहां उस पर आक्रमण किया गया और उसके पांच साथियों के साथ चीनी लोगों द्वारा उसकी हत्या कर दी गई। परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटिश मिशन दक्षिणी चीन में अपना कार्य नहीं कर सका।

पर पाश्चात्य लोग इस प्रकार की घटनाओं को अपने लिये बहुत उत्तम अवसर समझते थे। इस समय पेंकिंग में स्थित ब्रिटिश राजदूत के पद पर सर थामस वेड विद्यमान थे। जब उन्हें श्री मार्गरी की हत्या का हाल मालूम हुआ, तो उन्होंने चीनी सरकार से मांग की, कि श्री मार्गरी की हत्या का अनुसन्धान करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की जाय, जिसमें ब्रिटेन के भी प्रतिनिधि हों। साथ ही इस हत्याकाण्ड का प्रतिशोध करने के लिये चीन की सरकार ब्रिटेन को हरजाना प्रदान करे और इस बात का आश्वासन दे, कि भविष्य में फिर कभी ऐसी घटना नहीं होगी। सर थामस वेड ने इस समय यह सवाल भी उठाया, कि ब्रिटेन के प्रतिनिधियों को यह भी अधिकार होना चाहिये, कि वे सम्राट् से समानता के आधार पर मिल सका करें और चीन व ब्रिटेन की सरकार में जिन अन्य प्रश्नों पर मतभेद है, उन पर भी विचार करके उनका समाधान किया जाना चाहिये। चीन की सरकार ने इस बात को तो स्वीकृत कर लिया, कि श्री मार्गरी की हत्या की जांच करने के लिये कमीशन की नियुक्ति की जाय और इस कमीशन में ब्रिटेन का भी प्रतिनिधि रहे। यह बात यद्यपि चीन की प्रभुत्व-शक्ति और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के विरुद्ध थी,

तथापि ब्रिटेन की यह माँग स्वीकृत कर ली गई । पर अन्य बातों को मंजूर करने के लिये चीन की सरकार ने इन्कार कर दिया । परिणाम यह हुआ, कि सर थामस वेड ने पेकिंग से प्रस्थान कर दिया और ब्रिटिश सेनाएं एक बार फिर चीन के साथ युद्ध करने के लिये तैयारी करने लगीं । इस स्थिति में चीन की सरकार ने यही उचित समझा, कि ब्रिटेन से सुलह कर ली जाय । १३ सितम्बर, १८७६ के दिन ब्रिटेन और चीन में नई संधि हुई, जिसके अनुसार अनेक नये बन्दरगाह ब्रिटेन के व्यापार के लिये खोल दिये गये और ब्रिटेन की अन्य मांगें भी स्वीकार कर ली गईं । १८७६ की यह संधि चेफू के समझौते के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि यह सन्धि चेफू नामक स्थान पर हुई थी ।

मार्गरी हत्याकाण्ड का ऐतिहासिक दृष्टि से यह महत्त्व है, कि जहां यह एक ओर चीन की जनता की विदेशियों के प्रति भावना को सूचित करता है, वहां इससे यह भी स्पष्ट होता है, कि ऐसी घटनाओं का प्रयोग पाश्चात्य देश किस ढंग से करते थे । इस युग में अन्य भी इस प्रकार की अनेक घटनायें हुईं, और विदेशी लोगों ने उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाया ।

**विदेशों में चीन के राजदूत**—१८६० में पाश्चात्य देशों के राजदूत चीन में निवास करने लग गये थे । अब यह आवश्यकता अनुभव हुई, कि चीन को भी अपने राजदूत अन्य देशों में भेजने चाहियें। सब से पहले १८७७ में चीन की ओर से एक राजदूत की ब्रिटेन में नियुक्ति की गई। १८७७ के बाद अन्य देशों में भी चीन के राजदूत नियुक्त किये गये ।

पर १८७७ से पहले भी चीन की सरकार ने पाश्चात्य देशों के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये प्रयत्न किया था । इम्पीरियल मेरीटाइम कस्टम्स सर्विस का अध्यक्ष सर राबर्ट हार्ट जब १८६६ में चीन से इङ्गलैंड गया, तब उसके साथ एक चीनी प्रतिनिधि इस उद्देश्य से भेजा गया था, कि वह इङ्गलैण्ड व अन्य यूरोपियन राज्यों की दशा का अध्ययन कर उसके विषय में चीनी सरकार को रिपोर्ट दे । पर इस प्रतिनिधि ने यूरोप के सम्बन्ध में जो रिपोर्ट दी, वह अच्छी नहीं थी और इस कारण चीन की सरकार को यह उत्साह नहीं हुआ, कि वह यूरोप के साथ अपने सम्बन्ध को अधिक विस्तृत व घनिष्ट करने का प्रयत्न करे ।

१८६७ में चीन की सरकार ने एक अन्य मिशन अमेरिका और यूरोप में इस उद्देश्य से भेजा, कि वह इन पाश्चात्य देशों का अध्ययन करे। इस मिशन का अध्यक्ष श्री आन्सन बर्लिङ्गम को बनाया गया । श्री बर्लिङ्गम पेकिंग में अमेरिकन राजदूत के पद पर रह चुके थे और चीन की दशा से भलीभांति परिचित थे । इस मिशन ने अमेरिका, इङ्गलैण्ड, फ्रांस, रूस आदि की यात्रा की और वहां के राजनी-

तिज्ञों से परिचय प्राप्त किया। श्री बर्लिङ्गम चीन के लोगों की मनोवृत्ति को भली भांति मानते थे। उन्होंने पाश्चात्य लोगों को बताया, कि चीन के लोग पाश्चात्य संसार के ज्ञान विज्ञान को सीखने के लिये तैयार हैं, वे विदेशों के साथ व्यापार को विकसित करने के लिये भी उद्यत हैं, वे ईसाई मिशनरियों का भी स्वागत करते हैं, और इस बात के लिये प्रयत्नशील हैं, कि पाश्चात्य सभ्यता को अपनाकर अपने देश की उन्नति करें। श्री बर्लिङ्गम ने चीन की मनोवृत्ति को सही रूप में पाश्चात्य देशों के सम्मुख पेश किया। उनके भाषणों के कारण पाश्चात्य लोगों को यह अवसर मिला, कि वे चीन के सम्बन्ध में सही बातें मालूम कर सकें। चीनी लोगों को अपने से हीन समझने की जो प्रवृत्ति पाश्चात्य लोगों में विद्यमान थी, उसे दूर होने में इस चीनी मिशन से बहुत सहायता मिली।

**चीनी लोगों का अमेरिका में प्रवेश**—श्री बर्लिङ्गम के प्रयत्न से १८६८ में चीन और अमेरिका में एक नई सन्धि हुई, जिसके अनुसार (१) अमेरिका ने चीन की स्वतन्त्रता को स्वीकृत किया, (२) चीनी मजदूर अमेरिका में आकर मजदूरी कर सकें, यह स्वीकृत किया गया, (३) धर्म प्रचार के सम्बन्ध में दोनों देशों को पूरी पूरी स्वतन्त्रता दी गई, और (४) दोनों देशों के लोगों को दूसरे देश में यात्रा व निवास का अधिकार प्रदान किया गया।

इस सन्धि में सबसे महत्त्व की बात यह थी, कि इसमें चीन के मजदूरों को अमेरिका में आकर मजदूरी करने का अवसर दिया गया था। १८६८ से पहले भी चीन के लोग नौकरी व मजदूरी की तलाश में अमेरिका जाना शुरू कर चुके थे। चीन की जनसंख्या बहुत अधिक थी और सर्वसाधारण लोगों को वहां आजीविका प्राप्त करने की समुचित सुविधा नहीं थी। इसके विपरीत पश्चिमी अमेरिका में मजदूरों की बहुत कमी थी और वहां के खेतों, खानों व कारखानों में मजदूरों की सदा आवश्यकता रहती थी। १८६७ तक ५०,००० के लगभग चीनी मजदूर अमेरिका पहुंच चुके थे। शुरू में अमेरिकन लोग चीनी मजदूरों का स्वागत करते थे। चीनी मजदूरों की मजदूरी की दर बहुत सस्ती थी और वे खूब परिश्रम करते थे। साथ ही चीनी लोग भी अमेरिका जाकर सुगमता से मजदूरी प्राप्त कर सकते थे। १८६८ के बाद चीनी लोग बड़ी संख्या में अमेरिका जाने लगे। १८८२ में अमेरिका में विद्यमान चीनी मजदूरों की संख्या १, ३२, ००० हो गई। अमेरिकन लोग अपने देश में इस प्रकार बढ़ती हुई चीनी आबादी से बहुत चिन्तित थे। विशेषतया अमेरिकन मजदूर चीनियों के अमेरिका प्रवेश के बहुत विरुद्ध थे। कैलिफोर्निया व अनेक राज्यों में चीनी लोगों के खिलाफ अनेक विद्रोह हुए। अमेरिकन लोगों ने वैयक्तिक व सामूहिक रूप से चीनियों पर हमले शुरू कर दिये।

परिणाम यह हुआ, कि अमेरिका की कांग्रेस (पार्लियामेन्ट) में चीनी लोगों के अमेरिका प्रवेश के विरुद्ध कानून पास किया गया (१८७८)। पर यह कानून १८६८ की चीन-अमेरिकन सन्धि के विरुद्ध था। अतः राष्ट्रपति हेम्स ने इसे वीटो कर दिया। साथ ही उसने एक अमेरिकन कमीशन इस उद्देश्य से चीन भेजा, कि १८६८ की सन्धि को दोहराया जाय और उसमें इस प्रकार के परिवर्तन किये जावें, जिनसे अमेरिकन सरकार चीनियों के अमेरिकन प्रवेश को नियन्त्रित कर सकें। चीनी सरकार अमेरिकन मिशन की मांग को अस्वीकृत नहीं कर सकी। १८८० में चीन और अमेरिका की संधि में संशोधन किया गया और १८८२ में अमेरिकन कांग्रेस ने एक कानून द्वारा यह व्यवस्था की, कि दस साल तक चीनी लोग अमेरिका में न आ सकें और जो चीनी लोग अमेरिका में विद्यमान हैं, उन्हें अमेरिकन नागरिकता के अधिकार प्राप्त न हो सकें। १८९२ और १९०२ में अमेरिकन कांग्रेस ने फिर इसी प्रकार के कानून स्वीकृत किये और १९०४ के एक कानून के अनुसार चीनी लोगों का अमेरिका में आकर बसना सदा के लिये बन्द कर दिया गया। इन कानूनों से चीन में बहुत असन्तोष था, पर अमेरिका की शक्ति के सम्मुख चीन की सरकार सर्वथा असहाय थी।

संयुक्त राज्य अमेरिका के समान मध्य और दक्षिणी अमेरिका के पेरू, क्यूबा आदि अन्य प्रदेशों में भी चीनी लोग इस युग में बड़ी संख्या में जाकर बसने लगे थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अमेरिकन महाद्वीप में भी दास प्रथा का अन्त हो गया था। उसके अनेक प्रदेशों में मजदूरों की कमी अनुभव की जा रही थी और इस कारण चीन में अनेक ऐसी एजन्सियां कायम हुई थीं, जो गरीब चीनियों को बहकाकर अमेरिका में कुली का काम करने के लिये भरती करने में तत्पर थीं। जिस प्रकार दक्षिणी अफ्रीका, फिजी आदि के लिये कुलियों की भरती करने के निमित्त भारत में प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा का प्रारम्भ हुआ था, वैसे ही दक्षिणी अमेरिका के लिये कुलियों को प्राप्त करने के निमित्त चीन में इस प्रथा को शुरू किया गया। हजारों की संख्या में गरीब चीनियों को बहका फुसला कर दक्षिणी अमेरिका ले जाया जाने लगा। छोटे-छोटे जहाजों में पशुओं की तरह चीनी कुलियों को भरकर अमेरिका ले जाया जाता था और वहां उनसे गुलामों के समान व्यवहार किया जाता था। चीन की सरकार ने इस प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा के विरुद्ध कानून जारी किया, पर मकाओ (पुर्तगाल के आधीन) को केन्द्र बनाकर पाश्चात्य लोगों ने इस प्रथा को जारी रखा। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक संसार का लोकमत इस प्रथा के इतना विरुद्ध हो गया, कि धीरे-धीरे चीन से प्रतिज्ञाबद्ध कुलियों को भरती कर सकना सम्भव नहीं रहा। साथ ही अमेरिका

में कार्य करनेवाले चीनी कुलियों की दशा में सुधार करने का भी प्रयत्न किया गया।

## (६) मञ्चू सम्राटों का निर्बल शासन

**सम्राट ताओ कुआंग**—सन १७९६ में चीन के शक्तिशाली मञ्चू सम्राट् चिएन-लुंग की मृत्यु हुई थी। उसके उत्तराधिकारी निर्बल थे, और उनके समय में मञ्चू शासन में ह्रास की प्रक्रिया का प्रारम्भ हो गया था। यहां इस बात की आवश्यकता नहीं है, कि इन सम्राटों के वृत्तांत का उल्लेख किया जाय। १८२० में चीन की राजगद्दी पर सम्राट् ताओ कुआंग आरूढ़ हुआ। उसके शासन काल में चीन के दुर्दिन शुरू हो गये। यूरोप के व्यापारी उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जिस ढंग से प्रशान्त महासागर के तट पर अपने प्रभुत्व व प्रभाव की स्थापना में तत्पर थे, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। १८३२ में चीन में भारी दुर्भिक्ष पड़ा। चीनी लोग समझते थे, कि दुर्भिक्ष आदि के रूप में देश को जिस दैवी प्रकोप का सामना करना पड़ता है, उसकी उत्तरदायिता राजा पर होती है। दुर्भिक्ष आदि दैवी विपत्तियां इस बात का प्रमाण हैं, कि ईश्वर राजा से संतुष्ट नहीं है। परिणाम यह हुआ, कि इस समय चीन में अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए। इन विद्रोहों को शान्त करने के लिये चीनी सरकार को अनेक प्रकार के कठोर उपायों का आश्रय लेना पड़ा।

**सम्राट् हि्सएन फंग**—१८५० में ताओ कुआंग के बाद उसका लड़का हि्सएन फंग चीन का सम्राट् बना। इसी के शासन काल में इङ्गलैण्ड और फ्रांस की सेनाओं ने पेकिंग पर आक्रमण किया था और सम्राट् को अपनी राजधानी को छोड़ देने के लिये विवश किया था। १८६० की संधि, जिसके द्वारा पाश्चात्य देशों को चीन में अपने प्रभाव व प्रभुत्व को विस्तृत करने का अपरिमित अवसर प्राप्त हो गया था, इसी सम्राट् के समय में हुई थी। १८६० में राजधानी से निर्वासित दशा में ही सम्राट् हि्सएन फंग की मृत्यु हो गई थी।

**साम्राज्ञी त्सू ह्सी**—हि्सएन फंग की मृत्यु के समय उसका एकमात्र पुत्र अभी बालक ही था। अतः उसकी रानी त्सू ह्सी ने शासन सूत्र को अपने हाथ में लिया। उसका पुत्र तुंग चिह देर तक जीवित नहीं रहा। १८७५ में उसकी मृत्यु हो गई। इस दशा में एक अन्य बालक को गोद लेकर साम्राज्ञी त्सू ह्सी ने शासन कार्य का संचालन जारी रखा। चीन के इस नये बालक सम्राट् का नाम कुआंग ह्सू था। १८८७ में वह वयस्क हुआ। इस प्रकार १८६० से १८८७ तक चीन की राजगद्दी

पर नाबालिग सम्राट् विराजमान रहे और उनके नाम पर साम्राज्ञी त्सू ह्सी शासन का संचालन करती रही। चीन के आधुनिक इतिहास में यह बात ध्यान देने योग्य है, क्योंकि इस काल में चीन का शासन सूत्र किसी योग्य व शक्तिशाली व्यक्ति के हाथ में नहीं था। साम्राज्ञी त्सू ह्सी निःसंदेह एक सुसंस्कृत व दक्ष महिला थीं। पर मञ्चू शासन के सूत्र को संभाल सकना उनकी शक्ति के बाहर था। उनके समय में अन्तःपुर में और राज-प्रासाद के विविध कर्मचारियों की शक्ति बढ़ने लगी और वे देश के शासन में मनमानी करने लगे। राजकीय पदों पर नियुक्ति करते हुए सिफारिशों और रिश्वतों का महत्त्व बढ़ने लगा और साम्राज्य के शासन में शिथिलता आने लगी। यदि इस समय चीन की सरकार का संचालन किसी जबर्दस्त व्यक्ति के हाथ में होता, तो सम्भवतः चीन की इतनी दुर्दशा न हो पाती।

इस समय चीन को जिन विपत्तियों का सामना करना पड़ रहा था, उनमें से कतिपय का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। पाश्चात्य व्यापारी समुद्र तट के प्रदेशों में अपने प्रभाव को बढ़ा रहे थे और विदेशी पादरी चीन में दूर दूर तक धर्म प्रचार के नाम पर स्वेच्छाचार में संलग्न थे। पर चीन की सरकार को केवल विदेशियों से ही अपने देश की रक्षा नहीं करनी थी। इस समय उसे अनेक आन्तरिक समस्याओं का भी मुकाबला करना पड़ा। चीन में अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए और इन विद्रोहों ने इतना गम्भीर रूप धारण कर लिया, कि कुछ समय के लिये चीनी साम्राज्य जड़ से हिल गया। इस प्रकार के कुछ विद्रोहों का यहाँ उल्लेख करना उपयोगी है।

**ताइ पिंग विद्रोह**—इस विद्रोह का नेता हुंग ह्सिउ-शुआन था। वह एक ग्राम में अध्यापक का कार्य करता था। चीन की परीक्षा पद्धति के अनुसार विद्या का अध्ययन कर उसने अनेक उच्च परीक्षाएँ उत्तीर्ण की थीं, और इस बात के लिये प्रयत्न किया था, कि किसी उच्च सरकारी पद को प्राप्त करे। पर इसमें उसे सफलता नहीं हुई और उसे अध्यापक का कार्य स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ा। इन दिनों चीन के देहातों में ईसाई पादरी धर्मप्रचार का कार्य बड़ी तत्परता के साथ कर रहे थे। हुंग ह्सिउ-शुआन कतिपय पादरियों के सम्पर्क में आया और उसने बाइबल के उपदेशों का अनुशीलन किया। पिछले दिनों हुंग सुदीर्घ समय तक बीमार रहा था और रोगशय्या पर पड़े हुए वह अनेक प्रकार के स्वप्न देखा करता था। उसने अनुभव किया, कि बीमारी के दिनों के स्वप्न ईसाई धर्म की शिक्षाओं से बहुत मिलते जुलते हैं। प्रोटेस्टेन्ट पादरियों के सम्पर्क में आकर हुंग ने निश्चय किया, कि उसे अपने विचारों का प्रचार करना चाहिये। क्वांगसी के

प्रदेश में बहुत से चीनी लोग हुंग के अनुयायी हो गये और १८५० तक उसके अनुयायियों की संख्या हजारों में पहुंच गई । हुंग-हि सउ-शुआन के अनुयायी बाइबल का आदर करते थे, अनेक क्रिश्चियन सिद्धान्तों को मानते थे और अनेक ईसाई विधि विधानों का अनुसरण करते थे। यद्यपि उन्होंने ईसाई धर्मकी दीक्षा नहीली थी, पर हुंग द्वारा एक नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ था, जिसके सिद्धान्त व विधि-विधान ईसाई धर्म से बहुत मिलते जुलते थे। चीनी सरकार ने हुंग के बढ़ते हुए प्रभाव को आपत्तिजनक समझा, और इस नये सम्प्रदाय के प्रचार को राजाज्ञा द्वारा निषिद्ध कर दिया। हुंग के अनेक शिष्य गिरफ्तार भी किये गये। इस दशा में हुंग ने निश्चय किया, कि मञ्चू शासन का अन्त कर चीन में एक नये राजवंश का प्रारम्भ किया जाय। उसने चीन की सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। हुंग ने अपने को सम्राट् घोषित कर दिया और अपने राजवंश का नाम ताइ-पिंग रखा। हुंग द्वारा जो नया धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित हुआ था, उसने अब राजनीतिक रूप धारण कर लिया। बाकायदा सेनाओं का संगठन किया गया और १८५४ में हुंग की सेना ने नानकिंग को विजय कर लिया। नानकिंग को राजधानी बनाकर हुंगकी सेनाओंने उत्तर की ओर प्रस्थान किया और कुछ ही समय में वे तीन्त्सिन तक पहुंच गईं। इस समय चीनी सरकार के सम्मुख यह विकट समस्या उपस्थित हुई, कि वह इस ताइ-पिंग विद्रोह का मुकाबला करे। ईसाई पादरियोंका विचार था, कि पाश्चात्य देशों को ताइ-पिंग की सहायता करनी चाहिये और उसे ही चीन का असली राजवंश स्वीकृत कर लेना चाहिये। ब्रिटेन के चीन स्थित प्रतिनिधि इस विचार से सहमत थे। पर अमेरिका की नीति इसके अनुकूल नहीं थी। अमेरिका की प्रेरणा पर पाश्चात्य देशों ने निश्चय किया, कि ताइ-पिंग के मुकाबले में मञ्चू शासन का पक्षपोषण करना चाहिये। फ्रेडरिक वार्ड नामक अमेरिकन के नेतृत्व में एक सेना का संगठन इस उद्देश्य से किया गया, कि ताइ-पिंग विद्रोह को शान्त करने के कार्य में चीनी सरकार की सहायता की जाय। विदेशी लोगों की सहायता से मञ्चू शासक ताइ-पिंग विद्रोह को शान्त करने में समर्थ हुए और १८६४ के अन्त तक ताइ-पिंग द्वारा विजय किये गये सब प्रदेश फिर से चीनी सरकार की अधीनता में आ गये। विदेशी लोगों ने जो इस समय ताइ-पिंग के विरुद्ध मञ्चू शासन की सहायता की थी, उसका प्रधान कारण यह था, कि मञ्चू शासन बहुत विकृत व निर्बल दशा में था। उसको कायम रखकर विदेशी लोगों को यह सुगम प्रतीत होता था, कि वे चीन में अपने प्रभाव व प्रभुता को अधिक सुगमता से स्थापित कर सकेंगे।

**अन्य विद्रोह**—ताइ-पिंग विद्रोह के अतिरिक्त इस समय चीन में दो अन्य विद्रोह

हुए। ये दोनों विद्रोह चीन के मुसलमानों द्वारा किये गये थे। उत्तर-पश्चिमी चीन और यूनान के प्रदेशों में बहुत से चीनी लोग इस्लाम को स्वीकृत कर चुके थे। इनका आचार विचार चीनी जनता से बहुत भिन्न था। इसी कारण चीनी राजकर्मचारी इनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते थे। मुसलमानों में इससे बहुत असंतोष था। ताइपिंग विद्रोह से उत्साहित होकर इन प्रदेशों के मुसलमानों ने भी विद्रोह कर दिया। पर उनको वश में लाने में चीनी सरकार को विशेष कठिनता नहीं हुई।

**विद्रोहों का परिणाम**--यद्यपि चीनी सरकार इस समय के विविध विद्रोहों को शान्त करने में सफल हुई, पर इनके अनेक दुष्परिणाम हुए। चीन की सेना पर पाश्चात्य लोगों का प्रभाव बहुत बढ़ गया और चीनी सरकार आर्थिक दृष्टि से बहुत हीन दशा को प्राप्त हो गई। इस विद्रोहों का सामना करने में सरकार को बहुत रुपया खर्च करना पड़ा था। इसे वसूल करने का यही उपाय था, कि जनता पर नये टैक्स लगाये जावें। नये टैक्सों के कारण जनता में बहुत असन्तोष हुआ। १८७६ में चीन को अनेक प्राकृतिक विपत्तियों का भी सामना करना पड़ा। विद्रोहों के कारण जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उससे खेती को बहुत नुकसान पहुंचा था। इस पर १८७६ में जब टिड्डी दल ने भी चीन के बड़े भाग पर हमला किया, तब जो थोड़ी बहुत फसल बोई जा सकी थी, वह भी नष्ट हो गई। १८७६--७८ में चीन की जनता को घोर दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा। इस दुर्भिक्ष में लाखों आदमी मौत के शिकार हुए। फसल के विनाश और करों की अधिकता से चीन के लोग बहुत ही परेशानी अनुभव करने लगे। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि मञ्चू शासन अत्यन्त निर्बल हो जाय और जनता में उसके प्रति असन्तोष की भावना बढ़ने लगे।

**साम्राज्य का ह्रास**--विदेशी राज्य न केवल चीन के शासन में हस्तक्षेप कर उसके शासकों से ऐसे विशेष अधिकारों को प्राप्त करने में लगे थे, जो चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और प्रभुत्वशक्तिसम्पन्नता के विरोधी थे, अपितु उनका यह भी प्रयत्न था, कि चीनी साम्राज्य के विविध प्रदेशों को अपतने अधिपत्य में ले आवें। किस प्रकार ब्रिटेन ने हांग कांग को और रूस ने आमूर नदी के प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। १८८५ में ब्रिटेन ने बरमा पर अपना अधिपत्य स्थापित कर लिया। बरमा चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत था और उसे कर प्रदान करता था। जब बरमा ब्रिटेन के अधीन हो गया, तो उसके ब्रिटिश शासकों ने चीन को कर देना बन्द कर दिया। बरमा के समान अनाम और तोन्किंग के राज्य भी चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत माने जाते थे। १८८४-८५ में फ्रांस ने इन्हें अपने अधीन कर लिया और इन प्रदेशों से चीन के प्रभुत्व का अन्त

हो गया। बरमा, अनाम और तोन्किंग किस प्रकार चीन के साम्राज्य से पृथक हो कर पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद के शिकार हुए, इस पर हम यथास्थान विशद रूप से प्रकाश डालेंगे।

## (७) चीन में नवयुग का प्रारम्भ

उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक चीन की राजशक्ति बहुत क्षीण हो गई थी। ईसाई मिशनरी और विदेशी व्यापारी वहां धीरे धीरे अपने प्रभाव का विस्तार कर रहे थे। ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस आदि से जो सन्धियां चीन ने की थीं, उनसे उसकी प्रभुत्वशक्ति व स्वतन्त्रता बहुत कुछ मर्यादित हो गई थी। वह विदेशी राज्यों की सहमति के बिना अपने आयात और निर्यात माल पर टैक्स की मात्रा में परिवर्तन नहीं कर सकता था, और एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति के कारण चीन में निवास करते हुए विदेशी लोग चीनी कानून व चीन के शासन से स्वतन्त्र थे। आन्तरिक विद्रोहों और प्राकृतिक विपत्तियों ने चीन की दशा को और भी अधिक खराब कर दिया था। इस अवस्था में यह स्वाभाविक था, कि विचारशील चीनी लोग अपने देश की दुर्दशा को अनुभव करें और उसके सुधार के लिये प्रयत्नशील हों। परिणाम यह हुआ, कि धीरे धीरे चीन में नवयुग के चिह्न प्रकट होने लगे और विविध देशभक्तों ने अपने देश की उन्नति के लिये प्रयत्न का प्रारम्भ किया। जो कारण चीन में नवयुग का सूत्रपात कर रहे थे, उनका यहां संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना आवश्यक है—

(१) ईसाई पादरियों ने चीन में जो अनेक शिक्षणालय स्थापित किये थे, उनमें प्रधानतया ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती थी। इन शिक्षणालयों में सबसे प्रधान पेकिंग का स्कूल था। १८६५ में पेकिंग के इस क्रिश्चियन स्कूल को कालिज के रूप में परिवर्तित कर दिया गया और इसका नाम तुँगवन कालिज रखा गया। तुँगवन कालिज में विज्ञान की शिक्षा के लिये भी एक विभाग खोला गया और उसके द्वारा चीनी विद्यार्थियों को यह अवसर मिला, कि वे पाश्चात्य देशों के ज्ञान विज्ञान की शिक्षा प्राप्त कर सकें। तुँगवन कालिज के बाद चीन के अन्य भी अनेक ईसाई शिक्षणालयों में पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ किया गया।

(२) प्रोटेस्टेन्ट मिशन द्वारा स्थापित एक स्कूल में युंग विंग नामक एक चीनी विद्यार्थी ने शिक्षा ग्रहण की थी। इस स्कूल का अमरीकन अध्यापक जब अपने देश अमेरिका को वापस गया, तो युंग विंग को भी अपने साथ अमेरिका ले गया। युँग विंग को येल यूनिवर्सिटी में उच्च शिक्षा के लिये प्रविष्ट कराया गया और वहां

उसने आधुनिक शिक्षा प्राप्त की। युँग विंग पहला चीनी विद्यार्थी था, जो अमेरिका की एक उच्च शिक्षा संस्था का स्नातक बना था। अमेरिका में अध्ययन करते हुए युँग विंग का यह विश्वास दृढ़ हो गया था, कि चीन की उन्नति तभी सम्भव है, जब कि वह पाश्चात्य देशों के ज्ञान विज्ञान को सीखे और संसार की नई परिस्थितियों के अनुसार अपने को परिवर्तित करे। अमेरिका में शिक्षा समाप्त करके युग विंग चीन वापस आ गया, और वहां उसने यह उद्योग किया कि चीनी विद्यार्थियों की एक मण्डली को उच्च शिक्षा के लिये अमेरिका भेजा जाय। युग विंग के उद्योग से १२० चीनी विद्यार्थी १८७० में अमेरिका भेजे गये। चीनी लोग युंग विंग की इस योजना को अच्छा नहीं समझते थे। उनका खयाल था, कि विदेश में शिक्षा प्राप्त करके चीन के नवयुवक अपने धर्म और संस्कृति से विमुख हो जावेंगे। जनता के विरोध का यह परिणाम हुआ, कि सब चीनी विद्यार्थी अमेरिका में अपनी शिक्षा को पूर्ण नहीं कर सके, उन्हें अपनी शिक्षा को अधूरा छोड़कर चीन वापस लौटना पड़ा। पर उन्होंने अमेरिका में रहते हुए अपनी आंखों से जो कुछ देखा था और जो शिक्षा प्राप्त की थी, अपने देश लौटकर उन्होंने उसका उपयोग किया और अपने देश-वासियों को इस बात के लिये प्रेरित किया, कि वे पाश्चात्य देशों से मशीनें खरीदकर व्यावसायिक उन्नति में तत्पर हों। १८७० के बाद अन्य चीनी विद्यार्थी भी अमेरिका गये और पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त किये हुए ये युवक अपने देश की उन्नति में बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुए।

(३) पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क का यह परिणाम हुआ, कि चीन की जनता और सरकार ने अपनी सेना के पुनः संगठन और व्यावसायिक उन्नति पर ध्यान देना शुरू किया। ताई-पिंग विद्रोह को शान्त करने के लिये अमेरिकन लोगों के नेतृत्व में एक चीनी सेना को संगठित किया गया था। यह सेना अन्य चीनी सेनाओं की अपेक्षा बहुत अधिक दक्ष थी। चीन के नेताओं ने अनुभव किया, कि सैन्य संगठन और युद्ध के संचालन में वे पाश्चात्य देशों के मुकाबले में बहुत पीछे हैं। उन्होंने प्रयत्न किया, कि पाश्चात्य ढंग पर चीन की सेना को संगठित किया जाय और उसे नये अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित किया जाय।

(४) व्यावसायिक क्षेत्र में चीन में किस प्रकार नवयुग का प्रारम्भ हुआ, इस सम्बन्ध में कतिपय बातों का उल्लेख करना उपयोगी है। १८७६ में चीन में पहली रेलवे लाइन का निर्माण किया गया। यह लाइन शंघाई से वूसुंग तक बनाई गई थी। पर चीन की जनता और पण्डित मण्डली रेलवे के इतने विरुद्ध थी, कि १८७७ में रेलवे लाइन को उखाड़ दिया गया और लोहे की पटरियों को फार्मूसा द्वीप में ले जाकर डाल दिया गया, ताकि चीन में उन्हें फिर न लाया जा

सके । पर यह सम्भव नहीं था, कि चीन समय की प्रगति से पृथक रह सके । १८८१ में चीन में फिर रेलवे का निर्माण शुरू हुआ और उसके बाद रेलवे लाइनों का निर्माण निरन्तर जारी रहा । इस समय चीन के अनेक उच्च राजपदाधिकारी इस प्रकार के थे, जो समय के अनुसार परिवर्तित होने के पक्ष में थे । चिह्ली प्रान्त का गवर्नर ली हुंगचांग एक इसी प्रकार का अधिकारी था । उसी की कोशिश से इस समय चीन में रेलवे लाइनों का निर्माण हो रहा था । १८८५ में चीन में पहले पहल टेलीग्राफ का प्रारम्भ किया गया । शंघाई से तीनृत्सिन तक तार लगाई गई और धीरे धीरे अन्यत्र भी तार का विस्तार किया गया । इसी समय के लगभग "चाइना मर्चेन्ट्स स्टीम नेविगेशन कम्पनी" का संगठन हुआ, जिसका उद्देश्य चीन की नदियों में और समुद्र तट पर जहाजों द्वारा यातायात का प्रारम्भ करना था । इस कम्पनी का संगठन कतिपय ऐसे चीनी नागरिकों द्वारा किया गया था, जिन्होंने विदेश में शिक्षा ग्रहण की थी । १८७८ में चीन में पहली कोयले की खान का प्रारम्भ किया गया और १८९० में हनयांग आयर्न वर्क्स की स्थापना हुई । आगे चलकर लोहे का यह कारखाना बहुत विकसित हुआ । चीन में व्यावसायिक उन्नति का यह प्रारम्भ मात्र था । सर्व साधारण जनता और पण्डित मण्डली इसके खिलाफ थी । इसी कारण ली हुंग चांग जैसे शिक्षित व्यक्ति इस समय अपनी इच्छा के अनुसार चीन की उन्नति कर सकने में असमर्थ थे । पर इसमें सन्देह नहीं कि इस समय चीन में नवयुग का सूत्रपात हो गया था ।

## (८) चीन के सम्बन्ध में विदेशियों की नीति

इस अध्याय में यह भलीभांति स्पष्ट किया जा चुका है, कि चीन धीरे धीरे पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का शिकार हो रहा था । राजनीतिक दृष्टि से चीन इतना निर्बल था, कि उसके लिये विदेशी शक्तियों का मुकाबला कर सकना सम्भव नहीं था । इस दशा में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है, कि ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदि ने चीन को भी उसी तरह से अपने अधीन कर लेने के [illegible] भारत, बरमा आदि में किया था । चीन [illegible] सुगमता से जीत सकते थे । चीन को [illegible] नहीं हुए, उसके कारण सम्भवतः [illegible]

(१) चीन का साम्राज्य अत्यन्त विशाल था । उसमें पैंतीस करोड़ से अधिक मनुष्यों का निवास था । चीनी लोगों में अपनी संस्कृति के लिये प्रेम था और वे अपने देश की रक्षा के लिये कुर्बानी करने को तैयार थे । भारत में जब अंग्रेजों

ने अपनी शक्ति का विस्तार किया, तो दिल्ली के मुगल बादशाहों की शक्ति क्षीण हो गई थी और यहां अनेक छोटे बड़े राजा अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लगे थे। ब्रिटिश लोग इन राजाओं के पारस्परिक झगड़ों से लाभ उठा सकते थे। इसके विपरीत उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में चीन एक शासन के अधीन था। उसके विविध प्रदेशों में विभिन्न राजा अपनी अपनी राजगद्दी के लिये संघर्ष करने में तत्पर नहीं थे। पाश्चात्य देशों को भय था, कि विशाल चीन की सामूहिक शक्ति को परास्त कर सकना उनके लिये सुगम नहीं होगा।

(२) विविध पाश्चात्य देशों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि चीन की विजय के लिये वे परस्पर एकमत हो सकें। यदि चीन को जीतकर उसे विभक्त करने का प्रयत्न किया जाता, तो ब्रिटेन, फ्रांस, रूस आदि के हित आपस में टकरा सकते थे। इस दशा में पाश्चात्य देशों के लिये उचित नीति यही थी, कि चीन पर अपने राजनीतिक प्रभुत्व को स्थापित करने का यत्न न करें। यदि कोई एक पाश्चात्य देश चीन को जीतने का प्रयत्न करता, तो अन्य देश उसके उत्कर्ष को सहन न कर सकते।

(३) व्यापार के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित करके पाश्चात्य देशों को प्रायः वही लाभ प्राप्त हो रहा था, जो वे राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना से प्राप्त कर सकते थे।

पर पाश्चात्य देशों की चीन के सम्बन्ध में जिस नीति का हमने ऊपर उल्लेख किया है, वह देर तक स्थिर नहीं रही। उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही उन्होंने यह भलीभांति समझ लिया, कि चीन की निर्बलता से लाभ उठाकर उसे पूर्णतया अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का शिकार बनाया जा सकता है। अपनी नीति में परिवर्तन कर उन्होंने किस प्रकार चीन को अपने अधीन करने का प्रयत्न किया, इस पर हम अगले एक अध्याय में विचार करेंगे। पर यहां यह निर्देश कर देना आवश्यक है, कि चीन पर अपने राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना का उद्योग सबसे पहले जापान ने किया था। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक जापान भी चीन व अन्य एशियाई देशों के समान उन्नति की दौड़ में बहुत पिछड़ा हुआ था। पर पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आकर जब जापान ने एक बार इस बात को समझ लिया, कि अन्य देश उसकी अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत हो गये हैं, तो उसने बड़ी शीघ्रता से पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान को अपनाना शुरू किया। इसी का यह परिणाम हुआ, कि वह भी पाश्चात्य देशों के समान उन्नत और शक्तिशाली हो गया। जापान की इस आश्चर्यजनक उन्नति पर हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

चौथा अध्याय

# जापान के उत्कर्ष का प्रारम्भ

## (१) पुरातन इतिहास

संसार के अन्य देशों के समान जापान का प्राचीन इतिहास भी प्रामाणिक रूप में उपलब्ध नहीं होता। जापानी लोग यह मानते हैं, कि प्रारम्भ में इजानगी नामक एक देवता और इजानमी नामक एक देवी के संयोग से जापान का प्रादुर्भाव हुआ। संसार में चेतन व अचेतन जितनी भी सत्ताएँ हैं, सबका प्रादुर्भाव देवताओं द्वारा हुआ है। जापानी दन्तकथाओं के अनुसार जब इजानगी देवता अपनी बाईं आंख धो रहा था, तो अमतेरसू-ओमीकमी (सूर्य देवता) की उत्पत्ति हुई। सूर्य देवता के पौत्र का नाम निनिगी-नो-मिकोतो था। उसे पृथ्वी का शासन करने के लिये नियुक्त किया गया। पृथ्वी का राजा बनकर वह पहले पहल क्यूशू द्वीप पर प्रकट हुआ। उस समय उसने रत्न, खड्ग और दर्पण इन तीन राजचिह्नों को धारण किया हुआ था। निनिगी-नो-मिकोतो का प्रपौत्र जिम्मू तेनो हुआ, जो कि जापान का प्रथम सम्राट् माना जाता है।

जापानी इतिहास के सम्बन्ध में इसी प्रकार की अन्य भी बहुत सी कथाएँ विद्यमान हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इनमें कहां तक सचाई है, यह कह सकना कठिन है। शिव, गणेश, इन्द्र आदि भारतीय देवताओं के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की बहुत सी कथाएँ पाई जाती हैं। भारतीय पुराविदों के समान अनेक जापानी विद्वान भी इन कथाओं की इस ढंग से व्याख्या करते हैं, जो युक्तिसंगत व सत्य प्रतीत होती हैं। जापान का सम्राट् दैवी है, यह विश्वास अब तक जापानी लोगों में विद्यमान है। निनिगी-नो-मिकोतो के समान जापान के सब सम्राट् रत्न, खड्ग और दर्पण को राजचिह्न के रूप में धारण करते रहे हैं, और अबतक भी उनको धारण करते हैं। शुरू में जापानी लोग लिखना नहीं जानते थे। लिखने की कला सम्भवतः उन्होंने चीन से सीखी। अब भी जापान की लिपि प्रायः वही है, जो चीन की है। ईसवी सन् के प्रारम्भकाल में चीनी लिपि का जापान में प्रवेश हुआ। इसी कारण उससे पहले के समय की कोई लिखित पुस्तकें व अन्य लेख जापान में उपलब्ध नहीं

होते और इसीलिये ईसवी सन् से पूर्व का जापानी इतिहास केवल दन्तकथाओं व परम्परागत गाथाओं पर आश्रित हैं।

ईसवी सन् के शुरू होने से पूर्व जापान में सभ्यता के दो प्रमुख केन्द्र थे, इजुमो और यमतो। क्यूशू द्वीप में सूर्य देवता का पौत्र निनिगी-नो-मिकोतो प्रकट हुआ था। उसके प्रपौत्र जिम्मू तेनो ने ही यमतो का विजय कर वहां सभ्यता का विकास किया था। इसमें सन्देह नहीं, कि यमतो के निवासी लोहे का उपयोग जानते थे, और प्रस्तर युग से आगे बढ़कर सभ्यता के क्षेत्र में उन्नति करने के लिये प्रयत्नशील थे। जिम्मू तेनो के समय से जापान का बड़ा भाग एक शासन की अधीनता में आ गया था। पर यमतो के राजा व सम्राट् की शक्ति के विकास ने अन्य राज्यों की सत्ता को नष्ट नहीं कर दिया था। इस युग में जापान में बहुत से छोटे छोटे राज्य थे। प्राचीन ग्रीस व भारत के समान प्राचीन जापान भी बहुत से छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था। प्रत्येक राज्य के निवासी यह मानते थे, कि वे किसी एक पूर्वज की सन्तान हैं, वे सब एक देवी देवताओं की पूजा करते थे और एक राजा की अधीनता में रहते थे। यमतो का राज्य इन सबमें प्रधान व शक्तिशाली था और उसके राजा को अन्य सब राजा अपना अधिपति स्वीकार करते थे। इसीलिये उसे सम्राट् की पदवी प्राप्त थी। यमतो के सम्राट् जिम्मू तेनो ने जिस राजवंश का प्रारम्भ किया, वही अब तक जापान में विद्यमान है। सम्भवतः इतिहास में अन्य किसी राजवंश ने इतने सुदीर्घ समय तक राजशक्ति का उपभोग नहीं किया है। धीरे धीरे यमतो के राजवंश की शक्ति बढ़ती गई, अन्य राज्यों के राजा उसकी अधीनता में आते गये और जिम्मू तेनो के वंशजों के सम्मुख उनकी स्थिति स्वतन्त्र राजाओं की अपेक्षा सामन्तों के सदृश होती गई। राजशक्ति के एक केन्द्र में केन्द्रित होने के साथ-साथ पुराने छोटे-छोटे राज्यों के राजा सम्राट् के सामन्त व जागीरदार की स्थिति प्राप्त करते गये और इस प्रकार जापान में एक कुलीन जागीरदार श्रेणि का विकास हुआ, जो कुल क्रमानुगत रूप से अपनी स्थिति व प्रतिष्ठा को प्राप्त करती थी। ईसवी सन् के प्रारम्भिक काल तक यह अवस्था आ गई थी, कि प्रायः सम्पूर्ण जापान जिम्मू तेनो के वंशज सम्राटों के अधीन था और पुराने छोटे छोटे राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता का ह्रास हो गया था। वे पूर्णतया यमतो के सम्राट् के वशवर्ती हो गये थे।

प्राचीन जापान की जनता को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, कुलीन जागीरदार श्रेणि, व्यवसाय व व्यापार में लगे हुए लोगों की श्रेणि और दास वर्ग। कुलीन जागीरदारों का विकास किस प्रकार हुआ, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। भूमि पर इन जागीरदारों का स्वामित्त्व था और

उसको जोतने बोने वाले किसानों की स्थिति दासों के समान थी। व्यवसायी और व्यापारी आर्थिक श्रेणियों (गिल्ड) में संगठित थे। कौन मनुष्य क्या काम करे, यह उसके जन्म के अनुसार निश्चित होता था। जुलाहे की सन्तान जुलाहा होती थी और वैद्य का लड़का वैद्य होता था। जापान में यह सम्भव नहीं था, कि कोई व्यक्ति किसी ऐसे कार्य को कर सके, जो उसके पूर्वज न करते हों। जिस प्रकार भारत में अनेक पेशे जातियों का रूप धारण किये हुए हैं, वैसी ही दशा जापान में भी थी। शिल्पियों और व्यापारियों की स्थिति कुलीन जागीरदारों के मुकाबले में हीन समझी जाती थी। बहुसंख्यक जनता दास थी, और वह जागीरदारों की जमीन पर खेती का कार्य किया करती थी।

जापान के प्राचीन धर्म में देवी देवताओं का बड़ा महत्त्व था। जापानी लोग समझते थे, कि प्रकृति की विविध शक्तियां व विविध पदार्थ जीवित जागृत सत्तायें हैं। वृक्ष, पर्वत, नदी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायु आदि सबमें वे अधिष्ठातृ देवताओं की कल्पना करते थे। इन देवताओं को सन्तुष्ट व तृप्त करने के लिये वे अनेक प्रकार के विधि विधानों का अनुष्ठान किया करते थे। वे यह भी मानते थे, कि कतिपय देवता अधिक शक्तिशाली हैं, और वे अन्य देवताओं पर शासन करते हैं। इन शक्तिशाली देवताओं की पूजा पर जापानी लोग अधिक ध्यान देते थे।

**चीन के साथ सम्पर्क**—जापान के पड़ोस में चीन का शक्तिशाली साम्राज्य विद्यमान था। चिन और हान (२०६ ई० पू० से २२० ई० प० तक) राजवंशों के समय में चीन ने किस प्रकार अपनी शक्ति का विस्तार किया, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। कोरिया के कुछ प्रदेश हान साम्राज्य के अन्तर्गत थे, और चीनी लोग अच्छी बड़ी संख्या में वहां निवास करते थे। चीनी सभ्यता कोरिया में भलीभांति प्रवेश पा गई थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि कोरिया द्वारा जापानी लोग भी चीन के सम्पर्क में आवें। हान राजवंश के पतन के बाद चीन की राजशक्ति निर्बल हो गई थी और चीन में अनेक राज्य स्थापित हो गये थे। इस युग (२२० ई० प० से ६१८ ई० प० तक) में जापान और चीन का अधिक सम्बन्ध नहीं रहा। पर इस काल में भी जापान के राजदूत चीन के विविध राज्यों के राज दरबारों में आते जाते थे और बहुत से चीनी लोग भी जापान की यात्रा करते थे। राजशक्ति की दृष्टि से चीन इस समय अनेक राज्यों में विभक्त था, और उनमें प्रायः युद्ध होते रहते थे। यह स्वाभाविक था, कि

चीन के राजा आपस के युद्धों में यमतो के जापानी राज्य की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करते। हान राजवंश के बाद बौद्ध धर्म का चीन में बहुत प्रचार हुआ। बौद्ध प्रचारक चीन से कोरिया भी गये और वहां भी उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया। यह स्वाभाविक था, कि बौद्ध भिक्षु कोरिया से जापान भी जावें। ऐतिहासिक लोग यह मानते हैं, कि जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश छटीं सदी में हुआ और धीरे धीरे सम्पूर्ण जापान ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया।

बौद्ध धर्म के साथ साथ चीनी भाषा, लिपि और साहित्य का भी जापान में प्रवेश हुआ। जापान के कुलीन व समृद्ध लोग बड़े शौक से चीनी पुस्तकों का अध्ययन करने लगे। चीन के सम्पर्क ने जापान में नये जीवन का संचार किया। जापानी लोगों में यह विशेषता है, कि वे अपने से उन्नत सभ्यता और नये ज्ञान विज्ञान को बड़ी तेजी के साथ अपना लेते हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आकर उन्होंने अपनी हीन दशा का अनुभव किया, तो उन्होंने बड़ी शीघ्रता के साथ नये ज्ञान विज्ञान को ग्रहण किया और आधी सदी से भी कम समय में वे अमेरिका और यूरोप के समकक्ष हो गये। सातवीं और आठवीं सदियों में पहले भी ठीक यही प्रक्रिया जापान के इतिहास में हो चुकी है। जब जापानी लोग अपने से अधिक उन्नत चीनी लोगों के सम्पर्क में आये, तो अपनी उन्नति के लिये भी उनमें उत्साह का संचार हुआ और बड़ी तेजी के साथ वे उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुए। चीनी लिपि को अपनाकर जापानी लोगों ने अपनी भाषा में साहित्य का निर्माण शुरू किया। काव्य, इतिहास, धर्म, चिकित्सा आदि पर बहुत से ग्रन्थ लिखे गये और मूर्तिनिर्माण, चित्रकला, संगीत आदि के क्षेत्र में भी जापानी लोगों ने बहुत उन्नति की।

**सामन्त पद्धति**—इस इतिहास में हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि जापान के प्राचीन राजनीतिक इतिहास का संक्षेप के साथ भी उल्लेख कर सकें। पर जापानी इतिहास की कुछ बातों का निर्देश करना आवश्यक है। इनमें प्रथम सामन्तपद्धति का विकास है। सातवीं सदी तक जापान बहुत से छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था और ये सब राज्य एक जापानी सम्राट् की अधीनता को स्वीकृत करते थे। प्रमुख राजकर्मचारियों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती थी। पर धीरे-धीरे राजकर्मचारी के पद वंश-क्रमानुगत होने लगे और कतिपय कुलीन परिवार राजशक्ति का उपभोग करने के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये। जापान में राजकर्मचारियों की

अपना निर्वाह करने के लिये जागीर देने की प्रथा थी। जागीर की आमदनी से वे अपना गुजारा करते थे। जब राजकीय पद पिता के बाद पुत्र को मिलने लगे, तब जागीरें भी एक कुल में स्थिर हो गईं। न केवल विविध राजकीय पदों पर अपितु जागीरों पर भी विशिष्ट कुलों का वंशक्रमानुगत रूप से अधिकार स्थापित हो गया। इस दशा का परिणाम यह हुआ, कि जापान में सामन्त पद्धति का विकास हुआ और जिन राजकर्मचारियों की नियुक्ति पहले सम्राट् की केन्द्रीय सरकार द्वारा होती थी, वे अब बड़े बड़े जागीरदार बन गये और अपने अपने क्षेत्र में वे स्वतन्त्र सामन्तों के समान शासन करने लगे। पुराने राज्यों की शासक श्रेणियों के लोग अब शासक के हाथ साथ जागीरदार भी हो गये और उनका यह प्रयत्न होने लगा कि वे शक्ति का प्रयोग कर जहां अपनी जागीरों में वृद्धि करें वहां साथ ही राज्य में भी उनका प्रभाव वृद्धि को प्राप्त हो।

**सैनिक श्रेणि**—सामन्त पद्धति के विकास का यह परिणाम हुआ, कि जापान में एक ऐसी श्रेणि का निर्माण शुरू हुआ, जिसका कार्य ही सैनिक सेवा था। प्रत्येक सामन्त या जागीरदार इस बात के लिये प्रयत्नशील था, कि वह अपनी जागीर पर अपने आधिपत्य को कायम रखे, और यदि सम्भव हो तो अपनी जागीर की वृद्धि भी करे। इसलिये उन्होंने अपनी सेना को बढ़ाना शुरू किया और बहुत से मनुष्य शक्ति और आर्थिक आमदनी के लोभ से आकृष्ट होकर उनकी सेनाओं में भरती होने प्रारम्भ हुए। प्रत्येक सामन्त की यह कोशिश रहती थी, कि उसकी सेना अधिक से अधिक प्रबल हो। बारहवीं सदी तक जापान में यह दशा आ गई थी, कि विविध सामन्त लोग अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र राजाओं के समान शासन करने लगे थे। सम्राट् व केन्द्रीय सरकार का उन पर आधिपत्य नाममात्र का रह गया था और ये सामन्त एक दूसरे के साथ युद्ध में भी निरन्तर व्यापृत रहते थे। सम्राट् इन सामन्त राजाओं के सम्मुख अपने को असहाय अनुभव करता था।

**शोगूनों का शासन**—जापानी सम्राट् की अधीनता को स्वीकृत करने वाले सामन्त राजा, जिन्हें जापान में दैम्यो कहते थे, जहां अपनी जागीरों के विस्तार में तत्पर थे, वहां साथ ही अपने अतिरिक्त अन्य सामन्तों को अपना वशवर्ती करके केन्द्रीय सरकार पर भी अपना प्रभाव स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। सम्राट् के प्रति इनके हृदय में भक्ति का भाव था, उसे ये दैवी मानते थे। अतः इन्होंने यह यत्न नहीं किया, कि सम्राट्

को राज्यच्युत कर स्वयं उस पद को प्राप्त कर लें। पर जिस प्रकार भारत में पेशवा लोगों ने छत्रपति राजा को नाममात्र के लिये राजा के पद पर अधिष्ठित रखकर स्वयं शासनसूत्र का संचालन किया, या जिस प्रकार नैपाल में राना लोगों ने महाराजाधिराज की सत्ता को स्वीकृत करते हुए नैपाल के वास्तविक शासन को अपने हाथ में कर लिया, वैसे ही जापान में अनेक दैम्यो लोगों ने सम्राट् की सत्ता को कायम रखते हुए शासन शक्ति अपने अधीन कर ली। इस प्रकार के सामन्त राजाओं में योरीतोमो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह बड़ा प्रतापी और महत्त्वाकांक्षी मनुष्य था। बारहवीं सदी के अन्त में उसने अन्य सब सामन्तों को परास्त कर केन्द्रीय शासन में अपने प्रभाव को स्थापित किया और सम्राट् को अपने हाथों में कठपुतली बना लिया। वह जापान का प्रथम शोगुन (सर्व-विजयी सेनानी) बना। योरीतोमो ने यह यत्न नहीं किया, कि अन्य सामन्तों को सर्वथा नष्ट कर दे। उसने सामन्तपद्धति को जारी रखा, पर सेना की सहायता से अपनी शक्ति को इतना अधिक बढ़ा लिया, कि कोई अन्य सामन्त उसके सम्मुख सिर नहीं उठा सकता था। वह सच्चे अर्थों में 'प्रणत-सामन्त' था। उसने जापान की केन्द्रीय सरकार का नये सिरे से संगठन किया और इस समय से जापान में सैनिक लोगों का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया। पर शोगून का पद योरीतोमो के वंश में सदा के लिये स्थिर नहीं रह सका। योरीतोमो के उत्तराधिकारी उसके समान प्रतापी नहीं थे। परिणाम यह हुआ, कि अन्य सामन्त राजा प्रबल हो गये। पर योरीतोमो शोगून द्वारा जापान के शासन की जिस पद्धति का प्रारम्भ किया गया था, वह बाद में भी कायम रही। शोगून का पद योरीतोमो के कुल से निकलकर अन्य कुलों में चला गया, पर जापान की केन्द्रीय सरकार पर किसी न किसी शोगून का आधिपत्य कायम रहा, और सम्राट् की शक्ति इन शोगूनों के सम्मुख सर्वदा अगण्य रही।

**तोकुगावा शोगून**—शोगून का पद प्राप्त करने के लिये जापान के विविध सामन्त कुलों में किस प्रकार संघर्ष होता रहा, इसका वृत्तान्त यहां लिख सकना असम्भव है। यहां इतना निर्देश कर देना पर्याप्त होगा, कि १६०३ में शोगून का पद तोकुगावा कुल में चला गया और १८६७ तक (१६०३ से १८६७ तक) यह पद इसी कुल में स्थिर रहा। जिस प्रतापी तोकुगावा नेता ने अन्य सब सामन्तकुलों को परास्त कर शोगून के गौरवमय पद को सबसे पूर्व प्राप्त किया था, उसका नाम इयासू था। ढाई सदी से अधिक समय तक कोई अन्य सामन्तकुल इतना शक्तिशाली नहीं हुआ, कि तोकुगावा कुल का मुकाबला

कर सके । इसका परिणाम यह हुआ, कि २६५ वर्षों तक जापान सामन्तों के पारस्परिक युद्धों से बचा रहा । देश में शान्ति कायम रही और जापान को यह अवसर मिला, कि वह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सके । तोकुगावा कुल के शोगूनों के शासनकाल में ही यूरोपियन लोगों के दुर्व्यवहार से परेशान होकर तोकुगावा शोगूनों ने उनका जापान में आना निषिद्ध कर दिया और जब १८५३ में कोमोडोर पेरी द्वारा पाश्चात्य लोगों ने जापान के साथ अपने सम्पर्क को पुनः स्थापित किया, तब भी वहां का शासन-सूत्र तोकुगावा कुल के शोगूनों के ही हाथों में था ।

## (२) पाश्चात्य देशों से प्रथम सम्पर्क

मंगोल साम्राज्य के समय में यूरोप के लोग चीन में आते जाते थे । मार्को पोलो आदि अनेक यात्रियों ने इस काल में चीन की यात्रा की थी और मंगोल सम्राटों के राजदरबार में निवास भी किया था । पर तेरहवीं चौदहवीं सदियों में कोई यूरोपियन यात्री जापान भी आया हो, इसका पता नहीं है । मार्को पोलो ने चीन में निवास करते हुए जापान के विषय में भी सुना था और इस देश के सम्बन्ध में अनेक बातें भी उसने अपने यात्राविवरण में उल्लिखित की थीं । यही कारण है, कि जब अफ्रीका का चक्कर काटकर पोर्तुगीज व अन्य यूरोपियन लोगों ने एशिया के पूर्वी देशों में आना जाना शुरू किया, तो वे जापान भी गये । सबसे पहले १५४२ में यूरोपियन जातियों का जापान के साथ सम्पर्क हुआ । भारत, चीन, आदि के समान जापान में भी समुद्रमार्ग से जाने वाले पहले यूरोपियन यात्री पोर्तुगीज लोग थे । सोलहवीं सदी के अन्त तक स्पेनिश लोग भी जापान गये और सतरहवीं सदी के शुरू में (तोकुगावा शोगूनों के शासनकाल में) डच और इङ्गलिश लोग भी जापान आने जाने लगे । ये यूरोपियन यात्री हिन्द महासागर, मलक्का अन्तरीप और फिलिप्पीन के समीप से होते हुए जापान की तरफ जाते थे, अतः स्वाभाविक रूप से शुरू में ये क्यूशू गये और नागासाकी में इन्होंने अपनी व्यापारिक कोठी कायम की । क्यूशू के सामन्तों ने इन विदेशी व्यापारियों का स्वागत किया और व्यापार कार्य में इनकी सहायता की ।

यूरोपियन व्यापारियों के साथ साथ ईसाई मिशनरी भी जापान पहुंचने लगे । जेसुइट सम्प्रदाय का नेता फ्रांसिस क्सेवियर पूर्वी एशिया में ईसाई धर्म का प्रचार करता हुआ जापान भी गया । १५४९ में उसने जापान में अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ किया और उत्तर में क्योतो तक की यात्रा की । फ्रांसिस क्सेवियर देर तक जापान में नहीं रहा, पर उसके साथी वहां पर कार्य करते रहे । जेसुइट

लोगों के बाद फ्रांसिस्कन, डोमिनिकन आदि अन्य ईसाई सम्प्रदायों के प्रचारक भी जापान गये और इन मिशनरियों ने हजारों जापानी नागरिकों को क्रिश्चियन धर्म का अनुयायी बनाया। जापानी लोग नये विचारों का स्वागत करने के लिये सदा उद्यत रहते थे, अतः उन्होंने ईसाई धर्म में भी बहुत दिलचस्पी प्रदर्शित की। सामन्त लोगों का खयाल था, कि यूरोपियन लोगों के व्यापार से उनका अपना भी बहुत लाभ है। अतः वे जहां विदेशी व्यापारियों का स्वागत करते थे, वहां साथ ही विदेशी धर्म प्रचारकों का भी आदर करते थे।

**यूरोपियन लोगों को जापान से सम्पर्क रखने का निषेध**—यूरोपियन लोग जापान में व्यापार और धर्म के विस्तार में तत्पर थे, पर वे देर तक अपने कार्य को जारी नहीं रख सके। कुछ समय बाद ही जापान की सरकार ने एक आज्ञा प्रकाशित की, जिससे यूरोपियन लोगों के जापान में आवागमन को रोक दिया गया। जापान ने इस नीति का अनुसरण किन कारणों से किया, इस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है—

(१) यूरोपियन व्यापारियों में परस्पर एकता नहीं थी, वे एक दूसरे की निन्दा करने में तत्पर थे। डच लोग जापानियों से कहते थे, कि अंग्रेजों से व्यापार करना अनुचित है, और इससे उनके देश का नुकसान होगा। स्पेनिश और इङ्गलिश लोग इसी तरह की बात डच लोगों के विषय में कहते थे। यूरोपियन लोगों से एक दूसरे की निन्दा सुनकर जापानी लोग सोचते थे, कि सभी पाश्चात्य लोग बुरे हैं और उनके साथ सम्पर्क रखना उचित नहीं है।

(२) भारत में ब्रिटिश और फ्रेंच लोग, फिलिप्पीन में स्पेनिश लोग, चीन के समुद्रतट पर पोर्तुगीज लोग और दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध द्वीपों में डच लोग इन प्रदेशों के निवासियों के साथ जिस प्रकार का दुर्व्यवहार कर रहे थे, उससे जापानी लोग परिचित थे। इस दुर्व्यवहार का वृत्तान्त जापानियों में इस विचार को विकसित कर रहा था, कि यूरोपियन लोगों के साथ सम्पर्क रखना सर्वथा अनुचित है।

(३) जापान के समुद्र तट के समीप भी डच और इंगलिश लोगों में अनेक बार लड़ाइयां हुईं। इन लड़ाइयों को प्रत्यक्ष रूप से देखकर जापानी लोग यह भलीभांति अनुभव करने लगे थे, कि यूरोपियन व्यापारी जिन देशों से आ रहे हैं, वे लड़ाकू हैं, और उनका उद्देश्य विशुद्ध रूप से व्यापार करना ही नहीं है।

(४) जापान में धर्म प्रचार कार्य में व्यापृत ईसाई मिशनरी अपने को जापानी सम्राट् की प्रजा नहीं समझते थे। उनमें यह प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती जाती थी, कि अपने को जापान की सरकार के अधीन न समझें और अपनी रक्षा के लिये अपने देश की सरकारों पर निर्भर रहें। जापान के जो नागरिक ईसाई धर्म को

स्वीकार कर लेते थे, विदेशी मिशनरी उनके प्रति पक्षपात का भाव रखते थे और यह प्रयत्न करते थे, कि सरकारी कर्मचारियों व न्यायाधीशों पर अनुचित रूप से जोर देकर इन जापानी ईसाइयों को लाभ पहुंचावें। जापान में यह विचार निरन्तर जोर पकड़ता जाता था, कि विदेशी मिशनरी केवल धर्म प्रचारक ही नहीं हैं, अपितु अपने देश के गुप्तचर भी हैं और वे जापान में विदेशी सत्ता को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील हैं।

इसीलिये तोकुगावा कुल के शोगूनों से पूर्व ही १५८७ में जापानी सरकार की ओर से यह आज्ञा प्रकाशित की गई थी, कि जापान देवताओं का देश है और उसमें एक ऐसे धर्म का प्रचार उचित नहीं है, जो देवपूजा का विरोधी है। ईसाई मिश-नरियों को आदेश दिया गया, कि वे जापान को छोड़कर चले जावें। कुछ मिशनरी गिरफ्तार भी किये गये, पर इसी बीच में १६०३ तोकुगावा कुल के नेता इयासू ने अन्य सब सामन्तों को परास्त कर शोगून पद को प्राप्त कर लिया। इयासू पाश्चात्य लोगों के प्रति मैत्री भावना रखता था, वह विदेशी व्यापार का प्रबल पक्षपाती था और उससे अपने देश का लाभ मानता था। यही कारण है, कि उसने १५८७ की सरकारी आज्ञा को शिथिल कर दिया और ईसाई मिशनरी पहले के सदृश अपने कार्य में तत्पर हो गये। इयासू की सहिष्णुता की नीति से लाभ उठाकर विदेशी पादरी इतने उद्दण्ड हो गये, कि अन्त में इयासू ने भी अनुभव किया कि इन धर्म प्रचारकों का उद्देश्य केवल धर्म प्रचार ही नहीं है, वे धर्म की आड़ में अपने देशों के प्रभुत्व को जापान में स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील हैं। इसीलिये १६१२ में इयासू ने अनेक ऐसी आज्ञायें प्रकाशित कीं, जिनका उद्देश्य विदेशी पादरियों के कार्य को नियन्त्रित व मर्यादित करना था। पर ईसाई पादरी इन आज्ञाओं की उपेक्षा करते थे। परिणाम यह हुआ, कि अनेक पादरी गिरफ्तार किये गये और कतिपय को प्राणदण्ड भी दिया गया। पर इससे भी ईसाइयों ने अपने कार्य को बन्द नहीं किया। १६३७-३८ में उन्होंने राजनीति में खुले तौर पर हस्तक्षेप शुरू किया और यह प्रयत्न किया कि शोगून के शासन के विरुद्ध जनता को विद्रोह करने के लिये प्रेरित करें। परिणाम यह हुआ, कि जापान की सरकार विदेशी मिशनरियों के बहुत खिलाफ हो गई और इनके विरुद्ध सख्त कार्रवाई की गई। कानून द्वारा ईसाई धर्म के प्रचार को रोक दिया गया और बहुत से पादरी जापान को छोड़कर बाहर चले जाने के लिये विवश हुए। बहुत से पादरियों को राज्य की ओर से कठोर दण्ड भी दिये गये।

जापान की सरकार ने केवल ईसाई धर्म के प्रचार को ही बन्द नहीं किया, अपितु यह भी व्यवस्था की, कि यूरोपियन व्यापारी जापान में व्यापार न कर सकें।

स्पेन, पोर्तुगाल और इङ्गलैण्ड के व्यापारियों को आज्ञा दी गई, कि वे जापान में न आवें। इसी प्रकार जापानी लोगों के लिये भी फिलिप्पीन आदि ऐसे प्रदेशों में व्यापार के लिये जाना निषिद्ध कर दिया गया, जहां यूरोपियन लोग अपने पैर जमा चुके थे। यूरोपियन लोगों में केवल डच लोगों को यह अनुमति दी गई, कि वे जापान के साथ व्यापार को जारी रख सकें। पर उनके लिये भी यह व्यवस्था की गई, कि वे केवल नागासाकी बन्दरगाह में ही आ जा सकें। इस प्रकार सतरहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में जापान यूरोपियन लोगों के सम्पर्क से पृथक् हो गया और इन पाश्चात्य लोगों को यह अवसर नहीं रहा, कि वे चीन के समान जापान में भी धर्म प्रचार व व्यापार की आड़ में अपने साम्राज्यवाद का प्रसार कर सकें।

## (३) उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में जापान की दशा

**राज्य का शासन**—तोकुगावा शोगूनों ने जापान में जिस ढंग से शासनसूत्र का संचालन किया, उस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। शासन का अधिपति सम्राट् था, पर वास्तविक शक्ति उसके हाथ में नहीं थी। सम्पूर्ण शासन उसके नाम पर होता था, पर वह शासन-नीति का निर्माण नहीं करता था। सम्राट् व उसके परिवार को खर्च के लिये राजकीय आमदनी का इतना भाग दे दिया जाता था, कि वह बड़ी शान के साथ अपने राजप्रासाद में जीवन बिता सके। जापानी लोग समझते थे, कि सम्राट् दैवी है, देवताओं का वंशज है, वे उसे साक्षात् देवता मानते थे। उनके हृदय में अपने सम्राट् के प्रति असीम आदर का भाव था। किसी व्यक्ति के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह सम्राट् से मिल सके या शोगून के विरुद्ध उसके कान भर सके। सम्राट् का राजप्रासाद क्योतो में विद्यमान था और वहां वह जनता से किसी भी प्रकार का सम्पर्क न रखता हुआ आराम के साथ जीवन व्यतीत करता था।

शोगून का निवासस्थान येदो में था। जापान के शासन का सञ्चालन इसी नगर से होता था। वास्तविक राजशक्ति शोगून के हाथों में थी। अन्य सब सामन्तों को तोकुगावा कुल के शोगूनों ने अपना वशवर्ती बना रखा था। सामन्तों के लिये यह आवश्यक था, कि वे साल में कुछ समय येदो में शोगून के दरबार में रहें। जब वे येदो से अनुपस्थित हों, तब उनकी पत्नी व सन्तान को वहां रहना पड़ता था। शोगून समझते थे, कि यदि कोई सामन्त विद्रोह करने का यत्न करेगा, तो उसके परिवार के लोगों को गिरफ्तार करके उसे अपने वश में लाया जा सकेगा। सामन्त लोग क्या सोचते हैं, क्या योजनायें बनाते हैं, यह जानने के लिये इन पर

गुप्तचर रखे जाते थे । इन गुप्तचरों के कारण सामन्त लोग शोगन के खिलाफ षड़यन्त्र करने में सर्वथा असमर्थ थे । प्रत्येक सामन्त के लिये आवश्यक था, कि वह शोगून के प्रति लिखित रूप में राजभक्ति की शपथ ले । जिन सामन्तों पर शोगून को विश्वास होता था, उन्हें शासन के महत्त्वपूर्ण कार्य सुपुर्द किये जाते थे । शोगून की तरफ से यह भी व्यवस्था की गई थी, कि कोई सामन्त सरकारी आज्ञा के बिना अपने दुर्ग की मरम्मत भी न करा सके । इन सब उपायों का यह परिणाम था, कि सामन्त लोग शोगूनों के पूर्णतया वशवर्ती हो गये थे और उनमें विद्रोह और षड़यन्त्र की प्रवृत्ति सर्वथा नष्ट हो गई थी ।

किस प्रकार जापान में एक सैनिक श्रेणि का विकास हुआ, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है । इस सैनिक वर्ग के लोग समूराई कहाते थे । तोकुगावा शोगूनों के समय में जापान में आन्तरिक युद्धों का प्रायः अन्त हो गया था और देश में पूर्णतया शान्ति और व्यवस्था स्थापित थी । किसी बाह्य देश के आक्रमण का भी जापान को भय नहीं था । इसलिये इस काल में समूराई को अपनी सैनिक क्षमता प्रदर्शित करने का कोई महत्त्वपूर्ण अवसर उपस्थित नहीं हुआ । यही कारण है, कि ये समूराई लोग शारीरिक शक्ति और सैनिक क्षमता के साथ साथ विद्याध्ययन और शिक्षा प्राप्ति के लिये भी तत्पर हुए । सतरहवीं सदी से पूर्व तक जापान में बौद्ध बिहार ही विद्या के केन्द्र थे और बौद्ध भिक्षु ही शिक्षा की ओर ध्यान देते थे । पर तोकुगावा शोगूनों के शासनकाल में समूराई वर्ग ने भी शिक्षा की ओर ध्यान दिया । प्रत्येक जापानी सैनिक के लिये जिस प्रकार खड्ग संचालन में कुशल होना आवश्यक था, वैसे ही पाण्डित्य में प्रवीणता प्राप्त करना भी आवश्यक हो गया । सैन्यशक्ति और शिक्षा में कुशलता प्राप्त कर लेने के कारण समूराई लोगों का प्रभाव जापान के जनसमाज में बहुत अधिक बढ़ गया ।

**धर्म**—जापान के लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी थे । देश में सर्वत्र बौद्ध बिहार और मन्दिर विद्यमान थे और इनमें हजारों बौद्ध भिक्षु निवास करते थे । पर महात्मा बुद्ध ने भारत में जिस अष्टांगिक आर्यमार्ग का उपदेश किया था, वह अपने अविकल रूप में जापान में विद्यमान नहीं था । यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि जापान में जो विधिविधान अनुष्ठान व विश्वास परम्परागत रूप से चले आते थे, वे कायम रहें और उनके कारण जापानी बौद्ध धर्म एक ऐसा रूप धारण कर ले, जो लंका, भारत, बरमा व चीन के बौद्ध धर्म से बहुत कुछ भिन्न हो । जापान के प्राचीन धर्म को 'शिन्तो धर्म' कहते हैं । बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लेने पर भी जापान में शिन्तो धर्म के अनेक विश्वास अक्षुण्ण रूप से कायम रहे । चीन के साथ

सम्पर्क स्थापित होने पर जापानी लोगों ने कन्फ्यूसियस आदि प्राचीन चीनी विचारकों के ग्रन्थों का अनुशीलन भी प्रारम्भ कर दिया था। तोकुगावा शोगून, कन्फ्यूसियस के विचारों को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे और उनकी संरक्षा के कारण प्राचीन चीनी ग्रन्थों का जापान में बहुत अध्ययन होता था। इस कारण चीन के समान जापान में भी इस आचार्य के विचारों का बहुत प्रभाव था।

**नगरों का विकास**—तोकुगावा शोगूनों के शासनकाल में जापान में अनेक नगरों ने बहुत उन्नति की। इस काल में जापान के शासन का केन्द्र येदो था। सब सामन्तों के लिये यह आवश्यक था, कि वे स्वयं या उनके परिवार वहां पर निवास करें। इसका परिणाम यह हुआ, कि येदो में बहुत ही सुन्दर इमारतें बनीं और वह जापान का सबसे बड़ा व समृद्ध नगर बन गया। समूराई लोग भी वहां बहुत बड़ी संख्या में निवास करते थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि देश के सबसे धनी व समृद्ध वर्ग की विविध प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये बहुत से शिल्पी, व्यापारी व नौकरी पेशा लोग वहां आकर बसने लगें। उन्नीसवीं सदी के शुरू में येदो की जनसंख्या दस लाख से भी ऊपर पहुंच गई थी। इस युग में लण्डन, पेरिस आदि की जनसंख्या भी इससे अधिक नहीं थी और येदो को संसार के सबसे बड़े नगरों में गिना जा सकता था। येदो के समान क्योतो, नागासाकी आदि अन्य अनेक नगरों ने भी इस युग में बहुत उन्नति की।

**व्यापार की उन्नति**—तोकुगावा शोगूनों के शासनकाल में जापान में पूर्णतया शान्ति और व्यवस्था कायम थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि आर्थिक दृष्टि से देश उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो। इस युग में जापान में कला और शिल्प ने बहुत उन्नति की। सामन्त और समूराई लोग आर्थिक दृष्टि से सर्वथा निश्चिन्त और समृद्ध थे। वे शिल्प और कला की वस्तुओं पर दिल खोलकर खर्च कर सकते थे। अतः बहुत से लोग शिल्प और कला द्वारा अपनी आजीविका कमाने लगे और एक ऐसे वर्ग का विकास हुआ, जिसका काम शिल्पियों द्वारा तैयार किये गये माल को जापान के विविध प्रदेशों में विक्रय करना था। यह व्यापारी वर्ग येदो, क्योतो आदि समृद्ध नगरों में व्यापार द्वारा धन कमाने में प्रयत्नशील था, और इसकी आमदनी निरन्तर बढ़ती जाती थी। यही कारण है, कि सामन्त कुलों के अनेक लोग भी इस समय व्यापार के क्षेत्र में आये और उन्होंने अपनी जागीरों में राजशक्ति के उपयोग की अपेक्षा व्यापार द्वारा धन कमाना अधिक हितकर समझा। उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों में मित्सुई कुल के लोग आर्थिक दृष्टि से बहुत समृद्ध हो गये। इन्होंने व्यापार द्वारा ही अपार धन का उपार्जन किया था।

ये लोग वस्तुतः सामन्त वर्ग के थे, पर व्यापार में लाभ देखकर इस क्षेत्र की ओर आकृष्ट हुए थे।

**विदेशों के साथ सम्पर्क**—जापान की सरकार ने ईसाई धर्म के प्रचार और यूरोपियन व्यापार को जिस प्रकार निषिद्ध कर दिया था, उससे यह समझा जाता है, कि इस युग में जापान का विदेशों के साथ कोई भी सम्पर्क नहीं रहा था। पर यह बात पूर्णरूप से सत्य नहीं है। डच लोगों को जापान के एक बन्दरगाह में व्यापार करने की अनुमति मिली हुई थी। वहां जापानी लोग उनके सम्पर्क में आते थे। इस युग में यूरोप के विविध देश ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति कर रहे थे, डच लोगों द्वारा जापानी उससे भी परिचित थे। अठारहवीं सदी में चिकित्साशास्त्र, सैन्यशक्ति, भूगोल आदि अनेक विषयों की यूरोपियन पुस्तकों का जापानी भाषा में अनुवाद किया गया। इन पुस्तकों द्वारा जापानी लोग पाश्चात्य देशों के ज्ञान विज्ञान से परिचय प्राप्त करते थे। यही कारण है, कि १८५२ में जब कोमोडोर पेरी ने पाश्चात्य देशों के जापान के साथ सम्पर्क को अधिक घनिष्ठ रूप से स्थापित किया, तो जापान पाश्चात्य विज्ञान को ग्रहण करने के लिये बिलकुल तैयार था। सतरहवीं सदी में जापान की सरकार ने यूरोपियन व्यापारियों और मिशनरियों पर जो प्रतिबन्ध लगाया था, उसके कारण ये पाश्चात्य लोग उस देश में उस ढंग से अपना प्रभुत्व नहीं स्थापित कर सके, जैसे कि उन्होंने भारत, चीन, आदि में स्थापित किया था।

## (४) पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध की पुनः स्थापना

उन्नीसवीं सदी में पाश्चात्य देशों ने जापान के साथ अपने व्यापारिक सम्बन्ध को स्थापित करने के लिये एक बार फिर प्रयत्न किया। वैज्ञानिक उन्नति के कारण इस समय पाश्चात्य देशों के जहाज भाप की शक्ति से चलते थे और पृथिवी के सब देशों में आते जाते थे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार असाधारण रूप से उन्नति कर रहा था। एशिया और अफ्रीका के पिछड़े हुए प्रदेश बड़ी तेजी से पाश्चात्य देशों के प्रभाव व प्रभुत्त्व में आते जाते थे। इस दशा में यह सम्भव नहीं था, कि जापान समय की लहर से अछूता बचा रह सके। भौगोलिक दृष्टि से जापान रूस के बहुत समीप था। सखालिन द्वीप पर रूस और जापान का संयुक्त अधिकार था। कुरील द्वीपसमूह पर भी रूस अपना प्रभुत्व समझता था। रूसी सरकार की इच्छा थी, कि जापान से अपने सम्बन्ध को अधिक घनिष्ठ बनाये। इस उद्देश्य से रूस का एक प्रतिनिधि मण्डल १७९२ में जापान आया। जहाज के टूट जाने से कतिपय जापानी मल्लाह पथभ्रष्ट हो गये थे। रूस के एक जहाज ने इन्हें सहायता दी थी, और

इन्हें जापान पहुंचाने के नाम पर ये रूसी लोग वहां आये थे। पर जापान आने का उनका असली प्रयोजन जापान से सम्पर्क स्थापित करना था। १८०४ में रूस ने एक अन्य मिशन जापान भेजा। पर उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हुई। जापान रूस के साथ व्यापारिक व अन्य सम्बन्ध स्थापित करने को तैयार नहीं हुआ। रूस के समान ब्रिटेन ने भी इस युग में जपान के साथ सम्पर्क में आने का प्रयत्न किया। १८०८ में एक अंग्रेजी जंगी जहाज नागासाकी आया। ह्वेल मछली पकड़ने के बहाने से अन्य यूरोपियन देशों के जहाज भी जापान के समुद्रतट के आस-पास चक्कर काटने लगे। पाश्चात्य देशों के जहाजों ने कई बार इस नाम पर जापान के बन्दरगाहों तक पहुंचने की कोशिश की, कि उनके पास पीने का पानी समाप्त हो गया है, या कोयले की कमी हो गई है, या खाद्य सामग्री कम पड़ गई है। पर जापानी लोग अपनी नीति पर दृढ़ थे। उन्होंने इन विदेशियों को अपने देश में प्रविष्ट नहीं होने दिया। जापान के कुछ मछियारे मछली पकड़ते हुए अमेरिका के समुद्रतट तक पहुंच गये थे। जहाज टूट जाने के कारण उन्होंने अमेरिका का आश्रय लिया था। अमेरिका ने सोचा, जापान के साथ सम्पर्क स्थापित करने का यह अत्यन्त उत्तम मौका है। इन जापानी मछियारों को पहले इङ्गलैण्ड लाया गया। फिर ये चीन के मकाओ बन्दरगाह पर पहुंचाये गये और फिर इन्हें मोरिसन नामक अमेरिकन जहाज पर जापान ले जाया गया। १८३७ में जब मोरिसन जहाज जापान पहुंचा, तो जापानियों ने उस पर गोलाबारी की और उसे वापस लौट आना पड़ा।

१८४० के बाद अमेरिकन लोगों की जापान के सम्बन्ध में दिलचस्पी बहुत बढ़ गई थी। इस समय तक संयुक्तराज्य अमेरिका प्रशान्त महासागर के तट तक अपना विस्तार कर चुका था। कैलीफोर्निया भलीभांति आबाद हो गया था और अमेरिकन लोग जहाजों द्वारा प्रशान्त महासागर में भलीभांति आने जाने लगे थे। १८४० में दो अमेरिकन जहाज इस उद्देश्य से येदो की खाड़ी में भेजे गये, कि जापानी सरकार से मिलकर उसके साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करें। पर इस अमेरिकन मिशन को सफलता नहीं हुई। जापान की सरकार ने अमेरिका से किसी भी प्रकार का सम्पर्क स्थापित करने से इनकार कर दिया। १८४२ से १८६० तक विविध पाश्चात्य देशों ने चीन में किस प्रकार अपने व्यापार का विस्तार किया था, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इस काल में चीन के बहुत से बन्दरगाह, पाश्चात्य देशों के व्यापार के लिये खुल गये थे और चीन पर विदेशी प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था। इस दशा में यह सम्भव नहीं था, कि जापान पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क से इस प्रकार बचा रह सके। जापानी लोग भी एशिया में पाश्चात्य देशों के

बढ़ते हुए प्रभाव से परिचित थे । डच लोगों द्वारा उन्हें फिलिप्पीन, चीन आदि के सब समाचार मिलते रहते थे । पर प्रश्न यह था, कि पाश्चात्य देश किस प्रकार जापान को अपने साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिये विवश करें ।

**कमोडोर पेरी का आगमन**—जापान के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करने में सबसे अधिक तत्परता अमेरिका ने प्रदर्शित की । अमेरिका के राष्ट्रपति ने कमोडोर पेरी के नेतृत्त्व में एक मिशन इस उद्देश्य से जापान भेजा, कि वह वहां जाकर अमेरिकन सरकार का सन्देश जापान की सरकार तक पहुंचावे । पेरी के इस मिशन के उद्देश्य निम्नलिखित थे—(१) यदि कोई अमेरिकन जहाज जापान के समुद्रतट पर टूट जाय, तो उसके मल्लाहों व यात्रियों को जापान में आश्रय दिया जाय । (२) अमेरिकन जहाजों को यह अनुमति हो, कि वे जापान के बन्दरगाहों से कोयला, जल या खाद्य सामग्री आदि ले सकें । (३) जापान के बन्दरगाह अमेरिकन व्यापार के लिये खोल दिये जावें । २४ नवम्बर, १८५२ को पेरी ने नार्फोक के बन्दरगाह से प्रस्थान किया । उसके साथ में चार जहाज थे । ३ जुलाई, १८५३ को पेरी के जहाज योकोहामा की खाड़ी में पहुंच गये । जापानी सरकार की ओर से उन्हें आदेश दिया गया, कि वे समुद्रतट के समीप न आवें । पर पेरी ने इस आदेश की कोई परवाह नहीं की । वह जापान के समुद्र तट पर पहुंच गया और अमेरिकन राष्ट्रपति के पत्र को जापानी कर्मचारियों के सुपुर्द कर यह कहकर लौट गया, कि मैं एक साल बाद फिर आऊँगा । इस बीच में जापानी सरकार अमेरिका की मांग पर भलीभांति विचार कर ले और अपने उत्तर को तैयार कर ले । पेरी द्वारा लाया गया अमेरिकन राष्ट्रपति का पत्र शोगून के पास पहुंचा दिया गया । शोगून और उसके साथियों ने उस पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया । जापानी सरकार भलीभांति अनुभव करती थी, कि इस समय की परिस्थिति ऐसी है, कि पाश्चात्य देशों की उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं है । केवल अमेरिका ही नहीं, रूस भी इस समय जापान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये जोर दे रहा था । उसकी ओर से भी एक मिशन इस समय नागासाकी पहुंच गया था । फ्रांस के जहाज भी जापान के समुद्रतट के आसपास चक्कर लगा रहे थे और ब्रिटेन भी इस चिन्ता में था, कि शीघ्र से शीघ्र जापान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध की स्थापना की जाय । इस दशा में कमोडोर पेरी ने पूरे एक साल तक प्रतीक्षा करना उचित न समझा । फरवरी, १८५४ में वह अपने जहाजों को लेकर जापान पहुंच गया । इन जहाजों में अमेरिकन सैनिक बड़ी संख्या में विद्यमान थे और पेरी को यह आदेश था, कि यदि जापानी सरकार अमेरिका की मांगों पर ध्यान न दे, व पेरी को जापान-प्रवेश से रोके, तो वह सैन्य शक्ति का प्रयोग कर सके । पर कमोडोर पेरी को अमेरिकन सैन्यशक्ति का प्रयोग करने की आवश्यकता

नहीं हुई। जापानी सरकार भलीभांति अनुभव करती थी, कि युद्ध में पाश्चात्य देशों का मुकाबला कर सकना सम्भव नहीं है। भाप की शक्ति से चलनेवाले विशालकाय अमेरिकन जहाजों ने जापान के सैनिक नेताओं को यह सुचारु रूप से बोध करा दिया था, कि वे उन्नति की दौड़ में पाश्चात्य संसार के मुकाबले में बहुत पीछे रह गये हैं।

**अमेरिका के साथ प्रथम सन्धि**—पेरी का प्रयत्न सफल हुआ और १८५४ में जापान और अमेरिका की सन्धि हो गई। इस सन्धि की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) विदेशी जहाजों को यह अधिकार रहेगा, कि वे नागासाकी और दो अन्य जापानी बन्दरगाहों में कोयला भरने, रसद प्राप्त करने, ताजा पानी लेने व अपनी मशीन आदि की मरम्मत करने के उद्देश्य से आ जा सकें। (२) अमेरिका का एक प्रतिनिधि जापान में रह सके। (३) यदि कोई अमेरिकन जहाज जापान के समुद्र-तट के समीप टूट जाय या डूब जाय, तो उसके मल्लाहों व यात्रियों को यह अनुमति हो, कि वे जापान में आश्रय पा सकें। कमोडोर पेरी के प्रयत्न से अब जापान विदेशी राज्यों के साथ सम्पर्क से पृथक् नहीं रहा। वह पाश्चात्य देशों के लिये अब 'खुलना' प्रारम्भ हो गया।

अमेरिका के बाद अन्य पाश्चात्य देशों ने भी जापान के साथ इसी प्रकार की सन्धियां कीं। १८५४ में इङ्गलैण्ड को, १८५५ में रूस को और १८५५-५७ में हालैण्ड को इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त हुए।

**अमेरिका के साथ द्वितीय सन्धि**—१८५४ की सन्धि के अनुसार श्री टाउनशैण्ड हैरिस को जापान में अमेरिका का प्रथम प्रतिनिधि व राजदूत नियत किया गया। श्री हैरिस अत्यन्त कुशल व चाणाक्ष राजनीतिज्ञ था। उसने जापान के राजनीतिक नेताओं से मैत्री स्थापित की और उन्हें यह समझाया कि उन्नीसवीं सदी के इस उत्तरार्द्ध में जापान के लिये पाश्चात्य देशों के सम्पर्क से पृथक् रह सकना असम्भव है। विविध यूरोपियन राज्य इस समय (१८४२-६०) चीन में जिस प्रकार अपने प्रभाव का प्रसार कर रहे थे, हैरिस ने उसकी ओर जापानी सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। उसने जापानी नेताओं को यह भी कहा, कि रूस और इङ्गलैण्ड चीन के समान जापान के विरुद्ध भी सैन्यशक्ति के उपयोग में संकोच नहीं करेंगे और इस स्थिति में जापान का हित इसी बात में है, कि वह पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क को बढ़ावे और उन्हें व्यापार आदि की वे सब सुविधाएँ प्रदान करें, जो उन्हें चीन व पूर्वी एशिया के अन्य देशों में प्राप्त हो चुकी हैं। हैरिस के प्रयत्न से १८५८ में जापान और अमेरिका की नई सन्धि हुई, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) चार नये जापानी बन्दरगाह अमेरिका के लिये खोल दिये गये। तीन

बन्दरगाह १८५४ की सन्धि द्वारा खोले जा चुके थे। (२) इन सातों जापानी बन्दरगाहों में अमेरिका को व्यापार करने की अनुमति दी गई। (३) अमेरिका ने इस बात का आश्वासन दिया, कि यदि जापान को पाश्चात्य देशों के कारण किसी मुसीबत का सामना करना पड़ा, तो वह उसकी सहायता करेगा। (४) जापान अपने निर्यात व आयात माल पर अमेरिका से केवल पांच प्रतिशत कर ले सके। अमेरिका की सहमति के बिना इस कर की दर में किसी प्रकार का परिवर्तन न किया जाय। (५) व्यापार आदि के निमित्त जो अमेरिकन लोग जापान में रहें, उन पर अमेरिकन कानून लागू हों और उनके अभियोगों का फैसला अमेरिकन अदालतों द्वारा किया जाय। अमेरिकन नागरिक जापानी कानून व जापानी अदालतों के अधीन न समझे जावें।

श्री हैरिस के प्रयत्न से १८५८ में जापान और अमेरिका के बीच जो सन्धि हुई, उसमें दो बातें जापान की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये विघातक थीं। प्रभुत्व-शक्तिसम्पन्न जापानी सरकार को अब यह अधिकार नहीं रहा था, कि अपने आयात और निर्यात माल पर अपनी इच्छानुसार कर लगा सके। इसी प्रकार 'एक्सट्रा टैरिटोरिएलिटी' की जिस पद्धति का प्रारम्भ चीन में हुआ था, वह जापान में भी लागू हो गई थी।

**१८५८ की सन्धि का विरोध**—कमोडोर पेरी और श्री हैरिस द्वारा जो सन्धियां जापान के साथ की गई थीं, उनपर जापान की ओर से शोगून की सरकार ने हस्ताक्षर किये थे। पर इस समय तोकुगावा शोगूनों की शक्ति क्षीण होनी शुरू हो चुकी थी। २५० साल के लगभग उन्होंने अप्रतिहत व अबाध रूप से जापान का शासन किया था। यह स्वाभाविक था, कि इतने सुदीर्घ समय तक शासन कर चुकने पर उनके कुल में निर्बलता आने लगे। इस दशा में जापान के अन्य अनेक बड़े सामन्तों ने तोकुगावा कुल का विरोध प्रारम्भ कर दिया था। अमेरिका के साथ शोगून द्वारा जो सन्धि की गई थी, उससे इन सामन्तों को एक सुवर्णीय अवसर हाथ लग गया। जापान में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो विदेशी राज्यों के बढ़ते हुए प्रभाव को चिन्ता की दृष्टि से देखते थे। विशेषतया, १८५८ की सन्धि द्वारा अमेरिकन लोगों को एक्सट्रा-टैरिटोरियलिटी के जो अधिकार मिले थे, बहुत से लोग उनके सख्त खिलाफ थे। अब तोकुगावा कुल के विरोधी सामन्तों ने जापानी सम्राट् को इस बात के लिये प्रेरित करना आरम्भ किया, कि वह १८५८ की सन्धि को स्वीकृत करने से इनकार कर दे। हैरिस के सम्मुख अब एक विकट समस्या उपस्थित हुई। येदो की शोगून सरकार से वह सन्धि कर चुका था, पर सम्राट् इस सन्धि को स्वीकृत नहीं करता था। पर इसी समय ब्रिटिश और फ्रेन्च सेनाओं

ने चीन में तीन्स्तिन पर कब्जा कर लिया था, और चीन की सरकार को इस बात के लिये विवश किया था, कि वह उनको व्यापार, धर्मप्रचार आदि की सुविधाएँ प्रदान करे । चीन में पाश्चात्य देशों की बढ़ती हुई शक्ति का उदाहरण जापान के सम्मुख था । श्री हैरिस ने इसका उपयोग किया और जापान के सम्राट् को भी १८५८ की सन्धि को स्वीकृत कर लेने के लिये प्रेरित किया ।

हालैण्ड, ब्रिटेन, रूस और फ्रांस ने भी अमेरिका का अनुकरण कर जापान की सरकार से नई सन्धियां कीं, और इन सन्धियों द्वारा प्रायः वे सब अधिकार प्राप्त किये, जो श्री हैरिस के प्रयत्न से १८५८ में अमेरिका को प्राप्त हुए थे । पर यहां यह ध्यान में रखना चाहिये, कि अभी पाश्चात्य देश जापान में वे सब अधिकार प्राप्त नहीं कर सके थे, जो उन्होंने चीन में प्राप्त कर लिये थे । उदाहरणार्थ, जापान में पाश्चात्य देशों को यह अधिकार नहीं था, कि उनके नागरिक सात बन्दरगाहों के अतिरिक्त अन्यत्र आ जा सकें । उन्हें अभी यह अधिकार भी नहीं मिला था, कि वे क्रिश्चिएनिटी का जापान में प्रचार कर सकें और वहां जमीन खरीदकर या किराये पर लेकर गिरजाघरों व अन्य इमारतों का निर्माण कर सकें ।

**पाश्चात्य देशों से सन्धियों के परिणाम**—१८५८ और उसके बाद जापानी सरकार जिस प्रकार विविध पाश्चात्य देशों को व्यापार सम्बन्धी सुविधाएँ देने, तट-कर को निश्चित करने में अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग करने और एक्सट्रा-टैरिटोरिएलिटी को स्वीकृत करने के लिये विवश हुई, उसके अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए—

(१) पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क में आकर जापानी लोगों ने अनुभव किया, कि यूरोप और अमेरिका के लोग उनकी अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत हैं। ज्ञान विज्ञान की उन्नति के कारण इन देशों में जो व्यावसायिक क्रान्ति हुई है, उसने आर्थिक दृष्टि से इन देशों को बहुत अधिक आगे बढ़ा दिया है । लोकतन्त्रवाद के विकास के कारण पाश्चात्य देशों की राजनीतिक दशा भी बहुत उन्नत हो गई है । सैन्य संचालन, अस्त्र शस्त्र, आर्थिक उत्पादन, व्यापार आदि सभी क्षेत्रों में वे जापान की अपेक्षा बहुत उन्नत हैं । जापानी लोगों की यह विशेषता है, कि वे नई प्रवृत्तियों व नये ज्ञान को अपनाने में संकीर्णता प्रदर्शित नहीं करते । यही कारण है, कि उन्होंने प्राचीन समय में चीन के सम्पर्क में आकर उसे अपना गुरु स्वीकार किया था, और उसकी सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, लिपि आदि को अपना लिया था । अब पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क में आकर उन्होंने उनके ज्ञान विज्ञान को अपनाना प्रारम्भ किया और इसीलिये आधी सदी से भी कम समय में वे पाश्चात्य लोगों के समकक्ष हो गये । किसी जाति के साथ सम्पर्क आने से दो ही परिणाम हो सकते

हैं, या तो प्राणी मृत्यु का ग्रास बन जाय या उसमें नई शक्ति का संचार हो। पाश्चात्य देशों का सम्पर्क जापान के लिये बिजली के साथ सम्पर्क के समान था, जिससे उसमें नई शक्ति और नवजीवन का संचार हुआ।

(२) पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क ने तोकुगावा कुल के शोगूनों के आधिपत्य का अन्त करने में बहुत सहायता दी। शोगूनों के शासन का अन्त होकर किस प्रकार जापान में फिर से सम्राट् द्वारा शासन का प्रारम्भ हुआ, इस पर हम अगले प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। यहां इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है, कि तोकुगावा कुल के शोगूनों के विरुद्ध जो भावना जापान में उत्पन्न हुई, उसमें विदेशों के साथ सम्पर्क एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

## (५) सम्राट् की शक्ति का पुनरुद्धार

१८६८ में तोकुगावा शोगूनों की शक्ति का अन्त हुआ और जापानी सम्राट् ने राजशक्ति के प्रयोग को फिर से अपने हाथों में लिया। जापान के जिस सम्राट् के शासनकाल में यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, उसका नाम मुत्सुहितो था और वह १८६७ में जापान के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। सम्राट् बनने पर उसने मेइजी की उपाधि धारण की थी, और वह इसी नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। सम्राट् मेइजी द्वारा राजशक्ति के संचालन को अपने हाथों में लेना जापान के आधुनिक इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है, और उस पर अधिक विशद रूप में प्रकाश डालने की आवश्यकता है।

१८५८ में तोकुगावा कुल के शोगून शासन ने अमेरिका के साथ जो सन्धि की थी, उससे जापान के बहुत से प्रभावशाली व्यक्ति अत्यन्त असन्तुष्ट थे। उनका विचार था, कि जिस प्रकार अब तक जापान अपने को पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क से पृथक् रखता रहा है, उसमें परिवर्तन लाना देश के लिये हानिकारक है। इन्होंने शोगून सरकार का विरोध करना शुरू किया। तोकुगावा कुल की प्रभुता के खिलाफ अन्य सामन्त कुलों में जो विरोध भावना थी, उसने इस समय उग्र रूप धारण किया। तोकुगावा कुल के इन विरोधियों में सत्सुमा और चोशू कुल प्रधान थे समूराई लोग भी विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभाव के विरोधी थे और उनके खिलाफ शस्त्र उठाने को उत्सुक थे। १८५८ की सन्धि के खिलाफ आन्दोलन अनेक रूपों में प्रकट हुआ। लोगों का कहना था, कि विदेशियों को जापान से निकाल बाहर करना चाहिये और सम्राट् के प्रभुत्व का पुनरुद्धार होना चाहिये। क्योंकि शोगून सरकार ने अमेरिका के साथ सन्धि की थी, अतः अन्य लोगों का कहना था, कि शोगूनों के हाथ से राजशक्ति को छीनकर सम्राट् को फिर से सब शक्ति अपने हाथों में ले लेनी चाहिये। शोगून शासन के विरुद्ध आन्दोलन के अतिरिक्त जापान में इस समय यह प्रवृत्ति

भी जोर पकड़ रही थी, कि विदेशियों पर आक्रमण किये जावें। १८५९ और १८६५ के बीच में ब्रिटिश लोगों पर दो बार हमले हुए। सत्सुमा कुल का सामन्त एक दिन जुलूस के साथ येदो से बाहर जा रहा था। जापान में यह रिवाज था, कि जब इतनी ऊंची स्थिति का कोई व्यक्ति राजमार्ग से जा रहा हो, तो अन्य सब लोग मार्ग से हट जावें। ब्रिटिश लोगों ने इस रिवाज की परवाह नहीं की। रिचर्डसन नामक एक अंग्रेज इस समय इसी रास्ते से अपने कुछ साथियों के साथ घोड़े पर जा रहा था। सत्सुमा के सामन्त राजा के सम्मुख उसने मार्ग नहीं छोड़ा, इस पर जापानी लोगों ने उस पर हमला किया और उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। जब इस घटना का समाचार ब्रिटिश सरकार को मिला, तो उसने रिचर्डसन की हत्या का प्रतिशोध करने के लिये सत्सुमा के प्रदेश की राजधानी कागोशिमा पर गोलाबारी की। इस घटना (१८६३) से जापानी लोगों में पाश्चात्य देशों के प्रति विद्वेष की भावना और भी अधिक प्रबल हो गई। विदेशियों के विरुद्ध भावना से प्रभावित होकर १८६३ में सम्राट् की ओर से आज्ञा प्रकाशित की गई, कि पाश्चात्य देशों का कोई जहाज जापान में न आ सके। शोगून का विचार था, कि इस राजाज्ञा को क्रिया में परिणत कर सकना क्रियात्मक नहीं है। इसलिये चोशू के सामन्त राजा ने सम्राट् के आदेश को क्रिया में परिणत करने का कार्य अपने हाथों में लिया। चोशू के सामन्त का प्रदेश शिमोनोसेकी के जलडमरूमध्य के समीप स्थित था। इस स्थान से पाश्चात्य देशों के जहाज बड़ी संख्या में आते जाते थे। चोशू के सामन्त ने आज्ञा दी, कि जो कोई विदेशी जहाज शिमोनोसेकी के जलडमरूमध्य से गुजरे, उस पर गोलाबारी की जाय। सबसे पहले एक अमेरिकन जहाज पर हमला हुआ। इस पर अमेरिका ने अपने एक जंगी जहाज को शिमोनोसेकी पर गोलाबारी करने के लिये भेज दिया। ब्रिटेन, फ्रांस, और हालैण्ड ने अमेरिका का साथ दिया और १८६४ में इन चारों राज्यों की सम्मिलित शक्ति ने जापान पर आक्रमण किया। जापान की जलसेना पाश्चात्य देशों का मुकाबला करने में असमर्थ रही। इस स्थिति में चोशू और सत्सुमा के सामन्त राजाओं ने भी अनुभव किया, कि पाश्चात्य देशों का मुकाबला कर सकना असम्भव है, और उनके साथ सन्धि करके ही रहना अधिक उत्तम है। पर पाश्चात्य देशों के प्रति जिस व्यवहार का सूत्रपात तोकुगावा के शोगूनों द्वारा हुआ था, उसके प्रति जापानी लोगों में इतना अधिक विरोध था, कि शोगून सरकार का प्रभाव कम होने लगा और सम्राट् के दरबार में चोशू और सत्सुमा के सामन्तों का प्रभाव बढ़ने लग गया। इन सामन्तों ने यह तो अनुभव कर लिया था, कि पाश्चात्य देशों का मुकावला युद्धक्षेत्र में नहीं किया जा सकता, पर इनके हृदय में उनके प्रति विरोध भावना में कमी नहीं आई थी।

१८६७ में जापान के राजसिंहासन पर सम्राट् मेइजी के नाम से मुत्सुहितो आरूढ़ हुआ । सम्राट् पद को ग्रहण करते समय इसकी आयु केवल चौदह साल की थी । पर उसकी शिक्षा ऐसे वातावरण में हुई थी, कि वह किशोरावस्था में ही जापान की राजनीतिक समस्याओं को भलीभांति समझता था । १८६७ के अन्त से पूर्व ही सत्सुमा, चोशू, तोसा और हीजन के सामन्तों ने शोगून की सेवा में एक आवेदन पत्र भेजा, जिसमें यह अनुरोध किया गया, कि नये सम्राट् को राजशक्ति का स्वयं उपयोग करने का अवसर दिया जाना चाहिये और शोगून सरकार का अन्त होना चाहिये । इस समय तोकुगावा कुल के पुराने शोगून की मृत्यु हो चुकी थी और १८६६ में एक नया व्यक्ति इस गौरवपूर्ण पद पर नियुक्त हुआ था । नया शोगून जापानी जनता की भावनाओं को भलीभांति अनुभव करता था । उसने स्वयं अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और इस प्रकार तोकुगावा शोगूनों का अन्त हुआ । शोगून सरकार का अन्त और सम्राट् द्वारा शासनसूत्र को संभाल लेना जापानी इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है । इस घटना से जापान में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ । विदेशी राज्यों के प्रति विरोध व विद्वेष की भावना जापान में भलीभांति विद्यमान थी, पर साथ ही वहां के लोग यह भी अनुभव करते थे, कि इन विदेशियों से अपने देश की रक्षा करने का एकमात्र उपाय यह है, कि जापान में भी उसी प्रकार ज्ञान विज्ञान, व्यवसाय व सैन्यशक्ति की उन्नति की जाय, जैसे कि पाश्चात्य देशों में हुई है ।

सम्राट् द्वारा राजशक्ति को अपने हाथ में ले लेने से जापान में जो महान् परिवर्तन हुआ, उसके विरोधियों की भी कमी नहीं थी । यद्यपि शोगून ने अपने पद से स्वयं त्यागपत्र दे दिया था, पर तोकुगावा कुल के अन्य अनेक व्यक्ति अपने कुल की शक्ति के ह्रास को सहन नहीं कर सके । उन्होंने क्योतो पर आक्रमण किया और इस बात का प्रयत्न किया, कि सम्राट् को अपने विरोधियों के प्रभाव से मुक्त करें । पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई । एक साल के लगभग तक तोकुगावा कुल के लोग अपनी शक्ति की पुनः स्थापना का उद्योग करते रहे, पर अन्त में उन्होंने नई परिस्थिति को स्वीकार कर लिया । तोकुगावा कुल का अन्तिम शोगून केइकी था । १८६६ में ही उसने शोगून के पद को प्राप्त किया था । वह बहुत सुशिक्षित व्यक्ति था । इतिहास का उसने गम्भीरता के साथ अनुशीलन किया था और वह भलीभांति अनुभव करता था, कि जापान की केन्द्रीय सरकार तभी सफल हो सकती है, जब कि उसका संचालन एक केन्द्र से ही किया जाए । इसीलिये उसने स्वयमेव अपने पद का त्याग कर दिया था ।

शोगून सरकार का अन्त होने पर जापान की केन्द्रीय सरकार में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, उन पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे ।

पांचवां अध्याय

# जापान का कायाकल्प

## (१) नया शासन

**सामन्त पद्धति का अन्त**—सम्राट् मेइजी ने किस प्रकार शोगून सरकार का अन्त कर जापान के शासन सूत्र को अपने हाथों में ले लिया, इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। अब सम्राट् के सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था, कि देश में एक व्यवस्थित व शक्तिशाली सरकार की स्थापना की जावे और सम्पूर्ण जापान अपने आन्तरिक भेदों को भूलकर एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन के अधीन हो जावे। यह बात तभी सम्भव हो सकती थी, जब कि सामन्त पद्धति का पूर्ण रूप से अन्त हो जाय और सम्राट् अपनी सब प्रजा पर समान रूप से शासन करे। इसमें सन्देह नहीं, कि तोकुगावा शोगूनों के शासनकाल में जापान के विविध सामन्त राजा शोगून के वशवर्ती थे, पर जनता पर उनका अपरिमित अधिकार था और वे अपने-अपने प्रदेशों में पर्याप्त रूप से स्वतन्त्र राजाओं के समान सत्ता रखते थे। अब सम्राट् मेइजी ने यह प्रयत्न किया, कि धीरे-धीरे जापान से सामन्त पद्धति का अन्त कर दिया जाय। इसके लिये उसने निम्नलिखित उपायों का आश्रय लिया—

(१) १८६८ में सम्राट् मेइजी ने यह व्यवस्था की, कि प्रत्येक सामन्त की जागीर में एक राजकर्मचारी की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार की ओर से भी की जाय। जागीरों पर से सामन्तों के शासन का अन्त नहीं किया गया, पर केन्द्रीय सरकार की ओर से एक उच्च राजकर्मचारी की नियुक्ति के कारण सामन्त राजाओं और जनता को यह अनुभव होने लगा, कि जागीरों में निवास करनेवाली प्रजा पर सम्राट् का भी प्रत्यक्ष शासन है।

(२) १८६९ में किदो, सागो आदि विविध नेताओं ने अनेक सामन्तों को इस बात के लिये प्रेरित किया, कि वे अपनी अपनी जागीरों पर जो उनका अधिकार है, उसे स्वेच्छापूर्वक सम्राट् को अर्पण कर दें। सत्सुमा, चोशु, हीजन, तोसा आदि के अनेक सामन्तों ने इस समय अपनी जागीरों को स्वयमेव सम्राट् को लौटा दिया। सम्राट् ने बुद्धिमत्तापूर्वक इन सामन्तों को ही अपनी अपनी जागीरों में सूबेदार

के पद पर नियत कर दिया। पुराने युग के ये सामन्त अब अपनी जागीरों के राजा न रहकर उनके सूबेदार बन गये।

(३) कुछ मास पश्चात् सम्राट् ने एक आज्ञा प्रकाशित की, जिसमें अन्य सामन्त राजाओं को भी यह आदेश दिया गया, कि वे सब भी सत्सुमा आदि के सामन्तों का अनुसरण कर अपनी अपनी जागीरों को सम्राट् के सुपुर्द कर दें। इस समय तक जापान में राष्ट्रीय भावना और देशप्रेम का विचार इतना प्रबल हो चुका था, और पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क में आने के कारण जापानी लोग अपनी राष्ट्रीय उन्नति के लिये इतने अधिक उत्सुक हो चुके थे, कि किसी सामन्त राजा ने सम्राट् की आज्ञा का उल्लंघन करने का साहस नहीं किया और सबने अपनी नई स्थिति को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया।

(४) १८७१ में सम्राट् की आज्ञा द्वारा सामन्त पद्धति का बाकायदा अन्त कर दिया गया। यह व्यवस्था की गई, कि सामन्त लोगों को जन्म भर पेंशिन मिलती रहे और उनकी नौकरी में जो समूराई सैनिक थे, उन्हें भी राज्य की ओर से वृत्ति मिलती रहे। सामन्तों और समूराई लोगों को पेंशिन देने की व्यवस्था के कारण राज्यकोष पर खर्च का बोझ बहुत बढ़ गया। अतः १८७३ में यह आज्ञा जारी की गई, कि मासिक पेंशिन के स्थान पर एक रकम सामन्तों व समूराइयों को दे दी जाय।

जो सामन्त और समूराई लोग सदियों से अपने विशेषाधिकारों का उपभोग कर रहे थे, उनकी स्थिति में अकस्मात् इस प्रकार का परिवर्तन आ जाना सुगम बात नहीं थी। पर देशभक्ति की भावना से प्रेरित होकर ही बहुत से सामन्तों ने इस समय स्वेच्छापूर्वक अपने विशेषाधिकारों का परित्याग किया। केन्द्रीय सरकार ने भी उन्हें इतनी रकम मुआवजे के तौर पर प्रदान कर दी, जिससे वे जागीर को संभालने की झंझट से मुक्त होकर अपना निर्वाह भलीभांति कर सकते थे। समूराई लोगों को भी नई स्थिति में विशेष संकट का सामना नहीं करना पड़ा। हम पहले लिख चुके हैं, कि इस समय जापान में समूराई लोगों में शिक्षा का विशेष रूप से प्रचार था। सम्पूर्ण जापान के एक केन्द्रीय शासन के अधीन हो जाने के कारण उन्हें अपनी योग्यता के अनुसार उच्च राजकीय पद प्राप्त करने का अवसर मिला। पर यह नहीं समझना चाहिये, कि सामन्त पद्धति का अन्त करने हुए जापानी सरकार को किसी संकट का सामना नहीं करना पड़ा। पर इसमें सन्देह नहीं, कि अन्त में केन्द्रीय सरकार परिस्थिति को संभाल सकने में समर्थ हुई।

**नई सेना**—सामन्त पद्धति का अन्त करते ही जापान की सरकार ने नई सेना का संगठन किया। अब तक जापान की सेना का निर्माण समूराई लोगों द्वारा होता था, और ये समूराई विविध सामन्तों की सेवा में रहकर सैनिक सेवा करते थे।

सर्वसाधारण जनता को यह अवसर नहीं था, कि सेना में भरती हो सके। पर अब सब लोगों को यह अवसर दिया गया, कि वे सेना में भरती हो सकें और अपनी योग्यता के अनुसार सैनिक क्षेत्र में उन्नति कर सकें। १८७२ में जापान में बाधित सैनिक सेवा की पद्धति को प्रारम्भ किया गया। सब लोगों के लिये यह आवश्यक कर दिया गया, कि वे सैनिक शिक्षा प्राप्त करें और निश्चित समय तक सैनिक जीवन व्यतीत करें। निःसन्देह जापान के जीवन में यह भारी क्रान्ति थी। अब तक सेना का संचालन सामन्त राजाओं द्वारा होता था, अब जनता में प्रत्येक प्रकार की स्थिति के लोगों को यह अवसर मिला, कि वे सेना में उच्च पदों को प्राप्त कर सकें।

**नये शासन के सिद्धान्त**—सम्राट् मेइजी ने शोगून सरकार का अन्त करके शासनसूत्र को अपने हाथ में लेते हुए १८६८ में एक घोषणा प्रकाशित की थी, जिसमें शासन के नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था। सम्राट् ने अपनी प्रजा को यह बतलाया था, कि अब जापान में एक विचारसभा की स्थापना की जायगी और राज्य सम्बन्धी नीति का निर्धारण उसकी सम्मति व परामर्श के अनुसार ही हुआ करेगा। विचारसभा में लोकमत पर भी ध्यान दिया जायगा। न्याय करते हुए सब मनुष्यों के साथ एक सदृश बर्ताव होगा और राज्य के शासन में जिस किसी देश से भी कोई बुद्धिमत्ता की बात ली जा सकेगी, उसे ग्रहण करने में संकोच नहीं किया जायगा। निःसन्देह, सम्राट् मेईजी द्वारा प्रारम्भ किये गये नये शासन के ये आधारभूत सिद्धान्त थे, और उसने उन्हें बड़ी योग्यता के साथ क्रिया में परिणत किया।

**शासन सुधार के लिये आन्दोलन**—इस समय जापान में अनेक ऐसे विचारशील नेता उत्पन्न हुए, जिन्होंने देश के शासन में सुधार के लिये आन्दोलन का प्रारम्भ किया। इनमें इतागाकी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १८७४ में उसने एक संस्था की स्थापना की, जिसका उद्देश्य राजनीतिशास्त्र का अध्ययन करना था। कुछ समय बाद १८७४ में ही इतागाकी और उसके सहकारियों ने सम्राट् की सेवा में एक आवेदन पत्र भेजा, जिसमें यह प्रार्थना की गई, कि १८६८ की उद्घोषणा के अनुसार जापान में एक विचारसभा की स्थापना की जाय और यह विचारसभा लोकमत का प्रतिनिधित्व करनेवाली हो। पर सरकार के अन्य महत्त्वपूर्ण लोग शासन सुधार के मार्ग पर इतना अधिक आगे बढ़ने को तैयार नहीं थे। फिर भी इस समय जापान के शासन में कतिपय सुधार किये गये और इनके अनुसार जापान में पहली बार एक सीनेट और एक प्रधान केन्द्रीय न्यायालय की स्थापना की गई। इस समय तक अनेक जापानी नागरिक यूरोप की यात्रा कर चुके थे और वहाँ की राजनीतिक संस्थाओं से बहुत प्रभावित थे। किस प्रकार विविध जापानी लोग

यूरोप में जाने शुरू हुए, इस पर हम इसी अध्याय में आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। विदेश में शिक्षा प्राप्त कर या भ्रमण करके लौटे हुए ये जापानी नागरिक शासन-सुधार के लिये प्रबल आन्दोलन में तत्पर थे। इनके आन्दोलन का यह परिणाम हुआ, कि १८७८ में जापान में स्थानीय स्वशासन का सूत्रपात किया गया। जापान के विविध प्रान्तीय सूबेदार अपने शासन-कार्य में इन स्थानीय सभाओं से परामर्श लें, यह भी व्यवस्था की गई। पर शासनसुधार के लिये जो आन्दोलन इस समय जापान में जारी था, वह इन सुधारों से संतुष्ट नहीं हुआ। १८७४ में इतागाकी द्वारा राजनीतिक प्रश्नों का अध्ययन करने के लिये जिस संस्था की स्थापना की गई थी, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अब इसी प्रकार की अन्य भी अनेक संस्थाएँ स्थापित हुईं। धीरे धीरे ये सब संस्थाएँ एक संगठन में संगठित हो गईं, और एक राजनीतिक दल का निर्माण हुआ, जिसका प्रधान नेता इतागाकी था। इतागाकी के इस राजनीतिक दल को हम लिबरल या उदार दल कह सकते हैं। यह दल जापान में पार्लियामेन्ट की स्थापना करने के पक्ष में था और पाश्चात्य देशों के अनुसरण में लोकसत्तावाद का विकास करने का पक्षपाती था।

१८८१ में काउण्ट ओकुमा ने एक नये दल का संगठन किया। पहले वह जापान के अर्थमन्त्री के पद पर अधिष्ठित था, पर सरकार के अन्य सदस्यों से मतभेद होने के कारण उसने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया था। वह भी जापान में वैध राजसत्ता स्थापित करने के पक्ष में था। पर उसके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह इतागाकी के दल में शामिल होकर कार्य करे। उसने अपने दल का पृथक् रूप से संगठन किया। यह दल प्रगतिशील (प्रोग्रेसिव) दल के नाम से प्रसिद्ध है।

इस दशा में सम्राट् ने अनुभव किया, कि देश में शासन सुधार करना आवश्यक है। १८८१ में उसकी ओर से एक घोषणा प्रकाशित की गई, जिसमें यह वायदा किया गया, कि १८९० तक जापान में पार्लियामेन्ट की स्थापना कर दी जायगी। साथ ही जनता से यह भी अनुरोध किया गया, कि अब वह राजनीतिक आन्दोलन को बन्द कर दे। एक कानून द्वारा समाचार पत्रों में सरकार की आलोचना करने और सुधार के लिये आन्दोलन करने को बन्द किया गया और १८८३ में सम्राट् की ओर से यह आज्ञा प्रकाशित हुई, कि विविध राजनीतिक दलों को भंग कर दिया जाय। १८८४ में इतागाकी का उदार दल भंग हो गया और लगभग इसी समय में काउण्ट ओकुमा की प्रोग्रेसिव पार्टी की भी समाप्ति हो गई।

**नये शासन विधान का निर्माण**—शासन सुधार सम्बन्धी राजाज्ञा को क्रिया में परिणत करने के लिये १८८२ में प्रिंस इतो को इस उद्देश्य से यूरोप भेजा गया, कि वे वहां के विविध देशों की शासन पद्धति का अनुशीलन करें और सरकार को परा-

मर्श दें कि किस प्रकार के शासन सुधार जापान के लिये सबसे अधिक उपयुक्त हैं। श्री इतो जापान के प्रमुख राजनीतिज्ञ थे और शोगून की सरकार का अन्त कर सम्राट् की सत्ता को पुनः स्थापित करने में उनका प्रमुख हाथ था। जापान के नये शासन के सम्बन्ध में उनके विचार निम्नलिखित थे---(१) नये शासन विधान का निर्माण जनता द्वारा नहीं होना चाहिये। वह सम्राट् या उसकी सरकार की कृति होनी चाहिये और उसमें सम्राट् की स्थिति को सर्वथा सुरक्षित रखना चाहिये। (२) सामन्त पद्धति का अन्त करने में जिन जापानी नेताओं का प्रधान कर्तृत्व था, उनकी स्थिति व शक्ति भी अक्षुण्ण रखनी चाहिये। (३) जनता में प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन स्थापित करने की जो मांग निरन्तर बढ़ती जा रही है, नये शासन विधान में उसे भी स्थान मिलना चाहिये। यह स्पष्ट है, कि फ्रांस व अमेरिका के रिपब्लिकन शासन श्री इतो के लिये कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते थे, जापान के शासन विधान का निर्माण करते हुए उन्हें आदर्श नहीं बनाया जा सकता था। इङ्गलैण्ड का शासनविधान भी उनके लिये विशेष उपयोगी नहीं था, क्योंकि उसमें भी राजा की स्थिति 'ध्वजमात्र' (नाममात्र) थी। यूरोप के विविध देशों में इतो ने प्रशिया के शासन को इस ढंग का पाया, जिसका जापान में सुगमता से अनुसरण किया जा सकता था। प्रशिया में होहन्ट्सोलर्न राजवंश का शासन था, मन्त्रिमण्डल राजा के प्रति उत्तरदायी था और पार्लियामेन्ट में कुलीन जागीरदारों और धनिक वर्ग का प्रभुत्व था। इतो की सम्मति में इस प्रकार का शासन ही जापान के लिये सबसे अधिक उपयुक्त हो सकता था।

१८८३ में इतो यूरोप की यात्रा समाप्त करके जापान वापस लौट आया। उसी समय सरकार ने एक नया विभाग स्थापित कर दिया, जिसे देश के लिये शासन-विधान तैयार करने का कार्य सुपुर्द किया गया। इस विभाग का अध्यक्ष श्री इतो को नियत किया गया। १८८९ में सम्राट् की ओर से नये शासन विधान की घोषणा कर दी गई, यद्यपि उसके कुछ अंश पहले ही क्रिया में परिणत कर दिये गये थे। उदाहरणार्थ, १८८५ में जापान में बाकायदा मन्त्रिमण्डल का संगठन हो गया था और उससे एक साल पहले १८८४ में प्रशिया के नमूने पर जापान में भी एक नई कुलीन श्रेणि का निर्माण किया गया था, जिसमें पांच प्रकार के लार्ड रखे गये थे। ये लार्ड प्रिंस, मार्क्विस, काउन्ट, विस्काउन्ट और बैरन कहाते थे। ये पांचों प्रकार के लार्ड सम्राट् की कृति थे और उसी द्वारा कोई व्यक्ति इन पदों को प्राप्त करता था। कुछ व्यक्तियों को लार्ड के ये विविध पद वंशक्रमानुगत रूप से दिये जाते थे, और कुछ को केवल वैयक्तिक रूप से।

**१८८९ का शासन विधान**---सम्राट् द्वारा १८८९ में जिस नये शासन

विधान की घोषणा की गई, उसकी रूपरेखा पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। शासन का अधिपति व मुखिया सम्राट् को बनाया गया। उसकी स्थिति 'पवित्र व अनुल्लंघनीय' रखी गई। विविध राजपदाधिकारियों को नियुक्त करना, उन्हें अपने पद से बर्खास्त करना व उनके वेतन को निश्चित करना उसी के हाथों में रखा गया। युद्ध की घोषणा करने व सन्धि विग्रह के सब अधिकार भी उसी को दिये गये। विशेष परिस्थितियों में अध्यादेश (आर्डिनेन्स) जारी करने का अधिकार भी सम्राट् को प्रदान किया गया। सम्राट् को शासनकार्य में सहायता करने के लिये एक मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था की गई। मन्त्रियों को सम्राट् ही नियुक्त करता था और वे उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। पार्लियामेन्ट के प्रति उन्हें उत्तरदायी नहीं बनाया गया था और वे तब तक अपने पद पर रह सकते थे, जब तक सम्राट् का विश्वास उन्हें प्राप्त हो।

१८८९ के शासन विधान द्वारा जापान में एक पार्लियामेन्ट की भी स्थापना की गई। इसमें दो सभाएं होती थीं, लार्डों की सभा और लोकसभा। लार्डों की सभा में निम्नलिखित प्रकार के सदस्य होते थे—(१) राजघराने के पुरुष, (२) प्रिंस और मार्क्विस वर्ग के लार्ड लोग, (३) काउन्ट, विस्काउन्ट और बैरन वर्ग के लार्डों के प्रतिनिधि, (४) सम्राट् द्वारा मनोनीत सदस्य और (५) सबसे अधिक राजकीय कर देनेवाले लोगों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि। पहले तीन प्रकार के सदस्य जीवन भर के लिये लार्डों की सभा में रहते थे और पिछले दो प्रकार के सदस्यों की सदस्यता का काल सात साल होता था। इस प्रकार लार्डों की सभा के सब सदस्य उच्च व कुलीन वर्ग के होते थे। लोकसभा के सब सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे, पर १८८९ में वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को दिया गया था। वोटर होने के लिये सम्पत्ति की शर्त रखी गई थी। ज्यों ज्यों समय बीतता गया, जापान में वोट का अधिकार भी अधिक अधिक विस्तृत होता गया। यह आवश्यक था, कि साल में एक बार पार्लियामेन्ट का अधिवेशन बुलाया जाय। इसके अति[illegible] पार्लि-यामेन्ट की [illegible] कोई नया टैक्स लगाया जा सकता था। यह भी आवश्यक था, कि राजकीय बजट की स्वीकृति पार्लियामेन्ट से ली जाय। पर यदि कभी पार्लियामेन्ट नये बजट को स्वीकार करने से इनकार कर दे, तो पिछले साल के बजट के अनुसार आय व व्यय निर्दिष्ट किया जाता था। सम्राट् को यह अधिकार था, कि वह पार्लियामेन्ट में स्वीकृत हुए किसी भी कानून को वीटो कर सके। पार्लियामेन्ट के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न पूछ सकते थे और उनके विरुद्ध प्रस्ताव भी स्वीकार कर सकते थे। पर मन्त्रियों

को बर्खास्त करने का अधिकार केवल सम्राट् को था। पार्लियामेन्ट के सदस्यों को भाषण देने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी और अपने भाषण के लिये उन्हें गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि १८८९ के शासन विधान में पार्लियामेन्ट को पर्याप्त अधिकार दिये गये थे और समय के साथ साथ वह अपनी शक्ति को भी बढ़ा सकती थी।

१८८९ के शासन विधान में नागरिकों के अधिकारों का भी विशद रूप से प्रतिपादन किया गया था। कानून के सम्मुख सब जापानी एक समान स्थिति रखते थे। राजकीय पद व नौकरी प्राप्त करने का सबको अधिकार दिया गया था। भाषण, लेखन व अन्य प्रकार से अपने विचारों को प्रकट करने, सभाएं करने, संगठन बनाने और अपने विश्वास व विचार के अनुसार किसी भी धर्म का अनुसरण करने की सबको स्वतन्त्रता दी गई थी। राजकर्मचारियों को यह अधिकार नहीं था, कि वे किसी व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक गिरफ्तार कर सकें। यह व्यवस्था की गई थी, कि अभियुक्तों पर न्यायालयों में बाकायदा मुकदमा चलाया जाय और न्यायालय से दण्ड पाये विना किसी व्यक्ति को जेल में न रखा जा सके। सम्पत्ति के अधिकार को अनुल्लंघनीय घोषित किया गया था और सब नागरिकों को यह अवसर दिया गया था, कि वे सरकार के पास अपनी शिकायतों व आवेदन पत्रों को भेज सकें। जापान के शासन विधान के ये 'नागरिकों के अधिकार' ठीक उसी प्रकार के थे, जैसे कि इस समय पाश्चात्य देशों के लोकतन्त्र शासन विधानों में प्रतिपादित थे।

१८८९ के शासन विधान द्वारा जापान सरकार व शासन की दृष्टि से इस युग के पाश्चात्य देशों के समकक्ष हो गया था। इसमें सन्देह नहीं, कि फ्रांस, अमेरिका और ब्रिटेन लोकतन्त्रवाद के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ चुके थे। पर इसी समय जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, स्पेन आदि अनेक राज्यों के शासन लोकतन्त्रवाद की दृष्टि से जापान से अधिक उन्नत नहीं थे। रूस, टर्की आदि की सरकारें तो जापानी सरकार की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक निरंकुश व स्वेच्छाचारी थीं। यूरोप के विविध देशों में सामन्त पद्धति और एकतन्त्र शासन का अन्त होकर लोकतन्त्र शासन की स्थापना में एक सदी से भी अधिक समय लगा था। पर जापान इस युग में इतनी शीघ्रता से उन्नति के मार्ग पर कदम बढ़ा रहा था, कि उसने चौथाई सदी से भी कम समय में सामन्त पद्धति और निरंकुश शासन का अन्त कर ऐसे शासन विधान की स्थापना कर ली थी, जो उन्नीसवीं सदी की प्रवृत्तियों के सर्वथा अनुकूल था।

## (२) पाश्चात्य देशों से की गई सन्धियों में संशोधन

१८५८ में अमेरिका से और उसके बाद ब्रिटेन, हालैण्ड आदि पाश्चात्य देशों के

साथ जो सन्धियां जापान ने की थीं, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। ये सन्धियां जापान की स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय गौरव के प्रतिकूल थीं। आयात और निर्यात माल पर जापानी सरकार अपनी इच्छानुसार टैक्स नहीं लगा सकती थी। जापान में निवास करनेवाले पाश्चात्य व्यापारी व अन्य लोग जापानी कानून व जापानी अदालतों के अधीन नहीं थे। साथ ही जापान की मुद्रापद्धति पर भी इन पाश्चात्य देशों का नियन्त्रण था। इस समय जापान में सोना और चांदी दोनों के सिक्के प्रचलित थे। सन्धियों द्वारा पाश्चात्य देशों ने इन सोना चांदी के सिक्कों में एक और चार के अनुपात को स्वीकार किया था। एक तोला वजन के सोने के सिक्के के बदले में चार तोले वजन के चांदी के सिक्के प्राप्त किये जाते थे। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस ढंग से कह सकते हैं, कि यदि सोने का मूल्य १०० येन (जापान का सिक्का) प्रति तोला हो, तो चांदी का मूल्य २५ येन प्रति तोला था। इसी समय यूरोप में सोना और चांदी के मूल्य में एक और सोलह का अनुपात था। पाश्चात्य व्यापारी अपने देशों से चांदी के सिक्के भारी परिमाण में लाते थे, पहले उनका विनिमय जापान के चांदी के सिक्कों से करते थे और फिर जापानी चांदी के सिक्कों के बदले में चार और एक के अनुपात से जापान के सोने के सिक्कों को प्राप्त कर लेते थे। इस विनिमय में उन्हें ४०० फी सदी का मुनाफा हो जाता था। सन्धि की शर्तों में इस विनिमय दर का उल्लेख था, अतः जापानी सरकार पाश्चात्य व्यापारियों के इस अनुचित व्यापार को रोक नहीं सकती थी। इस दशा का परिणाम यह था, कि सोना बहुत बड़ी मात्रा में जापान से यूरोप और अमेरिका पहुंच रहा था और जापान प्रायः सोने से बिलकुल खाली होने लग गया था।

स्वाभाविक रूप से जापानी सरकार इस बात के लिये उत्सुक थी, कि इन सन्धियों में संशोधन किया जाय। इसीलिये जब १८६८ में शोगून शासन का अन्त होकर सम्राट् की शक्ति की पुनः स्थापना हुई, तो इन सन्धियों के संशोधन के प्रश्न पर भी ध्यान दिया गया। १८७१ में श्री इवाकुरा के नेतृत्व में एक मिशन इस उद्देश्य से यूरोप और अमेरिका भेजा गया, कि वह वहां की सरकारों से बातचीत कर इन सन्धियों में परिवर्तन करने का प्रयत्न करे। श्री इवाकुरा ने विविध देशों की यात्रा कर उनकी सरकारों के साथ सम्पर्क स्थापित किया, पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी। जापान वापस लौटकर श्री इवाकुरा ने अपनी सरकार को सूचना दी, कि सन्धियों में संशोधन तभी सम्भव होगा, जब कि पहले जापान में न्याय व्यवस्था को सुचारु रूप से संगठित कर लिया जायगा। जापानी सरकार के लिये यह आवश्यक है, कि पहले अपने कानूनों को, दण्ड विधान को और न्यायविभाग को इस प्रकार से संशोधित कर लिया जाय, जिससे कि वह आधुनिक

युग के विचारों के अनुकूल बन जाय । इसी प्रकार आयात और निर्यात माल पर अपनी इच्छानुसार टैक्स लगा सकने का अधिकार जापानी सरकार को तब प्राप्त हो सकेगा, जब कि विदेशी व्यापारियों को जापान में व्यापार कर सकने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो जायगी । उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में संसार बहुत उन्नति कर गया है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सर्वत्र विकास हो रहा है, और पाश्चात्य देशों में विदेशी व्यापार को हानिकारक न मानकर देश के लिये हितकर समझा जाता है । श्री इवाकुरा की रिपोर्ट पर जापानी सरकार ने भलीभांति विचार किया और कानून व न्यायपद्धति में उन सुधारों को प्रारम्भ किया, जिनके कारण इस क्षेत्र में भी जापान पाश्चात्य देशों का समकक्ष हो गया ।

जापानी सरकार ने अपने देश के दीवानी और फौजदारी कानूनों का नये सिरे से निर्माण किया । इस कार्य में फ्रांस और प्रशिया के विशेषज्ञों का सहयोग प्राप्त किया गया । न्याय विभाग का भी नये सिरे से संगठन किया गया । छोटी व बड़ी अदालतों का निर्माण करते हुए फ्रांस की न्यायपद्धति को सम्मुख रखा गया । १८८९ तक कानून और न्यायालय सम्बन्धी यह नई व्यवस्था पूर्ण रूप से बनकर तैयार हो गई थी और १८९० में सम्राट् ने इस पर अपनी अन्तिम स्वीकृति भी दे दी थी । १८९४ तक ये नये कानून अविकल रूप से सम्पूर्ण जापान में प्रयुक्त होने लग गये थे और अब पाश्चात्य देशों को यह कहने का कोई अवसर नहीं रहा था, कि एक्सट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति की इस कारण आवश्यकता है, क्योंकि जापान के कानून व न्यायालय आधुनिक युग के अनुकूल नहीं हैं ।

कानून और न्याय के क्षेत्र में सुधार के साथ साथ जापानी सरकार इस प्रयत्न में भी लगी थी, कि पाश्चात्य देशों के साथ सन्धियों में संशोधन किया जाय । १८८२ तक अनेक पाश्चात्य देश इस बात के लिये तैयार हो गये थे, कि वे एक्सट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का अन्त कर जापानी अदालतों में ही अपने नागरिकों के मुकदमों का फैसला करने दें । पर वे इस बात पर जोर देते थे, कि इन जापानी अदालतों में जापानी न्यायाधीशों के साथ साथ पाश्चात्य देशों के न्यायाधीश भी होने चाहियें । उनका कथन था, कि केवल उन्हीं जापानी अदालतों में पाश्चात्य लोगों के मुकदमों का विचार हो सके, जिनमें कम से कम एक पाश्चात्य न्यायाधीश अवश्य हो । जापानी सरकार इस बात को समझौते के तौर पर मानने को तैयार थी, उसकी दृष्टि में यह व्यवस्था एक्सट्रा-टैरिटोरिएलिटी की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी थी । पर जापान का लोकमत इसके अत्यन्त विरुद्ध था । जापानी लोग कहते थे, विदेशी न्यायाधीशों का जापान [illegible] गौरव के सर्वथा विपरीत है । परिणाम [illegible] हुआ था, वह

क्रिया में परिणत नहीं हो सका। १८८८ में काउण्ट ओकामा ने इस सम्बन्ध में सन्धियों में संशोधन के लिये बातचीत करने के उद्देश्य से पाश्चात्य देशों की यात्रा की। अमेरिका को वह एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति को नष्ट कर देने के लिये तैयार करने में सफल हुआ। पर अमेरिका ने यह शर्त लगाई, कि इस बात को तभी क्रिया में परिणत किया जाय, जब अन्य देश भी इसी प्रकार के संशोधन को स्वीकृत करने के लिये तैयार हो जावें। १८९४ तक जापान में नये दीवानी व फौजदारी कानून अविकल रूप से प्रयोग में आने लगे थे, अदालतों का संगठन भी नये ढंग से हो गया था। इस दशा में १८९४ में इङ्गलैण्ड ने इस बात को स्वीकार कर लिया, कि १८९९ से इङ्गलिश नागरिकों के मुकदमे जापानी अदालतों में पेश होने लगें। उसका विचार था, कि पांच साल में यह बात भलीभांति स्पष्ट हो जायगी, कि जापानी अदालतें भी पाश्चात्य देशों की अदालतों के समान न्याय सम्बन्धी नये आदर्शों के अनुसार न्याय कार्य का सम्पादन करती हैं या नहीं। १८९४-९७ के तीन सालों में अन्य पाश्चात्य देशों ने भी इङ्गलिश सन्धि के ढंग पर जापान के साथ हुई अपनी सन्धियों में संशोधन किये और इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के अन्त से पूर्व ही एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का जापान से अन्त हुआ। इसी समय १८५८ व उसके बाद की विदेशी सन्धियों में जो अन्य अनेक दोष थे, उन सबको भी दूर किया गया। पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान को अपना लेने के कारण जापान इस समय जिस तेजी के साथ राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में उन्नति कर रहा था, उसके कारण वह पाश्चात्य देशों का पूर्णतया समकक्ष बन गया था, और अब यह सम्भव नहीं रहा था कि उसके साथ वह व्यवहार किया जा सके, जो कि चीन आदि अन्य एशियाई देशों के साथ किया जाता था।

## (३) सामाजिक व आर्थिक उन्नति

**शिक्षा का विस्तार**—शोगून सरकार के शासनकाल में ही अनेक जापानी विद्यार्थियों ने उच्च शिक्षा के लिये पाश्चात्य देशों में जाना प्रारम्भ कर दिया था। उस समय जापानी लोगों के लिये विदेश यात्रा निषिद्ध थी। फिर भी कानून का उल्लंघन कर अनेक जापानी युवक अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करने के लिये विदेशों में जाना शुरू हो गये थे। शोगून सरकार के पतन और सम्राट् द्वारा राजशक्ति को अपने हाथों में ले लेने के बाद जापानी विद्यार्थी बहुत बड़ी संख्या में विदेशों में जाने शुरू हुए। इन विद्यार्थियों का यह उद्देश्य था, कि पाश्चात्य देशों ने ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में जो कुछ भी उन्नति पिछली एक सदी के काल में की है, उस सबको शीघ्रतया अपने देश में उसका प्रारम्भ करें। अमेरिका और यूरोप के उच्च शिक्षा-

णालयों में हजारों जापानी विद्यार्थी प्रविष्ट हुए और उन्होंने अपने देश में लौटकर शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति का प्रारम्भ किया। अब तक जापान में प्रधानतया प्राचीन साहित्य और धर्मग्रन्थों की शिक्षा दी जाती थी। अब उनके साथ साथ नये ज्ञान विज्ञान का भी प्रवेश हुआ। जापानी स्कूलों में पाश्चात्य भाषाओं, विशेषतया इङ्गलिश की भी पढ़ाई शुरू की गई और कुछ ही समय में जापान के शिक्षणालय पढ़ाई के क्षेत्र में पाश्चात्य देशों के स्कूलों, कालिजों व यूनिवर्सिटियों के समकक्ष हो गये।

१८७२ में जापान में बाधित शिक्षा की पद्धति को जारी किया गया। इसके लिये प्रत्येक नगर व विविध ग्रामों में प्रारम्भिक शिक्षणालयों की स्थापना की गई। प्रत्येक बालक व बालिका के लिये यह आवश्यक कर दिया गया कि वह कम से कम चार साल तक स्कूल में बाकायदा शिक्षा ग्रहण करे। बाद में इस काल को बढ़ाकर चार साल के स्थान पर छः साल कर दिया गया। जापान के स्कूलों में केवल पढ़ाई ही नहीं होती थी, अपितु चरित्र निर्माण पर भी बहुत ध्यान दिया जाता था। देश के प्रति प्रेम और सम्राट् के प्रति भक्ति की शिक्षा प्रत्येक बच्चे को दी जाती थी। उन्हें सिखाया जाता था, कि प्रत्येक जापानी का जीवन देश और सम्राट् के लिये है। लड़कियों की शिक्षा में गृहकार्य को प्रमुख स्थान दिया जाता था। जापानी लोग समझते थे, कि स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर है, अतः उन्हें गृहकार्य में विशेष रूप से निपुणता प्राप्त करनी चाहिये। इसीलिये उन्होंने १९०२ तक लड़कियों की उच्च शिक्षा के लिये कोई व्यवस्था नहीं की थी। बाद में स्त्रियों के लिये पृथक् कालिजों की स्थापना की गई और उन्हें यूनिवर्सिटियों में शिक्षा प्राप्त करने का भी अवसर दिया गया।

प्रारम्भिक शिक्षणालयों के लिये जापानियों ने अमेरिका की शिक्षापद्धति को आदर्शरूप से स्वीकृत किया। उच्च शिक्षा के लिये उन्होंने फ्रांस की यूनिवर्सिटियों का अनुकरण किया और शिल्प विषयक शिक्षा के लिये जर्मनी को अपना आदर्श बनाया। इसका परिणाम यह हुआ, कि शीघ्र ही जापान में सब प्रकार के शिक्षणालयों की स्थापना हुई, और जापानी विद्यार्थियों के लिये अपने ही देश में सब प्रकार की शिक्षा को प्राप्त कर सकना सुलभ हो गया।

**आर्थिक उन्नति**—जापान की नई सरकार देश की आर्थिक उन्नति के लिये विशेषरूप से प्रयत्नशील थी। जब एक बार जापानी लोगों ने अनुभव कर लिया, कि वे व्यावसायिक क्षेत्र में पाश्चात्य देशों के मुकाबले में बहुत पीछे रह गये हैं, तो उन्होंने बड़ी तेजी से यूरोप और अमेरिका के वैज्ञानिक आविष्कारों और मशीनरी को अपनाना शुरू कर दिया। इसी उद्देश्य से उन्होंने बहुत से नये कारखाने स्थापित

किये, इनके लिये मशीनरी पाश्चात्य देशों से मंगवाई गई। सरकार ने स्वयं अपने खर्च से विदेशों से मशीनरी मंगवानी शुरू की और नये कारखानों की स्थापना कर उन्हें धनपतियों को बेचना प्रारम्भ किया। सरकार का यत्न यह था, कि लोग कारखाने खोलने के लिये उत्साहित हों। इसीलिये वह स्वयं कारखानों की इमारतों को बनवाती थी, स्वयं मशीनरी मंगाती थी और कारखानों को चालू हालत में लाकर उन्हें पूंजीपतियों को बेच देती थी। जापान के अनेक सम्पन्न परिवार जहां सरकार से इन कारखानों का क्रय करने के लिये उत्साहित हुए, वहां साथ ही बहुत से लोगों ने स्वयं भी आधुनिक ढंग के कारखानों की स्थापना प्रारम्भ की। परिणाम यह हुआ, कि कुछ ही समय में जापान में व्यावसायिक क्रान्ति हो गई और वहां के विशालकाय कारखानों में कपड़ा, रेशम, लोहे का सामान आदि प्रचुर मात्रा में तैयार होने लगा। जापानी सरकार की यह नीति थी, कि ऐसे व्यवसायों के विकास पर विशेषरूप से ध्यान दिया जाय, जो सैनिक शक्ति के लिये सहायक हों। इसीलिये जापान में बहुत सी खानें खोदी गईं, लौह व्यवसाय को विशेष रूप से उन्नत किया गया, और बारूद व विविध प्रकार के अस्त्र शस्त्रों को तैयार करने पर विशेष ध्यान दिया गया। १८९० तक जापान में यह दशा हो गई थी, कि २५० से अधिक ऐसे कारखाने वहां कायम हो गये थे, जिनमें भाप की शक्ति से सब कार्य होता था। १८९० के बाद तो जापान ने व्यावसायिक क्षेत्र में और भी अधिक उन्नति की और बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक वह आर्थिक उत्पत्ति में ब्रिटेन जैसे उन्नत देशों का सफलता के साथ मुकाबला करने लगा।

१८७२ में जापान में पहली रेलवे का निर्माण हुआ। यह पहली जापानी रेलवे लाइन तोकियो से योकोहामा तक बनाई गई थी। १८९४ तक २११८ मील लम्बी रेलवे लाइन ने जापान के विविध प्रदेशों में रेल का एक जाल सा बिछा दिया था। ये रेलवे लाइनें जहां देश के आन्तरिक व्यापार व व्यावसायिक उन्नति के लिये अत्यन्त सहायक थीं, वहां साथ ही राष्ट्रीयता के विकास में भी इनसे बहुत सहायता मिल रही थी। अब जापान के विविध प्रदेशों व द्वीपों में निवास करनेवाले लोगों के लिये यह बहुत सुगम हो गया था, कि वे अपने देश में सर्वत्र यात्रा कर सकें और एक दूसरे के साथ परिचय प्राप्त कर सकें। जापान एक राष्ट्र है, और उसके सब निवासी एक हैं, इस भावना को विकसित करने में आवागमन के साधनों की उन्नति बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुई। जापानी सरकार ने इसी समय डाकखाने के विभाग को भी विशेष रूप से उन्नत किया। १८६८ में वहां टेलीग्राफ का पहले पहल प्रवेश हुआ। कुछ ही समय में जापान में सर्वत्र पोस्ट आफिसों की स्थापना हो गई। रेलवे और पोस्ट आफिस के विस्तार के साथ साथ जापानी सरकार ने

जहाजों के निर्माण पर भी विशेष ध्यान दिया । उन्नीसवीं सदी के मध्य तक जापान को किसी ऐसे जहाज का परिचय भी नहीं था, जो भाप की शक्ति से चलता हो । उसके अपने जहाज छोटे छोटे होते थे और वे तट के साथ साथ समुद्र में आया जाया करते थे । पर अब जापान ने भाप से चलनेवाले विशाल जहाजों को अधिगत करना शुरू किया । शुरू में इन जहाजों को पाश्चात्य देशों से खरीदा गया, पर बाद में जापान में ही ऐसे यार्डों की स्थापना की गई, जहां सब प्रकार के जहाज बड़ी संख्या में बनने शुरू हुए । उन्नीसवीं सदी के अन्त तक यह दशा आ गई थी; कि सामुद्रिक क्षेत्र में जापान संसार के अच्छे उन्नत देशों में गिना जाने लगा था । उसके जंगी जहाज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आतंक की चीज समझे जाने लगे थे ।

व्यावसायिक उन्नति के कारण जापान में पूंजीपति वर्ग का भी विकास हुआ । मित्सुई, मित्सुबिशी, सुमितोमो, यासुदा आदि अनेक परिवार व्यवसाय, महाजनी और व्यापार द्वारा अत्यन्त अधिक समृद्ध हो गये और इनका प्रभाव जापान की राजनीति में भी बहुत अधिक बढ़ गया । १८६८ में जापान में सामन्तपद्धति का अन्त किया गया था । उन्नीसवीं सदी के अन्त तक वहां एक ऐसा समृद्ध व धनी वर्ग विकसित हो गया था, जिसकी आर्थिक उन्नति का कारण व्यवसाय व व्यापार थे । पुराने सामन्तों का स्थान अब इस पूंजीपति वर्ग ने ले लिया था ।

१८७३ में जापान में पहले नेशनल बैंक की स्थापना हुई । १८७९ तक केवल छः साल के काल में जापान में इस प्रकार के बैंकों की संख्या १५१ हो गई, और ये बैंक करोड़ों का लेन देन करने लगे । १८८५ में जापान में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की गई, जो 'जापान का बैंक' कहाता है । बैंक के कारोबार का सुचारु रूप से संचालन करने के लिये पार्लियामेन्ट ने अनेक कानून भी स्वीकृत किये ।

व्यावसायिक उन्नति, बैंकिंग का विकास और रेलवे आदि के निर्माण से जापान की आर्थिक दशा आमूल चूल रूप से परिवर्तित हो गई थी । अब उसे पाश्चात्य देशों के व्यापारियों से कोई भय नहीं रहा था । आर्थिक क्षेत्र में वह उनका खुले तौर पर मुकाबला कर सकता था । अब जापान स्वयं इस चिन्ता में था, कि अपने माल को और देशों में बेचे और इस विदेशी व्यापार से अपने को समृद्ध करे । पाश्चात्य देशों ने विविध सन्धियों द्वारा जापान में व्यापार सम्बन्धी जो विशेष अधिकार प्राप्त किये थे, वे सब अब निरर्थक होते जाते थे और यही कारण है, कि उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में इन सन्धियों को संशोधित व परिवर्तित कराने में जापान को कोई विशेष असुविधा नहीं हुई ।

१८६८ के बाद सम्राट् की सरकार ने किसानों की दशा को भी उन्नत करने के लिये ध्यान दिया । सामन्तपद्धति का अन्त हो जाने के कारण अब किसानों की

स्थिति पहले की अपेक्षा बहुत अधिक अच्छी हो गई थी। किसानों को यह अधिकार दिया गया, कि वे जिस भूमि को जोतते बोते हैं, उसपर अपना स्वामित्त्व स्थापित कर सकें और खेत पर अपने स्वत्त्व का विक्रय भी कर सकें। १८७२ में किसानों का अपने खेतों पर स्वत्त्व स्थापित कर दिया गया। पुराने समय में सामन्त लोग अपनी जागीरों की भूमि को जोतनेवाले किसानों से उपज का एक निश्चित भाग लगान के रूप में लिया करते थे। पर अब सरकार ने उपज का भाग लेने के स्थान पर सिक्के के रूप में मालगुजारी लेनी प्रारम्भ की। किस खेत में कितनी फसल होती है, इसका हिसाब करके उसकी मालगुजारी की मात्रा नियत की गई। इस व्यवस्था से किसानों को जहां अनेक लाभ हुए, वहां एक नुकसान भी हुआ। अब किसान इस बात के लिये विवश हुए, कि वे मालगुजारी की रकम को अदा करने के लिये अपनी फसल को मण्डी में जाकर बेचें। फसल तैयार होने पर सब किसानों की यह कोशिश होती थी, कि वे जल्दी से जल्दी मालगुजारी अदा करने के लिये अपनी उपज को बाजार में ले जावें। इससे चावल व अन्य अनाज की कीमतें गिरने लगीं और बहुत से छोटे छोटे किसानों के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वे मालगुजारी दे चुकने के बाद अपने निर्वाह के लिये पर्याप्त अन्न बचा सकें। इस कारण बहुत से किसान अपने खेतों को बेचने के लिये विवश हुए। इस अवसर का लाभ उठाकर बहुत से धनी लोगों ने गरीब किसानों की जमीनों को खरीदना शुरू किया और जमींदारों की एक नई श्रेणि का विकास प्रारम्भ हुआ, जो अपने धन के जोर पर देहातों में अपने प्रभुत्त्व का प्रसार कर रही थीं। इस समय जापान में व्यावसायिक क्रान्ति का प्रारम्भ हो चुका था। बहुत से नये कल कारखानों का प्रादुर्भाव हो रहा था और इनमें कार्य करने के लिये मजदूरों की मांग निरन्तर बढ़ रही थी। बहुत से गरीब किसान इस समय अपने कुलक्रमानुगत घरों को छोड़कर शहरों में आये और मजदूरी प्राप्त करके अपना निर्वाह करने लगे। पाश्चात्य देशों के समान जापान में भी अब मजदूर वर्ग का विकास प्रारम्भ हुआ और व्यावसायिक क्रान्ति के कारण पूंजीपतियों और मजदूरों की जो समस्या यूरोप में उत्पन्न हुई थी, वह जापान में भी प्रादुर्भूत होने लगी।

**धार्मिक दशा**---बौद्ध धर्म का जापान में किस प्रकार प्रवेश हुआ, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। सम्राट् की शक्ति की पुनः स्थापना (१८६८) के बाद जापान के प्राचीन परम्परागत धर्म (शिन्तो) में नवजीवन का संचार हुआ। पर इसके कारण बौद्ध धर्म का ह्रास नहीं हुआ। शिन्तो धर्म के जो तत्त्व इस समय प्रबल हुए, वे जापान की बौद्ध जनता में प्राचीन विधिविधानों के प्रति निष्ठा और सम्राट् को देवता रूप में मानने की भावना में वृद्धि कर रहे थे। शिन्तो सिद्धान्तों

के कारण जापान का बौद्ध धर्म अन्य देशों के बौद्ध धर्म से भिन्न रूप धारण कर रहा था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जापान में क्रिश्चिएनिटी के प्रचार को भी बल मिला। फ्रांस के रोमन कैथोलिक और अमेरिका के प्रोटेस्टेन्ट पादरियों ने वहां अनेक मिशनों की स्थापना की और इनके कारण अनेक जापानी लोग इस पाश्चात्य धर्म के प्रति आकृष्ट होने लगे।

**साम्राज्यवाद के मार्ग पर**—व्यावसायिक उन्नति और सैनिक शक्ति की दृष्टि से जापान अब पाश्चात्य देशों का समकक्ष हो गया था। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि वह भी यूरोप और अमेरिका का अनुकरण कर साम्राज्यवाद के मार्ग पर अग्रसर हो। उन्नीसवीं सदी की समाप्ति से पूर्व ही जापान ने कोरिया और चीन में अनेक युद्ध किये और बीसवीं सदी में तो कुछ समय के लिये वह पूर्वी एशिया में अपने विशाल साम्राज्य को स्थापित करने में भी समर्थ हुआ। जापान के इस साम्राज्य विस्तार पर हम आगे चलकर यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

**तोक्यो नगर**—शोगूनों के शासनकाल में जापान का सम्राट् क्योतो में रहता था, और शोगून शासकों की राजधानी येदो नगरी थी। जब शोगूनों के शासन का अन्त होने पर सम्राट् ने राजशक्ति को अपने हाथों में लिया, तो वह भी अपने दरबार के साथ येदो चला आया। इस समय ये ो का नाम बदल कर तोक्यो रखा गया, और धीरे-धीरे यह न केवल जापान का, अपितु एशिया का सबसे बड़ा नगर बन गया।

छठा अध्याय

# चीन में विदेशी साम्राज्यवाद का प्रसार

## (१) जापान और चीन का युद्ध

**जापान की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियां**—उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में विविध पाश्चात्य देश चीन में अपने प्रभाव व प्रभुत्व का विस्तार करने के लिये किस प्रकार प्रयत्नशील थे, इसका उल्लेख पहले एक अध्याय में किया जा चुका है। रूस उत्तरी एशिया में अपना विस्तार कर चुका था और उसकी दक्षिण-पूर्वी सीमा चीन के साथ आ मिली थी। यूरोप के विविध देश प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीपों को अपने अधिकार में ला चुके थे और चीन के अनेक बन्दरगाहों पर उनका प्रभुत्त्व स्थापित हो गया था। जब जापान भी व्यावसायिक उन्नति और सैन्यशक्ति में वृद्धि के कारण पाश्चात्य देशों का समकक्ष हो गया तब उसका ध्यान भी साम्राज्य विस्तार की ओर आकृष्ट हुआ। जापान के उत्तर में सखालिन द्वीप और कुरील द्वीपसमूह विद्यमान हैं। सखालिन पर रूस और जापान का संयुक्त अधिकार माना जाता था। कुरील द्वीप समूह पर जापान और रूस दोनों अपने अधिकार का दावा करते थे। १८७५ में जापान ने रूस के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार सखालिन द्वीप से जापान ने अपने अधिकार का परित्याग कर दिया और उसके बदले में रूस ने कुरील द्वीप-समूह को जापान के सुपुर्द कर देना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार १८७५ में कुरील द्वीपसमूह पर जापान का अबाधित आधिपत्य स्थापित हुआ। १८७८ में बोनीन द्वीपसमूह पर भी जापान ने अधिकार कर लिया। ये द्वीप प्रशान्त महासागर में स्थित हैं, और सैनिक दृष्टि से इनका बहुत महत्त्व है। इन पर अधिकार हो जाने से प्रशान्त महासागर में जापान की शक्ति बहुत सुदृढ़ हो गई।

प्रशान्त महासागर में एक अन्य द्वीपसमूह है, जिसे र्यूक्यू द्वीपसमूह कहते हैं। इसमें जापानी लोगों का ही निवास है। पर इन द्वीपों का शासक अनेक सदियों से चीन के सम्राट् को अधीनतासूचक भेंट उपहार भेजा करता था और इन द्वीपों को चीन के साम्राज्य का एक अंग माना जाता था। १८७१ में र्यूक्यू का एक जहाज फार्मूसा के तट के समीप डूब गया। इसके मल्लाहों और यात्रियों ने अपनी जान बचाने के लिये फार्मूसा में आश्रय लिया। पर फार्मूसा के लोगों ने इन्हें जान से मार

दिया । इस समय फार्मूसा चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत था । जापान की सरकार ने कहा, र्‍यूक्यू के लोग जापानी हैं और उनकी हत्या का प्रतिशोध चीन को करना चाहिये । चीनी सरकार का कहना था, कि र्‍यूक्यू द्वीपों के साथ जापान का कोई सम्बन्ध नहीं है और चीनी सरकार के लिये यह भी सम्भव नहीं है, कि वह फार्मूसा के लोगों के किसी कार्य के लिये उत्तरदायिता ले सके । इस पर जापान की एक सेना ने फार्मूसा पर आक्रमण किया और उसके कुछ प्रदेशों पर कब्जा कर लिया । अब चीन इस बात के लिये विवश हुआ, कि जापान को हरजाने की रकम देकर र्‍यूक्यू के लोगों की हत्या का प्रतिशोध करे । हरजाने की रकम प्राप्त करके जापान की सेना फार्मूसा से वापस लौट आई । पर इस घटना का यह महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ, कि र्‍यूक्यू द्वीपसमूह पर जापान का आधिपत्य निर्विवाद रूप से स्थापित हो गया । कुरील और र्‍यूक्यू द्वीपसमूहों की उपलब्धि जापानी साम्राज्यवाद की पहली सफलता थी ।

**कोरिया की समस्या**—भौगोलिक दृष्टि से कोरिया का बहुत महत्त्व है । वह जापान और चीन के बीच में स्थित है, और कोरिया व जापान के बीच का समद्र बहुत अधिक चौड़ा नहीं है । अत्यन्त प्राचीन काल से जापान का चीन के साथ सम्बन्ध कोरिया द्वारा ही रहा है । जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश भी कोरिया द्वारा ही हुआ था । उन्नीसवीं सदी में कोरिया का भौगोलिक महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया था, क्योंकि इसके उत्तर के प्रदेश रूस के आधिपत्य में आ गये थे । साइबीरिया के रूस के अधीन हो जाने के कारण अब कोरिया की स्थिति तीन शक्तिशाली राज्यों के बीच में हो गई थी । ये तीन राज्य थे, रूस, जापान और चीन । राजनीतिक दृष्टि से कोरिया चीन के सम्राट् की अधीनता को स्वीकृत करता था । यद्यपि उसका अपना पृथक् राजा था, जो क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र राजा के समान अपने देश का शासन करता था, पर इसमें सन्देह नहीं कि कोरिया के ये स्वतन्त्र राजा चीन के सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकार करते थे । जब कोई नया राजा कोरिया के राजसिंहासन पर आरूढ़ होता था, तो वह चीनी सम्राट् की अनुमति प्राप्त करता था । कोरिया की ओर से चीनी सम्राट् की सेवा में प्रति वर्ष भेंट व उपहार भेजे जाते थे और विशिष्ट अवसरों पर कोरिया का राजा या उसका कोई प्रतिनिधि पेकिंग के राजदरबार में उपस्थित भी हुआ करता था । चीनी साम्राज्य में कोरिया की प्रायः वही स्थिति थी, जो बरमा या तिब्बत की थी ।

एशिया के विविध देशों में अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व को स्थापित करते हुए पाश्चात्य देशों का ध्यान कोरिया की ओर भी आकृष्ट हुआ । अनेक रोमन कैथोलिक पादरियों ने धर्म प्रचार के नाम पर वहां प्रवेश किया । ये पादरी मुख्यतया फ्रेञ्च थे । १८६६

से कुछ फ्रेञ्च पादरी कोरिया में मारे गये। इस अवसर से लाभ उठाकर फ्रांस के एक जहाजी बेड़े ने कोरिया के बन्दरगाहों में प्रवेश किया। फ्रेञ्च लोग चाहते थे, कि कोरिया की सरकार को पादरियों की हत्या के लिये हरजाना देने को विवश करें और अपने देश के लिये व्यापार सम्बन्धी सुविधाएं भी प्राप्त करें। पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी। इस समय फ्रेञ्च लोगों की शक्ति कोचीन-चायना पर अपना अधिकार स्थापित करने में व्यापृत थी और वे कोरिया की तरफ अधिक ध्यान नहीं दे सके। इसी समय के लगभग अमेरिकन लोगों ने भी कोरिया में प्रवेश करने का प्रयत्न किया, पर उन्हें भी अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी। १८७१ में अमेरिका का जहाजी बेड़ा भी निराश होकर कोरिया से वापस लौट आया।

१८७५ में जापान का एक जहाज कोरिया के समुद्र तट पर पहुंचा। इस समय कोरियन सरकार की यह नीति थी, कि वह किसी भी विदेशी राज्य के सम्पर्क को पसन्द नहीं करती थी। इस जापानी जहाज पर गोलाबारी की गई। परिणाम यह हुआ, कि जापान में इससे बहुत बेचैनी हुई और वहां के बहुत से लोग कोरिया के विरुद्ध लड़ाई शुरू कर देने के लिये आन्दोलन करने लगे। पर जापान की सरकार ने इस समय बुद्धिमत्ता से काम लिया। कोरिया के विरुद्ध लड़ाई छेड़ देने के बजाय उसने यह निश्चय किया, कि अपनी ओर से एक दूतमण्डल कोरिया भेजे, जो वहां की सरकार को जापान के साथ बाकायदा व्यापारिक सन्धि करने के लिये प्रेरित करे। जिस प्रकार १८५३ में कमोडोर पेरी चार जहाजों और बहुत से सैनिकों को साथ लेकर जापान आया था, वैसे ही अब १८७६ में एक जापानी दूतमण्डल सैनिक शक्ति को साथ लेकर कोरिया गया। यह दूतमण्डल कोरिया के साथ सन्धि करने में समर्थ हुआ। १८७६ में कोरिया के साथ जापान की जो सन्धि हुई, उसमें कोरिया की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया गया। कोरिया ने जापान को यह अधिकार दिया, कि वह सेऊल आदि कोरियन बन्दरगाहों में व्यापार कर सके और जो जापानी नागरिक व्यापार आदि के लिये कोरिया के बन्दरगाहों में रहें, वे कोरियन कानून और कोरियन अदालतों के अधीन न हों। एक्सट्रा-टैरिटोरिएलिटी की जिस पद्धति के विरुद्ध जापान स्वयं पाश्चात्य देशों के साथ संघर्ष में तत्पर था, उसे उसने स्वयं कोरिया में प्रारम्भ किया। १८८२ में इसी प्रकार की सन्धि अमेरिका ने कोरिया के साथ की और उसके बाद ब्रिटेन, जर्मनी, रूस, इटली और फ्रांस ने भी कोरिया के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये पृथक् पृथक् सन्धियां कीं। अब कोरिया के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह अन्य देशों के सम्पर्क से वञ्चित रह सके। विदेशियों के व्यापार के लिये उसके द्वार अब पूरी तरह से खुल गये थे।

इसी अध्याय में हमने पहले लिखा है, कि कोरिया चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत था। यहां स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि चीन के अधीन होने पर कोरिया ने किस प्रकार एक स्वतन्त्र राज्य के समान विदेशों के साथ ये सन्धियां की थीं। इस प्रश्न का उत्तर यही है, कि चीन का सम्राट कोरिया के आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। वह केवल इतने से संतुष्ट था, कि कोरिया उसकी अधीनता को स्वीकार करता है, और उसे वार्षिक रूप से भेंट उपहार भेजता है। कोरिया की विदेशी नीति से उसे कोई ताल्लुक नहीं था और उसके इन मामलों में किसी प्रकार का दखल देना वह अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझता था।

विदेशी लोगों के साथ कोरिया का जिस ढंग से सम्पर्क बढ़ रहा था, उसे सब कोरियन लोग पसन्द नहीं करते थे। वहां एक ऐसे दल की सत्ता थी, जो विदेशी प्रभाव का सख्त विरोधी था। कोरिया का राजा विदेशों से सम्पर्क का पक्षपाती था, अतः यह दल उसके भी खिलाफ था। परिणाम यह हुआ, कि १८८२ में कुछ कोरियन लोगों ने सिऊल (कोरिया की राजधानी) में विद्यमान जापानी डेलीगेशन पर आक्रमण किया। राजप्रासाद पर भी इन लोगों ने हमले किये। अनेक जापानी इस आक्रमण में मारे गये। इस दशा में जापानी सरकार को अवसर मिला, कि वह कोरिया को इस हत्याकाण्ड का प्रतिशोध करने के लिये विवश करे। जापान की शक्ति के सम्मुख कोरिया को सिर झुकाना पड़ा। कोरिया की सरकार ने हरजाने के रूप में एक भारी रकम जापान को देनी स्वीकार की, व्यापार के लिये जापान को कुछ और अधिक अधिकार प्रदान किये और यह भी मंजूर किया, कि एक जापानी सेना सिऊल में रहा करे।

जापान व अन्य विदेशी राज्य इस समय कोरिया में जिस ढंग से अपने प्रभाव व प्रभुत्व का विस्तार कर रहे थे, आखिर चीनी सरकार का ध्यान उसकी तरफ आकृष्ट हुआ। चीन की ओर से युआन शिकाई को कोरिया में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया। यह युआन शिकाई वही है, जो आगे चलकर मञ्चू वंश के पतन के बाद (१९१२) चीन का प्रथम राष्ट्रपति बना था। चीन की ओर से एक सेना भी कोरिया में शान्ति और व्यवस्था को स्थापित रखने के उद्देश्य से भेज दी गई। जापान की भी एक सेना इस समय कोरिया में विद्यमान थी। यह स्वाभाविक था, कि इन दोनों सेनाओं में परस्पर संघर्ष हो। इस समय कोरिया में दो दल थे। एक दल विदेशियों के सम्पर्क का विरोधी था। यह दल चीन की सहायता पर भरोसा रखता था। दूसरा दल विदेशियों के सम्पर्क का पक्षपाती था और आधुनिक ज्ञान विज्ञान को सीखकर कोरिया की उन्नति के लिये प्रयत्नशील था। इस दल को जापान की सहायता का सहारा था। १८८४ में कोरिया में स्थित

चीनी और जापानी सेनाओं में मुठभेड़ हो गई। पर इस समय स्थिति ने अधिक गम्भीर रूप धारण नहीं किया। १८८५ में कोरिया के प्रश्न पर चीन और जापान में परस्पर समझौता हो गया, और दोनों देशों ने कोरिया से अपनी अपनी सेनाओं को वापस बुला लिया।

यद्यपि १८८५ में चीन और जापान में समझौता हो गया था, पर इन दो देशों में विरोध की भावना कम नहीं हुई थी। इस समय जापान इतनी अधिक उन्नति कर चुका था, कि वह भी ब्रिटेन, फ्रांस, रूस आदि पाश्चात्य देशों के समान अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये उत्सुक था। जापान के लिये साम्राज्य विस्तार का सबसे उपयुक्त क्षेत्र चीन था। वह भलीभांति जानता था, कि चीन का विशाल साम्राज्य अन्दर से बहुत निर्बल है। चीन पर अपने आधिपत्य को स्थापित करने का जापान की दृष्टि में एक ही मार्ग था, और यह मार्ग कोरिया होकर जाता था। कोरिया में एक ऐसा दल भी विद्यमान था, जो चीन के प्रभाव में रहने की अपेक्षा जापान जैसे शक्तिशाली और प्रगतिशील देश को अपना नेता और संरक्षक मानने को तैयार था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि कोरिया के प्रश्न पर चीन और जापान में संघर्ष का सूत्रपात हो। कोरिया चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत था, पर जापान उसे अपने प्रभाव और प्रभुत्त्व में लाना चाहता था। इसी कारण १८९४-९५ में चीन और जापान के युद्ध का प्रारम्भ हुआ।

**चीन और जापान के युद्ध का कारण**—(१) कोरिया की आन्तरिक दशा अच्छी नहीं थी। उसका शासन विकृत और निर्बल था। वहां दलबन्दी का भी जोर था और ये विविध दल आपस में लड़ाई के लिये तत्पर रहते थे। जापान समझता था, कि कोरिया की दुरवस्था और अव्यवस्था हमारे लिये हानिकारक है, क्योंकि कोरिया जापान का पड़ोसी है, और पड़ोसी के घर में होनेवाली घटनाओं की उपेक्षा कर सकना हमारे लिये सम्भव नहीं है।

(२) रूस उत्तरी एशिया में अपने आधिपत्य को स्थापित कर चुका था और अब वह दक्षिण की ओर अपना प्रसार कर रहा था। रूस की दक्षिण-पूर्वी सीमा कोरिया से आ मिली थी और यह शक्तिशाली देश कोरिया में अपने प्रभाव को विस्तृत करने के लिये उत्सुक था। कोरियन सेना का पुनः संगठन करने के लिये रूसी अफसर नियुक्त किये गये थे और रूस की इस सहायता के बदले में कोरिया ने लजरफ का बन्दरगाह रूस के सुपुर्द कर दिया था, जहां उसके सब प्रकार के जहाज स्वतन्त्रता के साथ आ जा सकते थे। रूस जैसे शक्तिशाली राज्य का प्रभाव जिस ढंग से कोरिया में बढ़ रहा था, जापान उसे अत्यन्त चिन्ता की दृष्टि से देखता था। वह स्वयं कोरिया को अपने प्रभाव में रखना चाहता था। रूस कहीं कोरिया पर

अपना प्रभुत्व स्थापित न कर ले, इस भय से जापान उसे पहले अपने आधिपत्य में ले आना चाहता था।

(३) आर्थिक दृष्टि से भी जापान की कोरिया पर आंख थी। व्यावसायिक क्षेत्र में असाधारण उन्नति कर लेने के कारण जापान को भी अब यह फिक्र थी, कि कोई ऐसे प्रदेश अधिगत किये जावें, जहां वह अपने तैयार माल को निश्चिन्तता के साथ बेच सके और जहां से कच्चा माल सस्ते दामों पर उपलब्ध हो सकता हो। जापान की दृष्टि में चीन और कोरिया ही ऐसे प्रदेश थे जहां अपने आधिपत्य की स्थापना कर वह अपनी आर्थिक समस्या को हल कर सकता था। जापान के लिये चीन का मार्ग कोरिया होकर ही जाता था।

(४) १८८५ में चीन और जापान में जो समझौता हुआ था, चीन के अनेक राजनीतिज्ञ उससे असंतुष्ट थे। इस समझौते के अनुसार चीन और जापान दोनों ने ही कोरिया से अपनी सेनाओं को वापस बुला लेने की बात स्वीकृत की थी। इस प्रकार कोरिया में जापान और चीन की स्थिति एक समान हो गई थी। चीन के नेता कहते थे, कोरिया चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत है और वहां उसे अपनी सेनाएं रखने का अधिकार है। कोरिया में यदि अव्यवस्था हो, तो उसे दूर करने की अन्तिम उत्तरदायिता भी चीन पर ही है। अतः १८८५ के समझौते के विरुद्ध भावना चीन में निरन्तर प्रबल होती जा रही थी।

(५) १८५९ में कोरिया में एक नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ था, जिसे तोंग-हाक कहते थे। यह एक धार्मिक सम्प्रदाय था, जिसका निर्माण बौद्ध धर्म, कन्फ्युसियस और लाओ-त्से की शिक्षाओं को मिलाकर किया गया था। तोंग-हाक लोग कोरिया में विदेशी प्रभाव को नापसन्द करते थे और अपने विचारों के प्रचार में तत्पर थे। कोरिया की सरकार इस सम्प्रदाय के विरोध में थी और एक राजाज्ञा द्वारा इसके प्रचार कार्य को रोक दिया गया था। १८८३ में तोंग-हाक सम्प्रदाय के बहुत से नेताओं ने सरकार की सेवा में एक प्रार्थनापत्र भेजा, जिसमें यह आवेदन किया गया था, कि उनके सम्प्रदाय के विरुद्ध जो आज्ञा पहले प्रकाशित की जा चुकी है, उसे रद्द कर दिया जाय। कोरिया की सरकार ने इस प्रार्थनापत्र को स्वीकार नहीं किया। परिणाम यह हुआ, कि कोरिया में अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए। सरकार के लिये यह सुगम नहीं था, कि वह इस विद्रोह को शान्त कर सके। ईसाई मिशनरियों और विदेशी व्यापारियों के खिलाफ जो भावना कोरिया में विद्यमान थी, उसने तोंग-होक लोगों की सहायता की और इस विद्रोह ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। इस दशा में कोरिया की सरकार के सम्मुख एक ही उपाय था, वह यह कि चीन से सहायता की याचना की जाय। चीन की एक सेना कोरिया पहुंच गई, जिसमें

कुल मिलाकर १५०० सैनिक थे। १८८५ के समझौते के अनुसार चीनी सेना के कोरिया भेजने के सम्बन्ध में जापान को भी सूचना दे दी गई। जब यह समाचार जापान को मिला, तो उसने भी अपनी एक अच्छी बड़ी सेना सिऊल भेज दी। चीन और जापान दोनों की सेनाएं अब कोरिया पहुंच गई थीं। तोंग-हाक विद्रोह को शान्त हुए पर्याप्त समय हो चुका था। अब इस बात का कोई कारण नहीं था, कि चीनी सेना कोरिया में रहे। चीन की सरकार ने कहा, हमारी सेनाएं तभी कोरिया से वापस लौटेंगी, जब जापान भी अपनी सेनाओं को वहां से वापस बुला लेगा। सेनाओं को लौटाने के सम्बन्ध में चीन और जापान में समझौता नहीं हो सका। इस दशा में मामले को निबटाने का एक ही उपाय था, वह यह कि दोनों देश युद्धक्षेत्र में अपनी शक्ति को आजमावें।

जिन कारणों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनसे जापान कोरिया को अपने प्रभाव में लाना चाहता था। चीन समझता था, कि कोरिया उसके साम्राज्य के अन्तर्गत है और वहां किसी अन्य देश को अपने प्रभाव का विस्तार करने का अधिकार नहीं है। यही बात इन दोनों देशों के युद्ध का कारण हुई।

**१८९४–९५ का युद्ध**—जापान की स्थल व जलसेनाएं भलीभांति संगठित थीं। उनके पास नये ढंग के सब प्रकार के अस्त्र शस्त्र विद्यमान थे। यद्यपि जापान एक छोटा सा देश है और उसकी सेना में सैनिकों की संख्या भी अधिक नहीं थी, पर आधुनिक ज्ञान विज्ञान को पूर्णतया अपना लेने के कारण जापान की सैन्यशक्ति चीन के मुकाबले में बहुत अधिक उत्कृष्ट थी। विशालकाय चीन और उसकी विशाल सेना जापान का मुकाबला कर सकने में असमर्थ थी। सबसे पहले जापान की जलसेना ने चीन के समुद्रतट पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित किया। यालू नदी के मुहाने पर चीन का जहाजी बेड़ा जापान द्वारा बुरी तरह से परास्त हुआ। अब चीन के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह जापानी सेनाओं को चीन में उतरने देने में किसी प्रकार बाधा डाल सके। चीन की जलसेना को परास्त कर जापानी सेनाएं कोरिया में प्रविष्ट हुईं। कोरिया के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह जापान का मुकाबला कर सके। उस पर जापान का अधिकार हो गया। कोरिया से जापानी सेनाओं ने मञ्चूरिया की ओर प्रस्थान किया। वहां भी चीनी सेनाएं बुरी तरह से परास्त हुईं। अब चीन के मध्यदेश पर आक्रमण करने के लिये मार्ग खुल गया था। मञ्चू सरकार ने अनुभव किया, कि जापान के साथ युद्ध को जारी रखना निरर्थक है। उसने सन्धि का प्रस्ताव किया।

**शिमोनोसेकी की सन्धि**—जापान से सन्धि करने का कार्य लि-हुंग-चांग के सुपुर्द किया गया। यह चीन का प्रमुख राजनीतिज्ञ था और उत्तरी चीन में वायस-

राय के पद पर विराजमान था। कोरिया के विषय में पिछले सालों में जिस नीति का निर्धारण चीनी सरकार ने किया था, उसका निश्चय लि-हुंग-चांग द्वारा ही किया गया था। लि-हुंग-चांग के प्रयत्न से जापान के साथ जो सन्धि इस समय हुई, वह शिमोनोसेकी की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) लिआओ नदी के पूर्व का मन्चूरिया का प्रदेश (लिआओ तुंग) जापान को दे दिया जाय। (२) फार्मूसा का विशाल द्वीप जापान को मिले। (३) पेस्का-दोरस द्वीपसमूह पर जापान के अधिकार को स्वीकृत किया जाय। (४) चीन हरजाने के रूप में भारी रकम जापान को दे, जब तक यह रकम वसूल न हो जाय वेईहाईवेई के बन्दरगाह पर जापान का कब्जा रहे। (५) कोरिया को स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्वीकृत किया जाय और चीन का उसपर किसी भी प्रकार का प्रभुत्व न रहे। (६) चार नये बन्दरगाहों को जापान के व्यापार के लिये खोल दिया जाय। पाश्चात्य देशों के साथ जो सन्धियां पहले हो चुकी थीं, उन सबमें यह व्यवस्था रखी गई थी, कि उन्हें वे सब सुविधाएं रहेंगी, जो किसी भी अन्य राज्य को प्राप्त होंगी। इसके कारण ये चार नये बन्दरगाह अन्य राज्यों के लिये भी खुल गये।

**यूरोपियन राज्यों का विरोध**—शिमोनोसेकी की सन्धि द्वारा लिआओ तुंग का प्रदेश जापान को दिया गया था। यह बात रूस को अत्यन्त आपत्तिजनक प्रतीत हुई। रूस की सीमा मन्चूरिया से मिलती थी और वह स्वयं इस क्षेत्र में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने के लिये उत्सुक था। जापान जैसे शक्तिशाली राज्य के लिआओ तुंग पर कब्जा कर लेने से अब उसके लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह मन्चूरिया व कोरिया की दिशा में अपने प्रभुत्व का विस्तार कर सके। रूस ने लिआओ तुंग पर जापानी प्रभुत्व का विरोध शुरू किया। इस विरोध में फ्रांस ने रूस का साथ दिया। १८९३ में रूस और फ्रांस में एक सन्धि हो गई थी, जो इतिहास में 'ड्यूएल एलायन्स' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके कारण यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस और फ्रांस के सम्बन्ध बहुत अधिक घनिष्ठ हो गये थे। जर्मनी भी इस समय तक साम्राज्यवाद के क्षेत्र में आगे बढ़ने लग गया था। प्रिंस बिस्मार्क के नेतृत्व में जब विविध जर्मन राज्य एक साम्राज्य के रूप में संगठित हो गये थे, तो उसके लिये यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि वह भी अपनी राष्ट्रीय शक्ति के विस्तार के लिये तत्पर हो। जर्मनी ने भी इस अवसर पर जापान के खिलाफ रूस और फ्रांस का समर्थन किया। इन तीन शक्तिशाली राज्यों के विरोध के कारण जापान ने लिआओतुंग पर से अपने अधिकार का परित्याग कर दिया और उसके बदले में चीन से हरजाने की एक अतिरिक्त रकम प्राप्त की।

**चीन-जापान के युद्ध का परिणाम**—१८९४-९५ के युद्ध ने इस बात को स्पष्ट कर दिया, कि विशालकाय चीनी साम्राज्य सैनिक दृष्टि से अत्यन्त निर्बल है। अब तक पाश्चात्य देशों को यह साहस नहीं होता था, कि वे चीन पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने का उद्योग करें। चीन की शक्ति के सम्बन्ध में उनकी जो धारणा इस युद्ध से पहले थी, वह अब नष्ट हो गई। उनमें अब यह प्रवृत्ति हुई, कि जापान का अनुसरण कर वे भी चीन को अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का शिकार बनावें। इसी का यह परिणाम हुआ, कि जापान, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि सब यूरोपियन देश चीन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये तत्पर हुए।

## (२) चीन में रूस की शक्ति का विस्तार

यूरोप के जो राज्य इस समय चीन में अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिये प्रवृत्त हुए, उनमें रूस का स्थान सबसे प्रमुख है। लिआओ तुंग से जापान ने अपना कब्जा हटा लिया था। इस दशा में रूस के लिये यह सर्वथा सुगम था, कि वह मञ्चूरिया की दिशा में अपने प्रभाव का प्रसार करे। लिआओतुंग को जापान के कब्जे से मुक्त कराने में रूस ने प्रमुख रूप से कर्तृत्व को प्रदर्शित किया था। इस कारण पेकिंग की चीनी सरकार में उसका प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। अब तक पेकिंग में ग्रेट ब्रिटेन का प्रभाव सबसे अधिक था। पाश्चात्य देशों ने विविध सन्धियों द्वारा चीन में जो अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त किये थे, उनका श्रीगणेश ब्रिटेन द्वारा ही हुआ था। चीन के विदेशी व्यापार में ब्रिटेन का प्रमुख स्थान था। पर १८९५ के बाद चीन की सरकार पर रूस का प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया। लिआओ तुंग के प्रदेश को फिर से चीन को दिलवाकर रूस ने यह प्रदर्शित करना शुरू किया, कि वह वस्तुतः चीन का मित्र है, और चीन सदा उसकी सहायता व पक्षसमर्थन पर निर्भर रह सकता है। यदि भविष्य में किसी भी विदेशी राज्य ने चीन के सुविस्तृत प्रदेशों में से किसी पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया, तो उसका मुकाबला करने में वह चीन की सहायता करने में संकोच नहीं करेगा। इस प्रकार शिमोनोसेकी की सन्धि के बाद रूस और चीन के सम्बन्ध बहुत मित्रतापूर्ण हो गये थे।

१८९४ में रूस के राजसिंहासन पर जार निकोलस द्वितीय आरूढ़ हुआ। मई, १८९६ में रूस की राजधानी सेण्ट पीटर्सबुर्ग में निकोलस द्वितीय का राज्याभिषेक होना था। इसमें सम्मिलित होने के लिये चीन के प्रतिनिधियों को भी आमन्त्रित किया गया। चीनी सरकार की ओर से इस कार्य के लिये लि हुंग चंग को चुना गया। रूस के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ काउण्ट वीटे ने लि हुंग चंग से चीनी साम्राज्य

के सम्बन्ध में विशद रूप से बातचीत की। काउण्ट वीटे ने चीन के प्रतिनिधियों को समझाया, कि विदेशी राज्यों से अपने देश की रक्षा करने का सबसे उत्तम उपाय यही है, कि चीन रूस को अपना मित्र समझे और उसकी सहायता पर निर्भर करे। लि हुंग चंग और काउण्ट वीटे ने बातचीत द्वारा एक नई सन्धि की, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं---(१) यदि जापान पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति को बढ़ाने का यत्न करते हुए चीन या रूस के साथ लड़ाई शुरू करे, तो ये दोनों राज्य एक दूसरे की सहायता करें। (२) जापान के साथ युद्ध की दशा में रूस को यह अधिकार हो, कि वह चीन के बन्दरगाहों का पूर्णरूप से उपयोग कर सके व युद्ध की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर चीन में अन्य सुविधाएं प्राप्त कर सके। (३) रूस को यह अनुमति दी जाय, कि वह उत्तरी मञ्चूरिया में एक रेल्वे लाइन का निर्माण कर सके। उत्तरी एशिया में रूस इस समय ट्रांस-साइबीरियन रेल्वे के निर्माण में तत्पर था। इस सुदीर्घ रेल्वे लाइन का निर्माण १८९१ में प्रारम्भ हुआ था। रूस की यह इच्छा थी, कि यह लाइन पूर्व में ब्लादीवोस्तॉक के बन्दरगाह तक पहुंच जावे। रूस के अपने प्रदेशों में से जो रेल्वे लाइन ब्लादीबोस्तॉक तक जा सकती थी, उसमें बहुत चक्कर पड़ता था। अतः रूस ने चीन से इस बात की अनुमति ली, कि हार्बिन से ब्लादीबोस्तॉक तक रेल्वे लाइन का वह निर्माण कर सके। यह लाइन एक हजार मील तक चीन के साम्राज्य में से होकर गुजरती थी। साथ ही रूस को चीन ने यह भी अनुमति दी, कि इस रेल्वे की एक ब्राञ्च दक्षिण में पोर्ट आर्थर (लिआओ तुंग प्रायद्वीप में) तक बनाई जा सके। (४) १८९४-९५ के युद्ध के बाद शिमोनोसेकी की सन्धि के अनुसार हरजाने की जो भारी रकम चीन ने जापान को देनी थी, उसे अदा करने में रूस चीन की सहायता करे। इस शर्त के अनुसार इस समय रूस ने चीन को एक अच्छी बड़ी धनराशि कर्ज के रूप में प्रदान की।

मञ्चूरिया में रेल्वे लाइन का निर्माण करने के लिये जिस धनराशि की आवश्यकता थी, उसकी व्यवस्था करने के लिये रूसो-चाइनीज बैंक का संगठन किया गया। इसी बैंक की मदद से मञ्चूरिया में टैलीग्राफ की लाइनों का भी विस्तार किया गया। रेल्वे लाइन का निर्माण करने और उस पर रेलगाड़ियों को चलाने के लिये एक पृथक् कम्पनी की स्थापना की गई, जिसमें रूसी सरकार और रूसी धनपतियों ने बहुत उदारता के साथ रुपया लगाया। रेल्वे लाइन के समीपवर्ती प्रदेशों में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने का कार्य भी इस कम्पनी के सुपुर्द किया गया। यह भी व्यवस्था की गई, कि इस चाइनीज ईस्टर्न रेल्वे पर कम्पनी का अधिकार ८० साल तक कायम रहे, और उसके बाद इसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति पर

चीनी सरकार का प्रभुत्व कायम हो जाय और इसके लिये चीन को कोई मुआवजा देने की आवश्यकता न हो।

हार्बिन-व्लादीवोस्तॉक रेलवे के निर्माण के कारण उत्तरी मन्चूरिया का आर्थिक दृष्टि से बहुत विकास हुआ। पर साथ ही इससे मन्चूरिया में रूस के प्रभाव व प्रभुत्व की भी स्थापना हो गई। जिस प्रकार अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में रूस ने साइबीरिया के सुविस्तृत प्रदेशों पर अपना प्रभाव स्थापित किया था, वैसे ही अब उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में उसने मन्चूरिया में भी अपने प्रभाव को विस्तृत करना शुरू किया। इस प्रदेश में आवागमन का जो सबसे अधिक सुविधा-जनक साधन था, वह रूस के कब्जे में था, अतः यहां अपना आर्थिक व राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर सकना भी उसके लिये अत्यन्त सुगम हो गया। रूस ने इस अवसर का पूरी तरह से उपयोग किया।

## (३) जर्मनी की शक्ति का विस्तार

शिमोनोसेकी की सन्धि में संशोधन कर लिआओ-तुंग के प्रदेश को जापान के कब्जे से मुक्त कराने में जर्मनी ने भी चीन की सहायता की थी। अतः उसकी भी यह इच्छा थी, कि चीन के इस पक्षसमर्थन से लाभ उठाकर अपने लिये कुछ विशेष सुविधाएं प्राप्त करे। १८९७ में जर्मनी ने अन्य राज्यों को सूचना दी, कि वह चीन में एक ऐसे स्थान को प्राप्त करने के प्रयत्न में है, जहां उसके जहाज अपने अड्डा बना सकें और जहां उन्हें मरम्मत व रसद आदि की पूर्ण सुविधा हो। इसी बीच में दो जर्मन पादरियों की चीन में हत्या हो गई। अब क्या था, जर्मनी को अपनी इच्छा पूर्ण करने का सुवर्णीय अवसर हाथ लग गया। जर्मन सरकार की ओर से पेकिंग की सरकार के सम्मुख निम्नलिखित मांगें पेश की गईं—(१) त्सिंग ताओ (उत्तरी चीन में) के बन्दरगाह को ९९ साल के पट्टे पर जर्मनी को दिया जाय। साथ ही कियाऊ-चाऊ की खाड़ी पर भी जर्मनी के अधिकार को स्वीकृत किया जाय। (२) शांतुंग के प्रदेश में जर्मनी को रेलवे लाइन बनाने का अधिकार मिले और इस प्रदेश में जो कोई भी खानें हों, उन्हें विकसित करने का अधिकार केवल जर्मनी को रहे। (३) जर्मन पादरियों की हत्या के लिये चीन जर्मनी को हरजाना दे। साथ ही, इन मांगों को पेश करने से पूर्व त्सिंग ताओ के बन्दरगाह पर कब्जा करने के लिये जो कुछ खर्च जर्मन सल्तनत को करना पड़ा था, वह सब भी चीन की सरकार उसे प्रदान करे।

जर्मनी की इन मांगों को अस्वीकृत कर सकने की शक्ति चीन में नहीं थी। ६ मार्च, १८९८ को चीन और जर्मनी में सन्धि की गई, जिसके अनुसार कियाओ-

चाओ की खाड़ी, त्सिंग ताओ बन्दरगाह और उसके समीपवर्ती प्रदेश जर्मनी को ९९ साल के पट्टे पर प्राप्त हुए। नाम को ये प्रदेश अब भी चीन के सम्राट् के अधीन रहे, पर सन्धि में इस बात को भलीभांति स्पष्ट कर दिया गया, कि चीनी सरकार इन प्रदेशों में शासन सम्बन्धी किसी अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकती। साथ ही शांतुंग प्रदेश में रेलवे लाइन का निर्माण करने और वहां खानों की खुदाई के सम्बन्ध में अनेक विशेषाधिकार जर्मनी को दिये गये। इस प्रकार १८९८ में जर्मनी ने चीन के कतिपय प्रदेशों में अपने राजनीतिक प्रभुत्व को स्थापित किया।

## (४) चीन में अन्य राज्यों की शक्ति का विस्तार

**ग्रेट ब्रिटेन**—रूस और जर्मनी ने जिस प्रकार चीन के विविध प्रदेशों में अपने विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये थे, उसके कारण अन्य राज्यों में भी यह प्रवृत्ति हुई, कि चीन की निर्बलता से लाभ उठाकर अपने लिये इसी ढंग के विशेषाधिकारों को प्राप्त करें। ब्रिटेन ने चीन से यह मांग की, कि (१) वेई हाई वेई का बन्दरगाह उसे पट्टे पर दिया जाय। (२) चीन यह घोषणा करे, कि यांगत्से नदी के समीपवर्ती प्रदेशों में किसी अन्य राज्य को विशेषाधिकार नहीं दिये जावेंगे। (३) विदेशी व्यापार के आयात व निर्यात माल पर कर एकत्रित करने के लिये जो चाइनीज मैरीटाइम कस्टम्स सर्विस स्थापित है, उसका अध्यक्ष सदा कोई अङ्गरेज ही रहे। (४) हांगकांग पर इस समय ब्रिटेन का आधिपत्य था, उसके सामने का चीनी प्रदेश भी ब्रिटेन को पट्टे पर दिया जाय। चीनी सरकार के लिये यह सम्भव नहीं था, कि ब्रिटेन की इन मांगों का विरोध कर सके। उसने उन्हें स्वीकृत कर लिया।

**फ्रान्स**—ब्रिटेन के बाद फ्रांस ने चीनी सरकार से अनेक नई सुविधाएं प्राप्त कीं। ये सुविधाएं निम्नलिखित थीं—(१) चीन की सरकार ने स्वीकृत किया, कि हैनान द्वीप किसी अन्य राज्य को नहीं दिया जायगा। (२) यूनान, क्वांगसी और क्वांगतुंग के प्रदेशों में खानें खोदने तथा अन्य प्रकार आर्थिक साधनों को विकसित करने का अधिकार केवल फ्रांस को रहे। (३) फ्रांस ने अनाम में जिस रेलवे लाइन का निर्माण शुरू किया था, उसे दक्षिणी चीन में भी विस्तृत करने का उसे अधिकार हो। (४) क्वांग-चोऊ की खाड़ी व उसका समीपवर्ती प्रदेश फ्रांस को ९९ साल के पट्टे पर दिया जाय।

**जापान**—ब्रिटेन और फ्रांस का अनुसरण कर अब जापान ने भी चीन में अनेक विशेषाधिकार प्राप्त किये। इनमें सबसे मुख्य यह था, कि फार्मूसा के सामने चीन का

जो फूकिएन प्रदेश है, वहां जापान के अतिरिक्त किसी अन्य देश को आर्थिक विकास कर सकने का अधिकार न दिया जाय।

**इटली**—इटली भी इस समय इस बात के लिये प्रयत्नशील था, कि चीन में कुछ विशेष अधिकार प्राप्त करे। इटली के विविध राज्यों को एक सूत्र में संगठित कर शक्तिशाली इटालियन राष्ट्र के विकास की जो प्रक्रिया नैपोलियन के युद्धों के बाद प्रारम्भ हुई थी, वह १८७० में पूरी हो गई थी। अब इटली भी अपने साम्राज्य का निर्माण करने के लिये तत्पर था। उसने भी चीन की निर्बलता से लाभ उठाकर अपनी कुछ मांगें पेश कीं, पर चीनी सरकार ने उन्हें स्वीकृत करने से इनकार कर दिया। १९०० के बाद इटली को चीन में अपने प्रभाव को विस्तृत करने के लिये फिर अवसर मिला। इस पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

**सुविधाओं का स्वरूप**—ब्रिटेन, रूस, जापान आदि देश चीन में जिस प्रकार की सुविधाएं प्राप्त कर रहे थे, उनके कारण इन देशों का वहां एक विशेष प्रकार का प्रभावक्षेत्र विकसित होता जाता था। इन प्रभावक्षेत्रों में ब्रिटेन, रूस आदि देश आर्थिक हित तो अविकल रूप से प्राप्त कर लेते थे, पर राजनीतिक दृष्टि से चीन का प्रभुत्त्व कायम रहता था। क्योंकि चीन की राजशक्ति इस समय बहुत निर्बल थी, अतः शासन के सम्बन्ध में भी वह विदेशियों के इन प्रभावक्षेत्रों में अपने अधिकारों के उपयोग में असमर्थ रहती थी। विशेषतया जो प्रदेश विदेशी राज्यों ने ९९ साल के पट्टे पर प्राप्त कर लिये थे, वहां तो क्रियात्मक दृष्टि से चीन के प्रभुत्त्व का अन्त ही हो जाता था। विदेशी राज्यों के लिये यह सर्वथा सुगम था, कि वे इन प्रदेशों पर अपने राजनीतिक स्वत्त्व की स्थापना कर लें। इस प्रकार चीन में एक नये प्रकार के साम्राज्यवाद का विकास हो रहा था, जिसका स्वरूप आर्थिक था। १८४२ और १८६० में विविध विदेशी राज्यों ने चीन के साथ जो सन्धियां की थीं, उनके कारण चीन के बहुत से बन्दरगाह विदेशियों के प्रभाव में आ गये थे। अब उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में तो इन विदेशी राज्यों के प्रभुत्त्व व प्रभाव का चीन में और भी अधिक विस्तार हो गया था। ये विदेशी राज्य जहां एक तरफ चीन की सरकार से अपने लिये विशेष सुविधाओं को प्राप्त कर लेने के लिये प्रयत्नशील थे, वहां साथ ही आपस में भी इनमें प्रतिस्पर्धा जारी थी। इस प्रकार चीन विविध विदेशी राज्यों के साम्राज्य विस्तार सम्बन्धी संघर्ष का क्षेत्र बनता जाता था।

**अमेरिका की नीति**—उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक संयुक्तराज्य अमेरिका में व्यावसायिक क्रान्ति ने बहुत अधिक प्रभाव उत्पन्न नहीं किया था। पर इस समय (उन्नीसवीं सदी के अन्त) तक अमेरिका संसार के सर्व प्रधान व्यावसायिक देशों में गिना जाने लगा था। जिन कारणों ने ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि को साम्राज्य-

विस्तार के लिये प्रेरित किया था, वे अमेरिका में भी विद्यमान थे। १८९८ में स्पेन और अमेरिका में युद्ध हुआ। इसमें स्पेन की बुरी तरह से पराजय हुई और अनेक प्रदेश उसकी अधीनता से निकलकर अमेरिका के हाथ में आ गये। फिलिप्पीन द्वीप समूह भी इनमें से एक था। फिलिप्पीन के अधिगत कर लेने के बाद अमेरिका का साम्राज्य प्रशान्त महासागर में भी विस्तृत हो गया था और अब उसके लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह चीन की राजनीतिक घटनाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देख सके। विविध विदेशी राज्य जिस ढंग से चीन में अपने प्रभाव का विस्तार कर रहे थे, अमेरिका उसे अपनी आंखों से ओझल नहीं कर सकता था। अतः १८९९ में अमेरिका की ओर से इङ्गलैण्ड, फ्रांस, इटली, जर्मनी, रूस और जापान की सरकारों के पास एक विज्ञप्ति भेजी गई, जिसमें निम्नलिखित बातों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया गया था---(१) चीन के विविध बन्दरगाहों में व्यापार आदि के सम्बन्ध में जो अधिकार विदेशी राज्यों को प्राप्त हैं, उनका उल्लंघन नहीं किया जाय, चाहे अब ये बन्दरगाह किसी एक विदेशी राज्य के प्रभावक्षेत्र में आ चुके हों। (२) चीन के साथ हुई सन्धियों द्वारा आयात व निर्यात माल पर टैक्सों की जो दर पहले निश्चित हो चुकी है, उनका कोई राज्य उल्लंघन न करे। यदि कोई बन्दरगाह किसी विदेशी राज्य के प्रभावक्षेत्र में हो, तब भी वह अन्य सबके साथ-नटकर के मामले में एक सदृश व्यवहार करे और अन्य राज्यों के जहाजों के आवागमन के सम्बन्ध में कोई रुकावट न डाले। (४) किसी राज्य के प्रभावक्षेत्र के अन्तर्गत बन्दरगाहों में जब अन्य राज्यों के जहाज आवें, तो उनसे बन्दरगाह का खर्च अपनी अपेक्षा अधिक न लिया जाय।

इस समय अमेरिका इस नीति का प्रतिपादन कर रहा था, कि चीन के बन्दरगाहों में व्यापार की जो सुविधाएं व विशेषाधिकार विदेशी राज्यों ने पहले प्राप्त किये हुए थे, प्रभावक्षेत्रों के कायम हो जाने से उनमें किसी प्रकार का अन्तर न पड़े। ब्रिटेन भी इस समय इसी नीति का समर्थक था। यद्यपि उसने स्वयं चीन के अनेक प्रदेशों में अपने प्रभावक्षेत्र को कायम कर लिया था, तो भी उसका हित इस बात में था, कि चीन के विविध बन्दरगाह सब विदेशी राज्यों के लिये समान रूप से खुले रहें। इसका कारण यह था, कि ब्रिटेन का चीन में व्यापार अन्य सब राज्यों की अपेक्षा बहुत अधिक था। रूस, फ्रांस, जापान आदि ने इस समय चीन में अपने अपने प्रभावक्षेत्र कायम कर लिये थे। यदि ये देश अपने इन प्रभावक्षेत्रों में अन्य राज्यों के व्यापार में रुकावट डालने का प्रयत्न करते, तो इससे सबसे अधिक नुकसान ब्रिटेन को पहुंचता। यही कारण है, कि इस समय ब्रिटेन और अमेरिका की चीन के सम्बन्ध में एक ही नीति थी और ये दोनों शक्तिशाली राज्य इस बात के लिये प्रयत्नशील थे,

कि विविध विदेशी राज्यों ने चीन में जो प्रभावक्षेत्र कायम किये हैं, उनका रूप आर्थिक ही रहे और वे इन राज्यों के राजनीतिक आधिपत्य में न आ जावें। अमेरिका और ब्रिटेन की इस नीति के कारण उन्नीसवीं सदी के इस अन्तिम भाग में विदेशी राज्य चीन में अपनी प्रभुता का और अधिक विस्तार नहीं कर सके।

## (५) सुधार के प्रयत्न

१८९४-९५ के युद्ध में जापान से परास्त होकर चीन के लोगों ने अपनी दुर्दशा को अच्छी तरह से अनुभव कर लिया था। विविध विदेशी राज्य जिस प्रकार चीन में अपने प्रभावक्षेत्र कायम करने में तत्पर थे, चीन के लोग इससे भी बहुत चिन्तित थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि चीन में ऐसे दलों का प्रादुर्भाव हो, जिनका उद्देश्य देश की राजनीतिक दुर्बलता को दूर कर शक्ति का संचार करना हो। पाश्चात्य देशों के आधुनिक ज्ञान विज्ञान से अब चीनी लोग भी अपरिचित नहीं रहे थे। अनेक चीनी युवक विदेशों में जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त करके वापस आये थे और इनका यह प्रयत्न था कि अपने देश की दशा का सुधार करें। सुधार के पक्षपाती इन दलों में डा० सन यात सेन के दल का विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक है। डा० सन यात सेन के पिता ने क्रिश्चियन धर्म को स्वीकार कर लिया था और अपने पुत्र को हवाई और हांगकांग के विदेशी शिक्षणालयों में पढ़ाया था। पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आकर डा० सन यात सेन के हृदय में यह आकांक्षा प्रबलरूप से उत्पन्न हो गई थी, कि चीन को भी फ्रांस, ब्रिटेन आदि के समान उन्नत और समृद्ध होना चाहिये। जापान का उदाहरण उसके सम्मुख था। १८९५ में उसने कैन्टन में एक विद्रोह का नेतृत्व किया। पर इसमें उसे सफलता नहीं हो सकी। उसे चीन छोड़कर विदेशों में आश्रय लेना पड़ा। उसे गिरफ्तार करने के लिये चीनी सरकार ने एक इनाम की घोषणा की थी।

सुधार के पक्षपाती चीनी लोगों में कांग यू वेई का उल्लेख करना भी आवश्यक है। वह डा० सन यात सेन के समान क्रान्तिकारी नहीं था। उसका विचार था, कि क्रान्ति के मार्ग का आश्रय लेकर चीन का उद्धार नहीं किया जा सकता। चीन को सुधार के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये और देश के शासन में सुधार कर वैध राजसत्ता की स्थापना करनी चाहिये। इसी प्रकार चीन के दो प्रमुख राज-पदाधिकारी चांग चिह-तुंग और लियु कुन-यी भी सुधारवादी दल के साथ सम्बन्ध रखते थे। चांग-चिह-तुंग ने एक पुस्तक लिखी थी, जिसका नाम था 'शिक्षा ओ'। इसमें उसने प्रतिपादित किया था, कि चीन को पश्चिमी देशों से ज्ञान विज्ञान की शिक्षा लेकर अपनी उन्नति करनी चाहिये, अन्यथा उसकी भी वही गति होगी,

जो कि भारत, अनाम, ईजिप्ट आदि की हुई है। चांग चिह्-तुंग की पुस्तक का बहुत प्रचार हुआ और उसके कारण चीन में सुधार के आन्दोलन को बहुत बल मिला।

यद्यपि डा० सन यात सेन को क्रान्ति के प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी थी, पर सुधारवादी लोगों की शक्ति निरन्तर बढ़ती जाती थी। सम्राट् कुआंग ह्सू की इन सुधारवादियों के साथ सहानुभूति थी। १८८७ में कुआंग ह्सू वयस्क हो गया था और साम्राज्ञी त्सू ह्सी के प्रभाव व संरक्षा से विमुक्त होकर स्वयं राज्य-कार्य की देखरेख करने लगा था। १८९८ में प्रसिद्ध सुधारवादी नेता कांग यू-वेई के साथ उसका सम्पर्क स्थापित हुआ और उसने यह निश्चय किया, कि चीन को सुधार के मार्ग पर आगे बढ़ाने का पूरा प्रयत्न किया जायगा। इसीलिये जून १८९८ से सितम्बर १८९८ तक सम्राट् कुआंग ह्सू की तरफ से अनेक नई आज्ञाएँ प्रकाशित की गईं, जिनका उद्देश्य चीन के शासन में सुधार करना था। इन राजाज्ञाओं में केवल शासन सम्बन्धी सुधारों का ही आदेश नहीं दिया गया था, अपितु यह भी व्यवस्था की गई थी, कि चीन में शिक्षा का विस्तार किया जाय, छोटे और बड़े सब प्रकार के शिक्षणालयों की स्थापना की जाय, और उच्च शिक्षा के लिये एक विश्व-विद्यालय की भी स्थापना हो। चीन में रेलवे लाइनों का विस्तार किया जाय और जहाजों के निर्माण का भी उद्योग हो। सम्राट् कुआंग ह्सू द्वारा आदिष्ट सब सुधार यदि क्रिया में परिणत हो सकते, तो निःसन्देह चीन में असाधारण उन्नति हो जाती।

पर अभी चीन में सुधार के विरोधियों की कमी नहीं थी। विशेषतया सरकारी पदाधिकारी और राजकर्मचारी सम्राट् द्वारा प्रकाशित आज्ञाओं के सख्त खिलाफ थे। शासन सुधार के लिये जो व्यवस्थाएँ सम्राट् ने की थीं, उनसे इस वर्ग की सत्ता में बहुत अन्तर आता था। साम्राज्ञी त्सू ह्सी ने सुधार के विरोधियों का साथ दिया। सत्ताईस साल तक वह चीन के शासन का संचालन कर चुकी थी। ब्रिटेन, फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों के प्रति उसके हृदय में उत्कट घृणा थी। १८५८ और १८६० की घटनाओं का उसे भलीभांति स्मरण था। उसका विचार था, कि पाश्चात्य देशों का अनुसरण करने से चीन की हानि है। चीन का हित इसी बात में है, कि इन विदेशी राज्यों को अपने से दूर रखे और पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में न आकर अपनी प्राचीन मर्यादा का पालन करे। साम्राज्ञी त्सू ह्सी ने सुधारों का विरोध करना शुरू किया और पेकिंग की सरकार ने यह अनुभव किया, कि त्सू ह्सी को गिरफ्तार किये बिना सुधार सम्बन्धी आज्ञायें क्रिया में परिणत नहीं की जा सकेंगी। यह कार्य युआन शी काई के सुपुर्द किया गया। सुधारवादी लोग समझते थे, कि युआन शी काई की सहानुभूति सुधारों के पक्ष में है। उसे चिहली प्रान्त का सूबेदार नियत किया गया और यह आदेश दिया गया कि तीन्त्सिन

पर अपना आधिपत्य स्थापित करके वहां के राजप्रासाद पर आक्रमण करे और साम्राज्ञी को गिरफ्तार कर ले। पर तीन्त्सिन जाकर युआन शी काई साम्राज्ञी के साथ मिल गया। अब साम्राज्ञी त्सू ह्सी की सेनाओं ने सम्राट् पर आक्रमण किया और उसे गिरफ्तार कर लिया। सम्राट् कुआंग ह्सू का शेष जीवन कैदी के रूप में व्यतीत हुआ।

अब सारी शासन शक्ति एकबार फिर साम्राज्ञी त्सू ह्सी के हाथों में आ गई। सम्राट् कुआंग ह्सू को इस बात के लिये विवश किया गया, कि वह एक नई आज्ञा प्रकाशित करे, जिसमें यह लिखा हो, कि देश के हित को दृष्टि में रखकर मैंने साम्राज्ञी त्सी ह्सू से प्रार्थना की है, कि वह राज्य कार्य को फिर से संभाल लें और उन्होंने अत्यन्त कृपापूर्वक मेरी इस प्रार्थना को स्वीकृत कर लिया है। इस प्रकार शासन-सूत्र को फिर से अपने हाथों में लेकर साम्राज्ञी ने उन सब राजाज्ञाओं को रद्द किया, जो १८९८ में प्रकाशित की गई थीं। इस समय बहुत से सुधारवादी चीनी नेता गिरफ्तार किये गये और बहुतों ने चीन से भागकर अपनी जान बचाई। कांग यू वेई पेकिंग से भागकर जापान पहुंचने में समर्थ हुआ और उसने वहां जाकर सुधार के पक्ष में अपने आन्दोलन को जारी रखा। सुधारवादी नेताओं में से कुछ को इस समय प्राणदण्ड भी दिया गया।

सुधारों का आश्रय लेकर चीन में नवजीवन का संचार करने का जो प्रयत्न सम्राट् कुआंग ह्सू की संरक्षा में प्रारम्भ हुआ था, उसका इस प्रकार बुरी तरह से अन्त हुआ। इसमें सन्देह नहीं, कि इस समय मन्चू शासन इतना विकृत हो चुका था और चीन के विविध राज्यपदाधिकारी अपने कर्तव्यों से इतने अधिक विमुख हो गये थे, कि क्रान्ति के बिना चीन के विकृत शासन का अन्त सम्भव नहीं था। यही कारण है, कि १९११ में राज्यक्रान्ति द्वारा मन्चू शासन का अन्त हुआ और उसके साथ ही नवीन चीन के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ।

## (६) बोक्सर विद्रोह

चीन में विदेशी लोगों का प्रभाव जिस ढंग से बढ़ रहा था, उसी के कारण विविध चीनी देशभक्तों में अपने देश के सुधार की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हुई थी। सुधार के पक्षपातियों के प्रयत्नों को सफलता नहीं मिल सकी। पर इससे विदेशी लोगों के प्रति विरोध व विद्वेष की भावना कम नहीं हुई। चीन के सभी लोग, चाहे वे सुधारों के पक्षपाती हों या विरोधी हों, विदेशियों से विद्वेष रखते थे। ईसाई पादरियों के गिरजाघर, विदेशियों द्वारा बनाई गई रेलवे लाइनें और पाश्चात्य लोगों द्वारा स्थापित बैंक व कम्पनियां चीनी लोगों की आंखों में कांटे की तरह से चुभती

थीं। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि विदेशियों के प्रति विद्वेष की भावना एक विद्रोह के रूप में प्रकट हो। १८९४-९५ के युद्ध के बाद विविध विदेशी राज्यों ने चीन के विभिन्न प्रदेशों में जिस प्रकार अपने प्रभाव क्षेत्र कायम कर लिये थे, उसने चीन की जनता में गहरे असन्तोष को उत्पन्न कर दिया था। इस स्थिति में चीन में एक समिति व दल का संगठन हुआ, जिसे अंग्रेजी में 'बोक्सर' कहते हैं। इस दल में सम्मिलित चीनी लोग अपनी बन्द मुट्ठी या कसे हुए मुक्के की शक्ति में विश्वास रखते थे और इसी का प्रयोग कर विदेशियों को चीन से बहिष्कृत कर देने के लिये कटिबद्ध थे। १८९९ का अन्त होने से पूर्व ही बोक्सर दल ने चीन के विविध प्रदेशों में विदेशियों पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये। बहुत से ईसाई पादरी बोक्सर लोगों के क्रोध के शिकार हुए। पेकिंग के दक्षिण में अनेक विदेशी इन्जीनियर रेलवे लाइन के निर्माण में तत्पर थे। इन पर आक्रमण किये गये और इन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। इन घटनाओं के समाचार से पेकिंग में स्थित विदेशी राजदूतों में खलबली मच गई। उन्हें डर लगा, कि कहीं हम पर भी बोक्सर लोग हमला न कर दें। चीन के समुद्र तट के समीप जो बहुत से विदेशी जंगी जहाज विद्यमान थे, उनसे सेनाओं को पेकिंग बुलाया गया। बोक्सर लोगों ने कहा, विदेशी राज्यों ने चीन पर बाकायदा चढ़ाई कर दी है। इन सेनाओं से अपनी रक्षा करने के लिये बोक्सर लोगों ने पेकिंग और तीन्त्सिन के बीच की रेलवे लाइन को कई स्थानों से उखाड़ दिया। अब विदेशी लोगों को और भी अधिक चिन्ता हुई। तीन्त्सिन में दो हजार विदेशी सैनिकों की एक सुव्यवस्थित सेना का संगठन किया गया और इस सेना ने पेकिंग की तरफ प्रस्थान किया। इसी बीच में विदेशी जंगी जहाजों ने चीन के समुद्र तट पर आक्रमण शुरू कर दिये और अनेक महत्त्वपूर्ण नगरों और किलों पर कब्जा कर लिया। अब बोक्सर लोगों और विदेशी राज्यों की सेनाओं में बाकायदा युद्ध शुरू हो गया और चीनी सरकार ने पेकिंग में विद्यमान विदेशी लोगों को आज्ञा दी, कि वे चौबीस घण्टे के अन्दर अन्दर पेकिंग को छोड़कर बाहर चले जावें। इसी बीच में पेकिंग में स्थित जर्मन राजदूत की हत्या हो गई। अब विदेशियों के सम्मुख आत्मरक्षा का केवल एक ही उपाय था। वे सब पेकिंग के विदेशी दूतावासों में एकत्र हो गये और वहां रहकर अपनी सेनाओं के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। यदि वे पेकिंग छोड़कर समुद्रतट की ओर जाने का उद्योग करते, तो उन्हें भय था, कि मार्ग में बोक्सर लोग कहीं उन पर आक्रमण न कर दें। बहुत से चीनी ईसाइयों ने भी इस समय आत्मरक्षा के लिये विदेशी दूतावासों में शरण ग्रहण की। बोक्सर लोगों ने पेकिंग के दूतावासों को घेर लिया। पर इन दूतावासों का निर्माण किले के रूप में हुआ था और वहां पर विदेशी लोग कई महीने

तक बोक्सर लोगों के हमलों से अपनी रक्षा करते रहे। १९०० के मध्य तक विदेशियों की एक सुव्यवस्थित सेना पेकिंग पहुंच गई और वहां उसने बोक्सर लोगों से अपने दूतावासों की रक्षा की।

इसमें सन्देह नहीं कि १८९९-१९०० में बोक्सर विद्रोह ने बहुत गम्भीर रूप धारण कर लिया था। साम्राज्ञी त्सू-ह्सी की सहानुभूति बोक्सर लोगों के पक्ष में थी। पर चीनी सरकार के बहुत से उच्च कर्मचारी विदेशियों के विरुद्ध बोक्सर लोगों के युद्ध को देश के लिये हानिकारक समझते थे। चीन के विविध प्रान्तों में उनके सूबेदारों ने बोक्सर लोगों को काबू में रखने की भरसक कोशिश की। यदि सम्पूर्ण चीनी सरकार इस समय बोक्सर लोगों के साथ सहानुभूति रखती, तो विदेशियों के लिये चीन में रह सकना असम्भव हो जाता। पर विविध प्रान्तीय सूबेदारों ने बोक्सर लोगों को काबू में रखने में असाधारण कर्त्तृत्व प्रदर्शित किया। पेकिंग की केन्द्रीय सरकार ने भी एक आज्ञा द्वारा प्रान्तीय कर्मचारियों को यह आदेश दिया, कि वे बोक्सर लोगों के आक्रमणों से विदेशियों की रक्षा करने का प्रयत्न करें।

बोक्सर विद्रोह का समाचार जब पाश्चात्य देशों में पहुंचा, तो उन्होंने चीन में अपने आर्थिक व राजनीतिक हितों की रक्षा के लिये अपनी सेनाओं को चीन भेजा। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि की सेनाएं शीघ्र ही चीन पहुंच गईं। चीन में जहां कहीं बोक्सर लोगों ने विदेशियों के साथ दुर्व्यवहार किया था, वहां इन पाश्चात्य सेनाओं ने भयंकर अत्याचार किये। चीनी लोगों से बुरी तरह से बदला लिया गया। अनेक ग्रामों व नगरों को भूमिसात् कर दिया गया। विदेशी सेनाओं ने चीन में एक प्रकार के आतंक के राज्य की स्थापना कर दी। बोक्सर विद्रोह का प्रयोग पाश्चात्य देशों ने चीन में अपने प्रभुत्व को विस्तृत करने के लिये किया और इसको निमित्त बनाकर उन्होंने वहां अपनी सेनाओं का जाल सा बिछा दिया।

**बोक्सर विद्रोह का परिणाम**—विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध चीनी लोगों ने जो विद्रोह किया था, वह सफल नहीं हो सका। पाश्चात्य देशों की सेनाएं चीन में अपने विशेषाधिकारों व प्रभाव को कायम रखने में सफल हुईं। इस समय यदि विदेशी राज्य आपस में एकमत होकर कार्य करते, तो उनके लिये चीन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकना कठिन नहीं था। राजनीतिक दृष्टि से चीन की सरकार अत्यन्त विच्छिन्न दशा में थी, और सैनिक दृष्टि से चीन के लिये पाश्चात्य देशों का मुकाबला कर सकना असम्भव था। पर पाश्चात्य राज्यों में आपस का ईर्ष्या द्वेष बहुत अधिक था। इसी कारण वे चीन के सम्बन्ध में किसी एक नीति का निर्धारण नहीं कर सके। बोक्सर विद्रोह की समाप्ति पर ७ सितम्बर, १९०१ को चीन के

साथ विदेशी राज्योंका जो समझौता हुआ, उसमें मुख्य बातें निम्नलिखित थीं---(१) पेकिंग में जर्मनी का जो राजदूत मारा गया था, उसके लिये चीनी सरकार जर्मनी से क्षमा प्रार्थना करे। जिस स्थान पर जर्मन राजदूत की हत्या हुई थी, वहां चीनी सरकार एक स्मारक का निर्माण करे। (२) विदेशियों के साथ दुर्व्यवहार के लिये जिन चीनी राजकर्मचारियों को जिम्मेवार पाया जाय, उन्हें चीनी सरकार कठोर दण्ड दे। (३) जिन नगरों में विदेशी लोगों का कतल हुआ था, वहां पांच साल तक कोई सरकारी परीक्षा न हो सके, ताकि इन नगरों के निवासी सरकारी परीक्षा को उत्तीर्ण कर राजकीय पद न प्राप्त कर सकें। (४) जापान के दूतावास के अध्यक्ष की हत्या के लिये चीनी सरकार जापान से क्षमा याचना करे। (५) दो साल तक चीन न कोई अस्त्र-शस्त्र बना सके और न कोई अन्य ऐसा माल तैयार कर सके, जो युद्ध सामग्री के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता हो। (६) हरजाने के तौर पर चीन १५०,००,००,००० रुपया विदेशी राज्यों को प्रदान करे। हरजाने की यह रकम ३९ वार्षिक किश्तों में अदा की जाय। (७) पेकिंग में विदेशी दूतावासों का निर्माण इस ढंग से किया जाय, कि आवश्यकता पड़ने पर वे सुगमता से अपनी रक्षा कर सकें। पेकिंग के जिस प्रदेश में ये विदेशी दूतावास हों, वहां चीनी लोग न रह सकें। चीनी पुलिस को भी वहां आने जाने का अधिकार न हो। इन दूतावासों को यह भी अधिकार हो, कि वे अपनी रक्षा के लिये अपनी सेनाएं वहां रख सकें। (८) तीन्त्सिन के समीप जो अनेक चीनी किले हैं, उन्हें भूमिसात् कर दिया जावे, ताकि पेकिंग और समुद्रतट के बीच का मार्ग विदेशी लोगों के लिये सर्वथा सुरक्षित हो जाय। (९) तीन्त्सिन पर विदेशियों का अधिकार स्थापित किया जाय। (१०) चीन की सरकार की ओर से यह आज्ञा प्रकाशित की जावे, कि प्रान्तीय सूबेदार अपने अपने क्षेत्र में विदेशियों के विरुद्ध सब प्रकार के आन्दोलनों को काबू में लावें। (११) विदेशी राज्यों और चीनी सरकार के बीच में जो सन्धियां विद्यमान हैं, उनमें संशोधन किये जावें।

१९०१ का यह समझौता चीन के लिये बहुत हानिकारक व अपमानजनक था। इसके कारण चीन में विदेशी राज्यों का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया। पेकिंग में विदेशी सैनिक अच्छी बड़ी संख्या में निवास करने लगे। अब चीन में स्थित विदेशी राजदूतों की स्थिति ऐसी नहीं रह गई, कि वे चीनी सरकार के साथ एक स्वतन्त्र राज्य की सरकार के समान व्यवहार करें। वे समझते थे, कि चीन उनके सम्मुख असहाय है और वे अपनी इच्छाओं को सैनिक शक्ति की सहायता से चीनी सरकार से मनवा सकते हैं। उनकी दृष्टि में चीन एक स्वतन्त्र राज्य न रहकर अधीनस्थ राज्य के सदृश हो गया, जिसे वश में रखने के लिये राजधानी में उनकी सेनाएं विद्य-

मान थीं। डेढ़ अरब रुपया चीन को हरजाने के रूप में विदेशी राज्यों को प्रदान करना था। यह रकम इतनी बड़ी थी, कि इसे अदा कर सकना चीन के लिये सुगम नहीं था। इसके बोझ से चीनी सरकार इतनी बुरी तरह से दब गई थी, कि आर्थिक क्षेत्र में उन्नति कर सकना उसके लिये कठिन हो गया था। तीन्त्सिन सदृश नगरों पर विदेशियों का कब्जा चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये अत्यन्त विघातक था। इस समय चीन के प्रायः सम्पूर्ण समुद्रतट पर विदेशी राज्यों का प्रभुत्व कायम हो गया था, और इन विदेशी लोगों को यह भी भलीभांति ज्ञात हो गया था, कि चीन उनकी सैन्यशक्ति के सम्मुख सर्वथा असहाय है।

## (७) रूस और जापान का युद्ध

मञ्चूरिया और कोरिया के क्षेत्र में रूस और जापान के हित परस्पर टकराते थे। इसी कारण १९०५ में इन दोनों देशों में एक भयंकर लड़ाई हुई। यह लड़ाई विशाल चीनी साम्राज्य में विविध विदेशी राज्यों के साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी प्रयत्नों का ही परिणाम थी। अतः इसी अध्याय में इस पर प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

**मञ्चूरिया**—चीन के मध्यदेश के उत्तर के प्रदेश को मञ्चूरिया कहते हैं। चीन की प्राचीन विशाल दीवार इसे मध्यदेश से पृथक् करती है। मञ्चूरिया का क्षेत्रफल ३,६५,००० वर्गमील के लगभग है। चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत यह विशाल प्रदेश तीन प्रान्तों में विभक्त था—क्वान्तुंग, किरिन और हाइलुंग कियांग। इनमें क्वान्तुंग प्रान्त सबसे अधिक आबाद और समृद्ध था। लिआओ-तुंग प्रायद्वीप इसी के अन्तर्गत था। क्वान्तुंग में चीनी लोग बहुत बड़ी संख्या में आबाद थे और खेती आदि द्वारा अपना निर्वाह करते थे। किरिन की जनसंख्या अधिक नहीं थी, और हाइलुंग कियांग का प्रान्त तो प्रायः गैरआबाद ही था। उसकी दशा प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि उत्तरी एशिया के साइबीरिया की थी। मञ्चूरिया में सोया बीन प्रचुर परिमाण में उत्पन्न की जाती थी और गेहूं आदि अन्य अन्न भी पर्याप्त मात्रा में पैदा होते थे। खानों की दृष्टि से भी यह प्रदेश अच्छा समृद्ध था। कोयले, लोहे और सोने की इस प्रदेश में प्रचुर परिमाण में सत्ता है, यह बात चीन व अन्य देशों के लोगों को ज्ञात थी। यद्यपि मञ्चूरिया चीन के मध्य-देश के अन्तर्गत नहीं था; पर चीनी साम्राज्य में उसकी स्थिति कोरिया, तिब्बत आदि अधीनस्थ प्रदेशों से भिन्न थी। कोरिया, तिब्बत आदि शासन के सम्बन्ध में स्वतन्त्र स्थिति रखते थे, वे चीनी सम्राट् की अधीनतामात्र स्वीकृत करते थे।

पर मञ्चूरिया का शासन सीधा पेकिंग की केन्द्रीय सरकार के अधीन था और उसके शासकों की नियुक्ति पेकिंग सरकार द्वारा ही की जाती थी।

**मञ्चूरिया में रूस की स्थिति**—रूस उत्तर की ओर से किस प्रकार मञ्चूरिया में अपने प्रभाव व प्रभुत्व का प्रसार करने में तत्पर था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। १९०० में जब बॉक्सर विद्रोह हुआ, तो रूस इस प्रदेश में अपने प्रभुत्व को किस हद तक स्थापित कर चुका था, इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख कर देना अगली घटनाओं को समझने के लिये बहुत उपयोगी होगा। १८९४-९५ के युद्ध के बाद रूस ने जापान के विरुद्ध चीन का जो पक्ष लिया था, उसके कारण लिआओ-तुंग प्रायद्वीप पर जापान का अधिकार नहीं रह गया था। कुछ समय बाद रूस ने चीन के साथ जो सन्धि की, उसकी प्रमुख शर्तों को हम इसी अध्याय में पहले लिख चुके हैं। इस सन्धि द्वारा रूस ने मञ्चूरिया में ब्लादीवोस्तॉक तक एक हजार मील लम्बी रेलवे लाइन के निर्माण का अधिकार प्राप्त कर लिया था और साथ ही इस रेल्वे की एक ब्राञ्च लाइन को दक्षिण में पोर्ट आर्थर (लिआओ-तुंग प्रायद्वीप का बन्दरगाह) तक बना देने की अनुमति भी प्राप्त कर ली थी। पोर्ट-आर्थर और उसके समीप का प्रदेश पच्चीस साल के लिये रूस को पट्टे पर दे दिया गया था और यहां रूसी सरकार ने ऐसी किलाबन्दी शुरू कर दी थी, जिससे रूसी जंगी जहाज वहां पर सुरक्षित रूप से रह सकें। पोर्ट आर्थर प्रशान्त महासागर में रूस का सबसे बड़ा नाविक अड्डा बन गया था और इसके कारण इस क्षेत्र में रूस की शक्ति बहुत दृढ़ हो गई थी। मञ्चूरिया में रेलवे लाइनों का निर्माण करने के लिये चाइनीज ईस्टर्न रेलवे कम्पनी और मञ्चूरियन रेलवे कम्पनी नामक दो कम्पनियों का संगठन किया गया था, जिनका नियन्त्रण रूसी सरकार के हाथ में था। ये कम्पनियां प्रधानतया रूसी लोगों की ही थीं। इनके लिये रुपये का प्रबन्ध करने के लिये रूसी-चाइनीज बैंक का निर्माण किया गया था। इस बैंक में चीनी सरकार की पूंजी बहुत कम थी। पूंजी का बड़ा भाग रूसी सरकार ने लगाया था, जिसे उसने फ्रांस से ऋण के रूप में प्राप्त किया था। यूरोप की राजनीति में इस समय रूस और फ्रांस में घनिष्ठ मित्रता थी। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति के भय ने फ्रेञ्च रिपब्लिक और रूसी जारसाही में मैत्री सम्बन्ध को स्थापित कर दिया था। इन रेलवे लाइनों के निर्माण के लिये रूसी लोग बहुत बड़ी संख्या में मञ्चूरिया में आ गये थे और इन लाइनों की रक्षा के लिये रूस की एक शक्तिशाली सेना भी इस प्रदेश में रहने लग गई थी।

बॉक्सर विद्रोह के अवसर पर रूस को मञ्चूरिया में अपनी शक्ति के विस्तार का सुवर्णावसर हाथ लगा। चीन के अन्य प्रदेशों के समान मञ्चूरिया में भी बॉक्सर

लोग अपना कार्य कर रहे थे । उनके आक्रमणों से रूसी रेलवे लाइनों की रक्षा का बहाना बनाकर रूसी सेनाएं मञ्चूरिया पहुंचने लगीं । कुछ समय के लिये मञ्चूरिया में रूस का फौजी शासन स्थापित हो गया । रूसी सरकार का कहना था, कि मञ्चूरिया पर यह कब्जा केवल सामयिक रूप से किया गया है । ज्योंही बोक्सर विद्रोह शान्त हो जायगा और चीन में शान्ति व व्यवस्था स्थापित हो जायगी, रूसी सेना को मञ्चूरिया से हटा लिया जायगा । पर बोक्सर विद्रोह की समाप्ति के बाद भी रूस ने अपनी सेनाओं को मञ्चूरिया से नहीं हटाया । उसका कहना था, कि अभी इस प्रदेश में ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई है, कि रूस अपनी सेनाओं को वहां से हटा सके । अमेरिका, जापान, इङ्गलैण्ड आदि अन्य देश रूस के इस रुख को अत्यन्त चिन्ता की दृष्टि से देख रहे थे । पर वे स्वयं भी पेकिंग में अपनी सेनाओं को स्थापित कर चुके थे और उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे मिलकर रूस का विरोध कर सकें । साथ ही रूस का यह भी कहना था, कि मञ्चूरिया के प्रश्न पर अन्य किसी राज्य को दखल देने की आवश्यकता नहीं है । यह रूस और चीन का अपना मामला है, और इसका फैसला ये दोनों राज्य ही कर सकते हैं । परिणाम यह हुआ, कि रूस ने मञ्चूरिया में अपने सैनिक कब्जे को जारी रखा । बोक्सर विद्रोह से पहले मञ्चूरिया में रूस का प्रभावक्षेत्र केवल आर्थिक था, अब वह सैनिक और राजनीतिक भी हो गया । रूस की इस आकांक्षा में अब कोई सन्देह नहीं रह गया, कि वह साइबीरिया के समान मञ्चूरिया को भी अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लेने के लिये कटिबद्ध है ।

**मञ्चूरिया और जापान**—मञ्चूरिया में रूस की इस प्रकार बढ़ती हुई शक्ति जापान को सह्य नहीं थी । जापान यह नहीं सह सकता था, कि उसके पड़ोस में इतने समीप रूस जैसा शक्तिशाली व विशाल राज्य आ जाय । पोर्टआर्थर में रूस जिस प्रकार अपना नाविक अड्डा बना रहा था, उससे जापान को सख्त एतराज था । वह अनुभव करता था, कि प्रशान्त महासागर में रूस की शक्ति उसकी अपनी स्वतन्त्रता के लिये विघातक हो सकती है । इस प्रकार मञ्चूरिया में रूस के बढ़ते हुए प्रभुत्व से जापान को बहुत बेचैनी अनुभव हो रही थी । साथ ही जापान स्वयं भी मञ्चूरिया में अपने प्रभुत्व की स्थापना करना चाहता था । व्यावसायिक दृष्टि से पाश्चात्य देशों का समकक्ष हो जाने के कारण जापान भी अपने साम्राज्य के विस्तार के लिये उत्सुक था और इसके लिये उसे सबसे अधिक उपयुक्त क्षेत्र चीन ही नजर आता था । चीनी साम्राज्य में भी मञ्चूरिया ही ऐसा प्रदेश था, जो जहां जापान के बहुत समीप था, वहां साथ ही यह भी सम्भव था, कि जापानी लोग उसमें बड़ी संख्या में बस सकें । मञ्चूरिया के अनेक प्रदेशों की आबादी बहुत कम थी

और इनमें जापानी बस्तियों के विकास के लिये मैदान खाली पड़ा था। मञ्चूरिया की खानें और उपजाऊ जमीन जापान के लिये आकर्षण का कारण बनी हुई थी। इसीलिये १८९४-९५ के चीन-जापान के युद्ध के बाद जापान ने लिआओ-तुंग के प्रदेश को अधिगत किया था। रूस के विरोध के कारण ही यह प्रदेश जापान की अधीनता में नहीं रह सका था और अब वहां पर रूस का कब्जा हो जाना जापान को असह्य था।

**कोरिया की समस्या**—रूस और जापान के संघर्ष का दूसरा क्षेत्र कोरिया था। १८९४-९५ के चीन-जापान युद्ध के अवसर पर जापान ने कोरिया पर अधिकार कर लिया था। जापानी लोगों ने इस समय कोरिया में अनेक ऐसी व्यवस्थाएं कीं, जिनके कारण जापानी पूंजीपतियों को वहां अपना रुपया लगाने व विविध प्रकार से आर्थिक लाभ प्राप्त करने का अवसर मिला। चीन-जापान के युद्ध की समाप्ति पर कोरिया की स्वतन्त्रता स्वीकृत कर ली गई, पर जापान ने वहां के आर्थिक जीवन पर जो प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया था, उसका अन्त नहीं हुआ। यही नहीं, जापानी लोग कोरिया के राजघराने व सरकार के मामलों में भी हस्तक्षेप करते रहे। कोरिया की महारानी अपने देश में जापानियों के बढ़ते हुए प्रभाव से बहुत चिन्तित थी। कोरिया में जापान के विरोधी जो लोग थे, महारानी की संरक्षा उन्हें प्राप्त थी। इसलिये एक दिन आधी रात के समय कुछ जापानियों ने राजप्रासाद पर हमला कर दिया और महारानी को कतल कर दिया। कुछ दिन बाद कोरिया के महाराजा ने जापानियों से बचने के लिये रूस के दूतावास में शरण ली। इस समय रूस की भी एक सेना सिऊल में विद्यमान थी और उसी के कारण कोरिया का महाराजा अपने प्राणों की रक्षा कर सकने में समर्थ हुआ था। जापानी लोगों को यह बात सह्य नहीं थी, कि रूस उनके मार्ग में बाधक हो। परिणाम यह हुआ, कि कोरिया के प्रश्न पर जापान और रूस के सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये। पर १८९६ में कोरिया के प्रश्न पर इन दोनों देशों में समझौता हो गया, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) जापान और रूस दोनों अपनी सेनाओं को कोरिया से वापस बुला लें। कोरिया में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने की उत्तरदायिता कोरियन सरकार पर ही रहे। (२) रूस और जापान दोनों का यह प्रयत्न हो, कि आर्थिक दृष्टि से कोरिया का उत्कर्ष हो। इसके लिये यदि कोरिया को पूंजी की आवश्यकता हो, तो दोनों देश मिलकर इस विषय में उसकी सहायता करें। इस प्रकार १८९६ के समझौते द्वारा कोरिया में रूस और जापान की स्थिति एक समान हो गई। यदि ये दोनों देश ईमानदारी से समझौते पर दृढ़ रहते, तो उनमें विरोध की कोई भी सम्भावना न होती। पर कठिनता यह थी, कि दोनों ही देश कोरिया को

अपने प्रभाव में लाने के लिये उत्सुक थे। रूस ने इस सम्बन्ध में विशेष तत्परता प्रदर्शित की। लिआओ-तुंग प्रायद्वीप को अपने प्रभाव में लाकर जब पोर्ट आर्थर और उसके समीप के प्रदेश को रूस ने पट्टे पर प्राप्त कर लिया, तो उसके लिये कोरिया में अपने प्रभाव को विस्तृत कर सकना और भी अधिक सुगम हो गया। रूस और जापान में कोरिया के सम्बन्ध में कोई भी समझौता इस ढंग से नहीं हो सकता था, जिससे दोनों देशों को पूर्ण रूप से सन्तोष हो, क्योंकि इस देश में उन दोनों के हितों में बहुत अधिक विरोध था। फिर भी बीसवीं सदी के शुरू में जापान और रूस के राजनीतिज्ञों ने परस्पर समझौते के लिये अनेक प्रयत्न किये। १९०३ में सेण्ट पीटर्सबर्ग में स्थित जापानी राजदूत ने रूसी सरकार के सम्मुख निम्नलिखित प्रस्ताव पेश किये---(१) रूस और जापान दोनों कोरिया और चीन की स्वतन्त्रता को स्वीकृत करें, और यह वचन दें कि इन देशों की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखेंगे। (२) रूस इस बात को स्वीकार करे, कि कोरिया में जापान का विशेष प्रभावक्षेत्र है और इस कारण उसे अधिकार है, कि वह कोरिया में अपने आर्थिक हितों को विकसित कर सके और साथ ही कोरियन सरकार को सुव्यवस्थित करने के लिये परामर्श दे सके। (३) जापान मञ्चूरिया में रूस के विशेष प्रभावक्षेत्र को स्वीकृत करे और वहां उसे वही सब कुछ करने दे, जो वह स्वयं कोरिया में करना चाहता है।

रूसी सरकार जापानी राजदूत के इन प्रस्ताओं को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं हुई। रूसी सरकार चाहती थी, कि (१) कोरिया की स्वतन्त्रता को रूस और जापान दोनों स्वीकृत करें। (२) कोरिया में जापान का विशेष प्रभाव-क्षेत्र है, इस बात को मान लिया जाय। (३) जापान जिस प्रकार कोरिया में व्यापारिक और व्यावसायिक विकास करना चाहता है, उसमें रूस बाधा न डाले। (४) रूस और जापान दोनों इस बात को स्वीकार करें, कि वे कोरिया में कहीं किलाबन्दी नहीं करेंगे और कोरियन समुद्रतट का प्रयोग युद्ध के प्रयोजन के लिये नहीं करेंगे। (४) मञ्चूरिया में रूस का विशेष प्रभावक्षेत्र है, इस बात को जापान स्वीकार करे। रूस और जापान के प्रस्तावों में मुख्य भेद यह था, कि रूस कोरिया [illegible] वहाँ [illegible] था। साथ ही वह जापान से यह स्वीकृत कराना चाहता था, कि मञ्चूरिया में रूस का आर्थिक और राजनीतिक दोनों प्रकार का प्रभुत्व स्थापित हो। इनके विपरीत जापान यह चाहता था, कि मञ्चूरिया में जो विशेषाधिकार रूस को प्राप्त हों, वे ही उसे कोरिया में प्राप्त हों।

इस दशा में कोरिया के प्रश्न पर रूस और जापान में जो मतभेद व हित विरोध था, उसका निबटारा युद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से सम्भव नहीं था। इसी कारण रूस और जापान के युद्ध का प्रारम्भ हुआ।

**इङ्गलैण्ड और जापान की सन्धि**---इससे पूर्व कि हम रूस और जापान के युद्ध का उल्लेख करें, उस महत्त्वपूर्ण सन्धि का विवरण देना आवश्यक है, जो कि १९०२ में जापान और इङ्गलैण्ड के बीच में हुई थी। १८९४-९५ के चीन-जापान के युद्ध के बाद जापान के राजनीतिज्ञों में दो प्रकार के विचार कार्य कर रहे थे। एक पक्ष कहता था, कि रूस और जापान में मैत्री की स्थापना कर सकना असम्भव नहीं है और ये दोनों देश परस्पर मिलकर उन सब प्रश्नों का निबटारा कर सकते है, जो उनके पारस्परिक हित-विरोध के कारण उत्पन्न होते हैं। इस पक्ष को अपने प्रयत्न में किस प्रकार असफलता हुई, इसका उल्लेख हम अभी कर चुके हैं। दूसरे पक्ष का कहना था, कि रूस और जापान में समझौता हो सकना सम्भव नहीं है, अतः जापान को रूस का मुकाबला करने के लिये ब्रिटेन के साथ सन्धि करनी चाहिये। अन्य विदेशी राज्यों के मुकाबले में ब्रिटेन का चीन में सबसे अधिक प्रभाव था, अतः जापान का ध्यान उसी के साथ सन्धि करने के लिये आकृष्ट हुआ। इस समय साम्राज्यवाद के क्षेत्र में रूस और ब्रिटेन एक दूसरे के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी थे। तुर्क साम्राज्य और बालकन प्रायद्वीप के क्षेत्र में उनके हित-विरोध के कारण ही क्रीमियन युद्ध (१८५४-५६) का प्रादुर्भाव हुआ था। रूस बालकन प्रायद्वीप में अपने प्रभाव का जिस प्रकार से विस्तार कर रहा था, उसके कारण ब्रिटेन यह अनुभव करता था, कि भारत आदि प्राच्य देशों में आने जाने का उसका मार्ग सुरक्षित नहीं रह सकेगा। मध्य एशिया और तुर्किस्तान पर रूस अपना आधिपत्य स्थापित कर चुका था और इसके कारण रूस भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा के बहुत समीप आ गया था। ईरान में भी रूस अपने प्रभाव को बढ़ा रहा था। मञ्चूरिया में रूस ने जिस प्रकार अपने प्रभुत्त्व का प्रसार शुरू किया था, उसे भी ब्रिटेन चीन में अपने आर्थिक हितों के लिये हानिकारक समझता था। इस कारण वह भी इस बात के लिये उत्सुक था, कि जापान के साथ सन्धि करके एशिया में अपनी शक्ति को सुरक्षित कर ले।

ब्रिटेन और जापान में यह सन्धि १९०२ में हुई। इसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं---(१) ब्रिटेन यह स्वीकार करता है, कि कोरिया में जापान के विशेष हित हैं, और चीन में भी उसके आर्थिक हितों की सत्ता है। (२) जापान चीन में ब्रिटेन के हितों को स्वीकृत करता है। (३) दोनों देश यह मानते हैं, कि दोनों को अपने अपने हितों की रक्षा के लिये आवश्यक कार्रवाई करने का अधिकार है।

(४) यदि इन हितों की रक्षा करने के लिये ब्रिटेन और जापान का किसी अन्य राज्य के साथ युद्ध की आवश्यकता हो, तो दूसरा राज्य इस युद्ध में उदासीन रहेगा।
(५) यदि ऐसे युद्ध की दशा में कोई अन्य राज्य ब्रिटेन या जापान के शत्रु की सहायता के लिये लड़ाई के मैदान में उतर आये, तो ब्रिटेन और जापान दोनों मिलकर उसका मुकाबला करेंगे।

१९०२ की यह सन्धि शुरू में पांच सालों के लिये की गई थी। पर बाद में इसे फिर से दोहराया गया। इसमें सन्देह नहीं, कि इस सन्धि के कारण पूर्वी एशिया में जापान की स्थिति बहुत सुदृढ़ और सुरक्षित हो गई थी, और वह कोरिया में अपने प्रभुत्त्व की स्थापना का प्रयत्न अधिक निश्चिन्तता के साथ कर सकता था।

**रूस और जापान का युद्ध**—यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि रूस और जापान के युद्ध (१९०४-५) की घटनाओं का संक्षेप के साथ भी उल्लेख कर सकें। लड़ाई शुरू होते ही जापान के जहाजी बेड़े ने पोर्टआर्थर पर आक्रमण किया। रूसी बेड़ा उसका मुकाबला नहीं कर सका। वह परास्त हो गया और भयंकर लड़ाई के बाद जापानी सेनाओं ने पोर्ट आर्थर पर कब्जा कर लिया। अब जापानी सेनाओं ने लिआओ-तुंग प्रायद्वीप में बढ़ना शुरू किया। ट्रांस-साइबीरियन रेलवे इस समय तक बनकर तैयार हो चुकी थी। पांच हजार मील के लगभग दूर से इस रेल मार्ग द्वारा रूसी सेनाएं व युद्ध-सामग्री मञ्चूरिया में पहुंचाई जा रही थीं। पर रूस के लिये यह सुगम नहीं था, कि इतनी दूरी पर अपनी सेनाओं व युद्ध सामग्री को पर्याप्त परिमाण में पहुंचा सके। साइबीरिया का विशाल भूखण्ड अभी आर्थिक दृष्टि से भलीभांति विकसित नहीं हो पाया था। न वहां कारखाने बने थे और न ही खेती आदि का भलीभांति विकास हुआ था। अतः मञ्चूरिया में स्थित रूसी सेनाओं को रसद व युद्ध सामग्री के लिये उराल पार के यूरोपियन रूस पर ही निर्भर रहना होता था। साथ ही रूस की राजशक्ति भी इस समय अत्यन्त विकृत दशा में थी। वहां एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजसत्ता का शासन था और शासन कार्य में जनता को कुछ भी अधिकार प्राप्त नहीं थे। जनता में जारशाही के खिलाफ उग्र असन्तोष था और अनेक क्रान्तिकारी दल रूस में जार के एकतन्त्र शासन के विरुद्ध षड्यन्त्रों में तत्पर थे। इसके विपरीत जापान में जहां राष्ट्रीय भावना तीव्र रूप में विद्यमान थी, वहां साथ ही लोकतन्त्र शासन का भी सूत्रपात हो चुका था। जापान का सम्राट् व सरकार जनता की उन्नति के लिये कटिबद्ध थे और सम्पूर्ण जापानी लोग अपनी सरकार के प्रति अनुरक्त थे। क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का वहां सर्वथा अभाव था। रूसी जहाजी बेड़े के परास्त हो जाने के कारण जापान के लिये यह बहुत सुगम हो गया

था, कि वह अपनी सेनाओं और युद्ध सामग्री को मञ्चूरिया पहुंचा सके । रूस ने यत्न किया, कि अपने एक अन्य जहाजी बेड़े को चीन के समुद्र में भेजे, ताकि जापान की सेनाओं के मंचूरिया पहुंचने में बाधा डाल सके । पूर्वी एशिया में रूस के लिये छोटा रास्ता स्वेज की नहर होकर आता था । पर इस मार्ग पर ब्रिटेन का प्रभुत्व था । जापान और ब्रिटेन की १९०२ में सन्धि हो चुकी थी और रूस को डर था, कि कहीं ब्रिटेन रूसी बेड़े को स्वेज नहर से गुजरने में बाधा न डाले । अतः रूस का जहाजी बेड़ा स्वेज के मार्ग का उपयोग नहीं कर सका । विशाल अफ्रीकन द्वीप का चक्कर काटकर मई, १९०५ में रूस की नौसेना ने जापान के समीप समुद्र में प्रवेश किया । पर इस बार फिर रूस के जहाजी बेड़े की जापान द्वारा बुरी तरह पराजय हुई । २८ मई, १९०५ को जापान की नौसेना ने रूसी बेड़े को पूर्ण रूप से परास्त कर दिया । इस दशा में रूस के लिये लड़ाई जारी रख सकना सम्भव नहीं रहा । वह सन्धि कर लेने के लिये विवश हुआ ।

**पोर्ट्समाउथ की सन्धि**---रूस और जापान के युद्ध की समाप्ति कर उनमें सन्धि कराने के कार्य में संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति श्री थिओडोर रूजवेल्ट ने विशेष कर्तृत्व प्रदर्शित किया । युद्ध के समय ब्रिटेन के समान अमेरिका की भी सहानुभूति जापान के पक्ष में थी । सन्धि की बातचीत अमेरिका में ही शुरू हुई और उसी के अन्यतम नगर पोर्ट्समाउथ में सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये ।

सन्धि के लिये जापान ने निम्नलिखित शर्तें पेश की थीं---(१) कोरिया पर जापान के प्रभुत्व को स्वीकृत किया जाय । यह ध्यान में रखना चाहिये, कि रूस-जापान के युद्ध की समाप्ति से पूर्व ही ब्रिटेन कोरिया पर जापान के प्रभुत्व को स्वीकार कर चुका था । अब जापान चाहता था, कि रूस भी इस बात को स्वीकार कर ले । (२) मञ्चूरिया में रूस को जो भी विशेष अधिकार प्राप्त हैं, वे सब जापान को दे दिये जावें । पोर्ट आर्थर और उसके समीप के प्रदेश का पट्टा भी जापान को मिल जावे । (३) पूर्वी एशिया के समुद्र में रूस के जो भी जहाज हैं, वे सब जापान को दे दिये जावें । (४) लड़ाई में जापान को जो कुछ खर्च करना पड़ा है, उसका हरजाना रूस प्रदान करे । (५) साइबीरिया के समुद्रतट पर जापानियों को मछली पकड़ सकने का अधिकार दिया जाय । (६) सम्पूर्ण सखालिन द्वीप जापान को दे दिया जाय ।

रूस इन सब शर्तों को मानने के लिये तैयार नहीं था । पर अन्त में जिन शर्तों पर ५ सितम्बर, १९०५ को रूस और जापान में सन्धि हुई, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं---(१) रूस और जापान दोनों मञ्चूरिया से अपनी अपनी सेनाओं को वापस बुला लें । (२) लिआओ-तुंग प्रायद्वीप के जिन प्रदेशों को (पोर्ट आर्थर

थे (आर्थर समीप का प्रदेश) रूस ने पट्टे पर लिया था, वे अब जापान को पट्टे पर [illegible] देवें। (३) मञ्चूरियन रेलवे का दक्षिणी भाग रूस जापान को प्रदान कर [illegible] हार्बिन और मुकदन के बीच में जो मञ्चूरियन रेलवे रूस ने बनाई थी, उसका [illegible] भाग इस शर्त द्वारा जापान को प्राप्त हुआ। (४) रूस और जापान मञ्चू- [illegible] में अपनी अपनी रेलवे लाइनों का उपयोग केवल व्यावसायिक और व्यापारिक प्रयोजनों के लिये करें, सैनिक प्रयोजन के लिये नहीं। (५) लिआओ-तुंग प्रायद्वीप [illegible] जापान को जो विशेषाधिकार दिये गये हैं, और मञ्चूरियन रेलवे पर रूस और [illegible] के जो विशेषाधिकार हैं, उनके अतिरिक्त अन्य सब विषयों में मञ्चूरिया पर चीन का प्रभुत्व कायम रहे। (६) कोरिया में जापान के राजनैतिक, सैनिक और आर्थिक हितों व विशेषाधिकारों को स्वीकृत किया जाय। (७) सखालिन द्वीप का दक्षिणी आधा भाग जापान को प्राप्त हो। (८) साइबीरिया के समुद्र-तट पर मछली पकड़ने के व्यवसाय को विकसित करने का जापान को अधिकार हो।

जापान सम्पूर्ण सखालिन द्वीप को प्राप्त करना चाहता था, पर पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा उसे केवल आधा सखालिन प्राप्त हुआ। युद्ध के लिये हरजाने की भी कोई रकम उसे प्राप्त नहीं हुई। मंचूरिया में भी जितने विशेषाधिकार वह प्राप्त करना चाहता था, वे उसे नहीं मिल सके। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इस सन्धि द्वारा वह सम्पूर्ण कोरिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हुआ, और पोर्ट आर्थर पर कब्जा कर लेने के कारण मञ्चूरिया में अपने प्रभुत्व को विस्तृत कर [illegible]ने का द्वार उसके लिये खुल गया।

**रूस-जापान युद्ध के परिणाम**—(१) पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा पूर्वी [illegible]शिया में जापान की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। कोरिया पर उसके राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक विशेषाधिकारों के स्वीकृत हो जाने के कारण यह देश पूर्णतया जापान का वशवर्ती हो गया। चीनी साम्राज्य के अन्यतम प्रदेश मञ्चूरिया [illegible] उसने अनेक विशेषाधिकार प्राप्त किये। जापान की सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा [illegible]थी, कि वह चीन की निर्बलता से लाभ उठाकर अपने साम्राज्य का विस्तार [illegible] अब कोरिया चीन की अधीनता से मुक्त होकर जापान की अधीनता में आ [illegible]या और मञ्चूरिया में भी जापान के साम्राज्यवाद के प्रसार के लिये मार्ग साफ [illegible] था। पूर्वी एशिया में जापान का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी रूस था। उसके [illegible] हो जाने के कारण अब जापान के प्रभाव व शक्ति में बहुत अधिक वृद्धि हो [illegible]। (२) रूस की पराजय और जापान की विजय के कारण एशिया के लोगों [illegible] में उत्साह का संचार हुआ। उन्नीसवीं सदी में एशिया के प्रायः सभी देशों [illegible] पाश्चात्य राज्यों के साम्राज्यवाद का शिकार होना पड़ा था। यूरोप और

अमेरिका के गौराङ्ग लोग ऐसा मानने लगे थे, कि नसल की दृष्टि से वे सर्वोत्कृष्ट हैं, और एशिया के लोग उनकी अपेक्षा हीन हैं। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव में आकर एशिया के भी बहुत से लोग अपने को पाश्चात्य लोगों की अपेक्षा हीन समझने लगे थे। जापान की विजय ने इस भावना को जड़ से हिला दिया। एशिया के निवासियों ने अनुभव किया, कि उन्नति की दौड़ में पाश्चात्य लोग जो उनकी अपेक्षा आगे निकल गये हैं, उसका एकमात्र कारण यह है, कि ज्ञान विज्ञान की आधुनिक उन्नति यूरोप में कुछ समय पहले हुई। यदि जापान यूरोप के ज्ञान विज्ञान को अपनाकर रूस जैसे शक्तिशाली व विशाल देश को परास्त कर सकता है, तो एशिया के अन्य लोगों के लिये भी यह सम्भव है, कि वे पाश्चात्य देशों की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्रता को प्राप्त कर सकें। भारत आदि सभी एशियन देशों पर जापान की इस विजय का असर हुआ और सर्वत्र जनता में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये आन्दोलन को बल मिला। (३) रूस का शासन कितना निर्बल और विकृत है, यह बात इस युद्ध में परास्त हो जाने के कारण रूसी लोगों के सम्मुख सर्वथा प्रत्यक्ष हो गई। इससे रूस के क्रान्तिकारियों को बहुत बल मिला। अनेक स्थानों पर जनता ने विद्रोह किये। २२ जनवरी, १९०५ को सेण्ट पीटर्सबुर्ग के मजदूरों ने एक विशाल जुलूस निकाला। इन पर गोली चलाई गई। सैकड़ों निहत्थे मजदूर रूसी पुलिस की गोलियों के शिकार हुए। २२ जनवरी का यह हत्याकाण्ड रूस के क्रान्तिकारियों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। सर्वत्र क्रान्ति प्रारम्भ हो गई। वारसा में पोल लोगों ने विद्रोह किया। फिनलैण्ड ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। बाल्टिक सागर के तट पर विद्यमान लिथुएनिया, लैटविया आदि देशों ने भी विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। आर्मीनियन और ज्योर्जियन लोग भी विद्रोह के लिये तैयार हो गये। मजदूर लोगों ने सर्वत्र हड़ताल की तैयारी शुरू कर दी। इस दशा में जार निकोलस द्वितीय शासनसुधार के लिये विवश हुआ। रूस में पहली बार वैध राजसत्ता की स्थापना का उद्योग हुआ। (४) मञ्चूरिया में पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा तीन राज्यों का प्रवेश हो गया था। चीनी सम्राट् का वहां शासन था और रूस व जापान ने वहां अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये थे। एक म्यान में तीन तलवारों का रह सकना असम्भव था। यही कारण है, कि पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा स्थापित की गई व्यवस्था देर तक मञ्चूरिया में कायम नहीं रह सकी। शीघ्र ही वहां नये युद्धों का सूत्रपात हुआ और पोर्टआर्थर पर कब्जा कर लेने के कारण जापान ने मञ्चूरिया में जो अपना पैर जमा लिया था, उसका उपयोग कर उसने न केवल मञ्चूरिया अपितु सम्पूर्ण उत्तरी चीन पर अपने प्रभुत्व की स्थापना का उद्योग प्रारम्भ किया।

## (८) चीन में विदेशी राज्यों का आर्थिक साम्राज्यवाद

**चीन को विजय करने का नया ढंग**—इतिहास में अनेक बार पहले भी चीन पर विदेशी आक्रान्ताओं ने आक्रमण कर उसे अपने अधीन किया था। पर ये सब विजेता चीन में आकर चीनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म को अपना लेने के कारण चीनी जनता के ही अंग बन गये थे। जिस प्रकार जो भी यवन, शक, हूण आदि आक्रान्ता भारत पर आक्रमण कर यहां अपने विविध राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए, वे कुछ ही समय में पूर्णतया भारतीय बन गये, वैसे ही चीन के विदेशी आक्रान्ता चीन में आकर उसी की सभ्यता के रंग में रंग गये। इसका कारण यह था, कि चीन की सभ्यता अधिक उत्कृष्ट थी और उसके लिये इन विदेशियों को अपने में मिला लेना व सभ्यता के क्षेत्र में परास्त कर देना बहुत सुगम था। पर उन्नीसवीं सदी में जो विदेशी राज्य चीन में अपने प्रभुत्व की स्थापना में तत्पर थे, वे सभ्यता, ज्ञान, राजनीतिक संगठन, व्यावसायिक उन्नति आदि की दृष्टि से चीनी लोगों की अपेक्षा अधिक उन्नत थे। इसीलिये चीनी लोग सभ्यता के क्षेत्र में इन्हें परास्त कर सकने में असमर्थ रहे। साथ ही चीन पर इनकी विजय का एक नया ढंग था। इन्होंने इस बात की आवश्यकता नहीं समझी, कि सिकन्दर, चंगेज खां या समुद्रगुप्त की शैली का अनुसरण कर एक विशाल सेना को साथ लेकर चीन पर आक्रमण करें, और उसको विजय कर लें। न ही इन्होंने चीन की सरकार को हटाकर उसके स्थान पर अपनी सरकार की स्थापना का उद्योग किया। मञ्चू वंश के सम्राट चीन के राजसिंहासन पर पहले के समान विद्यमान रहे, शासन का कार्य चीनी कर्मचारियों के ही हाथ में रहा, पर इन विदेशी राज्यों का चीन पर शिकंजा उतना ही मजबूत था, जितना कि राजनीतिक दृष्टि से अधीन भारत, बरमा आदि देशों पर था। विदेशियों के इस साम्राज्यवाद का चीन में स्वरूप आर्थिक था। चीन को अपनी अधीनता में रखने के लिये विदेशी सेनाओं को वहां स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। चीन की निर्बल सरकार आर्थिक दृष्टि से विविध विदेशी राज्यों की इतनी अधिक वशवर्ती हो गई थी, कि वह भारत या बरमा आदि के मुकाबले में किसी भी प्रकार अधिक स्वतन्त्र नहीं रह गई थी।

**आर्थिक साम्राज्यवाद का स्वरूप**—विदेशी राज्यों का यह आर्थिक साम्राज्य-वाद निम्नलिखित रूपों में चीन को अपने वश में रखे हुए था—(१) बॉक्सर विद्रोह के बाद चीन ने जो भारी हरजाना विदेशी राज्यों को देना स्वीकार किया था, उसको वसूल करने के लिये चीन के आयात और निर्यात माल पर वसूल किया जानेवाला तट-कर जमानत के रूप में रख लिया गया था। विदेशी लोग इस कर को वसूल

करते थे और इसे हरजाने की रकम में मुजरा कर लेते थे। चीन की सरकार को इसकी एक पाई भी प्राप्त नहीं हो पाती थी। (२) चीन की सरकार ने विविध प्रयोजनों के लिये विदेशी राज्यों से भारी रकमें कर्ज ली थीं। इनको अदा करने के लिये चीन के अन्य अनेक टैक्स अमानत के रूप में रख लिये गये थे। चीनी सरकार अपने देश में स्वयं इन करों को वसूल नहीं कर पाती थी। (३) चीन में रेलवे लाइनों का निर्माण-कार्य प्राय: ऐसी कम्पनियों के सुपुर्द किया गया था, जिनमें विदेशी पूंजी बहुत बड़ी मात्रा में लगी हुई थी। ये रेलवे लाइनें विदेशियों के कब्जे में थीं, और इनके समीपवर्ती प्रदेशों पर भी विदेशियों का प्रभुत्व था। (४) चीन के अनेक प्रदेशों में खानों को खोदने व अन्य प्रकार से आर्थिक विकास करने का कार्य भी विदेशी राज्यों के सुपुर्द था। इस आर्थिक विशेषाधिकार के नाम पर इन विदेशी राज्यों को चीन में मनमानी करने की छुट्टी मिली हुई थी। (५) चीन के बहुत से बन्दरगाहों में विदेशी राज्यों को व्यापार आदि की विशेष सुविधाएं प्राप्त थीं। इनमें जो विदेशी लोग बसते थे, वे चीन के कानूनों व अदालतों के अधीन नहीं थे। चीनी सरकार को यह भी अधिकार नहीं था, कि वह तटकर की मात्रा व दर का स्वयं निश्चय कर सके। (६) चीन के अनेक प्रदेश, विशेषतया समुद्रतट के प्रदेश विदेशी राज्यों ने पट्टे पर लिये हुए थे और इन पर इन विदेशी राज्यों का पूर्ण रूप से आधिपत्य विद्यमान था।

इन सब बातों का परिणाम यह था, कि राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होता हुआ भी चीन वस्तुत: विदेशी राज्यों के साम्राज्यवाद का शिकार हो गया था। मञ्चू सरकार में यह शक्ति नहीं थी, कि विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभाव व प्रभुत्व से अपने देश की रक्षा कर सके।

**आर्थिक साम्राज्यवाद के कारण**—विदेशी राज्यों के लिये चीन में इस प्रकार अपना आर्थिक प्रभुत्व स्थापित कर सकना क्योंकर सम्भव हुआ, इस बात पर भी विचार करने की आवश्यकता है—(१) चीन के पास रुपये की कमी नहीं थी, वहां अनेक ऐसे कुल विद्यमान थे, जो अत्यन्त सम्पन्न व धनी थे। पर चीन में बैंक आदि ऐसी संस्थाओं का विकास नहीं हो पाया था, जिनमें लोग अपने रुपये को निश्चिन्तता और विश्वास के साथ जमा कर सकें और यह रुपया चीन के व्यावसायिक विकास, रेलवे निर्माण व इसी प्रकार के अन्य कार्यों के लिये प्रयुक्त हो सके। जॉयन्ट स्टाक कम्पनी की पद्धति से भी अभी चीनी लोग अपरिचित थे। इसलिये चीनी लोगों के लिये यह सम्भव नहीं हुआ, कि वे रेलवे निर्माण व खानों की खुदाई आदि के कार्य में अपनी पूंजी का प्रयोग कर सकें। यह सब कार्य विदेशियों ने अपने हाथों में ले लिया। (२) चीन-जापान युद्ध (१८९४-९५) और बोक्सर विद्रोह के बाद

चीन ने विदेशी राज्यों को जो भारी रकम अदा करनी थी, उसका प्रबन्ध करने का यही उपाय था कि या तो चीनी सरकार जनता से कर्ज ले सके या टैक्सों में वृद्धि करके अपनी आमदनी बढ़ा सके। बैंकों के अभाव में राष्ट्रीय ऋण प्राप्त कर सकना सुगम नहीं था और टैक्सों में वृद्धि करने से जनता में घोर असंतोष उत्पन्न हो जाने का भय था। चीन में सरकारी टैक्सों की दर परम्परागत रिवाज पर आश्रित थी। वहां किसी पार्लियामेन्ट की सत्ता नहीं थी, जो राष्ट्र की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर टैक्सों की दर में परिवर्तन करती रहे या नये टैक्सों को लगाने की व्यवस्था करे। आधुनिक युग में तटकर राजकीय आमदनी का महत्त्वपूर्ण साधन होता है। पर चीन में तटकर की दर विदेशियों के साथ की गई सन्धियों द्वारा निर्धारित थी और उनकी सहमति के बिना इसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सकना सम्भव नहीं था। (३) चीन की नौकरशाही अत्यन्त विकृत थी। जो कर वसूल होते थे, वे सब भी सरकारी खजाने में नहीं पहुंच पाते थे। इस कारण चीनी सरकार को रुपये की सदा कमी रहती थी और इसका यही परिणाम हो सकता था, कि वह निरन्तर विदेशी राज्यों के आर्थिक शिकंजे में जकड़ती जावे।

**आर्थिक प्रभुत्व का विकास**---विदेशी राज्य चीन में अपने आर्थिक प्रभुत्त्व को स्थापित करने में किस प्रकार सफल हुए, इस विषय में भी कुछ घटनाओं का उल्लेख करना उपयोगी है। १८९४-९५ के चीन-जापान युद्ध से पूर्व तक चीन पर कर्ज का बोझ अधिक नहीं था। इस युद्ध की समाप्ति पर चीनी सरकार इस बात के लिये विवश हुई, कि २३,००,००,००० ताअल (एक ताअल=२॥ तोला चांदी) हरजाने के रूप में जापान को प्रदान करे। चीन को इस भारी रकम को तीन किश्तों में अदा करना था। पहली किश्त रूसी सरकार ने उसे कर्ज के रूप में प्रदान कर दी, और उसे वसूल करने के लिये चीन के तट-कर को जमानत के रूप में प्राप्त कर लिया। हरजाने की रकम की अगली दो किश्तें ब्रिटेन और जर्मनी ने कर्ज के रूप में चीन को प्रदान कीं। इस कर्ज के बदले में उन्होंने किसी टैक्स को जमानत के रूप में नहीं रखाया, क्योंकि टैक्स को जमानत के तौर पर रखकर तो रूस भी चीन को यह रकम देने को तैयार था। रूस के मुकाबले में ब्रिटेन और जर्मनी इसीलिये यह कर्ज देने में सफल हुए, क्योंकि उन्होंने जमानत रखने पर जोर नहीं दिया था। पर चीनी सरकार को अपना कर्जदार बनाकर १८९८ में ब्रिटेन और जर्मनी उससे अनेक नई आर्थिक सुविधाओं को प्राप्त करने में समर्थ हुए। इन आर्थिक विशेषाधिकारों का उल्लेख इसी अध्याय में पहले किया जा चुका है।

बॉक्सर विद्रोह के बाद चीनी सरकार को ४,५०,००,००,००० रुपया विदेशी राज्यों को हरजाने के रूप में देना था। इस रकम को भी कर्ज लेकर ही प्राप्त किया

जा सकता था। इस नये कर्ज के लिये चीनी सरकार ने निम्नलिखित टैक्सों को अमानत के तौर पर विदेशी राज्यों को दे दिया—(१) जो चीनी बन्दरगाह विदेशियों के व्यापार के लिये नहीं खुले थे, उनसे प्राप्त होनेवाला तट कर, और (२) नमक से वसूल होनेवाली आमदनी। नमक के व्यवसाय पर चीनी सरकार का एकाधिपत्य था और वह उसकी आमदनी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन था। अब विवश होकर चीनी सरकार ने इस आमदनी को भी अपने उत्तमर्णों के पास जमानत के रूप में रख दिया। बीसवीं सदी में आगे चलकर भी चीन विदेशों से कर्ज लेने के लिये विवश हुआ। इन कर्जों का हम यथास्थान उल्लेख करेंगे। यहां इतना लिख देना पर्याप्त है, कि ज्यों-ज्यों चीनी सरकार विदेशों से ऋण लेती जाती थी, वह उनके आर्थिक शिकंजे में जकड़ती जाती थी। अपने कर्ज को वसूल करने के नाम पर ये विदेशी राज्य चीन की राजनीतिक स्वतन्त्रता में भी हस्तक्षेप करते थे और इन विदेशी शक्तियों के सम्मुख चीनी सरकार अपने को सर्वथा असहाय अनुभव करती थी।

रेलवे लाइनों के निर्माण, खानों की खुदाई और अन्य प्रकार से आर्थिक विकास के जो विशेषाधिकार विदेशी राज्यों ने चीन में प्राप्त कर लिये थे, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन सबने चीन में विदेशी प्रभुत्व के स्थापित होने में बहुत अधिक सहायता दी। इनके कारण चीन का आर्थिक जीवन विदेशी राज्यों के हाथों में आ गया था, और चीनी लोगों के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे स्वतन्त्रता के साथ अपने देश का विकास कर सकें।

सातवां अध्याय

# चीन में राज्यक्रान्ति

## (१) राजसत्ता में सुधार का प्रयत्न

**शासन की विकृत दशा**—उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में चीन के मञ्चू शासन की क्या दशा थी, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। पेकिंग की केन्द्रीय सरकार बहुत निर्बल थी। आवागमन के साधनों की उन्नति के अभाव में उसके लिये यह सुगम नहीं था, कि वह विशाल चीनी साम्राज्य के विविध प्रान्तों व अधीनस्थ राज्यों पर अपने नियन्त्रण को भलीभांति कायम रख सके। प्रान्तों के सूबेदार इस अवस्था से लाभ उठाकर सम्राट् की सरकार के आदेशों की उपेक्षा करने में संकोच नहीं करते थे। चीनी सरकार के पास आमदनी की भी सदा कमी रहती थी। राजकीय करों की दर में वृद्धि कर सकना सुगम नहीं था और तट-कर की दर में परिवर्तन तो तभी सम्भव था, जब कि विदेशी राज्य उससे सहमत हों। धन की कमी के कारण चीन के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह अपना आर्थिक विकास करने के लिये नये यन्त्रों व रेलवे आदि को प्राप्त कर सके और अपनी सेना को नये ढंग के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर सके। यही कारण है, कि विदेशी राज्यों का मुकाबला कर सकना चीनी सरकार के लिये सम्भव नहीं था और चीन-जापान युद्ध व बोक्सर विद्रोह के अवसरों पर उसे विदेशी राज्यों के सम्मुख नीचा देखना पड़ा था। मञ्चू सम्राट् इतने निर्बल थे, कि उनके लिये इस समय चीन को संभाल सकना सुगम नहीं रहा था।

**सुधारों के लिये आन्दोलन**—पर चीन में ऐसे विचारशील लोगों की कमी नहीं थी, जो अपने देश की इस दुर्दशा को अनुभव करते थे। किस प्रकार क्रान्तिकारी आन्दोलन चीन में शुरू हुए और किस प्रकार अनेक लोगों ने मञ्चू सरकार में सुधार का प्रयत्न किया, इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। सुधारवादी लोगों के प्रभाव में आकर सम्राट् कुआंग-ह्सु ने १८९८ में अनेक ऐसी आज्ञाएं प्रकाशित की थीं, जिनका उद्देश्य चीन के शासन में सुधार करना था। पर, उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी। साम्राज्ञी (राजमाता) त्सू ह्सी का आश्रय पाकर सुधार-विरोधी लोग प्रबल हो गये और सम्राट् कुआंग ह्सु को कैद कर त्सू-ह्सी ने शासनसूत्र को अपने हाथों में ले लिया। सुधार का आन्दोलन समाप्त हो

गया, और त्सू ह्सी के नेतृत्व में चीन का पुराने ढंग का एकतन्त्र व विकृत शासन यथापूर्व जारी रहा।

बॉक्सर विद्रोह के बाद चीन को विदेशी राज्यों के सम्मुख जिस प्रकार नीचा देखना पड़ा था, उसके कारण साम्राज्ञी त्सू ह्सी ने भी अनुभव किया, कि शासन-सुधार किये बिना चीन की उन्नति सम्भव नहीं है। साम्राज्ञी त्सू ह्सी यह मानने को तैयार नहीं थी, कि १८९८ के सुधारों का विरोध कर उसने कोई गल्ती की थी। उसका कहना था, कि १८९८ में सुधारवादियों का यत्न यह था, कि मन्चू शासन का सर्वथा अन्त कर एक नई क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना की जाय। पर वह यह स्वीकार करती थी, कि अब समय की गति को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक हो गया है, कि मन्चू राजवंश की सत्ता और चीन की प्राचीन मर्यादा को कायम रखते हुए शासन में ऐसे परिवर्तन होने चाहियें, जो चीन को उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ाने में समर्थ हों। त्सू ह्सी की इस नीति में उसका प्रधान सहायक युआन शी काई था, जो १८९८ के बाद से निरन्तर उसका साथ दे रहा था।

**सुधारों का सूत्रपात**—युआन शी काई की सहायता से साम्राज्ञी त्सू ह्सी ने शासन सुधार के कार्य को प्रारम्भ किया। सबसे पूर्व सेना के पुनः संगठन पर ध्यान दिया गया। १९०१ में एक राजाज्ञा प्रकाशित की गई, जिसके अनुसार सेना का नये ढंग से संगठन करने की व्यवस्था की गई। प्रान्तों के विविध सूबेदार अपनी अपनी जो सेनाएं रखते थे, उनके स्थान पर अब चीन की एक राष्ट्रीय सेना का निर्माण किया गया और यह निश्चय किया गया, कि चीन की राष्ट्रीय सेना में १९१२ तक छत्तीस डिविजनों का संगठन कर लिया जाय। रूस और जापान के युद्ध के समय पर इस प्रकार की सुसंगठित सेना की आवश्यकता को अत्यन्त उग्र रूप से अनुभव किया गया।

१९०५ में चीन की पुरानी परीक्षा पद्धति का अन्त कर देने के लिये आज्ञा जारी की गई। इस परीक्षा पद्धति के स्वरूप को हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। चीन में विविध राजकीय पदों पर जिन व्यक्तियों को नियत किया जाता था, उनके लिये इन परीक्षाओं को उत्तीर्ण करना आवश्यक होता था। इन परीक्षाओं के पाठ्य-विषय में आधुनिक युग के ज्ञान विज्ञान को कोई स्थान नहीं था। प्राचीन ग्रन्थों और धर्मशास्त्रों में प्रवीण होना ही इन परीक्षाओं के लिये आवश्यक होता था। इसी कारण चीन के सरकारी कर्मचारी नये ज्ञान-विज्ञान से सर्वथा अपरिचित होते थे और उनके लिये समय के अनुसार अपने को परिवर्तित कर सकना सम्भव नहीं होता था। विदेशों से शिक्षा प्राप्त करके जो लोग इस समय चीन में वापस आ रहे थे, वे सरकारी कर्मचारियों की संकीर्ण मनोवृत्ति को अनुभव करते थे और इसी कारण

१९०५ में सदियों पुरानी परीक्षापद्धति का अन्त किया गया और अब उन लोगों के लिये चीन में सरकारी पद प्राप्त करना सम्भव हो गया, जो प्राचीन ग्रन्थों से अपरिचित होते हुए भी नये ज्ञान-विज्ञान से भलीभांति परिचित थे । बीसवीं सदी के शुरू में चीन के नवयुवकों में यह प्रवृत्ति बहुत प्रबल हो गई, कि वे अमेरिका आदि विदेशों में जाकर शिक्षा प्राप्त करें ।

रूस-जापान के युद्ध में जापान के विजयी होने पर चीन में सुधारवादी आन्दोलन को बहुत बल मिला । यदि जापान नये ज्ञान विज्ञान को अपनाकर और अपने देश के शासन को आधुनिक ढंग पर संगठित करके इतना शक्तिशाली हो सकता है, कि रूस जैसे विशाल और यूरोपियन देश को परास्त कर सके, तो क्या कारण है, कि चीन भी उसी के मार्ग का अनुसरण कर अपने को विदेशी प्रभुत्व से मुक्त नहीं कर सकता—यह विचार चीन के लोगों में बहुत प्रबल हो गया । साम्राज्ञी त्सू ह्सी और उसके पार्श्वचर भी इस विचार से प्रभावित हुए और इसी कारण उन्होंने शासन के प्रकार में सुधारों का प्रारम्भ किया । १९०५ में एक मिशन इस उद्देश्य से पाश्चात्य देशों में भेजा गया, कि वह वहां के विविध देशों की शासन पद्धतियों का अनुशीलन कर यह प्रस्तावित करे, कि चीन की दशा और परिस्थिति के अनुसार कौन से सुधार उसके लिये उपयोगी हैं ।

**शासन सम्बन्धी सुधार**—१९०८ में पेकिंग की मञ्चू सरकार ने एक घोषणा द्वारा उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जिनके अनुसार वह चीन में शासन सुधार करने के लिये तैयार है । ये सिद्धान्त निम्नलिखित थे—(१) मञ्चू राजवंश की सत्ता और शक्ति को अक्षुण्ण रखा जावे । शासन में जो भी सुधार किये जावें, वे सम्राट् की इच्छानुसार व उसी की आज्ञा से हों । मञ्चू राजवंश का शासन चीन में सदा स्थिर रहेगा और उसके आधिपत्य व अधिकारों में किसी भी प्रकार से कमी नहीं आने पावेगी । (२) सुधार धीरे-धीरे किये जावें । पहले प्रान्तों में स्थानीय स्वशासन की स्थापना हो, पुलिस का पुनः संगठन किया जाय, देश के कानूनों को व्यवस्थित किया जाय, बाकायदा जनगणना की पद्धति जारी की जाय, और शिक्षा के प्रसार का प्रयत्न हो । चीनी सरकार के लिये बाकायदा बजट तैयार करने की व्यवस्था हो और सरकारी आय-व्यय को नियमित रूप से आडिट किया जाया करे । (३) जब इन सुधारों द्वारा चीन की सरकार का संगठन सुव्यवस्थित हो जाय, तो बाद में एक पार्लियामेन्ट की स्थापना की जाय । साथ ही चीन में एक मन्त्रिपरिषद् बनाई जाय, जिसके हाथ में देश के कानूनों को क्रिया में परिणत करने का कार्य हो । (४) प्रत्येक प्रान्त में विधान सभायें स्थापित की जावें, जिनके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित हुआ करें । पार्लियामेन्ट की स्थापना से पूर्व प्रान्तों में विधान सभाओं

का संगठन कर लिया जावे और सब शासनसुधार इतने समय में पूर्ण कर लिये जावें, कि नौ साल (१९१७) तक पेकिंग में पार्लियामेन्ट की स्थापना सम्भव हो सके।

साम्राज्ञी त्सू ह्सी द्वारा शासन सुधार की जिस नीति का प्रतिपादन किया गया था, उसके अनुसार कार्य भी प्रारम्भ कर दिया गया। सन् १९०९ मे चीन में पहली बार प्रान्तो की विधानसभाओं की रचना की गई। इन सभाओं के सदस्य चुनने के लिये वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को दिया गया था। विधान सभाओं की शक्ति को भी बहुत मर्यादित रखा गया था। उन्हें यह अधिकार नहीं था, कि सरकार के कार्यों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण रख सकें। उनका कार्य केवल यह था, कि प्रान्त के सूबेदार की ओर से जो विषय विचार के लिये पेश किये जावें, उन पर बहस करें और अपने विचारों से सूचित करें। मञ्चू सरकार की दृष्टि में उनका प्रयोजन केवल यह था, कि उन द्वारा जनता की सम्मति और विचारों का शासकवर्ग को परिचय मिलता रहे। पर चीन की जनता में इस समय इतनी अधिक जागृति हो चुकी थी, और लोकतन्त्र की भावना उनमें इतनी प्रबल हो गई थी, कि प्रान्तों की विधानसभाओं के सदस्यों ने सरकार की आलोचना प्रारम्भ कर दी और इस बात का प्रयत्न किया, कि पाश्चात्य देशों की विधानसभाओं के समान चीन की ये विधान सभाएं भी सरकार की शासननीति और कार्यों पर नियन्त्रण रखें। यही कारण है, कि जब तीन साल बाद चीन में राज्यक्रान्ति हुई, तो विविध विधान-सभाओं के बहुसंख्यक सदस्यों ने उसका स्वागत किया।

**साम्राज्ञी त्सू ह्सी की मृत्यु**—प्रान्तों में विधानसभाओं की स्थापना से पूर्व ही सम्राट् कुआंग ह्सू की मृत्यु हो गई थी। हम पहले लिख चुके हैं, कि यह सम्राट् साम्राज्ञी (राजमाता) त्सू ह्सी द्वारा कैद में डाल दिया गया था, और राज-प्रासाद में ही एक कैदी के समान जीवन व्यतीत कर रहा था। असली शासन शक्ति त्सू ह्सी के हाथों में थी। कुआंग ह्सू की मृत्यु के कुछ देर बाद ही त्सू ह्सी की भी मृत्यु हो गई। मरने से पूर्व साम्राज्ञी ने इस बात की व्यवस्था कर दी थी, कि मञ्चू राजसिंहासन पर अब कौन व्यक्ति आरूढ़ हो। नया सम्राट् ह्सुआन तुंग अभी बालक ही था, अतः शासन कार्य का संचालन प्रिंस चुन के हाथों में आया, जो कि प्रतिभू (रीजेन्ट) के तौर पर चीन का शासन करने के लिये प्रवृत्त हुआ। मृत्यु से पूर्व सम्राट् कुआंग ह्सू ने यह इच्छा प्रकट की थी, कि युआन शी काई को प्राणदण्ड दिया जाय। १८९८ में युआन शी काई ने साम्राज्ञी त्सू ह्सी का पक्ष लेकर कुआंग ह्सू के साथ जो विश्वासघात किया था, उसके कारण उसके हृदय में युआन शी काई के प्रति उग्र विद्वेष की भावना विद्यमान थी। प्रिंस चुन ने दिवंगत सम्राट् की

इच्छा को पूर्ण करने के लिये युआन शी काई को प्राणदण्ड तो नहीं दिया, पर उसे पदच्युत अवश्य कर दिया।

**राष्ट्रीय महासभा**—साम्राज्ञी त्सू ह्सी ने जिन शासनसुधारों का सूत्रपात किया था, प्रिंस चुन ने उनको जारी रखा। १९०९ में उसी के आदेश के अनुसार प्रान्तों में विधानसभाओं की स्थापना हुई थी। अक्टूबर, १९१० में सम्पूर्ण चीन के लिये प्रथम बार राष्ट्रीय महासभा की स्थापना की गई। इसके आधे सदस्य केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किये गये थे और शेष आधे सदस्य प्रान्तीय विधानसभाओं द्वारा निर्वाचित हुए थे। सरकार को आशा थी, कि महासभा के सदस्य उग्र विचारों के न होकर मञ्चू राजसत्ता के समर्थक होंगे। पर नये विचार चीन में इतने अधिक प्रबल हो चुके थे, कि राष्ट्रीय महासभा ने शासनसुधारों के लिये बड़ी प्रबलता के साथ मांग शुरू कर दी। उसने मांग की, कि चीन में जल्दी से जल्दी नये शासन-विधान का निर्माण किया जाना चाहिये और वहां ऐसी पालियामेन्ट की स्थापना होनी चाहिये, जो सरकार पर अपना नियन्त्रण रख सके। मन्त्रिमण्डल पालिया-मेन्ट के प्रति उत्तरदायी हो और वह तभी तक अपने पद पर रह सके, जब तक कि पालियामेन्ट के बहुसंख्यक सदस्यों का विश्वास उसे प्राप्त रहे। राष्ट्रीय महासभा ने सरकार के कार्यों और नीति की आलोचना करने में भी संकोच नहीं किया।

यदि इस समय चीन की मञ्चू सरकार बुद्धिमत्ता से कार्य करती, तो वहां राज्यक्रान्ति की आवश्यकता न होती। यूरोप के विविध राज्यों और जापान के समान वहां भी वैध राजसत्ता का विकास होता और मञ्चू राजवंश देर तक चीन के राजसिंहासन पर आरूढ़ रह सकता। पर पेकिंग की सरकार को राष्ट्रीय महा-सभा का रुख जरा भी पसन्द नहीं था। उसने जनता की भावनाओं की उपेक्षा की। इसी का यह परिणाम हुआ कि चीन में वैध राजसत्ता का विकास न होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई।

## (२) चीन की राज्यक्रान्ति

**राज्यक्रान्ति के कारण**—१९११ में चीन में राज्यक्रान्ति हो गई। मञ्चू राजवंश का अन्त हुआ और रिपब्लिक की स्थापना की गई। इस राज्यक्रान्ति के मुख्य कारण थे, उन पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है।

(१) आर्थिक दृष्टि से चीन की जनता में घोर अशान्ति थी। वहां की आबादी बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थी। देश में जो खाद्य सामग्री उत्पन्न होती थी, वह जनता के लिये पर्याप्त नहीं थी। १८८५ में चीन की कुल आबादी ३७,७०,००,००० थी। १९११ में वह बढ़कर ४३,००,००,००० हो गई थी। पचीस साल के समय

में चीन में छः करोड़ मनुष्य बढ़ गये थे। इतने मनुष्यों के लिये खाद्य सामग्री का जुटा सकना तभी सम्भव था, जब कि पैदावार में भी इसी अनुपात से वृद्धि हो। पर चीन में पहले की अपेक्षा अधिक अनाज उत्पन्न करने का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया था। बढ़ती हुई आबादी को अपना निर्वाह कर सकना कठिन प्रतीत होता था। इसके साथ ही दुर्भिक्ष और बाढ़ों की प्रचुरता के कारण चीन में खेती को नुकसान भी बहुत अधिक पहुंचा करता था। १९१०-११ में चीन की अनेक नदियों में भयंकर बाढ़ें आईं। इनसे न केवल खेती नष्ट हुई, अपितु हजारों गांव भी बह गये। लाखों नर-नारी बे घर-बार हो गये और उनकी आजीविका का कोई भी साधन नहीं रह गया। अनुमान किया गया है, कि १९१०-११ ...ढ़ों के कारण तीस लाख के लगभग मनुष्यों ने भूख के कारण तड़प तड़प...र जान दी। जब आर्थिक दृष्टि से जनता की इतनी दुर्दशा हो, तो यह स्वाभाविक है, कि उसमें विद्रोह की प्रवृत्ति उत्पन्न हो। जनसंख्या की वृद्धि और सरकार की निर्बलता के कारण इस समय चीन में प्रायः हर साल ही दुर्भिक्ष पड़ते थे और बहुत से लोगों को पर्याप्त अन्न न मिलने के कारण मृत्यु का शिकार बनना पड़ता था। इससे उनमें विद्रोह की प्रवृत्ति प्रबल होती जाती थी। १९१०-११ की बाढ़ों और दुर्भिक्ष ने इस प्रवृत्ति को और भी अधिक उग्र बना दिया था।

(२) अपने देश में आर्थिक दुर्दशा से परेशान होकर बहुत से चीनी लोगों ने इस समय आजीविका की तलाश में विदेशों में जाकर बसना प्रारम्भ कर दिया था। शुरू में चीनी लोग संयुक्तराज्य अमेरिका में जाया करते थे। पर १८९० में वहां की सरकार ने चीनी लोगों के खिलाफ अनेक कानून स्वीकृत किये, और उनके लिये अमेरिका में जाकर बस सकने का मार्ग बन्द हो गया। पर फिर भी १९११ में संयुक्तराज्य अमेरिका में बसे हुए चीनी लोगों की संख्या तीन लाख के लगभग थी। अमेरिका में बस सकने का मार्ग जब चीनी लोगों के लिये बन्द हो गया, तो उन्होंने हवाई, फिलिप्पीन, मलाया आदि में जाकर बसना शुरू किया। हवाई और फिलिप्पीन में भी उनके खिलाफ कानून स्वीकृत किये गये। मलाया में चीनी लोग ...नी अधिक संख्या में आजीविका की तलाश में गये, कि १९११ में वहां उनकी ... १३,००,००० तक पहुंच गई। दक्षिणी अमेरिका के विविध देशों में भी चीनी लोग कुली का पेशा करने के लिये जाने लगे और प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा के अनुसार लाखों चीनियों को वहां कुली या गुलाम के रूप में कार्य करने के लिये ले जाया गया। इतनी बड़ी संख्या में चीनियों का विदेशों में जाना इस बात को भलीभांति सूचित करता है, कि इस समय चीनी लोगों की आर्थिक दृष्टि से कितनी दुर्दशा थी। पर चीनियों के इस प्रकार विदेश जाने का एक परिणाम यह भी हुआ, कि विदेशों में

प्रवास करनेवाले चीनी लोगों को नये विचारों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला और यह बात चीन में क्रान्ति की भावना को विकसित करने में बहुत सहायक हुई।

(३) क्रान्तिकारी दल चीन में पहले से विद्यमान था। पाश्चात्य देशों से उच्च शिक्षा प्राप्त कर जो लोग अपने देश को वापस आ रहे थे, वे यूरोप के ज्ञान विज्ञान के साथ साथ वहां की क्रान्तिमयी भावनाओं को भी अपने साथ ला रहे थे। डा० सन यात-सेन के नेतृत्व में जिस क्रान्तिकारी दल का संगठन चीन में हुआ था, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। १८९८ में इन क्रान्तिकारी लोगों को चीन छोड़कर बाहर भागना पड़ा और डा० सन यात सेन ने जापान जाकर आश्रय लिया। वहां रहते हुए इस प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता ने अपने दल का पुन: संगठन किया और तुंग मेंग हुई नाम से एक नये क्रान्तिकारी दल का निर्माण हुआ। इस दल के लोग मञ्चू राजवंश का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना के पक्षपाती थे। शुरू में इस दल में वे चीनी लोग सम्मिलित हुए, जो विदेशों में बसे हुए थे। पर धीरे-धीरे चीन में भी इसकी शाखाएं स्थापित हुईं। सेना के सिपाहियों में भी यह दल अपना कार्य कर रहा था, और इसके प्रयत्नों से १९०६-१९०७ और १९१० में अनेक स्थानों पर विद्रोह भी हुए थे।

(४) १९०५ में चीन की प्राचीन परीक्षा पद्धति का अन्त कर दिया गया था। अब सरकारी पदों के लिये नियुक्ति करते हुए प्राचीन ग्रन्थों में निपुणता की अपेक्षा आधुनिक शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा था। चीन में अभी ऐसे उच्च शिक्षणालय पर्याप्त संख्या में नहीं स्थापित हुए थे, जिनमें आधुनिक ज्ञान विज्ञान की शिक्षा की सुविधा हो। इसलिये १९०५ के बाद बहुत अधिक चीनी विद्यार्थियों ने यूरोप और अमेरिका जाना शुरू किया। जो लोग इतनी दूर उच्च शिक्षा के लिये जा सकने में असमर्थ थे, वे अपने पड़ोसी जापान के कालिजों में प्रविष्ट होने लगे। इस समय तक जापान उच्च शिक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य देशों का समकक्ष हो गया था। १९०५ के बाद इतने अधिक चीनी विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिये जापान गये, कि वहां उनके लिये प्रवेश पा सकना कठिन हो गया। परिणाम यह हुआ, कि बहुत से प्राइवेट कालिज जापान में स्थापित हुए, जिनका उद्देश्य चीनी विद्यार्थियों को भरती कर रुपया कमाना था। इनमें अध्यापन का समुचित प्रबन्ध नहीं था, पर इनमें पढ़नेवाले चीनी विद्यार्थी जहां नये ज्ञान विज्ञान से थोड़ा बहुत परिचय प्राप्त कर लेते थे, वहां साथ ही उन्हें क्रान्तिकारी चीनी दल के सम्पर्क में आने का भी सुवर्णीय अवसर मिल जाता था। १८९८ में जो चीनी क्रान्तिकारी नेता जापान में आश्रय ग्रहण करने के लिये विवश हुए थे, वे इन चीनी विद्यार्थियों में बड़े उत्साह से अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे।

(५) छापेखाने का आविष्कार सबसे पूर्व चीन में ही हुआ था। पर चीन के ये पुराने प्रेस पहले केवल प्राचीन पुस्तकों के मुद्रण का ही कार्य किया करते थे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में चीन में समाचार पत्रों का प्रकाशन भी शुरू हो गया था। ये समाचारपत्र जनता में नई भावनाओं को विकसित करने और लोकतन्त्र शासन की स्थापना के लिये आन्दोलन करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे।

(६) १९१० की राज्यक्रान्ति के प्रादुर्भाव में जहां ये सब आधारभूत कारण थे, वहां एक सामयिक समस्या ऐसी भी उत्पन्न हो गई थी, जिसने पेकिंग की केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध प्रान्तीय शासकों में विरोध भावना को विकसित कर दिया था। इस समय चीन में रेल्वे लाइनों का बड़ी तेजी के साथ निर्माण हो रहा था। पेकिंग सरकार से अनुमति लेकर अनेक विदेशी राज्य चीन के विविध प्रदेशों में रेल्वे का निर्माण करने में तत्पर थे। इस दशा में चीन के अनेक प्रान्तों के सूबेदारों के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ, कि क्यों न वे अपने प्रदेशों में स्वयं रेल्वे का निर्माण करें और इसके लिये आवश्यक पूंजी अपने प्रान्त की राजकीय आमदनी द्वारा प्राप्त कर लें। पर इस सम्बन्ध में पेकिंग की केन्द्रीय सरकार की नीति यह थी, कि रेल्वे लाइनों का निर्माण केन्द्रीय शासन के नियन्त्रण में ही रहे। पेकिंग सरकार के पास पूंजी का अभाव था पर वह विदेशी राज्यों से कर्ज लेकर पूंजी प्राप्त कर सकती थी। विदेशी लोग चीन में जिस प्रकार अपना आर्थिक प्रभुत्त्व स्थापित करने के लिये उत्सुक थे, उसके कारण पेकिंग सरकार को पूंजी का प्रबन्ध करने में किसी विशेष कठिनाई का सामना करने की आवश्यकता नहीं थी। पर अनेक प्रान्तीय सूबेदार चीन में विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभुत्त्व को चिन्ता की दृष्टि से देख रहे थे और वे इस बात पर जोर दे रहे थे, कि उनके अपने प्रदेशों में रेल्वे निर्माण का कार्य उन्हीं के सुपुर्द कर दिया जाय। इस विषय में केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों में बहुत विरोध हुआ और यही कारण है कि १९११ की राज्यक्रान्ति के समय अनेक प्रान्तों ने क्रान्तिकारियों का साथ दिया। १९११ में आवागमन के विभाग का प्रधान अधिकारी शेंग ह्सुअन-हुआई को नियत किया गया। यह रेल्वे लाइनों को केन्द्रीय सरकार के प्रभुत्त्व में रखने का प्रबल पक्षपाती था और इसने रेल्वे विस्तार के लिये पूंजी प्राप्त करने के लिये विदेशी राज्यों से कर्ज लेने की योजना को क्रिया में परिणत किया। ब्रिटेन आदि विदेशी राज्यों से भारी रकम कर्ज ली गई। प्रान्तों में इससे बहुत अधिक असन्तोष हुआ और अनेक स्थानों पर विद्रोह प्रारम्भ हो गये।

(७) जिस समय पेकिंग सरकार की नीति के विरुद्ध अनेक स्थानों पर विद्रोह शुरू हो गये थे, १० अक्टूबर, १९११ को हैंको में एक बॉम्ब फूट गया। अनुसन्धान

के बाद मालूम हुआ, कि जिस मकान में बॉम्ब फूटा था, वहां चीन के क्रान्तिकारी दल का बड़ा अड्डा था और वहां बॉम्ब आदि अस्त्र बड़ी मात्रा में तैयार किये जाते थे। पुलिस ने हैंको के क्रान्तिकारियों को बड़ी संख्या में गिरफ्तार किया और उनमें से बहुतों को प्राणदण्ड दिया। इस प्रदेश की सेना के भी अनेक अफसर व सैनिक क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित होने के सन्देह में गिरफ्तार किये गये। इससे सेना में बहुत असन्तोष हुआ। अन्य सैनिकों को भी यह सन्देह हुआ, कि कहीं उन्हें भी क्रान्तिकारी दल से सहानुभूति रखने के कारण गिरफ्तार न कर लिया जाय। परिणाम यह हुआ, कि यांगत्से नदी के पार वूचांग प्रदेश की सेना ने विद्रोह कर दिया। अपने सेनानायक कर्नल ली युआन-हुंग को विद्रोही सैनिकों ने इस बात के लिये विवश किया, कि वह उनका नेतृत्व करे। आगे चलकर यह ली युआन हुंग क्रान्तिकारी चीन का एक प्रधान नेता बन गया और अन्त में चीनी रिपब्लिक के राष्ट्रपति पद पर भी अधिष्ठित हुआ।

अब चीन में राज्यक्रान्ति का प्रारम्भ हो गया था।

**राज्यक्रान्ति की प्रगति**—वूचांग की सेना द्वारा सन् १९११ के अन्तिम सप्ताहों में जो विद्रोह प्रारम्भ किया गया था, वह शीघ्र ही यांगत्से व उसके दक्षिणवर्ती प्रदेशों में फैल गया। शांतुंग और चिहली के प्रान्तों की सेनाओं ने भी पेकिंग सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उत्तरी चीन की सेनायें मञ्चू सरकार के प्रति अनुरक्त रहीं, और विद्रोह में शामिल नहीं हुईं। इन सेनाओं का संगठन युआन शी काई द्वारा किया गया था और ये आधुनिक ढंग पर संगठित थीं। यांगत्से के दक्षिणी प्रदेश क्रान्तिकारियों के साथ थे और उत्तरी चीन में मञ्चू शासन सुव्यवस्थित रूप से स्थापित था। विद्रोही प्रदेशों में एक सुसंगठित क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना का भी उद्योग किया गया। दक्षिणी चीन में क्रान्ति की ज्वालाएं शंघाई तक पहुंच गईं और वहां एक स्वतन्त्र रिपब्लिकन सरकार का संगठन किया गया। इस सरकार में विदेश मन्त्री का पद श्री वू टिंग फांग ने ग्रहण किया। ये सज्जन पहले संयुक्तराज्य अमेरिका में चीनी राजदूत के पद पर रह चुके थे और पाश्चात्य राज्यों की शासन पद्धति से भलीभांति परिचित थे। इन्होंने एक उद्घोषणा पत्र प्रकाशित किया, जिसमें क्रान्तिकारी सरकार के उद्देश्यों और कार्यक्रम का भलीभांति निरूपण किया गया और विदेशी राज्यों से यह अनुरोध किया कि वे पेकिंग सरकार की किसी भी प्रकार की सहायता न करें और चीन के इस आन्तरिक प्रश्न पर सर्वथा उदासीन नीति का अनुसरण करें। इस उद्घोषणापत्र में यह बात भी स्पष्ट कर दी गई थी, कि यदि इस समय विदेशी राज्यों ने पेकिंग सरकार की आर्थिक सहायता

करने के उद्देश्य से उसे कोई ऋण दिया, तो चीन की रिपब्लिकन सरकार उसे स्वीकार नहीं करेगी।

जब चीन के विविध प्रान्तों में विद्रोह की अग्नि भड़क रही थी, पेकिंग में राष्ट्रीय महासभा शासन सुधार के लिये नई नई मांगें पेश करने में तत्पर थी। २२ अक्टूबर, १९११ को राष्ट्रीय महासभा का नया अधिवेशन शुरू हुआ। इसने मांग की कि शेंग ह्सुअन हुआई को अपने पद से बर्खास्त कर दिया जाय। आवागमन विभाग के प्रधान अधिकारी की स्थिति में इन सज्जन ने विदेशी पूंजी को प्राप्त कर केन्द्रीय सरकार की ओर से रेलवे विस्तार की जिस नीति का अनुसरण किया था, उससे चीन के विविध प्रान्तों में घोर असन्तोष विद्यमान था। शेंग ह्सुअन हुआई को अपने पद से पृथक् कर दिया गया। निःसन्देह, यह लोकमत की भारी विजय थी। अब राष्ट्रीय महासभा ने मांग की, कि चीन में मन्त्रिमण्डल की बाकायदा स्थापना होनी चाहिये। इस मन्त्रिमण्डल को निर्माण करने का कार्य किसी ऐसे सुयोग्य नेता को सुपुर्द करना चाहिये, जिस पर जनता को विश्वास हो। राज परिवार का कोई भी व्यक्ति मन्त्रिमण्डल में नहीं होना चाहिये और शीघ्र ही चीन में नये शासनविधान का निर्माण किया जाना चाहिये। राष्ट्रीय महासभा की एक मांग यह भी थी, कि जिन लोगों को किसी राजनीतिक अपराध के कारण गिरफ्तार किया गया है, व जिन्हें देश से बहिष्कृत किया गया है, उन सबको क्षमा प्रदान की जाय। पेकिंग की मञ्चू सरकार राष्ट्रीय महासभा की इन सब मांगों को स्वीकृत करने के लिये विवश हुई। सेना में सर्वत्र जिस प्रकार विद्रोह हो रहे थे, उसकी उपेक्षा कर सकना अब सम्भव नहीं रहा था। नवम्बर, १९११ के शुरू में मञ्चू सम्राट् की ओर से इन सब मांगों को स्वीकृत कर लिया गया।

पर चीन के विविध प्रान्तों में क्रान्तिकारी लोगों के विद्रोह जो गम्भीर रूप धारण कर रहे थे, उनको उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता था। इस समय चीन की सबसे बड़ी आवश्यकता यह थी, कि शासनसूत्र का संचालन किसी ऐसे सुयोग्य व शक्तिशाली व्यक्ति के हाथों में दिया जाय, जो अव्यवस्था और विद्रोह का शमन कर शान्ति स्थापित करने में समर्थ हो। अब यह कार्य युआन शी काई के सुपुर्द किया गया और उससे यह प्रार्थना की गई, कि वह पेकिंग सरकार के संचालन का कार्य अपने हाथों में ले ले। ८ नवम्बर, १९११ को राष्ट्रीय महासभा ने युआन शी काई को प्रधान मन्त्री निर्वाचित किया और स्थल व जलसेना के प्रधान सेनापति का कार्य भी उसी के सुपुर्द कर दिया गया।

**वैध राजसत्ता की स्थापना का उद्योग**—युआन शी काई मञ्चू राजवंश की सत्ता का पक्षपाती था। समय की गति को देखकर उसने निश्चय किया, कि चीन में वैध

राजसत्ता की स्थापना द्वारा ही मञ्चू राजवंश की सत्ता को कायम रखा जा सकता है। पर मञ्चू राजवंश को इस बात के लिये तैयार कर सकना सुगम नहीं था, कि वह अपनी शक्ति और अधिकारों का परित्याग कर उस स्थिति को स्वीकार कर ले, जो इङ्गलैण्ड में राजा की थी। अतः युआन शी काई ने अनुभव किया, कि विद्रोहियों को अपने प्रयत्न में सफल होने देना देश के लिये हितकर है। यदि क्रान्तिकारी लोग निरन्तर प्रबल होते जावेंगे, तभी मञ्चू राजवंश के लोग यह समझ सकेंगे, कि उन्हें भी समय के साथ साथ बदलना चाहिये और चीन में वैध राजसत्ता की स्थापना की जानी चाहिये। पर साथ ही युआन शी काई यह भी अनुभव करता था, कि यदि क्रान्तिकारी लोग अधिक प्रबल हो जावेंगे, तो उनको मञ्चू राजवंश की सत्ता के स्वीकृत करने के लिये मनवा सकना असम्भव हो जायगा। इस प्रकार युआन शी काई एक कुशल राजनीतिज्ञ के रूप में इस बात का प्रयत्न कर रहा था, कि न क्रान्तिकारी लोग अधिक प्रबल होने पावें और न ही मञ्चू राजवंश यह अनुभव कर सके, कि उसकी शक्ति बहुत प्रबल है। उसकी सेनाओं ने अनेक स्थानों पर क्रान्तिकारी सेनाओं का डटकर मुकाबला किया और क्रान्तिकारी नेताओं को इस बात के लिये विवश किया, कि वे उसके साथ समझौता करने का उद्योग करें।

## (३) रिपब्लिक की स्थापना

**सामयिक रिपब्लिकन सरकार की स्थापना**—युआन शी काई की इसी नीति के कारण जहां पेकिंग की सरकार एक तरफ क्रान्तिकारियों के विरुद्ध सैन्यशक्ति का प्रयोग कर रही थी, वहां साथ ही वह कर्नल ली युआन हुंग के साथ समझौते की बातचीत में भी तत्पर थी। ली युआन हुंग सन्धि की बातचीत के लिये तैयार था, पर शंघाई में स्थित क्रान्तिकारी सरकार ने इस बात पर जोर दिया, कि समझौते की बातचीत उसी के साथ की जाय। कर्नल ली युआन हुंग ने भी इस बात को स्वीकार किया, कि क्रान्तिकारी लोगों से सुलह करने के लिये शंघाई की सरकार से बातचीत करना ही अधिक उपयुक्त है। युआन शी काई ने अपनी ओर से तांग-शाओ-यी को समझौते की शर्तें तय करने के लिये नियत किया। शंघाई की सरकार की ओर से डा० वू तिंग फांग को अपना प्रतिनिधि बनाया गया। ये दोनों सज्जन कैन्टन के निवासी थे और इन दोनों की उच्च शिक्षा अमेरिका में हुई थी। जिस समय पेकिंग की मञ्चू सरकार और शंघाई की क्रान्तिकारी सरकार में परस्पर समझौते की बातचीत जारी थी, विविध क्रान्तिकारी नेताओं ने यह निश्चय किया, कि वे परस्पर मिलकर रिपब्लिकन सरकार का बाकायदा संगठन कर लें। कर्नल ली युआन हुंग की प्रेरणा से विविध क्रान्तिकारी नेता नानकिंग में एकत्र हुए। इन

नेताओं का चुनाव या तो क्रान्तिकारी सेनाओं द्वारा किया गया था और या प्रान्तीय विधान सभाओं द्वारा। चीन के जिन प्रान्तों ने पेकिंग की केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके क्रान्तिकारियों का साथ दिया था, उनकी प्रान्तीय विधानसभाएं पूर्ण उत्साह से क्रान्तिकारी रिपब्लिकन सरकार की स्थापना में सहयोग दे रही थीं। नानकिंग में जिस सामयिक रिपब्लिकन सरकार का संगठन हुआ, उसमें राष्ट्रपति पद के लिये डा० सन यात सेन को निर्वाचित किया गया। १८९८ में डा० सन यात सेन चीन छोड़कर जापान चले जाने के लिये विवश हुए थे और इस समय में अमेरिका में निवास करते हुए वहां के प्रवासी चीनी लोगों में क्रान्ति की भावना को विकसित करने में तत्पर थे। १९११ की क्रान्ति को उन्होंने अपने स्वप्नों को चरितार्थ कर सकने का उपयुक्त अवसर समझा और वे चीन वापस लौट आये। २९ दिसम्बर, १९११ के दिन उन्हें सामयिक रूप से चीनी रिपब्लिक का राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया और १ जनवरी, १९१२ को उन्होंने अपने पद के कार्यभार को संभाल लिया। नानकिंग की इस सामयिक रिपब्लिकन सरकार के संगठित हो जाने के कारण क्रान्तिकारियों की शक्ति बहुत बढ़ गई। इस क्रान्तिकारी सरकार में नव-जीवन और शक्ति थी। इसके विपरीत मञ्चू सरकार की दशा अत्यन्त विकृत और निर्बल थी।

**समझौते की बातचीत**—डा० वू तिंग फांग और तांग-शाओ-यी में समझौते की जो बातचीत चल रही थी, वह तभी सफल हो सकती थी, जब पहले इस बात का फैसला हो जाय कि चीन में शासन का प्रकार क्या हो। इसके लिये यह प्रस्ताव पेश किया गया, कि शासन के प्रकार का निर्णय करने का कार्य एक संविधान परिषद् के सुपुर्द कर दिया जाय, जिसके सदस्य जनता के वोटों द्वारा निर्वाचित हों। पर लोकमत द्वारा संविधान परिषद् के निर्माण के प्रश्न पर दोनों पक्षों में समझौता नहीं हो सका। क्रान्तिकारी सरकार के प्रतिनिधि डा० वू तिंग-फांग ने इस बात पर जोर दिया, कि मञ्चू राजवंश के नेतृत्व में चीनी राष्ट्र को उन्नत कर सकना असम्भव है। मञ्चू दरबार इतना अधिक विकृत हो चुका है, कि उसमें नवजीवन का संचार कर सकना सुगम बात नहीं है। श्री. तांग शाओ-यी ने भी इस बात को स्वीकार किया। दोनों पक्ष इस समय समझौते के लिये उत्सुक थे, कारण यह कि किसी के पास भी युद्ध को जारी रखने के लिये इस समय पर्याप्त धन नहीं था। विदेशी राज्यों ने परस्पर मिलकर यह फैसला कर लिया था, कि वे किसी भी पक्ष की आर्थिक सहायता नहीं करेंगे। मञ्चू सरकार का खजाना खाली हो चुका था और युआन शी काई ने मञ्चू सम्राट् के घरेलू कोष से भी धन प्राप्त करने में संकोच नहीं किया था। नानकिंग की रिपब्लिकन सरकार के पास जो कुछ भी धन

था, वह या तो जनता से चन्दा एकत्र कर और या प्रान्तों की राजकीय आमदनी द्वारा प्राप्त किया गया था। यह धन इतना नहीं था, कि युद्ध को देर तक चलाया जा सके। इस अवस्था में दोनों पक्षों ने इसी बात में अपना हित समझा, कि युद्ध को बन्द कर आपस में सुलह कर ली जाय।

**समझौते की शर्तें**—१२ फरवरी, १९१२ को युआन शी काई और डा० सन यात सेन की सरकारों ने परस्पर समझौता कर लिया। इसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) मञ्चू राजवंश का अन्त कर दिया जाय। सम्राट् ह्सुआन तुंग (उसकी आयु इस समय केवल छः साल की थी) जीवन पर्यन्त सम्राट् की पदवी का प्रयोग कर सके, राजप्रासाद पर उसका कब्जा रहे और जीवन भर उसे एक अच्छी बड़ी धनराशि वार्षिक रूप से राज्यकोष से प्राप्त होती रहे। मञ्चू राजकुल की जो समाधियां हैं, उनकी रक्षा का भार राज्य पर रहे। (२) मञ्चू वंश की राजसत्ता की समाप्ति पर चीन में नई सरकार की स्थापना का कार्य युआन शी काई के सुपुर्द किया जाय।

चीन के लोगों ने इस समझौते को स्वीकार कर बहुत बुद्धिमत्ता का कार्य किया। मञ्चू राजवंश ने स्वयं अपने राजसिंहासन के परित्याग की बात स्वीकार कर अपने गौरव और प्रतिष्ठा को कायम रखा। यदि मंचू लोग समय की लहर के विरुद्ध क्रान्ति की प्रवृत्तियों का मुकाबला करने का प्रयत्न करते, तो उनकी भी वही गति होती, जो कि फ्रांस के बूर्बों राजवंश की हुई थी। सम्राट् की ओर से ही एक घोषणा १२ फरवरी, १९१२ के दिन प्रकाशित की गई, जिसमें यह कहा गया था—"युआन शी काई को हम यह अधिकार देते हैं, कि वह सामयिक रिपब्लिकन सरकार का संगठन करे और देश में एकता की स्थापना के लिये रिपब्लिक की सेना का सहयोग ले। यही एक ढंग है, जिससे फिर से जनता में शान्ति और साम्राज्य में व्यवस्था स्थापित हो सकेगी। जिस प्रकार अब तक मञ्चू, चीनी, मंगोल, मुसलिम और तिब्बतन लोग एक साम्राज्य में शान्ति के साथ रहते रहे हैं, वैसे ही भविष्य में भी वे परस्पर मिलकर एक विशाल चीनी रिपब्लिक में निवास करें।" डा० सन यात सेन ने शुरू में सम्राट् की इस घोषणा का विरोध किया। उसका कहना था, कि सम्राट् की आज्ञा द्वारा जो रिपब्लिक स्थापित होगी, वह जनता को किसी भी दशा में स्वीकार्य नहीं होगी। पर युआन शी काई ने उसे विश्वास दिलाया, कि इस घोषणा द्वारा उसे जो विशेषाधिकार प्राप्त हुए हैं, उनका वह दुरुपयोग नहीं करेगा और वह चीन में जनता द्वारा रिपब्लिक की स्थापना में पूर्णरूप से सहयोग देगा।

युआन शी काई के साथ समझौता करने के लिये डा० सन यात सेन ने राष्ट्रपति

पद से त्यागपत्र दे दिया और नानकिंग में एकत्रित क्रान्तिकारी नेताओं ने युआन शी काई को सामयिक चीनी रिपब्लिक का राष्ट्रपति निर्वाचित कर लिया। इस प्रकार पेकिंग और नानकिंग की सरकारों में परस्पर समझौता हुआ। पर यहां यह ध्यान में रखना चाहिये, कि क्रान्तिकारी चीनी नेता युआन शी काई को दिल से नहीं चाहते थे। उनका विचार था, कि वह वस्तुतः रिपब्लिकन शासन का पक्षपाती नहीं है। पर युआन शी काई से समझौता करने का केवल यही उपाय था, कि उसे चीनी रिपब्लिक का राष्ट्रपति नियुक्त किया जाय। अन्यथा वह उत्तरी चीन की सैन्यशक्ति का उपयोग कर क्रान्तिकारी लोगों से युद्ध को जारी रखने के लिये तैयार था। पर नानकिंग की रिपब्लिकन सरकार के पास धन की शक्ति का सर्वथा अभाव था और उसके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह उत्तरी सेनाओं के साथ संघर्ष को जारी रख सके।

इस प्रकार चीन से मञ्चू वंश के शासन का अन्त हुआ। सतरहवीं सदी के मध्य भाग में मञ्चू विजेताओं ने जिस शासन का चीन में प्रारम्भ किया था, अब उसकी समाप्ति हो गई और चीन में रिपब्लिकन सरकार की स्थापना हो गई। एशिया के विशाल महाद्वीप में यह पहली रिपब्लिक थी, जो बीसवीं सदी के शुरू में चीन में स्थापित हुई थी। जापान ने अपना उत्कर्ष करते हुए राजसत्ता को कायम रखा था। इसी कारण उसके शासन विधान का विकास प्रशिया, ब्रिटेन आदि उन देशों के ढंग पर हुआ, जिनमें राजा की सत्ता को कायम रखा गया था। पर चीन ने क्रान्तिकारी फ्रांस का अनुसरण किया और राजसत्ता का सदा के लिये अन्त कर लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना की। निःसन्देह, न केवल चीन के अपितु सम्पूर्ण एशिया के इतिहास में यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी।

विविध विदेशी राज्यों ने युआन शी काई के नेतृत्व में स्थापित रिपब्लिकन सरकार को स्वीकार कर लिया और चीन की राज्यक्रान्ति सफल हो गई।

## (४) रिपब्लिक की समस्याएं

चीन में मञ्चू राजवंश का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हो गई थी, पर इससे चीन की समस्याओं का अन्त नहीं हो गया था। इस समय चीन को अनेक विकट समस्याओं का मुकाबला करना पड़ रहा था। इनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख, अगले चीनी इतिहास को समझने के लिये अत्यन्त उपयोगी है—

(१) **अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्ति**—चीन बहुत विशाल देश है। मञ्चू राजवंश सम्पूर्ण चीन में शासन करने में समर्थ था। इसका कारण यह था, कि पेकिंग की केन्द्रीय सरकार प्रान्तों के शासन पर नियन्त्रण रखने के लिये निम्नलिखित उपायों

का प्रयोग करती थी—(१) प्रान्तों में उच्च अधिकारियों की नियुक्ति के समय इस बात का ध्यान रखा जाता था, कि वे उस प्रान्त के निवासी न हों। (२) कितने साल के लिये वे प्रान्त में रहेंगे, इसकी अवधि नियत होती थी। (३) केन्द्रीय सरकार विविध राजपदाधिकारियों को समय के साथ साथ अधिकाधिक ऊंचे पदों पर नियुक्त करती जाती थी। इसका परिणाम यह होता था, कि विविध अधिकारी अपनी तरक्की के लिये केन्द्रीय सरकार के आदेशों का पालन करने के लिये उत्सुक रहते थे। (४) प्रान्तों में जो सेनाएँ केन्द्रीय सरकार की अधीनता में रखी जाती थीं, उनके सेनानी भी केन्द्र द्वारा ही नियुक्त होते थे। प्रान्तीय सेनाओं के ये सेनानी सूबेदार की शक्ति को मर्यादित करने में बहुत सहायक होते थे।

पर बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में जब चीन के अनेक प्रदेशों में विद्रोह और अव्यवस्था की प्रवृत्ति प्रबल हो गई थी, तब समय की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर अनेक प्रान्तीय सूबेदारों ने अपने अपने क्षेत्रों में नई सेनाओं का संगठन कर लिया था। शुरू में इन सेनाओं का यह प्रयोजन था, कि वे शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के कार्य में प्रान्त की पुलीस को सहायता दें। इन सेनाओं को प्रान्तीय आमदनी में से वेतन दिया जाता था और ये प्रान्त के सूबेदार को ही अपना स्वामी समझती थीं। १८९८ में जब चीन में सुधारवादी और क्रान्तिकारी नेताओं के आन्दोलनों के कारण अनेक प्रदेशों में विद्रोह और अशान्ति की प्रवृत्ति बढ़ने लगी, तो अनेक प्रान्तीय सूबेदार अपनी इन सेनाओं में वृद्धि करने के लिये विवश हुए। १९११ के क्रान्तिमय साल तक प्रान्तीय सेनाएँ निरन्तर बढ़ती गईं और रिपब्लिक की स्थापना के समय तक यह दशा आ गई थी, कि अनेक प्रान्तों में इस प्रकार की विशाल सेनाएँ विद्यमान थीं, जिनकी सहायता से प्रान्तीय सूबेदार केन्द्रीय सरकार की बहुत सुगमता से उपेक्षा कर सकते थे। राष्ट्रपति युआन शी काई ने १९१२ में रिपब्लिक के शासनसूत्र को हाथों में लेकर इसी बात में श्रेय समझा, कि इन शक्तिशाली सूबेदारों को अपने अपने पद पर कायम रखा जाय। राजसत्ता के अन्त के बाद उसके सम्मुख इतनी विकट समस्याएँ उपस्थित थीं, कि प्रान्तों में व्यवस्था स्थापित रखने का उसे यही उपाय सुगम व क्रियात्मक प्रतीत होता था, कि जो सूबेदार जिस प्रदेश में अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए है, उसे वहां पर रहने दिया जाय, ताकि वह अपने प्रदेश में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखे रहे। पर इस बात का यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि विविध सूबेदार अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र आचरण करने लगें और केन्द्रीय सरकार की उपेक्षा करें। प्रान्तों में इस प्रकार की शक्तिशाली सेनाएँ विद्यमान थीं, जो प्रान्तीय सूबेदार से वेतन प्राप्त करती थीं, और उसी को अपना स्वामी मानती थीं। अतः स्वाभाविक रूप से उन

सूबेदारों में यह प्रवृत्ति विकसित हुई, कि वे अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र शासकों के समान आचरण करने लगें और केन्द्रीय सरकार की निर्बलता से लाभ उठाकर अपनी शक्ति के विस्तार में प्रवृत्त हों।

(२) **रिपब्लिक के पक्षपातियों और युआन शी काई में विरोध**—डा० सन यात सेन और उसके साथी क्रान्तिकारियों ने युआन शी काई को रिपब्लिक का राष्ट्रपति बनाना समझौते के तौर पर स्वीकार किया था। वे भलीभांति जानते थे, कि युआन शी काई वस्तुतः क्रान्ति और रिपब्लिक का पक्षपाती नही है। इसीलिये वे हृदय से उसकी सरकार के समर्थक नहीं थे। नानकिंग की राष्ट्रीय महासभा के बहुसंख्यक सदस्य युआन शी काई के विरोधी थे और बाद में जब चीन में पार्लियामेन्ट की स्थापना हुई, तो उसमें भी राष्ट्रपति का विरोधी दल बड़ा प्रबल था। राष्ट्रपति और पार्लियामेन्ट के इस विरोध के कारण चीन में रिपब्लिक के शासन को सफलता नहीं हो सकी। शीघ्र ही वहां विविध राजनीतिक नेताओं और सूबेदारों में परस्पर संघर्ष का प्रारम्भ हो गया।

(३) **जनता में जागृति का अभाव**—चीन में राज्यक्रान्ति सफल हो चुकी थी और मञ्चू राजवंश के शासन का अन्त हो गया था। पर रिपब्लिकन शासन तभी सफल हो सकता था, जब जनता में जागृति हो, उसमें राष्ट्रीयता की भावना भलीभांति विकसित हो चुकी हो और लोग अपना शासन स्वयं करने के लिये कटिबद्ध हों। पर चीन की बहुसंख्यक जनता अभी सर्वथा निरक्षर थी। शिक्षित लोगों की बहुसंख्या भी आधुनिक ज्ञान विज्ञान से अपरिचित थी। प्राचीन ग्रन्थों और धर्मशास्त्रों में निष्णात होते हुए भी वह नवयुग की भावनाओं को विशेष महत्त्व नहीं देती थी। यूरोप के विविध देशों में भी जब एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजसत्ता का अन्त होकर लोकतन्त्र शासनों की स्थापना हुई, तो उन्हें सफल होने में बहुत समय लगा। फ्रांस में बूर्बो राजवंश का अन्त होकर जब पहली बार रिपब्लिक की स्थापना हुई, तो वह शीघ्र ही नैपोलियन के आधिपत्य के रूप में परिणत हो गई। नैपोलियन के पतन के बाद (१८१४) फिर बूर्बो वंश के एकतन्त्र राजा को फ्रांस की राजगद्दी पर बिठाया गया। १८३० और १८४८ में फिर फ्रेञ्च क्रान्तिकारियों ने रिपब्लिक की स्थापना के लिये प्रयत्न किये। पर दोनों बार लुई फिलिप्प (१८३०) और नैपोलियन तृतीय (१८५२) राजसत्ता की स्थापना में समर्थ हुए। फ्रांस में रिपब्लिकन शासन १८७० में सफल हो सका। तीन चौथाई सदी के लगभग तक फ्रांस में नई और पुरानी प्रवृत्तियों में संघर्ष हुआ। इसी प्रकार की प्रक्रिया ग्रेट ब्रिटेन, इटली, जर्मनी आदि में भी हुई। इस दशा में यह कैसे आशा की जा सकती थी, कि चीन में क्रान्तिकारी प्रवृत्तियां एकदम सफल हो जातीं। जनता में राष्ट्रीय भावना का अभाव

और लोकतन्त्र शासन के प्रति उत्साह की कमी के कारण चीन की नई रिपब्लिक को बहुत सी विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा। चीन में नई और पुरानी प्रवृत्तियों का यह विरोध निम्नलिखित रूपों में प्रकट हुआ—(१) यूआन शी काई ने रिपब्लिक का अन्त कर स्वयं सम्राट् बनने का प्रयत्न किया। उसका यह प्रयत्न ठीक उस प्रकार का था, जैसे कि फ्रांस में नेपोलियन ने रिपब्लिक का अन्त कर अपने को सम्राट् बना लिया था। (२) कुछ लोगों ने मञ्चू राजवंश की सत्ता का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया। कुछ दिनों के लिये इस प्रयत्न में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। (३) प्रान्तीय सूबेदार अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होने की कोशिश करने लगे। केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सूबेदारों के इस संघर्ष के कारण कुछ समय के लिये चीन की शासनशक्ति बहुत अधिक निर्बल हो गई।

(४) **आर्थिक दुर्दशा**—जिन आर्थिक कारणों ने चीन में राज्यक्रान्ति का सूत्रपात किया था, रिपब्लिक की स्थापना से वे एकदम दूर नहीं हो गये थे। अब भी चीन की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। व्यावसायिक उन्नतिका वहां अभाव था। खेती द्वारा इतनी खाद्य सामग्री उत्पन्न नहीं हो सकती थी, कि जनता अपना निर्वाह भलीभांति कर सके। बाढ़ और दुर्भिक्ष आदि के कारण देहातों में निवास करनेवाली सर्वसाधारण जनता पहले के समान ही परेशान रहा करती थी। चीन के विदेशी व्यापार पर विदेशी लोगोंने जिस प्रकार अपना प्रभुत्व स्थापित कर रखा था, उसमें अब भी किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया था। चीन की राजकीय आमदनी के अनेक साधन विदेशी राज्यों के पास जमानत के रूप में रखे हुए थे। सरकार को इतनी आमदनी नहीं थी, कि वह अपने साधारण खर्च को भी सुचारु रूप से चला सके। इस दशा में यह आशा कैसे की जा सकती थी, कि वह देश की आर्थिक उन्नति के लिये धन का प्रबन्ध कर सके। आर्थिक दुर्दशा के कारण चीनकी जनता में जो बेचैनी और अशान्ति क्रान्ति से पहले थी, वह अब भी वैसे ही विद्यमान थी। जनता में असन्तोष की भावना इसलिये और भी अधिक विद्यमान थी, क्योंकि मञ्चू शासन के विरुद्ध क्रान्ति के समय क्रान्तिकारी नेताओं ने जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये उसे अनेक प्रकार के आश्वासन दिये थे। सर्वसाधारण लोगों का खयाल था, कि मञ्चू शासन का अन्त हो जाने के बाद टैक्सों की मात्रा बहुत कम हो जायगी और जनता पर सरकारी नियन्त्रण भी बहुत कम हो जायगा। अब जब कि रिपब्लिक की स्थापना हो जाने के बाद भी पहले के समान ही टैक्स लगते थे, पहले की तरह ही सरकारी कर्मचारी अपराधियों को गिरफ्तार करते थे और शासनसूत्र पहले से भी अधिक सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया जाता था, तो जनता में असन्तोष का बढ़ना सर्वथा स्वाभाविक था। यदि चीन की नई

सरकार इस समय ऐसी स्थिति में होती, कि जनता की आर्थिक समृद्धि के लिये नई योजनाओं को क्रिया में परिणत कर सकती, तो चीन में ऐसे समझदार लोगों की कमी नहीं थी, जो नई सरकार से संतुष्ट होते। पर सरकार के पास रुपये की बहुत कमी थी। टैक्सों द्वारा राजकीय आमदनी को बढ़ा सकना सम्भव नहीं था। विदेशी राज्यों से कर्ज लेकर ही सरकार अपनी आर्थिक कठिनाइयों को हल कर सकती थी। पर विदेशों से कर्ज लेने का एक ही परिणाम हो सकता था, वह यह कि चीन पर विदेशी प्रभुत्व में और अधिक वृद्धि हो जाय। पर यह बात भी रिपब्लिक के नेताओं को स्वीकार्य नहीं थी। युआन शी काई ने जब विदेशों से कर्ज लेने का प्रयत्न किया, तो उसका बहुत विरोध हुआ। जनता की आर्थिक दुर्दशा में सुधार कर सकना चीन की नई सरकार के सम्मुख एक बहुत ही विकट समस्या थी और इसे हल कर सकने का कोई सुगम उपाय उसको समझ नहीं आता था।

आठवां अध्याय

# चीन में रिपब्लिक का शासन

## (१) प्रथम रिपब्लिकन सरकार

मञ्चू राजवंश का अन्त होने के बाद श्री. युआन शी काई के राष्ट्रपतित्व में चीन की प्रथम रिपब्लिकन सरकार का संगठन हुआ। पर नानकिंग की जिस सामयिक रिपब्लिकन सरकार ने समझौते द्वारा युआन शी काई को चीन का राष्ट्रपति स्वीकार किया था, वह देश में वास्तविक लोकतन्त्र शासन की स्थापना करना चाहती थी। उसकी यह योजना थी, कि चीन के लिये बाकायदा संविधान का निर्माण किया जाय, जिसमें नागरिकों के जन्मसिद्ध अधिकारों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन हो। कानून बनाने और शासन विभाग पर नियन्त्रण रखने के लिये पार्लियामेन्ट की रचना की जाय और मन्त्रिमण्डल पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी हो। राष्ट्रपति की चीन में वही स्थिति हो, जो फ्रांस में होती है। राष्ट्रपति के नाम से जिन राजकीय आज्ञाओं को प्रकाशित किया जाय, उन पर साथ में उस विभाग के मन्त्री के हस्ताक्षर भी आवश्यक हों। सरकार विदेशी राज्यों से जो सन्धियां करे, जो कर्ज ले व देश के शासन के लिये जो व्यवस्था करे, उन सबके लिये पार्लियामेन्ट की स्वीकृति ली जाया करे। चीन के क्रान्तिकारी नेताओं के सम्मुख फ्रेञ्च रिपब्लिक आदर्श रूप से विद्यमान थी और वे उसी ढंग पर अपने देश में रिपब्लिक का संगठन करना चाहते थे।

पर युआन शी काई नाममात्र का राष्ट्रपति नहीं बनना चाहता था। उसने राष्ट्रपति पद को इसीलिये स्वीकार किया था, क्योंकि वह इस पद द्वारा चीन के शासनसूत्र को अपने हाथों में रखने के लिये उत्सुक था। पर चीन की जनता ने उसे जिन कारणों से राष्ट्रपति स्वीकार किया था, वे सर्वथा भिन्न थे। क्रान्तिकारी नेता समझते थे, कि वास्तविक शक्ति राष्ट्रपति के हाथों में न रहकर पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के हाथों में रहेगी। उनके हृदयों में युआन शी काई के प्रति अविश्वास की भावना विद्यमान थी। पर उन्होंने उसे राष्ट्रपति स्वीकार कर लिया था, क्योंकि वे जानते थे कि उत्तरी प्रदेशों की सेना उसकी आज्ञा में है और उससे समझौता किये बिना आन्तरिक युद्ध का अन्त कर सकना सम्भव नहीं है।

पर युआन शी काई के प्रति अविश्वास रखने के कारण ही उन्होंने समझौते में एक यह शर्त भी रखी थी, कि चीन की राजधानी पेकिंग के स्थान पर नानकिंग रहेगी। पेकिंग व उसके समीपवर्ती प्रदेशों में क्रान्तिकारी दल का जोर नहीं था। इसके विपरीत नानकिंग क्रान्तिकारी दल का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। डा० सन यात सेन व उसके अनुयायी चीनी रिपब्लिक की सरकार को इसी कारण नानकिंग में रखना चाहते थे, ताकि उनका प्रभाव सरकार पर रह सके। पर युआन शी काई पेकिंग छोड़कर नानकिंग आने में संकोच करता था। उसके सौभाग्य से मार्च, १९१२ में पेकिंग की सेना ने विद्रोह कर दिया। अब युआन शी काई को इस सैनिक विद्रोह को शांत करने के लिये पेकिंग रहने का बहाना मिल गया। उसने नानकिंग की राष्ट्रीय महासभा को भी पेकिंग चले आने के लिये विवश किया। यह बात युआन शी काई के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। पेकिंग के वातावरण में रिपब्लिकन नेताओं के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे राष्ट्रपति की स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों का सफलता के साथ मुकाबला कर सकें। पेकिंग में विदेशी राज्यों के दूतावास भी विद्यमान थे। यहां इनकी शक्तिशाली सेनाएँ भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास करती थीं। विदेशी राजदूत युआन शी काई के पक्षपोषक थे। उनका सहारा पाकर वह चीन के क्रान्तिकारी नेताओं का मुकाबला करने में समर्थ हुआ। चीन के उत्तरी प्रदेशों में क्रान्ति का विशेष प्रभाव नहीं हुआ था। वहां के लोग व सरकारी कर्मचारी रिपब्लिक के प्रति विशेष अनुराग नहीं रखते थे। युआन शी काई को इनकी सहायता व सहयोग का भी पूरा भरोसा था।

नई चीनी रिपब्लिक के पद पर युआन शी काई रहेगा, यह तो तय हो चुका था। अब यह प्रश्न उत्पन्न हुआ, कि प्रधान मन्त्री कौन बने और मन्त्रिमण्डल में किन किन व्यक्तियों को रखा जाय। तांग शाओ-यी को चीन का प्रथम प्रधानमन्त्री नियत किया गया। मञ्चू शासन के युग में यह युआन शी काई के अधीन कार्य कर चुका था और अब डा० सन यात सेन के क्रान्तिकारी दल का सदस्य था। अतः दोनों पक्षों ने इसे प्रधानमन्त्री के रूप में स्वीकृत कर लिया। युद्धमन्त्री के पद पर तुआन ची जुई को नियत किया गया। यह भी युआन शी काई का समर्थक था। अन्य मन्त्री भी दोनों पक्षों के समझौते द्वारा नियुक्त किये गये। नानकिंग में जिस राष्ट्रीय महासभा का संगठन हुआ था, वह अब नानकिंग चली आई थी। यह निर्णय किया गया, कि जब तक पार्लियामेन्ट के चुनाव के सम्बन्ध में सब व्यवस्था पूर्ण न हो जाय, तब तक यह महासभा ही चीनी रिपब्लिक की विधानसभा का कार्य करती रहे। इस बीच में वोटरों की सूची तैयार की गई और पार्लियामेन्ट के चुनाव की व्यवस्था की गई। पार्लियामेन्ट में दो सभाएं रखी गईं, सीनेट और प्रतिनिधि

सभा। १९१३ में नई पार्लियामेन्ट का निर्वाचन हो गया। इसमें जो सदस्य निर्वाचित होकर आये थे, वे अनेक दलों के थे। इनमें मुख्य दल निम्नलिखित थे—(१) राष्ट्रपति का पक्षपाती दल—इसमें मुख्यतया उत्तरी चीन के प्रतिनिधि थे। इन्हें युआन शी काई की नीति पर पूर्ण विश्वास था और ये सब प्रकार से उसका समर्थन करने को उद्यत थे। (२) क्रान्तिकारी दल—ये मुख्यतया दक्षिणी चीन का प्रतिनिधित्त्व करते थे और डा० सन यात सेन के अनुयायी थे। पार्लियामेन्ट में इस दल के सदस्यों की संख्या अन्य दलों की अपेक्षा अधिक थी। (३) मध्यमार्गी दल—यह न युआन शी काई का पक्षपाती था और न सन यात सेन का। इसके कोई निश्चित राजनीतिक विचार भी नहीं थे। युआन शी काई के लिये यह सुगम था, कि इस दल के लोगों को अपने पक्ष में कर सके। राजनीतिक नैतिकता अभी चीन में भलीभांति विकसित नहीं हुई थी। पद के लोभ व रुपये के लालच से लोग अपना मत बदल लेने में संकोच नहीं करते थे। युआन शी काईने मध्यमार्गी दल के लोगों को अपने पक्ष में करने के लिये सब प्रकार के उपायों का प्रयोग किया। क्रान्तिकारी दल की पार्लियामेन्ट में बहुसंख्या नहीं थी, यद्यपि उसके सदस्य अन्य किसी भी दल की अपेक्षा अधिक संख्या में निर्वाचित हुए थे।

५— इस प्रकार चीन में नई सरकार का संगठन हो गया था। राष्ट्रपति पद पर युआन शी काई विराजमान था। नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हो गया था और पार्लियामेन्ट का भी चुनाव किया जा चुका था। पर चीन की राजनीतिक समस्या अभी पूर्ण रूप से हल नहीं हुई थी। देश के शासनसूत्र का संचालन राष्ट्रपति के हाथ में हो या मन्त्रिमण्डल के—यह प्रश्न बहुत विकट था। डा० सन यात सेन का क्रान्तिकारी दल वास्तविक शासनशक्ति मन्त्रिमण्डल के हाथों में रखना चाहता था। पर मध्यमार्गी दल के सदस्यों को अपने वश में करके युआन शी काईने पार्लियामैन्ट द्वारा यह स्वीकृत करा लिया, कि राष्ट्रपति ही चीन की सरकार का संचालन करे। परिणाम यह हुआ, कि क्रान्तिकारी दल के लोगों ने [illegible] अब मन्त्रिमण्डल में केवल ऐसे ही लोग रह गये, [illegible] स्वीकृत करते थे।

चीन की नई सरकार के सम्मुख सबसे अधिक गम्भीर प्रश्न आर्थिक था। शासन की सुव्यवस्था और देश की उन्नति के लिये रुपये की आवश्यकता थी और इसे राजकीय करों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता था। राज्यकोष खाली पड़ा था। युआन शी काई इस बात के लिये उत्सुक था, कि प्रान्तीय सूबेदार अपनी सेनाओं को भंग कर दें। पर बहुत सी प्रान्तीय सेनाएं ऐसी थीं, जिनके सैनिकों को देर से वेतन नहीं मिला था। इन्हें तभी नौकरी से बर्खास्त किया जा सकता था, जब

इनके वेतनों को चुकता कर दिया जाय। सैनिकों को वेतन न मिलने के कारण कई स्थानों पर सैनिक अफसर स्वयं जनता से कर वसूल करने लग गये थे और प्रान्तीय सरकारों को भी केवल उतना ही कर प्राप्त हो पाता था, जो सैनिक अफसर उन्हें खुशी से प्रदान कर देते थे। इस स्थिति को संभाल सकने का यही उपाय था, कि सैनिकों को वेतन देकर बर्खास्त कर दिया जाय और प्रान्तीय शासन का पुनः संगठन किया जाय। पर इस काम के लिये रुपये की जरूरत थी और केन्द्रीय रिपब्लिकन सरकार के पास रुपये का सर्वथा अभाव था। इस रुपये को कर्ज लेकर ही प्राप्त किया जा सकता था, अतः युआन शी काई ने विदेशी राज्यों से कर्ज की बातचीत शुरू की। इस समय ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, जर्मनी, जापान और अमेरिका—इन छः राज्यों ने मिलकर अपना एक गुट बना रखा था और यह निश्चय किया हुआ था, कि वे चीन को कोई कर्ज तभी देंगे, जब कि परस्पर मिलकर उसकी शर्तों को तय कर लेंगे। विदेशी राज्यों की इस बैंकिंग सिण्डीकेट ने चीनी सरकार के सम्मुख कर्ज के लिये यह शर्त पेश की, कि नमक के व्यवसाय पर विदेशी राज्यों का पूरी तरह से नियन्त्रण रहे, ताकि उससे होनेवाली आमदनी से कर्ज के मूलधन व सूद को प्राप्त किया जा सके। नमक की आमदनी पूरी तरह से विदेशी राज्यों के पास जमानत के रूप में रहे। साथ ही विदेशी राज्यों को यह भी अधिकार हो, कि वे चीनी सरकार के व्यय पर भी नियन्त्रण रख सकें। सरकारी व्यय पर नियन्त्रण रखने का यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि चीन की स्वतन्त्रता बहुत हद तक सीमित हो जाती। यही कारण है, कि १९१३ में अमेरिका बैंकिंग सिण्डीकेट से अलग हो गया और अब इस गुट में केवल पांच राज्य रह गये। अमेरिकन सरकार को यह बात पसन्द नहीं थी, कि चीन की राजनीतिक स्वतन्त्रता में इस ढंग से हस्तक्षेप किया जाय। डा० सन यात सेन की क्रान्तिकारी पार्टी भी इस कर्ज के विरोध में थी। इसके कारण चीन की स्वतन्त्रता में जो बाधा उपस्थित होती थी, उसे क्रान्तिकारी दल के लोग किसी भी दशा में सहन करने को तैयार नहीं थे। परिणाम यह हुआ, कि उन्होंने पार्लियामेन्ट में विदेशी कर्ज की शर्तों का घोर विरोध किया। पर युआन शी काई ने मध्यमार्गी दल को अपने पक्ष में करके कर्ज को पार्लियामेन्ट में स्वीकृत करा लिया। पांच विदेशी राज्यों की बैंकिंग सिण्डीकेट से युआन शी काई की सरकार कर्ज लेने में समर्थ हुई और इस रकम का प्रयोग कर उसने देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने का उद्योग किया।

**कुओमिन्तांग दल**—डा० सन यात सेन के प्रयत्न से चीन में जिस क्रान्तिकारी दल का संगठन हुआ था, पहले उसे तुंग मेंग हुई कहते थे। बाद में उसी का कुओमिन्तांग दल के नाम से पुनः संगठन हुआ। यह दल राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद

को बहुत महत्त्व देता था और इसका उद्देश्य यह था, कि जहां चीन राष्ट्रीय दृष्टि से सुसंगठित व सुव्यवस्थित राज्य हो, वहां साथ ही उसमें लोकतन्त्रवाद का भी विकास हो। कुओमिन्तांग दल के लोग चीन को उन्नति के उसी मार्ग पर ले जाना चाहते थे, जिस पर कि फ्रांस, अमेरिका आदि पाश्चात्य देश चल रहे थे।

**युआन शी काई का उत्कर्ष**---कुओमिन्तांग दल का इस समय सबसे बड़ा विरोधी युआन शी काई था। यह दल उसके खिलाफ कोई कार्य न कर सके, अतः सबसे पहले उसने पार्लियामेन्ट द्वारा नये शासन विधान के उस भाग को स्वीकृत कराया, जिसमें राष्ट्रपति के अधिकार आदि की व्यवस्था की गई थी। पार्लियामेन्ट की दोनों सभाएँ---सीनेट और प्रतिनिधि सभा---जब कि एक साथ मिलकर अपना अधिवेशन करती थीं, तो उन्हें संविधान परिषद् कहते थे और नये शासन विधान को अन्तिम रूप से निर्मित व स्वीकृत करने का कार्य इसे ही सुपुर्द था। राष्ट्रपति सम्बन्धी सब बातों का अपने पक्ष में निर्णय कराके युआन शी काई ने स्वयं अपने को राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित करा लिया। इसके लिये उसने मध्यमार्गी दल को अपने पक्ष में करने के लिये रुपये को पानी की तरह से बहाया। विदेशी राज्यों से कर्ज की जो भारी रकम देश की उन्नति के उद्देश्य से प्राप्त की गई थी, उसका कुछ अंश युआन शी काई ने पार्लियामेन्ट के सदस्यों को अपने पक्ष में करने के लिये भी व्यय किया। अब युआन शी काई की स्थिति सर्वथा सुरक्षित हो गई थी और न केवल पार्लियामेन्ट अपितु मन्त्रिमण्डल भी पूर्णतया उसके वशवर्ती हो गये थे।

पर युआन शी काई इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह अपने विरोधियों का विनाश करने के लिये कटिबद्ध था। ४ नवम्बर, १९१३ को उसने कुओमिन्तांग दल को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। इस दल के बहुत से सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये, बहुतों ने विदेश भागकर अपने को कैद होने से बचाया। कुओमिन्तांग दल के सदस्यों के चले जाने के कारण पार्लियामेन्ट के अधिवेशनों में कोरम हो सकना कठिन हो गया और पार्लियामेन्ट का स्वयमेव अन्त हो गया। यद्यपि नाम को अब भी पार्लियामेन्ट की सत्ता थी, उसे बर्खास्त नहीं किया गया था, पर कोरम के अभाव के कारण उसका अधिवेशन हो सकना सम्भव नहीं रहा था और युआन शी काई के लिये मनमानी तरीके से देश का शासन कर सकना सुगम हो गया था। डा० सन यात सेन [illegible] चीन छोड़कर बाहर जाने के लिये विवश होना पड़ा।

## (२) युआन शी काई का स्वेच्छाचारी शासन

**नया शासन विधान**---अब राज्य की सम्पूर्ण शक्ति युआन शी काई के हाथों में केन्द्रित हो गई थी। पार्लियामेन्ट, मन्त्रिमण्डल व लोकमत---सबकी उपेक्षा

कर उसने स्वेच्छापूर्वक शासनसूत्र का संचालन करना प्रारम्भ किया। नानकिंग की राष्ट्रीय महासभा द्वारा देश के लिये जिस शासन विधान का खाका तैयार किया गया था और जिसके अनुसार पेकिंग की संविधान परिषद् (सीनेट व प्रतिनिधि सभा) नई शासन व्यवस्था का निर्माण करने में तत्पर थी, उसे आंखों से ओझल कर युआन शी काई ने अपने विचारों के अनुसार चीन के लिये नये शासन-विधान का निर्माण कराया। इस कार्य के लिये एक नई संविधान सभा का संगठन किया गया। इस सभा में केवल वे सदस्य नियत किये गये, जो युआन शी काई के समर्थक थे और उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करने को तैयार थे। संविधान सभा ने चीन की रिपब्लिक के लिये जो नया शासन विधान बनाया, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं---(१) राज्य की सब शक्ति राष्ट्रपति में निहित हो। (२) राष्ट्रपति का निर्वाचन दस साल के लिये किया जाय। यदि राष्ट्रपति की सम्मति में दस साल समाप्त हो जाने के बाद देश की ऐसी परिस्थिति हो, जिसमें कि उसका अपने पद पर कायम रहना आवश्यक हो, तो उसे अधिकार हो कि वह अपने पद के काल को और बढ़ा सके, या यह निर्णय कर सके कि उसका उत्तराधिकारी कौन हो। (३) राज्य के विविध विभागों के अध्यक्ष राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी हों। प्रधानमन्त्री का स्थान एक राजमन्त्री (सेक्रेटरी आफ स्टेट) को दिया गया और यह व्यवस्था की गई, कि इसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाय और यह उसी के प्रति उत्तरदायी हो। (४) पार्लियामेन्ट के स्थान पर एक राज-सभा (कौंसिल आफ स्टेट) का निर्माण किया जाय और इस सभा का कार्य राष्ट्रपति को परामर्श देना मात्र हो। मार्च, १९१४ में युआन शी काई ने इस सिद्धान्तों के अनुसार देश की शासन व्यवस्था को परिवर्तित कर दिया। वह स्वयं दस साल के लिये राष्ट्रपति नियुक्त हुआ और स्वेच्छाचारी रूप से देश का शासन करने के लिये प्रवृत्त हुआ। राज्यक्रान्ति से पूर्व मञ्चू सम्राटों के शासनकाल में चीन की सरकार की जो दशा थी, वही अब पुनः स्थापित हो गई। जिन लोगों ने भी युआन शी काई का विरोध करने का साहस किया, उनको कठोर दण्ड दिये गये। सर्वत्र गुप्तचरों का जाल बिछा दिया गया। गुप्तचरों के कारण किसी आदमी के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह स्वतन्त्रता के साथ अपनी सम्मति को प्रकट कर सके। समाचारपत्रों पर कठोर निरीक्षण रखा गया, और अपने विरोधियों का अन्त करने के लिये राजनीतिक हत्याओं का आश्रय लिया गया। इस काल में कितने ही चीनी नेताओं की हत्याएँ हुईं। युआन शी काई अपने विरोधियों का जड़ से उन्मूलन कर देने के लिये घृणित से घृणित उपायों का अवलम्बन करने के लिये कटिबद्ध था।

**प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८)**---जिस समय युआन शी काई चीन में लोकतन्त्र

रिपब्लिक का अन्त कर अपने स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना में तत्पर था, तभी यूरोप में एक महायुद्ध की अग्नि भड़क उठी। इस युद्ध में आस्ट्रिया-हंगरी, जर्मनी और टर्की के खिलाफ फ्रांस, ब्रिटेन और रूस लड़ाई के मैदान में उतर आये थे। जापान और ब्रिटेन परस्पर सन्धि के सूत्र में बंधे हुए थे, यह पहले लिखा जा चुका है। इस महायुद्ध को जापान ने अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिये उपयुक्त अवसर समझा और वह ब्रिटेन व फ्रांस के पक्ष में युद्ध में शामिल हो गया। अन्य पाश्चात्य देशों के समान जर्मनी ने भी चीन में अनेक आर्थिक विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए थे और कियाऊ चाऊ का प्रदेश उसने पट्टे पर भी प्राप्त किया था। जापान की आंख इस प्रदेश पर थी। वह चाहता था, कि जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में शामिल होकर इस प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर ले। पर चीन यूरोप के इस महायुद्ध में उदासीन था। उसने यत्न किया, कि चीन के प्रदेश में कहीं भी लड़ाई न होने पावे और कोई राज्य उसकी उदासीन सत्ता का व्याघात न करे। पर जापान ने इसकी कोई परवाह नहीं की। एक जापानी सेना ने कियाऊ चाऊ के प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। ब्रिटेन ने भी इस आक्रमण में जापान की सहायता की। यूरोप में बेल्जियम की उदासीन सत्ता का जर्मनी द्वारा व्याघात होने पर ब्रिटेन ने बहुत अधिक एतराज किया था और वह इसी नाम पर जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में शामिल हुआ था। पर चीन की उदासीन सत्ता की उसने जरा भी परवाह नहीं की और ब्रिटेन व जापान की सम्मिलित सेनाओं ने कियाऊ चाऊ को जीत लिया। उसके बन्दरगाह त्सिंगताओ पर जापानी सेनाओं का कब्जा हो गया।

**जापान की मांगें**—जनवरी, १९१५ में जापानी सरकार ने चीन के सम्मुख २१ मांगें पेश कीं। इनमें मुख्य निम्नलिखित थीं—(१) शांतुंग के प्रदेश (जिसमें कियाऊ चाऊ स्थित था) में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, उन्हें जर्मनी से प्राप्त करने के लिये जापान जो कुछ भी उद्योग करे, चीन उसमें बाधक न हो। (२) शांतुंग के प्रदेश में रेलवे लाइन बनाने का जापान को अधिकार दिया जाय और उसके समुद्रतट के सब बन्दरगाहों में उसे व्यापार आदि के विशेष अधिकार दिये जावें। (३) लिआओ तुंग प्रायद्वीप और पोर्ट आर्थर के पट्टे के काल को [illegible] साल से बढ़ाकर ९९ साल कर दिया जाय। इसी प्रकार मञ्चूरिया में रेलवे लाइनों पर जापान को जो अधिकार प्राप्त हैं, उनका काल भी बढ़ाकर ९९ साल कर दिया जाय। दक्षिणी मञ्चूरिया के जिन प्रदेशों पर जापान को रेलवे आदि के निर्माण के सम्बन्ध में विशेषाधिकार प्राप्त थे, उनमें जापानी लोगों को यह अधिकार भी दिया जाय, कि वे वहां जायदाद ले सकें, मकान बना सकें और

स्वतन्त्रता के साथ यात्रा कर सकें । जापान की सहमति के बिना चीन इन प्रदेशों में किसी अन्य देश के लोगों को राजनीतिक, सैनिक व आर्थिक मामलों में सलाहकार के रूप में नियुक्त न कर सके और न ही इन प्रदेशों में किसी अन्य राज्य को कोई विशेषाधिकार दिये जा सकें । (४) मध्य चीन में लोहे का जो विशाल कारखाना उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में स्थापित किया गया था, उस पर जापान और चीन का सम्मिलित रूप से आधिपत्य हो । (५) जापान की अनुमति के बिना चीन किसी अन्य देश को अपने समुद्रतट पर स्थित किसी बन्दरगाह को पट्टे पर न दे सके और न ही वहां व्यापार आदि के कोई नये विशेषाधिकार दिये जा सकें । (६) चीन को अपनी सरकार की सुव्यवस्था के लिये जिन किन्हीं राजनीतिक, सैनिक व आर्थिक सलाहकारों की आवश्यकता हो, वे सब जापानी ही नियुक्त किये जावें । (७) जापान के बौद्ध धर्म के प्रचारकों को यह अधिकार हो कि, वे चीन में जहां चाहें धर्म प्रचार कर सकें व अपने बिहारों व मन्दिरों की स्थापना कर सकें । (८) चीन को जो भी अस्त्र-शस्त्र विदेशों से खरीदने हों, उनका कम से कम ५० प्रतिशत भाग वह जापान से क्रय किया करे । यदि चीन अस्त्र शस्त्रों के निर्माण के लिये कोई कारखाना खोले, तो उसका प्रबन्ध भी चीन और जापान दोनों के सम्मिलित नियन्त्रण में रहे ।

यदि जापान की इन मांगों को स्वीकृत कर लिया जाता, तो इसका यही परिणाम होता, कि चीन पूर्ण रूप से जापान का संरक्षित राज्य बन जाता और उसकी स्वतन्त्र सत्ता बहुत कुछ नष्ट हो जाती । अन्य यूरोपियन देश इस समय यूरोप के महायुद्ध में इतने अधिक व्यस्त थे, कि वे जापान की मांगों का विरोध नहीं कर सके । इसके विपरीत जर्मनी की शक्ति का मुकाबला करने के लिये फ्रांस और ब्रिटेन जापान की सहायता प्राप्त करने के लिये अत्यधिक उत्सुक थे । जापान के राजनीतिज्ञों ने इस स्थिति से लाभ उठाया और चीन में अपने प्रभाव को और अधिक बढ़ाना शुरू किया । जापान की इन मांगों के कारण चीन पर क्या प्रभाव पड़ा, इस विषय पर हम आगे अधिक विस्तार से विचार करेंगे । यहां इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है, कि युआन शी काई जैसा शक्तिशाली व्यक्ति भी इस समय जापान का विरोध कर सकने का साहस नहीं कर सकता था ।

**राजसत्ता की स्थापना का प्रयत्न**—राष्ट्रपति युआन शी काई ने किस प्रकार लोकतन्त्र शासन का अन्त कर सम्पूर्ण राजशक्ति को अपने हाथों में ले लिया था, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । अब फ्रांस के नैपोलियन प्रथम का अनुसरण कर उसने यह प्रयत्न किया, कि चीन से रिपब्लिक का अन्त कर राजसत्ता का पुनरुद्धार करे और वह स्वयं सम्राट् पद को प्राप्त करे । पर इस परिवर्तन के लिये

वह ऐसे मार्ग का अनुसरण करना चाहता था, जिससे संसार यह समझे कि उसने जनता के आग्रह के कारण ही सम्राट् पद को स्वीकार किया है। राष्ट्रपति को परामर्श देने के लिये युआन शी काई ने जिस राजसभा की स्थापना की थी, उसके प्राय: सब सदस्य उसकी हां में हां मिलाने वाले थे। उन्होंने प्रस्ताव किया, कि चीन में रिपब्लिक का अन्त करके युआन शी काई से प्रार्थना की जाय कि वह सम्राट् पद को स्वीकार कर ले। राजसभा ने तीन बार इस प्रस्ताव को स्वीकार किया। पर युआन शी काई इतने से भी संतुष्ट नहीं हुआ। उसने कहा कि यदि जनता के प्रतिनिधियों की एक महासभा उससे यह अनुरोध करेगी, तभी वह इसे स्वीकार कर सकेगा। नैपोलियन के समान युआन शी काई भी यह प्रदर्शित करना चाहता था, कि वह जनता के अनुरोध व इच्छा के कारण ही सम्राट् पद को स्वीकार कर रहा है। पर 'जनता के प्रतिनिधियों की महासभा' का आयोजन कोई कठिन कार्य नहीं था। कोमिन्तांग के लोगों को गिरफ्तार किया जा चुका था। इस दशा में जनता से ऐसे प्रतिनिधियों को निर्वाचित करा सकना जरा भी कठिन नहीं था, जो युआन शी काई के सम्राट् पद को ग्रहण कर लेने के पक्षपाती हों। महासभा ने भी बड़े आग्रह के साथ युआन शी काई से अनुरोध किया, कि वह देश के हित को दृष्टि में रखकर चीन में राजसत्ता का पुनरुद्धार करे और स्वयं सम्राट् पद को स्वीकार कर ले।

**जनता का विरोध**—युआन शी काई ने जनता के प्रतिनिधियों की महासभा के 'अनुरोध' को स्वीकार कर लिया और नये सम्राट् के राज्याभिषेक की तैयारी शुरू हो गई। पर वस्तुत: चीन की जनता रिपब्लिक के अन्त और राजसत्ता की पुन: स्थापना के विरुद्ध थी। दक्षिणी चीन के यूनान प्रान्त के लोगों ने पेकिंग सरकार की सेवा में एक आवेदन पत्र भेजा, जिसमें राजसत्ता के पुनरुद्धार का घोर विरोध किया गया। जब युआन शी काई ने इस आवेदन पर कोई ध्यान नहीं दिया, तो यूनान के लोगों ने विद्रोह कर दिया। पेकिंग सरकार ने विद्रोह को शान्त करने के लिये कठोर उपायों का प्रयोग किया, पर उसे सफलता नहीं हुई। विद्रोह की अग्नि केवल यूनान तक ही सीमित नहीं रही। शीघ्र ही वह दक्षिणी चीन के अन्य प्रान्तों में भी फैल गई। इन विद्रोही प्रान्तों ने घोषणा की, कि वे अब केन्द्रीय सरकार के शासन में नहीं रहेंगे। युआन शी काई के विरोधी क्रान्तिकारियों की इस समय मुख्य मांगें निम्नलिखित थीं—(१) राजसत्ता की पुन: स्थापना के निर्णय को रद्द कर दिया जाय। (२) नानकिंग की राष्ट्रीय महासभा द्वारा देश के शासन विधान का जो खाका तैयार किया गया था, उसके अनुसार शासन व्यवस्था का निर्माण किया जाय। (३) पार्लियामेन्ट की पुन: स्थापना की जाय।

युआन शी काई के लिये यह सम्भव नहीं था, कि क्रान्तिकारी लोगों की इन मांगों का विरोध कर सके। अब उसने घोषित किया, कि 'जनता के प्रतिनिधियों की महासभा' ने उससे सम्राट् पद को ग्रहण करने का जो अनुरोध किया था, वह वस्तुत: लोकमत के प्रतिकूल था, अत: राजसत्ता के पुनरुद्धार का परित्याग किया जाता है। युआन शी काई की इस घोषणा से क्रान्तिकारियों की हिम्मत और अधिक बढ़ गई। अब उन्होंने मांग पेश की, कि युआन शी काई अपने पद का त्याग कर दे। पर इसे स्वीकृत कर सकना युआन शी काई के लिये सम्भव नहीं था। उसने यत्न किया, कि क्रान्तिकारियों के साथ समझौता कर ले। वह इस समय निम्नलिखित बातों के लिये तैयार था—(१) मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जाय और सरकार का संचालन मन्त्रियों के सुपुर्द कर दिया जाय। (२) सेना का नियन्त्रण भी युद्धमन्त्री के अधीन रहे। (३) पार्लियामेन्ट का पुन: संगठन हो। एक बार फिर युआन शी काई क्रान्तिकारियों के साथ समझौता कर रिपब्लिक के राष्ट्रपति के रूप में शासन का संचालन करने के लिये उद्यत हो गया।

***युआन शी काई की मृत्यु***—*अभी क्रान्तिकारी नेताओं के साथ अन्तिम रूप से* समझौता नहीं हो पाया था, कि ६ जून, १९१६ को अकस्मात् ही युआन शी काई की मृत्यु हो गई। अब राजसत्ता के पक्षपातियों में कोई इतना शक्तिशाली व्यक्ति नहीं रहा था, जो लोकतन्त्र रिपब्लिक का विरोध कर सके। रिपब्लिक के पुनरुद्धार का मार्ग अब पूर्ण रूप से साफ हो गया था।

चीन के आधुनिक इतिहास में युआन शी काई का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं, कि वह अत्यन्त योग्य शासक था, उसकी वैयक्तिक शक्ति और क्षमता से कोई भी ऐतिहासिक इनकार नहीं कर सकता। आधुनिक युग के नवीन विचारों से भी वह भलीभांति परिचित था। पर उसने अपनी योग्यता, शक्ति और प्रतिभा का प्रयोग चीन में नवयुग लाने के लिये नहीं किया। यदि वह चाहता, तो चीन में एक सुसंगठित और सुव्यवस्थित लोकतन्त्र शासन की स्थापना में अपनी शक्ति का सदुपयोग कर सकता था। पर उसने प्रगति की प्रवृत्तियों का साथ न देकर प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों का पक्ष लिया। यदि वह नैपोलियन के समान सम्राट् पद पर आरूढ़ होकर चीन को विदेशी प्रभुत्त्व से मुक्त करने में समर्थ हो सकता, तो भी वह अपने देश के लिये उपयोगी कार्य कर जाता। पर जिस समय वह चीन का एकाधिपति बना हुआ था, तो भी उसने विदेशी राज्यों से भारी मात्रा में कर्ज लेकर अपने देश पर विदेशी प्रभुत्त्व में वृद्धि की। यही कारण है, कि चीन के इतिहास में युआन शी काई का स्थान बहुत उज्ज्वल व गौरवपूर्ण नहीं समझा जा सकता।

## (३) रिपब्लिक का पुनः संगठन

**नई सरकार**——युआन शी काई की मृत्यु के बाद रिपब्लिकन शासन का चीन में पुनः संगठन किया गया । उप राष्ट्रपति के पद पर कर्नल ली युआन हुंग विद्यमान था । अब वह राष्ट्रपति बन गया । तुआन ची जुई को प्रधानमन्त्री के पद पर नियत किया गया और उसने नये मन्त्रिमण्डल का संगठन किया । पार्लियामेन्ट का पुनरुद्धार किया गया । राष्ट्रपति ली युआन हुंग ने शासन के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया, कि चीन की रिपब्लिक में पार्लियामेन्ट का स्थान सर्वोच्च है । ली युआन हुंग ने नानकिंग की राष्ट्रीय महासभा द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को भी स्वीकृत किया, कि देश के शासनसूत्र का संचालन राष्ट्रपति के हाथों में न रहकर मन्त्रिमण्डल के हाथों में रहेगा । इसका यह परिणाम हुआ, कि इस समय चीन की सरकार में तुआन ची जुई की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गई । हम पहले लिख चुके हैं, कि तुआन ची जुई पहले युआन शी काई का अधीनस्थ कर्मचारी रह चुका था और उसका पक्षसमर्थक था । उसके विचारों पर युआन शी काई का बहुत प्रभाव था । यही कारण है, कि उसने भी स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों का प्रदर्शन किया और पार्लियामेन्ट की शक्ति व प्रभुत्व की उपेक्षा की । शीघ्र ही पार्लियामेन्ट के साथ उसका विरोध प्रारम्भ हो गया ।

**पार्लियामेन्ट का अन्त**——युआन शी काई की मृत्यु के बाद पेकिंग में पार्लियामेन्ट की पुनः स्थापना हो गई थी । इस समय पार्लियामेन्ट ने न केवल देश के लिये कानूनों का निर्माण और सरकार की नीति को नियन्त्रित करना था, अपितु देश के लिये शासन विधान को भी तैयार करना था । हम पहले लिख चुके हैं, कि पार्लियामेन्ट की दोनों सभाओं——सीनेट और प्रतिनिधि सभा——के सदस्य मिलकर संविधान परिषद् के रूप में एकत्र होते थे और यह परिषद् देश के लिये नये संविधान का निर्माण करने का कार्य करती थी । पर प्रधानमन्त्री तुआन ची जुई और पार्लियामेन्ट में शीघ्र ही विरोध हो गया और इस विरोध ने इतना प्रचण्ड रूप धारण किया कि कुछ ही समय में पार्लियामेन्ट का और उसके साथ ही लोकतन्त्र शासन का भी चीन से अन्त हो गया । प्रधान मंत्री और पार्लियामेन्ट के इस विरोध के निम्नलिखित कारण थे——(१) चीन की सरकार ने अपने आर्थिक संकट को दूर करने के लिये निश्चय किया, कि विदेशी राज्यों से नया कर्ज लिया जाय । तुआन ची जुई ने कर्ज की सब शर्तें विदेशी बैंकिंग सिण्डीकेट के साथ तय कर लीं । जब इन्हें स्वीकृति के लिये पार्लियामेन्ट के सम्मुख पेश किया गया, तो वहां उसका घोर विरोध हुआ । (२) पार्लियामेन्ट के सदस्य समझते थे, कि मन्त्रिमण्डल

उनके प्रति उत्तरदायी है। वे उसके प्रत्येक कार्य की कड़ी आलोचना करते थे। पर तुआन ची जुई इतना जबर्दस्त आदमी था, कि पार्लियामेन्ट की जरा भी परवाह नहीं करता था। (३) प्रधान मन्त्री तुआन ची जुई चाहता था, कि यूरोपियन महायुद्ध में चीन मित्रराष्ट्रों (फ्रांस, ब्रिटेन, रूस आदि) का पक्ष लेकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दे। बोक्सर युद्ध में हरजाने की जो भारी रकम चीन ने विदेशी राज्यों को प्रदान करनी थी, और जिसकी बहुत सी किस्तें अभी अदा करनी शेष थीं, उसके बारे में कुछ रियायत चीन को प्राप्त हो जायगी, यदि वह यूरोपियन महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की सहायता करेगा—इस बात का तुआन ची जुई को पूरा भरोसा था, पर मित्रराष्ट्र इस विषय में पहले से ही कोई पक्का समझौता करने को तैयार नहीं थे। उनका कहना था, कि यदि चीन महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की पूरी पूरी सहायता करेगा, तो वे इस प्रश्न पर सहानुभूति पूर्वक विचार करेंगे। पर चीन की पार्लियामेन्ट महायुद्ध में शामिल होने की सहमति इसी शर्त पर देने को तैयार थी, कि पहले मित्रराष्ट्रों के साथ हरजाने की रकम के बारे में पक्का समझौता कर लिया जाय। तुआन ची जुई को इस बात में सफलता नहीं हो सकी। परिणाम यह हुआ, कि पार्लियामेन्ट ने युद्ध में शामिल होने के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। इस दशा में राष्ट्रपति ली युआन हुंग ने तुआन ची जुई को प्रधानमन्त्री के पद से पृथक् कर देने की आज्ञा जारी की। राष्ट्रपति का यह कार्य वैधानिक दृष्टि से बिलकुल ठीक था। क्योंकि तुआन ची जुई को पार्लियामेन्ट के बहुमत का विश्वास प्राप्त नहीं था, अतः वह अपने पद पर नहीं रह सकता था। पर तुआन ची जुई ने प्रधानमन्त्री के पद से पृथक् होने से इनकार कर दिया। उत्तरी चीन के अनेक प्रान्तीय सूबेदार उसकी पीठ पर थे। उन्होंने अपनी सेनाओं के साथ पेकिंग की ओर प्रस्थान कर दिया। पेकिंग की सरकार उनका मुकाबला नहीं कर सकी। पेकिंग पर उत्तरी प्रान्तों के सूबेदारों की सेनाओं का कब्जा हो गया। उन्होंने राष्ट्रपति ली युआन हुंग को इस बात के लिये विवश किया, कि वह पार्लियामेन्ट को बर्खास्त कर दे और तुआन ची जुई को प्रधानमन्त्री के पद से न हटावे।

युआन शी काई की मृत्यु के बाद चीन में जिस लोकतन्त्र सरकार की स्थापना की गई थी, वह देर तक कायम नहीं रह सकी। जुलाई, १९१६ तक उसका अन्त हो गया। अनेक सूबेदार सेनापतियों (इन्हें हम अब से सिपहसालार कहेंगे, क्योंकि मुगल साम्राज्य के पतनकाल में भारत में भी अनेक सूबेदार जहां प्रान्तीय शासन के मुख्य अधिकारी होते थे, वहां प्रान्तीय सेना के सिपहसालार भी होते थे) ने इस समय यह यत्न भी किया, कि मञ्चू राजवंश का पुनरुद्धार किया जाय। सिपह-

सालार चांग ह् सुन ने रिपब्लिक का पूर्ण रूप से अन्त कर नाबालिग मञ्चू सम्राट् को फिर से पेकिंग की राजगद्दी पर बिठाया। पर बहुसंख्यक सिपहसालार इस बात के विरोध में थे। परिणाम यह हुआ, कि चांग ह् सुन को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई और मञ्चू राजवंश की पुनः स्थापना नहीं हो सकी। रिपब्लिक कायम रही, पर उसमें न पार्लियामेन्ट की सत्ता थी और न ही शासन पर जनता का किसी प्रकार का प्रभाव था। प्रधानमन्त्री तुआन ची जुई का सरकार पर उसी प्रकार से आधिपत्य था, जैसे कि पहले युआन शी काई का था। इस दशा में राष्ट्रपति ली युआन हुंग ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

**तुआन ची जुई का एकाधिपत्य**—ली युआन हुंग के राष्ट्रपति पद से पृथक् हो जाने के बाद तुआन ची जुई के लिये अपने उत्कर्ष का मार्ग खुल गया। अब राष्ट्रपति के पद पर फेंग कुओ-चंग को नियत किया गया। यह हूकुआंग प्रान्त का सिपहसालार था और युआन शी काई की मृत्यु के बाद जब ली युआन हुंग उपराष्ट्रपति से राष्ट्रपति बन गया था, तो उपराष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित हुआ था। ली युआन हुंग के त्यागपत्र दे देने पर यह स्वयं अपने अधिकार से राष्ट्रपति बन गया था। ली युआन हुंग के समान फेंग कुओ-चंग को भी तुआन ची जुई की प्रभुता पसन्द नहीं थी। वह स्वयं एक शक्तिशाली सिपहसालार था और एक बड़ी सेना उसके आधिपत्य को स्वीकार करती थी। उसने प्रधानमन्त्री तुआन ची जुई का विरोध करना शुरू किया। इस दशा में प्रधान मन्त्री के पास एक ही उपाय था, वह यह कि पार्लियामेन्ट के अधिवेशन को फिर से बुलाकर नये राष्ट्रपति का निर्वाचन करावे। अक्टूबर, १९१८ में फेंग कुओ-चंग का राष्ट्रपति पद का काल समाप्त होता था। इससे लाभ उठाकर तुआन ची जुई ने पार्लियामेन्ट का अधिवेशन बुलाया, उसके बहुसंख्यक सदस्यों को पद व रुपये के लोभ से अपने पक्ष में किया और अपने समर्थक ह् सू शिह्-चंग को राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित करा दिया। तुआन ची जुई इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, उसने अपने समर्थकों का एक नया दल बनाया, जिसे अन्फू क्लब कहते थे। इस क्लब के सदस्यों ने परस्पर मिलकर एक गुटबन्दी बनाई थी और ये राजकीय पदों को प्राप्त करने में एक दूसरे की सहायता करते थे। तुआन ची जुई ने विदेशों से अनेक बार कर्ज लिये। यद्यपि यूरोप के विविध देश इस समय महायुद्ध में तत्पर थे, पर जापानी सरकार बड़ी उदारता के साथ चीन को कर्ज देने के लिये उद्यत थी। जापानी लोग भलीभांति समझते थे, कि ये कर्ज चीन पर अपना आर्थिक व राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के सर्वोत्तम साधन हैं। विदेशों से कर्ज लेने की शर्तों का पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत कराना आवश्यक था। पर अन्फू क्लब के सदस्यों की सहायता से तुआन ची जुई के लिये यह कठिन

नहीं था, कि इन कर्जो को पार्लियामेन्ट से स्वीकार करा ले । कर्ज की रकम का हिस्सा अन्फू क्लब के सदस्यों की जेबों में भी पहुंचा दिया जाता था । इस प्रकार पद व रुपये के लोभ से तुआन ची जुई ने पार्लियामेन्ट को अपने हाथों में कठपुतली बना लिया और स्वेच्छाचारी ढंग से चीन का शासन करना प्रारम्भ किया ।

**केन्टन की पृथक रिपब्लिकन सरकार**—पर यहां यह ध्यान में रखना चाहिये, कि तुआन ची जुई की पेकिंग सरकार का आधिपत्य सारे चीन पर विस्तृत नहीं था । विविध सिपहसालारों की शक्ति के बढ़ जाने के कारण अब पेकिंग में स्थित चीनी सरकार के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह सारे चीन पर अपना शासन स्थापित रख सके । इस स्थिति से लाभ उठाकर डा० सन यात सेन के अनुयायी राष्ट्रीय क्रान्तिकारी दल के लोगों ने कैन्टन में अपनी पृथक् सरकार का संगठन किया । युआन शी काई द्वारा कुओमिन्तांग दल को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया था । पर तुआन ची जुई और ली युआन हुंग के पारस्परिक संघर्ष का लाभ उठाकर इस दल ने फिर शक्ति प्राप्त करनी शुरू कर दी थी, और दक्षिणी चीन के विविध प्रदेशों ने उसका साथ दिया था । कैन्टन की सरकार का दावा था, कि वही चीन की असली सरकार है यद्यपि उसका आधिपत्य केवल दक्षिणी चीन पर ही स्थापित था । १९२१ में डा० सन यात सेन को कैन्टन सरकार का राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया ।

**अराजकता का सूत्रपात**—कैन्टन में डा० सन यात सेन की सरकार का शासन था और पेकिंग में तुआन ची जुई स्वेच्छाचारी रूप से सरकार का सञ्चालन कर रहा था । पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि इस समय चीन में इन दो सरकारों का व्यवस्थित शासन था । उत्तरी चीन के विविध प्रदेशों में विभिन्न सिपहसालार अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र राजाओं के समान शासन करने में तत्पर थे । वे जहां आपस में लड़ते रहते थे, वहां साथ ही पेकिंग सरकार पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे । इन विभिन्न सिपहसालारों के कारण तुआन ची जुई का आधिपत्य बहुधा पेकिंग की चहारदीवारी तक ही सीमित रह जाता था । पर क्योंकि विदेशी दूतावास पेकिंग में विद्यमान थे, अतः अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से तुआन ची जुई की सरकार को ही चीन की कानूनी सरकार माना जाता था । जिस प्रकार मुगल साम्राज्य के ह्रास के युग में दिल्ली के सम्राटों का शासन बहुत थोड़े से प्रदेश तक सीमित रह गया था और मराठा, अफगान आदि विविध सरदार दिल्ली को अपने प्रभुत्व में लाने में तत्पर रहते थे, कुछ वैसी ही दशा इस समय पेकिंग सरकार की हो गई थी । तुआन ची जुई का पेकिंग पर कब्जा था, पर अन्य सिपहसालार निरन्तर उसे अपने आधिपत्य में लाने में प्रयत्नशील थे । कैन्टन की

कुओमिन्तांग सरकार की दशा भी प्रायः इसी प्रकार की थी। कैन्टन व उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर उसका आधिपत्य विद्यमान था, पर दक्षिणी चीन के अन्य प्रदेश उसी अंश में कैन्टन सरकार के अधीन थे, जिस अंश तक वहां के विविध सिपहसालार उसकी अधीनता को स्वीकृत करने के लिये उद्यत हों।

१९१६ से १९२६ तक चीन में इसी प्रकार की अराजकता विद्यमान रही। इस काल की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख हम अगले एक प्रकरण में करेंगे। १९२६ के बाद चियांग काई शेक के नेतृत्व में कुओमिन्तांग दल की शक्ति बहुत बढ़ गई और वह चीन के बड़े भाग में एक सुव्यवस्थित व शक्तिशाली शासन की स्थापना करने में समर्थ हुआ।

## (४) प्रथम महायुद्ध और चीन

**चीन की उदासीनता**—१९१४ में जब यूरोप में प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) का प्रारम्भ हुआ, तो जापान ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के पक्ष में लड़ाई में शामिल हो गया। पर चीन ने उदासीन वृत्ति को अपनाया और युद्ध में किसी पक्ष में शामिल न होने का निश्चय किया। इससे लाभ उठाकर जापान ने किस प्रकार कियाऊ चाऊ के प्रदेश पर, जो पहले जर्मनी के अधीन था, अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। शांतुंग के प्रान्त में जो विशेषाधिकार जर्मनी को प्राप्त थे, वे सब जापान ने प्राप्त कर लिये। यदि चीन शुरू में ही जर्मनी के खिलाफ महायुद्ध में शामिल हो जाता, तो वह शांतुंग को विदेशी प्रभाव से मुक्त कर सकता था। जर्मनी के विशेषाधिकारों को नष्ट करने के कार्य में ब्रिटेन, फ्रांस आदि मित्रराष्ट्रों की सहानुभूति चीन के साथ में होती। पर युआन शी काई ने उदासीन नीति का अनुसरण करने में ही अपने देश का लाभ समझा था। चीन में युद्ध के लिये न पर्याप्त अस्त्र-शस्त्र थे और न ही इतना धन था, कि वह विदेशों से युद्ध सामग्री को क्रय कर सकता। सरकारी खर्च को चलाने के लिये भी युआन शी काई विदेशों से कर्ज लेने के लिये विवश हुआ था। साथ ही, चीन के लिये यह निश्चय कर सकना भी सुगम नहीं था, कि महायुद्ध में किस पक्ष में शामिल हुआ जाय। विदेशी राज्य उसे समान रूप से लूटने में तत्पर थे। जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में शामिल होने का चीन के लिये कोई विशेष कारण नहीं था।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि चीन की उदासीन नीति का जापान ने बहुत दुरुपयोग किया। उसने न केवल शांतुंग प्रान्त में जर्मनी के विशेषाधिकारों को नष्ट कर अपने आधिपत्य की स्थापना की, अपितु चीनी सरकार के सम्मुख २१ मांगें भी पेश कीं। इन मांगों का उल्लेख हम इसी अध्याय में पहले कर चुके हैं। ये मांगें

१९१५ के शुरू में पेश की गई थीं। उस समय चीन पर युआन शी काई का आधिपत्य था। उसकी इतनी शक्ति नहीं थी, कि वह जापान की मांगों की पूर्णतया उपेक्षा कर सके। शांतुंग प्रान्त के सम्बन्ध में जापान की मांगों को उसने पूर्णरूप से स्वीकार कर लिया। लिआओ तुंग प्रायद्वीप, पोर्ट आर्थर और मञ्चूरियन रेलवे के सम्बन्ध में भी युआन शी काई ने जापान के सम्मुख सिर झुका दिया। चीन के सबसे बड़े लोहे के कारखाने पर भी जापान के संयुक्त नियन्त्रण को स्वीकार किया गया। जापान की इस मांग के विषय में, कि चीन अपने समुद्रतट पर स्थित कोई नगर व बन्दरगाह किसी अन्य राज्य को पट्टे आदि पर न दे, युआन शी काई ने यह कहा कि वह इस बात के लिये तैयार है, कि चीनी समुद्रतट का कोई भी प्रदेश किसी विदेशी राज्य (जिनमें जापान भी शामिल हो) को नहीं दिया जायगा। जापान ने भी इस विषय में मामले को अधिक नहीं बढ़ाया, क्योंकि इसके कारण उसे फ्रांस, ब्रिटेन आदि के विरोध का भय था। अस्त्र-शस्त्र आदि को जापान से खरीदने की मांग के सम्बन्ध में युआन शी काई ने यह कहा, कि इस मामले का विचार भविष्य के लिये स्थगित रखा जाय।

जापान की २१ मांगों के विषय में चीन को जिस प्रकार झुकना पड़ा, उससे यह स्पष्ट है, कि महायुद्ध में उदासीन रहकर चीन ने बहुत बुद्धिमत्ता से काम नहीं लिया था। इसके कारण जापान को पूर्वी एशिया में मनमानी करने का अवसर मिल गया था। ब्रिटेन, फ्रांस आदि यूरोप में युद्ध-कार्य में इतने अधिक व्यग्र थे, कि उन्हें सुदूर पूर्व के मामलों पर ध्यान देने का अवकाश नहीं था। साथ ही उनके लिये यह भी सम्भव नहीं था, कि वे जापान को नाराज कर सकते। पूर्वी एशिया में जापान ने ही जर्मनी की शक्ति का अन्त किया था, और जापानी जहाजी बेड़े को यह कार्य सुपुर्द था, कि वह प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जर्मनी के खिलाफ पहरा रखने का काम करे। जब यूरोप में महायुद्ध ने अधिक उग्र रूप धारण किया, तो मित्रराष्ट्रों ने जापान से अनुरोध किया, कि वह अपने कुछ जंगी जहाजों को भूमध्यसागर में भी भेजे। जापान मित्रराष्ट्रों में सम्मिलित था और ब्रिटेन, फ्रांस आदि उसकी सहायता को बहुत महत्त्व देते थे। इसके विपरीत चीन महायुद्ध में उदासीन था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ, कि जापान को चीन में अपने प्रभुत्त्व को विस्तृत करने का सुवर्णीय अवसर हाथ लग गया। शांतुंग और मञ्चूरिया में जिस ढंग से इस समय जापान ने अपनी शक्ति का विकास किया, उसके कारण भविष्य में उसके लिये चीन में अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये मार्ग बहुत कुछ साफ हो गया।

**चीन का महायुद्ध में प्रवेश**——१९१७ के प्रारम्भ में संयुक्तराज्य अमेरिका ने मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अमेरिका ने

अन्य उदासीन राज्यों से भी अपील की, कि वे जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में शामिल हों। पेकिंग में स्थित अमेरिकन राजदूत के अनुरोध को स्वीकार कर प्रधान मन्त्री तुआन ची जुई ने चीन के लिये महायुद्ध में सम्मिलित हो जाने को हितकर समझा। चीनी सरकार की ओर से पहले जर्मनी को नोटिस दिया गया, कि उदासीन राज्यों के जहाजों पर पनडुब्बियों द्वारा आक्रमण करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून और मानवता के विरुद्ध है, अतः इस प्रकार के हमलों को तुरन्त बन्द कर दिया जाय। जर्मन सरकार ने चीन के नोटिस पर कोई ध्यान नहीं दिया। इसपर चीनी सरकार ने जर्मनी के साथ अपने सम्बन्ध का विच्छेद कर लिया। पर जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा करने से पूर्व तुआन ची जुई यह चाहता था, कि मित्रराष्ट्रों से (जिनमें अब अमेरिका भी सम्मिलित हो चुका था) एक ऐसा समझौता कर ले, जो चीन के लिये लाभदायक हो। इस समझौते के लिये वह निम्नलिखित शर्तें पेश करता था—(१) बोक्सर युद्ध के बाद चीन को जो हरजाना विदेशी राज्यों को देना था, उसमें से उस अंश को रद्द कर दिया जाय, जो जर्मनी को दिया जाना था। (२) मित्र-राष्ट्रों को हरजाने की जो रकम दी जाती थी, उसकी अदायगी को अभी स्थगित रखा जाय। (३) चीन के आयात और निर्यात माल पर तट कर की जो दरें सन्धियों द्वारा निर्णीत थीं, उन्हें दोहराया जाय और चीन को तट कर में वृद्धि करने की अनुमति दी जाय। (४) बोक्सर युद्ध की समाप्ति पर विविध सन्धियों द्वारा जो विदेशी सेनायें पेकिंग व अन्य चीनी नगरों में स्थापित की गई थीं, उन्हें अब चीन से हटा लिया जाय। इन शर्तों को स्वीकार कर लेने पर मित्रराष्ट्रों को यह लाभ था, कि चीन महायुद्ध में जर्मनी के खिलाफ शामिल हो जाता। सैनिक दृष्टि से चीन मित्रराष्ट्रों के लिये बहुत अधिक उपयोगी नहीं हो सकता, पर उसके लिये यह सुगम था, कि चीनी मजदूरों को बड़ी संख्या में यूरोप में कार्य करने के लिये भेज दे। चीनी मजदूर फ्रेञ्च और ब्रिटिश मजदूरों का स्थान ले लें, और यूरोपियन मजदूर सेना में भरती होकर लड़ाई के मैदान में जा सकें। इसके अतिरिक्त चीन अनेक प्रकार का कच्चा माल व भोजन-सामग्री भी मित्रराष्ट्रों को दे सकता था। इस दृष्टि से मित्रराष्ट्र भी चीन के युद्ध में सम्मिलित होने को पर्याप्त महत्त्व देते थे।

पर मित्रराष्ट्र इस बात के लिये तैयार नहीं हुए, कि वे पहले तुआन ची जुई द्वारा पेश की गई शर्तों को स्वीकार कर लें। उनका कहना था, कि पहले चीन मित्रराष्ट्रों के पक्ष में लड़ाई में शामिल हो जावे और बाद में वे उसकी शर्तों पर सहानुभूति पूर्वक विचार करने को तैयार होंगे। पर चीन की पार्लियामेन्ट बिना किसी शर्त के युद्ध में शामिल होने को तैयार नहीं थी। इस प्रश्न पर तुआन ची जुई और पार्लियामेन्ट में जो संघर्ष हुआ, उसका उल्लेख हम इसी अध्याय में पहले कर

चुके है । तुआन ची जुई ने पालियामेन्ट को बर्खास्त करके सम्पूर्ण राजशक्ति को अपने हाथों में ले लिया, और मित्रराष्ट्रों के पक्ष में होकर जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी । १४ अगस्त, १९१७ को चीन बाकायदा महायुद्ध में शामिल हो गया ।

**महायुद्ध में भाग लेने के परिणाम**—(१) जब चीन मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर लड़ाई में शामिल हो गया, तो उन्होंने तुआन ची जुई की शर्तों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया । इन शर्तों में से उन्होंने तटकर में वृद्धि करने की बात को स्वीकार किया । तटकर में इस समय जो वृद्धि हुई, उसके कारण चीनी सरकार को यह अवसर मिला, कि वह पांच फी सदी अतिरिक्त तटकर वसूल कर सके । चीन की राजकीय आमदनी की वृद्धि में इससे बहुत सहायता मिली । (२) जर्मनी और आस्ट्रिया की जो कुछ भी सम्पत्ति चीन में थी, उस सब पर चीनी सरकार ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया । अन्य पाश्चात्य राज्यों के समान जर्मनी ने भी चीन के बन्दरगाहों में बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए थे । उसकी बड़ी-बड़ी व्यापारिक कोठियां वहां बनी हुई थीं । इन सब पर चीन ने कब्जा कर लिया । (३) मित्रराष्ट्रों ने इस बात को स्वीकार किया, कि बोक्सर युद्ध के बाद हरजाने की जो रकम चीन द्वारा जर्मनी को प्रदान करनी थी, उसे रद्द कर दिया गया। अन्य देशों को हरजाने की रकम अदा करने की बात को पांच साल के लिये स्थगित कर दिया गया । (५) युद्ध की समाप्ति पर जब सन्धि परिषद् के अधिवेशन हों, तो चीन को भी उसमें अपना प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हो, यह बात भी स्वीकृत कर ली गई ।

महायुद्ध में शामिल होने के कारण जहां चीन को ये लाभ हुए, वहां मित्रराष्ट्रों को भी उससे अनेक लाभ हुए । ये लाभ निम्नलिखित थे—(१) इस समय मित्र राष्ट्रों ने हजारों मजदूर चीन से भरती किये । इन्हें फ्रांस व यूरोप के अन्य रणक्षेत्रों में काम करने के लिये भेजा गया । चीनी मजदूरों के कारण यूरोपियन मजदूरों के लिये सेना में भरती हो सकना सम्भव हो गया । (२) चीन से मित्रराष्ट्रों को कच्चा माल व भोजन प्रचुर परिमाण में प्राप्त हुआ । महायुद्ध के कारण यूरोप में इन पदार्थों की बहुत कमी थी । चीन के सुविस्तृत प्रदेशों से अनेक प्रकार का माल इस समय मित्रराष्ट्रों के लिये सुलभ हो गया । (३) महायुद्ध के प्रारम्भ में जर्मनी के जो जंगी व व्यापारी जहाज पूर्वी एशिया में विद्यमान थे, उन्होंने चीन के समुद्र तट पर आश्रय लिया हुआ था । जापान के कारण इन जहाजों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि जर्मनी वापस जा सकें । क्योंकि चीन युद्ध में उदासीन था, अतः उसके समुद्र तट पर विद्यमान इन जर्मन जहाजों पर जापान व अन्य मित्रराष्ट्र

कब्जा नहीं कर सकते थे। जब चीन युद्ध में शामिल हो गया, तो ये सब जर्मन जहाज मित्रराष्ट्रों के हाथ में आ गये। इस समय मित्रराष्ट्रों के पास जहाजों की बहुत कमी थी, जर्मन पनडुब्बियों ने मित्रराष्ट्र पक्ष के बहुत से जहाजों को डुबो दिया था। जर्मन जहाजों के हाथ आ जाने से मित्रराष्ट्रों की नाविक शक्ति में बहुत वृद्धि हो गई।

**पेरिस की सन्धि परिषद् और चीन**—१९१४-१८ के महायुद्ध की समाप्ति के बाद परास्त देशों के साथ सन्धि करने के लिये पेरिस में सन्धि परिषद् का आयोजन किया गया। इसमें चीन के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए। इस समय चीन में दो सरकारें थीं, पेकिंग की सरकार जिसका नेता युआन ची जुई था और कैन्टन की सरकार, जिसका नेता डा० सन यात सेन था। सन्धि परिषद् में सम्मिलित चीनी प्रतिनिधि दोनों सरकारों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। पेरिस की सन्धि-परिषद् में चीनी प्रतिनिधियों की मुख्य मांग यह थी, कि शांतुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे और युद्ध के दौरान में जिन्हें जापान ने प्राप्त कर लिया था, वे अब चीन को प्राप्त हों। युद्ध के अवसर पर जापान ने २१ मांगों को पेश कर चीन को जिस ढंग से एक ऐसी सन्धि करने को विवश किया था, जिसके कारण शांतुंग और मञ्चूरिया में जापान का प्रभाव व प्रभुत्व स्थापित हो गया था, उस सन्धि को रद्द किया जाय। पर जापान चीन की इस मांग को किसी भी प्रकार स्वीकार करने को तैयार नहीं था। अन्य मित्रराष्ट्र भी जापान के मुकाबले में चीन को कोई महत्त्व नहीं देना चाहते थे। वे स्वयं इस बात के लिये उत्सुक थे, कि जर्मनी की पराजय के कारण शांतुंग के प्रदेश में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने का जो अवसर प्राप्त हो गया है, उसका प्रयोग किया जाय। चीन के प्रतिनिधियों के बहुत जोर देने पर जापान ने इस बात को स्वीकार किया, कि वह शांतुंग में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिये इच्छुक नहीं है। वह केवल यह चाहता है, कि इस प्रदेश में जर्मनी को जो आर्थिक विशेषाधिकार प्राप्त थे, केवल उन्हीं को अब वह प्राप्त कर ले।

**वर्साय की सन्धि और चीन**—पेरिस की सन्धि परिषद् के परिणाम स्वरूप जो वर्साय की सन्धि तैयार हुई, उसमें चीन के साथ सम्बन्ध रखनेवाली महत्त्वपूर्ण शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) बोक्सर युद्ध के परिणामस्वरूप हरजाने की जो रकम चीन द्वारा जर्मनी को देनी थी, उसे रद्द किया जाय। (२) तीन्त्सिन और हैंको में जो विशेषाधिकार जर्मनी ने चीन से १८९८ में प्राप्त किये थे, उन्हें रद्द समझा जाय। (३) महायुद्ध के समय में जर्मनी और आस्ट्रिया की जिस सम्पत्ति पर चीनी सरकार ने अधिकार कर लिया था, वे अब चीन के पास ही रहें, सिवाय उस सम्पत्ति के, जिसका सम्बन्ध दूतावासों के साथ था। (४) शांतुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार

प्राप्त थे, वे जापान को मिलें। शांतुंग प्रान्त में कियाऊ चाऊ के प्रदेश का जो पट्टा जर्मनी के पास था, वह भी जापान को प्राप्त हो। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने इस बात को स्वीकार किया था, कि शांतुंग प्रान्त के सम्बन्ध में चीन की मांग न्याय पर आश्रित है। पर जापान व अन्य मित्रराष्ट्रों के सम्मुख वे अपने को असहाय अनुभव करते थे। उन्होंने इस बात से सन्तोष कर लिया था, कि वर्साय की सन्धि के कारण जिस राष्ट्रसंघ की स्थापना की जा रही है, चीन भी उसमें सम्मिलित होगा और उसे यह अवसर होगा कि वहां वह अपनी शिकायतों को दूर करा सके। जापान ने भी मौखिक रूप से इस बात का आश्वासन दिया था, कि वह शांतुंग प्रान्त में केवल आर्थिक विशेषाधिकारों का ही उपभोग करेगा, राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना का उद्योग नहीं करेगा। जापान के इस आश्वासन के कारण मित्रराष्ट्रों ने अपने को यह समझा लिया था, कि वे चीन के साथ कोई विशेष अन्याय नहीं कर रहे हैं।

वर्साय की सन्धि से चीन के प्रतिनिधियों को बहुत निराशा हुई। यद्यपि इस समय चीनी सरकार की दशा बहुत अव्यवस्थित थी और वहां विविध सिपहसालार परस्पर संघर्ष में व्यापृत थे, पर पेरिस की सन्धि-परिषद् में चीन के साथ घोर अन्याय हुआ है, इस बात को सब लोग उग्र रूप से अनुभव करते थे। यही कारण है, कि चीन के प्रतिनिधियों ने वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। चीन के हस्ताक्षरों के बिना ही वर्साय की सन्धि पूर्ण कर ली गई और चीन ने जर्मनी के साथ पृथक् रूप से सन्धि की।

**जर्मनी और चीन की सन्धि**—क्योंकि चीन ने वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर कर देने से इनकार कर दिया था, अतः इस बात की आवश्यकता थी, कि चीन और जर्मनी पृथक् रूप से सन्धि करें। यह सन्धि २० मई, १९२१ को हुई और इसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) शांतुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, उनका वह परित्याग कर दे। कियाऊ चाऊ से जर्मनी के पट्टे का भी अन्त हो जाय। (२) विविध सन्धियों द्वारा जर्मनी ने चीन के विविध बन्दरगाहों में व्यापार करने के सम्बन्ध में जो विशेषाधिकार प्राप्त किये थे, उन सबका अन्त हो जाय। जर्मनी और चीन, दोनों देशों के लोगों को यह अधिकार और अवसर हो, कि वे एक दूसरे देश में व्यापार, यात्रा आदि के लिये स्वतन्त्रता से आ जा सकें। व्यापार और यात्रा के सम्बन्ध में चीन और जर्मनी के लोगों को समान रूप से अधिकार हो। (३) विविध सन्धियों के कारण जर्मन लोगों को चीन में 'एक्सट्रा-टैरिटोरिएलिटी' विषयक जो अधिकार प्राप्त थे, उनका अन्त किया जाय। भविष्य में जो जर्मन लोग व्यापार आदि के लिये चीन में रहें, उन पर चीनी

कानून लागू हों, और उनके अभियोगों का निर्णय चीनी अदालतों द्वारा ही किया जाय ।

जर्मनी और चीन की यह सन्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इसके कारण कम से कम एक पाश्चात्य राज्य ऐसा हो गया, जो चीन को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अपना समकक्ष मानता था और जिसे वहां किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त नहीं थे । इससे चीनी लोगों को यह आशा करने का अवकाश हो गया था, कि वे भविष्य में अन्य विदेशी राज्यों से भी इसी प्रकार की सम्मानास्पद स्थिति प्राप्त कर सकेंगे ।

पर जर्मनी और चीन की सन्धि द्वारा शांतुंग प्रान्तमें जापानी प्रभुत्व की समस्या का हल नहीं हो सका था । इसके लिये चीन ने भविष्य में जो उद्योग किया, उसपर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे ।

## (५). चीन में अराजकता का काल

इसी अध्याय में पहले हम इस बात पर प्रकाश डाल चुके हैं, कि किस प्रकार पेकिंग और कैन्टन में दो पृथक् चीनी सरकारों की स्थापना हुई । उत्तरी चीन पेकिंग सरकार के अधीन था और दक्षिणी चीन कैन्टन सरकार के । पर पेकिंग सरकार का उत्तरी चीन पर आधिपत्य नाममात्र का था, क्योंकि विविध सिपहसालार विभिन्न प्रदेशों में स्वतन्त्र शासकों के समान आचरण कर रहे थे और इस बात के लिये भी प्रयत्नशील थे, कि अपनी सैन्यशक्ति का उपयोग कर पेकिंग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लें । अनेक अंशों में यही बात कैन्टन सरकार के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । दक्षिणी चीन के विविध प्रदेशों में उसका प्रभुत्व उसी अंश तक विद्यमान था, जहां तक कि विविध सिपहसालार उसकी सत्ता को स्वीकृत करने के लिये उद्यत थे । हम यह भी लिख चुके हैं, कि १९१७ में पेकिंग सरकार का शासनसूत्र तुआन ची जुई के हाथों में था ।

**उत्तरी चीन की पेकिंग सरकार**—१९२० तक पेकिंग में तुआन ची जुई का आधिपत्य कायम रहा । अन्फू क्लब के सदस्यों को पद व रुपये का लोभ दिखाकर उसने पार्लियामेन्ट के बहुमत को अपने पक्ष में किया हुआ था । इसी उपाय का आश्रय लेकर उसने अपने प्रमुख विरोधी फेंग कुओ चंग के स्थान पर अपने समर्थक हू शिह चंग को राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित करा लिया था । हम पहले लिख चुके हैं, कि ली युआन हुंग के त्यागपत्र दे देने पर फेंग कुओ चंग चीन का राष्ट्रपति बन गया था । पर इन सब उपायों द्वारा भी उत्तरी चीन में तुआन ची जुई की स्थिति सुरक्षित नहीं हो गई थी । इसका कारण यह था, कि उत्तरी चीन के अनेक सिपहसालार इस समय अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर थे और वे पेकिंग पर भी अपना

प्रभुत्त्व स्थापित कर लेने के लिये प्रयत्नशील थे। १९२० में मञ्चूरिया के सिपहसालार चांग त्सो-लिन ने पेकिंग पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में त्साओ कुन उसका प्रधान सहायक था। यह हूकुआंग का सिपहसालार था। पहले इसी पद पर फेंग कुओ चंग विराजमान था। पर राष्ट्रपति का पद ग्रहण कर लेने के बाद उसका नायब त्साओ कुन हुकुआंग का सिपहसालार बन गया था। क्योंकि तुआन ची जुई ने फेंग कुओ चंग के स्थान पर हू सू शिह चंग को राष्ट्रपति निर्वाचित कराया था, अतः त्साओ कुन उसका प्रबल विरोधी हो गया था। मञ्चूरिया के सिपहसालार चांग त्सो लिन और हूकुआंग के सिपहसालार त्साओ कुन की सम्मिलित सेनाओं ने पेकिंग पर आक्रमण किया। तुआन ची जुई उनका मुकाबला नहीं कर सका। वह परास्त हो गया और पेकिंग की सरकार पर चांग त्सो-लिन का आधिपत्य स्थापित हो गया। १९२० से १९२२ तक चांग त्सो-लिन पेकिंग सरकार का अधिपति रहा। पर उसकी सत्ता भी देर तक कायम नहीं रह सकी। त्साओ कुन इस बात को नहीं सह सका, कि अकेला चांग त्सो लिन पेकिंग का शासन करे। एक अन्य सिपहसालार वू पेई-फू के सहयोग से त्साओ कुन ने चांग त्सो लिन को पेकिंग छोड़कर मञ्चूरिया वापस चले जाने के लिये विवश किया। मञ्चूरिया लौटकर चांग त्सो लिन ने घोषणा की, कि मञ्चूरिया का पेकिंग सरकार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, और अब से मञ्चूरिया को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित किया जाता है।

**वू पेई फू का शासन**—चांग त्सो लिन के चले जाने के बाद पेकिंग पर वू पेई फू का शासन कायम हो गया। पर उसकी सत्ता केवल पेकिंग नगरी तक ही सीमित थी। मञ्चूरिया पर चांग त्सो लिन का आधिपत्य था। उत्तरी चीन के अन्य प्रदेशों पर विभिन्न सिपहसालार स्वतन्त्र शासकों के समान शासन करने लग गये थे। वू पेई फू की दशा कितनी शोचनीय थी, इसका अनुमान इसी घटना से किया जा सकता है, कि १९२४ में जब चांग त्सो लिन ने अपनी मञ्चूरियन सेनाओं को साथ लेकर पेकिंग पर आक्रमण करना शुरू किया, तो स्वाभाविक रूप से वू पेई फू उसका मुकाबला करने के लिये आगे बढ़ा, पर इस अवसर से लाभ उठाकर उसके सहायक सेनापति फेंग यू-हि्सआंग ने पेकिंग पर अपना कब्जा कायम कर लिया। वू पेई फू को १९२४ में पेकिंग का परित्याग करने के लिये विवश होना पड़ा। पर फेंग-यू-हि्सआंग की स्थिति भी सुरक्षित नहीं थी। अन्य सिपहसालार उसके विरुद्ध लड़ाई करने को उद्यत थे। इस समय चीन में अराजकता विद्यमान थी। पेकिंग सरकार की सत्ता नाममात्र को थी और विविध सिपहसालार आपस में संघर्ष में तत्पर थे। यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि इन सिपहसालारों के पारस्परिक

संघर्ष के वृत्तान्त को उल्लिखित कर सकें। वू पेई फू के खिलाफ विद्रोह कर फंग यू हि्सआंग ने पेकिंग में जो सरकार स्थापित की थी, उसमें उसे मञ्चूरिया के सिपहसालार चांग त्सो-लिन का सहयोग प्राप्त हो गया था। पर इन दोनों सेनानियों में भी देर तक सहयोग कायम नही रह सका। फंग यू हि्सआंग ने चांग त्सो लिन के खिलाफ लड़ाई शुरू कर दी। १९२५ में चांग त्सो लिन को एक बार फिर पेकिंग छोड़कर मञ्चूरिया वापस लौट जाने के लिये विवश होना पड़ा। अब उसने अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी सेनापति वू पेई फू के साथ सुलह कर ली और १९२६ के शुरू में चांग त्सो लिन और वू पेई फू की सम्मिलित सेनाओं ने फंग यू हि्सआंग के साथ मोरचा लेने के लिये पेकिंग की ओर प्रस्थान किया। पर उन्हें इस लड़ाई की आवश्यकता नहीं हुई, क्योंकि इस बीच में कैन्टन की कुओमिन्तांग सरकार की शक्ति भलीभांति व्यवस्थित और सुदृढ़ हो गई थी तथा कैन्टन सरकार अब इस प्रयत्न में थी, कि उत्तरी चीन के विविध सिपहसालारों को परास्त कर चीन की राष्ट्रीय एकता को फिर से स्थापित करे। इस उद्देश्य से कुओमिन्तांग सरकार की सेनाओं ने १९२६ में पेकिंग की ओर प्रस्थान किया। वू पेई फू को उनका मुकाबला करने के लिये दक्षिण की ओर जाना पड़ा। कुओमिन्तांग सरकार विविध चीनी सिपहसालारों को परास्त कर चीन की राष्ट्रीय एकता की स्थापना के उद्देश्य में किस प्रकार सफल हुई, इस पर हम अगले एक अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

**तुचुन**—इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यह लिख देना आवश्यक है, कि चीन के जिन सूबेदार सेनानियों को हम अबतक सिपहसालार नाम से लिखते रहे हैं चीन में उन्हें तुचुन कहा जाता था। १९१७ से १९२६ तक का काल चीन में विविध शक्तिशाली तुचुनों के पारस्परिक संघर्ष का युग था। इस काल में चीन में कोई व्यवस्थित सरकार विद्यमान नहीं थी। रिपब्लिक का ढांचा कुछ अंशों में पेकिंग में इस काल में भी मौजूद था। तुआन ची जुई और वू पेई फू जैसे तुचुन अपने को प्रधानमन्त्री कहते थे, पर वस्तुतः वे अपनी सेनाओं की सहायता से अपना आधिपत्य स्थापित करने में तत्पर थे।

नवां अध्याय

# तिब्बत, मंगोलिया और सिन्किआंग

## (१) भौगोलिक परिचय

**तिब्बत, मंगोलिया और सिन्किआंग**—ये तीन देश एशिया महाद्वीप के उस क्षेत्र के अन्तर्गत हैं, जिसे हम ऊर्ध्व एशिया कह सकते हैं। इन तीनों देशों का कुल क्षेत्रफल २५,६९,१११ वर्गमील है, और इसकी जनसंख्या १,७९,६६,००० के लगभग है। यह स्पष्ट है, कि क्षेत्रफल की दृष्टि से इन प्रदेशों की आबादी बहुत कम है, और एक वर्गमील में औसतन सात व्यक्तियों का निवास है। राजनीतिक दृष्टि से ये तीनों देश विशाल चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत हैं। मञ्चू राजवंश के शासनकाल में तिब्बत और सिन्किआंग चीन के अधीनस्थ देश थे, और मंगोलिया में निवास करनेवाली विविध जातियां भी मञ्चू सम्राटों को अपना अधिपति मानती थीं। वर्तमान समय में तिब्बत पर समाजवादी (कम्युनिस्ट) चीनी सरकार का आधिपत्य है, सिन्किआंग चीन का एक अंग है, और मंगोलिया दो भागों में विभक्त है, आभ्यन्तर मंगोलिया और बाह्य मंगोलिया। इनमें से आभ्यन्तर मंगोलिया चीन की समाजवादी रिपब्लिक का एक भाग है, और बाह्य मंगोलिया में एक पृथक् समाजवादी रिपब्लिक (मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक) स्थापित है, जो रूसी सोवियत संघ के साथ सम्बद्ध है।

क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से इन तीनों (व चारों) देशों की क्या स्थिति है, यह निम्नलिखित तालिका द्वारा भलीभांति स्पष्ट हो जायगा—

| देश | क्षेत्रफल | आनुमानिक जनसंख्या | प्रतिवर्गमील आबादी |
|---|---|---|---|
| आभ्यन्तर मंगोलिया | ३,२६,२८५ | ४८,४२,००० | १४.८ |
| बाह्य मंगोलिया | ६,२५,७८३ | २०,७८,००० | ३.३ |
| तिब्बत | ९,११,२७४ | ६७,९१,००० | ७.५ |
| सिन्किआंग | ७,०५,७६९ | ४०,५५,००० | ५.७ |
| ऊर्ध्व एशिया | २५,६९,१११ | १,७९,६६,००० | ७ |

इस तालिका में विविध देशों की जो आबादी दी गई है, उसमें सिन्किआंग की आबादी १९४८ की मनुष्यगणना के आधार पर दी गई है, इसीलिये ऊर्ध्व एशिया की जनसंख्या इस तालिका में १९४० के मुकाबले में अधिक प्रदर्शित की गई है। पर इस तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है, कि एशिया भर में अन्य कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है, जहां प्रति वर्गमील मनुष्यों की आबादी इतनी कम हो। ऊर्ध्व एशिया में जनसंख्या की इस कमी के कारण निम्नलिखित हैं—(१) यह प्रदेश बहुत अधिक ठण्डा है। तिब्बत समुद्रतल से १६,००० फीट के लगभग ऊंचाई पर स्थित है, अतः स्वाभाविक रूप से वहां बहुत अधिक ठण्ड पड़ती है। मंगोलिया की ऊंचाई भी प्रायः ३००० से ५००० फीट तक है। (२) सिन्किआंग और मंगोलिया में बड़े बड़े मरुस्थल हैं, जिनके कारण वहां मनुष्यों के लिये अपनी आजीविका प्राप्त करने के साधन जुटा सकना सुगम नहीं है। जहां मरुस्थल नहीं हैं, वहां की भी प्राकृतिक दशा ऐसी नहीं है, कि अन्न प्रचुर परिमाण में उत्पन्न किया जा सके। बहुत से प्रदेश सूखी घास व छोटी छोटी झाड़ियों से आच्छादित हैं, जिनमें भेड़ बकरियों को तो पाला जा सकता है, पर खेती भलीभांति नहीं की जा सकती। ऊर्ध्व एशिया के सुविस्तृत प्रदेशों में ऐसे स्थान बहुत कम हैं, जो खेती व मानव सभ्यता के विकास के लिये उपयुक्त हैं। यही कारण है, कि अब तक इन प्रदेशों में समृद्ध ग्रामों व नगरों का सुचारु रूप से विकास नहीं हो सका है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि आर्थिक दृष्टि से इन प्रदेशों का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। वर्तमान समय की वैज्ञानिक उन्नति द्वारा यह सम्भव हो गया है, कि सिंचाई आदि द्वारा इस क्षेत्र के अनेक स्थानों को उपजाऊ खेतों के रूप में परिवर्तित किया जा सके। रूस और चीन इसके लिये प्रयत्नशील भी हैं। कोई आश्चर्य नहीं, कि निकट भविष्य में मंगोलिया और सिन्किआंग प्रचुर परिमाण में अनाज व अन्य पदार्थों को उत्पन्न करने लगें। साथ ही, ऊर्ध्व एशिया के इन प्रदेशों में कोयला, लोहा, पेट्रोलियम आदि भी प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं। वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से ज्यों ज्यों इन प्रदेशों में यातायात और आवागमन के साधनों का विकास होता जायगा, त्यों त्यों इनके खनिज द्रव्यों की उपलब्धि सम्भव होती जायगी और इस क्षेत्र की आर्थिक उन्नति में असाधारण सहायता मिलेगी।

ऊर्ध्व एशिया के इस सुविस्तृत क्षेत्र के दक्षिण में हिमालय की पर्वतशृंखला है। इसके उत्तर में भी अनेक पर्वतमालाएं हैं, जिनमें तिएन शान, तन्नुओलाई, अल्ताई और खिंगान की पर्वतमालाएं मुख्य हैं। इसके पश्चिम में पामीर पर्वत हैं, और पूर्व में चीन के विविध मैदान हैं।

**तिब्बत**---ऊर्ध्व एशिया का सबसे दक्षिणी प्रदेश तिब्बत है। यह देश पूर्व से पश्चिम तक प्रायः उतना ही लम्बा है, जितना कि भारतवर्ष है। उत्तर से दक्षिण तक इसकी चौड़ाई ६०० से ७०० मील तक है। इसके दक्षिण में हिमालय है, और उत्तर में कुनलुन पर्वतमाला। पश्चिम में इसे कराकुरम और हिमालय की विवध पर्वत शृंखलाओं ने घेरा हुआ है, और इसके पूर्व में दक्षिणी चीन के विशाल मैदान हैं। तिब्बत स्वयं एक विशाल पथार के समान है, जिसकी औसतन ऊंचाई १६००० फीट है। राजनीतिक दृष्टि से तिब्बत दो भागों में विभक्त हैं, पूर्वी या आभ्यन्तर तिब्बत (इनर तिब्बत) और तिब्बत। चीन और दक्षिण पूर्वी एशिया की अनेक बड़ी नदियों का उद्गम स्थान पूर्वी तिब्बत में है। इनमें ह्वांगहो, यांगत्से, मेकोङ्ग और सालवीन नदियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पूर्वी तिब्बत के भी दो भाग हैं, सिकांग और चिन्घाई। सिकांग पूर्वी तिब्बत का दक्षिणी प्रदेश है, इसके अनेक स्थल उपजाऊ हैं, और खेती के लिये उपयुक्त हैं। यही कारण है, कि इसमें बहुत सी चीनी बस्तियां विकसित हो गई हैं और चीनी लोग यहां खेती आदि के लिये आबाद होने लगे हैं। सिकांग का कुल क्षेत्रफल १,७२,८६३ वर्गमील है और उसकी आबादी १७,५६,००० है। जनसंख्या का अनुपात वहां १० मनुष्य प्रति वर्गमील है। सिकांग के कुछ स्थानों पर सघन जंगल भी विद्यमान हैं। इसके विपरीत चिन्घाई (जो पूर्वी तिब्बत का उत्तरी प्रदेश है) सूखी घास और छोटी छोटी झाड़ियों से आच्छादित है, और खेती के लिये उपयुक्त स्थानों का प्रायः वहां अभाव है। उसकी ऊंचाई भी औसतन १२,००० फीट है। भेड़ बकरी आदि के पालन के लिये यह प्रदेश उपयुक्त है। इसका क्षेत्रफल २,६९,११७ वर्गमील है, और इसमें १५,१३,००० मनुष्यों का निवास है। एक वर्गमील में ६ के लगभग मनुष्य वहां बसते हैं। इसका कारण यही है, कि वहां खेती के बजाय लोग पशुपालन द्वारा अपना निर्वाह करते हैं। पूर्वी तिब्बत में कोई खनिज पदार्थ उपलब्ध हैं या नहीं, इसका भी अभी अनुसन्धान नहीं हुआ है। पर कतिपय छोटे-छोटे कसबे वहां अवश्य विकसित हो गये हैं, जिनमें चामदो, बतांग और ताचिएनलू प्रमुख हैं। पूर्वी तिब्बत के खेतों व चरागाहों में जो कतिपय अनाज, ऊन आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं, वे इन कसबों में बिक्री के लिये आते हैं, और धीरे धीरे ये कसबे उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। पूर्वी तिब्बत चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत है, और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से उस पर चीन का आधिपत्य स्वीकृत किया जाता रहा है। १९१४ में शिमला में ब्रिटेन, चीन और तिब्बत के प्रतिनिधियों की जो कान्फरेन्स हुई थी, उसमें पूर्वी तिब्बत और तिब्बत की सीमा को निश्चित करने का प्रयत्न किया गया था। पर इस सीमा के सम्बन्ध में चीन और ब्रिटेन में विवाद रहा है, यद्यपि अब इस विवाद की

आवश्यकता नहीं रही है, क्योंकि सम्पूर्ण तिब्बत ही इस समय चीन के आधिपत्य में आ गया है ।

पश्चिमी तिब्बत को भी प्राकृतिक दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, चङ्. थङ्. और दक्षिणी तिब्बत । चङ थङ्. अत्यधिक शीतप्रधान पथार है, जो ल्हासा के उत्तर में कुनलुन पर्वतमाला तक फैला हुआ है । यह प्रायः १६,००० फीट ऊंचा है, और इसके अनेक पर्वत शिखर २०,००० फीट से भी अधिक ऊँचे हैं । इस प्रदेश में कोई भी फसल पैदा नहीं की जा सकती । क्षेत्रफल की दृष्टि से पश्चिमी तिब्बत का तीन चौथाई भाग चङ्. थङ्. के पथार के अन्तर्गत है । इतने विस्तृत भूखण्ड में जो थोड़े बहुत मनुष्य निवास करते है, उनकी आजीविका का प्रधान साधन पशुपालन है । वे याक और भेड़ बकरी पालकर अपना निर्वाह करते है । दक्षिणी तिब्बत में अनेक ऐसे प्रदेश हैं, जो खेती व मनुष्यों के निवास के लिये अधिक उपयुक्त हैं । इसकी ऊंचाई ६००० फीट से १५००० फीट तक की है । ऊंची जमीन पर भी यहां जो घास व वनस्पति उत्पन्न होती हैं, वे पशुओं के लिये अधिक अनुकूल हैं, और यही कारण है, कि इस प्रदेश में भेड़, बकरी, याक आदि को पाल सकना अधिक सुगम है । साथ ही कम ऊंचाई की घाटियों में ऐसी जमीन भी पर्याप्त है, जिसे खेती के काम में लाया जा सकता है । इसीलिये इस प्रदेश के अनेक स्थानों पर आलू, जौ, गेहूँ व शाक सब्जी की खेती की जाती है, और इसमें अनेक ऐसे ग्रामों व नगरों का भी विकास हो गया है, जिनमें मनुष्य अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं । यही कारण है, कि इस दक्षिणी तिब्बत में एक वर्गमील में १५ मनुष्यों का निवास है । इस प्रदेश की मुख्य नदी कोङ्.-पो है, जिसकी एक शाखानदी के तट पर तिब्बत की राजधानी ल्हासा स्थित है । ल्हासा तिब्बत का मुख्य नगर है और उसकी स्थिर आबादी २०,००० के लगभग है । तिब्बत के अन्य बड़े नगर ग्यांची और शिगात्से हैं । दक्षिणी तिब्बत का भारत के साथ व्यापार आदि का घनिष्ठ सम्बन्ध है । भारत आने जाने का मुख्य मार्ग ल्हासा से दक्षिण की ओर कालिम्पोंग आता है ।

**सिन्किआंग**—तिब्बत के उत्तर में कुनलुन पर्वतमाला के पार सिन्किआंग का सुविस्तृत प्रदेश है । इसके ठीक बीच में तकला मकान का विशाल मरुस्थल है, जिसके उत्तर और दक्षिण दोनों पार्श्वों में अनेक हरे भरे नगर हैं । चीन से रूस आने जाने वाले मार्ग इसी मरुस्थल के दक्षिण व उत्तर में होकर जाते हैं । सिन्किआंग का उत्तरी मार्ग कान्सू (चीन में) से हामी और बर्कुल होता हुआ तिहवा या उरुम्ची पहुंचता है, और वहां से पश्चिम उत्तर की ओर जाता हुआ चुंगुचक पहुंच जाता है । चुंगुचक नगर सिन्किआंग और रूस की सीमा पर स्थित है । तिहवा सिन्किआंग की राजधानी है, और १९४८ में इसकी आबादी [illegible] थी । हामी,

बर्कुल और तिह् वा तकला मकान मरुस्थल के उत्तरी भाग में हरे भरे स्थान हैं, और इसी कारण इनमें इन नामों के नगर विकसित हो गये हैं। सिन्किआंग का उत्तरी मार्ग तकालमकान मरुस्थल के उत्तर में स्थित तिएन शान पर्वतमाला के उत्तर की ओर से होता हुआ तिह् वा और चुंगुचक तक जाता है। पर इस उत्तरी मार्ग के अतिरिक्त एक अन्य मार्ग है, जो हामी से उत्तर-पश्चिम की ओर न मुड़कर सीधा पश्चिम की ओर जाता है, और तूर्फान, कूच तथा आक्सू होता हुआ काशगर पहुंच जाता है। इसे सिन्किआंग के उत्तरी मार्ग की ही दक्षिणी शाखा कह सकते हैं। पर इन दो उत्तरी मार्गों के अतिरिक्त एक तीसरा अन्य मार्ग है, जो तकलामकान मरुस्थल के दक्षिण में कान्सू से चर्चेन, खोतान और यारकन्द होता हुआ काशगर पहुंचता है। सिन्किआंग में खोतान, यारकन्द और काशगर व्यापार के बड़े केन्द्र हैं, और अच्छे समृद्ध नगर हैं। इससे अनेक मार्ग रूस, अफगानिस्तान और काश्मीर को जाते हैं। भारत के प्राचीन बौद्ध पण्डितों ने इन्हीं मार्गों द्वारा मध्य एशिया में बौद्धधर्म का प्रचार किया था। मंगोल विजेताओं ने जो चीन से रूस तक अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, उसके लिये भी उन्होंने सिन्किआंग के इन्हीं विविध मार्गों का उपयोग किया था।

सिन्किआंग का कुल क्षेत्रफल ७,०५,७६९ वर्गमील है, और १९४८ में उसकी जनसंख्या ४०,५५,००० थी। तकलामकान के विशाल मरुस्थल के कारण इस प्रदेश में जनसंख्या का अनुपात एक वर्गमील में केवल ५.७ पड़ता है। इस आबादी के ७७ प्रतिशत लोग इस्लाम के अनुयायी हैं, और कृषि व व्यापार द्वारा अपना निर्वाह करते हैं। इन मुसलमानों को तुर्की व उईगर कहा जाता है। काशगर आदि नगर जिन हरे भरे स्थानों पर स्थित हैं, वे खेती के लिये बहुत उपयुक्त हैं। इसीलिये ये नगर अच्छे समृद्ध हैं। १९३० में इन नगरों की जनसंख्या इस प्रकार थी—काशगर ३५,०००, यारकन्द ६०,००० और खोतान २६,०००। सिन्किआंग के नगरों की बहुसंख्यक जनता मुसलमान है, यद्यपि उनके अल्पसंख्यक लोग धर्म से बौद्ध हैं। यही बात उन विविध जातियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, जो पशुपालन द्वारा अपना निर्वाह करती हैं।

यद्यपि सिन्किआंग राजनीतिक दृष्टि से चीन के अन्तर्गत है, पर रूस की समाजवादी सरकार का उस पर बहुत प्रभाव है। चीन में समाजवादी व्यवस्था के स्थापित होने से पूर्व ही रूस ने इस प्रदेश को अपने प्रभाव में लाना शुरू कर दिया था। रूसी रेलवे का स्टेशन आल्मा आता सिन्किआंग की उत्तर पश्चिमी सीमा से अधिक दूर नहीं है। सिन्किआंग की राजधानी तिह् वा और आल्मा आता के बीच में केवल ६०० मील का अन्तर है, जब कि चीन का समीपतम रेलवे स्टेशन पाओकी तिह् वा

से १५०० मील दूर है। रूस के प्रयत्न से तिह्वा और आल्मा आता के बीच में ऐसी सड़कों का निर्माण हो गया है, जिनमें मोटरें चल सकती हैं। इसीलिये उत्तरी सिन्किआंग का रूस के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भलीभांति विकसित हो रहा है। दक्षिणी सिन्किआंग का व्यापार भारत, अफगानिस्तान और चीन के साथ होता है, यद्यपि इस व्यापार के लिये अब तक भी खच्चरों व घोड़ों का ही प्रयोग किया जाता है। चीन और सिन्किआंग के बीच में अब ऐसी सड़कें भी बन गई हैं, जिन पर मोटरें आ जा सकती हैं। सिन्किआंग और रूस के बीच में हवाई जहाजों की सर्विस भी विद्यमान है। इसके लिये हामी, तिह्वा और इली में हवाई जहाजों के उतरने के लिये अड्डों का निर्माण किया गया है। चुंगकिंग से आल्मा आता तक बाकायदा हवाई जहाज चलते हैं, जो मार्ग में सिन्किआंग में हामी, तिह्वा और इली में उतरते हैं। हवाई जहाजों की इस सर्विस के कारण अब ऐसी स्थिति आ गई है, कि सिन्किआंग को सभ्य संसार से सर्वथा पृथक् नहीं समझा जा सकता। खनिज पदार्थों की दृष्टि से भी सिन्किआंग पर्याप्त समृद्ध है। वहां पेट्रोलियम भी उपलब्ध हुआ है। आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से जब इस प्रदेश का भलीभांति अवगाहन किया जायगा, तो इसमें सन्देह नहीं, कि इसके आर्थिक विकास में बहुत अधिक सहायता मिलेगी।

**मंगोलिया**—सिन्किआंग के पूर्व, चीन की दीवार के उत्तर और साइबीरिया के दक्षिण में विद्यमान सुविस्तृत प्रदेश को मंगोलिया कहते हैं। इस प्रदेश के उत्तरी और दक्षिणी भाग ऐसे हैं, जो उपजाऊ हैं, और जहां मानव सभ्यता का विकास सम्भव है। इनके बीच का प्रदेश एक विशाल मरुस्थल है, जिसे गोबी का रेगिस्तान कहते हैं। गोबी मरुस्थल का दक्षिणी भाग व उसके नीचे का निवास योग्य प्रदेश इनर (आभ्यन्तर) मंगोलिया कहाता है। यह चीन के अन्तर्गत है, और वर्तमान समय में तीन प्रान्तों में विभक्त है। इन प्रान्तों के नाम हैं, चहर, सुइयुआन और निंग्हिसआ। गोबी मरुस्थल का बड़ा भाग और उसके उत्तर का प्रदेश आउटर (बाह्य) मंगोलिया कहलाता है। मञ्चू सम्राट् इस पर भी अपना आधिपत्य समझते थे और उनके समय में यह प्रदेश चीन की अधीनता में था। पर चीन की अधीनता के काल में भी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण इस प्रदेश का अधिक सम्बन्ध रूस के साथ था। १९२१ से बाह्य मंगोलिया चीन से पृथक् है, और वहां मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक स्थापित है, जिसका संगठन समाजवादी व्यवस्था के अनुसार किया गया है। रूस के सोवियत यूनियन के साथ इस मंगोलियन रिपब्लिक का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से इस समय बाह्य और आभ्यन्तर मंगोलिया एक दूसरे से पृथक् हैं।

आभ्यन्तर मंगोलिया का क्षेत्रफल ३,२६,२८५ वर्गमील है और उसकी जन-संख्या ४८,४२,००० है। ऊर्ध्व एशिया का यह प्रदेश आबादी की दृष्टि से अन्य सब प्रदेशों के मुकाबले में बढ़कर है। यहां प्रति वर्गमील में १४.८ मनुष्यों का निवास है। गोबी मरुस्थल के दक्षिण भाग में जो मंगोलिया का प्रदेश है, वह चौड़ाई में अधिक से अधिक २५० मील है, यद्यपि उसका अधिकांश ४० मील से भी कम चौड़ा है। इस प्रदेश में जहां पशुपालन के लिये अनुकूल परिस्थितियां हैं, वहां साथ ही कृषि के योग्य भूमि भी पर्याप्त मात्रा में है। इन स्थानों पर चीनी लोगों ने अपनी बहुत सी बस्तियां कायम की हैं, और वे ज्वार, जौ, गेहूं, सरसों, अलसी, आलू आदि की खेती करके अपना निर्वाह करते हैं। इनर मंगोलिया के मुख्य नगर कलगान, क्वेईह्वा और पाओतो हैं।

गोबी मरुस्थल के उत्तर में बाह्य मंगोलिया स्थित है। यह क्षेत्रफल में ६,२५,७८३ वर्गमील है, और १९४४ में इसकी जनसंख्या २०,७८,००० थी। रेगिस्तान की अधिकता के कारण इस प्रदेश में जनसंख्या बहुत कम है। एक वर्गमील में केवल ३.३ मनुष्यों का निवास है। इस प्रदेश के बहुसंख्यक निवासी पशुपालन द्वारा अपना निर्वाह करते हैं। पर कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जो खेती के लिये उपयुक्त हैं। इनमें प्रधानतया जौ, बाजरा और ज्वार की खेती की जाती है। रूस की समाजवादी व्यवस्था के कारण मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक उन्नति के मार्ग पर बड़ी तेजी के साथ अग्रसर हो रही है। सिंचाई की ओर वहां की सरकार का विशेष ध्यान है। इसीलिये अब वहां न केवल चरागाह अधिक उन्नति कर रहे हैं, पर खेती के योग्य जमीन भी लगातार बढ़ रही है। सरकार इस बात का भी यत्न कर रही है, कि इस प्रदेश के खनिज द्रव्यों का पता किया जाय और खानों का विकास हो। लोहे, तांबे, सोने, चांदी और सीसे की सत्ता का वहां पता भी लग चुका है, और सरकार इन धातुओं की निकासी के लिये प्रयत्नशील है। अनेक कल कारखानों के विकास का भी वहां प्रयत्न किया जा रहा है। मंगोलियन रिपब्लिक की राजधानी उलान बातोर है, जो रेलवे व सड़क द्वारा रूस के साथ सम्बद्ध है। हवाई जहाजों की सर्विस भी मंगोलिया में स्थापित की जा चुकी है।

ऊर्ध्व एशिया के विविध देशों का यह परिचय उनके इतिहास को समझने में अवश्य सहायक होगा। अभी तक इन देशों का भौगोलिक परिज्ञान भी संसार के अन्य सभ्य व उन्नत देशों के समान पूर्ण नहीं है। न इनकी सीमाएं भलीभांति निर्धारित हैं, और न ही इनकी प्राकृतिक दशाओं के विषय में पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त किया जा सका है। इस दशा में इनके प्राचीन व अर्वाचीन इतिहास के सम्बन्ध में परिचय दे सकना सुगम नहीं है। फिर भी हम इस अध्याय

के अगले प्रकरणों में इनके इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का संक्षिप्त रूप से उल्लेख करेंगे ।

## (२) तिब्बत

**प्राचीन इतिहास**—संसार के अन्य देशों के समान प्राचीन समय मे तिब्बत में भी अनेक छोटे बड़े राज्य थे । सातवीं सदी में इस देश में स्रोङ्-गचन-गस्म्-पो नाम का शक्तिशाली राजा हुआ, जिसने अन्य बहुत से राजाओं को जीतकर अपनी शक्ति का विस्तार किया । अपने समकालीन भारतीय राजा हर्षवर्धन के समान वह भी अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी और प्रबल सम्राट् था, और उसने पश्चिम में गिल्गित, उत्तर में चीनी तुर्किस्तान, दक्षिण में नेपाल और पूर्व में पश्चिमी चीन तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया था, । ल्हासा नगरी को उसने अपने विशाल साम्राज्य की राजधानी बनाया । इस सम्राट् की दो रानियां थीं, प्रथम नेपाल के राजा अंशुवर्मा की कन्या ख्रि-चुन और दूसरी चीन के राजा की कन्या कोङ्-जों । ये दोनों रानियां बौद्ध धर्म को माननेवाली थीं और सम्राट् स्रोङ्-गचन-गस्म्-पो ने उनके पूजा पाठ के लिये दो विशाल बौद्ध मन्दिरों का निर्माण कराया था । यद्यपि बौद्ध धर्म का प्रवेश इस समय से पहले भी तिब्बत में हो चुका था, पर सम्राट् का आश्रय पाकर सातवीं सदी में इस धर्म का तिब्बत में बड़ी तेजी के साथ प्रचार हुआ । इसी समय तिब्बत की भाषा को लेखबद्ध करने के लिये लिपि बनाई गई, और तिब्बत में साहित्य के निर्माण के साथ साथ कला, सभ्यता, संस्कृति आदि के क्षेत्र में भी उन्नति शुरू हुई ।

सम्राट् स्रोङ्-गचन-गस्म्-पो के समय में तिब्बत का जो उत्कर्ष शुरू हुआ था, वह उसके उत्तराधिकारियों के समय में जारी रहा । तिब्बत के इन शक्तिशाली सम्राटों में ख्रि-स्रोङ्-ल्दे-ब्चन (८०२-८४५ ई० प०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । तिब्बत के इतिहास में उसका वही स्थान है, जो भारत में सम्राट् अशोक का है । उसने अपने देश में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये विशेष रूप से उद्योग किया । तिब्बत में बौद्ध धर्म की सुचारु रूप से स्थापना के लिये उसने आवश्यक समझा, कि भारत से किसी ऐसे प्रसिद्ध विद्वान् को तिब्बत आने के लिये निमन्त्रित करे [illegible] हो । इसके लिये उसने अपने [illegible] नालन्दा महाविहार के प्रसिद्ध आचार्य शान्तरक्षित को तिब्बत पधारने के लिये निमन्त्रित किया । आचार्य शान्तरक्षित ने तिब्बत आकर वहां बौद्ध धर्म को विशुद्ध रूप में स्थापित किया । उनके शरीर के अवशेष आज तक भी तिब्बत के एक चैत्य में विद्यमान हैं, और बौद्ध लोग

उन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। आचार्य शान्त रक्षित के बाद पद्मसम्भव, कमलशील, ज्ञानेन्द्र, विमलमित्र आदि कितने ही भारतीय विद्वान् तिब्बत गये। इन विद्वानों ने सैकड़ों बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। नवीं और दसवीं सदियों में भारतीय आचार्यों के प्रयत्न से तिब्बत में बौद्ध धर्म ने अच्छी उन्नति की। पर ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में तिब्बत के बौद्ध धर्म में शिथिलता आने लगी थी। इस दशा में विक्रमशिला महाविहार के प्रधान आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान (अतिशा) ने तिब्बत जाकर बौद्धधर्म में नवजीवन का संचार किया। यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि तिब्बत में बौद्ध धर्म के भारतीय आचार्यों और उनके तिब्बती शिष्यों के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से लिख सकें। इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि भारतीय आचार्यों के प्रयत्न से तिब्बत में धर्म और ज्ञान की बहुत अधिक उन्नति हुई, और वहां बहुत से बौद्ध चैत्यों और मठोंकी स्थापना हुई। ये मठ व विहार न केवल बौद्ध धर्म के केन्द्र थे, अपितु साथ ही ज्ञान विज्ञान के भी केन्द्र थे।

तेरहवीं सदी के शुरू में प्रसिद्ध मंगोल सम्राट् चंगेज खां की मंगोल सेनाओं ने तिब्बत पर भी आक्रमण किया और प्रायः सारे तिब्बत को मंगोल साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। पर मंगोल साम्राज्य के विस्तार से तिब्बत के बौद्ध पण्डित निराश नहीं हुए। मंगोल साम्राज्य के साथ तिब्बत का जो सम्बन्ध इस समय स्थापित हुआ था, उसका उपयोग कर उन्होंने मंगोलिया में भी बौद्ध प्रचारकों को भेजा। आगे चलकर ये बौद्ध भिक्षुक न केवल मंगोल लोगों को अपितु चीन के मंगोल सम्राट् को भी बौद्ध धर्म में दीक्षित करने में सफल हुए। १२४८ में चीन के मंगोल सम्राट् ने तिब्बत के द्बुस् और गचङ् (जिसे हमने ऊपर दक्षिणी तिब्बत लिखा है) प्रदेश अपने गुरु को प्रदान कर दिये। तिब्बत में लामाओं या धर्माचार्यों के शासन का सूत्रपात इसी समय से हुआ। तिब्बत के इन लामाओं में आचार्य फग्स-प का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १२५१ में इन्होंने चीन के मंगोल राजकुमार कुब्ले खान को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। तेरहवीं सदी के अन्तिम भाग में ही तिब्बत में यह प्रथा शुरू हुई, कि लामा की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी को नियत करने के लिये यह निश्चय किया जाने लगा, कि दिवंगत लामा की आत्मा किस बालक में अवतरित हुई है। इस समय तिब्बत में न केवल ल्हासा के दलाई लामा अपितु अन्य विविध मठों के लामाओं की नियुक्ति भी इसी आधार पर होती है, कि कतिपय विशिष्ट चिह्नों द्वारा यह जानने का प्रयत्न किया जाता है, कि मृत लामा की आत्मा ने किस बालक के रूप में अवतार लिया है। तिब्बत में इस प्रथा का प्रारम्भ तेरहवीं सदी के अन्तिम भाग (१२८४) में हुआ था।

तेरहवीं सदी का तिब्बत के इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है। मंगोल आक्रमणों के कारण इस समय तिब्बत के विविध प्राचीन राजवंशों का अन्त हुआ और मंगोल सम्राट् द्वारा वहां का शासन बौद्ध धर्माचार्यों के सुपुर्द किया गया। १२४८ में तिब्बत के कतिपय प्रदेश मंगोल सम्राट् द्वारा बौद्ध गुरु को प्रदान किये गये थे। पर यह धर्मगुरु केवल अपने प्रदेशों से ही संतुष्ट नहीं रहा। उसने तिब्बत के अन्य प्रदेशों को अपनी अधीनता में लाना शुरू किया और १२५२ तक तिब्बत के तेरह प्रान्तों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। अब तिब्बत में किसी राजवंश का शासन नहीं रहा था। बौद्धों के विविध मठ जहां धर्म के केन्द्र थे, वहां देश में व्यवस्था रखना भी उन्हीं का काम था। प्रत्येक बड़े मठ की अपनी सेना होती थी और इस सेना की सहायता से जहां एक तरफ विविध मठाधीश अपने अपने क्षेत्र में राजनीतिक शासन और व्यवस्था कायम रखते थे, वहां साथ ही परस्पर संघर्ष में भी तत्पर रहते थे। तिब्बत का बौद्ध धर्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त था और प्रत्येक मठ किसी सम्प्रदाय विशेष के साथ सम्बद्ध होता था। मठाधीशों की स्थिति सामन्त राजाओं के समान थी। सब मठाधीश चीन के मंगोल सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकृत करते थे और आपस में संघर्ष करते हुए अपने प्रभुत्व को विस्तृत करने के लिये तत्पर रहते थे। पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदियों में तिब्बत में यही अवस्था रही। सतरहवीं सदी में मंगोलिया के मंगोल सरदार की सैनिक सहायता से तिब्बत के अन्यतम मठाधीश दलाई लामा ब्लो-ब्सङ्-ग्यें-म्छोने अन्य मठाधीशों को परास्त कर अपनी सत्ता स्थापित की। जिस मंगोल सरदार ने दलाई लामा के इस उत्कर्ष को कायम किया था, उसका नाम गु-श्री-खान था। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था और दलाई लामा को अपना गुरु मानता था। १६४२ में दलाई लामा सम्पूर्ण तिब्बत का अधिपति बना। तब से अब तक उसी की अवतार परम्परा में तिब्बत का शासन चला आता है। दलाई लामा न केवल तिब्बत के सबसे बड़े मठाधीश होते हैं, अपितु साथ ही वहां के प्रमुख शासनाधिकारी भी होते हैं।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि तेरहवीं सदी में चीन में जो मंगोल साम्राज्य स्थापित हुआ था, चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध (१३६८) में चीन में उसका शासन समाप्त हो गया था। मंगोलों की शक्ति के ह्रास होने पर चीन में मिंग वंश (१३६८-१६४४) का शासन प्रारम्भ हुआ था। पर इस मिंग वंश का शासन सिन्किआंग और मंगोलिया में विद्यमान नहीं था। ये प्रदेश अब भी विविध मंगोल सरदारों की अधीनता में थे। यही कारण है, कि मंगोल सम्राटों के समय तिब्बत पर चीन का जो आधिपत्य कायम हुआ था, वह मिंग वंश के शासनकाल में जारी नहीं रहा। पर सिन्किआंग और मंगोलिया के विविध मंगोल सरदार तिब्बत

के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करते रहे। १६८२ में मंगोल सरदार गुश्रीखान के साहाय्य द्वारा ही तिब्बत पर दलाई लामा का शासन स्थापित हुआ था।

चीन में मिंग वंश का शासन देर तक कायम नहीं रह सका। १६४४ में मञ्चू लोगों ने चीन पर आक्रमण किया और उसे जीतकर एक नये राजवंश की स्थापना की। इस इतिहास में चीन के इस नये राजवंश को हम मञ्चू राजवंश लिखते रहे हैं। इसी को चिंग वंश भी कहा जाता है। मञ्चू या चिङ्ग वंश के अनेक सम्राट् अत्यन्त शक्तिशाली थे। इनमें सम्राट् कांग ह् सी (१६६१-१७२२) का तिब्बत के इतिहास के साथ विशेष सम्बन्ध है। दलाई लामा के पद पर कौन व्यक्ति आरूढ़ हो, इस प्रश्न पर एक विवाद का लाभ उठाकर सम्राट् कांग-ह् सी ने तिब्बत पर आक्रमण किया। १७२० में चीन की सेनाओं ने ल्हासा पर कब्जा कर लिया, और नये दलाई लामा के पद पर उस उम्मीदवार की नियुक्ति हुई, जिसे सम्राट् कांग ह् सी का समर्थन प्राप्त था। इस समय से तिब्बत पर फिर से चीन का आधिपत्य स्थापित हो गया। मञ्चू सम्राटों के शासनकाल (१६४४-१९११) में तिब्बत की स्थिति चीन के साम्राज्य में एक अधीनस्थ व करद राज्य के समान थी। जब चीन में रिपब्लिक की स्थापना हुई, तब भी तिब्बत पर चीन की रिपब्लिकन सरकार अपना प्रभुत्त्व समझती थी। इस समय भी तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व स्थापित है, और वहां की समाजवादी सरकार तिब्बत को चीन का एक अंग मानती है।

**पाश्चात्य देशों से सम्पर्क**—मंगोल साम्राज्य के उत्कर्षकाल में जब मार्कोपोलो आदि यूरोपियन यात्री चीन में आने जाने लगे, तब तिब्बत के साथ किसी पाश्चात्य यात्री ने सम्पर्क स्थापित नहीं किया। सबसे पूर्व १६२६ में जेसुइट सम्प्रदाय का पोर्तुगीज पादरी अन्द्रेदा ने तिब्बत में प्रवेश किया, और वहां ईसाई धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया। पर अन्द्रेदा ल्हासा तक नहीं पहुंच पाया था। सतरहवीं सदी में रोमन कैथोलिक धर्म के एक अन्य सम्प्रदाय के कैपुचिन फादर्स ल्हासा में गये और १७०८ तक वहां अपने धर्म के प्रचार में लगे रहे। पर अपने कार्य में उन्हें विशेष सफलता नहीं हुई और वे चीन व जापान के समान तिब्बत में ईसाई धर्म की नींव डालने में समर्थ नहीं हुए।

**ब्रिटेन के साथ सम्पर्क**—अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब ब्रिटिश लोग भारत के अच्छे बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर चुके थे, उनका ध्यान तिब्बत की ओर भी आकृष्ट हुआ। भारत की उत्तरी सीमा पर स्थित इस देश की उपेक्षा कर सकना ब्रिटिश लोगों के लिये सम्भव नहीं था। इसीलिये जब लार्ड हेस्टिंग्स भारत के गवर्नर जनरल थे, ज्यार्ज बोगल को ब्रिटिश प्रतिनिधि के रूप में

तिब्बत भेजा गया। उसके बाद १७८३ में कैप्टन टरनर को तिब्बत में ब्रिटेन का प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया। पर अठारहवीं सदी के ये ब्रिटिश प्रतिनिधि तिब्बत के साथ व्यापारिक व राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ रहे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में जब बरमा पर ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो गया था, भारत की ब्रिटिश सरकार ने यह प्रयत्न किया, कि तिब्बत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय। तिब्बत चीन की अधीनता में था, अतः पेकिंग की मञ्चू सरकार से ल्हासा में अपना व्यापारिक मिशन भेजने की अनुमति ब्रिटिश सरकार ने प्राप्त कर ली। पर तिब्बत की सरकार यह नहीं चाहती थी, कि चीन के समान तिब्बत में भी पाश्चात्य लोगों का प्रवेश हो और वे व्यापार की आड़ में वहां अपने राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना का उद्योग करें। तिब्बती सरकार ने ब्रिटिश मिशन को अपने देश में प्रविष्ट होने की अनुमति देने से इनकार कर दिया। ब्रिटिश लोग कहीं बल का प्रयोग कर तिब्बत में प्रवेश करने का प्रयत्न न करें, इसलिये तिब्बत की एक सेना ने सिक्किम पर कब्जा कर लिया। ब्रिटेन के मिशन को सिक्किम होकर तिब्बत में जाना था। १८८८ में ब्रिटिश लोग तिब्बती सेना को सिक्किम से बाहर निकालने में समर्थ हुए, पर तिब्बत की सरकार के विरोध के कारण उनका व्यापारिक मिशन इस समय तिब्बत नहीं जा सका। तिब्बत और सिक्किम की सीमा के सम्बन्ध में विवादग्रस्त बातों का निर्णय करने के लिये एक संयुक्त कमीशन की नियुक्ति की गई, जिसमें चीन और ब्रिटेन के प्रतिनिधि नियत किये गये। इस कमीशन ने इस बात की भी योजना की, कि यातुंग (तिब्बत-सिक्किम की सीमा पर) में एक ऐसा व्यापारिक केन्द्र कायम किया जाय, जहां तिब्बत और भारत का व्यापार विकसित किया जा सके। पर यह योजना सफल नहीं हुई, क्योंकि तिब्बत के लोग पाश्चात्य देशों के साथ अपना सम्बन्ध हानिकारक समझते थे। बीसवीं सदी के शुरू में जब लार्ड कर्जन भारत का वायसराय था, भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा अफगानिस्तान से अलग थी। इस समय विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस और ब्रिटेन एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी थे। ईरान, भारत आदि सर्वत्र रूस और ब्रिटेन की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियां एक दूसरे के साथ टकरा रही थीं। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि तिब्बत को भी रूस और ब्रिटेन दोनों ही अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न करते। इस समय तिब्बत के दलाई लामा का प्रधान सलाहकार दोर्जिफ नाम का व्यक्ति था, जो जाति से मंगोल था, पर रूस की प्रजा था। १९०० में उसने रूस की यात्रा की और जार की सरकार ने उसका बड़ी धूमधाम के साथ स्वागत किया। ब्रिटेन को इससे बहुत चिन्ता हुई। अंग्रेजों ने समझा, कि रूस तिब्बत में अपने प्रभाव को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील है। यदि भारत के

पड़ोसी राज्य तिब्बत में रूस का प्रभाव कायम हो जायगा, तो यह बात ब्रिटेन के लिये बहुत हानिकारक होगी।

**तिब्बत पर प्रभुत्व के लिये संघर्ष**—लार्ड कर्जन कट्टर साम्राज्यवादी था। वह चाहता था, कि जिस प्रकार विविध पाश्चात्य देश चीन, सिआम, ईरान आदि एशियन देशों में अपना प्रभुत्व स्थापित कर रहे हैं, वैसे ही तिब्बत में भी ब्रिटिश आधिपत्य को कायम किया जाय। इसीलिये उसने इङ्गलैण्ड की सरकार पर इस बात के लिये जोर देना शुरू किया, कि एक ब्रिटिश मिशन तिब्बत भेजा जाय। यह मिशन तिब्बत की सरकार के सम्मुख उन समस्याओं को उपस्थित करे, जो सिक्किम और तिब्बत की सीमा पर उत्पन्न हो रही हैं। यह मिशन तिब्बत की सरकार को यह जताये, कि जिस ढंग से तिब्बत पाश्चात्य देशों के सम्पर्क से पृथक् रहने का प्रयत्न कर रहा है, वह वर्तमान परिस्थितियों में सम्भव नहीं है। १८८८ में चीन और ब्रिटेन की सरकारों ने तिब्बत के सम्बन्ध में जो योजना स्वीकृत की थी, उसे क्रिया में परिणत करना तिब्बत की सरकार का कर्तव्य है, और अंग्रेजों को तिब्बत में व्यापार आदि की सुविधाएं मिलनी आवश्यक हैं। वस्तुतः लार्ड कर्जन ब्रिटिश मिशन को तिब्बत भेजकर उस देश के साथ उसी ढङ्ग की सन्धि करना चाहता था, जैसी सन्धियां उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में चीन की पेकिंग सरकार से की गई थीं। उसे इस बात की बहुत चिन्ता थी, कि कहीं तिब्बत रूस के प्रभाव में न आ जाय, क्योंकि उस दशा में रूस का प्रभावक्षेत्र भारत की सीमा तक विस्तृत हो जायगा। पर ब्रिटेन की सरकार तिब्बत के सम्बन्ध में इस उग्र नीति का अवलम्बन करने के विरोध में थी। यूरोप की राजनीति में उस समय ब्रिटेन जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से बहुत चिन्तित था। इसीलिये वह रूस और फ्रांस के साथ मैत्री करने के लिये तत्पर था। इसका परिणाम यह हुआ, कि तिब्बत के सम्बन्ध में एक अद्भुत स्थिति उत्पन्न हो गई। लार्ड कर्जन इस देश को ब्रिटिश प्रभाव में लाना चाहता था, ब्रिटेन की सरकार तिब्बत के मामले में रूस को नाराज नहीं करना चाहती थी। रूस का कहना था, कि वह तिब्बत में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं कर रहा है और चीनी सरकार पर ब्रिटिश राजदूत इस बात के लिये जोर दे रहा था, कि वह १८८८ की योजना को क्रिया में परिणत करने के लिये तिब्बत को विवश करे, पर चीनी सरकार तिब्बत को विवश करने की स्थिति में नहीं थी। आखिर, लार्ड कर्जन की प्रेरणा से इङ्गलैण्ड की सरकार ने तिब्बत में अपना मिशन भेजने की अनुमति दे दी। कर्नल यंगहस्बैण्ड को इस मिशन का नेता नियत किया गया और तिब्बती व चीनी सरकारों को यह सूचना दे दी गई, कि भारत-तिब्बत सीमा के पार तिब्बत के खम्बाजोग नामक स्थान

पर उनके प्रतिनिधि ब्रिटिश मिशन से भेंट करें। तिब्बत की सरकार का कहना था, कि उसके प्रतिनिधि भारत-तिब्बत सीमा के किसी स्थान पर ब्रिटिश मिशन से भेंट कर सकेंगे, खम्बा जोंग में नहीं। परिणाम यह हुआ, कि चीनी सरकार के प्रतिनिधि तो खम्बा जोंग में पहुंच गये, पर तिब्बत के प्रतिनिधि वहां नहीं आये। अब कर्नल यंग हस्बैण्ड ने ग्यांची की तरफ प्रस्थान कर दिया और मार्च, १९०४ में उसका मिशन तिब्बत के इस नगर में पहुंच गया। तिब्बत की सरकार इस बात को नहीं सह सकी। उसकी सेना ने ब्रिटिश मिशन का मुकाबला किया। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये, कि कर्नल यंग हस्बैण्ड के मिशन के साथ एक अच्छी बड़ी अंग्रेजी सेना भी थी, जो सब प्रकार के आधुनिक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित थी। तिब्बत की सेना इसके मुकाबले में नहीं ठहर सकी। ३१ मार्च, १९०४ के युद्ध में ७०० के लगभग तिब्बती सैनिक लड़ाई में काम आये। ११ एप्रिल को अंग्रेजी मिशन ग्यांची पहुंच गया। पर दलाई लामा के प्रतिनिधि अपने राष्ट्रीय अपमान को सहने के लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने कर्नल यंग हस्बैण्ड के साथ भेंट करने से इनकार कर दिया। अब ब्रिटिश मिशन ने ल्हासा की तरफ प्रस्थान किया। ३ अगस्त, १९०४ को अंग्रेजी सेनाएं ल्हासा पहुंच गईं। दलाई लामा को ल्हासा छोड़कर बाहर चले जाने के लिये विवश होना पड़ा।

अब तिब्बती सरकार को विवश होकर ब्रिटिश मिशन के साथ सन्धि की बात करनी पड़ी। ७ सितम्बर, १९०४ को दोनों देशों में जो सन्धि हुई, उसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) यातुंग, ग्यांची और गर्तोक में अंग्रेजों को अपनी व्यापारिक कोठियों की स्थापना की अनुमति दी जाय। (२) ग्यांची में ब्रिटेन का एक व्यापारिक एजेण्ट रह सके, जो आवश्यकता पड़ने पर ल्हासा भी जा सके। (३) तिब्बत ब्रिटिश सरकार को ७५,००,००० रुपया हरजाने के रूप में दे। इस रकम को ७५ वार्षिक किश्तों में अदा किया जाय। (४) चुम्बी घाटी के प्रदेश (भूटान और सिक्किम का मध्यवर्ती प्रदेश) में अंग्रेजी सेनाएं तब तक रहें, जब तक कि हरजाने की पूरी रकम वसूल न हो जाय। (५) तिब्बत की सरकार को यह अधिकार न हो, कि वह अपने किसी प्रदेश को किसी अन्य राज्य को पट्टे आदि पर दे सके, या अपने प्रदेश में किसी अन्य राज्य को खान खोदने, रेलवे या सड़क बनाने, तार आदि का निर्माण करने व इसी प्रकार के अन्य कार्य की अनुमति दे सके।

कर्नल यंग हस्बैण्ड द्वारा की गई इस सन्धि का समाचार जब इङ्गलैण्ड में पहुंचा, तो वहां की सरकार को इससे बहुत चिन्ता हुई, कारण यह कि इससे रूस के नाराज होने की बहुत अधिक सम्भावना थी। रूस की सरकार यह कभी भी सहन नहीं

कर सकती थी, कि तिब्बत पर ब्रिटेन का प्रभाव व प्रभुत्व स्थापित हो। इस समय ब्रिटेन रूस के साथ बिगाड़ नहीं करना चाहता था। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति के कारण वह रूस से मित्रता का सम्बन्ध कायम रखने के लिये उत्सुक था। परिणाम यह हुआ, कि तिब्बत के साथ की गई इस सन्धि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। हरजाने की रकम ७५ लाख से घटाकर २५ लाख कर दी गई, और ग्यांची में स्थित ब्रिटिश एजेन्ट का ल्हासा जाने का अधिकार रद्द किया गया। साथ ही यह भी तय हुआ, कि जब तिब्बत हरजाने की रकम की तीन किस्तें ब्रिटेन को दे चुके, तो अंग्रेजी सेनाएं चुम्बी में न रहें, बशर्ते कि तिब्बत की सरकार सन्धि की अन्य सब शर्तों को सुचारु रूप से पूरा कर रही हो।

तिब्बत और ब्रिटेन में सन्धि हो चुकी थी, पर यह आवश्यक था कि इस सन्धि को चीनी सरकार द्वारा भी स्वीकृत करा लिया जाय, क्योंकि तिब्बत चीन का अधीनस्थ राज्य था। एप्रिल, १९०६ में पेकिंग सरकार के साथ ब्रिटेन ने सन्धि की, जिसके द्वारा जहां ल्हासा की सन्धिकी सब शर्तोंको स्वीकार किया गया, वहां साथ ही दो नई शर्तें भी बढ़ाई गईं। ये शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) ब्रिटेन तिब्बत को अपने अधीन करने या उसके आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं करेगा। (२) चीन इस बात का जिम्मा लेगा, कि अन्य कोई विदेशी राज्य भी तिब्बत को अपने प्रभाव व प्रभुत्व में लाने का उद्योग नहीं करेगा। इस प्रकार १९०६ की सन्धि द्वारा ब्रिटेन ने इस बात का पूरा प्रबन्ध कर लिया, कि रूस तिब्बत को अपने प्रभावक्षेत्र में न ला सके। पर साथ ही उसे स्वयं भी अनेक अंशों में तिब्बत पर अपने प्रभुत्व व प्रभाव का परित्याग करना पड़ा। उसने यह बात स्वीकृत की, कि वह स्वयं भी तिब्बत को अपनी अधीनता में लाने का उद्योग नहीं करेगा। तिब्बत ने २५,००,००० रुपये की जो रकम ब्रिटेन को देनी थी, उसे अदा करने की जिम्मेदारी भी चीनी सरकार ने अपने ऊपर ले ली। यह रकम १९०८ तक अदा कर दी गई और अब चीन ने यह मांग की, कि चुम्बी घाटी में जो अंग्रेजी सेना कायम है, उसे वापस बुला लिया जाय। भारत की ब्रिटिश सरकार इसके विरुद्ध थी। वह किसी न किसी बहाने चुम्बी में अपनी सेना रखने को उधार खाये हुए थी। पर इङ्गलैण्ड की सरकार ने यही तय किया, कि चुम्बी से सेनाएं हटा ली जावें। रूस के साथ मैत्री सम्बन्ध को कायम रखने के लिये इङ्गलैण्ड की सरकार इस समय यह आवश्यक समझती थी, कि तिब्बत के मामले में दोनों देशों में किसी प्रकार के संघर्ष की सम्भावना न हो। फरवरी, १९०८ में चुम्बी से अंग्रेजी सेनाएं वापस बुला ली गईं।

इसी बीच में रूस और ब्रिटेनने आपसमें समझौता कर लिया था। एशिया के

विविध क्षेत्रों में इन दो देशों के हित जहां कहीं टकराते थे, उन सब पर १९०७ में समझौता कर लिया गया था । इस समझौते में तिब्बत के विषय में निम्नलिखित बातें तय की गई थीं---(१) तिब्बत की स्वतन्त्रता और पृथक् सत्ता को दोनों देश स्वीकार करते हैं, और वे इस बात पर एकमत हैं, कि तिब्बत के शासन में किसी प्रकार से भी हस्तक्षेप नहीं करेंगे । (२) यदि उन्हें तिब्बत की सरकार से किसी प्रकार का सम्पर्क स्थापित करने की आवश्यकता होगी, तो यह सम्पर्क चीनी सरकार की मार्फत ही स्थापित किया जायगा । (३) रूस व ब्रिटेन ल्हासा में अपना कोई एजेन्ट व प्रतिनिधि नहीं रखेगा । १९०७ के इस समझौते के कारण ब्रिटेन और रूस दोनों ने ही इस बात को स्वीकार किया, कि वे तिब्बत में किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप नहीं करेंगे और उसे अपने प्रभुत्त्व व प्रभाव में लाने का उद्योग नहीं करेंगे।

पर रूस और ब्रिटेन की तिब्बत सम्बन्धी नीति का यह परिणाम हुआ, कि तिब्बत पर चीन का आधिपत्य और अधिक दृढ़ हो गया । इसमें सन्देह नहीं, कि तिब्बत चीन का अधीनस्थ राज्य था । दलाई लामा मञ्चू सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकृत करता था । चीन का एक प्रतिनिधि (रेजिडेन्ट) भी ल्हासा में रहता था और वह तिब्बत की सरकार पर चीन का नियन्त्रण रखता था । पर १९०७ के बाद चीनी सरकार ने तिब्बत पर अपने नियन्त्रण को और अधिक दृढ़ करना शुरू किया । जुलाई, १९०८ में दलाई लामा को पेकिंग बुलाया गया । वहां जाकर उसने अनुभव किया, कि पेकिंग राजदरबार के सम्मुख उसकी स्थिति बहुत हीन है, और वह पूर्णतया मञ्चू सम्राट् का वशवर्ती है । इसी समय चीन की सेनाएं भी ल्हासा पहुंच गईं और उन्होंने तिब्बत को अपने अधिकार में कर लिया । इसीलिये जब १९१० के शुरू में दलाई लामा चीन से तिब्बत वापस आया, तो उसने ब्रिटिश सरकार से सहायता के लिये अपील की । चीन के आधिपत्य से अपनी रक्षा करने के लिये वह फरवरी, १९१० में ल्हासा से भारत की ओर चल पड़ा और भारत की सीमा को पार कर दार्जिलिंग पहुंच गया । दार्जिलिंग से वह कलकत्ता गया और वहां उसने भारत के वायसराय लार्ड मिन्टो से भेंट की । इस बीच में चीनी सरकार ने एक नये व्यक्ति को दलाई लामा के पद पर अभिषिक्त कर दिया था । पुराने दलाई लामा ने भारत की ब्रिटिश सरकार से चीनी सरकार के विरुद्ध सहायता की प्रार्थना की, पर उसे सफलता नहीं मिली । ब्रिटिश सरकार इस समय इस स्थिति में नहीं थी, कि वह तिब्बत और चीन के आन्तरिक मामले में [illegible] । साथ ही, ब्रिटेन के तिब्बत में हस्तक्षेप का यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि रूस तिब्बत में ब्रिटिश हस्तक्षेप को न सह सकता । तिब्बत के प्रश्न पर ब्रिटेन और रूस में फिर मनमुटाव हो, यह बात ब्रिटिश सरकार को

पसन्द नहीं थी। इस प्रकार १९१० में तिब्बत का शासन पूर्णतया चीन की अधीनता में आ गया। नया दलाई लामा पूर्णतया चीन का वशवर्ती था।

**चीन के विरुद्ध विद्रोह**—१९११ में चीन में राज्यक्रान्ति हो गई और मञ्चू सम्राट् को पदच्युत कर रिपब्लिक की स्थापना की गई। चीन की इस राज्यक्रान्ति का वृत्तान्त हम पहले एक अध्याय में लिख चुके हैं। राज्यक्रान्ति के कारण चीन में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उसमें चीन की सरकार के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह ल्हासा में स्थित चीनी सेना को नियमित रूप से वेतन दे सके। परिणाम यह हुआ, कि ल्हासा की इस चीनी सेना ने विद्रोह कर दिया। उसने ल्हासा में लूटमार मचा दी और तिब्बत के राज्यकोष को लूटना शुरू कर दिया। इस दशा में तिब्बती लोगों ने भी चीनी सेना का डट कर मुकाबला किया और उसे ल्हासा छोड़कर चीन वापस लौट जाने के लिये विवश किया। तिब्बत का पदच्युत दलाई लामा, जो इस समय भारत में था, इस अवसर पर शान्त नहीं बैठ सकता था। वह तुरन्त तिब्बत वापस गया और वहां जाकर उसने देश के शासन को फिर अपने हाथों में ले लिया। ल्हासा में विद्यमान चीनी रेजिडेन्ट के साथ उसने यह समझौता किया, कि वह अपने हाथ में केवल उतनी सेना रख सके, जो चीन की रेजिडेन्सी की रक्षा के लिये आवश्यक हो, पर उसे यह अधिकार न हो, कि वह तिब्बत के आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप कर सके। चीन की नई रिपब्लिकन सरकार ने भी इस समय यही उचित समझा, कि तिब्बत के दलाई लामा के साथ समझौता कर लिया जाय। चीन की सरकार इस स्थिति में नहीं थी, कि वह तिब्बत पर पहले के समान अपने आधिपत्य को स्थापित करने के लिये सेनाएं भेज सके। उसने दलाई लामा के शासन सम्बन्धी अधिकारों को स्वीकार कर लिया।

**१९१४ का समझौता**—पर कुछ समय बाद जब चीन की रिपब्लिकन सरकार की स्थिति सुदृढ़ हो गई, तो उसने प्रयत्न किया, कि तिब्बत पर अपने प्रभुत्व की पुनः स्थापना करे। पर ब्रिटिश लोग इसके विरुद्ध थे। भारत की ब्रिटिश सरकार यह समझती थी, कि तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व ब्रिटिश हितों के लिये विघातक है। चीन एक अत्यंत विशाल राज्य था, मंचू शासन का अंत होने के बाद वहां जो नई रिपब्लिकन सरकार कायम हुई थी, वह अपने सम्पूर्ण राज्य को सुसंगठित व शक्तिशाली बनाने के लिये प्रयत्नशील थी। यदि भारत की उत्तरी सीमा पर चीन जैसे शक्तिशाली राज्य का प्रभुत्व हो जाता, तो यह बात ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में अनुचित थी। अतः उसने यह घोषणा की, कि यद्यपि तिब्बत पर चीन का आधिपत्य है, पर यह उचित नहीं है, कि चीन तिब्बत को अपना एक प्रान्त बना ले और तिब्बत की सरकार की स्थिति एक प्रान्तीय सरकार के समान हो जाय। ब्रिटिश सरकार इस बात का

पूर्ण रूप से विरोध करेगी। तिब्बत की समस्या को हल करने के लिये १९१३ और फिर १९१४ में शिमला में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिसमें चीन और तिब्बत के प्रतिनिधि निमन्त्रित किये गये। भारत की ब्रिटिश सरकार का परराष्ट्र सचिव इस कान्फरेन्स का सभापति बना। इस कान्फरेन्स में तिब्बत को दो भागों में विभक्त किया गया, पूर्वी तिब्बत और पश्चिमी तिब्बत। पश्चिमी तिब्बत पर दलाई लामा के शासन को स्वीकृत किया गया, और उसे देश के शासन के सम्बन्ध में पूर्ण अधिकार दिये गये, यद्यपि यह स्वीकार किया गया कि उसका शासित प्रदेश भी चीन का एक अधीनस्थ राज्य है। पूर्वी तिब्बत में चीन का आधिपत्य अधिक सुदृढ़ व क्रियात्मक रूप से स्थापित किया गया। इस पूर्वी तिब्बत के दो विभागों—सिकांग और चिंघाई—का उल्लेख हम इसी अध्याय में पहले कर चुके हैं। पूर्वी और पश्चिमी तिब्बत की सीमा भी इस कान्फरेन्स द्वारा निर्धारित की गई, यद्यपि इस सीमा के सम्बन्ध में ब्रिटेन और चीन में मतभेद बाद में भी कायम रहा।

१९१४ की शिमला कान्फरेन्स द्वारा तिब्बत की राजनीतिक स्थिति सर्वथा स्पष्ट हो गई। ब्रिटेन ने उस पर चीन के आधिपत्य को स्वीकृत किया और चीन ने यह स्वीकार किया कि पश्चिमी तिब्बत के शासन में उसकी तरफ से कोई हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। इस समय से पूर्वी तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व निरन्तर बढ़ता गया। उसके उपजाऊ प्रदेशों में बहुत से चीनी लोग निरन्तर आबाद होते गये और धीरे-धीरे उसके दोनों विभागों की स्थिति चीन के अन्य प्रान्तों के समान होती गई। इसके विपरीत पश्चिमी तिब्बत पर दलाई लामा का शासन कायम रहा और क्योंकि १९१४ के बाद चीन की आन्तरिक राजनीतिक दशा निरंतर अव्यवस्थित होती गई, अतः चीनी सरकार उसके शासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकी। तिब्बत और चीन के व्यापारिक मार्ग इस काल में सुरक्षित दशा में नहीं रहे, इस कारण तिब्बत और भारत का व्यापार निरन्तर बढ़ता गया। जब चीन में समाजवादी व्यवस्था स्थापित हुई, तो उसकी नई सरकार ने तिब्बत की ओर भी ध्यान दिया। इस समय तिब्बत पूर्ण रूप से चीन का एक अंग है, और धीरे-धीरे उसमें भी समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की जा रही है।

**तिब्बत की दशा**—आधुनिक युग की प्रवृत्तियों का अभी तिब्बत पर प्रभाव विशेष रूप से पड़ना शुरू नहीं हुआ है। नये ज्ञान विज्ञानों का प्रवेश भी अभी वहां के शिक्षणालयों में भलीभांति नहीं हो पाया है। तिब्बत में अभी मध्यकालीन परिस्थितियों की सत्ता है। वहां की २० प्रतिशत के लगभग जनता भिक्षु जीवन व्यतीत करती है। देश में बहुत से छोटे बड़े बौद्ध मठ विद्यमान हैं, जिनमें लाखों भिक्षु

निवास करते हैं । इन मठों के स्वामित्व में बहुत सी जागीरें हैं, अतः इनकी आमदनी भी पर्याप्त है । ये मठ जहां बौद्ध धर्म के केन्द्र हैं, वहां साथ ही विद्या और शिक्षा का प्रसार करने का कार्य भी करते हैं। सभी मठ शिक्षणालय के काम आते हैं, पर तिब्बत में चार ऐसे महाविहार भी हैं, जिन्हें विश्वविद्यालय कहा जा सकता है। ये महाविहार गन्दन्, डे. पुङ्., से-रा और ठ शि-ल्हुन-पो के हैं । तिब्बत के इन शिक्षाकेन्द्रों की स्थापना पन्द्रहवीं सदी में हुई थी । इनमें डे. पुङ्. विश्वविद्यालय सबसे बड़ा है, और उसमें ७,७०० के लगभग विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं । से-रा में विद्यार्थियों की संख्या ५,५०० से ऊपर है । इन विश्वविद्यालयों व विद्यापीठों का रूप प्रायः वैसा ही है, जैसा कि भारत के नालन्दा और विक्रमशिला का था । इनमें भाषा, व्याकरण, दर्शन, धर्म आदि की शिक्षा को प्रमुख स्थान दिया जाता है । इन विद्यापीठों के साथ बड़े बड़े पुस्तकालय भी हैं, जिनमें हजारों प्राचीन पुस्तकें संगृहीत हैं । न केवल तिब्बत अपितु सिन्किआंग, मंगोलिया और पश्चिमी-दक्षिणी चीन से भी बहुत से बौद्ध विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिये इनमें आते हैं ।

अब तक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से तिब्बत का विशेष महत्त्व नहीं था । प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण यह सम्भव नहीं था, कि तिब्बत का अन्य देशों के साथ व्यापार अधिक परिमाण में विकसित हो सके । ऊन, चमड़ा आदि अनेक वस्तुएं वहां से भारत व चीन के बाजारों में बिक्री के लिये जाती थीं, और उनके बदले में तिब्बत सूती कपड़ा व कतिपय तैयार माल इन देशों से क्रय करता था । पर यह निश्चित है, कि भविष्य में तिब्बत के विदेशी व्यापार में बहुत अधिक वृद्धि होगी । आधुनिक वैज्ञानिक उन्नति के कारण अब यह बहुत कठिन नहीं रहा है, कि तिब्बत में अच्छी सड़कों का निर्माण हो सके । साथ ही हवाई जहाजों द्वारा तिब्बत का विदेशों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकना भी अब असम्भव नहीं रह गया है । चीन की कम्युनिस्ट सरकार तिब्बत में नया युग लाने के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील है । तिब्बत की सुविस्तृत भूमि में अनेक बहुमूल्य खनिज-पदार्थों की भी सत्ता है । इनके कारण उसका न केवल आर्थिक विकास होगा, अपितु उसके अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व में भी अवश्य वृद्धि होगी ।

## (३) सिन्किआंग

भौगोलिक दृष्टि से सिन्किआंग का परिचय हम इसी अध्याय में पहले दे चुके हैं । अब यह आवश्यक है, कि इसके इतिहास के सम्बन्ध में भी संक्षेप के साथ लिखा जाय, क्योंकि तिब्बत के समान सिन्किआंग भी चीन का एक अंग है, और चीन की राजनीतिक प्रगति का उसपर बहुत असर पड़ता है ।

**प्राचीन इतिहास**---सिन्किआंग प्रदेश के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में अभी भली-भांति परिचय नहीं दिया जा सकता। पर इस देश से आर्यावर्ती सभ्यता के इतने अधिक अवशेष मिले हैं, कि अनेक विद्वानों ने इस देश का नाम ही उपरला हिन्द (Serindia) रख दिया है। जिस प्रकार दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक प्रदेशों के प्राचीन इतिहास का प्रारम्भ भारतीय उपनिवेशों से होता है, वैसे ही सिन्किआंग के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश का इतिहास भी भारतीय उपनिवेशों के साथ होता है। इस प्रदेश में न केवल भारतीय लोग जाकर आवाद हुए थे, अपितु उन्होंने वहां की विविध जातियों को भी अपनी सभ्यता के रंग में रंग दिया था। भारतीय लोग इस प्रदेश को उत्तर कुरु कहते थे। उत्तर कुरु के दक्षिण में नाभक देश था, जिसका वर्तमान नाम खोतान है। इस नाभक देश में अशोक का अन्यतम पुत्र कुस्तन जाकर आबाद हुआ था, और तिब्बत की एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इस कुस्तन ने ही वहां उस उपनिवेश की स्थापना की थी, जो आगे चलकर उसी के नाम से खोतान प्रसिद्ध हुआ। खोतान के उत्तर में पामीर की पर्वतमाला और तकला मकान मरुस्थल के मध्य भाग में अन्य अनेक भारतीय उपनिवेशों की सत्ता थी। इनके और अधिक उत्तर में तकला मकान मरुस्थल के उत्तर व तिएन शान पर्वत के दक्षिण में युइशि जाति का निवास था, जिसे पुराणों में ऋषिक कहा गया है। आगे चलकर इसी युइशि जाति ने अपनी शक्ति का बहुत अधिक विस्तार किया, और इसी जाति के अन्यतम राजा कुशाण ने पहली सदी ई० प० में अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें मध्यएशिया, अफगानिस्तान आदि के बहुत से प्रदेश अन्तर्गत थे। राजा कुशाण के वंशज सम्राट् कनिष्क के विशाल साम्राज्य का भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। युइशि जाति के उत्कर्ष पर हमें इस ग्रन्थ में प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है। यहां इतना निर्दिष्ट कर देना पर्याप्त है, कि इस शक्तिशाली युइशि जाति का मूल अभिजन सिन्किआंग प्रदेश के पश्चिमी भाग में ही था। कनिष्क के विशाल साम्राज्य में जहां प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत शामिल था, वहां साथ ही दक्षिण-पश्चिमी सिन्किआंग भी उसके अन्तर्गत था। युइशि लोगों ने भारत में आकर इस देश के धर्म, सभ्यता व संस्कृति को पूरी तरह अपना लिया था। इससे उनके विशाल साम्राज्य में भारतीय धर्म व संस्कृति के प्रसार में बहुत अधिक सहायता मिली। दूसरी शताब्दी ई० प० में दक्षिण-पश्चिमी सिन्किआंग के सम्पूर्ण क्षेत्र में गान्धार देश की प्राकृतिक भाषा का प्रचार था, और इस भाषा को खरोष्ठी लिपि में लिखा जाता था। उत्तर-पश्चिमी भारत में उपलब्ध हुए सम्राट् अशोक के शिलालेख इसी खरोष्ठी भाषा में ही लिखे हुए हैं। दूसरी सदी से चौथी सदी ई० प० तक दक्षिण-पश्चिमी सिन्किआंग की यही दशा रही। इस

प्रदेश की पुरानी बस्तियों से लकड़ी की तख्तियों पर लिखे हुए प्राकृत भाषा के बहुत से लेख उपलब्ध हुए हैं। ये सब भारत की ही अन्यतम प्राकृत भाषा के लेख हैं। खोतान के समीप गोशृङ्ग विहार के खण्डहरों में इसी प्राकृत 'धम्म पद' की एक प्रति मिली है, जो भोजपत्रों पर लिखी गई है। सिन्किआंग के तूर्फान नगर का उल्लेख हम इस अध्याय में पहले कर चुके हैं। इस शहर के पुराने भग्नावशेषों में महाकवि अश्वघोष के नाटक 'शारिपुत्र प्रकरण' के कुछ अंश मिले हैं, जो दूसरी सदी ई० प० के लिखे हुए हैं। भारतीय पुस्तकों की सबसे प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियां ये ही हैं। इस प्रदेश में खुदाई द्वारा बौद्ध मूर्तियों, स्तूपों तथा मठों के बहुत से अवशेष मिले हैं, जिनसे यह भलीभांति सूचित होता है, कि प्राचीन काल में उत्तर-पश्चिमी सिन्किआंग बृहत्तर भारत का ही एक अंश था। पांचवीं सदी में चीनी यात्री फाहियान और सातवीं सदी में ह्युएन्त्सांग ने इस प्रदेश की यात्रा की थी। उनके वर्णनों से सूचित होता है, कि इस प्राचीन युग में यह सम्पूर्ण प्रदेश बौद्ध धर्म का अनुयायी था और सर्वत्र बौद्ध विद्वान् विद्यमान थे। इस प्रदेश के अनेक नगर बौद्ध शिक्षा और सभ्यता के प्रसिद्ध केन्द्र थे। इसमें सन्देह नहीं, कि इस प्रदेश के इतिहास में यह सुवर्णीय युग था। इस प्रदेश से अनेक बौद्ध विद्वान चीन में अपने धर्म का प्रचार करने के लिये गये थे।

**चीन का प्रभुत्व**—चीन और पश्चिमी संसार को परस्पर मिलानेवाले स्थल-मार्ग सिन्किआंग से होकर ही गुजरते हैं। इसीलिये इस प्रदेश का चीन के लिये बहुत अधिक महत्त्व रहा है। यही कारण है, कि अनेक शक्तिशाली चीनी सम्राटों ने सिन्किआंग को अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न किया। तांग वंश (६१८-९०७ ई० प०) के सम्राटों के साम्राज्य में सम्पूर्ण सिन्किआंग शामिल था। इस काल में उपरले हिन्द का भारत के साथ सम्बन्ध बहुत कम हो गया था और इस प्रदेश के प्रधान व्यापारिक नगर—काशगर, यारकन्द और खोतान—उस व्यापार के समृद्ध केन्द्र हो गये थे, जो चीन का पश्चिमी देशों के साथ होता था। तांग वंश के काल में ही अरब में इस्लाम का प्रादुर्भाव हुआ और सिन्किआंग में मुसलिम धर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ। तांग वंश के पतन के बाद चीन में जो अनेक राजवंश स्थापित हुए, वे इतने शक्तिशाली नहीं थे, कि सिन्किआंग जैसे सुदूरवर्ती प्रदेशों को अपनी अधीनता में रख सकते। पर तेरहवीं सदी में जब चंगेज खां के नेतृत्व में मंगोल लोगों ने अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की और चीन को जीत कर वहां एक नये युआन राजवंश (१२७९-१३६८) का प्रारम्भ किया, तो सिन्किआंग भी इस मंगोल साम्राज्य के अन्तर्गत था। मंगोल साम्राज्य पूर्व में प्रशान्त महा-सागर से शुरू कर पश्चिम में कैस्पियन सागर तक विस्तृत था। बाद में वह अनेक

टुकड़ों में विभक्त हो गया और सिन्किआंग में अनेक मंगोल सरदार चीन की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगे। बाद में मञ्चू सम्राटों ने सिन्किआंग पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। मञ्चू सम्राट् कांग ह्सी (१६६१-१७२२) ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए पश्चिम में तकला मकान मरुस्थल के परे तारिम नदी की घाटी के प्रदेश पर भी आक्रमण किया, और उसे अपने अधिकार में कर लिया। उसने सिन्किआंग को अपने विशाल साम्राज्य का एक प्रान्त बना लिया। सम्राट् कांग ह्सी के समय से अब तक सिन्किआंग चीन के अन्तर्गत है।

यह हम पहले लिख चुके हैं, कि वर्तमान समय में सिन्किआंग के ७७ प्रतिशत निवासी इस्लाम के अनुयायी हैं। जिस प्रकार प्राचीन काल में बौद्ध धर्म के प्रचारक सुदूरवर्ती प्रदेशों में अपने धर्म का प्रचार करने के लिये गये थे, वैसे ही मध्यकाल में मुस्लिम प्रचारकों ने अपने धर्म प्रचार कार्य में असाधारण तत्परता प्रदर्शित की थी। सिन्किआंग के बौद्धों को भी वे अपने धर्म में दीक्षित करने में समर्थ हुए थे। सिन्किआंग के इन मुसलमानों को बौद्ध मञ्चू सम्राटों का आधिपत्य पसन्द नहीं था। अतः अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में अनेक बार उन्होंने चीनी सरकार के विरुद्ध विद्रोह किया। पर उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हुई। मञ्चू सम्राट् सिन्किआंग को अपनी अधीनता में रखने में समर्थ रहे।

१९११ में राज्यक्रान्ति द्वारा जब चीन में मञ्चू राजवंश का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई, तब भी सिन्किआंग के मुसलमानों ने विद्रोह किया। १९३० में उनके विद्रोह ने भयंकर रूप धारण कर लिया, और यह विद्रोह १९३४ तक जारी रहा। इस अवसर पर चीन की सरकार सोवियत रूस की सहायता से ही इस विद्रोह को शान्त कर सकी। सिन्किआंग के लोगों को यह आश्वासन दिया गया, कि उन्हें स्थानीय स्वशासन के अधिकार दिये जायंगे और अपने आन्तरिक शासन में उन्हें स्वतन्त्रता रहेगी। इस व्यवस्था द्वारा ही १९३०-३४ के विद्रोह को शान्त करनेमें चीनी सरकार सफल हुई।

पर १९३४ के सुधारों से सिन्किआंग की जनता को सन्तोष नहीं था। इसीलिये १९३७ में जब जापान उत्तरी चीन पर आक्रमण कर रहा था, उसने फिर विद्रोह कर दिया। एशिया के आधुनिक इतिहास में इस विद्रोह का बहुत महत्त्व है। हम इस पर यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

वर्तमान दशा—सिन्किआंग के बहुसंख्यक निवासी तुर्की या उईगूर लोग हैं, जो इस्लाम के अनुयायी हैं। इनमें शिक्षा का प्रायः अभाव है। मुल्ला लोग जो कुछ शिक्षा पाते हैं, वह धार्मिक होती है। आधुनिक ज्ञान विज्ञान से इस प्रदेश के लोग अपरिचित हैं। १९४७ तक सम्पूर्ण सिन्किआंग में १५ ऐसे स्कूल थे, जिनमें वर्तमान

ढंग से शिक्षा दी जाती थी। इनमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या भी कुछ सौ तक ही सीमित थी। शिक्षा की इस पिछड़ी हुई दशा में सिन्किआंग यदि वर्तमान समय में उन्नति की दौड़ में पीछे रह गया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इस प्रदेश में निवास करनेवाले चीनी लोगों में शिक्षा का पर्याप्त प्रचार है। यही कारण है, कि चीनी लोगों के लिये उसे अपनी अधीनता में रख सकना सम्भव रहा है।

सिन्किआंग से जो माल विक्रय के लिये बाहर जाता है, उसमें ऊन, चमड़ा, रेशम और कपास प्रमुख हैं। पर सोवियत रूस के सहयोग से चीन की सरकार इस प्रदेश के आर्थिक विकास पर विशेष ध्यान दे रही है, और कोई आश्चर्य नहीं, कि निकट भविष्य में यह प्रदेश आर्थिक दृष्टि से अच्छा उन्नत हो जाय।

## (४) मंगोलिया

चीन की प्राचीन विशाल दीवार के उत्तर और साइबीरिया के दक्षिण में मंगोलिया का जो सुविस्तृत प्रदेश है, उसका भौगोलिक परिचय हम इसी अध्याय में पहले दे चुके हैं। यह प्रदेश प्रधानतया रेगिस्तान के रूप में है, और इसीलिये इसमें किसी उन्नत सभ्यता का विकास नहीं हुआ। पर ऐतिहासिक दृष्टि से इसका महत्त्व कम नहीं है। बहुत प्राचीन समय से इसमें अनेक इस प्रकार की पशुपालक जातियां बसती रही हैं, जो समय-समय पर पड़ोस के उन्नत व सभ्य राज्यों पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधीन करने में तत्पर रही हैं। प्राचीन समय में इस प्रदेश में एक जाति का निवास था, जिसे चीनी लोग हियंग-नू कहते थे। संस्कृत में इसी जाति को हूण कहा जाता था। प्रसिद्ध चीनी सम्राट् शी-हुआंग-ती (२४६-२१० ई० पू०) ने इन्हीं हियंग-नू लोगों के आक्रमणों से अपने साम्राज्य की रक्षा करने के लिये उस विशाल चीनी दीवार का निर्माण कराया था, जो पूर्व में समुद्र तट से शुरू होकर पश्चिम में कान्सू तक विस्तृत थी। इस दीवार के कारण हियंग-नू या हूण लोगों के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वे चीन पर आक्रमण कर सकें। अब उन्होंने पश्चिम की ओर घूमकर सिन्किआंग पर हमले शुरू किये, और युइशि व ताहिया आदि जातियों को अपने स्थान से धकेलना प्रारम्भ किया। यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि मंगोलिया के इन प्राचीन निवासी हूण लोगों के सम्बन्ध में अधिक लिख सकें। इतना लिख देना पर्याप्त है, कि यह प्रदेश ऐसी अनेक जातियों का निवास स्थान रहा है, जो समय-समय पर वहां से निकलकर टिड्डी दल के समान पड़ोस के सभ्य राज्यों पर आक्रमण करती रही हैं।

इन जातियों में सबसे मुख्य मंगोल जाति थी। बारहवीं सदी में मंगोल लोगों

के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ। मंगोल एक पशुपालक जाति थी, जो किसी एक स्थान पर बसी हुई नहीं थी। वे डेरों में निवास करती थी और दूध व मांस से अपना निर्वाह करती थी। चंगेज खां ने मंगोल लोगों को संगठित किया और उन्हें एक जबर्दस्त शक्ति के रूप में परिणत कर दिया। चंगेज खां के साम्राज्य का हम इसी पुस्तक में पहले उल्लेख कर चुके हैं। तेरहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में मंगोल लोगों ने प्रशान्त महासागर से कैस्पियन सागर तक अपने विशाल साम्राज्य का विकास किया। १२२७ तक चंगेज खां के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा कैस्पियन सागर से भी आगे ब्लैक सी (काला सागर) तक विस्तृत हो गई थी। इस विशाल मंगोल साम्राज्य की राजधानी कराकुरम नगरी थी, जो गोबी के मरुस्थल के उत्तर में मंगोलिया में स्थित थी। चंगेज खां के बाद मंगोल साम्राज्य अनेक भागों में विभक्त हो गया और पश्चिमी मंगोल राज्य ने रूस पर भी अपना आधिपत्य स्थापित किया। मंगोल लोगों के इतिहास के सम्बन्ध में यहां अधिक लिख सकना सम्भव नहीं है। यह स्पष्ट है, कि तेरहवीं सदी मंगोलिया के लिये अत्यन्त समृद्धि और शक्ति की सदी थी।

चीन में जो मंगोल लोग गये, उन्होंने बौद्ध धर्म को स्वीकृत कर लिया और धीरे धीरे वे चीनी सभ्यता और संस्कृति के रंग में रंग गये। उनमें और अन्य चीनी जनता में कोई विशेष अन्तर नहीं रहा। चीनी ऐतिहासिकों ने कुबले खां (चंगेजखां का पौत्र) को एक चीनी सम्राट् माना है, और उससे चीन के युआन वंश का प्रारम्भ किया है। इसी प्रकार ईरान और मध्य एशिया के मंगोल लोग इस्लाम के सम्पर्क में आकर मुसलिम बन गये। पर मंगोलिया में जो विविध मंगोल सरदार अपने कबीलों के साथ निवास करते थे, वे अपनी पुरानी दशा में ही रहे। यदि चंगेज खां का विशाल साम्राज्य अखण्डित व सुविस्तृत दशा में रह पाता, तो शायद इन मंगोल कबीलों की दशा में परिवर्तन आ सकता। पर तेरहवीं और चौदहवीं सदियों में जब मानव-समाज के पास घोड़े की अपेक्षा तेज चल सकनेवाली कोई सवारी नहीं थी, इतने विशाल साम्राज्य का एक केन्द्रीय संगठन के अधीन रह सकना सम्भव नहीं था। चीन के सम्राटों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे मंगोलिया प्रदेश के विविध सरदारों को देर तक अपनी अधीनता में रख सकें। इस प्रदेश के विविध सरदार इस युग (चौदहवीं सदी के अन्त) में स्वतन्त्र हो गये और उनका चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध नहीं रहा।

यहां यह लिख देना भी आवश्यक है, कि तिब्बत के बौद्ध प्रचारक इस समय अपने धर्म का प्रचार करते हुए मंगोलिया भी जाने लगे थे। सिन्किआंग में अपने धर्म प्रचार का कार्य करते हुए तिब्बत के भिक्षु मंगोलिया गये थे, और वहां उन्होंने

विविध मंगोल सरदारों व जनता को अपने धर्म में दीक्षित किया था। विक्रमशिला के प्रसिद्ध आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान ने तिब्बत के बौद्ध धर्म में नवजीवन का संचार किया था। नई धार्मिक स्फूर्ति से अनुप्राणित होकर तिब्बत के बौद्ध भिक्षु सुदूर मंगोलिया में अपने धर्म के प्रचार में तत्पर थे। हम इसी अध्याय में पहले लिख चुके हैं, कि अन्यतम मंगोल सरदार गु श्रीखान द्वारा ही तिब्बत में दलाई लामा के शासन का सूत्रपात हुआ था।

चौदहवीं सदी के अन्त से सतरहवीं सदी के मध्य भाग तक मंगोलिया का चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध नहीं रहा। १६४४ में जब मंचूरिया के निवासी मञ्चू लोगों ने चीन पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन किया, तो मंगोल लोगों का साहाय्य भी उन्हें प्राप्त था। अनेक मंगोलियन सरदार मञ्चू आक्रान्ताओं के साथ थे। यही कारण है, कि सम्राट् कांग ह् सी (१६६१-१७२२) ने जब सम्पूर्ण चीन पर अपने आधिपत्य को स्थापित कर अपने विशाल साम्राज्य को संगठित किया, तो मंगोलिया का प्रदेश भी उसके अन्तर्गत था। बाह्य और आभ्यन्तर दोनों मंगोलिया मञ्चू सम्राटों की अधीनता में थे। मञ्चू शासन में चीनी लोगों ने मंगोलिया में अपनी बहुत सी नई बस्तियां बसाईं। आभ्यन्तर मंगोलिया के अनेक प्रदेश कृषि के लिये उपयुक्त हैं। चीनी लोगों ने इनमें आबाद होकर खेती प्रारम्भ की। बाह्य मंगोलिया में बहुत से चीनी लोग व्यापार के लिये जाने लगे। इस प्रदेश में ऊन, खाल, फर आदि प्रचुर परिमाण में मिलती थीं। चीनी व्यापारी इनको खरीद कर मुनाफा उठाने के लिये तत्पर हुए। चीनी सरकार ने यह भी यत्न किया, कि मंगोलिया के विविध कबीलों पर अपने शासन को सुदृढ़ रूप से स्थापित करे और मंगोल लोगों को अपनी सेना में भरती करे। बहुत से चीनी महाजन भी इस काल में बाह्य मंगोलिया गये और मंगोलियन लोगों की सरलता से अनुचित लाभ उठाने लगे। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि मंगोलियन लोगों में चीनी शासन के प्रति असन्तोष उत्पन्न हो।

१९११ में जब चीन में राज्यक्रान्ति हुई, तो बाह्य मंगोलिया ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। रूस उसकी पीठ पर था। भौगोलिक दृष्टि से रूस बाह्य मंगोलिया के अधिक समीप था और उसके रूस के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी विद्यमान थे। इस दशा में १९१२ में रूस ने बाह्य मंगोलिया को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्वीकृत कर लिया। १९१३ में चीन की नई रिपब्लिकन सरकार ने रूस के साथ समझौता किया, जिसमें रूस ने चीन की नई सरकार को स्वीकृत किया और बदले में चीन ने बाह्य मंगोलिया की स्वतन्त्र स्थिति को मान लिया। बाह्य मंगोलिया का यह नया स्वतन्त्र राज्य स्वाभाविक रूप से रूस के प्रभाव में था

और इसकी स्वतन्त्र स्थिति रूस की कृपा पर भी निर्भर थी। १९१७ में रूस में राज्य-क्रान्ति हुई और जार के एकतन्त्र शासन का अन्त होकर समाजवादी रिपब्लिक की स्थापना हुई। यह स्वाभाविक था, कि रूस की इन घटनाओं का असर मंगोलिया पर भी पड़े। १९२१ में बाह्य मंगोलिया में भी समाजवादी क्रान्ति हो गई और रूस की सहायता से वहां समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार नई सरकार का संगठन हुआ। चीन के लिये यह बात बहुत चिन्ताजनक थी। यद्यपि १९१३ की सन्धि द्वारा चीन की रिपब्लिकन सरकार ने बाह्य मंगोलिया की स्वतन्त्र स्थिति को स्वीकार कर लिया था, पर अब तक भी यह देश चीन का ही एक अंग माना जाता था। इसकी स्थिति चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र राज्य के समान थी। इस दशा में बाह्य मंगोलिया में समाजवादी सरकार की स्थापना होना चीन के लिये अत्यन्त चिन्ताजनक था। १९२४ में रूस और चीन में एक नई सन्धि हुई, जिसमें चीन ने बाह्य मंगोलिया की कम्युनिस्ट सरकार को स्वीकृत किया और बदले में रूस ने यह मान लिया कि यह प्रदेश चीन का ही एक अंग है, पर क्रियात्मक दृष्टि से बाह्य मंगोलिया का सम्बन्ध इस समय चीन की अपेक्षा रूस के साथ अधिक था। १९२४ में बाह्य मंगोलिया के शासन और सामाजिक व्यवस्था का समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार पुनः संगठन किया गया। इस प्रदेश में अब तक बौद्ध संघ का प्रभाव बहुत अधिक था। बहुत सी भूसम्पत्ति बौद्ध मठों के स्वामित्व में थी। नई स्थापित हुई मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक ने सम्पूर्ण भूमि पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर लिया। इससे बौद्ध मठों के प्रभाव में बहुत कमी आ गई। मंगोलियन रिपब्लिक के आर्थिक जीवन का निर्माण समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार होने से इस देश की अवस्था में बहुत परिवर्तन आ गया। जब चीन में कुओमिन्तांग दल का जोर बढ़ा और १९२७ में कम्युनिस्टों और कुओमिन्तांग सरकार में विरोध शुरू हुआ, तो यह स्वाभाविक था कि चीन और रूस के सम्बन्ध कटु हो जावें। इस दशा में मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गई और चीन के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया।

आभ्यन्तर मंगोलिया पर चीन का आधिपत्य कायम रहा। १९११ में मञ्चू शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना होनेपर इसे तीन प्रान्तों में विभक्त किया गया, जिनके नाम चहर, सुईयुआन और निंग्ह्सिआ हैं। इन प्रदेशों में चीनी लोग मञ्चू शासन के युग में ही बड़ी संख्या में बसने शुरू हो चुके थे। १९११ के बाद इस प्रवृत्ति में और अधिक वृद्धि हुई। मंगोल लोग मुख्यतया पशुपालन द्वारा अपना निर्वाह करते थे। चीनी किसानों का आर्थिक क्षेत्र में मुकाबला कर सकना उनके लिये सुगम नहीं था। इस दशा का परिणाम यह हुआ, कि धीरे धीरे आभ्यन्तर

मंगोलिया की सब भूमि चीनी लोगों के हाथों में आती गई। १९३१ तक यह दशा आ गई थी, कि मंगोल लोग दो तिहाई के लगभग भूमि पर अपना स्वामित्व खो चुके थे। मंगोलों और चीनियों में विरोध निरन्तर बढ़ता जाता था। इस दशा का जापान ने चीन में अपने उत्कर्ष के लिये किस प्रकार उपयोग किया, इस पर हम अगले एक अध्याय में यथास्थान प्रकाश डालेंगे। यहां इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि १९३१ में जापान ने मञ्चूरिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करना शुरू कर दिया था और यह स्वाभाविक था, कि मञ्चूरिया के बाद जापान मंगोलिया को अपने प्रभुत्व में लाने का उद्योग करे।

दसवां अध्याय

# कुओमिन्तांग दल का चीन में उत्कर्ष

## (१) कुओमिन्तांग दल

मञ्चू शासन का अन्त कर लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना करने के उद्देश्य से डा० सन यात सेन ने तुंग मेंग हुई नाम की जिस क्रान्तिकारी संस्था का निर्माण किया था, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। १९११ की राज्यक्रान्ति से पूर्व यह संस्था एक गुप्त समिति के रूप में थी। रिपब्लिक की स्थापना के बाद इसे गुप्त रूप के कार्य करने की आवश्यकता नहीं रही। पर जब १९१३ में युआन शी काई ने पेकिंग सरकार पर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लिया, तो डा० सन यात सेन के दल के लिये अपना कार्य करना कठिन हो गया। रिपब्लिक की स्थापना के बाद १९१२ में डा० सन यात सेन ने अपने अनुयायियों को कुओमिन्तांग दल के रूप में संगठित कर लिया था। हिन्दी में हम इस दल को 'राष्ट्रीय जनता दल' कह सकते हैं। युआन शी काई ने कुओमिन्तांग दल को गैर कानूनी घोषित कर दिया था। इसके अनेक नेता गिरफ्तार कर लिये गये थे और अनेक लोगों को चीन से भागकर विदेशों में आश्रय लेने की आवश्यकता हुई थी। युआन शी काई का चीन पर एकाधिपत्य देर तक कायम नहीं रहा। १९१६ में उसकी मृत्यु के बाद चीन के विविध प्रदेशों में अव्यवस्था शुरू हो गई। विभिन्न सिपहसालार अपने अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र शासकों के समान आचरण करने लगे। इस स्थिति से लाभ उठाकर डा० सन यात सेन ने दक्षिणी चीन में अपनी शक्ति की पुनः स्थापना की और कैन्टन को राजधानी बनाकर कुओमिन्तांग दल की सरकार का संगठन किया गया। १९२६ से कैन्टन की इस कुओमिन्तांग सरकार के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ और कुछ वर्षों में प्रायः सम्पूर्ण चीन कुओमिन्तांग दल के शासन में आ गया।

**संगठन**—शुरू में कुओमिन्तांग दल का संगठन सुव्यवस्थित नहीं था। जो लोग डा० सन यात सेन को अपना नेता मानते थे, उसके प्रति भक्ति रखते थे, वे ही इस दल में सम्मिलित थे, सर्वसाधारण जनता में इसके सिद्धान्तों का अधिक प्रचार नहीं

था। यही कारण है, कि कैन्टन सरकार का प्रभुत्व सम्पूर्ण दक्षिणी चीन में भी स्वीकृत नहीं किया जाता था। दक्षिणी चीन के विविध प्रदेशों के सिपहसालार, जिस अंश तक उचित समझें, उसी अंश तक वे कैन्टन सरकार के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। इस दशा में डा० सन यात सेन ने कुओमिन्तांग दल के पुनः संगठन पर ध्यान दिया। इस कार्य में रूस के कम्युनिस्ट दल का सहयोग लिया गया। १९१७ में रूस में क्रान्ति द्वारा बोल्शेविक व कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना हो गई थी और रूस की नई सरकार समाज संगठन के कतिपय नवीन सिद्धान्तों के अनुसार अपने देश का शासन सूत्र संचालित करने में तत्पर थी। १९२३ में डा० सन यात सेन ने रूस की सरकार से सहयोग प्राप्त किया और माइकेल बोरोडिन नामक रूसी कम्युनिस्ट कुओमिन्तांग सरकार का सलाहकार बनकर कैन्टन पहुंच गया। उसने कुओमिन्तांग दल के पुनः संगठन पर विशेष रूप से ध्यान दिया। इसके लिये रूस की कम्युनिस्ट पार्टी को आदर्श के रूप में रखा गया। यह व्यवस्था की गई, कि चीन में सर्वत्र कुओमिन्तांग दल की शाखाएं स्थापित की जावें, इन स्थानीय कमेटियों के बाकायदा सदस्य हों, जो एक निश्चित प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करें। स्थानीय कमेटियां अपने पदाधिकारियों को स्वयं निर्वाचित करें। दो सप्ताह में एक बार स्थानीय कमेटी की नियमित रूप से बैठक की जाय। कमेटियों के आय व्यय को नियम पूर्वक रखा जाय और उसके ऑडिट की भी व्यवस्था की जाय। स्थानीय कमेटियों का यह प्रधान कर्त्तव्य हो, कि वे अपने अपने क्षेत्र में कुओमिन्तांग दल के सिद्धान्तों का प्रचार करें। स्थानीय कमेटियों के ऊपर तहसील, जिला और फिर प्रान्त की कमेटियों का संगठन किया गया। सबसे ऊपर अखिल चीन कुओमिन्तांग कमेटी बनाई गई, जिसके सदस्यों का निर्वाचन प्रान्तीय कमेटियां करती थीं। यह भी व्यवस्था की गई, कि कुओमिन्तांग दल की राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन वर्ष में एक बार अवश्य किया जाय। १९२४ में कुओमिन्तांग दल की महासभा का पहला अधिवेशन बड़े समारोह के साथ किया गया, जिसमें सब स्थानों से प्रतिनिधि एकत्र हुए। चीन की आन्तरिक राजनीतिक अव्यवस्था के कारण १९२५ में कोई अधिवेशन होना सम्भव नहीं हुआ। दूसरा अधिवेशन १९२६ में हुआ और तीसरा १९२९ में।

कुओमिन्तांग महासभा का अध्यक्ष डा० सन यात सेन को चुना गया। यह व्यवस्था की गई, कि वह आजीवन दल का प्रधान बना रहे। डा० सन यात सेन ने चीन में लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना के लिये जो असाधारण कर्तृत्व प्रदर्शित किया था और कुओमिन्तांग दल में उसकी जो विशिष्ट स्थिति थी, उसे दृष्टि में रखकर यह व्यवस्था की गई, कि दल की महासभा में स्वीकृत किसी भी प्रस्ताव को वीटो

करने का उसे अधिकार हो और केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के सदस्यों की नियुक्ति उसकी सहमति द्वारा ही की जाय।

**कुओमिन्तांग दल के सिद्धान्त**—१९२४ में जब कुओमिन्तांग दल की पहली महासभा हुई, तो उसमें दल के सिद्धान्तों व आदर्शों को स्वीकृत किया गया। इसका आधार डा० सन यात सेन के विचार थे, जिन्हें उसने समय समय पर अपने व्याख्यानों व पुस्तिकाओं में प्रतिपादित किया था। कुओमिन्तांग दल के सिद्धान्तों को इस प्रकार संक्षेप में लिखा जा सकता है—

(१) राष्ट्रीयता इस दल का प्रथम व मुख्य सिद्धान्त था।, डा० सन यात सेन का यह विश्वास था, कि जब तक चीन के लोगों में राष्ट्रीयता की भावना का भलीभांति विकास नहीं होगा, तब तक न तो देश के शासन को सुव्यवस्थित किया जा सकेगा और न ही चीन उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा। वह बहुधा कहा करता था, कि चीनी जनता की दशा रेत के एक ऐसे ढेर के समान है, जिसके प्रत्येक कण एक दूसरे से पूरी तरह मिलते हैं, पर उन्हें एक दूसरे से मिलाकर एक शक्ति बना देने के लिये सीमेन्ट का अभाव है। सांस्कृतिक दृष्टि से चीन में एकता है, इसका यह परिणाम अवश्य हुआ है, कि चीन के विविध निवासी रेत के कणों के समान एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। पर राष्ट्रीयता ही एक ऐसा तत्त्व है, जो सीमेन्ट के समान उन्हें एक दूसरे के साथ जोड़ कर एक जबर्दस्त ताकत बना सकती है। डा० सन यात सेन यह भी अनुभव करता था, कि चीन में राष्ट्रीयता को विकसित करने के लिये यह बहुत आवश्यक है, कि उनमें विदेशी राज्यों के प्रभुत्व के विरुद्ध भावना को उत्पन्न किया जाय। डा० सन यात सेन विदेशी राज्यों का विरोधी नहीं था, पर वह विदेशी साम्राज्यवाद को सहन करने के लिये तैयार नहीं था। वह कहा करता था, कि विदेशी राज्य चीन को ऐसी स्थिति में लाते जा रहे हैं, जिसके कारण उसकी दशा औपनिवेशिक राज्यों से भी हीन होती जाती है। पर चीन को विदेशी साम्राज्यवाद का शिकार बनने से तभी बचाया जा सकता है, जब कि चीन के लोग अपने देश के प्रति प्रेम करने लगें, अपने कुल व गांव के प्रति जो भक्ति की भावना उनके हृदयों में विद्यमान है, वह चीनी राष्ट्र के प्रति हो जाय। निःसन्देह चीन में पांच विभिन्न प्रकार के लोगों का निवास है, पर यदि चीनी राष्ट्र में इन पांचों जातियों को एक सदृश स्थान प्राप्त हो, तो चीन के सब निवासियों में राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित कर सकना जरा भी कठिन नहीं है।

(२) लोकतन्त्र शासन कुओमिन्तांग दल का दूसरा सिद्धान्त था। मञ्चू शासन का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना करने में डा० सन यात सेन का विशेष

कर्तव्य था। पर वह यह भलीभांति अनुभव करता था, कि चीन की विशेष परिस्थितियोंको दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है, कि चीनकी सरकार बहुत मजबूत हो। जनता का उस पर नियन्त्रण अवश्य हो, पर सरकार के पास इतनी शक्ति होनी चाहिये, कि वह देश में शान्ति और व्यवस्था को भलीभांति कायम रख सके। इस लिये डा० सन यात सेन का यह विचार था, कि पूर्ण लोकतन्त्र शासन की स्थापना होने से पूर्व चीन को तीन दशाओं में से गुजरना होगा। सबसे पहले केन्द्रीय चीनी सरकार की सैन्य शक्ति को इतना प्रबल बनाना होगा, कि वह विविध प्रान्तीय सिपहसालारों के साथ लोहा लेकर उन्हें अपना वशवर्ती बना सके। सैन्य शक्ति के प्रयोग द्वारा जब चीन एक केन्द्रीय सरकार के अधिपत्य में आ जायगा, तो धीरे धीरे जनता को लोकतन्त्र शासन की शिक्षा देनी होगी। केन्द्रीय सरकार में लोकतन्त्र संस्थाओं की स्थापना से पूर्व प्रान्तों व जिलों में स्थानीय स्वशासन को स्थापित करना होगा। प्रान्तीय सिपहसालारों की सत्ता का अन्त हो कर जो जो प्रदेश केन्द्रीय सरकार की अधीनता में आते जावेंगे, उनमें लोकतन्त्र शासन का प्रारम्भ किया जायगा और इस शासन में कुओमिन्तांग दल की प्रधानता रहेगी। यही दल चीन में इतना सुव्यवस्थित और संगठित था, कि देश के शासन को संभाल सकता था। जबप्रान्तों में लोकतन्त्र शासन भलीभांति विकसित हो जायगा, तब केन्द्रीय सरकार को भी लोकतन्त्र सिद्धान्तों के अनुसार संगठित कर सकना सम्भव होगा।

(३) जनता की आर्थिक उन्नति कुओमिन्तांग दल का तीसरा सिद्धान्त था। चीन की बहुसंख्यक जनता देहातों में निवास करती थी और खेती द्वारा अपना निर्वाह करती थी। अतः डा० सन यात सेन का यह विचार था, कि कार्ल मार्क्स के समाजवादी सिद्धान्त चीन के लिये विशेष हितकर नहीं हो सकते। समाजवादी क्रान्ति के लिये यह आवश्यक है, कि व्यावसायिक उन्नति भलीभांति हो चुकी हो और देश में पूंजीपतियों और मजदूरों की दो श्रेणियों का स्पष्टतया विकास हो गया हो। यह दशा अभी चीन में नहीं आई थी, अतः डा० सन यात सेन का यह विचार था, कि कुओमिन्तांग दल को देहातों की किसान जनता की आर्थिक उन्नति पर विशेष ध्यान देना चाहिये, और इसीसे चीन की आर्थिक समस्या को हल किया जा सकता है। डा० सन यात सेन कम्युनिस्ट नहीं था, यद्यपि उसने अपने दल का संगठन करते हुए रूस के कम्युनिस्ट नेताओं का सहयोग प्राप्त किया था। शुरू में इस दल में चीनी कम्युनिस्ट भी बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए। पर शीघ्र ही ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई, कि कम्युनिस्ट लोगों के लिये कुओमिन्तांग दल में रह सकना सम्भव नहीं रहा।

**डा० सन यात सेन और कुओमिन्तांग दल**—१९१० में कुओमिन्तांग दल ने

कैन्टन में अपनी सरकार को सुदृढ़ रूप से स्थापित कर लिया था। १९२३ तक माइ-केल बोरोडिन के सहयोग से इस दल का संगठन भी बहुत दृढ़ हो गया था। रूस और चीन के कम्युनिस्ट लोगों का सहयोग कुओमिन्तांग दल को प्राप्त था। इसके कारण कुओमिन्तांग दल में दो प्रकार की प्रवृत्तियां विद्यमान थीं। कुछ लोग किसानों और मजदूरों को संगठित करने के लिये प्रयत्नशील थे। डा० सन यात सेन की इनके साथ सहानुभूति थी। पर कैन्टन के धनिक व्यापारी कुओमिन्तांग में सम्मिलित होते हुए भी किसानों और मजदूरों की शक्ति को चिन्ता की दृष्टि से देखते थे। परिणाम यह हुआ, कि उन्हों ने अपनी पृथक स्वयंसेवक सेना का संगठन किया और इस सेना को सुसज्जित करने के लिये विदेशी राज्यों से अस्त्र शस्त्र मंगाये। पर डा० सन यात सेन का मुकाबला करने में ये धनिक व्यापारी लोग सफल नहीं हो सके। इनके अस्त्र शस्त्रों को जब्त कर लिया गया और डा० सन यात सेन कैन्टन सरकार में अपने प्रभुत्व को स्थापित रखने में समर्थ हुआ।

अब डा० सन यात सेन ने यह प्रयत्न किया, कि पेकिंग सरकार से समझौता कर चीन में राष्ट्रीय एकता को स्थापित किया जाय। उसका विचार था, कि वू पेई फू के खिलाफ तुआन ची जुई, चांग त्सो लिन और फेंग य ह्सिआंग के साथ समझौता करके एक ऐसी व्यवस्था कायम की जा सकती है, जिससे पेकिंग और कैन्टन की सरकारें संयुक्त हो जावें। इसी उद्देश्य से उसने कैन्टन से उत्तर की ओर प्रस्थान किया। १९२५ के शुरू में वह पेकिंग पहुंच गया, पर वहां जाकर उसे घोर निराशा का सामना करना पड़ा। उत्तरी चीन के महत्वाकांक्षी व प्रबल सिपहसालारों के साथ उसका समझौता नहीं हो सका। १२ मार्च १९२५ को पेकिंग में ही उसकी मृत्यु हो गई।

डा० सन यात सेन की मृत्यु के कारण कुओमिन्तांग दल की शक्ति घटी नहीं, उसमें और भी अधिक वृद्धि हुई। लोगों ने समझा, डा० सन यात सेन एक महापुरुष था, जिसने अपना सारा जीवन ही देशकी उन्नतिमें स्वाहा कर दिया था। देश का कल्याण इसी में है, कि उसके दरसाये हुए मार्ग का अनुसरण करें। उसके जीवन कालमें अनेक लोग कुओमिन्तांग दलमें ऐसे भी थे, जो उसके विरोधी थे। पर अब लोगों ने उसके सिद्धान्तों को आदर्श रूप से स्वीकार किया। जिस प्रकार भारत में महात्मा गांधी को और रूस में लेनिन को अत्यधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है, वैसे ही चीन की जनता ने सन यात सेन के प्रति सम्मान और श्रद्धा के भाव प्रदर्शित करने शुरू किये। शिक्षणालयों, सार्वजनिक स्थानों और सरकारी दफ्तरों में उसके चित्रों की स्थापना की गई और अनेक श्रद्धालु लोग पुष्प आदि की भेंट द्वारा इन चित्रों की पूजा करने में भी तत्पर हुए। सन यात सेन की पुस्तकों का लोग

धर्मग्रन्थों के समान आदर करने लगे और उसके नाम व आदर्शों के कारण कुओ-मिन्तांग दल में नई स्फूर्ति और नवजीवन का संचार हुआ।

## (२) राष्ट्रीय एकता की स्थापना

कैन्टन में अपनी सरकार को सुव्यवस्थित रूप से स्थापित करने के बाद कुओ-मिन्तांग दल के सम्मुख मुख्य कार्य यह था, कि सम्पूर्ण चीन को एक शासन की अधीनता में लाने का प्रयत्न किया जाय। समझौते द्वारा यह बात सम्भव नहीं थी। इसके लिये डा० सन यात सेन ने जो प्रयत्न किया था, वह असफल हो चुका था। अब कुओमिन्तांग सरकार के सम्मुख केवल यही मार्ग शेष था, कि वह सैन्यशक्ति का प्रयोग कर चीन में राष्ट्रीय एकता की स्थापना का उद्योग करे। १९२६ में कैन्टन सरकार की सेनाओं ने उत्तर की ओर अपनी विजय यात्रा प्रारम्भ की। इन सेनाओं का प्रधान सेनापति चियांग काई शेक था। उसका जन्म १८८७ में चेकिआंग प्रान्त में हुआ था। बचपन में ही वह क्रान्तिकारी विचारों के सम्पर्क में आ गया था। उसकी शिक्षा सैनिक ढंग पर हुई थी। चीन में सैनिक शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर वह उच्च सैनिक शिक्षा के लिये जापान गया था। डा० सन यात सेन के सम्पर्क में आकर वह उसका कट्टर अनुयायी बन गया था। १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद उसने रूस की भी यात्रा की थी और वहां रहकर उसने समाजवादी व्यवस्था का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन किया था। समाजवाद के प्रति उसके हृदय में आदर का भाव था, पर वह स्वयं कम्युनिस्ट नहीं बना था। डा० सन यात सेन की प्रेरणा से उसने व्हाम्पोआ नामक स्थान पर एक मिलिटरी एकेडमी की स्थापना की थी। इस एकेडमी में कुओमिन्तांग दल के नवयुवकों को सैनिक शिक्षा दी जाती थी और उन्हें सैनिक अफसर का पद ग्रहण करने के योग्य बनाया जाता था। चियांग काई शेक केवल सैनिक दृष्टि से ही सुशिक्षित नहीं था, साथ ही वह आधुनिक युग की प्रवृत्तियों से भी भलीभांति परिचित था। चीन के प्राचीन ग्रन्थों के साथ साथ उसने कानून और आधुनिक ग्रन्थों का भी भलीभांति अनुशीलन किया था।

उत्तरी चीन पर कैन्टन सरकार की सेनाओं के आक्रमण की योजना रूसी सैनिक सलाहकार जनरल ब्लूचर द्वारा तैयार की गई थी। इस योजना के अनुसार पहले हैंको पर आक्रमण किया गया। हैंको पर कब्जा करने में चिआंग काई शेक की सेनाओं को कोई कठिनाई नहीं हुई। इसके बाद नानकिंग और शंघाई पर आक्रमण किया गया, और इन दोनों नगरों को भी विजय कर लिया गया। इस प्रसंग में यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए, कि कैन्टन सरकार की सेनाओं के अतिरिक्त

कुओमिन्तांग दल के प्रचारक भी इस समय चीन में बहुत प्रयत्नशील थे। सेनाओं से आगे आगे ये प्रचारक चलते थे, और जनता को अपने दल के मन्तव्यों का भली-भांति बोध कराते जाते थे। राष्ट्रीय एकता की बात चीन की सर्वसाधारण जनता को बहुत आकर्षक प्रतीत होती थी और वह कैन्टन सरकार की सेनाओं का विरोध नहीं करना चाहती थी।

पर इसी समय कुओमिन्तांग दल के आन्तरिक विरोधों ने गम्भीर रूप धारण करना शुरू कर दिया था। कम्युनिस्ट लोग कुओमितांग दल में सम्मिलित थे और वे इस समय सर्वसाधारण चीनी जनता में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने में तत्पर थे। बोल्शेविक क्रान्ति के बाद मोस्को में सन यात सेन यूनिवर्सिटी के नाम से एक नई संस्था की स्थापना हुई थी, जिसमें चीनी विद्यार्थी बहुत बड़ी संख्या में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। ये विद्यार्थी जब रूस से उच्च शिक्षा प्राप्त करके चीन वापस आते थे, तो स्वाभाविक रूप से कम्युनिस्ट सिद्धान्तों के प्रचार का उद्योग करते थे। हैंको की विजय के बाद वहां कुओमिन्तांग दल का जो शासन स्थापित हुआ था, उसमें कम्युनिस्टों का बहुत जोर था। कम्युनिज्म के विरोधी कुओमिन्तांग दल के सदस्य इस बात से बहुत चिन्तित थे। चियांग काई शेक की इन लोगों के साथ सहानुभूति थी। कम्युनिज्म के साथ सहानुभूति रखने वाले चीनी युवक जहां एक तरफ अपने देश में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे, वहां साथ ही विदेशी राज्यों का प्रभुत्व भी उन्हें किसी प्रकार भी सह्य नहीं था। इस समय यूरोप के प्रमुख राज्य रूस की कम्युनिस्ट सरकार के प्रबल विरोधी थे। उनमें परस्पर संघर्ष भी जारी था। इस दशा में चीन के कम्युनिस्ट भी यदि पाश्चात्य देशोंके प्रति विद्वेष का भाव रखते हों, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था। इसीलिये जब मार्च, १९२७ में कुओमिन्तांग दल की सेनाओं ने नानकिंग पर क़ब्जा किया, तो चीनी नवयुवकों ने विदेशी लोगों पर भी आक्रमण किये। बहुत से पाश्चात्य लोग इस हमले में मारे गये। यदि पाश्चात्य जहाज इस समय हस्तक्षेप न करते, तो शायद विदेशी लोगों के लिये नानकिंग से अपनी जान बचाकर निकल सकना भी कठिन हो जाता। नानकिंग पर कुओमिन्तांग सेनाओं का कब्जा हो जाने के बाद ब्रिटेन, फ्रांस, जापान आदि विदेशी राज्यों ने यह मांग की, कि जिन सेनापतियों व सैनिकों के कारण विदेशी लोगों पर हमले हुए हैं, उन्हें दण्ड दिया जाय और विदेशी राज्यों को इन हमलों से जो क्षति हुई है, उसके लिये उपयुक्त हरजाना दिया जाय। विदेशी राज्यों की इन मांगों के कारण कुओमिन्तांग सरकार को एक विकट समस्या का सामना करना पड़ा। चियांग काई शेक व उसके अनुयायी स्वयं कम्युनिस्ट लोगोंसे परेशान थे। उन्होंने

इस बात का आश्वासन दिया, कि वे कम्युनिस्ट लोगों को वश में रखने के लिये सब उचित कार्यवाई करेंगे। इस समय मे कम्युनिस्टों और चियांग काई शेक के अनुयायियों में विरोध निरन्तर बढ़ता गया। कुओमिन्तांग दल के दक्षिण और वाम पक्षों में इस समय जो संघर्ष शुरू हुआ, चीन के इतिहास में उसका बहुत अधिक महत्त्व है। इस संघर्ष के कारण चियांग काई शेक कम्युनिज्म का प्रबल विरोधी बन गया और इस सिद्धान्त को विनष्ट करना उसने अपना मुख्य कार्य बना लिया।

नानकिंग पर कब्जा हो जाने के बाद उसे ही कुओमिन्तांग सरकार की राजधानी बनाया गया। कम्युनिस्ट लोग हैंको व उसके समीपवर्ती प्रदेशों में बहुत प्रबल थे। चियांग काई शेक ने उनके खिलाफ सख्त कारवाई की। बहुत से कम्युनिस्टों को गिरफ्तार किया गया। इनमें विद्यार्थियों की संख्या बहुत अधिक थी। सैकड़ों कम्युनिस्ट विद्यार्थियों को प्राणदण्ड दिया गया। रूस के जो कम्युनिस्ट चीन में कार्य कर रहे थे, उन्हें अपने देश वापस लौट जाने के लिये विवश होना पड़ा। अपने विरोधियों को विनष्ट कर १९२८ में चियांग काई शेक ने उत्तर में पेकिंग की ओर प्रस्थान किया। इस समय पेकिंग पर मञ्चूरिया के सिपहसालार चांग त्सो लिन का अधिपत्य था। वह चियांग काई शेक की सेनाओं का मुकाबला नहीं कर सका। जून, १९२८ में पेकिंग पर कुओमिन्तांग दल का कब्जा हो गया। चांग त्सो लिन ने अपनी सेनाओं को साथ लेकर मञ्चूरिया की तरफ प्रस्थान किया, पर अभी वह अपनी (मञ्चूरिया की) राजधानी मुकदन नहीं पहुंच पाया था, कि मार्ग में एक बॉम्ब द्वारा उसकी मृत्यु हो गई। चियांग काई शेक का विचार था, कि इस समय मञ्चूरिया पर भी आक्रमण किया जाय और उसे भी जीत कर कुओमिन्तांग सरकार के शासन में ले आया जाय। पर दक्षिणी मञ्चूरिया जापान के प्रभाव में था। जापानी लोग नहीं चाहते थे, कि चियांग काई शेक की सेनाएं इस प्रदेश पर आक्रमण करें। उनके विरोध के कारण कुओमिन्तांग सरकार की सेनाओं ने निश्चय किया, कि अभी मञ्चूरिया पर आक्रमण करने का यत्न न किया जावे। चांग त्सो लिन की मृत्यु के बाद उसका लड़का चांग ह्सुएह्-लिआंग मंचूरिया का सिपहसालार बना। वह कुओमिन्तांग सरकार के साथ समझौता करने के लिये तैयार था। परिणाम यह हुआ, कि युद्ध के बिना ही मञ्चूरिया पर कुओमिन्तांग सरकार का आधिपत्य स्थापित हो गया।

पेकिंग की विजय और मञ्चूरिया पर आधिपत्य स्थापित हो जाने के बाद चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित हो गई। पर यह नहीं समझना चाहिये, कि इस समय (१९२८) में सारे चीन पर एक सुव्यवस्थित सरकार का शासन कायम हो गया था। चीन के विविध प्रदेशों में अभी तक भी अनेक ऐसे सिपहसालारों की सत्ता

विद्यमान थीं, जो कुओमिन्तांग सरकार की उपेक्षा कर स्वतन्त्र शासकों के समान आचरण करने के लिये उद्यत रहते थे। चियांग काई शेक को अनेक बार इन सिपहसालारों के साथ भयंकर युद्ध लड़ने पड़े। इनके अतिरिक्त कम्युनिस्ट लोग भी अनेक प्रदेशों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। किआंगसी, आन्हुई और फुकिएन प्रान्तों के अनेक प्रदेशों पर १९३० से १९३३ तक कम्युनिस्ट लोगों का प्रभुत्व रहा। १९३० में कुछ समय के लिये कम्युनिस्टों ने हूनान प्रान्त की राजधानी पर भी अपना कब्जा कायम कर लिया था। चियांग काई शेक ने कम्युनिस्टों के खिलाफ प्रचण्ड रूप से सैन्य शक्ति का प्रयोग किया। पूर्वी चीन के धनपति लोग इस कार्य में उसकी दिल खोलकर सहायता कर रहे थे। अनेक सिपहसालारों और कम्युनिस्ट लोगों की सत्ता के कारण यह कह सकना कठिन है, कि १९२८ के बाद चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित हो गई थी। पर इसमें सन्देह नहीं कि कुओमिन्तांग दल के कर्तृत्व के कारण चीन राष्ट्रीय एकता के मार्ग पर बड़ी तेजी के साथ अग्रसर हो रहा था।

## (३) नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार

**सरकार का संगठन**—पेकिंग की विजय के बाद चीन में राष्ट्रीय एकता बहुत अंशों में स्थापित हो गई थी। डा० सन यात सेन द्वारा चीन की उन्नति के लिये जो प्रोग्राम बनाया गया था, उसका पहला भाग पूर्ण हो गया था। अब कुओमिन्तांग दल के सम्मुख अगला कार्य यह था, कि सरकार का व्यवस्थित रूप से संगठन किया जाय और लोकतन्त्र के मार्ग पर आगे बढ़ा जावे। अब चीन की राजधानी नानकिंग निश्चित की गई। कुओमिन्तांग दल का उत्तरी चीन पर अधिक प्रभाव नहीं था। पेकिंग में उन लोगों की बहुसंख्या थी, जो नई प्रवृत्तियों के विरोधी थे। इसीलिये १९११ में भी सुधारवादी व क्रान्तिकारी लोगों ने यह प्रयत्न किया था, कि चीन की राजधानी पेकिंग के बजाय नानकिंग को बनाया जाय। पर युआन शी काई के कारण चीनी जनता की यह इच्छा क्रिया में परिणत नहीं हो सकी थी। अब कुओमिन्तांग दल नानकिंग को चीन की राजधानी बनाने में सफल हुआ। धीरे-धीरे विदेशी राजदूत भी पेकिंग को छोड़कर नानकिंग चले आये।

अगस्त, १९२८ में कुओमिन्तांग पार्टी की सेन्ट्रल एग्जीक्यूटिव कमेटी की बैठक इस उद्देश्य से हुई कि नई चीनी सरकार की शासन व्यवस्था व संगठन के सम्बन्ध में निर्णय किया जाय। इस समय चीन के शासन का संगठन जिस ढंग से किया गया, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं-(१) सरकार पर कुओमिन्तांग पार्टी का प्रभुत्व रहे। (२) सरकार पर नियन्त्रण रखने और राज्य की नीति का निर्धा-

रण करने के लिये एक सेन्ट्रल पोलिटिकल कौंसिल का संगठन किया जाय। इस कौंसिल के सदस्य निम्न लिखित प्रकार से रहें—क. कुओमिन्तांग दल की सेन्ट्रल एग्जीक्यूटिव कमेटी के सब सदस्य, और ख. सेन्ट्रल स्टेट कौंसिल के सब सदस्य। सेन्ट्रल स्टेट कौंसिल के सदस्यों की संख्या ३५ थी और इन्हें व कुओमिन्तांग दल की केन्द्रीय कमेटी के सदस्यों को मिलाकर राज्य की केन्द्रीय राजनीतिक सभा (सेन्ट्रल पोलिटिकल कौंसिल) के निर्माण की व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार राज्य की केन्द्रीय सभा में कुओमिन्तांग दल का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था। (३) राज्य की केन्द्रीय सरकार में पांच विभाग (युआन) हों, शासन युआन, व्यवस्थापक युआन, न्याय युआन, परीक्षा युआन और नियन्त्रण युआन। पाश्चात्य राज्यों की सरकार में शासन, व्यवस्थापन और न्याय—ये तीन विभाग बनाये जाते हैं, प र चीन में इन तीन विभागों के अतिरिक्त परीक्षा और नियन्त्रण के दो अन्य विभाग भी कायम किये गये। ये दोनों नये विभाग चीन की प्राचीन परम्परा को दृष्टि में रखकर स्थापित किये गये थे, क्योंकि मञ्चू शासन के काल में परीक्षा पद्धति और सरकारी कर्मचारियों के कार्यों पर नियन्त्रण को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता था। केन्द्रीय सरकार के समान प्रान्तों की सरकार का भी इस समय पुन: संगठन किया गया और प्रान्तीय सरकारों के ऊपर नियन्त्रण रखने के लिये सेंट्रल पोलिटिकल कौंसिल के ढंग पर प्रान्तीय कौंसिलों की स्थापना की गई।

मई, १९३१ में चीन के लिये नया शासन विधान तैयार हुआ। १९३४ में इसको संशोधित किया गया। १९३१ और १९३४ के शासन विधानों के अनुसार चीन की राज्यशक्ति सर्वसाधारण जनता में निहित थी और संविधान में जनता के जन्मसिद्ध अधिकारों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया था। "प्रत्येक मनुष्य कानून की दृष्टि में समान हैं, धर्म, नसल, लिङ्ग, जाति आदि के कारण नागरिकों की स्थिति और अधिकारों में कोई भेद नहीं किया जायगा, सब को निर्वाचन में समान रूप से वोट देने का अधिकार होगा; सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार को स्वीकृत किया जायगा, बशर्ते कि यह अधिकार सर्वजनिक हित का विरोधी न हो," इस प्रकार के जन्मसिद्ध अधिकार संविधान द्वारा स्वीकृत किये गये। राज्य के शासन में कुओमिन्तांग दल के प्रभुत्व को स्थापित किया गया, पर प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार भी दिया गया, कि वह इस दल का सदस्य बन सके। चीन के इस नये संविधान पर अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डालने का इस कारण विशेष लाभ नहीं है, क्योंकि कुओमिन्तांग सरकार को इस समय इतना अवकाश नहीं था, कि वह चीन में लोकतन्त्र शासन के विकास पर अधिक ध्यान दे सके।

उसके सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था, कि देश में अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों को वश में लाकर किस प्रकार राष्ट्रीय एकता की स्थापना की जाय। नई सरकार का अधिपति चियांग काई शेक था और उसकी सब शक्ति अपने विरोधियों के साथ संघर्ष में लगी हुई थी।

**चियांग काई शेक के विरोधी**—नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार के अधिपति चियांग काई शेक को जिन विरोधी शक्तियों के साथ संघर्ष करना पड़ रहा था, उन्हें निम्न लिखित विभागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) विभिन्न प्रदेशों के सिपहसालार लोग, जो अवसर पाते ही स्वतन्त्र होने के लिये उद्यत रहते थे, (२) कुओमिन्तांग दल के अन्तर्गत वाम पक्ष के लोग, और (३) कम्युनिस्ट दल। इन तीनों विरोधी तत्त्वों का संक्षेप के साथ उल्लेख करना इस युग (१९२९–३३) के चीनी इतिहास को समझने के लिये बहुत उपयोगी है।

१९२९ में चियांग काई शेक ने उद्योग किया, कि विभिन्न सिपहसालारों से बातचीत करके एक ऐसा समझौता किया जाय, जिससे वे नानकिंग सरकार की अधीनता में रहते हुए उसके साथ सहयोग करने को उद्यत हों। पर इस प्रयत्न में उसे सफलता नहीं हो सकी। उसका मुख्य प्रतिस्पर्धी फेंग यू ह्सिआंग था। इस शक्तिशाली सिपहलासार का उल्लेख इस इतिहास में कई बार पहले किया जा चुका है। चियांग काई शेक और फेंग यू ह्सिआंग दोनों इस बात के लिये उत्सुक थे, कि मञ्चूरिया के सिपहसालार चांग ह्सुएह लिआंग और शान्सी प्रान्त के सिपहसालार येन ह्सी शान का सहयोग प्राप्त करें। फेंग यू ह्सिआंग अपने प्रयत्न में आंशिक रूप से सफल हुआ और येन ह्सी शान का सहयोग उसे प्राप्त हो गया। पर चांग ह्सुएह लिआंग इस संघर्ष में उदासीन रहा। चियांग काई शेक इन दो शक्तिशाली सिपहसालारों को तभी परास्त कर सकता था, जब कि चांग ह्सुएह लिआंग जैसे किसी प्रबल सिपहसालार की सहायता उसे प्राप्त हो। अन्त में उसने मंचूरिया के सिपहसालार को यह आश्वासन देकर अपने पक्ष में कर लिया, कि फेंग यू ह्सिआंग और येन ह्शी शान को परास्त कर उनके प्रदेशों पर उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया जायगा। चांग ह्सुएह लिआंग की सहायता प्राप्त कर चियांग काई शेक ने अपने प्रतिद्वन्द्वी सिपहसालारों से परास्त किया। इस पराजय के बाद मंचूरिया के सिपहसालार की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। यद्यपि वह नाम को नानकिंग सरकार की अधीनता स्वीकृत करता था, पर क्रियात्मक दृष्टि से वह उत्तरी चीन के विशाल प्रदेश का स्वतन्त्र शासक था। चियांग काई शेक को इसी ढंग से अन्य भी अनेक सिपहसालारों के साथ संघर्ष करना पड़ा और इन संघर्षों को दृष्टि में रखते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा, कि वस्तुतः नानकिंग

सरकार की शक्ति सम्पूर्ण चीन में स्थापित नहीं थी। पेकिंग सरकार की पृथक् सत्ता का अन्त हो जाने के बाद भी अभी चीन एक नहीं हुआ था। उसमें पहले के समान ही आन्तरिक युद्ध जारी थे।

केवल उत्तरी चीन में ही नहीं, अपितु दक्षिणी चीन में भी चियांग काई शेक के विरोधी विद्यमान थे। कुओमिन्तांग दल में जो वामपक्षी लोग थे, उनके प्रधान नेता वांग चिंग वेई और चेन कुंग-पो थे। इन्होंने यत्न किया, कि चियांग काई शेक के खिलाफ फेंग यू हिसआंग और येन ह्सी शान की सहायता करें। जब ये दोनों सिपहसालार परास्त हो गये, तो वामपक्षी नेताओं ने कैन्टन को राजधानी बनाकर अपनी पृथक सरकार का संगठन कर लिया। क्वांगसी प्रान्त की सेनाएं इस प्रयत्न में उनकी पीठ पर थीं। कैन्टन में एक नई सरकार का संगठन हो जाने के कारण चियांग काई शेक की स्थिति बहुत जटिल हो गई। यह सरकार भी अपने को कुओमिन्तांग दल का कहती थी और यह दावा करती थी, कि डा० सन यात सेन ने चीन में जिस क्रान्ति का प्रारम्भ किया था, उसे यही सरकार पूरा कर सकती है। १९३१ के प्रारम्भ में कैन्टन सरकार की सेनाओं ने नानकिंग पर आक्रमण किया। इस समय जापान चीन में अपने प्रभुत्व के विस्तार में विशेष रूप से तत्पर था। विदेशी शत्रु का मुकाबला करने के लिये कुओमिन्तांग दल के लिये वाम और दक्षिण पक्षी नेताओं ने यह उचित समझा, कि वे परस्पर मिलकर समझौता कर लें। इस लिये नानकिंग सरकार का पुनः संगठन किया गया और शासन शक्ति का प्रयोग तीन व्यक्तियों के सुपुर्द कर दिया गया। तीन व्यक्तियों की इस कमेटी के सदस्य चियांग काई शेक, वांग चिंग वेई और हू हान मिन थे। इस कमेटी में चियांग काई शेक की शक्ति बहुत कम थी। पर वाम और दक्षिण पक्षों का यह सहयोग देर तक कायम नहीं रह सका। शीघ्र ही उनमें फूट पड़ गई और कुओमिन्तांग दल के वामपक्षी लोगों ने कैन्टन में अपनी पृथक सरकार का फिर से संगठन कर लिया।

चियांग काई शेक के विरोधियों में सबसे महत्त्वपूर्ण कम्युनिस्ट लोग थे। १९२७ में इन्हें नष्ट करने के लिये जो प्रयत्न किये गये थे, वे सामयिक रूप से अवश्य सफल हो गये थे, पर उनके कारण चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का अन्त नहीं हो गया था। जिस समय कुओमिन्तांग दल की सेनाएं पेकिंग पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थीं, कम्युनिस्टों को अपने उत्कर्ष का अवसर हाथ लग गया और उन्होंने अपनी सैन्य शक्ति को फिर से संगठित कर लिया। कियांगसी प्रान्त के पर्वतों में आश्रय लेकर कम्युनिस्ट लोग उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। १९३३ के प्रारम्भ तक कम्युनिस्ट दल ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया

था और कियांगसी, आन्हुई और फूकिएन प्रान्तों के अनेक प्रदेशों पर उन्होंने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था । इन प्रदेशों में कम्युनिस्ट आदर्शों के अनुसार नई सामाजिक व्यवस्था भी कायम कर ली गई थी । बड़ी जमींदारियों का अन्त कर जमीन को किसानों में बांट दिया गया था और सहोद्योग प्रणाली के अनुसार बैंकों की स्थापना कर ली गई थी, ताकि कृषकों और व्यावसायिक उत्पादकों को अपने कार्यों के लिये रुपये की प्राप्ति सुगम हो जाय । अफीम की खेती के लिये जो भूमि पहले प्रयोग में लाई जाती थी, वहां अब अनाज की खेती शुरू कर दी गई थी और अफीम की खेती को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया था। कम्युनिस्ट लोगों ने देश की आर्थिक उन्नति पर भी बहुत ध्यान दिया । सिंचाई के लिये अनेक योजनाओं को क्रिया में परिणत किया गया और नदियों की बाढ़ों से खेतों की रक्षा करने के लिये अनेक व्यवस्थाएं की गई । टैक्स की वसूली का ऐसा ढंग जारी किया गया, जिससे अमीरों पर टैक्स का बोझ अधिक हो और गरीबों को कम टैक्स देना पड़े । शहरों में व्यावसायिक उन्नति पर भी कम्युनिस्ट लोगों ने विशेष ध्यान दिया। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ, कि जनता की सहानुभूति कम्युनिस्टों के पक्ष में हो गई और इस दल की स्थिति उन प्रदेशों में बहुत अधिक सुरक्षित व सुदृढ़ हो गई, जो उसके कब्जे में थे ।

कम्युनिस्टों को काबू में ला सकना चियांग काई शेक व उसकी सरकार के लिये सुगम कार्य नहीं था । यद्यपि उसकी सैन्यशक्ति कम्युनिस्ट लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक थी, पर अपने अधिकृत प्रदेशों में कम्युनिस्टों ने अपनी जड़ को इतनी दृढ़ता के साथ जमा लिया था, कि उन्हें परास्त करना बहुत कठिन था ।

**आन्तरिक सुधार**–चियांग काई शेक का नानकिंग सरकार के सम्मुख प्रधान कार्य यह था, कि देश के अन्दर विद्यमान विरोधी शक्तियों को अपने वश में लाकर चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित करे । इसीलिये उसे निरन्तर युद्धों में व्याप्त रहना पड़ा । पर फिर भी उसने देश के आन्तरिक सुधारों की उपेक्षा नहीं की । विविध सिपहसालारों और कम्युनिस्टों के साथ संघर्ष करते हुए भी उसने चीन में जिन अनेक सुधारों का सूत्रपात किया, उनका संक्षेप के साथ उल्लेख करना आवश्यक है । ये सुधार निम्नलिखित थे–(१) श्री टी० वी० सुंग के नेतृत्व में अर्थ विभाग का सुचारु रूप से संगठन किया गया । चीन की आर्थिक समस्या अत्यन्त विकट थी । विदेशी कर्जों का उस पर भारी बोझ था । राजकीय आमदनी के अनेक महत्त्वपूर्ण साधन विदेशी राज्यों के पास जमानत के रूप में रखे हुए थे । इस दशा में श्री सुंग ने जहां अनेक प्रकार से राजकीय आमदनी को बढ़ाने का उद्योग किया,

वहां साथ ही सरकारी खर्चों में भी बहुत कमी की। इस युग में चीन की कुओमिन्तांग सरकार ने यह भी प्रयत्न किया, कि आर्थिक क्षेत्र में विदेशी राज्यों का जो प्रभुत्व चीन में विद्यमान है, उसे दूर किया जाय। श्री सुंग के प्रयत्न से चीन की आर्थिक व्यवस्था में पर्याप्त उन्नति हुई। (२) रेलवे का प्रबन्ध करने के लिये केन्द्रीय सरकार के अधीन एक पृथक विभाग की स्थापना की गई। अब तक चीन की जो रेलवे लाइनें केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों के अधीन थीं, उन सब का प्रबन्ध इस विभाग के सुपुर्द कर दिया गया। साथ ही इस विभाग ने यह भी प्रयत्न किया, कि नई रेलवे लाइनों का भी निर्माण किया जाय, ताकि चीन में एक व्यवस्थित शासन की स्थापना सुगम हो सके। इस विभाग की ओर से नई सड़कों के निर्माण का भी उद्योग किया गया। (३) चीन की मुद्रापद्धति में सुधार के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की गई, और उसको विदेशी विशेषज्ञों का सहयोग प्राप्त कराया गया। (४) चीन के लिये नये कानूनों को व्यवस्थित रूप से बनाने के लिये उद्योग किया गया। फौजदारी और दीवानी के जो कानून अब तक चीन में विद्यमान थे, वे प्राय: परम्परागत थे। पर अब यह कोशिश की गई, कि कानून के क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति पाश्चात्य देशों में हुई है, उसका उपयोग कर चीन के सब कानूनों का नये सिरे से निर्माण किया जाय, (५) न्यायालयों का भी नये ढंग से पुन: संगठन किया गया। (६) सार्वजनिक स्वास्थ्य की उन्नति, अफीम के सेवन का निषेध, कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों के हित व कल्याण की व्यवस्था और शिक्षा प्रसार आदि के लिये भी नई व्यवस्थाएं की गईं। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद जिस राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई थी, चीन भी उसका सदस्य था। राष्ट्रसंघ के सहयोग को प्राप्त कर नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार ने इस बात का उद्योग किया, कि चीन आन्तरिक सुधारों के क्षेत्र में उन्नति करे।

पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि चीन की बहुसंख्यक जनता चियांग काई शेक और उसकी सरकार के सुधार सम्बन्धी कार्यों से सन्तोष अनुभव नहीं करती थी। इसका प्रधान कारण यह था, कि सर्वसाधारण जनता की आर्थिक समस्या अभी हल नहीं हुई थी। बहुसंख्यक चीनी लोग अत्यधिक गरीब थे, उनके लिये अपना पेट भर सकना भी कठिन था। इसी का यह परिणाम था, कि जहां कम्युनिस्ट लोग निरन्तर शक्तिशाली होते जाते थे, वहां साथ ही कुओमिन्तांग दल का वामपक्षी भाग चियांगकाई शेक के शासन से अत्यन्त असंतुष्ट था। इसी कारण वामपक्ष के लोगों ने कैन्टन में अपनी पृथक सरकार की स्थापना कर ली थी। चीनी लोग समझते थे, कि चियांग काई शेक की सरकार पूंजीपति

लोगों के हाथों में कठपुतली मात्र है, और उसे सर्वसाधारण जनता के हित का कोई भी ध्यान नहीं है ।

## (४) विदेशी प्रभुत्त्व के अन्त का प्रयत्न

नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार के सम्मुख एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य यह था, कि चीन में विदेशी राज्यों के जो अनेक प्रकार के प्रभाव व प्रभुत्व स्थापित हैं, उन्हें नष्ट किया जाय । इसके लिये उद्योग कुओमिन्तांग दल के उत्कर्ष से पहले ही प्रारम्भ हो चुका था । १९१४–१८ के महायुद्ध की समाप्ति पर जर्मनी के विशेषाधिकारों का चीन से अन्त हो गया था । चीन ने जर्मनी के साथ पृथक रूप से जो सन्धि की थी, उसमें जर्मन सरकार ने अपने सब विशेषाधिकारों को छोड़ देने की बात को स्वीकृत कर लिया था । १९१७ में रूस में बोलशेविक क्रान्ति हो गई थी । इस क्रान्ति के कारण रूस के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह मञ्चूरिया और मंगोलिया में अपने विशेषाधिकारों व आधिपत्य को कायम रख सके । बोल्शेविक क्रान्ति के कारण १९१९–२१ के सालों में रूस में जो अव्यवस्था फैल गई थी, उसका लाभ उठाकर चीन ने बाह्य मंगोलिया के प्रदेश पर, जो पहले रूस के आधिपत्य में था, अपना कब्जा कर लिया । चीनी सरकार बोक्सर युद्ध के परिणाम स्वरूप हरजाने की रकम का जो भाग रूस को देती थी, उसकी किस्त का देना १९२० में बन्द कर दिया गया था । इस दशा में रूस की कम्युनिस्ट सरकार ने यह उचित समझा, कि चीन के साथ एक नई सन्धि कर ली जाय । इस सन्धि के लिये ये शर्तें तय हुईं–(१) रूस के नागरिकों को एक्स्ट्रा-टैरिटोरियेलिटी की पद्धति द्वारा जो विशेषाधिकार चीन में प्राप्त हैं, उनका अन्त कर दिया जाय । चीन में निवास करनेवाले रूसी लोग चीनी कानून और चीनी अदालतों की अधीनता में आ जावें । (२) बोक्सर युद्ध के कारण जो हरजाना चीन ने रूस को देना था, उसका अन्त कर दिया जाय । (३) चाईनीज ईस्टर्न-रेलवे, जिस पर पहले रूस का अधिकार था, अब चीन के सुपुर्द कर दी जाय । चीन के लिये ये शर्तें बहुत अच्छी थीं । जिस प्रकार जर्मनी के विशेषाधिकारों का महायुद्ध के कारण अन्त हो गया था, वैसे ही अब रूसी विशेषाधिकारों के अन्त का भी समय उपस्थित हो गया था । रूस की कम्युनिस्ट सरकार साम्राज्यवाद के विरुद्ध थी । वह यह तो चाहती थी, कि संसार में सर्वत्र समाज-वादी व्यवस्था की स्थापना हो, पर पूंजीवादी देशों के समान वह अन्य देशों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की नीति को नहीं अपनाना चाहती थी । इसके साथ ही इस समय रूस की कम्युनिस्ट सरकार इस स्थिति में नहीं थी, कि अन्य

देशों पर अपने प्रभुत्व को कायम रख सके। उसके लिये रूस के विस्तृत प्रदेशों में भी व्यवस्था को स्थापित कर सकना कठिन हो रहा था। चीन को रूस की इस दशा से बहुत लाभ हुआ और वह रूसी आधिपत्य से बहुत कुछ छुटकारा प्राप्त करने में समर्थ हुआ।

**वाशिंगटन कान्फरेन्स**—अब चीन के सम्मुख प्रधान समस्या यह थी, कि ब्रिटेन, फ्रांस, जापान, इटली, आदि अन्य विदेशी राज्यों ने जो विशेषाधिकार वहां स्थापित किये हुए हैं, उनसे किस प्रकार छुटकारा पाया जाय। पेरिस-सन्धि परिषद् में चीन के प्रतिनिधि ने इस सम्बन्ध में जो यत्न किया था, वह सफल नहीं हो सका था। अब इसके लिये अगला अवसर वाशिंगटन कान्फ्रेन्स द्वारा उपस्थित हुआ। इस कान्फ्रेन्स का आयोजन संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा किया गया था और इसका प्रधान प्रयोजन पूर्वी एशिया के साथ सम्बन्ध रखने वाली विविध समस्याओं पर विचार करना था। १९१४–१८ के महायुद्ध के बाद जापान पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील था और इसके कारण अमेरिका के साथ उसका विरोध निरन्तर बढ़ता जाता था। वाशिंगटन कान्फ्रेन्स का उद्देश्य यही था, कि पूर्वी एशिया के साथ सम्बन्ध रखनेवाली विविध समस्याओं पर विचार कर शान्ति पूर्वक उनका समाधान किया जाय। ११ नवम्बर, १९२१ को इस कान्फ्रेन्स का अधिवेशन वाशिंगटन में शुरू हुआ। इसमें मुख्यतया ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, इटली और जापान के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इस पांच प्रमुख राज्यों के अतिरिक्त चीन, बेल्जियम, हालैण्ड और पोर्तुगाल के प्रतिनिधियों को भी पूर्वी एशिया के विषय में विचार करने के लिये निमन्त्रित किया गया। वाशिंगटन कान्फरेन्स के सम्बन्ध में हम अगले एक अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डालेंगे। यहां केवल उन निर्णयों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा, जिसका सम्बन्ध चीन के साथ था। चीन के सम्बन्ध में जो निर्णय इस कान्फरेन्स में हुए, वे 'नौ राज्यों की सन्धि' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये निर्णय निम्न लिखित थे—(१) सब राज्य इस बात को स्वीकार करते हैं, कि चीन एक सर्वप्रभुत्वसम्पन्न और स्वतन्त्र राज्य है, और उसे अपने सम्पूर्ण प्रदेशों पर शासन करने का अधिकार है। (२) सब राज्यों को चीन में व्यापार कर सकने का एक समान अवसर होना चाहिये। (३) कोई राज्य चीन के किसी विशिष्ट प्रदेश में अपने प्रभावक्षेत्र कायम करने का प्रयत्न न करे। (४) पूर्वी एशिया व प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में यदि भविष्य में कोई युद्ध हो और चीन उसमें उदासीन रहना चाहे, तो उसकी उदासीन सत्ता को सब राज्य स्वीकार करें। नौ राज्यों

की सन्धि में चीन के सम्बन्ध में इन चार सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया था और इनके कारण चीन को इस बात का भरोसा हो गया था, कि भविष्य में शक्तिशाली राज्य उसके प्रदेशों में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करेंगे।

पर चीनी सरकार के सम्मुख अधिक गम्भीर समस्या उन विशेषाधिकारों की थी, जो अब तक वहां विदेशी राज्यों द्वारा स्थापित किये जा चुके थे। इन समस्याओं के सम्बन्ध में जो निर्णय वाशिंगटन कान्फरेन्स में किये गये, वे निम्नलिखित थे——

(१) चीन के प्रतिनिधि चाहते थे, कि शांतुंग प्रान्त में जापान के विशेषाधिकारों पर वाशिंगटन कान्फरेन्स में विचार किया जाय। महायुद्ध के समय में जापान ने इस प्रान्त में किस प्रकार अपने प्रभाव व प्रभुत्व की स्थापना कर ली थी, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। इसी समस्या का सन्तोषजनक रूप से समाधान न हो सकने के कारण चीन ने वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया था। जापान के प्रतिनिधियों ने वाशिंगटन कान्फरेन्स में भी शांतुंग के प्रश्न पर विचार करने से इनकार कर दिया। इस पर अमेरिका ने चीन और जापान दोनों के प्रतिनिधियों को इस बात के लिये प्रेरित किया, कि वे पृथक रूप से आपस में मिलकर इस प्रश्न पर विचार करें। बहुत बहस के बाद चीन और जापान के प्रतिनिधियों ने मिलकर यह फैसला किया कि (क) जर्मनी के पास किआऊ चाऊ आदि के जो प्रदेश पट्टे पर थे, और जिन्हें अब जापान ने हस्तगत कर लिया था, वे चीन को वापस कर दिये जावें। (ख) इन प्रदेशों में जर्मन सरकार की जो सम्पत्ति थी, वह भी चीन को प्राप्त हो जाय, पर इस सम्पत्ति में जो वृद्धि जापान ने पिछले दिनों में कर ली थी, उसके लिये जापान को मुआवजा दिया जाय। (ग) कियाऊ चाऊ प्रदेश के बंदरगाह त्सिंगताओ में जापान को अपने दूतावास के लिये जो इमारतें चाहिये, उन्हें जापान अपने पास रख सके। साथ ही इस प्रदेश में स्कूल, मन्दिर आदि के लिये जो इमारतें जापान अपने पास रखना चाहें, उन्हें भी रख सकने का उसे अधिकार हो। (घ) शांतुंग में जापानकी जो भी सेनायें हैं, उन्हें छः महीने के अन्दर अन्दर वापस बुला लिया जाय और इस बीच में चीनी सरकार इस बात की समुचित व्यवस्था कर ले, कि उसकी अपनी सेनायें इस प्रान्त में जापानी नागरिकों और रेलवे आदि की भलीभांति रक्षा करने में समर्थ हो जावें। (ङ) शांतुंग प्रान्त में जापान की जो रेलवे त्सिंगताओ से त्सिनान तक मौजूद है, वह चीन को मिल जाय, पर इसकी कीमत चीन जापान को अदा कर दे। जब तक यह कीमत अदा न हो जाय, तब तक इस रेलवे

का ट्रैफिक मैनेजर जापान द्वारा नियुक्त हो और इस रेलवे के हिसाब को रखने के कार्य में भी जापान सरकार द्वारा नियुक्त व्यक्ति का हाथ रहे। इसमें संदेह नहीं, कि शांतुंग प्रान्त के सम्बन्ध में जो यह समझौता इस समय हुआ, उसके कारण इस प्रान्त में चीन का प्रभुत्व पुनःस्थापित हुआ। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इस समझौते को क्रिया में परिणत करने में समय लगा, और १९२९ तक इसकी सब बातें क्रिया में परिणत नहीं हो सकीं।

(२) नौ राज्य की सन्धि में जो सिद्धान्त तय किये गये थे, उसके अनुसार अन्य प्रकारसे भी चीनमें विदेशी राज्योंके अनेक विशेषाधिकारोंका अन्त किया गया। बोक्सर युद्ध के बाद विविध विदेशी राज्यों की सेनायें पेकिंग में रहने लगी थीं। पेकिंग आने जानेवाले रेलमार्गों की रक्षा भी विदेशी सेनाओं द्वारा की जाती थी, ताकि वहां आने जाने में विदेशी लोगोंको किसी प्रकार का भय न हो। पेकिंग के अतिरिक्त जिन अन्य नगरों व प्रदेशों में विदेशी लोग पर्याप्त संख्या में निवास करते थे, वहां भी विदेशी सेनायें स्थापित की गई थीं। बन्दरगाहों और चीनी समुद्रतट पर भी विदेशी जंगी जहाज पर्याप्त संख्या में विद्यमान थे। वाशिंगटन कान्फरेन्स में एक प्रस्ताव इस आशय का स्वीकृत किया गया, कि इस बात का अनुसन्धान किया जाय, कि इन सेनाओं की चीन में सत्ता किस अंश... पुरानी सन्धियों के अनुकूल है। साथ ही जिन स्थानों पर चीनी सरकार इस बात का प्रबन्ध कर सकती है, कि विदेशी लोगों की जान व माल सुरक्षित रहे, वहां से विदेशी सेनाओं को धीरे धीरे हटा लिया जाय। इस प्रस्ताव को क्रिया में परिणत करने में भी पर्याप्त समय लगा, पर इसमें सन्देह नहीं कि वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा विदेशी सेनाओं को चीन से हटा लेने के कार्य को शुरू करने का सूत्रपात अवश्य हो गया।

(३) चीन में अनेक विदेशी राज्य पोस्ट आफिसों का अपनी ओर से सञ्चालन कर रहे थे। पर इस समय तक चीनी सरकार ने अपनी पोस्टल सर्विस को सुव्यवस्थित रूप से संगठित कर लिया था। अतः वाशिंगटन कान्फरेन्स में यह भी निश्चय किया गया, कि धीरे-धीरे विदेशी पोस्टल सर्विस को बन्द कर दिया जाय।

(४) चीन के जो अनेक प्रदेश विदेशी राज्यों ने लम्बे समय के लिये पट्टे पर प्राप्त किये हुए थे, वाशिंगटन कान्फरेन्स में उन पर भी विचार किया गया। कियाऊ चाऊ के प्रदेश पर से जापानी पट्टे के अन्त कर देने के सम्बन्ध में समझौता हो चुका था। अब फ्रांस ने इस बात को स्वीकार किया, कि क्वांगचाऊ की खाड़ी पर से वह अपने पट्टे के अधिकार का परित्याग कर देने को उद्यत है।

इसी प्रकार ब्रिटेन ने वेई हाई वेई पर से अपने पट्टे का अन्त कर देने के लिये इच्छा प्रकट की। पर जब इन निर्णयों को क्रिया में परिणत करने का प्रश्न उपस्थित हुआ, तो इन देशों ने कहा कि जब तक अन्य सब राज्य भी अपने अपने पट्टों का अन्त नहीं कर देते, तब तक उनके लिये भी यह सम्भव नहीं है, कि वे अपने विशेषाधिकारों को छोड़ सकें। इसीलिये १९३० व उसके बाद तक भी चीन के विविध प्रदेशों पर विदेशी राज्यों का प्रभुत्व कायम रहा।

(५) एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति से चीनी लोगों में बहुत असन्तोष था। वाशिंगटन कान्फरेन्स में यह निर्णय हुआ, कि एक कमीशन नियत किया जाय, जो चीन में विद्यमान न्याय पद्धति का अनुशीलन करके यह बतावे, कि विदेशी राज्यों के नागरिकों को चीनी कानून व चीनी अदालतों के अधीन कर सकना किस हद तक सम्भव है। यह कमीशन १९२५ से पहले अपने कार्य को प्रारम्भ नहीं कर सका, क्यों कि इस समय आन्तरिक कलह के कारण चीन में बहुत अव्यवस्था फैली हुई थी। कमीशन ने आवश्यक अनुसन्धान के बाद यह प्रस्तावित किया, कि पहले चीन में कानूनों का आधुनिक ढंग पर निर्माण किया जाना चाहिये, तभी एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का अन्त कर सकना सम्भव है। पर क्योंकि कानून और अदालतों के सम्बन्ध में चीन कुछ अंशों में उन्नति कर चुका है, अतः धीरे धीरे इस पद्धति का अन्त किया जा सकता है।

(६) तट-करों के सम्बन्ध में चीनी सरकार की यह मांग थी, कि उनको पूर्ण रूप से चीन के अधीन कर दिया जाय और चीनी सरकार इन करों का निर्धारण करने की पूरी स्वतन्त्रता रखे। वाशिंगटन कान्फरेन्स में यह बात तो स्वीकृत नहीं की गई, पर इस सम्बन्ध में निम्नलिखित नीति का निर्धारण किया गया— क—तट कर की दर में परिवर्तन किया जाय। ख—तट कर के सम्बन्ध में ऐसी व्यवस्था की जाय, कि सब विदेशी राज्यों के साथ एक समान व्यवहार हो। किसी राज्य से अधिक व किसी से कम कर न लिये जावें। ग—चीन के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में माल ले जाने पर या एक ही प्रान्त में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को माल जाने पर जो कई प्रकार के टैक्स लगते हैं (इनको लिकिन टैक्स कहते थे), उनको नष्ट कर दिया जाय और उनके स्थान पर तट कर की मात्रा में २॥ फी सदी की वृद्धि कर दी जाय। घ—इन सब बातों के सम्बन्ध में विशद रूप से विचार करने के लिये एक कान्फरेन्स की आयोजना की जाय। पर अनेक बार प्रयत्न करने पर भी तट कर के विषय में विदेशी राज्यों के साथ ऐसे समझौते नहीं हो सके, जिनसे चीन की सरकार को सन्तोष हो। इस सम्बन्ध में चीन को स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने का परिणाम यही हो सकता था, कि विदेशी राज्यों को मनमाने तरीके से

चीन में व्यापार के विकास में रुकावट पड़े। इस बात को वे किसी भी दशा में सहने के लिये तैयार नहीं थे और पुरानी सन्धियों के नाम पर वे तट कर पर अपना नियन्त्रण रखने के लिये कटिबद्ध थे। इस मामले में चीनी सरकार और विदेशी राज्यों में समझौता हो सकना बहुत कठिन था।

तट करों की दर में परिवर्तन करने के मामले में सब विदेशी राज्य परस्पर मिलकर कार्य कर रहे थे, क्योंकि इस विषय में उन सबके हित एक थे। पर अब चीन की सरकार ने विविध राज्यों से सम्मिलित रूप से बात न कर अलग अलग समझौता करने की नीति का अनुसरण किया। १६ एप्रिल, १९२६ को चीन की ओर से बेल्जियम के राजदूत को यह नोटिस दिया गया, कि चीन और बेल्जियम की व्यापार सम्बन्धी सन्धि अक्टूबर में समाप्त हो जायगी और चीन इस अवधि के बाद जो नई सन्धि करेगा, उसमें उसे अधिकार होगा, कि वह सन्धि की शर्तों में परिवर्तन कर सके। बेल्जियम इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं था, कि चीन को स्वेच्छापूर्वक सन्धि की शर्तों में संशोधन करने का अधिकार है। बेल्जियम की सरकार ने इस मामले को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (राष्ट्रसंघ के अधीन स्थापित किये गये पर्मनन्ट कोर्ट आफ इन्टरनेशनल जस्टिस) के सम्मुख निर्णय के लिये उपस्थित करना चाहा। पर चीन का कहना था, कि यह मामला ऐसा नहीं है, जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख न्याय के लिये पेश किया जा सके। चीन और बेल्जियम की सन्धि की अवधि जब समाप्त हो जायगी, तो उस सन्धि की अवधि को बढ़ाने न बढ़ाने का या परिवर्तित शर्तों पर नई सन्धि करने का चीन को पूरा अधिकार है। अभी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में इस मामले पर विचार शुरू नहीं हुआ था, कि बेल्जियम और चीन ने आपस में समझौता कर लिया। इस समझौते के अनुसार (१) तीन्त्सिन में बेल्जियम का जो अधिकृत प्रदेश था, वह चीन को वापस दे दिया गया, (२) बेल्जियम के चीन में निवास करनेवाले नागरिकों का न्याय चीनी अदालतों द्वारा हो, यह बात तय की गई, और (३) व्यापार के सम्बन्ध में दोनों देशों में जो मतभेद थे, उन सबका फैसला किया गया। चीन के इतिहास में यह समझौता बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके कारण कम से कम एक विदेशी राज्य ने चीन के इस दावे को स्वीकृत किया, कि वह अपने क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र व प्रभुत्वसम्पन्न है, और उसे अपने क्षेत्र में विदेशी लोगों के साथ समान स्थिति में बरताव करने का अधिकार है। बेल्जियम एक छोटा सा देश है और उसका प्रभुत्व भी ब्रिटेन, फ्रांस व जापान के समान चीन में अधिक नहीं था। इसीलिये सबसे पूर्व चीन को उसे इस प्रकार का समझौता करने के लिये विवश कर सकने में सफलता प्राप्त हो गई थी।

ज्यों-ज्यों अन्य विदेशी राज्यों के साथ की गई सन्धियों की अवधि समाप्त होती गई, चीनी सरकार ने इस बात के लिये जोर दिया, कि अब जो भी नई सन्धियां उसके साथ की जावें, वे इस ढंग की हों, जैसी कि दो स्वतन्त्र व समकक्ष राज्योंके बीच में की जाती है। १९२७ में फ्रांस, जापान और स्पेन के साथ की गई पुरानी संधियों की अवधि समाप्त हुई और चीनी सरकार ने उन पर इस बात के लिये जोर दिया, कि नई सन्धियों में चीन के साथ स्वतन्त्र व समकक्ष राज्य के सदृश व्यवहार किया जाय। इस समय तक चीन में कुओमिन्तांग दल की शक्ति बहुत बढ़ गई थी और उग्र राष्ट्रीय विचार रखनेवाले इस दल ने नानकिंग में अपनी सरकार की स्थापना कर ली थी। इस राष्ट्रीय दल ने इन सन्धियों के सम्बन्ध में जिस नीति का अनुसरण किया, उस पर विशद रूप से प्रकाश डालना आवश्यक है।

**कुओमिन्तांग सरकार का कर्तृत्व**--डा० सन यात सेन द्वारा चीन में जो क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था, उसका प्रधान उद्देश्य चीन की राष्ट्रीय एकता और पूर्ण स्वतन्त्रता थी। इसलिये जब कुओमिन्तांग दल ने नानकिंग में अपनी सरकार स्थापित की और पेकिंग को भी अपने अधीन कर लिया, तो उसने चीन को विदेशी प्रभाव और प्रभुत्व से मुक्त करने के प्रश्न पर विशेष ध्यान दिया। चीनी जनता में ब्रिटिश लोगों के प्रति विरोध की भावना अत्यन्त उग्र थी, विशेषतया नवयुवक विद्यार्थी अपने देश में ब्रिटेन की सत्ता व शक्ति को अत्यन्त अनुचित समझते थे। इसीलिये चीनी जनता की ब्रिटिश अधिकारियों के साथ अनेक बार मुठभेड़ हुई। विद्यार्थियों के नेतृत्व में चीनी जनता ने ब्रिटिश माल के बहिष्कार का भी प्रारम्भ किया। इस दशा में ब्रिटेन की सरकार ने यह अनुभव किया, कि चीन के सम्बन्ध में अधिक उदार नीति का अवलम्बन करना आवश्यक है। वाशिंगटन कान्फरेन्स में जो निर्णय हुए थे, न केवल उन्हें पूर्ण रूप से क्रिया में परिणत किया जाना चाहिये, अपितु उनसे भी आगे बढ़कर चीन की जनता को संतुष्ट करना चाहिये।

१९२८ और १९२९ में ब्रिटेन, इटली आदि विविध विदेशी राज्यों ने यह स्वीकार किया, कि तट कर के सम्बन्ध में चीनी सरकार को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। १९३० में जापान और हालैण्ड ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया। फ्रांस और स्पेन १९२७ में ही इस सिद्धान्त को स्वीकार कर चुके थे। १९३० के अन्त तक यह अवस्था आ गई थी, कि चीनी सरकार को तट कर की दर को स्वेच्छापूर्वक निश्चित कर सकने का अधिकार पूर्ण रूप से प्राप्त हो गया था। १९२९ में ही चीन ने तट कर के सम्बन्ध में अपनी नीति का निर्धारण कर लिया था और

भविष्य में आयात और निर्यात माल पर किस दर से कर लिया जायगा, इसकी घोषणा कर दी थी। जापान और हालैण्ड के विरोध के कारण ये नई दरें तुरन्त क्रिया में प्रयुक्त नहीं हो सकी थीं। पर जब १९३० में इन देशों ने भी तटकर के सम्बन्ध में चीन के अधिकार को स्वीकृत कर लिया, तो नई दरों के प्रयोग में लाने में कोई भी बाधा शेष नहीं रह गई। इस समय से तटकर व व्यापारिक नीति के विषय में चीन पूर्णतया स्वतन्त्र हो गया।

तट कर सम्बन्धी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के साथ साथ कुओमिन्तांग सरकार इस बात के लिये भी प्रयत्नशील थी, कि एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का अन्त किया जाय। २८ दिसम्बर, १९२९ को नानकिंग सरकार ने निश्चय किया, कि विदेशी लोगों को अपने मुकदमों का अपने देश की अदालतों द्वारा फैसला कराने का जो अधिकार है, उसका अन्त कर दिया जाय। इस निर्णय की सूचना विदेशी राज्यों के राजदूतों को भेज दी गई। एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी के अन्त के लिये १ जनवरी, १९३० का दिन नियत किया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और जापान के राजदूतों ने चीनी सरकार की सूचना का यह उत्तर दिया, कि वे सिद्धान्त रूप से एक्स्ट्रा-टैरिरोरिएलिटी का अन्त कर देने के लिये सहमत हैं, पर इसके लिये अधिक समय की अपेक्षा होगी। यदि कुओमिन्तांग सरकार इस समय अपनी विरोधी शक्तियों के साथ संघर्ष में बुरी तरह से न फंसी होती, तो वह विदेशी राज्यों को अपने निर्णय को तुरन्त स्वीकार करने के लिये विवश कर सकती थी। पर १९३० का सारा साल विदेशी राजदूतों के साथ बातचीत में ही निकल गया। अन्त में उनके साथ यह समझौता हुआ, कि १ जनवरी, १९३२ से एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का अन्त कर दिया जायगा और इस बीच में चीन की सरकार को यह चाहिये, कि वह अपने सब कानूनों का नये ढंग से निर्माण कर ले और अपनी अदालतों का भी आधुनिक शैली पर पुनः संगठन कर ले। पर १९३१ में चीन की कुओमिन्तांग सरकार जापान के साथ संघर्ष में बुरी तरह से उलझनी शुरू हो गई थी, क्योंकि इस समय जापान मञ्चूरिया में अपने प्रभुत्व को विस्तृत करने के लिये प्रयत्नशील हो गया था। इस स्थिति में १ जनवरी, १९३२ को भी एकस्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का अन्त नहीं किया जा सका। आगे चलकर इस पद्धति का किस प्रकार अन्त हुआ, इस पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

चीन के जो प्रदेश विदेशी राज्यों को लम्बे पट्टे पर प्राप्त हुए थे, या जिन चीनी नगरों में विदेशियों के निवास के लिये पृथक क्षेत्र बने हुए थे और उन क्षेत्रों पर विदेशी राज्य अपना राजनीतिक प्रभुत्व भी समझते थे, उनका अन्त कर देने

के लिये भी कुओमिन्तांग सरकार प्रयत्नशील थी। १९२९ में चिंगकियांग और अमोय पर से ब्रिटेन के प्रभाव क्षेत्र का अन्त किया गया और १९३० में वेई-हाई वेई पर चीन का प्रभुत्व फिर से स्थापित हुआ। १९३१ तक सम्पूर्ण चीन में केवल तेरह प्रदेश ऐसे रह गये थे, जो विदेशी राज्यों के प्रभुत्व व प्रभाव क्षेत्र में थे। इनमें सबसे अधिक महत्व का प्रदेश शंघाई का वह हिस्सा था, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती (इन्टरनेशनल सेटलमेन्ट) कहते थे। इस अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती में ४०,००० के लगभग विदेशी लोग बसते थे और इसके चीनी निवासियों की संख्या दस लाख से भी ऊपर थी। इस विशाल नगर का प्रबन्ध एक म्युनिसिपल कौंसिल के हाथों में था, जिसके सदस्यों को निर्वाचित करने का अधिकार केवल विदेशी लोगों को प्राप्त था। शंघाई चीन के समुद्र तट पर व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र था। अतः स्वाभाविक रूप से चीनी सरकार इस बात के लिये उत्सुक थी, कि इस क्षेत्र को भी अपने प्रभाव व प्रभुत्व में लाया जाय। १९२८ में कुओमिन्तांग सरकार के प्रयत्न से यह बात तय हुई, कि शंघाई की म्युनिसिपल कौंसिल में ३ चीनी सदस्य भी रहें। १९३० में इन चीनी सदस्यों की संख्या ३ से ५ कर दी गई। इस समय यह भी कोशिश की गई, कि चीनी सरकार द्वारा मजदूरों के हित के लिये जो अनेक कानून बनाये गये हैं, उन्हें शंघाई की अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती में भी लागू किया जाय। विदेशी लोग इसके लिये सुगमता से तैयार नहीं हुए, पर उन्होंने इस सिद्धान्त को अवश्य स्वीकार कर लिया, कि सम्पूर्ण चीन में एक ही प्रकार के व्यावसायिक कानून का प्रयोग में आना उपयोगी है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया, कि इस सिद्धान्त को क्रिया में परिणत करने के लिये आवश्यक कदम उठाने का प्रयत्न किया जाय।

इस प्रकार कुओमिन्तांग सरकार के प्रयत्न से चीन विदेशी राज्यों के प्रभाव व प्रभुत्व से छुटकारा पाने में बहुत अंश में सफल हुआ। पर अभी चीन के दुर्दिनों का अन्त नहीं हुआ था। कुओमिन्तांग सरकार को चीन में जिन विरोधी शक्तियों के साथ निरन्तर संघर्ष करना पड़ रहा था, उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। १९३१ में जापान ने अपने साम्राज्य का विस्तार करने के उद्देश्य से मन्चूरिया में अपनी शक्ति को बढ़ाना शुरू किया और इसी कारण चीन को उन युद्धों में व्यापृत होना पड़ा, जिनके कारण वह अपनी आन्तरिक उन्नति पर अधिक ध्यान नहीं दे सका। इन युद्धों का हम अगले एक अध्याय में विशद रूप से उल्लेख करेंगे।

ग्यारहवां अध्याय

# चीन की सर्वतोमुखी उन्नति

## (१) आर्थिक उन्नति

अब तक हमने चीन के राजनीतिक इतिहास पर प्रकाश डाला है। विदेशी राज्यों के सम्पर्क में आने के बाद चीन की राजनीति में किस प्रकार परिवर्तन हुए, मञ्चू शासन का अन्त होकर किस प्रकार रिपब्लिक की स्थापना हुई, कुओमिन्तांग दल ने किस प्रकार चीन में राष्ट्रीय एकता और लोकतन्त्र शासन की स्थापना का उद्योग किया और किस प्रकार चीन विदेशी राज्यों के प्रभाव व प्रभुत्व से मुक्त होने के मार्ग पर अग्रसर हुआ, इन बातों पर हमने पिछले अध्यायों में विचार किया है। पर इस बीच में चीन केवल राजनीतिक संघर्षों में ही व्यापृत नहीं था, वह आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में सर्वतोमुखी उन्नति के लिये भी प्रयत्नशील था। चीन में यह उन्नति उतनी तेजी के साथ नहीं हुई, जितनी कि जापान में हुई थी। जापान के शासक वर्ग ने पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क में आते ही इस बात को भलीभांति अनुभव कर लिया था, कि वह उन्नति की दौड़ में बहुत पीछे रह गया है, और वह इन देशों का समकक्ष तभी बन सकता है, जब कि वह भी पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान को अविकल रूप से अपना ले। इसी कारण वहां की सम्पूर्ण राजशक्ति अपने देश का कायाकल्प करने के लिये प्रयत्नशील हो गई थी। इसके विपरीत चीन में उन्नति की जो प्रक्रिया हुई, उसका श्रेय वहां की राजशक्ति को नहीं दिया जा सकता। चीन के मञ्चू शासक देश की उन्नति के प्रति उपेक्षा भाव रखते थे। वहां की सरकार में इतनी अधिक विकृति आ चुकी थी, कि वह देश की उन्नति पर ध्यान दे सकने के लिये सर्वथा असमर्थ हो गई थी। चीन ने विविध क्षेत्रों में जो उन्नति आधुनिक युग में की, उसका प्रधान श्रेय वहां की जनता को है। जब राजसत्ता का अन्त होकर चीन में कुओमिन्तांग दल का प्रभुत्व स्थापित हो गया, तब भी उसकी शक्ति मुख्य रूप से आन्तरिक अव्यवस्था को दूर करने में ही लगी रही। पर इसमें सन्देह नहीं, कि कुओमिन्तांग सरकार ने देश की उन्नति पर भी पर्याप्त ध्यान दिया।

**विदेशी व्यापार**—उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में चीन का पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ था। १८४२ में चीन के पांच बन्दरगाह विदेशी व्यापार के लिये 'खोल' दिये गये थे। इसके बाद निरन्तर और और बन्दरगाह पाश्चात्य व्यापारियों के लिये खुलते गये। इन्हें 'ट्रीटी पोर्ट' कहा जाता था, क्योंकि सन्धियों द्वारा इन बन्दरगाहों में विदेशी लोग व्यापार की विशेष सुविधाएं व अधिकार प्राप्त करते जाते थे। १९३१ तक इन ट्रीटी पोर्टों की संख्या बढते बढते ६९ तक पहुँच गई थी। इनके अतिरिक्त चीन में ११ बन्दरगाह और थे, जो विदेशियों के व्यापार के लिये खुले हुए थे, यद्यपि उनमें विदेशियों को किसी सन्धि के कारण कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं थे। इतने अधिक बन्दरगाहों में विदेशी व्यापार की सत्ता का यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि चीन के विदेशी व्यापार में निरन्तर वृद्धि होती जाय। १९०० में विदेशों से जो माल चीन में आता था, उसकी कीमत केवल २१,१०,००,०००तायल थी, १९१० में केवल १० साल बाद आयात माल की कीमत बढ़कर ४६, ३०,००,००० तायल तक पहुंच गई थी। इसी प्रकार १९०० से १९१० तक दस सालों में चीन के निर्यात माल का मूल्य १५,९०,००,००० से बढ़कर ३८,१०,००,०००तक पहुंच गया था। १९१० के बाद चीन के विदेशी व्यापार में और भी अधिक वृद्धि हुई। १९३० में चीन के आयात माल का मूल्य १,३०,९७,५५,७४२ तायल था और निर्यात माल का मूल्य ८९, ४८,४३,५९४ तायल था। इस प्रकार केवल तीस साल के समय में (१९०० से १९३० तक) चीन के विदेशी व्यापार में ३५० गुना की वृद्धि हुई थी।

शुरू में चीन के आयात माल में अफीम की मात्रा सबसे अधिक होती थी। १८८२ में चीन के कुल आयात माल की ३४ प्रतिशत अफीम होती थी। इसके बाद अन्य प्रकार का माल इतना अधिक चीन में बिक्री के लिये आने लगा था, कि अफीम उसका केवल ११ प्रतिशत (१९०२ में) रह गई थी। बाद में अफीम के आयात में और भी कमी हुई। इसका एक कारण यह था, कि चीन में भी अफीम की खेती शुरू हो गई थी। साथ ही सरकार का भी यह प्रयत्न था, कि लोग अफीम के उपयोग में कमी करें। १९०२ में चीन के कुल आयात माल का ७२ फी सदी सूती कपड़े थे। इसके अतिरिक्त मिट्टी का तेल व धातुएं भी अच्छी बड़ी मात्रा में चीन आने लगी थीं। १९३० में सूती कपड़ों की मात्रा कुल आयात माल का ११ फी सदी के लगभग रह गई थी। इसका कारण यह था, कि चीन में भी कपड़े की मिलें खुल गई थीं और चीन विदेशों से बढ़िया किस्म की रूई को कपड़ा तैयार करने के लिये मंगाने लगा था। इस युग में चीन ने व्यावसायिक उन्नति

इतनी तेजी के साथ हो रही थी, कि १९३० में ७,८०,००,००० तायल की मशीनरी विदेशों से चीन आई थी। इस साल मे कुल आयात का ६ फी सदी के लगभग मशीनरी थी। इतनी कीमत की मशीनरी का चीन में आना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि अब वहां व्यावसायिक क्रान्ति का सूत्रपात हो गया था। मट्टी का तेल, दियासलाई आदि भी इस समय प्रचुर परिमाण में चीन आने लगे थे। पहले चीन में रोशनी के लिये वानस्पतिक तेल का प्रयोग होता था। मट्टी के तेल के कारण जहां चीन के मकानों में अधिक तेज रोशनी उपलब्ध हो गई, वहां साथ ही वानस्पतिक तेल को प्रचुर परिणाम में विदेशों में भेजा जाने लगा। १९३० तक मोटर कार, फोटोग्राफी का सामान, नये किस्म की प्रिंटिंग प्रेस की मशीनें, टेलीफोन व टेलीग्राफ का सामान व इसी प्रकार की अन्य आधुनिक वस्तुएं भी विदेशों से चीन में आने लगी थीं और इनके कारण चीन के समृद्ध लोगों के रहन सहन में भारी परिवर्तन आने लग गया था।

१८८२ में चीन के निर्यात माल में चाय की मात्रा सबसे अधिक थी। कुल निर्यात का ४८ प्रतिशत चाय होती थी। पर १९३० में चाय का निर्यात कुल निर्यात माल का केवल ३ प्रतिशत रह गया था। इसका मुख्य कारण यह है, कि इस समय भारत और लंका में चाय बड़े परिमाण में तैयार होने लगी थी और इसकी मांग विदेशों में बहुत बढ़ गई थी। इसी प्रकार चीनी रेशम के मुकाबले में फ्रांस और इटली का रेशम विदेशी बाजारों में अधिक पसंद किया जाता था और उसके कारण चीनी रेशम के निर्यात में कमी हो गई थी। पर यदि चाय और रेशम के निर्यात में कमी हुई थी, तो सोयाबीन और अन्य तिलहन के निर्यात में वृद्धि भी बहुत अधिक हुई थी। १९३० में इन पदार्थों के निर्यात की मात्रा १८,५०,००,००० तायल थी। चीन से जो माल बाहर जाता था, उसका बड़ा भाग कच्चे माल का होता था। तैयार माल में केवल रेशम, गलीचे व अन्य कला की वस्तुएं ही ऐसी थीं, जिनकी विदेशों बाजारों में मांग थी। यद्यपि व्यावसायिक क्रान्ति का चीन में प्रारम्भ हो गया था, पर उसके कारखानों में जो माल तैयार होता था, वह देश की अपनी आवश्यकताओं के लिये भी पर्याप्त नहीं होता था। शुरू में जब चीन का विदेशों के साथ व्यापार प्रारम्भ हुआ, तो उसका आयात माल निर्यात माल की अपेक्षा कम होता था। पर बीसवीं सदी में निर्यात माल की अपेक्षा आयात माल की मात्रा व कीमत बहुत अधिक बढ़ गई थी। निर्यात की अपेक्षा आयात की अधिकता का यह स्वाभाविक परिणाम था, कि चीन आर्थिक दृष्टि से अधिक दुर्दशाग्रस्त होता जाता था। तट-कर को वह इस ढंग से लगा सकता था, जिससे आयात माल की मात्रा में कमी हो, पर इस विषय में उसे स्वतन्त्रता प्राप्त

नहीं थी। तट कर की दर विदेशी सन्धियों द्वारा निश्चित की हुई थी, और इनमें चीनी सरकार स्वेच्छापूर्वक परिवर्तन नहीं कर सकती थी। यही कारण है, कि चीन के राष्ट्रवादी देशभक्त तट कर के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये इतने अधिक उत्सुक थे।

**कृषि की दशा**—चीन की बहुसंख्यक जनता अपने निर्वाह के लिये कृषि पर आश्रित थी। ९० फी सदी से भी अधिक चीनी लोग खेती द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे। चीन की यह विशाल कृषक जनता देहातों में निवास करती थी और आधुनिक युग की प्रवृत्तियों से सर्वथा अपरिचित थी। खेती के लिये जो उपकरण सदियों से चीन में प्रयुक्त होते चले आये थे, अब बीसवीं सदी में भी उन्हीं को प्रयुक्त किया जाता था। पुराने ढंग के हलों को बैलों द्वारा चलाया जाता था और फावड़ा, खुरपी व दरांती किसान के सर्वोत्तम उपकरण थे। यह बात नहीं, कि चीनी लोगों को पाश्चात्य देशों के कृषि सम्बन्धी उपकरणों का कोई परिज्ञान नहीं था। पर चीन की विशेष परिस्थितियां ऐसी थीं, कि अमेरिका में प्रयुक्त होनेवाले ट्रैक्टर व विशाल हल वहां उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते थे। चीन में जनसंख्या बहुत अधिक थी, और खेतों के आकार बहुत छोटे छोटे थे। इसके विपरीत अमेरिका में खेती के लिये विशाल मैदान खाली पड़े थे, और इस परती पड़ी हुई जमीन को कृषि के योग्य बनाने के कार्य में ट्रैक्टर आदि का बहुत उपयोग था। अमेरिका में जनसंख्या बहुत कम थी और मीलों लम्बे खेतों में मशीनरी की सहायता के बिना खेती कर सकना असम्भव था। चीन के लोगों ने अमेरिका की कृषि सम्बन्धी मशीनरी को जो नहीं अपनाया, उसका प्रधान कारण वहां की विशेष परिस्थितियां ही थीं।

पर यह नहीं समझना चाहिये, कि आधुनिक उन्नति का चीन के किसानों पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ रहा था। रेलवे और सड़कों के निर्माण के कारण चीन में आवागमन और यातायात के साधनों में बहुत अधिक उन्नति हो गई थी। उन्नीसवीं सदी में जब चीन में न रेलवे थी और न पक्की सड़कें, तो किसान का यह प्रयत्न होता था, कि वह अपनी आवश्यकता की सब चीजों को स्वयमेव उत्पन्न कर ले। वह जहां अपने खेत में अनाज पैदा करता था, वहां साथ ही कपास भी बोता था, ताकि अपनी आवश्यकता का कपड़ा गांव के जुलाहे द्वारा तैयार करा सके। पर अब रेलवे आदि की उन्नति के कारण चीन के किसान के लिये यह सम्भव हो गया था, कि वह केवल उस चीज को पैदा करे, जिसके लिये उसकी जमीन सबसे अधिक उपयुक्त है, और अपनी पैदावार के कुछ अंश को बाजार में बेच कर उन चीजों को खरीद ले, जो उसके अपने खेतों में उत्पन्न नहीं होतीं। इसी का यह

परिणाम हुआ, कि चीन के विभिन्न प्रदेशों में कपास, चावल, चाय आदि की पैदावार विशेष रूप से प्रारम्भ हुई। जो प्रदेश जिस फसल के लिये अधिक उपयुक्त था वहां उसी की खेती की जाने लगी। मञ्चूरिया में सोयाबीन, चिहली और कियांग-सू में कपास और यूनान में चावल की पैदावार पर विशेष ध्यान दिया गया। चीन में कपास इतनी अधिक मात्रा में पैदा होने लगी, कि उसे विदेशों में भी भेजा जाने लगा। सरकार ने इस बात पर भी ध्यान दिया, कि किसान लोग अपने खेतों में अच्छी खादों का प्रयोग करें और उत्कृष्ट किस्म के बीज को बोवें। विदेशी बाजारों में चीन की चाय के मुकाबले में भारत और लंका की चाय को अधिक पसन्द किया जाता था, अतः चीन की सरकार ने अपने यहां चाय की किस्म में उन्नति पर विशेष ध्यान दिया। इसी प्रकार रेशम के कीड़ों की नसल में तरक्की की गई और कपास के बढ़िया बीज अमेरिका से मंगाकर उन्हें बुआने का प्रबन्ध किया गया। चीन में कृषि की शिक्षा के लिये अनेक स्कूल और कालिज भी स्थापित किये गये। खेती की उन्नति पर सरकार का इतना अधिक ध्यान था, कि १९२३ में ८,००,००,००० तायल की खाद विदेशों से चीन में मंगायी गई थी।

चीन की सरकार खेती की उन्नति पर ध्यान अवश्य दे रही थी, पर इससे कृषक जनता की दशा में बहुत अधिक सुधार नहीं हो पाया था। यह ठीक है, कि अब चीन का किसान अनेक ऐसी वस्तुओं का अपने दैनिक जीवन में उपयोग करने लग गया था, जिनका वह पहले नाम भी नहीं जानता था। अब वह मिल के बने कपड़े खरीदने लगा था, तमाखू का सेवन करता था और मट्टी के तेल की लालटेन से अपनी झोंपड़ी को प्रकाशित करता था। पर इन नवीनताओं के होते हुए भी चीन का किसान बहुत गरीब था। जमींदार के लगान और महाजन के कर्जे से वह इतना अधिक दबा हुआ था, कि अपने परिवार के योग्य भोजन प्राप्त कर सकना भी उसके लिये कठिन था। यही कारण है, कि चीन में कम्युनिज्म का प्रचार बहुत सुगमता के साथ हो सका।

**व्यावसायिक उन्नति**—उन्नीसवीं सदी तक चीन में व्यवसायों की उन्नति बहुत कम हुई थी। कारीगर लोग अपने घर पर बैठकर काम करते थे और पुराने ढंग के मोटे भद्दे औजारों से आर्थिक उत्पत्ति किया करते थे। पर बीसवीं सदी में चीन में व्यावसायिक क्रान्ति के चिह्न प्रकट होने लग गये थे। विदेशी राज्यों के सम्पर्क में आने के कारण चीनी लोगों ने भी यह अनुभव करना शुरू कर दिया था, कि पाश्चात्य संसार के वैज्ञानिक आविष्कारों को अपनाये बिना उनके देश की उन्नति सम्भव नहीं है। रेलवे और सड़कों के निर्माण के कारण चीनी लोगों को आधुनिक

युग की प्रवृत्तियों से परिचित होने का सुवर्णीय अवसर मिला था। इसका परिणाम यह हुआ, कि अनेक धनी व सम्पन्न चीनी नागरिक कल कारखानों की स्थापना के लिये प्रवृत्त हुए। चीन में ऐसे धनिक लोगों की कमी नहीं थी, जो अकेले या परस्पर मिलकर इतनी पूंजी जुटा सकें, जिससे नये ढंग के कारखानों की स्थापना सम्भव हो। कतिपय सुशिक्षित लोगों ने जायन्ट स्टाक कम्पनियों के संगठन पर भी ध्यान दिया। शुरू में इन्हें विशेष सफलता नहीं हुई, क्योंकि सर्वसाधारण लोगों को इस पर विश्वास नहीं था। मध्य श्रेणी के लोग अपने रुपये को अपरिचित कम्पनियों में लगाने के लिये उत्साह अनुभव नहीं करते थे। पर बैंकों के विकास के कारण लोगों में अपने रुपये को बैंकों व कम्पनियों द्वारा रोजगार में लगाने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी और इससे बड़े बड़े कारखानों का विकास सम्भव हुआ। महाजनी का कारोबार चीन में पहले भी विद्यमान था। पर बीसवीं सदी में वहां नये ढंग के भी अनेक बैंकों की स्थापना हुई। जनता द्वारा स्थापित किये गये बैंकों के साथ साथ सरकार के तत्त्वावधान में 'बैंक आफ चाइना' का भी संगठन हुआ और इस राष्ट्रीय बैंक के कारण चीन में भी आधुनिक ढंग की महाजनी का भलीभांति विकास प्रारम्भ हुआ। जायन्ट स्टाक कम्पनियों और बैंकों के विकास के कारण चीन में बड़े पैमाने पर व्यावसायिक उन्नति सम्भव हो सकी। सबसे पहले सूती कपड़े को तैयार करने के लिये मिलें खोली गईं। चीन में कपास पर्याप्त मात्रा में पैदा होती थी, मजदूर भी वहां बहुत सस्ते रेट पर मिल सकते थे। अतः अनेक विदेशी पूंजीपतियों का ध्यान भी इस बात पर आकृष्ट हुआ, कि चीन में मिलें खोलकर रुपया पैदा करें। १९२८ तक चीन में वस्त्र व्यवसाय इतना अधिक उन्नत हो गया था, कि कपड़े की मिलों में ढाई लाख से अधिक मजदूर काम करते थे। आधी के लगभग कपड़े की मिलें शंघाई में स्थित थीं और इनमें विदेशी पूंजीपतियों ने बड़ी उदारता के साथ अपनी पूंजी लगाई हुई थी। वस्त्र व्यवसाय में कुल मिलाकर जितनी पूंजी चीन में लगी हुई थी, उसका एक तिहाई भाग विदेशियों द्वारा लगाया गया था। वस्त्र व्यवसाय के अतिरिक्त रेशमी वस्त्र दियासलाई, चीनी, लोहा, शराब आदि को तैयार करने के लिये भी बहुत से नये प्रकार के कारखाने इस समय चीन में स्थापित हुए। कागज का व्यवसाय चीन में बहुत देर से चला आ रहा था। शुरू में कागज छोटे छोटे कारखानों में तैयार होता था, जिनमें छः सात मजदूर काम करते थे। पर अब नये ढंग की पेपर मिलें स्थापित होनी शुरू हुईं, और चीन इस व्यवसाय में भी अच्छी उन्नति कर गया। पर १९३१ तक चीन में व्यावसायिक उन्नति का श्रीगणेश मात्र ही हुआ था। चीन में कोयले और लोहे की प्रचुरता है। मजदूर भी वहां बहुत

बड़ी संख्या में और सस्ते दर पर उपलब्ध है। नदियों और स्रोतों के बाहुल्य के कारण वहां बिजली की उत्पत्ति भी कठिन नहीं है। कच्चा माल भी वहां प्रचुर परिमाण में प्राप्त हो सकता है। इस दशा में यदि जापान की सरकार के समान चीनी सरकार भी अपने देश की व्यावसायिक उन्नति पर ध्यान देती, तो चीन आर्थिक क्षेत्र में बहुत उन्नति कर जाता। पर १९३१ तक चीन की सरकार को अपनी आन्तरिक समस्याओं से ही फुरसत नहीं थी और इसीलिये वह देश की व्यावसायिक उन्नति पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे सकी। पर यह स्पष्ट है, कि सरकार के उपेक्षा के बावजूद भी चीन में व्यावसायिक उन्नति का प्रारम्भ हो गया था और पाश्चात्य देशों के समान वहां भी श्रम सम्बन्धी समस्यायें उत्पन्न होने लग गई थीं। पर चीन के लिये इन समस्याओं को हल कर सकना सुगम नहीं था, क्योंकि अनेक कारखाने विदेशियों के स्वामित्त्व में थे और अनेक कारखाने ऐसे प्रदेशों में स्थित थे, जो विदेशी राज्यों के प्रभाव क्षेत्रों के अन्तर्गत थे। चीनी सरकार इन पर अपने कानूनों को लागू नहीं कर सकती थी।

**श्रमियों की समस्या**—कल कारखानों के विकास के कारण चीन में भी मजदूरों की समस्या विकसित होनी शुरू हो गई थी। सबसे पहले १९१९ में 'चीनी मजदूरों की उन्नति के लिये संघ' की शंघाई में स्थापना हुई। इस संघ का उद्देश्य यह था, कि मजदूरों के हितों की रक्षा की जाय। इसकी शाखाएं चीन के विविध व्यावसायिक केन्द्रों में स्थापित की गईं। मजदूरों के इस संघ ने मजदूरी की दर में वृद्धि करने और कार्य करने के घण्टों में कमी करने के लिये आन्दोलन शुरू किया। आन्दोलन से अपने प्रयत्न में सफलता होती न देखकर चीन के मजदूरों ने हड़तालों का आश्रय लिया। पेकिंग के एक समाचार पत्र के अनुसार सितम्बर, १९२२ से दिसम्बर, १९२२ तक चार महीनों में चीन में ४१ हड़तालें हुईं। इस से यह भलीभांति समझा जा सकता है, कि चीन के मजदूरों में इस समय कितनी अधिक अशान्ति थी। कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों को बहुत कम वेतन मिलता था। अपने वेतन से उनके लिये यह असम्भव था, कि वे अपना व अपने परिवारों का पालन पोषण कर सकें। इसी कारण मजदूर लोगों में इस समय घोर अशान्ति थी और वे अपनी दशा के सुधार के लिये घोर संघर्ष में तत्पर थे।

मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये तीन ही उपाय थे—(१) सरकार की ओर से ऐसे कानूनों का निर्माण किया जाय, जिनसे मजदूरों के कार्य करने की दशा में उन्नति हो, उनकी न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जाय और वे अधिक से अधिक कितने घंटे प्रतिदिन काम कर सकें, यह भी कानून द्वारा तय कर

दिया जाय। (२) कारखानों के मालिक स्वयमेव मजदूरों की दशा के सुधार पर ध्यान दें। (३) कारखानों में ऐसी पंचायतें स्थापित की जावें, जिनमें मजदूरों को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। मजदूरों और मालिकों में झगड़ा होने पर ये पञ्चायतें उनका फैसला करें। चीन के अनेक मिल मालिकों ने मजदूरों की दशा के सुधार पर ध्यान देने का प्रयत्न किया। कई कारखानों में मजदूरों के निवास के लिये साफ सुथरे मकान बनाये गये, उनके इलाज के लिये अस्पताल खोले गये और बच्चों की शिक्षा व मनोरंजन के लिये स्कूल व पार्कों की स्थापना की गई। पर मजदूर इनसे संतुष्ट नहीं थे। ऐसे कारखानों में उन्हें वेतन बहुत कम दिया जाता था और पर्याप्त आमदनी के अभाव में मजदूरों की दशा में सुधार असम्भव था। कुछ कारखानों में ऐसी पञ्चायतें भी स्थापित की गईं, जिनमें मजदूरों को अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया था। पर राजकीय शक्ति के साथ न होने के कारण इस प्रकार की पञ्चायतों के लिये सफलता प्राप्त कर सकना सुगम नहीं था। मजदूरों की समस्या को हल करने का सीधा और सरल उपाय यह था, कि चीन में भी सरकार की ओर से उसी ढंग के कानून बनाये जावें, जैसे कि कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों के लिये पाश्चात्य देशों में बनाये जा रहे थे। १९२९ में चीन में 'ट्रेड यूनियन एक्ट' स्वीकृत किया गया, जिसके अनुसार मजदूरों को यह अधिकार दिया गया, कि वे अपने संघ बना सकें और सामूहिक रूप से अपने हितों की रक्षा करने का प्रयत्न कर सकें। चीन की सरकार चाहती थी, कि मजदूरों के हित के लिये अन्य कानूनों का भी निर्माण करे। पर उसके सम्मुख सबसे बड़ी कठिनता यह थी, कि बहुत से कारखाने ऐसे प्रदेशों में स्थित थे, जो विदेशी राज्यों के प्रभावक्षेत्रों के अन्तर्गत थे। चीनी सरकार के कानून इनमें लागू नहीं होते थे। यदि चीनी सरकार के आधिपत्य में विद्यमान प्रदेशों में स्थित कारखानों के लिये कानून बनाये जाते, उनमें काम करनेवाले मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी व अधिकतम कार्यकाल को निश्चित करने का प्रयत्न किया जाता, तो स्वाभाविक रूप से इन में जो माल तैयार होता, उसकी लागत उन कारखानों के माल के मुकाबले में अधिक पड़ती, जो विदेशी प्रभाव-क्षेत्रों में विद्यमान थे। इससे चीनी लोगों के अपने कारखानों के लिये विदेशी कारखानों का मुकाबला कर सकना सम्भव न रहता। अतः चीन की सरकार के सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण यही था, कि पहले विदेशी लोगों के प्रभाव व प्रभुत्व का चीन से अन्त किया जाय। तभी वह मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये आवश्यक कानूनों के निर्माण पर भी ध्यान दे सकती थी।

**मुद्रापद्धति**—पदार्थों के विनिमय और व्यापार के लिये चीन में जो मुद्राएं

प्रचलित थीं. वे दो प्रकार की थीं, तायल और तांबे के सिक्के। तायल ०॥ तोला चांदी के बराबर होता था और नगरों में वस्तुओं के विनिमय और व्यापार के लिये इसी का उपयोग होता था। देहातों में प्राय: तांबे के सिक्के चलते थे और थोड़ी कीमत की आदायगी के लिये शहरों में भी ये प्रयुक्त होते थे। विदेशी राज्यों के सम्पर्क के कारण चीन में अनेक विदेशी सिक्कों का भी चलन शुरू हुआ, जिनमें अमेरिका का डालर सर्वप्रधान था। १८९४ में चीनी सरकार की ओर से एक नये सिक्के को जारी किया गया, जिसे युआन कहते थे। यह अमेरिकन डालर से मिलता जुलता था। जब चीन में बैंक खुलने शुरू हुए, तो पत्र मुद्राओं का भी चलन शुरू हुआ। ये पत्र मुद्राएं न केवल बैंकों द्वारा जारी की जाती थीं, अपितु अनेक प्रान्तीय सरकारें भी इन्हें जारी करती थीं। इसका परिणाम यह था, कि चीन की राजनीति के समान उसकी मुद्रापद्धति भी सर्वथा अव्यवस्थित थी। सर्व साधारण लोगों के लिये यह समझ सकना सुगम नहीं था, कि वे किन मुद्राओं पर भरोसा कर सकते हैं। पत्र मुद्राओं में वृद्धि के कारण चीन में कीमतें भी निरन्तर बढ़ रही थीं। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद जब संसार के सभी देशों में कीमतें बढ़ने लगीं, तो उसका असर चीन पर भी पड़ा। किसी सुव्यवस्थित मुद्रा-पद्धति के अभाव में वहां की दशा और भी अधिक शोचनीय हो गई। इस दशा में कुओमिन्तांग सरकार के सम्मुख यह भी एक प्रधान समस्या थी, कि वह मुद्रा-पद्धति को व्यवस्थित कर किस प्रकार देश की आर्थिक दशा का सुधार करे। जापान की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों और आन्तरिक विरोधी शक्तियों के साथ निरन्तर संघर्ष करते रहने के कारण कुओमिन्तांग सरकार को इस विषय में सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। अगले एक अध्याय में हम इस बात पर विशद रूप से प्रकाश डालेंगे, कि किस प्रकार चीन में मुद्रापद्धति में निरन्तर ह्रास होता गया और एक समय ऐसा आ गया, जब कि चीन की पत्रमुद्रा की कीमत न के बराबर रह गई।

## (२) विद्या का पुन: जागरण

पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क में आने के कारण चीन में विद्या और ज्ञान का पुन: जागरण प्रारम्भ हुआ। क्रिश्चियन मिशनरियों द्वारा स्थापित शिक्षणालयों में चीनी विद्यार्थी जहां ईसाई धर्म की शिक्षा प्राप्त करते थे, वहां साथ ही नये ज्ञान विज्ञान से परिचित होने का भी उन्हें अवसर मिलता था। विदेशों से शिक्षा पाकर जो नवयुवक चीन लौटते थे, वे अपने देश में नवयुग की स्थापना के लिये तीव्र अभिलाषा साथ लेकर वापस आते थे। १९०५ में जब प्राचीन परीक्षा-

पद्धति का अन्त किया गया, तो शिक्षा की पद्धति में सुधार कर सकना बहुत सुगम हो गया। इस परीक्षा पद्धति के कारण चीन के विद्यार्थी प्राचीन ग्रन्थों और धर्म-शास्त्रों के अध्ययन को बहुत अधिक महत्त्व देते थे, क्योंकि इनमें निष्णात होने पर ही उनके लिये सरकार में उच्च पदों को प्राप्त कर सकना सम्भव होता था। परीक्षा पद्धति का अन्त हो जाने पर चीन के नवयुवक नवीन ज्ञान-विज्ञान पर ध्यान देने लगे और प्राचीन ग्रन्थों की अपेक्षा आधुनिक विज्ञान का महत्त्व अधिक बढ़ गया। १९१२ में जब राज्यक्रान्ति द्वारा मञ्चु शासन का अन्त हुआ, तब नये ज्ञान विज्ञान के प्रति अभिरुचि में और भी अधिक वृद्धि हुई, और चीन में नये जागरण का प्रारम्भ हुआ।

**शिक्षा का प्रसार**—उन्नीसवीं सदी में आधुनिक शिक्षा देने के लिये जो भी संस्थायें चीन में विद्यमान थी, वे ईसाई मिशनरियों द्वारा स्थापित की गई थीं। चीनी लोग शिक्षा को बहुत महत्त्व देते थे। चीन के समाज में पण्डित वर्ग का जो असाधारण रूप से सम्मान था, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अतः ईसाई मिशनरियों ने यह प्रयत्न किया, कि जो चीनी नागरिक ईसाई धर्म को स्वीकार कर प्रचारक का कार्य प्रारम्भ करें, वे भी सुशिक्षित और विद्वान् हों। मिशनरी लोगों द्वारा स्थापित स्कूलों में जहां ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती थी, वहां साथ ही अंग्रेजी, फ्रेंच आदि पाश्चात्य भाषाओं और उनके साहित्य को भी पढ़ाया जाता था। ईसाई धर्म के प्रचार के लिये मिशनरी लोगों ने बहुत से चिकित्सालयों की भी स्थापना की थी। अतः ईसाई स्कूलों में चिकित्साशास्त्र की पढ़ाई पर भी ध्यान दिया जाता था, ताकि चीनी डाक्टर व नर्स चिकित्सालयों में कार्य करके ईसाई धर्म के प्रचार में सहायक हो सकें। क्रिश्चियन प्रचारक यह भी भलीभांति अनुभव करते थे, कि चीनी भाषा, साहित्य व धर्मग्रन्थों का अध्ययन भी उनके धर्म प्रचार कार्य के लिये उपयोगी है। अतः उन्होंने चीनी भाषा के शब्दकोष तैयार करने और अनेक चीनी ग्रन्थों के अनुवाद कार्य पर भी ध्यान दिया। इन अनुवादों के कारण पाश्चात्य देशों की यूनिवर्सिटियों में विद्वानों का ध्यान चीनी भाषा और साहित्य के प्रति आकृष्ट हुआ। पाश्चात्य देशों के मिशनरियों ने बाइबल का अनुवाद चीनी भाषा में किया और धर्म प्रचार के उद्देश्य से बहुत सी छोटी बड़ी पुस्तकें भी चीनी भाषा में प्रकाशित कीं। ईसाई मिशनरियों द्वारा जो स्कूल व कालिज चीन में स्थापित किये गये थे, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं, कि क्रिश्चियन स्कूलों द्वारा ही पहले पहल चीनी लोग पाश्चात्य साहित्य और ज्ञान विज्ञान के सम्पर्क में आये।

पर चीन की सरकार भी नई शिक्षा का देश में प्रचार करने के लिये तत्पर

थी। १८६५ में तुंगवन कालिज की स्थापना हुई थी और यह कालिज क्रिश्चियन मिशनों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखता था। चीन में यह आधुनिक ढंग का पहला कालिज था। १८९५ में ली हुंग चांग द्वारा तीन्त्सिन में एक यूनिवर्सिटी की स्थापना की गई थी, इसे पेइयांग यूनिवर्सिटी कहते थे। इसके बाद १९०० में चिआओ-तुंग-पूनत्यांग और पेकिंग विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इन यूनिवर्सिटियों में चीन के प्राचीन साहित्य के अतिरिक्त आधुनिक ज्ञान विज्ञान की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। साथ ही सैनिक शिक्षा के लिये भी अनेक शिक्षणालय इस काल में सरकार द्वारा स्थापित किये गये थे। उच्च शिक्षणालयों के अतिरिक्त स्कूली शिक्षा की ओर भी सरकार का ध्यान गया था और इसी का यह परिणाम था, कि उन्नीसवीं सदी की समाप्ति से पूर्व ही चीन में विविध प्रकार के बहुत से शिक्षणालय खुलने प्रारम्भ हो गये थे। पर क्योंकि अभी प्राचीन शिक्षा-पद्धति चीन में विद्यमान थी, अतः इन शिक्षणालयों में प्राचीन साहित्य के अध्ययन को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। सरकारी पदों की प्राप्ति के लिये जिन परीक्षाओं को उत्तीर्ण करना आवश्यक था, उनमें कन्फ्यूसियस आदि प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों का स्थान बहुत महत्त्व का था, अतः चीन के सब शिक्षणालयों में उनके अध्ययन अध्यापन पर बहुत जोर दिया जाता था। १९०५ में परीक्षा-पद्धति का अन्त किया गया और इससे चीन के शिक्षणालयों की पाठविधि व पाठ्य विषयों में बहुत अन्तर आया। १९०५ के बाद चीन के शिक्षणालयों में प्राचीन साहित्य की अपेक्षा नये ज्ञान विज्ञान को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। बहुत से नये स्कूल खोले गये। अनेक पुराने मन्दिरों और मठों को स्कूलों के रूप में परिवर्तित किया गया। राज्यक्रान्ति के बाद जब १९१२ में चीन में रिपब्लिक की स्थापना हुई, तब शिक्षा प्रसार पर और अधिक ध्यान दिया गया। चीन के नेता यह बात भलीभांति अनुभव करते थे, कि लोकतन्त्र शासन तभी सफल हो सकता है, जब कि सर्व साधारण जनता शिक्षित हो और वह आधुनिक युग की प्रवृत्तियों से परिचय रखती हो। शिक्षा प्रसार के कार्य पर सरकार का इतना अधिक ध्यान था, कि १९३१ में चीन में विविध प्रकार के छोटे बड़े शिक्षणालयों की संख्या १,३१,०००तक पहुंच गई थी। इनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी इस समय में ४३ लाख के लगभग थी। सरकारी नियंत्रण के बाहर निजू रूप से जो शिक्षणालय धार्मिक सम्प्रदायों व पुराने ढंग के पण्डित वर्ग द्वारा संचालित थे, वे इनसे अलग थे। सरकार शिक्षा के प्रसार के लिये इतनी तेजी के साथ स्कूलों व कालिजों की स्थापना में तत्पर थी, कि उनके लिये उपयुक्त अध्यापकों का मिल सकना सुगम नहीं था। विशेषतया नये ज्ञान विज्ञान

को पढ़ाने के लिये अध्यापकों का मिल सकना तो बहुत ही कठिन था। इसी कारण बहुत से चीनी युवक इस समय विदेशों में विद्या के अध्ययन के लिये गये। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जापान आदि कोई भी ऐसा उन्नत देश नहीं था, जिसमें इस समय चीनी नवयुवक हजारों की संख्या में उच्च शिक्षा के लिये न गये हों। जो लोग अधिक सम्पन्न थे, वे यूरोप और अमेरिका जाते थे और जिनके पास धन की कमी होती थी, वे जापान जाकर ज्ञान की पिपासा को शान्त करते थे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद ये विद्यार्थी जब विदेशों से चीन लौटते थे, तो वहां के शिक्षणालयों में कार्य करके न केवल शिक्षा के प्रसार में सहायक होते थे, अपितु साथ ही नये विचारों का भी अपने देश में प्रचार करते थे। इन विद्यार्थियों द्वारा पाश्चात्य सभ्यता के चीन में प्रवृष्ट होने में बहुत अधिक सहायता मिली। इसमें सन्देह नहीं, कि विदेशों में शिक्षा पाये हुए इन चीनी नवयुवकों को अपने देश के प्राचीन साहित्य की अपेक्षा पाश्चात्य साहित्य का अधिक परिचय होता था। पर विदेशों में निवास करने और नवीन विचार धाराओं के सम्पर्क में आने के कारण इनमें राष्ट्रीयता का भावना बड़े उग्र रूप में विकसित हो जाती थी। विदेशी रहन सहन को अपना लेने पर भी इनमें स्वदेश के प्रति भक्ति की भावना कम नहीं हो पाती थी। यही कारण है, कि चीन की राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिये ये विद्यार्थी बहुत सहायक सिद्ध हुए।

१९१४–१८ के महायुद्ध के समय श्री० येन द्वारा सर्वसाधारण जनता में शिक्षा का प्रसार करने के लिये एक नये आन्दोलन का प्रारम्भ किया गया। श्री० येन धर्म से ईसाई थे और चीन की ईसाई संस्था वाई० एम० सी० ए० (यंग मेन्स क्रिश्चियन एसोसिएशन) के प्रमुख कार्यकर्ता थे। महायुद्ध के अवसर पर जो हजारों चीनी मजदूर फ्रांस आदि यूरोपियन देशों में मजदूरी के लिये गये थे, श्री येन ने उन्हें साक्षर बनाने के कार्य में विशेष तत्परता प्रदर्शित की। चीनी कुलियों व मजदूरों को शिक्षित करने में श्री० येन को जो सफलता हुई, उससे उत्साहित होकर उन्होंने महायुद्ध की समाप्ति पर चीन में कार्य करना शुरू किया। देहातों के किसानों और शहरों के मजदूरों में शिक्षा का प्रसार करने के लिये श्री० येन ने बड़ा भारी आयोजन किया। अब इस आन्दोलन का सम्बन्ध केवल वाई० एम० सी० ए० के साथ ही नहीं रह गया, यह चीन की सर्वसाधारण जनता का आन्दोलन बन गया और इसके कारण चीनी जनता को साक्षर बनने में बहुत अधिक सहायता मिली।

**विद्यार्थी आन्दोलन**–शिक्षा के प्रसार के कारण चीन में विद्यार्थियों की एक ऐसी श्रेणी का विकास प्रारम्भ हो गया था, जो राष्ट्रीयता, देशप्रेम और नव-

जीवन से ओतप्रोत थी। देश की उन्नति और विदेशियों के प्रभुत्व को नष्ट करने की भावना इस श्रेणि में अत्यन्त उग्र रूप से विद्यमान थी। यही कारण है, कि चीन के राजनीतिक आन्दोलनों में विद्यार्थियों का बड़ा हाथ होता था। १९१४-१८ के महायुद्ध की समाप्ति के अनन्तर पेरिस की सन्धि परिषद ने शांतुग पर जापान के प्रभुत्व को जारी रखने का जो फैसला किया था, उसका समाचार जब पेकिंग पहुंचा, तो वहां के विद्यार्थियों में बेचैनी फैल गई। जलूस बनाकर वे पेकिंग के उस प्रदेश में जा पहुंचे, जहां विदेशी राज्यों के दूतावास थे। विदेशों की सेनाओं ने उन्हें दूतावासों के क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं होने दिया। इसपर उन्होंने पेकिंग सरकार के अर्थमन्त्री श्री त्साओ जू लिन के निवास स्थान को घेर लिया। उनका ख्याल था, कि त्साओ जू लिन जापान के साथ सहानुभूति रखता है। त्साओ जू लिन को अपनी जान बचाने के लिये जापानी दूतावास की शरण लेनी पड़ी। अब विद्यार्थियों ने चीन के मन्त्रिमण्डल पर इस बात के लिये जोर दिया, कि वह पेरिस स्थित अपने प्रतिनिधि को यह आदेश दे, कि वह वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर न करे। पेकिंग सरकार ने विद्यार्थियों के इस आन्दोलन को कुचलने के लिये भरसक कोशिश की। पेकिंग व अन्य नगरों में हजारों विद्यार्थी गिरफ्तार किये गये, चीन की जेलें विद्यार्थियों से भर गईं। पर दमन नीति द्वारा विद्यार्थी आन्दोलन दबा नहीं। ज्यों ज्यों गिरफ्तारियां होती थीं, विद्यार्थी और अधिक संख्या में संघर्ष के मैदान में आते जाते थे। उन्होंने मजदूरों के संघों को अपने साथ आन्दोलन में शामिल कर लिया। चीन में सर्वत्र इस समय हड़तालों का आयोजन किया गया। बहुत से कारखाने मजदूरों की हड़तालों के कारण बन्द हो गये। विद्यार्थियों ने जापानी माल के बहिष्कार के लिये भी आन्दोलन शुरू किया। व्यापारियों को इस बात के लिये विवश किया गया, कि वे जापानी माल को न बेचें। विद्यार्थियों के इस आन्दोलन ने इतना उग्र रूप धारण किया, कि अन्त में विवश होकर चीन की सरकार ने यह फैसला किया, कि वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर न किये जावें और गिरफ्तार किये गये विद्यार्थियों व मजदूरों को जेल से मुक्त कर दिया जाय।

चीन के आधुनिक इतिहास में विद्यार्थियों का यह आन्दोलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस समय चीन के नवयुवक विद्यार्थी देश में जागृति उत्पन्न करने में तत्पर थे। विदेशियों ने चीन में जो अनेक प्रकार से अपना प्रभुत्व कायम किया हुआ था, उसके विरुद्ध विद्यार्थी लोग जलूस निकालते थे, सभायें करते थे, विदेशी माल को बहिष्कृत करने के लिये जनता को उकसाते थे और सब प्रकार के उपायों का अनुसरण कर जनता में विदेशियों के विरुद्ध भावना को उत्पन्न करते

थे। रूस के कम्युनिस्टों की चीन के विद्यार्थी आन्दोलन के साथ सहानुभूति थी। यही कारण है, कि ब्रिटेन, अमेरिका, जापान आदि की सरकारें चीन के विद्यार्थी आन्दोलन को कम्युनिस्ट लोगों द्वारा प्रारम्भ किया हुआ बताकर उसे बदनाम करने की कोशिश करती थीं और पेकिंग सरकार को प्रेरित करती थीं, कि उग्र उपायों का अवलम्बन कर उसे कुचल दें। कुओमिन्तांग दल के उत्कर्ष में विद्यार्थियों का बड़ा कर्तृत्व था। उन्हीं के सहयोग के कारण डा० सन यात सेन और उसके अनुयायी अपनी शक्ति का विस्तार करने में सफल हुए थे। १९२५ में शंघाई में विद्यार्थियों ने मजदूरों को हड़ताल करने के लिये प्रेरित किया। शंघाई की अनेक मिलें जापानी लोगों द्वारा स्थापित थी। विद्यार्थियों के प्रयत्न से इन जापानी मिलों में हड़ताल हो गई और विद्यार्थियों ने एक बहुत बड़ा जलूस मजदूरों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिये निकाला। शंघाई की विदेशी पुलिस ने इस जलूस पर गोली चलाई और अनेक विद्यार्थी गोली के शिकार बने। इस हत्याकांड के खिलाफ एक और भी अधिक बड़े जलूस का आयोजन किया गया। विदेशी पुलिस ने इस जलूस पर भी गोली चलाई और बहुत से विद्यार्थी इस बार पुलिस की गोलियों द्वारा मारे गये। शंघाई की इस विदेशी पुलिस में अंग्रेज लोगों की संख्या सबसे अधिक थी। उनका अफसर भी अंग्रेज था। परिणाम यह हुआ, कि चीन में अंग्रेजों के खिलाफ भावना बहुत प्रबल हो गई। एक बार फिर विदेशी माल के बहिष्कार का आन्दोलन शुरू हुआ। इस समय चीन की जनता में ब्रिटिश लोगों के खिलाफ बहुत तीव्र आन्दोलन चल रहा था। १९२६ में कुछ चीनी सिपाहियों ने एक ब्रिटिश जहाज पर गोली चला दी। इसका प्रतिशोध करने के लिये अंग्रेजों ने एक चीनी नगर पर गोलाबारी की और वहां के निरपराध निवासियों के साथ भयंकर रूप से बदला लिया। विद्यार्थी इससे और अधिक भड़क गये और उन्होंने विदेशियों, विशेषतया अंग्रेजों के खिलाफ अपने आन्दोलन को जारी रखा। इसी समय विद्यार्थी आन्दोलन की सहायता से कुओमिन्तांग दल ने पेकिंग की निर्बल सरकार का अन्त कर नानकिंग में अपनी सरकार की स्थापना की। चीन में जो अब राष्ट्रीय चेतना विकसित हो गई थी, उसमें विद्यार्थियों का कर्तृत्व बहुत महत्त्वपूर्ण था।

**समाचार पत्र और नया साहित्य**—जिस प्रकार शिक्षा के प्रसार और विद्यार्थी आन्दोलन द्वारा चीन में पुनः जागरण हो रहा था, वैसे ही समाचार-पत्र और नया साहित्य भी इस नवजीवन में बहुत सहायता पहुंचा रहे थे। शुरू में जो समाचार पत्र चीन में प्रकाशित हुए, वे विदेशी भाषाओं के थे। समुद्रतट पर स्थित बन्दरगाहों में व्यापार आदि के लिये बहुत से विदेशी लोग आबाद थे। इन पत्रों का

प्रचार इन विदेशियों में था और इनमें प्रायः इसी प्रकार के समाचार व लेख प्रकाशित होते थे, जिनमें विदेशी लोगों को दिलचस्पी होती थी। चीनी भाषा में पहला समाचार पत्र १८७० में प्रकाशित होना शुरू हुआ। चीन-जापान युद्ध (१८९४–९५) के समय से अन्य अनेक पत्र चीनी भाषा में निकलने लगे। इस समय चीन में जागृति का प्रारम्भ हो गया था, जनता राजनीतिक मामलों में दिलचस्पी लेने लगी थी और वह चीन जापान युद्ध, बोक्सर विद्रोह, सुधारवादियों व क्रान्तिकारियों के आन्दोलन, मञ्चू शासन के विरुद्ध विद्रोह आदि के समाचारों को बड़े उत्साह व दिलचस्पी के साथ पढ़ा करती थी। १९११ की राज्य-क्रान्ति के बाद समाचार पत्रों की संख्या में और अधिक वृद्धि हुई। १९२६ तक चीन में यह दशा आ गई थी, कि प्रायः सभी बड़े नगरों से कोई न कोई पत्र अवश्य प्रकाशित होने लगा था। आवागमन के साधनों की उन्नति और टैलीग्राफ व टैलीफोन के प्रारम्भ के कारण इन समाचार पत्रों का प्रचार बहुत बढ़ गया था और अनेक पत्र न केवल चीन की आन्तरिक राजनीति अपितु विदेशी राजनीति पर भी समाचार व लेख प्रकाशित करने लग गये थे। दैनिक व साप्ताहिक पत्रों के साथ साथ मासिक व त्रैमासिक पत्रिकाओं का भी प्रकाशन शुरू हो गया था, और कतिपय पत्रिकायें वैज्ञानिक विषयों पर भी निकलने लगी थीं। इस बात का अनुमान सहज में किया जा सकता है, कि चीनी भाषा में प्रकाशित ये पत्र पत्रिकायें देश में नवजीवन का संचार करने और जागृति को उत्पन्न करने में कितनी अधिक सहायक थीं।

चीन में पहले जो कुछ भी साहित्य तैयार होता था, वह वहां की प्राचीन भाषा में होता था। पण्डित वर्ग प्राचीन भाषा में लिखने पढ़ने में ही गौरव अनुभव करता था। जिस प्रकार भारत की पण्डित मण्डली संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन करती थी, संस्कृत में ही पुस्तकें लिखती थी और हिन्दी आदि लौकिक व प्राकृतिक भाषाओं में पुस्तकें लिखना हीन बात समझती थी, वैसी ही दशा चीन में भी थी। १९१७ में डा० हू सुह ने घोषणा की, कि भविष्य में वे अपनी पुस्तकें उस भाषा में लिखेंगे, जिसे सर्वसाधारण जनता प्रयुक्त करती है। डा० हू सुह की शिक्षा अमेरिका में हुई थी और वे पेकिंग यूनिवर्सिटी में अध्यापक थे। जब तक चीन में पुरानी परीक्षा पद्धति विद्यमान थी, यह सम्भव नहीं था, कि इस प्राचीन भाषा की उपेक्षा की जा सकती। पर अब परीक्षा पद्धति का अन्त हुए बारह साल व्यतीत हो चुके थे। अब डा० हू सुह जैसे विद्वानों के लिये यह सम्भव था, कि वे जन साधारण की भाषा में साहित्य का निर्माण करने में प्रवृत्त हों। १९२० में सरकार की ओर से आज्ञा प्रकाशित की गई, कि स्कूलों की प्रारम्भिक कक्षाओं में प्राचीन भाषा को

न पढ़ा कर केवल प्रचलित चीनी भाषा की पढ़ाई हो। इस प्रकार चीन में एक ऐसे नवीन साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जिसे सर्व साधारण जनता भली-भांति समझ सकती थी और जिसे पढ़ कर उसके लिये नये ज्ञान विज्ञान से परिचित हो सकना अधिक सुगम था। इस नये साहित्य पर प्राचीन ग्रन्थों व शास्त्रों की अपेक्षा पाश्चात्य विचारधाराओं का प्रभाव अधिक था और इसके विकास से चीन के पुनः जागरण में बहुत अधिक सहायता मिली।

पत्र पत्रिकाओं और नवीन साहित्य द्वारा चीन के नवयुवकों में यह प्रवृत्ति बढ़ रही थी, कि वे प्रमाणवाद का परित्याग कर बुद्धि और तर्क द्वारा सत्य और असत्य का निर्णय करने के लिये प्रवृत्त हों। चीनी लोग जहां प्राचीन समय के परम्परागत बन्धनों को तोड़ कर स्वतन्त्र होने के लिये उत्सुक थे, वहां साथ ही वे पाश्चात्य लोगों के विचारों व विश्वासों को भी आंख मीच कर स्वीकार कर लेने के लिये उद्यत नहीं थे। पाश्चात्य सभ्यता को उत्कृष्ट मान लेने की प्रवृत्ति उनमें नहीं थी। १९१४–१८ के महायुद्ध के अवसर पर ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों की ओर से चीन में जर्मनी और आस्ट्रिया के विरुद्ध बहुत प्रचार किया गया। जर्मन लोग मनुष्य के रूप में राक्षस हैं और उनकी सभ्यता व संस्कृति जंगली व बर्बर लोगों से किसी भी प्रकार उत्कृष्ट नहीं है, यह विचार मित्रराष्ट्रों की ओर से डंके की चोट के साथ प्रचारित किया गया। पर चीनी लोगों की दृष्टि में जैसे जर्मन थे, वैसे ही ब्रिटिश व फ्रेंच थे। विविध पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद के कारण चीनी लोगों ने एक समान कष्ट उठाया था। अतः मित्रराष्ट्रों के जर्मन विरोधी प्रचार के कारण चीनी लोगों ने यह विचारना शुरू किया, कि पाश्चात्य देशों द्वारा जो नये आदर्श व विचार उनके सम्मुख पेश किये जा रहे हैं, क्या वस्तुतः वे सत्य हैं। चीन में इस समय जो पुनः जागरण हो रहा था, वह उनमें स्वतन्त्रता की भावना को उत्पन्न कर रहा था। उसके कारण जहां चीन की पुरानी जंजीरें टूट रही थीं, वहां साथ ही चीनी जनता अपने को पाश्चात्य लोगों का अन्धानुयायी बना लेने के लिये भी तैयार नहीं थी।

## (३) सामाजिक जीवन

पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क और व्यावसायिक उन्नति के कारण चीन में जिस नवयुग का प्रारम्भ हो रहा था, उस का प्रभाव सामाजिक जीवन पर पड़ना भी आवश्यक था। चीनकी जनता पहले ग्रामों में [illegible] व नगरों में रहती थी, एक परिवार व कुल के लोग एक स्थान पर निवास करते थे। पितरों की पूजा चीनी धर्म व सामाजिक संगठन का महत्वपूर्ण अंग थी। प्रत्येक व्यक्ति का यह पुनीत

कर्तव्य समझा जाता था, कि वह अपने पितरों की पूजा करे और उनकी समाधियों के प्रति अपने सम्मान को प्रदर्शित करे। पर बीसवीं सदी के प्रारम्भ होने से पूर्व ही चीन में ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होने लग गई थीं, जिनके कारण एक कुल व परिवार के सब लोगों के लिये एक स्थान पर निवास करते रहना सम्भव नहीं रहा था। रेलों और सड़कों के निर्माण के कारण यात्रा करना बहुत सुगम हो गया था, और आजीविका की खोज में बहुत से चीनी लोग अपने कुल क्रमानुगत घरों को छोड़कर सुदूरवर्ती प्रदेशों में व्यापार, मजदूरी व नौकरी के लिये जाने लग गये थे। अपने पितरों की समाधियों के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित करने के लिये अपने घर जाते रहना इनके लिये सुगम नहीं था। कल कारखानों के विकास के कारण लाखों की संख्या में देहाती किसान मजदूर बन कर शंघाई जैसे विशाल नगरों में एकत्र हो गये थे। ये लोग छोटी छोटी कोठरियों में निवास करते थे। इनकी आमदनी इतनी कम थी, कि ये अपने कुल के लोगों के साथ घनिष्ट सम्पर्क नहीं रख सकते थे। परिणाम यह हुआ, कि कुल के प्रति निष्ठा की भावना जनता में मन्द पड़ने लगी और जिस प्रकार पहले एक परिवार के सब व्यक्ति अपने कुलवृद्ध के शासन में रहते थे, वह बात अब सम्भव नहीं रही। कुल व बिरादरी के शासन से मुक्त हो कर चीन के लोग अपने छोटे छोटे परिवारों का निर्माण करने में प्रवृत्त हुए और शहरों व परदेश में निवास करने वाले पति-पत्नी परम्परागत कुल मर्यादा की उपेक्षा कर स्वच्छन्दता के साथ जीवन बिताने लगे। कुल मर्यादा का स्थान वैयक्तिक स्वतन्त्रता ने ले लिया। ईसाई मिशनरियों के प्रचार और पश्चिमी देशों के सम्पर्क द्वारा इस प्रवृत्ति में सहायता मिली। अब चीन के सर्वसाधारण लोगों में यह प्रवृत्ति प्रबल होने लगी, कि वे सब पुरानी बातों पर बुद्धिपूर्वक विचार करें। यदि उन्हें वे बातें युक्तियुक्त प्रतीत हों, तो उन्हें मानें, अन्यथा उनका परित्याग कर दें। बिरादरी के प्रभाव में रहने के कारण लोग जो पहले पुरानी परिपाटी को कायम रखने के लिये विवश होते थे, अब उसकी कोई आवश्यकता नहीं रह गई।

चीन में शिक्षा प्रसार के साथ-साथ स्त्री शिक्षा का प्रचार भी बढ़ रहा था। उन्नीसवीं सदी तक चीन में स्त्री शिक्षा नाम मात्र को थी। क्योंकि स्त्रियों को विविध राजकीय पदों पर नियुक्त नहीं किया जाता था, अतः उन्हें शिक्षित करने की भी कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। जब पाश्चात्य मिशनरियों ने चीन में अपने स्कूल स्थापित किये, तो उन्होंने नर्स आदि के कार्य के लिये चीनी स्त्रियों को तैयार करने के लिये उन्हें भी शिक्षा देना शुरू किया। १९११ में जब चीन में राज्यक्रान्ति हुई, तो उसका असर स्त्री शिक्षा पर भी पड़ा। सरकार

की ओर से अनेक कन्या पाठशालायें स्थापित हुई, और बहुत सी चीनी लड़कियां इन पाठशालाओं व कालिजों में शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त हुई। जिस प्रकार नवयुवक चीनी विद्यार्थी बहुत बड़ी संख्या में विदेशों में उच्च शिक्षा के लिये गये, वैसे ही चीनी नवयुवतियों ने भी अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जापान आदि में जाना शुरू किया। स्त्रियों के उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने का यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि वे अब केवल वैवाहिक जीवन व्यतीत करना ही अपना एकमात्र कार्य न समझें। उन्होंने चिकित्सा, अध्यापन आदि अनेक पेशों का भी अनुसरण शुरू किया और धीरे धीरे चीन में स्त्रियों का एक ऐसा वर्ग विकसित होना प्रारम्भ हुआ, जो अविवाहित रहकर चिकित्सक, पत्रकार, अध्यापिका आदि के रूप में आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र रह कर अपना जीवन व्यतीत करता था। जो शिक्षित स्त्रियां विवाह करती थीं, वे भी घर को ही अपना एकमात्र कार्यक्षेत्र नहीं समझती थी। वे देश के सामाजिक व राजनीतिक जीवन में भी हाथ बटाती थीं। जिस विद्यार्थी आन्दोलन का हमने इसी अध्याय में ऊपर उल्लेख किया है, उसमें लड़कियों ने भी सक्रिय रूप से भाग लिया था। इस समय चीन में अनेक ऐसे शिक्षणालय भी स्थापित हुए थे, जिनमें लड़कों और लड़कियों की सहशिक्षा की पद्धति को अपनाया गया था। इनमें शिक्षा प्राप्त की हुई स्त्रियां स्वभाविक रूप से अपने को पुरुषों के बराबर व समकक्ष समझती थीं और अपनी सामाजिक स्थिति को पुरुषों के मुकाबले में किसी भी प्रकार हीन समझने के लिये उद्यत नहीं थीं।

चीन में नवयुग के सूत्रपात का एक परिणाम यह हुआ, कि विवाह के मामले में नवयुवक और नवयुवतियां अधिक स्वतन्त्रता का आचरण करने लगे। पहले चीन में यह प्रथा थी, कि माता-पिता व कुल के बुजुर्ग लोग विवाह-सम्बन्ध का निश्चय किया करते थे। अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों से शिक्षा प्राप्त करके जो लोग इस समय चीन वापस आ रहे थे, वे अपने विवाह के विषय में बुजुर्गों की बात मानने को तैयार नहीं थे। वे चाहते थे, कि स्वयं अपनी सहधर्मिणी का चुनाव करें। धीरे-धीरे सब शिक्षित लोगों में यह प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इसका परिणाम यह हुआ, कि चीन के वैवाहिक और पारिवारिक जीवन में भारी परिवर्तन आना शुरू हुआ। पर यह नहीं समझना चाहिये, कि चीन की सर्वसाधारण जनता अपनी कुल मर्यादा का परित्याग कर इस समय नये विचारों के अनुसार वैवाहिक व पारिवारिक सम्बन्धों में स्वतन्त्र होने लग गई थी। यह जो परिवर्तन हो रहा था, वह प्रधानतया उच्च शिक्षित लोगों तक ही सीमित था, यद्यपि जनता भी उसके प्रभाव से सर्वथा वञ्चित नहीं थी।

मञ्चू शासन के अन्त हो जाने के बाद चीन के लोगों के रहन सहन में एक

महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ, कि पुरुषों ने चोटी रखना बन्द कर दिया। इस प्रथा का प्रारम्भ तब हुआ था, जब मञ्चू आक्रान्ताओं ने चीन को विजय करके अपने अधीन कर लिया था। मञ्चू सम्राट समझते थे, कि सिर पर लम्बी चोटी रखना इस बात का चिह्न है, कि चीनी लोग उनकी अधीनता को स्वीकार करते हैं। रिपब्लिक की स्थापना होने पर चीनी लोगों ने चोटी कटवा कर पाश्चात्य लोगों के समान छोटे बाल रखना शुरू किया। पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आने के कारण चीन के बहुत से शिक्षित लोगों ने यूरोपियन पोशाक को भी अपना लिया था, पर कुओमिन्तांग दल के शक्ति प्राप्त करने के बाद जनता मे यह भावना विकसित हुई, कि विदेशी पोशाक राष्ट्रीय दृष्टि से अनुचित है।

## (४) धार्मिक विचारों में परिवर्त्तन

पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आने के कारण चीनी जनता के धार्मिक विचारों में भी बहुत परिवर्तन आया। ईसाई धर्म के प्रायः सभी सम्प्रदाय चीन में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने में तत्पर थे। रूस का ओर्थोडैक्स चर्च ( जिसे पहले ग्रीक कैथोलिक चर्च भी कहते थे, और ग्रीस के तर्क साम्राज्य के अन्तर्गत हो जाने के बाद जिसका प्रधान केन्द्र रूस बन गया था ) मञ्चूरिया और चीन में अपना प्रचार कार्य कर रहा था। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट पादरी मध्य और दक्षिणी चीन में अपने मत के प्रचार में तत्पर थे। १९२९ में ३४०० विदेशी पादरी रोमन कैथोलिक चर्च के अधीन चीन में कार्य कर रहे थे। इसी समय में चीन में काम करनेवाले विदेशी प्रोटेस्टेन्ट पादरियों की संख्या ८००० से भी अधिक थी। इन प्रचारकों के प्रयत्नों का यह परिणाम था, कि १९२९ में २५ लाख के लगभग चीनी लोग रोमन कैथोलिक धर्म के और ५ लाख के लगभग चीनी लोग प्रोटेस्टेन्ट धर्म को स्वीकार कर चुके थे। संख्या की दृष्टि से ईसाई प्रचारकों को चीन में बहुत अधिक सफलता नहीं हुई थी, पर वहां के समाज पर ईसाईयों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जाता था। ईसाई पादरियों द्वारा स्थापित स्कूलों और चिकित्सालयों के सम्पर्क में लाखों चीनी नागरिक प्रति वर्ष आते थे और इस धर्म के सिद्धान्तों का उन पर प्रभाव पड़ना सर्वथा स्वाभाविक था। पादरियों द्वारा ही आधुनिक शिक्षा का पहले पहल चीन में प्रारम्भ हुआ था, और अनेक चीनी ईसाई राज्यक्रान्ति के प्रमुख नेता थे। डा० सन यात सेन धर्म से ईसाई थे। चियांग काई शेक ने भी ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया था। कुओमिन्तांग सरकार का सुयोग्य अर्थ मन्त्री श्री सुंग भी ईसाई था। उसकी दो बहनें श्रीमती सन यात सेन और श्रीमती चियांग काई शेक चीन के आधुनिक

इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। चीनी सरकार के अन्य भी अनेक उच्च राजकीय पदों पर इस प्रकार के चीनी नेता आरूढ़ थे, जिन्होंने पाश्चात्य देशों में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी और जो ईसाई धर्म में दीक्षित हो चुके थे। चीन की रिपब्लिक के प्रथम राष्ट्रपति श्री युआन शी काई भी धर्म से ईसाई थे। इन बातों से यह भलीभांति समझा जा सकता है, कि चीन में ईसाई लोगों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था और उनका वहां की जनता पर बहुत प्रभाव था। यदि विदेशी राज्यों का साम्राज्यवाद चीन की जनता में अत्यधिक असन्तोष और उद्वेग उत्पन्न न करता, तो वहां ईसाई धर्म का प्रचार और भी अधिक हो सकता। पर चीन की जनता में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि के साम्राज्यवादियों के प्रति जो विरोध व विद्वेष की भावना थी, उसके कारण लोग ईसाई धर्म को भी अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। कुओमिन्तांग दल के उत्कर्ष के साथ जब चीन में राष्ट्रीय प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ा, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि लोगों में ईसाई धर्म के मुकाबले में अपने प्राचीन धर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न हो। इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि धीरे धीरे चीन का ईसाई चर्च भी राष्ट्रीय होता जाता था। जो चीनी लोग ईसाई धर्म को स्वीकृत कर लेते थे, उनमें से भी बहुत से पादरी का पेशा ग्रहण करते थे। धीरे धीरे चीन के ईसाई चर्च के उच्च पदों पर भी चीनी पादरी नियत किये जाने लगे। पर १९३१ तक ईसाई चर्च का प्रबन्ध व संचालन मुख्यतया विदेशियों के ही हाथों में था, यद्यपि चीनी ईसाईयों का उस पर प्रभाव निरन्तर बढ़ता जाता था। १९३१ के बाद इस दिशा में और अधिक प्रगति हुई।

ईसाई धर्म के प्रचार के कारण बौद्ध धर्म में भी नवजीवन का संचार हुआ। जापानी लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। पाश्चात्य देशों के अनुसरण में जापानियों ने भी चीन में अपने स्कूल और चिकित्सालय स्थापित किये। ये स्कूल और चिकित्सालय जापान के बौद्ध मिशन द्वारा स्थापित किये गये थे। जापानी लोगों ने भी इस बात को अनुभव किया, कि धर्म प्रचार साम्राज्यवाद की सफलता का एक अत्यन्त उत्तम साधन है। पाश्चात्य देश जो चीन में अपने प्रभाव और प्रभुत्व के विस्तार में सफल हो रहे हैं, उसका एक बड़ा कारण ईसाई मिशन हैं। इसी बात को दृष्टि में रखकर जापानियों ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार पर विशेष ध्यान दिया। चीन के जो प्रदेश जापान के प्रभावक्षेत्र के अन्तर्गत थे, वहां बौद्ध चर्च के तत्त्वावधान में स्कूलों और चिकित्सालयों की स्थापना की गई। चीन के बौद्धों में भी इससे नये उत्साह का संचार हुआ। वहां भी अनेक ऐसे धार्मिक नेता उत्पन्न हुए, जिन्होंने ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रचार को रोकने के लिये बौद्ध धर्म का प्रचार

प्रारम्भ किया। इसी का यह परिणाम हुआ, कि चीन में एक नये धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसे पाश्चात्य इतिहास को दृष्टि में रखकर 'धार्मिक सुधारणा' के नाम से कहा जा सकता है।

जिस समय विविध धार्मिक नेता चीन में अपने-अपने धर्म के प्रचार में तत्पर थे, चीन की सुशिक्षित जनता में धर्म के प्रति सन्देह और अविश्वास की भावना में भी निरन्तर वृद्धि हो रही थी। आधुनिक ज्ञान विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने वाले चीनी नवयुवक धर्ममात्र को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। उन्हें जिस प्रकार चीन के प्राचीन धार्मिक विश्वास व विधि विधान अनावश्यक प्रतीत होते थे, वैसे ही ईसाई धर्म के मन्तव्यों में भी उन्हें कोई सार नजर नहीं आता था। इसका परिणाम यह हुआ, कि चीन में नास्तिकता की प्रवृत्तियां निरन्तर प्रबल होने लगीं, और बहुत से लोग धर्म से सर्वथा विमुख हो गये।

## (५) कला और आमोद-प्रमोद

कला की दृष्टि से चीनी लोग बहुत उन्नत थे। चित्रकला और स्थापत्य— दोनों में चीन की अपनी पृथक शैली थी, जिसमें बाह्य आकृति की अपेक्षा भावना को अधिक महत्त्व दिया जाता था। चीनी लोग समझते थे, कि चित्र एक काव्य के समान होते हैं, जिनमें भावों की अभिव्यक्ति के लिये शब्दों का प्रयोग न कर आकृति को प्रयोग में लाया जाता है। पाश्चात्य कला के सम्पर्क में आने से चीनी कलाकारों ने चित्र की आकृति की उत्कृष्टता को भी महत्त्व देना शुरू किया। पर पाश्चात्य सम्पर्क के बावजूद भी चीन की कला की मौलिकता कायम रही। यही कारण है, कि चीन के चित्रों और प्रतिमाओं को पाश्चात्य देशों में आदर की दृष्टि से देखा जाता था और वहां के कला प्रेमी लोग उनके संग्रह में विशेष उत्साह प्रदर्शित करते थे।

चीन में अमोद प्रमोद के प्रधान साधन नाटक होते थे, जिन्हें देखने के लिये चीनी लोग बड़े उत्साह के साथ एकत्र होते थे। पाश्चात्य देशों द्वारा वहां चल-चित्रों (सिनेमा) का प्रदर्शन प्रारम्भ हुआ। शुरू में सिनेमा घर उन बन्दरगाहों में खोले गये, जहां विदेशी लोग बड़ी संख्या में निवास करते थे। धीरे धीरे पेकिंग आदि अन्य नगरों में भी सिनेमा का प्रचार हुआ। शुरू में इन सिनेमा घरों में अमेरिका आदि में तैयार किये गये विदेशी भाषाओं के चित्र ही प्रदर्शित किये जाते थे। पर धीरे धीरे सिनेमा फिल्मों को तैयार करने के लिये चीनी कम्पनियां भी स्थापित हुईं और चीनी भाषा में भी चलचित्रों का निर्माण होने लगा। सिनेमा के प्रचार के कारण नाटकों की लोकप्रियता कम हो गई, पर इनसे यह लाभ

अवश्य हुआ कि जनता को कम मूल्य में मनोरंजन का एक अत्यन्त उत्कृष्ट साधन हाथ लग गया ।

पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क से चीन के शिक्षणालयों में विविध प्रकार की खेल कूद का भी प्रवेश हुआ । पुराने ढंग के चीनी पण्डित शिक्षा में खेलों को कोई महत्त्व नहीं देते थे । पर बीसवीं सदी में चीन में जो नये शिक्षणालय खुल रहे थे, उनमें कसरत, ड्रिल, जिमनास्टिक, टैनिस आदि को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता था ।

बारहवां अध्याय

# पूर्वी एशिया में जापान के साम्राज्य का विकास

## (१) जापान के उत्कर्ष का प्रारम्भ

उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में जापान का पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ था। उस समय जापानी लोगों ने अनुभव किया, कि वे उन्नति की दौड़ में यूरोप और अमेरिका के मुकाबले में बहुत पीछे रह गये हैं। इस अनुभूति के कारण जापान के लोग अपने देश का कायाकल्प करने के लिये किस प्रकार प्रवृत्त हुए, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद यह स्थिति आ गई थी, कि जापान संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली राज्यों में से एक गिना जाने लगा था और उसकी जल सेना संसार में तीसरा स्थान रखती थी। केवल ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका ही ऐसे देश थे, जो जलसेना की दृष्टि से उससे आगे थे। राष्ट्रसंघ की कौंसिल में जापान को स्थिर सदस्य के रूप में सम्मिलित किया गया था और विश्व की राजनीति में जापान को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जापान की स्थिति सबसे अधिक शक्तिशाली थी। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि जापान भी पाश्चात्य राज्यों के अनुसरण में साम्राज्य-विस्तार के लिये प्रयत्नशील हो। संसार के आधुनिक इतिहास में राजशक्ति की अतिशयता का यही परिणाम होता था, कि शक्तिशाली राज्य निर्बल देशों को अपने साम्राज्यवाद का शिकार बनाने का प्रयत्न करते थे। ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, इटली आदि सभी राज्य अपने अपने साम्राज्यों का विस्तार करने में तत्पर थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि व्यावसायिक उन्नति और सैनिक शक्ति में पाश्चात्य देशों का समकक्ष बनकर जापान भी साम्राज्य विस्तार के मार्ग पर अग्रसर हो। जापान के साम्राज्य के लिये सबसे उपयुक्त क्षेत्र चीन और प्रशान्त महासागर में स्थित विविध द्वीप थे। इन्हें अपनी अधीनता में लाने के लिये जो प्रयत्न जापान ने किये, उन्हीं पर हम इस अध्याय में प्रकाश डालेंगे। जापान का साम्राज्य प्रसार सम्बन्धी प्रयत्न १९३१ के बाद विशेष रूप से सफल होना शुरू हुआ। १९४२ तक वह पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया

में अपने विशाल साम्राज्य के निर्माण में सफल हो गया। पर १९३९-४५ के महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की विजय के कारण जापान को अपने विस्तृत साम्राज्य से हाथ धोना पड़ा। जापानी साम्राज्य के उत्थान और पतन का यह वृत्तान्त एशिया के आधुनिक इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। हम इस अध्याय में, १९३१ तक जापान ने जिस ढंग से अपने साम्राज्य का विस्तार किया. इस विषय पर प्रकाश डालेंगे।

**साम्राज्य विस्तार के हेतु**—पाश्चात्य देशों के समान जापान भी साम्राज्य प्रसार के कार्य में क्यों तत्पर हुआ, इसके कारणों पर विचार करने की आवश्यकता है। ये कारण निम्नलिखित थे—

(१) जापान की आबादी में बड़ी तेजी के साथ वृद्धि हो रही थी। १८७२ में जापान की कुल जनसंख्या ३,५०,००,००० थी। १८९४ में वह बढ़कर ४,१०,००,००० हो गई थी। १९३० में जापान की जनसंख्या ६,९०,००,००० तक पहुंच गई थी। १८७२ से १९३० तक आधी सदी के काल में जापान की आबादी में शत प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। जापान के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह इतनी तेजी से बढ़ती हुई आबादी का भलीभांति पालन पोषण कर सके। इसके लिये उसे भी उसी ढंग से उपनिवेशों की आवश्यकता अनुभव होती थी, जैसे कि इस काल में पाश्चात्य देश अनुभव करते थे। ब्रिटेन का कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड आदि पर आधिपत्य विद्यमान था। इन विशाल प्रदेशों की खाली पड़ी हुई जमीन पर ब्रिटिश लोग यथेष्ट रूप से अपनी बस्तियों का विकास कर सकते थे। भारत, बरमा, लंका आदि अधीनस्थ देशों में ब्रिटेन के सुशिक्षित लोगों के लिये उच्च राजकीय व सैनिक पद प्राप्त कर सकना बहुत सुगम था। संयुक्त राज्य अमेरिका का क्षेत्रफल भारत की अपेक्षा दुगुना था, पर उसकी जनसंख्या भारत के मुकाबले में एक तिहाई से भी कम थी। इस दशा में अमेरिकन लोगों के लिये यह अत्यन्त सुगम था, कि वे प्रशान्त महासागर की ओर पश्चिम दिशा में अपना विस्तार कर सकें। रूस उत्तरी एशिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर चुका था, साइबीरिया का सुविस्तृत प्रदेश उसकी बस्तियों के लिये खुला पड़ा था। फ्रांस उत्तरी अफ्रीका पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर चुका था, वहां उसके लिये अपना विस्तार कर सकना बहुत सुगम था। पाश्चात्य संसार के प्रायः सभी प्रगतिशील देश अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के हित और कल्याण के लिये उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त कर चुके थे। इस दशा में जापान भी अपनी जनसंख्या की वृद्धि से विवश होकर साम्राज्य-विस्तार के लिये उत्सुक था।

(२) शुरू में जापान के लोग संयुक्त राज्य अमेरिका में जाकर बस सकते

थे। १९१० में ७२,००० के लगभग जापानी नागरिक अमेरिका में आबाद हो चुके थे। १९२० में अमेरिका प्रवासी जापानियों की संख्या ७२,००० से बढ़कर १,१०,००० हो गई थी। पर अमेरिकन लोग एशिया के लोगों को अपने देश में नहीं बसने देना चाहते थे। वहां इस बात के लिये प्रबल आन्दोलन चल रहा था, कि एशियन लोगों के अमेरिका प्रवेश को कानून द्वारा रोका जाय। अमेरिका के श्वेतांग लोग एशिया के लोगों को अपने से हीन व निकृष्ट समझते थे। १९०६ में कैलिफोर्निया में एक कानून बनाया गया, जिसके अनुसार जापानी विद्यार्थियों को अमेरिकन स्कूलों में पढ़ने से रोक लिया गया। १९०७ में अमेरिकन सरकार ने यह व्यवस्था की, कि जापानी पुरुषों को अमेरिका में आने से रोका जाय। केवल उन विवाहित स्त्रियों को ही भविष्य में अमेरिका आने दिया जाय, जिनके पति पहले से वहां मौजूद हैं। १९१३ में कैलिफोर्निया की सरकार ने एक कानून बनाया, जिसके अनुसार तीन साल से अधिक काल के लिये किसी जमीन को जापानी लोग किराये व पट्टे पर न ले सकें, यह व्यवस्था की गई। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक कानून अमेरिका के विविध राज्यों व संघ सरकार द्वारा बनाये गये। इसका परिणाम यह हुआ, कि जापान की बढ़ती हुई आबादी के लिये अमेरिका में आकर बस सकना असम्भव हो गया। इस दशा में जापान के लिये यही मार्ग शेष रह गया, कि वह भी पाश्चात्य देशों का अनुसरण कर अपना ऐसा साम्राज्य बनावे, जहां उसकी बढ़ती हुई आबादी के लिये बस सकना व आजीविका कमाना सम्भव हो जाय।

(३) पाश्चात्य देशों के ज्ञान विज्ञान को अविकल रूप से अपना लेने के कारण जापान में व्यावसायिक उन्नति बड़ी तेजी के साथ हो रही थी। जापान की व्यावसायिक क्रान्ति पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। वहां के कल कारखाने बहुत बड़ी मात्रा में सब प्रकार का तैयार माल उत्पन्न कर रहे थे। पाश्चात्य देशों के समान जापान भी इस बात के लिये उत्सुक था, कि उसका अपना साम्राज्य हो, जहां वह अपने तैयार माल को निश्चिन्तता के साथ बेच सकने के लिये सुरक्षित बाजारों को प्राप्त कर सके और जहां से कच्चा माल सस्ती कीमत पर खरीद सकने की उसे पूर्ण रूप से सुविधा हो। साम्राज्य के अभाव में जापान के लिये यह सुगम नहीं था, कि वह अपने कल कारखानों में तैयार हुए माल को विदेशों में निश्चिन्त रूप से बेच सके। भारत, बरमा आदि के रूप में ब्रिटेन के व्यावसायिक पतियों के पास जिस ढंग के बाजार थे, जापान भी अपने लिये उसी प्रकार के बाजारों को प्राप्त करना चाहता था। जापान की व्यावसायिक पैदावार केवल अपने देश में नहीं खप सकती थी।

(४) जिस प्रकार जापान ने पाश्चात्य देशों से व्यावसायिक उत्पत्ति के तरीकों को सीखा था, वैसे ही उसने इन देशों से राष्ट्रीयता का भी पाठ पढ़ा था। जापान एक राष्ट्र है, और उसकी सभ्यता व संस्कृति अन्य सबकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है, यह विचार उसमें निरन्तर प्रबल होता जाता था। जिन लोगों की जाति, भाषा, धर्म व परम्परा एक हो, वे अपना पृथक व स्वतन्त्र राज्य बनाकर रहें, वस्तुतः राष्ट्रीयता की भावना का यही अभिप्राय है। पर कठिनता यह है, कि मनुष्यों की अन्य भावनाओं के समान राष्ट्रीय भावना भी मर्यादा में नहीं रहने पाती। राष्ट्रीय गौरव विविध देशों को इस बात के लिये प्रेरित करता है, कि वे अन्य देशों को अपने अधीन कर अपनी राष्ट्रीय उन्नति में तत्पर हों। ब्रिटिश, फ्रेञ्च, अमेरिकन—सभी पाश्चात्य लोगों में यह विकृत राष्ट्रीयता विद्यमान थी। जापानी लोग भी इससे अछूते नहीं रहे। अपनी जातीय उत्कृष्टता की अनुभूति जापानी लोगों में पहले भी मौजूद थी। वे अपने राजा को ईश्वर का वंशज मानते थे और यह समझते थे, कि जापान की संस्कृति संसार में सर्वोत्कृष्ट है। अब पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आकर उनमें यह भावना और भी अधिक प्रबल होगई।

(५) विविध पाश्चात्य देश चीन और प्रशान्त महासागर के द्वीपों में अपने प्रभुत्व की स्थापना में तत्पर थे। रूस, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी, अमेरिका, हालैण्ड आदि देश चीन में अपने प्रभावक्षेत्र कायम कर चुके थे। फ्रांस ने इण्डो-चायना में अपने उत्कर्ष का प्रारम्भ कर दिया था। रूस साइबीरिया को जीतकर उत्तरी चीन में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये तत्पर था। हवाई द्वीपों पर १८९८ में अमेरिका का शासन स्थापित हो गया था, यद्यपि उनकी आबादी में जापानियों की संख्या सबसे अधिक थी। फिलीप्पीन द्वीप समूह पहले स्पेन के प्रभुत्व में था, पर उन्नीसवीं सदी के अन्त से पूर्व ही वह अमेरिका के प्रभुत्व में आ गया था। जब विविध पाश्चात्य देश जापान के पड़ोस के प्रदेशों में अपने आधिपत्य की स्थापना में तत्पर थे, तो जापान के लिये यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि वह भी साम्राज्यवाद के क्षेत्र में उनका मुकाबला करने के लिये मैदान में उतर आये।

साम्राज्य विस्तार के लिये जो अनेक उद्योग जापान ने किये, उनमें से कतिपय का उल्लेख इस पुस्तक में पहले किया जा चुका है। जिन प्रदेशों में जापान अपना अधिपत्य स्थापित करने के लिये तत्पर था, वे निम्नलिखित हैं—(१) फार्मूसा, (२) कोरिया और (३) मञ्चूरिया। १९३१ तक जापान प्रधानतया इन्हीं को अपने प्रभुत्व में ला सका था। इनके सम्बन्ध में उल्लेख करना जापान के साम्राज्य विस्तार को समझने के लिये बहुत उपयोगी होगा।

## (२) फार्मूसा पर प्रभुत्व

**प्रारम्भिक विजय**–सामन्त पद्धति और शैगून शासन का अन्त होने के बाद जब जापान में सम्राट् की सत्ता का पुनरुद्धार हुआ, और जापान ने अपने साम्राज्य विस्तार का प्रारम्भ किया, तो सबसे पहले १८७५ में कुरील द्वीप समूह को वह अधीनता में लाया। ये द्वीप येजो से शुरू होकर उत्तर में कामचात्का तक विस्तृत हैं। इनकी प्राकृतिक दशा ऐसी नहीं है, कि इनमें मनुष्य अधिक संख्या में निवास कर सके। पर सैनिक दृष्टि से इनका बहुत महत्त्व है। इन पर जिस किसी राज्य का प्रभुत्व होगा, वह साइबीरिया के समुद्रतट पर सुगमता से अपना आधिपत्य स्थापित कर सकेगा। उत्तरी प्रशान्त महासागर पर अपना कब्जा रखने के लिये इन द्वीपों का बहुत उपयोग है। १८७८ में बोनिन द्वीप समूह पर जापान ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। आर्थिक व व्यापारिक दृष्टि से ये द्वीप भी विशेष महत्त्व के नहीं है, पर यदि इन पर जापान के अतिरिक्त किसी अन्य राज्य का कब्जा हो, तो वह इन्हें अपनी जलसेना का अड्डा बनाकर जापान के पूर्वी समुद्रतट पर सुगमता के साथ आक्रमण कर सकता है। कुरील और बोनिन द्वीप समूहों का महत्त्व सैनिक दृष्टि से है, और इन्हें अपनी अधीनता में लाकर जापान ने अपनी स्थिति को बहुत सुरक्षित कर लिया था। १८८० के बाद जापान ने कोरिया में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया और १८९४-९५ में चीन के साथ उसका जो युद्ध प्रारम्भ हुआ, उसमें कोरिया को हस्तगत करने का प्रयत्न एक महत्त्वपूर्ण कारण था, यह हम पहले बता चुके हैं।

**फार्मूसा पर आधिपत्य**—१८९४-९५ के चीन जापान युद्ध के परिणाम स्वरूप फार्मूसा पर जापान का आधिपत्य स्थापित हुआ। चीनी और जापानी लोग इस द्वीप को तैवान कहते हैं। जापान के लिये फार्मूसा का अनेक दृष्टियों से महत्त्व था। वह यहां अपनी बस्तियों को बसा सकता था और इसे अपनी सैन्यशक्ति का आधार बनाकर उसके लिये यह भी सम्भव था, कि वह दक्षिणी चीन के फूकिएन प्रदेश पर अपने प्रभुत्व का विस्तार कर सके। जापान ने दोनों प्रकार से फार्मूसा का उपयोग किया। जापानी लोग अच्छी बड़ी संख्या में वहां जाकर आबाद हुए और उन्होंने फार्मूसा का आर्थिक विकास करने के लिये कोई [illegible] उठा नहीं रखी। १९३० में फार्मूसा की कुल आबादी ४५ लाख के लगभग थी। इनमें से २,००,००० व्यक्ति जापानी थे। ये वहां व्यवसायों का विकास करने व रेलवे आदि का निर्माण करने में तत्पर थे। फार्मूसा के बहुसंख्यक निवासी चीनी लोग थे, जो जापान की अधीनता में रहते हुए मुख्यतया कृषि द्वारा अपना

निर्वाह करते थे । जापानी लोगों ने फार्मूसा में जहां व्यवसायों का विकास किया, वहां साथ ही सड़कें बनाने, रेलवे लाइनों का निर्माण करने और बन्दरगाहों को विकसित करने पर भी ध्यान दिया। जापानी सरकार का यह भी प्रयत्न था, कि फार्मूसा के निवासियों को पूर्णतया जापानी रंग में रंग दिया जाय । इसके लिये उन्होंने शिक्षणालयों में जापानी भाषा की पढ़ाई को अनिवार्य किया और सारा शासन कार्य जापानी भाषा में करने की व्यवस्था की । फार्मूसा के लोग जापान के शासन से संतुष्ट नहीं थे । उन्होंने अनेक बार विद्रोह किये, पर जापानी सरकार को इन विद्रोहों का दमन करने में विशेष कठिनता नहीं हुई ।

## (३) कोरिया

जापान ने किस प्रकार कोरिया में अपने प्रभुत्व को स्थापित किया, इसका वृत्तान्त पहले लिखा जा चुका है । १८९५ तक कोरिया चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत था । १८९४-९५ के चीन-जापान युद्ध के बाद कोरिया से चीन के प्रभुत्व का अन्त हुआ और रूस और जापान उसे अपनी अधीनता में लाने के लिये संघर्ष में तत्पर हुए । १९०५ में रूस और जापान के युद्ध की समाप्ति पर कोरिया जापान का संरक्षित राज्य बन गया । वहां के शासन पर निरीक्षण रखने के लिये जापान की ओर से एक रेजिडेण्ट-जनरल की नियुक्ति की गई । जिस प्रकार ब्रिटिश युग में भारत की देशी रियासतों में शासन का निरीक्षण व नियन्त्रण करने के लिये ब्रिटिश सरकार द्वारा 'रेजिडेन्टों' की नियुक्ति की जाती थी, वैसे ही जापान ने कोरिया में अपने रेजिडेन्ट-जनरल की नियुक्ति की । कोरिया में प्रथम रेजिडेन्ट प्रिंस इतो को नियुक्त किया गया । इस समय से कोरिया में जापान का प्रभुत्व निरन्तर बढ़ने लगा । अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, आय व्यय आदि के महकमों में कोरियन अधिकारियों को परामर्श देने के लिये जापानी सलाहकार नियत किये गये । पोस्ट आफिस, टैलीग्राफ और टैलीफोन के विभाग का संचालन जापानी कर्मचारियों ने सीधा अपने हाथों में ले लिया । कोरिया के समुद्र तट पर मछली पकड़ने के व्यवसाय पर जापानियों ने अपने एकाधिकार को स्थापित किया । बहुत सी उपजाऊ जमीनों को भी जापानी लोगों ने अपने अधिकार में कर लिया और वहां अफीम की खेती शुरू की, क्योंकि इसकी मांग चीन और कोरिया में बहुत अधिक थी । कोरिया की अपनी सरकार इतनी निर्बल और विकृत थी, कि उसके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह जापान के बढ़ते हुए प्रभाव व प्रभुत्व का विरोध कर सके । ब्रिटेन और जापान इस समय परस्पर सन्धि कर चुके थे । जर्मनी और रूस की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला करने के लिये

ब्रिटेन यह आवश्यक समझता था, कि जापान के साथ मैत्री सम्बन्ध की स्थापना करे। इसीलिये वह कोरिया के विषय में जापान की नीति का विरोध नहीं कर सकता था। अमेरिका की सरकार जापान की बढ़ती हुई शक्ति से बहुत चिन्तित थी। उसे अनुभव होता था, कि यदि जापान इसी प्रकार पूर्वी एशिया में प्रबल होता जायगा, तो फिलीप्पीन पर अमेरिका का प्रभुत्व निरापद नहीं रह सकेगा। इस दशा में अमेरिकन लोग चाहते थे, कि कोरिया में निरन्तर बढ़ते हुए जापानी प्रभुत्व का विरोध करें। १९०५ में कोरिया के सम्राट् ने अमेरिका के राष्ट्रपति की सेवा में एक आवेदनपत्र भेजा, जिसमें जापान से कोरिया की रक्षा करने की प्रार्थना की गई। १९०७ में कोरिया की सरकार ने हेग में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अपने देश की समस्या को उपस्थित करने का प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ, कि जापान ने कोरियन सम्राट को राजगद्दी का परित्याग कर देने के लिये विवश किया। युवराज को राजगद्दी पर बिठाकर जापान के रेजिडेन्ट जनरल प्रिंस इतो ने कोरिया के शासन सूत्र को अपने हाथों में ले लिया। जापान के अनेक सैनिक नेता इस समय अपनी सरकार पर इस बात के लिये जोर दे रहे थे, कि कोरियन सरकार का अन्त कर इस देश पर पूर्ण रूप से जापानी शासन की स्थापना कर दी जाय। पर जापानी सरकार सावधानी से चलने की नीति को पसन्द करती थी। इसी समय कोरिया के अनेक देशभक्त अमेरिका आदि विदेशी राज्यों की सहायता से निराश होकर आतंकवादी उपायों का अवलम्बन कर रहे थे। कोरिया में अनेक ऐसी गुप्त समितियां कायम हो गई थीं, जिनके सदस्य जापानी अफसरों पर आक्रमण करने में तत्पर थे। १९०९ में प्रिंस इतो की हत्या हो गई। उसके समान अन्य भी अनेक उच्च जापानी कर्मचारी कोरियन क्रान्तिकारियों द्वारा कतल किये गये। इस दशा में जापानी सरकार ने कोरिया के राजवंश का अन्त कर इस देश को सीधे अपने शासन में ले लिया।

**कोरिया पर जापान का शासन**--कोरिया को पूर्णरूप से अपनी अधीनता में ले आने के बाद जापान ने उसके शासन को सुव्यवस्थित करने पर विशेष ध्यान दिया। कोरियन लोगों की इतनी शक्ति नहीं थी, कि वे जापानी शासन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर सकते। पुलीस और सेना की सहायता से जापान ने कोरिया पर अपने प्रभुत्व को सुदृढ़ रूप से स्थापित किया। सब उच्च राजकीय पदों पर जापानी अफसर नियत किये गये और कोरिया में जापान ने प्रायः उसी ढंग की सरकार का संगठन किया, जैसे कि ब्रिटिश लोगों ने भारत में किया था। जापान के साथ सम्पर्क स्थापित होने के कारण कोरिया को आधुनिक रूप से उन्नत होने में सहायता मिली। वहां बहुत सी नई सड़कें बनाई गईं, नई रेलवे

लाइनें निकाली गईं, बन्दरगाहों को नये ढंग से बनाया गया और नये नये कल कारखानों की स्थापना की गई। सिऊल आदि बड़े कोरियन नगरों में बिजली की रोशनी का सूत्रपात जापान द्वारा ही हुआ। नये ढंग के बैंकों का जापानी सरकार के संरक्षण में संगठन हुआ और व्यापार की उन्नति पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। कोरिया का विदेशी व्यापार प्रधान रूप से जापान के साथ होता था। १९२९ में तीस करोड़ येन (१ येन=१ शिलिंग व १० आने के लगभग) का माल कोरिया से जापान गया था और लगभग इतने मूल्य का ही माल जापान से कोरिया आया था। इसी काल में कोरिया से तीन करोड़ येन का माल चीन गया था और वहां से सात करोड़ येन का माल कोरिया आया था। अमेरिका आदि अन्य राज्यों के साथ कोरिया के विदेशी व्यापार की मात्रा इससे भी कम थी। कोरिया के कुल विदेशी व्यापार का ९० प्रतिशत के लगभग भाग जापान के साथ था। विदेशी व्यापार के समान ही कोरिया के आन्तरिक व्यापार में भी जापान का प्रमुख स्थान था। बहुत से जापानी व्यापारी इस समय कोरिया में आकर बस गये थे, और उन्होंने वहां के व्यापार पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। कोरिया के व्यवसायों पर भी जापानियों का प्रभुत्व था। जापानी पूंजीपतियों ने कोरिया में अनेक बड़े बड़े कारखानों की स्थापना की थी। इनके मुख्य कर्मचारी जहां जापानी होते थे, वहां इनका मुनाफा भी जापान पहुंचता था। कोरिया के लोग निरन्तर अधिक अधिक दरिद्र होते जाते थे। उनके लिये अपने देश में आजीविका कमा सकना कठिन होता जाता था। कोरिया की जनसंख्या भी इस समय निरन्तर बढ़ रही थी। १९११ में कोरिया की कुल आबादी १,३०,००,००० थी। १९३५ में वह बढ़कर २,३०,००,००० हो गई थी। इस स्थिति में यह स्वाभाविक था, कि बहुत से कोरियन लोग अन्य देशों में जा कर मजदूरी प्राप्त करने का यत्न करें; । यही कारण है, कि इस समय बहुत से कोरियन लोग मजदूरी की तलाश में जापान गये और वहां जापानी मजदूरों के मुकाबले में बहुत थोड़ी मजदूरी स्वीकार कर अपना निर्वाह करने को प्रवृत्त हुए। जापानी सरकार ने कोरिया में कृषि और व्यवसाय का विकास इस ढंग से नहीं किया था, कि कोरियन लोग वहां अच्छी आमदनी प्राप्त कर सकते। जापानी लोगों का उद्देश्य केवल यह था, कि जिस प्रकार से भी सम्भव हो, कोरियन लोगों का शोषण करें और उनकी दुरवस्था से लाभ उठाकर स्वयं धन का उपार्जन करें।

जापानी शासकों ने कोरिया में यह भी उद्योग किया, कि कोरियन लोगों को जापानी सभ्यता और संस्कृतिके रंग में रंग लें। स्कूलों में जापानी भाषा का

अध्ययन अनिवार्य कर दिया गया। उच्च शिक्षा का माध्यम जापानी भाषा को बनाया गया। कोरियन साहित्य के विकास में बाधाएं उपस्थित की गईं। कोरियन समाचार पत्रों पर कड़ा नियन्त्रण रखा गया। जापानी लोग नहीं चाहते थे, कि कोरिया में शिक्षा का प्रसार हो। इसीलिये जापानी शासन में केवल ४०० स्कूल वहां ऐसे खोले गये, जिनमें कोरियन विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। इनके मुकाबले में जापानी विद्यार्थियों के लिये स्थापित किये गये स्कूलों की संख्या ३८० थी। कोरिया की कुल आबादी में जापानियों की संख्या केवल दो फी सदी थी, पर इस दो फी सदी जनता के लिये जहां ३८० स्कूल स्थापित किये गये थे, वहां शेष ९८ फी सदी कोरियन जनता के लिये केवल ४०० स्कूल खोले गये थे। इन स्कूलों में शिक्षा का ढंग इस प्रकार का रखा गया था, कि कोरियन विद्यार्थी जापान की उत्कृष्टता को भलीभांति हृदयंगम कर लें, ताकि वे शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर जापान की भक्त प्रजा बन सकें।

यद्यपि कोरिया पर जापान का शासन अत्यन्त सुदृढ़ और कठोर था, पर वहां की जनता में अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना का सर्वथा लोप नहीं हो गया था। अनेक कोरियन नवयुवकों ने पाश्चात्य देशों में जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। इनमें अपने देश को जापानी शासन से मुक्त कराने की इच्छा बड़े तीव्र रूप से विद्यमान थी। कोरिया के निवासी अपने देश की दुर्दशा को अनुभव करते थे, और इस अवसर की प्रतीक्षा में थे, कि जापान के विरुद्ध विद्रोह करके राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना करें। १९१४-१८ के महायुद्ध के अवसर पर संसार के प्रायः सभी देशों में राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र शासन की प्रवृत्तियों को बल मिला। १९१९ में जापानी शासन के विरुद्ध कोरिया में आन्दोलन बहुत प्रबल हो गया। जनता ने बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति का अवलम्बन कर जापान का विरोध करना शुरू किया। शंघाई में कतिपय कोरियन देशभक्तों ने "स्वतन्त्र कोरियन सरकार" का संगठन किया और पेरिस सन्धि परिषद में एकत्रित राजनीतिज्ञों से अनुरोध किया, कि वे कोरियन देशभक्तों की मांग को स्वीकृत करें। पर १९१९-२० का यह कोरियन स्वातन्त्र्य आन्दोलन सफल नहीं हो सका। सन्धि परिषद ने 'स्वतन्त्र कोरियन सरकार' की सत्ता को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। शंघाई की फ्रेञ्च बस्ती में इस कोरियन सरकार का प्रधान कार्यालय स्थापित था। फ्रेञ्च अधिकारियों ने इस सरकार के खिलाफ कार्यवाही की और इसे भंग होने के लिये विवश होना पड़ा। राष्ट्रपति विल्सन (अमेरिका) और मित्र राष्ट्रों के अन्य राजनीतिक नेता इस समय संसार के सब देशों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र शासन की स्थापना के

लिये प्रयत्न करने का दावा कर रहे थे, पर कोरिया की स्वतन्त्रता का उनकी दृष्टि में कोई भी मूल्य नहीं था। वे जापान को नाराज करने की हिम्मत नहीं कर सकते थे। कोरिया में जापानी सरकार ने देशभक्तों के साथ बहुत बुरा बर्ताव किया। स्वातन्त्र्य आन्दोलन को बुरी तरह से कुचला गया। बहुत से कोरियन देशभक्त गिरफ्तार किये गये, बहुतों को प्राणदण्ड दिया गया। इस स्थिति में बहुत से देशभक्त इस समय कोरिया छोड़कर अन्य देशों में चले गये और वहां जाकर उन्होंने अपने देश की स्वाधीनता के लिये प्रयत्न जारी रखा। जापानी शासन से मुक्ति पाने के लिये कोरियन लोगों ने जो प्रयत्न किया था, वह असफल रहा। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इस क्रान्तिकारी आन्दोलन के कारण जापानी सरकार अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिये विवश हुई। जापान ने यह बात स्वीकृत की, कि धीरे धीरे कोरिया में स्वराज्य की स्थापना की जायगी। इसी नीति को दृष्टि में रखकर इस समय कोरिया में स्थानीय स्वशासन का प्रारम्भ किया गया।

## (४) मञ्चूरिया

रूस जापान युद्ध की समाप्ति पर जापान ने किस प्रकार मञ्चूरिया में अपना प्रभुत्व स्थापित किया, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। रूस को पराजित करने के बाद जापान के लिये यह सम्भव हो गया था, कि वह मञ्चूरिया में अपने प्रभाव क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि करता जाय। १९०५ के बाद इस क्षेत्र में जापान की शक्ति का किस प्रकार उत्कर्ष हुआ, इसी बात पर अब हमें इस प्रकरण में प्रकाश डालना है।

रूस जापान युद्ध के बाद १९०५ में पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा मञ्चूरिया के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यवस्था की गई थी–(१) लिआओतुंग प्रायद्वीप में जो विशेषाधिकार पहले रूस को प्राप्त थे, वे अब जापान को हस्तान्तरित कर दिये जावें। (२) मञ्चूरियन रेलवे के दक्षिणी भाग पर जापान का अधिकार हो जाय। (३) सखालिन द्वीप का दक्षिणी भाग जापान को प्राप्त हो। (४) रूस और जापान दोनों मञ्चूरिया से अपनी सेनाओं को हटालें, पर रेलवे के क्षेत्र को सुरक्षित रखने के लिये जिन सेनाओं को मञ्चूरिया में रखना आवश्यक हो, उन्हें वे वहां रख सकें। (५) रूस और जापान मञ्चूरिया में अपनी रेलवे लाइनों का उपयोग केवल आर्थिक व व्यापारिक प्रयोजनों के लिये करें, राजनीतिक प्रयोजन के लिये नहीं। पर लिआओतुंग प्रायद्वीप में अपना राजनीतिक व सैनिक प्रभुत्व कायम रखने का जापान को अधिकार हो।

पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा जापान को यह अवसर मिल गया था, कि वह वहां अपने प्रभाव व प्रभुत्व का विस्तार कर सके। जापान द्वारा मञ्चूरियन रेलवे का प्रबन्ध करने के लिये 'दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे कम्पनी' का संगठन किया गया। पर यह कम्पनी केवल रेलवे की ही व्यवस्था नहीं करती थी। जिस प्रदेश में से रेलवे लाइन गुजरती थी, उसका शासन प्रबन्ध भी इस कम्पनी के अधीन था। उस प्रदेश मे इस कम्पनी की तरफ से अस्पताल और स्कूल स्थापित किये गये थे और खोज आदि के उद्देश्य से कतिपय संसथाएं भी कायम की गई थीं। इस प्रदेश के अनेक नगरों में बिजली का उत्पादन भी इसी कम्पनी के हाथ में था। इसकी ओर से अनेक होटल भी चलते थे और अनेक बन्दरगाहों का भी प्रबन्ध होता था। इतना ही नहीं, इस प्रदेश में खानें खोदने व उनका विकास करने का अधिकार भी इस कम्पनी को ही प्राप्त था। मञ्चूरिया के समुद्रतट पर जहाज चलाने का काम भी यह रेलवे कम्पनी ही करती थी। यह दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे कम्पनी जापानी सरकार की अधीनता व नियन्त्रण में थी, क्योंकि इसके सबसे अधिक हिस्से जापानी सरकार के पास थे। इस कम्पनी की स्थापना बीस करोड़ येन की पूंजी से की गई थी, इनमें से दस करोड़ येन जापानी सरकार ने लगाये थे। बाद में इस कम्पनी की पूंजी बीस करोड़ से बढ़ा कर चालीस करोड़ येन कर दी गई। पूंजी के बढ़ जाने पर भी कम्पनी के आधे हिस्से जापानी सरकार के हाथ में रहे। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे कम्पनी के रूप में वस्तुतः जापानी सरकार ही मञ्चूरिया के क्षेत्र में अपनी शक्ति का विस्तार करने में तत्पर थी।

इसमें सन्देह नहीं, कि मञ्चूरियन रेलवे कम्पनी द्वारा मञ्चूरिया के आर्थिक विकास में बहुत अधिक सहायता मिली। १८९८ में मञ्चूरिया के विदेशी व्यापार की मात्रा केवल ४,००,००,००० ताअल थी। १९०८ में यह बढ़कर १०,००,००,००० ताअल तक पहुंच गई थी। इसके बाद मञ्चूरिया के विदेशी व्यापार में और भी अधिक तेजी से वृद्धि हुई। १९२० में उसके विदेशी व्यापार की मात्रा ५४,००,००,००० तक पहुंच गई थी। इससे स्पष्ट है, कि मञ्चूरिया पर जापानी प्रभाव स्थापित हो जाने के बाद उसके विदेशी व्यापार में बारह गुना से भी अधिक वृद्धि हुई थी। यह विदेशी व्यापार मुख्यतया जापान के साथ होता था। सोयाबीन, मक्का, गेहूं, बाजरा, जौ, चावल, कपास आदि बहुत बड़ी मात्रा में मञ्चूरिया से जापान जाते थे और जापान का तैयार व्यावसायिक माल वहां बड़े परिमाण में बिक्री के लिये आता था। रेलवे लाइन के निर्माण के कारण अब यह बात बहुत सुगम हो गई थी, कि मञ्चूरिया में व्यापार का विकास हो सके।

बहुत से चीनी किसान इस समय मञ्चूरिया में आकर आबाद हुए और उन्होंने परती पड़ी हुई जमीनों को लहलहाते खेतों के रूप में परिवर्तित किया। जापान से बहुत से व्यापारी इस समय मञ्चूरिया गये। जिस समय अभी रूस-जापान के युद्ध का पूरी तरह से अन्त नहीं हुआ था, तभी जापानी व्यापारियों ने मञ्चूरिया में प्रवेश करना शुरू कर दिया था। यद्यपि पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा यह व्यवस्था की गई थी, कि सब देशों को मञ्चूरिया में व्यापार के सम्बन्ध में समान अधिकार प्राप्त रहे, पर रेलवे लाइन पर जापानी लोगों का कब्जा होने के कारण उनके लिये यह बहुत सुगम था, कि वे इस प्रदेश में व्यापार विषयक अनेक ऐसी सुविधाएं प्राप्त कर सके, जो कि अन्य देशों के व्यापारियों को प्राप्त नहीं थीं। जापानी लोग मञ्चूरिया में केवल आर्थिक प्रभुत्व की स्थापना में ही तत्पर नहीं थे, वे अपने आर्थिक विशेषाधिकारों का प्रयोग कर वहां अपना राजनीतिक व सैनिक आधिपत्य कायम करने के लिये भी प्रयत्नशील थे। लिआओतुंग प्रायद्वीप में उनका राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित था, उसे अपना आधार बनाकर जापानी लोगों के लिये यह अत्यन्त सुगम था, कि वे मञ्चूरिया के अन्य प्रदेशों को भी अपने राजनीतिक प्रभाव में लाते जावें। दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे के क्षेत्र में जापानी लोग अपनी सेनाओं को रख सकते थे। ये सेनाएं रेलवे के क्षेत्र के बाहर भी जापानी शक्ति के विस्तार में सहायक हो सकती थीं।

व्यापार आदि के उद्देश्य से जो जापानी लोग बहुत बड़ी संख्या में इस समय मञ्चूरिया के विविध प्रदेशों में बस रहे थे, वे अपने को चीनी कानून व चीनी अदालतों के अधीन नहीं समझते थे। वे दावा करते थे, कि 'ट्रीटी पोर्टों' में निवास करनेवाले विदेशी नागरिकों के समान उन्हें भी 'एक्स्ट्रा-टैरिटोरियेलिटी के सब अधिकार प्राप्त हैं। जापानी सरकार भी यह समझती थी, कि अपने इन नागरिकों के जान और माल की रक्षा की उत्तरदायिता उसके ऊपर है। चीनी सरकार की निर्बलता से लाभ उठाकर जापान ने मञ्चूरिया के अनेक प्रदेशों में (जो कि रेलवे क्षेत्र के बाहर थे) अपनी पुलीस कायम कर दी थी। इस विदेशी पुलीस की सत्ता मञ्चूरिया की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये अत्यन्त विघातक थी। पर चीनी सरकार जापान की इस बढ़ती हुई शक्ति के सम्मुख अपने को सर्वथा असहाय अनुभव करती थी। १९१४ में प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ समय तक मञ्चूरिया पर जापान का प्रभाव व प्रभुत्व भलीभांति स्थापित हो गया था। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से मञ्चूरिया अब भी चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत था और उसके शक्तिशाली सिपहसालार अपनी सैन्यशक्ति की सहायता से पेकिंग सरकार पर अपना प्रभाव स्थापित करने में प्रयत्नशील थे, पर इसमें सन्देह नहीं

कि धीरे धीरे दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी मञ्चूरिया पर जापान का प्रभाव बड़ी तेजी के साथ बढ़ रहा था।

## (५) महायुद्ध और जापान

**शांतुंग पर आधिपत्य**—१९१४-१८ के महायुद्ध ने जापान की उन्नति व साम्राज्य विस्तार के लिये एक सुवर्णीय अवसर उपस्थित किया। इस महायुद्ध के कारण पाश्चात्य देशों को पूर्वी एशिया के मामलों पर ध्यान देने की जरा भी फुरसत नहीं थी। वे यूरोप के घनघोर युद्ध में इतने अधिक व्यापृत थे, कि चीन और जापान के मामले पर जरा भी ध्यान नहीं दे सकते थे। १९०२ में ब्रिटेन और जापान में जो सन्धि हुई थी, उसके कारण महायुद्ध में जापान ने मित्र-राष्ट्रों का साथ दिया। १५ अगस्त, १९१४ को जापानी सरकार की ओर से एक नोटिस जर्मनी को दिया गया, जिसमें यह मांग की गई, कि शांतुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं, वे सब जापान को हस्तान्तरित कर दिये जावें, ताकि वह उन्हें चीनी सरकार को वापस कर देने की व्यवस्था कर सके। इस नोटिस का उत्तर देने के लिये एक सप्ताह की अवधि नियत की गई। जब २२ अगस्त तक जर्मन सरकार की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला, तो २३ अगस्त, १९१४ को जापान ने जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। जापान की एक सेना ने जर्मनी के अधिकृत बन्दरगाह त्सिंग ताओ पर आक्रमण किया। जापानी सेनाएं सीधा भी त्सिंग ताओ पर हमला कर सकती थीं, पर उन्होंने उससे १०० मील उत्तर की ओर एक स्थान पर पहले अपना कब्जा किया और वहां से स्थल मार्ग द्वारा त्सिंग ताओ की तरफ प्रस्थान किया। जर्मन सेनाएं जिस स्थान पर उतरी थीं, वह चीन के अधीन था और जिस मार्ग से वे त्सिंग ताओ की तरफ आगे बढ़ रही थीं, वह भी चीन के अन्तर्गत था। इस प्रदेश पर किसी भी विदेशी राज्य का प्रभाव-क्षेत्र नहीं था। अतः जापानी सेनाओं की यह कार्रवाई अन्तर्राष्ट्रीय कानून के खिलाफ थी, क्योंकि चीन महायुद्ध में उदासीन नीति का अनुसरण कर रहा था। इस स्थिति में चीनी सरकार के सम्मुख केवल एक ही मार्ग था, वह यह कि जापानी सेना के इस अभियान मार्ग को 'युद्ध का क्षेत्र' घोषित कर दे और दोनों पक्षों से यह आशा रखे, कि इस युद्धक्षेत्र के अतिरिक्त अन्य किसी प्रदेश को वे सैनिक कार्रवाई के लिये इस्तेमाल न करें। पर जापानी सेनाओं ने चीन की इस घोषणा की कोई परवाह नहीं की। सैनिक आवश्यकता के नाम पर उन्होंने शांतुंग प्रान्त की अन्दरूनी रेलवे पर भी अपना कब्जा कर लिया। यह रेलवे लाइन जर्मनी और चीन के संयुक्त कब्जे में थी, यद्यपि इस पर त्सिंग ताओ

की जर्मन सरकार का नियन्त्रण विद्यमान था। ७ नवम्बर, १९१४ को त्सिंग ताओ पर जापानी सेनाओं का प्रभुत्व स्थापित हो गया। ब्रिटिश सेनाओं की सहायता इस आक्रमण में जापान को प्राप्त थी। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से जापान और ब्रिटेन को यह अधिकार नहीं था, कि वे चीन की उदासीन सत्ता की उपेक्षा कर त्सिंग ताओ पर आक्रमण करें। पर उन्होंने चीन की उदासीन स्थिति की जरा भी परवाह नहीं की। वे केवल त्सिंग ताओ पर कब्जा करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए। कुछ ही समय बाद जापानी सेनाओं ने त्सिंग ताओ से आगे बढ़कर शांतुंग में प्रवेश किया और इस प्रान्त में जर्मनी के जो भी विशेषाधिकार थे, उन सबको हस्तगत कर लिया। त्सिंग ताओ से त्सिनान (शांतुंग की राजधानी) तक जो रेलवे लाइन जाती थी, उस पर जापान ने अपना कब्जा कर लिया और रेलवे की सम्पत्ति की रक्षा के नाम पर इस क्षेत्र में अपनी सेनाएं स्थापित कर दीं। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इस रेलवे की रक्षा के लिये जर्मनी की कोई सेना इस क्षेत्र में नहीं रहती थी और रेलवे की सम्पत्ति की रक्षा की उत्तरदायिता चीन की सरकार के ऊपर ही थी। शांतुंग में अपना सैनिक प्रभुत्व स्थापित करके जापान ने इस प्रान्त में अपने राजनीतिक प्रभुत्व का भी विस्तार शुरू किया। १५ अगस्त, १९१४ के नोटिस में जापान ने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था, कि जर्मनी से इस प्रदेश के विशेषाधिकारों को लेकर वह उन्हें चीनी सरकार को वापस कर देने की व्यवस्था करेगा। पर अब जापानी सरकार का कहना था, कि जर्मनी ने अपने विशेषाधिकारों को स्वेच्छापूर्वक जापान को नहीं दे दिया है, उसके लिये जापान को अपने नागरिकों का खून और प्रचुर युद्ध-सामग्री व्यय करनी पड़ी है। अतः उसका प्रतिशोध तभी सम्भव है, जब कि जर्मनी द्वारा अधिकृत इन प्रदेशों को जापान अपने हाथ में ले ले। इस प्रकार १९१४-१८ के महायुद्ध का सबसे प्रथम लाभ जापान को यह प्राप्त हुआ, कि शांतुंग प्रान्त में उसका प्रभाव व प्रभुत्व स्थापित हो गया। कोरिया और मंचूरिया पर पहले ही उसका प्रभुत्व था, अब शांतुंग भी उसके साम्राज्यवाद का शिकार हो गया।

**प्रशान्त महासागर के द्वीप**—प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीपों पर जर्मनी का प्रभुत्व था। इनमें से जो द्वीप भूमध्यसागर के उत्तर में स्थित थे, उन्हें जापान ने अपने कब्जे में कर लिया। इनमें मार्शल, कैरोलिन और मारिआना द्वीप-समूहों का उल्लेख विशेष रूप से महत्त्व का है। इन द्वीपों में जनसंख्या अधिक नहीं थी और न ही आर्थिक दृष्टि से इनका विशेष उपयोग था। पर सैनिक दृष्टि से इनका महत्त्व बहुत अधिक था। यदि किसी अन्य राज्य का जंगी जहाजी

अड्डा दक्षिण की ओर से जापान पर आक्रमण करना चाहे, तो इन द्वीपों को दुर्ग के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता था। यदि जापान इन द्वीपों की किलाबन्दी कर ले, तो वह उनमें स्थित अपनी जलसेना द्वारा विदेशी आक्रमण का सुगमता से मुकाबला कर सकता था। साथ ही जापान के लिये यह भी सम्भव था, कि वह इन द्वीपों को आधार बनाकर दक्षिण-पूर्वी एशिया के विजय का उपक्रम कर सके। १९४० में जापान ने इन द्वीपों का इस उद्देश्य से प्रयोग किया भी था। इन द्वीपों को अधिगत कर लेने से प्रशान्त महासागर में जापान की सैनिक स्थिति बहुत सुदृढ़ हो गई थी। इसी प्रसंग में यह भी लिख देना उपयोगी है, कि भूमध्य रेखा के दक्षिण में जर्मनी के अधीन जो द्वीप थे, उन पर इस समय ब्रिटेन ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था।

**जापान की इक्कीस मांगें**—शांतुंग प्रान्त पर जापानी सेनाओं की स्थापना से चीन की सरकार बहुत अधिक चिन्तित थी। ७ जनवरी, १९१५ को चीन के राष्ट्रपति श्री युआन शी काई ने जापानी सरकार को सूचना दी, कि क्योंकि महायुद्ध में चीन उदासीन है, अतः शांतुंग में भी उदासीन नीति को बरता जावेगा और केवल किआऊ चाऊ के प्रदेश का ही (जो कि जर्मनी के पास पट्टे पर था) जापान सैनिक दृष्टि से उपयोग कर सकेगा। इस बात से जापान बहुत क्रुद्ध हुआ, और उसने चीनी सरकार को सूचना दी, कि उसका यह कार्य जापान के प्रति विरोध भावना को प्रकट करता है। अतः यह उचित है, कि चीन और जापान आपस में समझौता कर लें, और यह समझौता किन शर्तों पर हो, इसके लिये जापान ने चीनी सरकार के सम्मुख २१ मांगें पेश कीं। इन मांगों का उल्लेख हम इस इतिहास के एक पहले अध्याय में कर चुके हैं। उन्हें यहां फिर से लिखने की आवश्यकता नहीं है। जापान की इन इक्कीस मांगों के परिणामस्वरूप २५ मई, १९१५ को चीन और जापान में एक नया समझौता हुआ, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) मञ्चूरिया में लिआओ तुंग प्रायद्वीप पर जापान के पट्टे की अवधि को बढ़ाकर ९९ वर्ष कर दिया जाय। (२) दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे के पट्टे का काल भी बढ़ाकर ९९ वर्ष कर दिया जाय। (३) जापानी नागरिकों को अधिकार हो, कि वे दक्षिणी मञ्चूरिया में जहां चाहें यात्रा कर सकें, बस सकें, व्यापार व व्यवसाय का सञ्चालन कर सकें और निवास, व्यापार, व्यवसाय व खेती के लिये जमीन पट्टे पर ले सकें। (४) मञ्चूरिया में निवास करनेवाले जापानी लोगों के मामलों का फैसला जापानी अदालतों द्वारा किया जाय। (५) पूर्वी आभ्यन्तर मंगोलिया में भी जापानी लोगों को व्यापार के विस्तार का अवसर हो। (६) यदि चीनी सरकार को मञ्चूरिया में सैनिक, आर्थिक व

पुलीस के मामलों के लिये किन्हीं विदेशी सलाहकारों के सहयोग की आवश्यकता हो, तो ये सलाहकार जापानी ही नियत किये जावें। (७) शांतुंग में जापानी सरकार जर्मनी के साथ भविष्य में जो भी फैसला करे, वह चीनी सरकार को मान्य हो। (८) शांतुंग प्रान्त में किआऊ चाऊ के अतिरिक्त अन्यत्र भी जापानी लोगों को निवास और व्यापार का अधिकार दिया जाय।

१९१५ के इस समझौते द्वारा जापान के लिये चीन में अपने अधिकार व प्रभाव को विस्तृत कर सकना और अधिक सुगम हो गया। युआन शी काई ने विवश होकर ही जापान को अपने देश में ये सब सुविधाएं व विशेषाधिकार प्रदान किये थे। जापान ने उसे स्पष्ट रूप से यह बात सूचित कर दी थी, कि यदि चीन ने उसकी २१ मांगों के सम्बन्ध में समझौता न किया, तो वह शक्ति का प्रयोग करने में संकोच नहीं करेगा। यूरोप के महायुद्ध के कारण पाश्चात्य देशों को इस बात का अवकाश नहीं था, कि वे जापान की इस साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का विरोध कर सकते। चीन की शक्ति इतनी नहीं थी, कि वह अपने भरोसे पर जापान को नाराज कर सकता। परिणाम यह हुआ, कि १९१५ के बाद जापान चीन में अपनी शक्ति का निरन्तर विस्तार करता रहा।

**१९१७ की गुप्त सन्धियाँ**--यूरोपियन महायुद्ध में ब्रिटेन और फ्रांस को बहुत मुसीबत का सामना करना पड़ रहा था। जर्मनी की पनडुब्बियों के कारण मित्र-राष्ट्रों के जहाज बड़ी तेजी के साथ समुद्र के गर्भ में पहुंचाये जा रहे थे। इस दशा में ब्रिटेन और फ्रांस इस बात की आवश्यकता को अनुभव करते थे, कि जहाजों के सम्बन्ध में अपनी कमी को जापान की सहायता से पूरा किया जाय। १९१७ में रूस में राज्यक्रान्ति हो गई थी। जार का पतन होने के बाद रूस की नई सरकार युद्ध में शामिल रहने को अनावश्यक समझती थी। रूस के युद्ध से पृथक् हो जाने के कारण जर्मनी की सब सेनायें पश्चिमी रणक्षेत्र में चली आई थीं। इस कारण मित्रराष्ट्रों की स्थिति और भी अधिक डांवांडोल हो गई थी। इस स्थिति में फ्रांस और ब्रिटेन ने जापान को इस बात के लिये प्रेरित किया, कि वह अपने जहाजी बेड़े को मित्रराष्ट्रों की सहायता के लिये भूमध्यसागर में भेज दे। पर इस सहा-यता के बदले में जापान ने पूरी कीमत वसूल की। उसने फ्रांस और ब्रिटेन से एक गुप्त सन्धि (१९१७) की, जिसके अनुसार इन राज्यों ने यह स्वीकार किया कि युद्ध की समाप्ति पर जब सन्धि परिषद् होगी, तो उसमें ये राज्य शांतुंग प्रान्त में जापान के विशेषाधिकारों का समर्थन करेंगे। जापान के जहाजी बेड़े की सहायता के बदले में मित्रराष्ट्रों ने शांतुग प्रान्त को बलि चढ़ा दिया था। इटली ने भी कुछ समय बाद जापान से एक गुप्त समझौता कर लिया था, जिसमें

उसने शांतुंग प्रान्त पर जापान के विशेषाधिकारों के समर्थन का वचन दिया था। इन गुप्त संधियों द्वारा यूरोप के राज्यों ने इस बात को स्वीकार कर लिया था, कि चीन जापान के साम्राज्य विस्तार का उपयुक्त और न्याय्य क्षेत्र है।

**लांसिग-इशी समझौता**—फ्रांस, ब्रिटेन और इटली के साथ जापान की सन्धि हो चुकी थी। अब केवल संयुक्तराज्य अमेरिका एक ऐसा देश रह गया था, जो चीन में जापान के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद का विरोध कर सकता था। १९१७ में अमेरिका भी जर्मनी के खिलाफ युद्ध में शामिल हो गया था। अतः अमेरिकन राजनीतिज्ञों ने भी यह आवश्यक समझा, कि वे जापान के साथ समझौता कर लें। नवम्बर १९१७ में यह समझौता हो गया, जिस पर अमेरिका की ओर से श्री लांसिग ने और जापान की ओर से श्री इशी ने हस्ताक्षर किये थे। इसके अनुसार अमेरिका ने इस बात को स्वीकार कर लिया, कि भौगोलिक परिस्थितियों के कारण जापान का चीन के साथ सन्निकट सम्बन्ध है, और इसलिये चीन के मामले में जापान की विशेष दिलचस्पी सर्वथा उचित है। इस विशेष दिलचस्पी के कारण जापान को वहां कतिपय विशेषाधिकार भी प्राप्त होने ही चाहियें। पर लांसिग-इशी समझौते में यह बात स्पष्ट करने की कोशिश नहीं की गई, कि चीन में जापान के ये विशेषाधिकार क्या रूप धारण करेंगे, और किस हद तक अमेरिका इन्हें स्वीकार करेगा। पर इसमें सन्देह नहीं, कि लांसिग-इशी समझौते के कारण जापान के साम्राज्य विस्तार में अमेरिका भी बाधक नहीं रह गया।

**साम्राज्य प्रसार के विफल प्रयत्न**—महायुद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाकर जापान ने चीन के शांतुंग प्रान्त और मञ्चूरिया में अपने प्रभुत्व व प्रभाव का किस प्रकार प्रसार किया, यह हमने ऊपर लिखा है। १९१७ में जब रूस में राज्यक्रान्ति हो गई, तो रूसी साम्राज्य के सुविस्तृत प्रदेशों में अव्यवस्था फैल गई। बोल्शेविक क्रान्तिकारियों और जारशाही के पक्षपातियों में घोर संघर्ष का प्रारम्भ हुआ। साइबीरिया और उत्तर-पूर्वी एशिया के प्रदेशों में इस संघर्ष का प्रभाव अवश्यम्भावी था। जुलाई, १९१८ में एक श्वेत रूसी ( बोल्शेविक क्रान्ति के विरोधी ) सेनापति ने अपनी सेनाओं के साथ उत्तरी मञ्चूरिया में प्रवेश किया। इस प्रदेश पर रूस को अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे। जापान ने समझा, कि उत्तरी मञ्चूरिया को अपने कब्जे में ले आने का यह सुवर्णीय अवसर है। इस आशंका से कि इस श्वेत रूसी सेनापति का पीछा करती हुई बोल्शेविक सेनाएं भी इस प्रदेश में घुस आवेंगी, जापानी सरकार ने अपनी एक शक्तिशाली सेना वहां भेज दी। अमेरिका की सरकार इस बात को नहीं सह सकी। अमेरिकन सरकार जापान की बढ़ती हुई शक्ति से अत्यधिक

चिन्तित थी। अमेरिका के हस्तक्षेप का यह परिणाम हुआ, कि जापान उत्तरी मञ्चूरिया को अपने कब्जे व प्रभाव में नहीं ला सका।

रूस की अव्यवस्था के कारण पूर्वी साइबीरिया को भी अपने प्रभुत्व में लाने का उद्योग जापानी सरकार ने किया। आस्ट्रिया की सेना के बहुत से कैदी रूसी सरकार के पास नजरबन्द थे। इन्हें साइबीरिया में रखा गया था। इन आस्ट्रियन सैनिकों में एक अच्छी बड़ी संख्या चेको-स्लोवाक लोगों की थी, जो आस्ट्रियन शासन के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये उत्सुक थे। चेको-स्लोवाकिया का प्रदेश उस समय आस्ट्रियन साम्राज्य के अन्तर्गत था और उसके राष्ट्रवादी नेता महायुद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाकर अपने देश की स्वाधीनता के लिये प्रयत्नशील थे। आस्ट्रियन सेना के चेकोस्लोवाक सैनिकों की सहानुभूति स्वाभाविक रूप से अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के पक्ष में थी। जब रूस में बोल्शेविक क्रान्ति के कारण अव्यवस्था और अराजकता फैल गई, तो इन चेकोस्लोवाक सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया और जून, १९१८ में ब्लादीवोस्तोक पर कब्जा कर लिया। इस स्थिति में मित्रराष्ट्रों ने यह आवश्यक समझा, कि ब्लादीवोस्तोक को अपने अधिकार में ले आवें, ताकि जर्मन व बोल्शेविक सेनाएं चेकोस्लोवाक सैनिकों से इस बन्दरगाह को न छीन सकें। अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस की सेनाएं ब्लादीवोस्तोक पहुंच गईं। जब यह समाचार जापान को मिला, तो उसने भी अपनी एक अच्छी बड़ी सेना वहां भेज दी। इस जापानी सेना के सैनिकों की संख्या ७२००० थी। इतनी बड़ी सेना को ब्लादीवोस्तोक भेजने का यही प्रयोजन था, कि जापान पूर्वी साइबीरिया पर अपने प्रभुत्व की स्थापना कर ले। पर इस प्रयत्न में भी अमेरिका ने उसका विरोध किया। पर साइबीरिया के क्षेत्र में जापान और अमेरिका को परस्पर संघर्ष करने की कोई आवश्यकता नहीं हुई, क्योंकि शीघ्र ही बोल्शेविक सेनाओं ने इस प्रदेश पर अपने आधिपत्य को स्थापित कर लिया और रूसी सोवियत संघ के अन्तर्गत साइबीरियन रिपब्लिक का संगठन कर लिया गया। उत्तरी मञ्चूरिया और पूर्वी साइबीरिया में जापान अपना प्रभुत्व नहीं स्थापित कर सका, पर महायुद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाकर वह अपने साम्राज्य विस्तार के लिये कितना अधिक प्रयत्नशील था, यह इन दो घटनाओं से भलीभांति स्पष्ट हो जाता है।

**पेरिस की शान्ति परिषद**—महायुद्ध की समाप्ति पर सन्धि की शर्तें तय करने के लिये पेरिस में शान्ति परिषद् का आयोजन किया गया। इस परिषद् में चीन के प्रतिनिधि ने मांग की, कि शांतुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे और जिन्हें युद्ध के समय जापान ने हस्तगत कर लिया था, वे अब चीन को

वापस मिल जावें। पर जापान के प्रतिनिधि का यह दावा था, कि पूर्वी एशिया में जर्मन प्रभुत्व का अन्त करने के लिये जापान ने जो कुर्बानियां की है, उनके प्रतिफल उसे यह मिलना चाहिये, कि शांतुंग प्रान्त में जापान के विशेषाधिकारों को स्वीकृत कर लिया जावे। साथ ही भूमध्यसागर के उत्तर में जो द्वीप जर्मनी के कब्जे में थे, उन पर भी जापान का प्रभुत्व स्वीकृत होना चाहिये। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन जापान की इन दोनों मांगों के विरोध में थे। पर अन्य मित्र राष्ट्र जापान के पक्षपाती थे। इसके कारण को स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। फ्रांस, ब्रिटेन और इटली १९१७ में जापान के साथ गुप्त सन्धियां कर चुके थे और उन्होंने जापान के दावे का समर्थन करने का वचन दिया हुआ था। परिणाम यह हुआ, कि चीन के प्रतिनिधि को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी। वर्साय की सन्धि में शांतुंग प्रान्त पर जापान के विशेषाधिकार को स्वीकृत किया गया और प्रशान्त महासागर के विविध द्वीप ( जो पहले जर्मनी के अधीन थे ) भी राष्ट्रसंघ की ओर से जापान को शासन के लिये दे दिये गये। चीन के प्रतिनिधि ने वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया।

**वाशिंगटन कान्फरेन्स**—संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रयत्न से १९२१–२२ में वाशिंगटन में एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिसके मुख्य विचारणीय प्रश्न निम्नलिखित थे—(१) सैन्यशक्ति और विशेषतया जल सेना में कमी करना, ताकि विविध राज्य जिस ढंग से अपनी सैन्यशक्ति पर अमर्यादित रूप से खर्च करने में तत्पर थे, उसमें कमी की जा सके। (२) पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में विविध राज्यों और विशेषतया अमेरिका तथा जापान में जो विरोध था, उसे दूर करना।

वाशिंगटन कान्फरेन्स के सम्बन्ध में हम पहले एक अध्याय में भी विचार कर चुके हैं। उसके जिन निर्णयों का जापान के साथ सम्बन्ध था, वे निम्नलिखित हैं—

(१) जलसेना के सम्बन्ध में अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली ने परस्पर मिलकर यह समझौता किया, कि इन राज्यों के जहाजों में ५, ५, ३, १.७५ और १.७५ का अनुपात हो। इसका अभिप्राय यह है, कि यदि अमेरिका की जल सेना के जहाजों की मात्रा ५ हो, तो ब्रिटेन के जहाज ५, जापान के ३, फ्रांस के १.७५ और इटली के १.७५ हों। जहाजों के इस अनुपात के लिये कुल जहाजों के बोझ (टनेज) को आधार माना गया। संख्या के स्थान पर टनेज को अनुपात का आधार मानने के कारण यह व्यवस्था की गई, कि यदि अमेरिका की नेवी के जहाजों का कुल बोझ ५०,००,००० लाख टन हो, तो ब्रिटेन के कुल

जहाजों का टनेज भी ५०,००,००० टन हो। उस दशा में जापान के जहाज बोझ में ३०,००,००० टन हों और फ्रांस व इटली के १७,५०,००० टन। नेवी के सम्बन्ध में निश्चित किया गया यह अनुपात जापान के लिये अत्यन्त लाभदायक था। इसके कारण जापान के लिये यह तो सम्भव नहीं था, कि वह अमेरिका या ब्रिटेन पर आक्रमण कर सके। इसकी उसे कोई इच्छा भी नहीं थी। पर यदि अमेरिका और ब्रिटेन पूर्वी एशिया में जापान के बढते हुए प्रभाव का मुकाबला करने के लिये उस पर हमला करने का प्रयत्न करते, तो इनकी सम्मिलित शक्ति भी जापान को परास्त करने के लिये पर्याप्त नहीं हो सकती थी। जापान पर हमला करने के लिये अमेरिकन जलसेना हवाई द्वीप को आधार के तौर पर प्रयुक्त कर सकती थी और ब्रिटेन की जलसेना सिंगापुर को। पर हवाई और सिंगापुर जापान से इतनी अधिक दूरी पर थे, कि उनकी विशाल नेवी भी उसे सुगमता से परास्त नहीं कर सकती थी। ५,५ और ३ के अनुपात को स्वीकार करते हुए जापान ने इस बात पर जोर दिया, कि वह प्रशान्त महासागर में स्थित विविध द्वीपों ( जो उसकी अधीनता में थे ) में किलाबन्दी कर सके। हम पहले लिख चुके हैं, कि कुरील, बोनिन, मरिआना, मार्शल आदि विविध द्वीप समूहों पर जापान का प्रभुत्व था। ये विविध द्वीप समूह जापान के उत्तर, पूर्व और दक्षिण में इस ढंग से फैले हुए हैं, कि यदि इन्हें सैनिक दृष्टि से दुर्ग के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, तो इनमें स्थित जापानी जल सेना सुगमता के साथ शत्रु राज्यों की जलसेना का मुकाबला कर सकती है। अमेरिका और ब्रिटेन ने जापान की इस मांग को स्वीकृत नहीं किया। इस पर जापान ने यह मांग की, कि अमेरिका और ब्रिटेन भी अपने उन प्रदेशों व द्वीपों में किलाबन्दी न कर सकें, जो प्रशान्त महासागर में स्थित हैं। जापान की यह मांग स्वीकृत कर ली गई और यह निश्चय किया गया कि अमेरिका फिलीप्पीन, गुआम और अल्यूतियन द्वीपों में किलाबन्दी न कर सके। हवाई द्वीप में उसे किलाबन्दी करने का अधिकार दिया गया। ब्रिटेन के हाथ में हांगकांग आदि जो विविध प्रदेश व द्वीप प्रशान्त-महासागर में थे, उनमें उसे किलाबन्दी करने का अधिकार नहीं मिला। सिंगापुर में वह अपनी जलसेना का अड्डा बना सकता था। इस प्रकार हवाई और सिंगापुर ये दो ही ऐसे स्थान थे, जहां अमेरिका और ब्रिटेन अपनी जलशक्ति को केन्द्रित कर सकते थे। पर ये स्थान जापान से इतनी अधिक दूरी पर हैं, कि इनको आधार बनाकर जापान को विजय कर सकना सम्भव नहीं था। इस स्थिति में ब्रिटेन और अमेरिका की सम्मिलित जलशक्ति (१०) के मुकाबले में जापान की जलशक्ति (३) बहुत पर्याप्त थी। प्रशान्त महासागर के विविध द्वीपों की

किलाबन्दी करने का अधिकार जापान को नहीं दिया गया था, इस कारण जापान के लिये भी यह सुगम नहीं था, कि वह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि उपनिवेशों पर आक्रमण कर उन्हें अपनी अधीनता में ला सके।

(२) जलसेना को मर्यादित करने के सम्बन्ध में जो समझौता अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस, और इटली के बीच में हुआ, उसकी अवधि ३१ दिसम्बर, १९३६ तक नियत की गई। साथ ही यह भी व्यवस्था की गई, कि इस तिथि से दो साल पूर्व यदि कोई एक राज्य भी इस समझौते का अन्त करने का नोटिस दे दे, तो यह समझौता ३१ दिसम्बर, १९३६ के बाद जारी नहीं रहेगा। २९ दिसम्बर १९३४ को जापान ने इस व्यवस्था का उपयोग कर वाशिंगटन कान्फरेन्स के इस महत्त्वपूर्ण समझौते का अन्त कर देने का बाकायदा नोटिस दे दिया था और इसके परिणामस्वरूप १ जनवरी, १९३७ को इस समझौते का अन्त हो गया। १९३७ से जापान ने अपनी जलसेना की वृद्धि के लिये असाधारण रूप से उपक्रम प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटेन और अमेरिका भी इस क्षेत्र में जापान से पीछे नहीं रहे। वे भी अपनी जलसेना की वृद्धि के लिये तत्पर हो गये। १९३९ में बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध के सूत्रपात में इन राज्यों की प्रतिस्पर्धा एक महत्त्वपूर्ण कारण थी।

(३) वाशिंगटन कान्फरेन्स ने चीन के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की थी, उसका उल्लेख हम पहले एक अध्याय में विशद रूप से कर चुके हैं। उसे यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है। यहां इतना लिख देना पर्याप्त होगा, कि इस व्यवस्था के कारण शांतुंग प्रान्त में चीन का प्रभुत्व पुनः स्थापित हुआ और महायुद्ध के अवसर पर इस क्षेत्र में जापान ने जो अनेक विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये थे, उनका उसने बहुत अंशों में परित्याग कर दिया।

(४) १९०२ में ब्रिटेन और जापान में जो सन्धि हुई थी, उसके स्थान पर अब चार राज्यों की एक नई सन्धि हुई, जिस पर अमेरिका, ब्रिटेन, जापान और फ्रांस ने हस्ताक्षर किये। इस सन्धि द्वारा इन चारों राज्यों ने यह निश्चय किया कि पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जो प्रदेश व द्वीप जिस किसी राज्य के हाथ में इस समय हैं, उन पर उन्हीं राज्यों का अधिकार स्वीकृत किया जायगा और यदि इन चारों राज्यों द्वारा अधिकृत प्रदेशों के सम्बन्ध में कोई विवाद किन्हीं दो राज्यों में उठ खड़ा हो, तो वे उसका फैसला राजनय (डिप्लोमेशी) द्वारा करने का प्रयत्न करेंगे। यदि राजनय द्वारा फैसला कर सकने में वे समर्थ न हों, तो वे चारों राज्यों की कान्फरेन्स बुलाकर उसमें इस विवाद का फैसला

करेंगे। यह भी व्यवस्था की गई, कि यह सन्धि दस साल तक स्थिर रहेगी, और इस अवधि के समाप्त होने से पहले चारों राज्यों को हक होगा, कि वे बारह महीने का नोटिस देकर इस सन्धि का अन्त कर दें। किसी एक राज्य द्वारा दिया गया नोटिस भी सन्धि के अन्त के लिये पर्याप्त समझा जावेगा।

(५) पनडुब्बियों की संख्या को नियंत्रित करने और जहरीली गैसों के इस्तेमाल को रोकने के सम्बन्ध में भी वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा अनेक महत्वपूर्ण व्यवस्थाएं की गईं।

इसमें सन्देह नहीं, कि वाशिंगटन कान्फरेन्स पूर्वी एशिया में शान्ति स्थापित रखने में बहुत अधिक सहायक हुई। इस क्षेत्र में अमेरिका और जापान के हित एक दूसरे के साथ टकराते थे। प्रशान्त महासागर के पूर्व में अमेरिका स्थित है और पश्चिम में जापान। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अमेरिका और जापान दोनों ही अत्यन्त प्रबल व शक्तिशाली राज्य बन गये थे। इस दशा में प्रशान्त महासागर के सम्बन्ध में इन दो शक्तिशाली राज्यों में परस्पर हित विरोध की उत्पत्ति अस्वाभाविक नहीं थी। पेरिस की शान्ति परिषद् में अमेरिका और जापान का विरोध अनेक बार प्रकट हुआ था। इस दशा में वाशिंगटन कान्फरेन्स के निर्णयों द्वारा इन राज्यों के विरोध के दूर होने में बहुत सहायता मिली।

## (६) १९२२ से १९३१ तक जापान की विदेशी राजनीति

एशिया के आधुनिक इतिहास में सन् १९३१ से एक नये युग का प्रारम्भ होता है। इस साल जापान ने अपने साम्राज्य विस्तार की उस प्रक्रिया को प्रारम्भ किया था, जिसके कारण सन् १९४२ तक उसने सम्पूर्ण पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। १८९४-९५ के चीन-जापान युद्ध के समय से जापान ने अपने साम्राज्य को विस्तृत करना शुरू किया था। १९२२ में वाशिंगटन कान्फरेन्स के समय तक जापान अपने उद्देश्य में किस हद तक सफल हुआ था, इस विषय पर हम प्रकाश डाल चुके हैं। अब हमें यह प्रदर्शित करना है, कि १९२२ से १९३१ तक साम्राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में जापान की क्या नीति रही।

१९१४-१८ के महायुद्ध द्वारा संसार में आधुनिक युग की नवीन प्रवृत्तियों को बहुत बल मिला था। इस युद्ध के परिणाम स्वरूप यूरोप में जर्मनी के होहन्ट्-सोलर्न, आस्ट्रिया-हंगरी के हाप्सबुर्ग और रूस के रोमनोफ राजवंशों का अन्त हुआ। फ्रांस के बूर्बो राजवंश के समान ये तीन भी यूरोप के अत्यन्त प्राचीन व प्रभावशाली राजवंश थे। साथ ही, इस समय यूरोप में अनेक नये राज्यों

की स्थापना हुई, जिनका आधार राष्ट्रीयता का सिद्धान्त था। चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, युगोस्लाविया आदि के रूप में जो अनेक नये राज्य इस समय बने थे, वे राष्ट्रीयता की विजय के स्पष्ट प्रमाण थे। साथ ही जहां इन नये राज्यों में लोकतन्त्र रिपब्लिकों की स्थापना हुई थी, वहां जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, रूस आदि प्राचीन राज्यों में भी लोकतन्त्र शासन का सूत्रपात हुआ था। राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की यह लहर केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रही थी। भारत में इस समय असहयोग आन्दोलन ने ब्रिटिश शासन की स्थिति को बहुत कुछ डांवाडोल कर दिया था। टर्की में मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में सुलतान के शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना की गई थी। चीन में विद्यार्थी आन्दोलन ने इतना प्रचण्ड रूप धारण कर लिया था, कि शंघाई आदि नगरों में विदेशी लोगों का जीवन सुरक्षित नहीं रह गया था। महायुद्ध के बाद का काल साम्राज्य विस्तार के लिये अनुकूल नहीं था। राष्ट्रपति विल्सन के नेतृत्व में राष्ट्रसंघ द्वारा जो नये आदर्श प्रतिपादित किये जा रहे थे, वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद को बहुत महत्त्व देते थे। इस दशा में जापान जैसे साम्राज्यवादी देश के लिये भी यह सम्भव नहीं था, कि वह समय की प्रवृत्ति के विपरीत चीन में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने के लिये प्रयत्नशील हो सके। वाशिंगटन कान्फरेन्स में जापान ने जो शांतुंग प्रान्त में अपने विशेषाधिकारों के परित्याग की बात को स्वीकार कर लिया था, उसमें समय का प्रभाव प्रधान कारण था। इसी कारण जापान ने १९२२ में ब्लादीवोस्तोक से अपनी सेनाओं को वापस हटाने की बात स्वीकार कर ली थी और उत्तरी मञ्चूरिया के मामले में भी उसने अमेरिका के साथ समझौता कर लिया था। चीन में विद्यार्थी आन्दोलन जिस प्रकार उग्र रूप धारण कर रहा था, उसे दृष्टि में रखते हुए जापान ने यह भलीभांति समझ लिया था, कि यह समय साम्राज्य-विस्तार के लिये अनुकूल नहीं है। जब कुओमिन्तांग दल की शक्ति चीन में बढ़नी शुरू हुई, तो जनता में राष्ट्रीय भावनाओं का बड़ी प्रबलता के साथ सञ्चार हुआ। चीन की यह राष्ट्रीयता विदेशियों के प्रति विद्वेष की भावना से परिपूर्ण थी। इसीलिये जब कुओमिन्तांग दल की सेनाओं ने कैन्टन से उत्तर की तरफ बढ़ना शुरू किया, तो उन्होंने विदेशी लोगों पर कई स्थानों पर आक्रमण किये। मार्च, १९२७ में जब चियांग काई शेक की सेनाएं नानकिंग में प्रविष्ट हुईं, तो उन्होंने जापानी दूतावास पर हमला किया और अनेक जापानी नागरिक उनके क्रोध के शिकार बने। हैंको आदि अन्य नगरों में भी जापानी व अन्य विदेशियों पर इसी तरह के आक्रमण हुए। इस समय जो जापानी, ब्रिटिश, फ्रेञ्च आदि सरकारें चीन की राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को कुचलने के लिये अपनी प्रबल

शस्त्र शक्ति का उपयोग नहीं कर सकीं, उसका मुख्य कारण यही था, कि इस समय सर्वत्र राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद का जोर था। विदेशी लोग अनुभव करते थे, कि चीनी राष्ट्रवादियों के खिलाफ उग्र उपायों के अवलम्बन का यह परिणाम होगा, कि संसार का लोकमत उनके खिलाफ हो जायगा। इसी बात का यह परिणाम था, कि कुओमिन्तांग सरकार अपने देश से विदेशियों के प्रभुत्व को दूर कर सकने में बहुत अंशों तक सफलता प्राप्त करने में समर्थ हुई थी।

पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि चीन में विदेशी प्रभाव व प्रभुत्व का पूर्णतया अन्त हो गया था। विदेशी नागरिकों को एक्स्ट्रा-टैरिटोरियलिटी के अधिकार अब भी प्राप्त थे। जापानी भी ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदि के समान इनका उपभोग करता था। कोरिया तो पूर्ण रूप से जापान के प्रभुत्व में था ही, मञ्चूरिया में भी वह अपने आर्थिक व राजनीतिक प्रभुत्व का विस्तार करने में तत्पर था। मञ्चूरिया के सिपहसालार चांग त्सो-लिन के साथ जापानी सरकार का समझौता हुआ था। यह शक्तिशाली सिपहसालार जापानियों के आर्थिक प्रभुत्व का विरोध नहीं करता था। साथ ही उसे इस बात में भी कोई आपत्ति नहीं थी, कि रेलवे के क्षेत्र में जापानी लोग अपने राजनीतिक व सैनिक प्रभुत्व को भी कायम रखें। चांग त्सो-लिन पेकिंग की केन्द्रीय सरकार के झगड़ों में इतना व्यग्र था, कि अपने प्रदेश में विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभाव की तरफ ध्यान देने की उसे फुरसत ही नहीं थी। पर जापानी लोग भलीभांति समझते थे, कि चांग त्सो-लिन जैसे शक्तिशाली सिपहसालार के रहते हुए मञ्चूरिया में उनका मार्ग सर्वथा सुरक्षित नहीं रह सकता। जून, १९२८ में जिस प्रकार बॉम्ब द्वारा अकस्मात् चांग त्सो-लिन का देहावसान हुआ था, उसे दृष्टि में रखकर अनेक ऐतिहासिकों का विचार है, कि उसकी मृत्यु में जापानी लोगों का हाथ था। कुछ समय बाद ही (१९३१ में) जापानी लोगों ने मंचूरिया में अपने प्रभुत्व को पूर्ण रूप से स्थापित करने के प्रयत्न को प्रारम्भ कर दिया और उस प्रदेश में मञ्चूकुओ नाम से एक पृथक् राज्य की स्थापना की। मञ्चूकुओ राज्य जापान की संरक्षा में कायम हुआ था, और चीन के साथ उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं था।

पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि १९२२ से १९३१ तक जापान ने अपने साम्राज्य के प्रसार के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। इस समय जापान के आन्तरिक शासन में भी लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्ति प्रबल हो रही थी और जनता पार्लियामेन्टरी शासन की स्थापना में तत्पर थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि जापान साम्राज्य विस्तार के कार्य पर विशेष ध्यान न दे सके।

तेरहवां अध्याय

# जापान की प्रगति

## (१) राजनीतिक इतिहास

१८९५ से १९३० तक जापान ने अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये जो प्रयत्न किये, उनका विवरण हम पिछले अध्यायों में दे चुके हैं। पर इस काल में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक क्षेत्र में जो उन्नति जापान ने की, उसका उल्लेख हमने अभी तक नहीं किया है। इस अध्याय में हम इसी विषय पर प्रकाश डालेंगे।

जापान के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में जिस बात पर हमें विशेष रूप से प्रकाश डालना है, वह यह है कि इस काल में जापान के शासन में लोकतन्त्र के सिद्धान्तों का किस प्रकार प्रयोग किया गया, किस प्रकार वहां राजनीतिक दलों का विकास हुआ और जापानी सरकार ने अपने देश की उन्नति के लिये किन उपायों को प्रयुक्त किया। शोगुन शासन का अन्त होने के बाद किस प्रकार जापान में सम्राट् की सत्ता की पुनः स्थापना हुई थी और किस प्रकार वहां संविधान का निर्माण होकर पालियामेन्ट द्वारा शासन का सूत्रपात किया गया था, इस विषय पर पहले विचार किया जा चुका है। १८९५ से १९३० तक जहां जापान एक तरफ पाश्चात्य देशों के अनुसरण में पालियामेन्टरी शासन के विकास में तत्पर था, वहां उसने अपनी प्राचीन परम्पराओं का भी त्याग नहीं कर दिया था। सम्राट् के प्रति दैवी भावना व उसका असाधारण सम्मान अब भी जापानी जनता में विद्यमान था। पाश्चात्य देशों के सुधारवादी व क्रान्तिकारी विचारक जिस प्रकार अपने देशों के प्राचीन राजवंशों का मूलोच्छेद करके रिपब्लिक की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे, वैसा कोई यत्न जापान में नहीं हुआ। जापान ने पाश्चात्य देशों के ज्ञानविज्ञान को पूर्ण रूप से अपनाया, अपनी सैनिक शक्ति को भी पाश्चात्य राज्यों के समकक्ष कर लिया, पर उसने अपनी परम्परागत विशेषताओं को कायम रखा। सम्राट् के प्रति भक्ति भी उसकी इन विशेषताओं में से एक थी। सम्राट् के प्रति भक्ति की भावना के कारण जापानी लोगों ने शासनसूत्र का संचालन भी उसके हाथों में रखा हो, यह बात नहीं थी। यद्यपि शासन का सब

काम सम्राट् के नाम पर होता था, पर वह स्वयं राज्य का सञ्चालन नहीं करता था। ज्यों ज्यों जापान में पार्लियामेन्ट की शक्ति बढ़ती गई, सरकार पर राजनीतिक दलों के नेताओं का प्रभाव बढ़ता गया। पर पार्लियामेन्ट की शक्ति के विकास में जापान में कम समय नहीं लगा। संविधान की स्थापना के साथ ही ऐसे मन्त्रिमण्डलों का निर्माण नहीं हो गया, जो कि पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी हों। क्योंकि संविधान के अनुसार मन्त्रिमण्डल पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी न होकर सम्राट् के प्रति उत्तरदायी होता था, अतः स्वाभाविक रूप से राजदरबार में जिन लोगों का असर हो, वे मन्त्रिमण्डल के निर्माण में महत्त्वपूर्ण शक्ति रखते थे। यद्यपि शोगुन शासन के अन्त के बाद जापान में सामन्तपद्धति की भी समाप्ति कर दी गई थी, पर बड़े बड़े सामन्त राज्यों की स्थिति अभी सर्वथा लुप्त नहीं हुई थी। सत्सुमा और चोशू जैसे शक्तिशाली कुलों के नेता राजदरबार में बहुत अधिक प्रभाव रखते थे और वे मन्त्रिमण्डल के निर्माण, स्थिति और पतन के मामलों में खुले रूप से हस्तक्षेप करते थे।

शक्तिशाली कुलों के अतिरिक्त स्थल और जल सेना के सेनापतियों का भी शासन में अतुल प्रभाव था। इसके दो कारण थे। १८८९ की एक राजाज्ञा के अनुसार युद्ध मन्त्री और जलसेनामन्त्री को यह अधिकार दिया गया था, कि वे सम्राट् से सीधे मिल सकें। उनके लिये यह आवश्यक नहीं था, कि वे युद्ध व सेना सम्बन्धी मामलों पर पहले प्रधानमन्त्री के साथ परामर्श करें और फिर प्रधानमन्त्री की मार्फत ही सम्राट् से मिलकर राजकीय आदेश को प्राप्त करें। इस व्यवस्था के कारण युद्धमन्त्री और जलसेनामन्त्री को मन्त्रिमण्डल में ऐसी स्थिति प्राप्त थी, जिसके कारण वे अपने को प्रधानमन्त्री के अधीन न समझकर उसका समकक्ष मानते थे। १८९८ में एक अन्य राजाज्ञा प्रकाशित हुई, जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि युद्धमन्त्री के पद पर केवल ऐसा ही व्यक्ति नियत किया जा सके, जो स्वयं उच्च सैनिक पद पर रह चुका हो। इसी प्रकार जलसेना मन्त्री भी ऐसा ही व्यक्ति नियत हो सके, जो जलसेना में उच्च पदाधिकारी रह चुका हो। क्योंकि युद्ध सचिव व जलसेना सचिव को क्रमशः स्थल और जलसेनाओं पर शासन करना होता था, और इन पदों पर उन्हीं व्यक्तियों की नियुक्ति हो सकती थी, जो कि स्वयं उच्च सैनिक अफसर रहे हों, अतः स्वाभाविक रूप से इन मन्त्रियों की नियुक्ति के समय स्थल और जलसेना के उच्च पदाधिकारियों की सम्मति को महत्त्व दिया जाता था। युद्ध मन्त्री और जलसेना मन्त्री के पदों पर केवल ऐसे ही व्यक्ति नियत किये जाते थे, जिन्हें सैनिक अफसर चाहते हों और जिनसे सेना की उन्नति व हित का सम्पादन होने की आशा हो। १८९८ की इस राजाज्ञा का

यह परिणाम हुआ, कि मन्त्रिमण्डल में सेना का प्रभाव बहुत बढ़ गया। ये सैनिक मन्त्री सीधे सम्राट् से मिल सकते थे, अन्य मन्त्रियों की अपेक्षा किये बिना सम्राट् की सहमति से किसी भी निर्णय पर पहुंच सकते थे और इनके निर्णय मन्त्रि-मण्डल को स्वीकार करने पड़ते थे, चाहे वे उन्हें पसन्द न भी करते हों। इस दशा में जापान का मन्त्रिमण्डल उन अर्थों में लोकतन्त्र प्रभावों के अधीन नहीं था, जैसा कि आधुनिक युग के लोकतन्त्र राज्यों में होता है।

**पार्लियामेन्टरी शासन और राजनीतिक दलों का निर्माण**—पुराने सामन्त कुल, सम्राट् की दैवी सत्ता और सैनिक नेताओं का महत्त्व—ये तीन तत्त्व ऐसे थे, जो जापान में लोकतन्त्र पार्लियामेन्टरी शासन के विकास में बाधक थे। पर इन तत्त्वों के बावजूद भी जापान में ऐसे राजनीतिक दलों का विकास हो रहा था, जो पार्लियामेन्ट के शासन के पक्षपाती थे। यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि हम इन राजनीतिक दलों, इनके द्वारा निर्मित मन्त्रिमण्डलों व लोकतन्त्र शासन के लिये किये गये प्रयत्नों पर संक्षिप्त रूप से भी प्रकाश डाल सकें। इस सम्बन्ध में जापान में जो प्रयत्न हुए, उनका निर्देश कर देना ही इस ग्रन्थ के लिये पर्याप्त होगा। जापान में राजनीतिक दलों का निर्माण १८८१ में ही प्रारम्भ हो गया था। शुरू में वहां जो दल संगठित हुए, वे दो थे—जियुतो दल और कैशुन्तो दल। जियुतो दल का नेता काउण्ट इतागाकी था। यह दल उदार विचारों का पक्षपाती था। इसके विचार प्रायः वैसे ही थे, जैसे कि इस युग के पाश्चात्य देशों के लिबरल दलों के थे। कैशुन्तो दल का नेता काउण्ट ओकुमा था। विचारों की दृष्टि से यह दल जियुतो दल की अपेक्षा अधिक सनातनवादी (कन्जर्वेटिव) था। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इन दो दलों का संगठन विचारों व सिद्धान्तों के आधार पर उतना नहीं हुआ था, जितना कि प्रभावशाली व्यक्तियों के नेतृत्त्व के कारण। इतागाकी और ओकुमा जापान के अत्यन्त प्रभावशाली नेता थे, और इन्होंने अपने नेतृत्व में इन दो दलों का संगठन किया था। जियुतो और कैशुन्तो, दोनों दल ही यह चाहते थे, कि जापान में पुरानी सामन्तपद्धति का पूर्ण रूप से विनाश हो, जागीरदार कुलों की शक्ति का ह्रास हो और प्रतिनिधिसत्तात्मक लोकतन्त्र शासन की स्थापना हो। विचार और कार्यक्रम में बहुत कम भेद होते हुए भी ये दोनों दल १८९८ तक पृथक रूप से कायम रहे। इसका कारण यही था, कि इतागाकी और ओकुमा जैसे शक्तिशाली नेताओं के लिये एक साथ मिलकर कार्य कर सकना सुगम नहीं था।

संविधान की स्थापना—(१८८९) के बाद जापान में जो मन्त्रिमण्डल यामागाता (दिसम्बर, १८८९), मत्सुकाता (मई, १८९१) और इतो (अगस्त,

१८९२) के नेतृत्व में बने, उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। जब १८९४ में चीन-जापान का युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो प्रिंस इतो का मंत्रिमंडल विद्यमान था। इतो ने यत्न किया, कि युद्ध द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर विविध राजनीतिक दल अपने मतभेदों की उपेक्षा कर दें और सब मिलकर युद्ध में सहयोग दें। जापानी लोगों में देशभक्ति और राष्ट्रीयता के विचार कूट कूट कर भरे हुए थे। परिणाम यह हुआ, कि चीन-जापान युद्ध (१८९४-९५) के अवसर पर सब राजनीतिक दलों ने दिल खोलकर इतो की सहायता की। पर युद्ध के समाप्त हो जाने पर पार्लियामेन्ट में इतो का विरोध बहुत प्रबल हो गया। इस दशा में उसे प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र देने के लिये विवश होना पड़ा। १८९६ के शुरू में कैशिन्तो दल के नेता काउन्ट ओकुमा ने नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। इस समय ओकुमा ने अपने दल के आकार को बहुत अधिक बढ़ा लिया था। कैशिन्तो दल के पुराने सदस्यों के अतिरिक्त कतिपय अन्य लोगों को अपने साथ मिलाकर उसने एक नये दल का संगठन किया था, जिसे शिम्पोतो दल (प्रगतिशील दल) कहते थे। इस नये दल का मुख्य कार्यक्रम यह था, कि मन्त्रिमण्डल पार्लियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी हो। ओकुमा जापान में उसी ढंग का उत्तरदायी पार्लियामेन्टरी शासन स्थापित करना चाहता था, जैसा कि ब्रिटेन में विद्यमान था। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। वह जिन लोगों के सहयोग से काम कर रहा था, उनमें बहुत से व्यक्ति पुराने जागीरदार कुलों के साथ सम्बन्ध रखते थे। सत्सुमा और चोशू कुलों के सहयोग के बिना ओकुमा के लिये सफल हो सकना सम्भव नहीं था और इन कुलों के लोग पार्लियामेन्टरी शासन के विकास में अपनी शक्ति का ह्रास अनुभव करते थे। परिणाम यह हुआ, कि एक साल के बाद उसने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

अब (१८९७) इतो एक बार फिर प्रधानमन्त्री पद पर अधिष्ठित हुआ। शिम्पोतो और जियुतो दोनों दल उसके विरोध में थे। इस समय जापान की पार्लियामेन्ट में एक नया दल संगठित हुआ, जिसे केन्सेईकाई (संविधानवादी) कहते थे। यह दल भी पार्लियामेन्टरी शासन का पक्षपाती था। केन्सेईकाई दल में जहां शिम्पोतो और जियुतो दल सम्मिलित थे, वहां अन्य भी अनेक व्यक्ति शामिल हो गये थे, जो उत्तरदायी पार्लियामेन्टरी शासन के पक्षपाती थे। इतने लोगों के शामिल हो जाने के कारण केन्सेईकाई दल की शक्ति बहुत बढ़ गई थी और प्रिन्स इतो के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह सरकार का संचालन कर सके। परिणाम यह हुआ, कि विवश होकर प्रिंस इतो ने त्यागपत्र दे दिया।

प्रिंस इतो ने प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र देते हुए सम्राट् को परामर्श दिया,

कि केन्सेईकाई दल के नेताओं को मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य सुपुर्द किया जाय। जापान के इतिहास में यह सर्वथा नई बात थी। संविधान के निर्माण में प्रिंस इतो का प्रमुख कर्तृत्व था। जब उसने स्वयं केन्सेईकाई दल के मन्त्रिमण्डल की सिफारिश की, तो इससे यही सूचित होता था, कि उसने उत्तरदायी पालियामेन्टरी शासन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। क्योंकि जापान की पार्लियामेन्ट में बहुमत केन्सेईकाई दल का था, अतः यही उचित था, कि वही दल मन्त्रिमण्डल का भी निर्माण करे। १८९८ में इस दल ने अपना मन्त्रिमण्डल बनाया और उसमें ओकुमा और इतागाकी दोनों मन्त्री रूप से सम्मिलित हुए। पर यह मन्त्रिमण्डल भी देर तक कायम नहीं रह सका। चार मास बाद ही इसे त्यागपत्र दे देने के लिये विवश होना पड़ा। इसका कारण यह था, कि केन्सेईकाई दल का निर्माण अनेक पुराने दलों (जियुतो, शिम्पोतो आदि) के मिलने से हुआ था। सरकार के संचालन कार्य को हाथ में लेते हुए इन पुराने दलों के भेदभाव फिर प्रकट होने लगे और उनके नेताओं के लिये साथ मिलकर कार्य कर सकना सम्भव नहीं रहा। काउन्ट ओकुमा ने इस दल से पृथक् होकर अपने पुराने शिम्पोतो दल का पुनः संगठन किया। काउन्ट इतागाकी ने जियुतो दल का पुनरुद्धार नहीं किया, अपितु केन्सेईकाई दल में रहकर ही अपने अनुयायियों का संगठन कायम रखा। लोकतन्त्र सिद्धान्तों के अनुसार उत्तरदायी पार्लियामेन्टरी शासन की स्थापना का जो प्रथम प्रयत्न जापान में किया गया था, वह असफल हो गया।

अगला मन्त्रिमण्डल मार्क्विस यामागाता के नेतृत्व में बना। इसे पुराने जागीरदार कुलों का सहयोग प्राप्त था, पर पार्लियामेन्ट का बहुमत इसके पक्ष में नहीं था। केन्सेईकाई दल इसका समर्थक था, पर पार्लियामेन्ट में इस दल का भी बहुमत नहीं था। १९०० में यामागाता को भी अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा।

अब प्रिंस इतो ने एक बार फिर मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। इस बार उसने यह यत्न किया, कि पार्लियामेन्ट के बहुसंख्यक सदस्यों का सहयोग प्राप्त करे। उसने सैयुकाई नाम से एक नये दल का संगठन किया। केन्सेईकाई दल (जो पुराने जियुतो दल का उत्तराधिकारी था) के लोग इसमें शामिल हो गये। प्रिंस इतो के वैयक्तिक प्रभाव के कारण पार्लियामेन्ट के अन्य भी अनेक सदस्य सैयुकाई दल में सम्मिलित हुए, और पार्लियामेन्ट के बहुमत का समर्थन प्राप्त कर प्रिंस इतो अपना मन्त्रिमण्डल बना सकने में समर्थ हुआ। पर इतो यह नहीं चाहता था, कि मन्त्रिमण्डल अपनी स्थिति के लिये पार्लियामेन्ट के बहुमत पर निर्भर करे। उसने घोषणा की, कि संविधान के अनुसार मन्त्रियों को नियुक्त

करना सम्राट् के हाथों में है, और मन्त्री लोग तब तक अपने पद पर रह सकते हैं, जब तक कि सम्राट् उन्हें पदच्युत न करे। इस घोषणा का परिणाम यह हुआ, कि पार्लियामेन्ट में काउन्ट ओकुमा के शिम्पोतो दल की शक्ति बहुत बढ़ गई। लोकतन्त्र शासन के पक्षपाती लोग सैयुकाई दल को छोड़कर शिम्पोतो दल में शामिल हो गये। इस स्थिति में प्रिंस इतो के लिये प्रधानमन्त्री पद पर कायम रह सकना सम्भव नहीं था। मई, १९०१ में उसने त्यागपत्र दे दिया।

अब कत्सूरा नामक सेनापति के नेतृत्व में नया मन्त्रिमण्डल बना। कत्सूरा मार्क्विस यामागाता का अनुयायी था और लोकतन्त्र शासन से उसे कोई प्रेम नहीं था। उसे स्थल और जलसेना की सहायता का पूरा भरोसा था, और इसीलिये उसने पार्लियामेन्ट के समर्थन की विशेष चिन्ता नहीं की। कत्सूरा न केवल एक योग्य सेनानी था, अपितु कुशल राजनीतिज्ञ भी था। १९०२ में जापान ने ब्रिटेन के साथ जो सन्धि की थी, वह कत्सूरा के मन्त्रिमण्डल की ही कृति थी। इसी के शासन काल में रूस-जापान युद्ध (१९०४-५) हुआ। युद्ध की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर विविध राजनीतिक दलों ने मन्त्रिमण्डल को पूर्ण रूप से सहयोग दिया और यही कारण है, कि कत्सूरा मन्त्रिमण्डल अनेक वर्षों तक कायम रहा। रूस-जापान युद्ध में शुरू से ही जापानी सेनाओं को जो असाधारण सफलता प्राप्त हो रही थी, उसके कारण कत्सूरा मन्त्रिमण्डल जनता की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य में तत्पर था। पार्लियामेन्ट के विविध दलों ने जो उसका विरोध नहीं किया, उसमें यह एक प्रधान कारण था।

रूस-जापान युद्ध की समाप्ति पर पोर्ट्समाउथ में सन्धि परिषद् का अधिवेशन हुआ था। पोर्ट्समाउथ की सन्धि की शर्तें अनेक जापानी नेताओं की दृष्टि में सन्तोषजनक नहीं थीं। विशेषतया रूस से हरजाना न लेकर कत्सूरा मन्त्रिमण्डल ने एक ऐसा कार्य किया था, जिससे जनता बहुत असंतुष्ट थी। इस दशा में कत्सूरा मन्त्रिमण्डल का विरोध बहुत अधिक बढ़ गया और दिसम्बर, १९०५ में उसने त्यागपत्र दे दिया।

अब नया मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य प्रिंस सेओन्जी के सुपुर्द किया गया। यह प्रिंस इतो का अनुयायी था और इस समय सैयुकाई दल का नेतृत्व कर रहा था। यद्यपि यह जापान के एक अत्यन्त उच्च कुल (फूजीवारा) के साथ सम्बन्ध रखता था, पर इसकी शिक्षा फ्रांस में हुई थी और उस देश के लोकतंत्र विचारों के साथ सम्पर्क में आने के कारण यह स्वयं भी लोकतन्त्रवाद का पक्षपाती बन गया था। कत्सूरा का सम्बन्ध जापान के सैनिक कुलों के साथ था, और वह लोकतन्त्रवाद का समर्थक नहीं था। इसके विपरीत प्रिंस सेओन्जी का सैनिक कुलों के साथ

कोई सम्बन्ध नहीं था और फ्रांस के प्रभाव में रह चुकने के कारण वह लोकतन्त्र-वाद का प्रबल समर्थक था। दिसम्बर, १९०५ से १९१३ तक जापान का प्रधान-मन्त्री पद कभी सिओन्जी के हाथों में रहा और कभी कत्सूरा के। आठ वर्ष के इस काल में दो बार सिओन्जी प्रधानमन्त्री बना और दो बार कत्सूरा। इस काल के इन मन्त्रिमण्डलों के सम्मुख मुख्य समस्या आर्थिक थी। रूस-जापान युद्ध में जापान को बहुत अधिक रुपया खर्च करना पड़ा था। यदि पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा रूस को हरजाना देने के लिये विवश किया जाता, तो आर्थिक समस्या हल हो सकती थी। पर हरजाना न लेने के कारण जापानी सरकार के सम्मुख यही उपाय शेष था, कि टैक्सों को बढ़ाकर युद्ध की क्षति को पूरा किया जाय। खर्च में कमी इसलिये सम्भव नहीं थी, कि इस समय जापान अपनी जल और स्थल सेना पर अत्यधिक खर्च कर रहा था। वह साम्राज्यप्रसार के लिये तत्पर था, और इसमें सफलता तभी सम्भव थी, जब उसकी सैन्यशक्ति अजेय हो।

कत्सूरा के त्यागपत्र दे देने पर १९१३ में एड्मिरल यामामोतो जापान का प्रधानमन्त्री बना। पर उसका मन्त्रिमण्डल भी देर तक स्थिर नहीं रह सका। अब नया मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य काउन्ट ओकुमा के सुपुर्द किया गया। इस समय उसकी आयु ८० साल की थी। पर वह वैध शासन का प्रबल पक्षपाती था, और अपने सुदीर्घ राजनीतिक जीवन में उसने कभी भी अपने राजनीतिक सिद्धान्तों में परिवर्तन नहीं किया था। सैयुकाई दल से उसे सहायता की आशा नहीं थी। इस समय पार्लियामेन्ट में सैयुकाई दल का बहुमत था, अतः काउन्ट ओकुमा ने ब्रिटिश पार्लियामेन्टरी शासन की पद्धति का अनुसरण कर पार्लियामेन्ट को भंग कर दिया और नये निर्वाचन की व्यवस्था की। नई पार्लियामेन्ट में सैयुकाई दल का बहुमत नहीं था। ओकुमा ने कैन्सेईकाई दल का पुनः संगठन किया। यह दल लोकतन्त्र पार्लियामेन्टरी शासन का पक्षपाती था, और ओकुमा को इसका पूर्ण सहयोग प्राप्त था।

१९१४-१८ के महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय जापान में ओकुमा का मन्त्रिमण्डल विद्यमान था। उसी ने जर्मनों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की थी और जर्मन सेनाओं को परास्त कर शांतुंग प्रान्त में अपने विशेषाधिकारों की स्थापना कर ली थी। जापान की जिन २१ मांगों का उल्लेख पहले किया जा चुका है, उन्हें भी चीनी सरकार के सम्मुख ओकुमा मन्त्रिमण्डल द्वारा ही पेश किया गया था। ओकुमा स्वयं साम्राज्यवादी नहीं था। महायुद्ध के सम्बन्ध में भी वह उदार नीति का अनुसरण करना चाहता था। इसीलिये महायुद्ध में शामिल होने के समय उसने घोषणा की थी, कि जापान साम्राज्यवाद की नीति का

अनुसरण न करके अन्य राज्यों के अधिकारों का सम्मान करेगा। पर जापान में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो महायुद्ध द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों से लाभ उठाकर साम्राज्य विस्तार के इच्छुक थे। १९१५ के अन्त तक ये लोग इतने अधिक प्रबल हो गये थे, कि ओकुमा को त्यागपत्र दे देने के लिये विवश होना पड़ा।

अब नया मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य काउन्ट तेराउची के सुपुर्द किया गया। यह यामागाता का अनुयायी था और कट्टर साम्राज्यवादी था। जापान के सैनिक नेताओं का समर्थन इसे प्राप्त था। महायुद्ध के अन्त तक तेराउची का मन्त्रिमण्डल ही जापान में कायम रहा। क्योंकि पार्लियामेन्ट में केन्सेईकाई दल का बहुमत था और यह दल उदार विचारों व लोकतन्त्रवाद का समर्थक था, अतः तेराउची ने इस पार्लियामेन्ट को भंग कर नये निर्वाचन की व्यवस्था की। युद्ध की परिस्थितियों के कारण जापान में सैनिक नेताओं का जोर था, अतः नये चुनाव में केन्सेईकाई दल को अधिक सफलता नहीं हो सकी। अब तेराउची के लिये यह सर्वथा सुगम था, कि वह नव निर्वाचित पार्लियामेन्ट का सहयोग भलीभांति प्राप्त कर सके।

महायुद्ध की समाप्ति के बाद संसार में सर्वत्र लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्ति प्रबल हुई। जापान भी इस नई लहर से अछूता नहीं बच सका। साथ ही इस समय सर्वत्र कीमतें बढ़ने लगीं। कीमतों में वृद्धि के कारण सर्वसाधारण जनता के लिये अपना निर्वाह कर सकना कठिन हो गया। मजदूरों में सर्वत्र असन्तोष बढ़ने लगा। जापान के व्यावसायिक केन्द्रों में भी मजदूरों द्वारा अनेक विद्रोह हुए। इस दशा में काउन्ट तेराउची का मन्त्रिमण्डल कायम नहीं रह सका। सितम्बर, १९१८ में उसने अपने पद का परित्याग कर दिया।

काउन्ट तेराउची के बाद श्री हारा जापान के प्रधानमन्त्री बने। वे किसी जागीरदार कुल के व्यक्ति नहीं थे, न ही किसी सैनिक कुल के साथ उनका सम्बन्ध था। जापान में यह प्रथम अवसर था, जब कि मध्यश्रेणि का एक व्यक्ति प्रधानमन्त्री पद पर अधिष्ठित हुआ था। श्री हारा सैयुकाई दल के थे और प्रिंस सिओन्जी के बाद इस दल के नेता बने थे। पुरानी परम्परा के अनुसार अब प्रिंस सिओन्जी को प्रधानमन्त्री बनना चाहिये था, पर समय की गति को देखते हुए सिओन्जी ने यही उचित समझा था, कि नये मन्त्रिमण्डल को संगठित करने का कार्य श्री हारा के सुपुर्द किया जाय। हारा ने यह भार स्वीकृत करते हुए इस बात को भलीभांति स्पष्ट कर दिया था, कि वे उत्तरदायी लोकतन्त्र शासन में विश्वास रखते हैं और मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते हुए अपने राजनीतिक दल को पूर्ण रूप से महत्त्व देंगे। उन्होंने जो मन्त्रिमण्डल बनाया, उसमें दो के अति-

रिक्त अन्य सब मन्त्री सैयुकाई दल के थे और इन दो मन्त्रियों के विचार भी सैयुकाई दल के राजनीतिक सिद्धांतों से मिलते जुलते थे। यह पहला अवसर था, जब कि जापान में ब्रिटेन के समान पार्टी गवर्नमेन्ट का निर्माण हुआ था। यह बात समय की प्रवृत्ति के सर्वथा अनुकूल थी, क्योंकि इस समय संसार के सभी देशों में लोकतन्त्रवाद जोर पकड़ रहा था। पार्लियामेन्ट में सैयुकाई दल का बहुमत नहीं था, अतः हारा ने पार्लियामेन्ट को भंग कर नये निर्वाचन की व्यवस्था की। १९२० में जो नया निर्वाचन हुआ, उसमें सैयुकाई दल के उम्मीदवार बहुसंख्या में निर्वाचित हुए। हारा के मन्त्रिमण्डल ने अनेक ऐसी व्यवस्थाएं कीं, जिनके कारण जापान में लोकतन्त्रवाद के विकास में सहायता मिली। उसने मताधिकार को विस्तृत किया और कोरिया, फार्मूसा आदि अधिकृत प्रदेशों पर शासन करने के लिये ऐसे व्यक्तियों को नियत किया, जो सैनिक कुलों के न होकर लोकतन्त्रवाद के साथ सहानुभूति रखनेवाले थे। श्री० हारा इस समय जापान में जिस नीति का अनुसरण कर रहे थे, उससे लोकतन्त्रवाद के विरोधी लोग उनसे बहुत असंतुष्ट थे। परिणाम यह हुआ, कि नवम्बर, १९२१ में तोक्यो के रेलवे स्टेशन पर उन पर हमला किया गया और वे कतल हो गये।

अब सैयुकाई दल का नेता काउन्ट ताकाहाशी को चुना गया। श्री० हारा द्वारा संगठित मन्त्रिमण्डल उनकी हत्या के बाद भी कायम रहा। अन्तर केवल इतना आया, कि प्रधानमन्त्री का पद ताकाहाशी ने ग्रहण कर लिया। इस समय वाशिंगटन में पूर्वी एशिया की विविध समस्याओं पर विचार करने के लिये कान्फरेन्स हो रही थी। उसमें जापान ने जिस उदार नीति का अनुसरण किया था, उसका प्रधान श्रेय श्री हारा और काउन्ट ताकाहाशी के मन्त्रिमण्डल को ही दिया जाना चाहिये। वाशिंगटन कान्फरेन्स में जापान ने किस प्रकार अपनी जलसेना को मर्यादित करने व शांतुंग प्रान्त में अपने विशेषाधिकारों को कम करने की बात को स्वीकार किया था, इस पर हम पहले विशद रूप से प्रकाश डाल चुके हैं।

काउन्ट ताकाहाशी के नेतृत्व में सैयुकाई दल की एकता कायम नहीं रह सकी। इसका परिणाम यह हुआ, कि सैयुहोन्तो नाम से एक नये दल का संगठन किया गया। इस दशा में काउन्ट ताकाहाशी ने त्यागपत्र दे दिया, और एड्मिरल कातो जापान के नये प्रधानमन्त्री बने। पर कातो का मन्त्रिमण्डल किसी विशिष्ट राजनीतिक दल की सहायता पर आश्रित नहीं था। यद्यपि सैयुहोन्तो दल का समर्थन उसे प्राप्त था, पर उसका निर्माण किसी एक दल के आधार पर नहीं किया गया था। २४ अगस्त, १९२३ को कातो की मृत्यु हो गई। अब एड्मिरल

यामामोतो नये प्रधानमन्त्री बने। इन्हीं के समय में जापान में वह भयंकर भूचाल आया, जिसमें बहुत से समृद्ध नगर नष्ट हो गये और जापान का आर्थिक जीवन बहुत अस्त व्यस्त हो गया।

मई, १९२४ में पार्लियामेन्ट का नया निर्वाचन हुआ। इस निर्वाचन में कैन्सेईकाई दल के १५१, सैयुहोन्तो दलके ११६ और सैयुकाई दल के १०० उम्मीदवार निर्वाचित हुए। १९२४ के इस निर्वाचन में उदार और लोकतन्त्र दलों को असाधारण सफलता हुई थी। इसका कारण यह था, कि इस समय जापान में मताधिकार बहुत अधिक विस्तृत हो गया था और संसार में सर्वत्र लोकतन्त्रवाद का जोर था। अब कैन्सेईकाई दल के लिये यह सम्भव था, कि अन्य लोकतन्त्रवादी दलों के सहयोग से एक ऐसे मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सके, जो नई भावनाओं का पक्षपाती हो। अब काउन्ट कातो (एडिमरल कातो नहीं) के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डलका निर्माण हुआ, जिसे कैन्सेईकाई और सैयुकाई दलोंका समर्थन प्राप्त था। पर शीघ्र ही सैयुकाई दल काउन्ट कातो के मन्त्रिमण्डल का विरोधी हो गया और कातो ने कैन्सेईकाई दल व कतिपय स्वतन्त्र सदस्यों के समर्थन से एक नये मन्त्रिमण्डल (१९२५) का निर्माण किया। श्री कातो का यह मन्त्रिमण्डल १९२७ तक कायम रहा। इस समय कैन्सेईकाई दल के मुकाबले में सैयुकाई दल का जोर अधिक बढ़ गया और श्री कातो के त्यागपत्र दे देने पर बैरन तनका ने नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। बैरन तनका को सैयुकाई दल का समर्थन प्राप्त था। उसका मन्त्रिमण्डल १९२९ तक कायम रहा।

१९२७ में जापान में एक नये दल का संगठन हुआ, जिसका नाम मिन्सेइतो दल था। सैयुहोन्तो दल और कैन्सेईकाई दल ने साथ मिलकर इस नये मिन्सेइतो दल का संगठन किया था। १९३० के निर्वाचन में मिन्सेइतो दल के २७३ और सैयुकाई दल के १७४ उम्मीदवार पार्लियामेन्ट में निर्वाचित हुए। इसका परिणाम यह हुआ, कि बैरन तनका के मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया और श्री हामागुची के नेतृत्व में मिन्सेइतो दल के मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ। मिन्सेइतो दल का यह मन्त्रिमण्डल १९३१ के अन्त तक कायम रहा। इस समय मञ्चूरिया के क्षेत्र में जापान ने अपने साम्राज्यवाद का प्रसार प्रारम्भ कर दिया था। मिन्सेइतो दल उदार और लोकतन्त्र विचारों का समर्थक था। वह साम्राज्यवाद की नीति के संचालन के लिये अधिक उपयुक्त नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि जनता में उसके प्रति असन्तोष बढ़ गया और १९३१ का अन्त होने से पूर्व ही उसने त्यागपत्र दे दिया।

१९३२ में जापान की पार्लियामेन्ट का नया निर्वाचन हुआ। इसमें सैयुकाई

दल के ३०४ और मिन्सेइतो दल के १४७ उम्मीदवार निर्वाचित हुए। निर्वाचन से पूर्व ही मिन्सेइतो दल के मन्त्रिमण्डल के त्यागपत्र दे देने पर श्री इनुकाई के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का संगठन हो गया था। श्री० इनुकाई इस समय सैयुकाई दल के नेता थे। पार्लियामेन्ट में अपने दल का बहुमत होने के कारण ही इन्होंने १९३२ में नया निर्वाचन कराया था। कुछ समय बाद श्री इनुकाई की हत्या हो गई, और जनरल सैतो व जनरल अराकी के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ। जिस समय मञ्चूरिया में अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये जापानी सरकार भगीरथ प्रयत्न में लगी थी, जनरल अराकी ही उसके कर्णधार थे।

१८९५ से १९३१ तक जापान का शासन किन किन मन्त्रिमण्डलों के हाथ में रहा, इसका यहां हमने अत्यन्त संक्षिप्त रूप से उल्लेख किया है। जापान के इस काल के राजनीतिक इतिहास की ये ही उल्लेख योग्य घटनाएं हैं। इनसे निम्न-लिखित बातें भलीभांति स्पष्ट हो जाती हैं—(१) जापान धीरे धीरे लोकतन्त्र शासन के मार्ग पर अग्रसर हो रहा था। उसमें राजनीतिक दलों का भी संगठन जारी था। इन राजनीतिक दलों के सिद्धान्तों और आदर्शों में भेद था। शुरू में सेयुकाई दल उदार नीति और लोकतन्त्रवाद का समर्थक था, पर कैन्सेईकाई दल के संगठन के कारण सैयुकाई दल आपेक्षिक दृष्टि से अनुदार व कन्जर्वेटिव हो गया था। कैन्सेईकाई दल उसकी अपेक्षा लोकतन्त्रवाद में अधिक आगे बढ़ गया था। जापान के विविध राजनीतिक दलों का आधार जहां कतिपय प्रभावशाली नेताओं का व्यक्तित्त्व था, वहां साथ ही उनके अपने सिद्धान्त व आदर्श भी थे, जिनको सम्मुख रखकर जापान में विविध उम्मीदवार अपने को पार्लियामेन्ट में निर्वाचित कराने का यत्न करते थे। (२) देश के शासन में पुराने जागीरदार कुलों व सैनिक नेताओं का बहुत महत्त्व था, पर बीसवीं सदी में इनकी अपेक्षा राजनीतिक नेताओं का महत्त्व अधिक बढ़ने लग गया था।

इन विविध मन्त्रिमण्डलों के शासन काल में जापान की जो आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक उन्नति हुई, उस पर हम इसी अध्याय के अगले प्रकरणों में प्रकाश डालेंगे।

**नये सम्राट्**—जिस सम्राट् के समय में शोगुन शासन का अन्त होकर सम्राट् की शक्ति की पुन: स्थापना हुई, उसका नाम मुत्सुहितो या मेइजी था। ४५ साल के सुदीर्घ शासन के बाद १९१२ में सम्राट् मेइजी की मृत्यु हो गई। इसमें सन्देह नहीं, कि मेइजी के शासन काल में जापान ने असाधारण उन्नति की। १८६७ में जब मुत्सुहितो जापान के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था, तो जापान की

राजनीतिक, सैनिक व आर्थिक दशा चीन के मुकाबले में किसी भी प्रकार अच्छी नहीं थी। पर उसकी मृत्यु से पूर्व जापान संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली राज्यों में गिना जाने लगा था। कोरिया और फोर्मूसा उसके अधीन हो चुके थे और मञ्चूरिया में उसका प्रभाव क्षेत्र कायम हो गया था। रूस जैसे शक्तिशाली पाश्चात्य राज्य को युद्ध में परास्त कर देने के कारण सारा संसार जापान का सिक्का मानने लग गया था। यही कारण है, कि १९१२ में जब सम्राट् मेइजी की मृत्यु हुई, तो जापान में बहुत शोक मनाया गया। उसके स्मारक रूप में तोक्यो के समीप एक विशाल मन्दिर का निर्माण किया गया।

सम्राट् मुत्सुहितो (मेइजी) के बाद योशीहितो जापान का सम्राट् बना। सम्राट् बनने पर यह तैशो के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सम्राट् तैशो की मानसिक दशा ठीक नहीं थी और इस कारण वह राज्य के भार को संभाल सकने में असमर्थ था। १९२१ में युवराज हिरोहितो ने रीजेन्ट के रूप में जापान का शासन प्रारम्भ किया। १९२६ में तैशो की मृत्यु हो गई और हिरोहितो सम्राट् शोवा के नाम से जापान के राज-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। सम्राट् शोवा आधुनिक युग की प्रवृत्तियों से भली-भांति परिचित था। वह पाश्चात्य देशों की यात्रा कर चुका था और यूरोप व अमेरिका की राजनीतिक दशा से भलीभांति परिचित था। इसीलिये उसके शासनकाल में सम्राट् और जनता में अधिक घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ। उसकी साम्राज्ञी भी जनता के साथ सम्पर्क रखती थी और अनेक सार्वजनिक कार्यों में हाथ बटाती थी। यूरोप के अनेक राजाओं व राजनीतिक नेताओं के समान सम्राट् शोवा भी साम्राज्यवाद का कट्टर पक्षपाती था। यही कारण है, कि उसके शासनकाल में जापान अपने साम्राज्य के विस्तार के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील हुआ। शोवा के समय के युद्धों का उल्लेख हम अगले अध्यायों में करेंगे।

## (२) आर्थिक उन्नति

१८९५ से १९३१ तक का जापान का राजनीतिक इतिहास विशेष महत्त्व का नहीं है। इस काल में जापान ने अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये जो प्रयत्न किया, एशिया व संसार के इतिहास में वही महत्त्व रखता है। पर इस समय आर्थिक क्षेत्र में जापान ने जो असाधारण उन्नति की, वह न केवल उसके अपने लिये अपितु सम्पूर्ण एशिया के लिये बहुत गौरव की बात थी। जापान की आर्थिक उन्नति का प्रारम्भ १८९५ से पहले ही हो चुका था। चीन जापान के युद्ध (१८९४–९५) से पहले ही जापान अपने व्यवसायों और व्यापार की उन्नति के लिये असाधारण रूप से प्रयत्नशील था। रेलवे लाइन और सड़कों का वहां

पर्याप्त विस्तार हो गया था, नये ढंग के बैंक भी वहां स्थापित हो गये थे, मुद्रापद्धति का आधुनिक ढंग से संगठन भी वहां कर लिया गया था, डाकघर टैलीग्राफ व टैलीफोन का भी वहां विकास हो चुका था और विविध प्रकार के जहाज भी वहां बनने शुरू हो गये थे। पर आर्थिक क्षेत्र में जापान ने जो असाधारण उन्नति बीसवीं सदी में की, उसका वास्तविक रूप से प्रारम्भ १८९५ के बाद में ही हुआ था। १९०३ के बाद जापान संसार के सबसे उन्नत व्यवसाय-प्रधान देशों में गिना जाने लगा और वहां ओसाका जैसे विशाल व्यावसायिक नगरों का विकास हुआ, जो ब्रिटेन के बर्मिंघम सदृश व्यावसायिक नगरों के समकक्ष थे।

**विदेशी व्यापार**—जापान की व्यावसायिक उन्नति का अनुमान उसके विदेशी व्यापार के विकास से भलीभांति किया जा सकता है। १८८५ में जापान के कुल विदेशी व्यापार का मूल्य ६,६५, ००,००० येन था। १९१८ तक यह बढ़ कर ४,००,००,००,००० येन तक पहुंच गया था। विदेशी व्यापार में यह असाधारण उन्नति किस प्रकार हुई, यह निम्न तालिका द्वारा भलीभांति स्पष्ट की जा सकती है—

| वर्ष | विदेशी व्यापार |
|---|---|
| १८८५ | ६,६५,००,००० येन |
| १८९४ | २३,००,००,००० येन |
| १९०४ | ६९,०५,००,००० येन |
| १९१४ | १,५८,७०,००००० येन |
| १९१८ | ४,००,००,००,००० येन |

ऊपर जो अंक दिये गये हैं, उन पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। १८८५ से १९१८ तक केवल ३४ साल के काल में जापान के विदेशी व्यापार में ६० गुना से भी अधिक वृद्धि हो गई थी। यह आश्चर्यजनक वृद्धि उस व्यावसायिक उन्नति का परिणाम थी,* जो इस काल में जापान में बड़ी तेजी के साथ हो रही थी।

१८८५ से १८९४ तक जापान के विदेशी व्यापार में आयात माल की अपेक्षा निर्यात माल की मात्रा अधिक थी। इसका कारण यह था, कि इस समय जापान विदेशों से मशीनरी, जहाज आदि अधिक परिमाण में नहीं खरीदता था। १८९५ से १९१३ तक जापान के निर्यात माल की अपेक्षा आयात माल की मात्रा अधिक बढ़ गई, कारण यह कि इस समय जापान विदेशों से बहुत बड़ी मात्रा में मशीनरी

आदि के क्रय में तत्पर था। १९१४ में जब यूरोपीय महायुद्ध शुरू हुआ, जापान में व्यावसायिक उन्नति यथेष्ठ परिमाण में हो चुकी थी। अब जापान को यह आवश्यकता नहीं रही थी, कि वह अपनी मशीनरी, युद्ध सामग्री, जहाज आदि के लिये विदेशों पर निर्भर करे। ये सब वस्तुएं अब जापान में ही तैयार होने लग गई थी। महायुद्ध द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों में जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस, आदि पाश्चात्य देशों के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे अपना तैयार माल एशिया के विभिन्न देशों में भेज सकें। इन देशों के बाजार जापानी माल का स्वागत करने के लिये तैयार थे। जापान ने इस दशा से पूरा पूरा लाभ उठाया। बहुत बड़े परिमाण में जापान का तैयार माल भारत, बरमा, इन्डोचायना आदि देशों में बिकने लगा और इस कारण उसके निर्यात माल की मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई। महायुद्ध के कारण जापान के व्यावसायिक उत्कर्ष को बहुत सहायता मिली। यूरोपियन माल अब विदेशों में बिकने के लिये नहीं जा सकता था, एशिया के बाजार कपड़ा, रेशम, मशीनरी आदि सब प्रकार के माल के लिये प्यासे हो रहे थे। जापान ने इस अवसर का अपनी व्यावसायिक उन्नति के लिये उपयोग किया। महायुद्ध की समाप्ति तक एशिया के विविध बाजारों पर जापान अपना प्रभुत्व इतनी दृढ़ता से जमा चुका था, कि यूरोपियन देशों के लिये वहां उसका मुकाबला कर सकना सम्भव नहीं रहा था। १९२३ में जापान में भयंकर भूकम्प आया। इस प्राकृतिक विपत्ति के कारण उसके व्यवसायों को भारी नुकसान पहुंचा। इससे उसके विदेशी व्यापार को भी धक्का लगा और कुछ समय के लिये एक बार फिर जापान के निर्यात माल की मात्रा आयात माल की अपेक्षा कम हो गई, क्योंकि भूकम्प से हुई क्षति की पूर्ति के लिये उसे विदेशों से बहुत बड़े परिमाण में माल मंगाने की आवश्यकता हुई थी।

व्यावसायिक उन्नति के कारण धीरे धीरे जापान के विदेशी व्यापार के स्वरूप में भी अन्तर आना प्रारम्भ हुआ। उसके निर्यात माल में तैयार माल की और आयात माल में कच्चे माल की मात्रा निरन्तर बढ़ती गई।

**व्यावसायिक उन्नति**—१८९५ के बाद जापान की व्यावसायिक उन्नति कितनी तेजी के साथ हुई, इसे स्पष्ट करने के लिये उसके विदेशी व्यापार के अंक ही पर्याप्त हैं। पर इस सम्बन्ध में कतिपय व्यवसायों का निदर्शन करना भी उपयोगी है। १९०५ में जापान के वस्त्र व्यावसाय में ७,१६,००० हाथ से चलनेवाली खड्डियों और १९,०४० मशीन से चलने वाली खड्डियों की सत्ता थी। १९१४ में मशीन की खड्डयों की संख्या १९,०४० से बढ़कर १,२३,००० हो गई और हाथ से चलनेवाली खड्डियों की संख्या ७,१६,००० से घटकर ४,००,००० रह गई।

९ साल के थोड़े से समय में मशीन की खड्डियों की संख्या में छः गुना की वृद्धि हो गई। १९१४ के बाद यह वृद्धि और भी तेजी से हुई। १९३१ तक यह दशा आ गई थी, कि वस्त्र व्यवसाय के क्षेत्र में जापान का स्थान संसार में तीसरे नम्बर पर था। जापान में तैयार हुआ सूत और कपड़ा भारत और चीन के बाजारों में बहुत बड़े परिमाण में बिकता था। हाथ की खड्डियों द्वारा भी जापान में जो कपड़ा तैयार होता था, विदेशों में उसकी बहुत मांग थी, कारण यह कि कला की दृष्टि से यह कपड़ा अत्यन्त उत्कृष्ट होता था।

सूती वस्त्र के समान रेशमी कपड़े के व्यवसाय में भी जापान ने असाधारण उन्नति की थी। १९२८ में संसार भर में जितना रेशम तैयार होता था, उसका दो तिहाई जापान में तैयार होता था। इस समय जो माल जापान से बाहर विदेशों में जाता था, रेशम की मात्रा उसका ४० प्रतिशत थी। यह रेशम प्रधानतया अमेरिका जाता था। रेशम और सूती कपड़े के अतिरिक्त ऊनी वस्त्र भी अच्छी बड़ी मात्रा में जापान में तैयार होते थे। १९३१ के बाद जापान के ऊन के व्यवसाय में विशेष रूप से उन्नति हुई।

जापान की व्यावसायिक उन्नति का अन्दाज एक अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है। १९०५ में जापान में केवल ८३ जायन्ट स्टाक कम्पनियां विद्यमान थीं। इनमें कुल मिलाकर २०,००,००० येन पूंजी लगी हुई थी। १९१४ में जापान की जायन्ट कम्पनियों की संख्या बढ़कर १९८ पहुंच गई थी और उनमें लगी हुई पूंजी भी २०,००,००० से बढ़कर २,१०,००,००० तक पहुंच गई थी।

वस्त्र व्यवसाय के अतिरिक्त जहाज, दियासलाई, कागज, शराब, कृत्रिम खाद, लोहा आदि को तैयार करने के व्यवसाय भी इस काल में जापान में बहुत तेजी के साथ उन्नत हुए, और रेलवे के विस्तार से जापान की व्यावसायिक उन्नति में बहुत सहायता मिली। शुरू में रेलवे का व्यवसाय प्राइवेट कम्पनियों के हाथ में था। १९०७ के बाद सरकार ने रेलवे को अपने स्वामित्व में लाना प्रारम्भ किया। रेलवे के समान जहाज का व्यवसाय भी जापान में बहुत उन्नति कर रहा था। १८९० तक समुद्र तट के साथ होने वाला सब व्यापार जापान के अपने जहाजों द्वारा होने लगा था। १८९० के बाद जापान में ऐसे जहाज भी बनने शुरू हुए, जो महासमुद्रों को पारकर विदेशों में माल को ले जाते थे। चीन और रूस के साथ हुए युद्धों के समय से जापान के जहाज व्यवसाय ने और अधिक उन्नति की। विशेषतया रूस के साथ हुए युद्ध के बाद (१९०५) जापान में अनेक ऐसी कम्पनियां स्थापित हुईं, जिनके जहाज संसार के प्रायः सभी बन्दरगाहों में चक्कर लगाने लगे। अब तक पूर्वी एशिया का सब व्यापारी माल प्रायः अंग्रेजी जहाजों

द्वारा ढोया जाता था। १९०५ के बाद माल ढोने के व्यवसाय पर जापान का प्रभुत्व निरन्तर बढ़ता गया। १९१४–१८ के महायुद्ध द्वारा जापान को अपने जहाजों की उन्नति का सुवर्णीय अवसर हाथ लगा। इस समय यूरोप के जहाजों के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे एशिया में व्यापार के निमित्त आ जा सकें। जर्मनी की पनडुब्बियों द्वारा ब्रिटेन और फ्रांस के जहाज बड़ी संख्या में डुबाये जा रहे थे। इस दशा से लाभ उठाकर जापान ने बड़ी तेजी के साथ नये जहाजों का निर्माण प्रारम्भ किया। मुसाफिरों को ले जानेवाले, माल ढोने वाले और युद्ध के काम आने वाले सब प्रकार के जहाज बहुत बड़ी संख्या में जापान में बनाये जाने शुरू हुए। १९२९ तक यह अवस्था आ गई थी, कि व्यापारिक जहाजों की दृष्टि से जापान का स्थान संसार में तीसरे नम्बर पर था। केवल संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन ही ऐसे देश थे, जो इस क्षेत्र में उससे आगे बढ़े हुए थे। अब जापान के जहाज न केवल अपने देश के माल को ढोने के लिये प्रयुक्त होते थे, अपितु अन्य देशों के माल को भी ढोते थे। जापानी जहाजों के अफसर, इन्जीनियर आदि भी अब पूर्ण रूप से जापानी लोग होने लगे थे। कोई ऐसा भी समय था, जब जापानी जहाजों के अफसर विदेशी लोग हुआ करते थे, यह बात भी अब लोग भूलने लग गये थे।

**व्यावसायिक उन्नति के परिणाम**—इसमें सन्देह नहीं, कि व्यावसायिक उन्नति द्वारा जापान के आर्थिक विकास में बहुत अधिक सहायता मिली। पर साथ ही इससे अनेक दुष्परिणाम भी उत्पन्न हुए। यूरोप में जब पहले पहल व्यावसायिक क्रान्ति हुई थी, तो वहां भी ये दुष्परिणाम उत्पन्न हुए थे। जापान में व्यावसायिक क्रान्ति के परिणामों का अत्यन्त संक्षिप्त रूप में इस प्रकार निदर्शन किया जा सकता है–(१) इससे आर्थिक उत्पत्ति में बहुत वृद्धि हुई। पहले के मुकाबले में माल अत्यधिक परिमाण में तैयार होने लगा। इसी से उसके विदेशी व्यापार में असाधारण रूप से वृद्धि हुई। (२) गृह व्यवसायों का अन्त होकर विशालकाय कारखानों का प्रारम्भ हुआ। पुराने समय का जापानी कारीगर अपने घर पर रह कर आर्थिक उत्पादन करता था। घर पर ही उसका छोटा सा कारखाना होता था, जिसमें वह अपनी स्त्री, बच्चों तथा अन्य अन्तेवासियों (शागिर्दों) के साथ मिलकर आर्थिक उत्पत्ति करता था। उसके काम करने के कोई घंटे नियत नहीं होते थे। वह जब चाहता और जितने समय तक चाहता काम करता था। पर व्यावसायिक क्रान्ति के कारण गृह व्यवसायों का स्थान वे फैक्टरियां व मिलें लेने लगीं, जिनमें श्रमी व कारीगर की अपेक्षा मशीनों का महत्व अधिक था। कारीगर अब स्वतन्त्र उत्पादक न रहकर भृति प्राप्त करनेवाला मजदूर बन गया।

(३) आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में पूंजीपतियों का महत्व बढ़ने लगा। (४) विशाल व्यावसायिक नगरों का विकास हुआ, जिनमें देहातों से हजारों पुरुष, स्त्री, व बच्चे मजदूरी प्राप्त करने के लिये एकत्र होने लगे। इन नगरों में मजदूरों के निवास की समुचित व्यवस्था नहीं थी। जिन मकानों में मजदूर लोग निवास के लिये विवश होते थे, वे मनुष्यों के रहने के लिये उपयुक्त नहीं थे। (५) पारिवारिक जीवन पर व्यावसायिक उन्नति ने बहुत बुरा असर डाला। मजदूरों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे शहर में परिवार के निवास योग्य स्थान को प्राप्त कर सकें। एक एक कोठरी में बहुत से मजदूर एक साथ निवास के लिये विवश होते थे। उनके लिये अपनी स्त्रियों व बच्चों को साथ रख सकना कठिन था। परिणाम यह हुआ, कि पारिवारिक जीवन का सुख व शान्ति नष्ट होने लगी। साथ ही आजीविका की तलाश में बहुत सी स्त्रियों व बच्चों ने भी कारखानों में मजदूरी करनी शुरू कर दी। मशीनों से चलने वाले कारखानों में काम करने के लिये शारीरिक बल व शिल्प नैपुण्य की विशेष आवश्यकता नहीं थी। उनमें स्त्रियां व बच्चे भी सुगमता से काम कर सकते थे। पूंजीपतियों को इन्हें मजदूरी पर रखना लाभदायक प्रतीत होता था, क्योंकि इनकी मजदूरी की दर कम होती थी। कारखानों में काम करने के कारण स्त्रियों और बच्चों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता था। (६) व्यावसायिक उन्नति के कारण जापान में एक नये श्रेणीभेद का विकास शुरू हुआ। मजदूरों में अपनी पृथक सत्ता व अपने अधिकारों की भावना उत्पन्न हुई और वे पूंजीपतियों से संघर्ष के लिये तत्पर होने लगे। (७) स्त्रियों की दशा पर व्यावसायिक क्रान्ति ने बहुत बुरा असर डाला। स्त्रियों की मजदूरी की दर कम थी, इसलिये पूंजीपतियों ने कारखानों में काम करने के लिये स्त्रियों व लड़कियों को बहुत बड़ी संख्या में भरती किया। जापान के कारखानों में कुल मिलाकर जितने लोग मजदूरी करते थे, उनमें स्त्रियों की संख्या ६० प्रतिशत थी। वस्त्र व्यवसाय में तो स्त्री मजदूर और भी अधिक थे, उनकी संख्या ८० प्रतिशत के लगभग थी। कारखानों में काम करने वाले बच्चों में भी लड़कियां ८० प्रतिशत थीं। इन लड़कियों को देहातों से भरती किया जाता था। मां बाप परिवार की गरीबी को दृष्टि में रखकर खुशी से लड़कियों को शहरों के कारखानों में काम करने के लिये भेज देते थे। कारखानों की ओर से इन लड़कियों के रहने के लिये लम्बी लम्बी बैरकें बनी होती थीं। इन्हें विश्राम करने के लिये एक-एक चटाई दे दी जाती थी, जिन पर लड़कियां अपना बिस्तरा बिछाकर सो जाती थीं। उनके रहने की परिस्थितियां इतनी दयनीय थीं, कि उनके लिये अपना किसी भी

प्रकार का विकास कर सकना सम्भव नहीं था। कारखानों में बारह घण्टे के लगभग मजदूरी करने के बाद ये इतना थक जाती थीं, कि अपनी थकान को मिटाने के लिये शराब, जूआ या लैंगिक सुख का आश्रय लेती थीं। इसका परिणाम यह होता था, कि जापान की मजदूर स्त्रियों में नैतिक पतन बड़ी तेजी से हो रहा था। व्यावसायिक क्रान्ति ने जापान में जो अनेक दुष्परिणाम उत्पन्न किये, उनमें स्त्रियों व सुकुमार बालिकाओं का नैतिक पतन सबसे अधिक बुरा था।

**मजदूरों की दशा में सुधार का प्रयत्न**—जापान में व्यावसायिक उन्नति इतनी अधिक तेजी के साथ हुई, कि वहां के राजनीतिक नेता व विचारक मजदूरों की दुर्दशा पर तुरन्त ध्यान नहीं दे सके। इङ्गलैण्ड, फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों में भी व्यावसायिक क्रान्ति ने इसी प्रकार के दुष्परिणाम उत्पन्न किये थे। वहां भी तीन चौथाई सदी के लगभग समय तक सरकारों का ध्यान मजदूरों की दुर्दशा के प्रति आकृष्ट नहीं हुआ था। जब विविध सुधारकों के प्रयत्न से सरकारों ने ऐसे कानूनों का निर्माण शुरू किया, जिनका उद्देश्य कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की दशा को सुधारना था, तो पूंजीपतियों की ओर से उनका घोर विरोध हुआ। बहुत से विचारकों ने भी उनके विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। इस दशा में यदि जापान में भी मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये कानून बनाने में समय लगा हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

इस सम्बन्ध में जापान में सबसे पहले १९११ में कानून बनाया गया। यह कानून उन कारखानों के लिये बनाया गया था, जिनमें कम से कम १५ मजदूर काम करते थे। इस कानून द्वारा यह व्यवस्था की गई थी, कि बारह साल से कम आयु की बालिकाएं व बालक कारखानों में काम न कर सकें, और स्त्रियों व १५ साल से कम आयु के बालकों के लिये काम करने का अधिकतम समय १२ घण्टे प्रति दिन हो। पर इन नियमों के अनेक अपवाद भी रखे गये थे। १९२३ और १९२९ में इस कानून में महत्त्वपूर्ण सुधार किये गये। इस समय तक राष्ट्रसंघ के तत्त्वावधान में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर महासभा संसार के सब देशों में मजदूरों की अवस्था का सुधार करने के लिये प्रयत्न करने में तत्पर हो गई थी। इस महासभा की स्थापना १९१९ में हुई थी। १९२३ और १९२९ के कानूनों द्वारा जापानी सरकार ने यह प्रयत्न किया था, कि जापान के कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की दशा उन नियमों के अधीन हो, जिनका प्रतिपादन अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर महासभा द्वारा किया गया था।

जापान के कारखानों में मजदूरों की जो दुर्दशा थी, उसके कारण उनमें असन्तोष का होना सर्वथा स्वाभाविक था। इसीलिये वे अपने अधिकारों के

संघर्ष के लिये प्रयत्नशील थे । उन्नीसवी सदी का अन्त होने से पूर्व ही मजदूरों ने अपने संगठन बनाने शुरू कर दिये थे । १९०० के एक कानून के अनुसार मजदूरों को अपने संगठन बना सकने का अधिकार भी राज्य द्वारा स्वीकृत कर लिया गया था । पर इस कानून ने मजदूरों को यह अधिकार नहीं दिया था, कि वे अपने संगठनों का उपयोग हड़ताल आदि के लिये कर सकें। १९०० के कानून द्वारा यह व्यवस्था की गई थी, कि यदि कोई मजदूर स्वयं हड़ताल मे शामिल होगा या दूसरे मजदूरों को हड़ताल करने के लिये उकसायेगा, तो उसे एक मास मे छः मास तक जेल की सजा दी जा सकेगी । इस व्यवस्था का परिणाम यह था, कि मजदूर लोग अपने संगठनों का उपयोग अपने अधिकारों के संघर्ष के लिये नहीं कर सकते थे। पर इससे जापान के मजदूरों में पूंजीपतियों के खिलाफ संघर्ष करने की प्रवृत्ति रुकी नहीं । १९१२ में वहां मजदूर संघ (फिडरेशन आफ लेबर ) का संगठन हुआ । १९२० तक इस संघ के सदस्यों की संख्या ५०,००० तक पहुंच गई थी । जापान के मजदूर आन्दोलन के प्रधान नेता श्री. बुन्जी सुजुकी थे । उनके प्रयत्न का यह परिणाम हुआ, कि १९१९ में मजदूरों के संगठनों के सम्बन्ध में जो ऐसे कानून थे, जिनके कारण वे अपने अधिकारों के लिये स्वतंत्र रूप से संघर्ष नहीं कर सकते थे, उन्हें रद्द कर दिया गया । अब से जापान के मजदूर अपनी मजदूरी को बढ़वाने व कारखानो में काम करने की परिस्थितियों को उन्नत कराने के उद्देश्य से हड़ताल के उपाय का आश्रय लेने लगे । १९१४-१८ के महायुद्ध की समाप्ति के बाद संसार में सर्वत्र कीमतों में असाधारण रूप से वृद्धि हुई थी । कीमतों के बढ़ जाने से मजदूरों को भारी संकट का सामना करना पड़ रहा था । वे अपना गुजारा तभी कर सकते थे, जब कि उनको अधिक मजदूरी मिले । इसी लिये उन्होंने हड़ताल के उपाय का आश्रय लेकर मजदूरी में वृद्धि कराने के लिये संघर्ष शुरू किया । १९३१ में जब एक बार फिर जापानी सरकार साम्राज्य विस्तार के लिये प्रवृत्त हुई, तो देश में इससे बहुत सन्तोष हुआ । कारण यह था, कि जापान के पूंजीपति और मजदूर दोनों ही यह आशा करते थे, कि इससे उनकी आर्थिक समस्या हल हो सकेगी ।

**कृषि की उन्नति**–जिस प्रकार १८९५ के बाद जापान व्यावसायिक क्षेत्र में उन्नति के लिये तत्पर था, वैसे ही वहां कृषि में भी उन्नति हो रही थी । जापान की सर्वप्रधान पैदावार चावल है । गेहूं और जौ की पैदावार वहां चावल की अपेक्षा बहुत कम होती है । १९१९ में ३१,०४,६११ चो (एक चो=ढाई एकड़ के लगभग) जमीन चावल की खेती के लिये प्रयुक्त होती थी । इसके मुकाबले में गेहूं और जौ की खेती के लिये केवल १७,२९,१४८ चो जमीन प्रयोग में लाई जाती थी ।

जापान के लोग अपने भोजन के लिये चावल का बहुत अधिक प्रयोग करते हैं। इसीलिये वहां चावल की पैदावार को बहुत महत्त्व दिया जाता है। जापान की आबादी में निरन्तर वृद्धि होने के कारण वहां के लोग इस बात के लिये प्रयत्नशील थे, कि वे अपने खेतों में अधिक से अधिक अनाज उत्पन्न करें। साथ ही उनका यह भी प्रयत्न था, कि जो जमीनें परती पड़ी हुई हैं, उन्हें भी खेती के योग्य बनाया जाय। १९०५ में जापान में कुल मिलाकर ५३, ८२, ३७८ चो जमीन खेती के काम में आती थीं। १९३४ में कृषि के काम में लाये जानेवाली भूमि का क्षेत्रफल बढ़कर ६०,३७, ६४५ चो कर दिया गया था। इस प्रकार २९ साल के अरसे में सात लाख चो (साढ़े सतरह लाख एकड़ के लगभग) नई जमीन खेती के लिये तैयार कर ली गई थी। नई जमीन को खेती के लिये प्रयुक्त करने के साथ साथ जमीन की पैदावार को बढ़ाने पर जापानी लोग बहुत ध्यान दे रहे थे। १८८७ में जापान में कुल मिलाकर १,०६,९२,००० कोकू (एक कोकू=पांच बुशल के लगभग) चावल पैदा होता था। १९२८ में वहां चावल की पैदावार १,०६, ९२,००० कोकू से बढ़कर ६,०३, ०३,००० कोकू हो गई थी। आधी सदी से भी कम समय में जापानी लोगों ने अपनी चावल की पैदावार को छः गुना के लगभग बढ़ा लिया था। इस वृद्धि का एक कारण यह था, कि इस काल में बहुत सी नई जमीन खेती के लिये प्रयोग में लाई गई थी। पर यदि प्रति एकड़ या प्रति चो पैदावार को देखा जाय, तो यह ज्ञात होगा कि अब जापान में प्रति एकड़ ७५ फी-सदी पैदावार बढ़ गई थी। यह ठीक है, कि इस काल में जापान की आबादी में भी बहुत वृद्धि हुई। पर आबादी की वृद्धि के साथ साथ चावल की पैदावार में भी आश्चर्यजनक वृद्धि करके जापान ने अपनी अनाज सम्बन्धी समस्या को हल करने में अच्छी सफलता प्राप्त की। अनाज की पैदावार को बढ़ाने के लिये जापान में नये किसम के कृत्रिम खादों का भारी मात्रा में उपयोग किया गया, अच्छे बीज प्रयुक्त किये गये, बाढ़ों से खेतों को नुकसान न पहुंच सके, इसका इन्तजाम किया गया और किसानों को खेती की नई पद्धति की शिक्षा दी गई। जापानी सरकार का खेती की उन्नति पर इतना अधिक ध्यान था, कि जहां एक तरफ उसने कृषि की उच्च शिक्षा के लिये पृथक कालिजों की स्थापना की, वहां साथ ही देहात के स्कूलों में कृषि की प्रारम्भिक शिक्षा को भी शामिल किया। सरकार ने किसानों को इस बात के लिये प्रोत्साहित किया, कि वे अपने खेतों में कृषि सम्बन्धी नये नये परीक्षण करें और सरकारी संस्थाओं द्वारा इस क्षेत्र में जो परीक्षण किये जा रहे हैं, उनसे लाभ उठावें। साथ ही सरकार ने किसानों को प्रेरित किया, कि वे खेती के साथ साथ व्यवसायों को भी अपनावें। रेशम तैयार करने

का व्यवसाय जापान में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सरकार ने यत्न किया, कि किसान शहतूत के पेड़ों को बहुत बड़ी संख्या में लगावें, उन पर रेशमी कीड़ों को पालें और रेशम को बाजार में बेचने के लिये लावें। फल और शाक शब्जी की खेती पर भी सरकार ने विशेष रूप से ध्यान दिया। इन सब बातों का यह परिणाम हुआ, कि जापान के किसान पहले के मुकाबले में अधिक समृद्ध हो गये और खेतों के छोटे होने पर भी उनके लिये अपना निर्वाह कर सकना अधिक कठिन नहीं रहा। चावल, गेहूं, जौ व अन्य अनाज के अतिरिक्त जापान में कुछ और चीजों की भी खेती की जाती थी। इनमें चाय की खेती पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। १९३१ में ३८,१०९ चो जमीन चाय के बगीचों के लिये प्रयोग में आ रही थी। १९१९ में जापान में चाय की कुल पैदावार ३,४०,००,००० येन की कीमत की थी। इसमें से १,८५,००,००० येन की कीमत की चाय अन्य देशों में बिकने के लिये जाती थी। इसी प्रकार देहात के बहुत से किसान शहतूत के पेड़ों को बोने व रेशम के कीड़ों को पालने में लगे हुए थे। जापान में कुल मिला कर १७,००,००,००० येन की कीमत का रेशम तैयार होता था। बीस लाख के लगभग परिवारों की आजीविका का मुख्य साधन रेशम का उत्पादन ही था। सर्वसाधारण किसान जो अनाज या चाय की खेती में लगे होते थे, उनकी स्त्रियां व लड़कियां रेशम के कीड़े पालने में अपना समय लगाती थीं। शुरू में विदेशी बाजारों में चीन के रेशम की मांग अधिक थी और इसीलिये चीन संसार में सबसे अधिक रेशम उत्पन्न करता था। पर १९१० तक यह दशा आ गई थी, कि जापान चीन की अपेक्षा अधिक रेशम तैयार करने लगा था। यूरोप में फ्रांस और इटली रेशम की उत्पत्ति के प्रधान केन्द्र थे। पर इटली जितना रेशम तैयार करता था, जापान के रेशम की मात्रा उसके तिगुने से भी अधिक थी। फ्रांस की अपेक्षा भी जापान बहुत अधिक परिमाण में रेशम तैयार करता था। कच्चे रेशम को सूत व वस्त्र के रूप में परिणत करने के लिये बहुत से कारखानों का भी जापान में विकास हो रहा था।

**मत्स्य व्यवसाय**—जापान के आर्थिक जीवन में मत्स्य-व्यवसाय का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। १५,००,००० के लगभग लोग मछली पकड़ने के व्यवसाय से अपनी आजीविका चलाते थे। जापान के अन्तर्गत बहुत से छोटे बड़े द्वीप हैं, इनके चारों ओर के समुद्र में मछलियां बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। जापानी मछियारे जहां अपने समुद्रतट से मछली पकड़ते थे, वहां साथ ही महासमुद्र में दूर-दूर तक जाकर भी वे मछली पकड़ने का उद्योग करते थे। सरकार का इस व्यवसाय के विकास पर भी समुचित ध्यान था। इसीलिये उसने

साइबीरिया के समुद्रतट पर मछली पकड़ने का अधिकार रूस से प्राप्त किया था।

**जनसंख्या में वृद्धि**—जापान ने आर्थिक जीवन की समस्याओं को स्पष्ट करते हुए वहां की जनसंख्या की वृद्धि पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। जापान में जनसंख्या किस प्रकार निरन्तर बढ़ रही थी, इसे निम्नलिखित अंकों द्वारा भलीभांति स्पष्ट किया जा सकता है—

| | |
|---|---|
| १८६७— | २,६०,००,००० |
| १८७२— | ३,५०,००,००० |
| १८९४— | ४,१०,००,००० |
| १९१३— | ५,३०,००,००० |
| १९२०— | ५,६०,००,००० |
| १९३०— | ६,९०,००,००० |

१८६० से १९३० तक लगभग साठ सालों में जापान की जनसंख्या में ढाई गुना से भी अधिक वृद्धि हुई थी। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक, जब कि संसार में ज्ञान विज्ञान का भलीभांति विकास नहीं हुआ था, दुर्भिक्ष, महामारियां व इसी प्रकार की अन्य प्राकृतिक विपत्तियां जनसंख्या को अधिक नहीं बढ़ने देती थीं। पर स्वास्थ्यरक्षा और चिकित्सा सम्बन्धी नये ज्ञान के कारण मनुष्य रोग पर बहुत कुछ विजय पा चुका था। इस कारण यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि विविध देशों की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जाय। ब्रिटेन, जर्मनी, इटली आदि सभी देशों में इस समय मनुष्य संख्या इसी ढंग से निरन्तर बढ़ रही थी। बढ़ती हुई आबादी के लिये यह आवश्यक था, कि देश में अधिक खाद्य सामग्री उत्पन्न हो और लोगों को आजीविका प्राप्त करने के लिये नये साधन उपलब्ध हों। विविध देश अपनी जनसंख्या की समस्या को हल करने के लिये निम्नलिखित उपायों का अवलम्बन कर रहे थे—(१) नई जमीनों को खेती के लिये उपयोग में लाना और जमीन से अधिक पैदावार का प्रयत्न करना। (२) व्यावसायिक उन्नति द्वारा अपने तैयार माल को दूसरे देशों में बेचना और वहां से कच्चे माल व अनाज को खरीदना। (३) संसार के जिन प्रदेशों में आबादी कम थी, वहां जाकर अपने उपनिवेश बसाना। (४) पिछड़े हुए देशों को अपनी अधीनता में लाकर उन्हें अपने साम्राज्य के अन्तर्गत करना, ताकि शासक, अध्यापक, इञ्जीनियर आदि के रूप में वहां कार्य प्राप्त किया जा सके और पिछड़े हुए देशों का आर्थिक विकास करके स्वयं धन उपार्जन कर सकना सम्भव हो। जापान ने भी अपनी जनसंख्या की समस्या को हल करने के लिये इन सब उपायों का अवलम्बन किया।

धन्धों और व्यवसाय की उन्नति के लिये जो प्रयत्न उसने किया, उसका उल्लेख हम अभी कर चुके हैं। बहुत से जापानी लोग इस समय अन्य देशों में जाकर आबाद होने शुरू हुए। १९२० में विविध जापानी लोग जिस प्रकार अन्य देशों में जाकर बसे हुए थे, उसे समझने के लिये निम्नलिखित अंक पर्याप्त होंगे—चीन में ३,५०,०००; सिंगापुर, मलाया, जावा, सुमात्रा और फिलिप्पीन में १८,०००; हवाई द्वीप में १,००,०००; संयुक्त राज्य अमेरिका में १,१०,०००; कनाडा में १८,०००; दक्षिणी अमेरिका में ४३,०००; और आस्ट्रेलिया व समीपवर्ती द्वीपों में १२०००। जापानी लोग जो इतनी संख्या में अन्य देशों में जाकर आबाद होने के लिये प्रवृत्त हुए, उसका प्रधान कारण आर्थिक ही था। अमेरिका और आस्ट्रेलिया के श्वेताङ्ग लोग यह नहीं चाहते थे, कि एशिया के लोग उनके प्रदेशों में आकर बसें। इसलिये उन्होंने उनके खिलाफ अनेक कानूनों का निर्माण किया। जापानी लोगों के लिये भी इन कानूनों के कारण यह सम्भव नहीं रहा, कि वे अमेरिका आदि में जाकर बस सकें। इस दशा में जापान के सम्मुख केवल यह मार्ग शेष रह गया, कि वह ब्रिटेन, फ्रांस आदि के समान अपना साम्राज्य बनाये, ताकि वहां अपने तैयार माल को बेचकर अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या को हल कर सके।

## (३) शिक्षा का प्रसार

जापान जिस प्रकार अपनी सर्वतोमुखी उन्नति के लिये प्रयत्नशील था, उसके लिये यह आवश्यक था, कि वह शिक्षा के प्रसार पर भी विशेष रूप से ध्यान दे। १८९५ से पूर्व जापान ने शिक्षा प्रसार के लिये जो उद्योग किये, उन पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। जापान में बाधित प्रारम्भिक शिक्षा की पद्धति पहले ही जारी की जा चुकी थी। १९०८ में यह कानून बना, कि प्रत्येक बालक व बालिका के लिये छः साल तक शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक हो। इस कानून के कारण १९२२ तक यह दशा आ गई थी, कि जापान में एक भी बालक व बालिका ऐसी नहीं रह गई थी, जिसकी स्कूल जाने की आयु हो और जिसे स्कूल में शिक्षा न मिल रही हो। इस दृष्टि से जापान यूरोप व अमेरिका के किसी भी प्रगतिशील देश के मुकाबले में पीछे नहीं रहा था। सरकार के लिये यह सुगम नहीं था, कि वह देश के सब बच्चों की शिक्षा का समुचित रूप से प्रबन्ध कर सके। इसके लिये बहुत से नये स्कूलों की स्थापना आवश्यक थी। साथ ही इन स्कूलों के लिये सुयोग्य अध्यापकों का भी प्रबन्ध किया जाना था। स्कूलों का खर्च चलाने के लिये रुपया भी कम नहीं चाहिए था। यद्यपि अत्यन्त गरीब लोगों के अतिरिक्त अन्य सबसे

पढ़ाई की फीस ली जाती थी, पर यह फीस इतनी नहीं होती थी, कि इससे स्कूलों का खर्च चल सके। यही कारण है, कि १९२९ में जापानी सरकार को शिक्षा प्रसार के कार्य पर १,५०,००,००,००० येन खर्च करना पड़ रहा था। इतनी भारी रकम प्रतिवर्ष शिक्षा प्रसार के लिये खर्च करना इस बात का पुष्ट प्रमाण है, कि जापान की सरकार शिक्षा को कितना अधिक महत्त्व देती थी। प्रारम्भिक शिक्षा के छः वर्षों में जापानी भाषा के अतिरिक्त गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान और ड्राइंग की पढ़ाई होती थी। इनके अतिरिक्त कृषि, व्यापार और इङ्गलिश भाषा का भी प्रारम्भिक ज्ञान प्रत्येक विद्यार्थी को प्रारम्भिक शिक्षा के छः वर्षों में करा दिया जाता था।

साक्षरता और विद्या के इस प्रचार के कारण जापान की उन्नति में बहुत अधिक सहायता मिली। यह सम्भव नहीं था, कि प्रारम्भिक शिक्षा को समाप्त कर चुकने पर प्रत्येक विद्यार्थी हाईस्कूल व कालिज में प्रविष्ट होकर उच्च शिक्षा प्राप्त कर सके। इसका कारण यह था, कि इस समय जापान में उच्च शिक्षा की संस्थाओं की बहुत कमी थी। सरकार प्रधानतया प्रारम्भिक शिक्षा पर ध्यान दे रही थी। पर सरकारी सहायता से बहुत से हाईस्कूल व कालिज भी इस समय जापान में स्थापित किये गये। इनमें ऐसी संस्थाएं अधिक थीं, जो व्यापार, व्यवसाय, शिल्प व कृषि की शिक्षा देती थीं। जापानी लोग भलीभांति अनुभव करते थे, कि देश का हित व कल्याण इस बात में है, कि विद्यार्थी लोग जीवन संघर्ष में पड़कर आर्थिक दृष्टि से सफल हों और देश की व्यावसायिक व आर्थिक उन्नति में सहायक हों।

जापान के शिक्षणालयों में पढ़ाई के साथ-साथ चरित्र निर्माण और देशभक्ति पर बहुत जोर दिया जाता था। प्रत्येक जापानी विद्यार्थी बड़ा होकर एक उत्तम नागरिक बने और देश के प्रति अपने कर्तव्यों का भलीभांति पालन करे, यह भावना विद्यार्थियों में कूट कूट कर भर दी जाती थी। सम्राट् के प्रति भक्ति, देश के प्रति प्रेम, अपने देश की परम्पराओं व रीति रिवाजों के प्रति निष्ठा और बड़ों की आज्ञाओं का पालन—ये बातें थीं, जिनकी शिक्षा साधारण पढ़ाई के साथ साथ प्रत्येक जापानी विद्यार्थी भलीभांति प्राप्त कर लेता था।

**स्त्री शिक्षा**—जापान की सरकार जहां शिक्षा के प्रसार पर ध्यान दे रही थी, वहां स्त्री शिक्षा के लिये भी उसने बहुत प्रयत्न किया। उन्नीसवीं सदी तक जापान में यह माना जाता था, कि स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर है, और उन्हें इस ढंग की शिक्षा दी जानी चाहिये, जिससे वे अपने गृहस्थ जीवन का सुचारु रूप से संचालन कर सकें। पर बीसवीं सदी में इस विचार में परिवर्तन आना शुरू हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा जहां बालकों के लिये आवश्यक व बाधित थी, वहां बालिकाओं के लिये

भी यह जरूरी था, कि वे बाधित रूप से स्कूलों में भरती हों। प्रारम्भिक शिक्षणालयों में बालक बालिकाएं एक साथ शिक्षा प्राप्त करती थीं। मेइजी सम्राट् की शक्ति की पुनः स्थापना के कुछ साल बाद ही १८७१ में पांच जापानी युवतियों को इस उद्देश्य से विदेश भेजा गया था, कि वे वहां उच्च शिक्षा प्राप्त करके अपने देश में स्त्री शिक्षा के प्रसार में दिलचस्पी लें। ईसाई मिशनरियों द्वारा स्थापित संस्थाओं में भी बालिकाओं की उच्च शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था। बीसवीं सदी के शुरू होने के बाद सरकार की ओर से स्त्री शिक्षा पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया और बहुत से नये हाई स्कूल व कालिज स्त्रियों की शिक्षा के लिये स्थापित किये गये। अनेक ऐसे शिक्षणालय भी स्त्रियों के लिये खोले गये, जिनमें उन्हें अध्यापिका का कार्य करने के लिये तैयार किया जाता था। इन ट्रेनिंग कालिजों की आवश्यकता इसलिये अधिक थी, क्योंकि प्रारम्भिक शिक्षणालयों में अध्यापन का कार्य मुख्यतया अध्यापिकाओं के सुपुर्द किया गया था। १९०१ में जापानी महिला विश्वविद्यालय की भी स्थापना कर दी गई थी, जिसमें स्त्रियों को उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलता था।

स्त्री शिक्षा के प्रसार का यह परिणाम हुआ, कि बहुत सी स्त्रियों ने अध्यापिका, चिकित्सक, पत्रकार, वकील आदि के रूप में स्वतन्त्रता के साथ अपनी आजीविका का उपार्जन प्रारम्भ किया। अब उनका कार्यक्षेत्र केवल घर तक ही सीमित नहीं रह गया। जो बालिकाएं उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिये हाईस्कूलों व कालिजों में प्रविष्ट होती थीं, उनका विवाह किशोरावस्था में सम्भव नहीं होता था। शिक्षा के कारण स्त्रियों के गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने की आयु भी निरन्तर बढ़ती होती जाती थी, और इससे जापानी स्त्रियों का सारा जीवन केवल पत्नी बनकर पति व अन्य कुटुम्बियों की सेवा में ही व्यतीत नहीं हो जाता था। उनमें स्वतन्त्रता और आत्मनिर्भरता की भावना निरन्तर प्रबल होती जाती थी।

**पत्र पत्रिकाएं**—शिक्षा के प्रसार का यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि जापान में पत्र पत्रिकाओं की असाधारण रूप से उन्नति हो। रिक्शा खींचने वाले कुली तक जापान में अपना अखबार खरीदते थे, और उसे पढ़कर देश विदेश के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करते थे। जापान का पहला दैनिक पत्र १८७२ में प्रकाशित होना शुरू हुआ था। १९३० तक दैनिक पत्रों की लोकप्रियता इस हद तक बढ़ गई थी, कि प्रसिद्ध व्यावसायिक नगर ओसाका से प्रकाशित होनेवाले दो दैनिक अखबारों की दस लाख से भी अधिक प्रतियां प्रतिदिन प्रकाशित होती थीं। तोक्यो से निकलने वाले दो प्रमुख दैनिक पत्रों की साढ़े छः लाख से अधिक प्रतियां प्रतिदिन छपती थीं। इन चार अत्यन्त लोकप्रिय पत्रों के अतिरिक्त एक हजार से अधिक

अन्य दैनिक पत्र जापान के विविध नगरों से प्रकाशित होने लगे थे। साढ़े छः करोड़ के लगभग जनसंख्या के देश में एक हजार से भी अधिक दैनिक समाचार पत्रों का प्रकाशित होना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि जापान में जनता को देश विदेश में होनेवाली घटनाओं में अत्यधिक दिलचस्पी थी। लोकमत के निर्माण में इन पत्रों का बड़ा हाथ था। जापान के समाचार पत्र स्वतन्त्र रूप से अपने विचारों को प्रकट करते थे। प्रेस सम्बन्धी जो कानून वहां विद्यमान था, उससे समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता में तभी हस्तक्षेप किया जा सकता था, जब वे कोई ऐसा लेख प्रकाशित करें, जो देश में शान्ति व व्यवस्था स्थापित रखने में बाधक हो। सम्राट् के प्रति भक्ति के विरोध में या समाजवाद (कम्युनिज्म) के प्रचार के लिये यदि कोई लेख समाचारपत्रों में छपते थे, तो सरकार उन्हें नहीं सह सकती थी। पर इन दो बातों के अतिरिक्त अन्य मामलों में समाचारपत्र के संचालकों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

दैनिक समाचारपत्रों के अतिरिक्त साप्ताहिक, त्रैमासिक व मासिकपत्र भी जापान में बहुत बड़ी संख्या में प्रकाशित होते थे। जापानी भाषा में प्रकाशित होनेवाली पत्र पत्रिकाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में भी अनेक पत्र पत्रिकाएं जापान में प्रकाशित होती थीं। जापान के दैनिक पत्रों में सबसे प्रमुख स्थान अशाई शिम्बून और मैनिशी शिम्बून का है, जो ओसाका से प्रकाशित होते है, और जिनमें से प्रत्येक की दस लाख से भी अधिक प्रतियां १९३१ तक प्रतिदिन प्रकाशित होनी शुरू हो गई थीं।

**साहित्य**—यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि जापान के विशाल साहित्य के सम्बन्ध में अत्यन्त संक्षिप्त रूप से भी उल्लेख कर सकें। पर कुछ बातों का निर्देश करना इस इतिहास के लिये अवश्य उपयोगी होगा। आधुनिक युग के प्रारम्भ से पूर्व जापान के साहित्य पर चीन का प्रभाव बहुत अधिक था। बौद्ध धर्म का जापान में प्रवेश चीन द्वारा ही हुआ था, अतः यह स्वाभाविक था, कि जापान के धार्मिक साहित्य पर चीन का प्रभाव हो। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब पाश्चात्य देशों के साथ जापान का सम्पर्क हुआ और उसने आधुनिक ज्ञान विज्ञान को अपनाना शुरू किया, तो जापानी लोगों ने पाश्चात्य साहित्य के अनुशीलन पर विशेष ध्यान देना शुरू किया। अनेक पाश्चात्य ग्रन्थों का जापानी भाषा में अनुवाद हुआ और हजारों की संख्या में जापानी विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिये अमेरिका और यूरोप जाने लगे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि जापानी साहित्य पर भी पाश्चात्य देशों का असर पड़े। यही कारण है, कि इस काल के जापानी साहित्य पर अंग्रेजी, फ्रेञ्च और रूसी लेखकों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर

होता है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में शोयो, कोयो और रोहान नामक तीन प्रसिद्ध साहित्यिक जापान में हुए, जिनको संसार के सर्वोत्कृष्ट साहित्यिकों में गिना जा सकता है। इनमें से शोयो साहित्य के उस सम्प्रदाय का प्रतिनिधि था, जिसे 'रोमान्टिक' कहते हैं। कोयो की कृतियों की विशेषता यह थी, कि वह प्रतिपाद्य विषय की 'वास्तविकता' (रीयलिज्म) को बहुत महत्त्व देता था। समाज के विभिन्न चरित्रों का यथार्थ रूप से चित्र निरूपण करने में उसने असाधारण सफलता प्राप्त की थी। रोहान साहित्य के उस सम्प्रदाय का प्रवर्तक था, जिसे आइडियलिस्ट (आदर्शवादी) कहा जाता है। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक जापान के साहित्य में रोमान्टिक सम्प्रदाय का प्रभुत्त्व रहा। पर १९०० के बाद यथार्थवाद का जोर बढ़ना शुरू हुआ और फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों के यथार्थवादी साहित्यिकों के समान जापान के साहित्यिक भी यथार्थवाद का अनुसरण करने लगे। यथार्थवाद के नाम पर कतिपय जापानी लेखकों ने अपने ग्रन्थों में अश्लीलता को ले आने में भी संकोच नहीं किया।

उपन्यास, नाटक, काव्य सभी क्षेत्रों में इस समय जापान ने असाधारण उन्नति की। पुराने समय में जापान की कविता पर राजदरबार का प्रभाव बहुत अधिक था। सम्राट् व सामन्त राजाओं का आश्रय प्राप्त कर अनेक कवि ऐसी कविताओं की रचना में प्रवृत्त होते थे, जो राजदरबारों के सम्पन्न लोगों की रुचि के अनुकूल होती थीं। पर आधुनिक युग में ऐसे काव्यों का विकास प्रारम्भ हुआ, जिनमें जनसाधारण की रुचि को अधिक महत्त्व दिया जाता था। नाटक के क्षेत्र में भी इस समय बहुत उन्नति हुई। नृत्य और संगीत प्रधान नाटकों का स्थान ऐसे नाटक लेने लगे, जिनमें सब प्रकार के भावों व रसों की अभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता था। शेक्सपियर आदि पाश्चात्य साहित्यिकों के नाटकों का जापानी भाषा में अनुवाद होने के कारण जापान के अनेक साहित्यिकों ने भी यूरोपियन ढंग के नाटक लिखने शुरू किये और जब रंग मंच पर उनका अभिनय प्रारम्भ हुआ, तो नाटक की कला में परिवर्तन आना अवश्यम्भावी था।

साहित्यिक पुस्तकों के अतिरिक्त विज्ञान, दर्शन, कला आदि पर भी सब प्रकार के ग्रन्थ इस समय जापानी भाषा में प्रकाशित हुए। इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, सैनिक विद्या, रसायन, भौतिक विज्ञान, ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र आदि कोई भी विषय ऐसा नहीं रहा, जिस पर जापान में प्रामाणिक साहित्य की रचना न हुई हो। विश्वविद्यालयों में उच्च से उच्च शिक्षा जापानी भाषा में दी जाने लगी, और बहुत से चीनी विद्यार्थी भी अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करने के लिये जापान आने लगे। पाश्चात्य देशों के समान जापान भी वैज्ञानिक खोज में

तत्पर हुआ, और उसके वैज्ञानिकों द्वारा किये गये अनुसंधान संसार में सर्वत्र मान्य होने लगे।

## (४) सामाजिक उन्नति

**पारिवारिक दशा**—चीन के समान जापान में भी सामाजिक सगठन का आधार परिवार होता था। परिवार या कुल के विविध व्यक्ति एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध अनुभव करते थे और अपने कुलवृद्ध के शासन में रहते थे। पितृ-पूजा जापान में भी प्रचलित थी। प्रत्येक परिवार यह अपना पवित्र कर्तव्य समझता था, कि अनेक प्रकार के अनुष्ठानों का अनुसरण कर अपने पितरों की पूजा करे। आधुनिक युग के सूत्रपात के साथ यह स्वाभाविक था, कि परिवार के संगठन में शिथिलता आवे। व्यावसायिक उन्नति के कारण शहरों में मजदूरों की मांग में बहुत वृद्धि हो रही थी। आजीविका प्राप्त करने की लालच से जो बहुत से लोग इस समय अपने कुल क्रमानुगत घर को छोड़कर शहरों में या सुदूर विदेशों में जाने के लिये विवश हो रहे थे, उनके लिये यह संभव नहीं था, कि वे अपने कुल के साथ सम्पर्क रख सकें या परिवार की प्राचीन समाधियों की पूजा कर सकें। जो लोग घर छोड़कर नये प्रदेश में बस जाते थे, वे अपना नया घर बनाते थे और कुल-वृद्ध का शासन उन पर नहीं रह पाता था। बीसवीं सदी में यह प्रवृत्ति बहुत जोर पकड़ गई थी और जापान की जनता कुल या बिरादरी की परम्परागत मर्यादा से बहुत कुछ स्वतन्त्र होने लग गई थी। निःसन्देह, जापान के सामाजिक जीवन में यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था।

पुराने समय में युवक व युवतियों के वैवाहिक सम्बन्ध का निश्चय उनके माता पिता या कुलवृद्ध लोग किया करते थे। पर शिक्षा के विस्तार के कारण अब युवक व युवतियों में यह प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ रही थी, कि वे स्वयं अपने जीवन साथी को चुनें। शिक्षित जापानियों में यह तो आवश्यक सा हो गया था, कि विवाह सम्बन्ध के तय होने से पूर्व वे एक बार अपने जीवन साथी से भेंट कर लें और उसके सम्बन्ध में अपना मत स्थिर कर लें। पर ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी, जो विवाह से पूर्व अपने होने वाले पति या पत्नी से घनिष्ठ परिचय प्राप्त कर लेने की आवश्यकता समझते थे। बड़ी उमर में विवाह होने के कारण अब कुल वृद्धों के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे विवाह के मामले में अपनी सन्तान की सम्मति की उपेक्षा कर सकें।

**स्त्रियों की स्थिति**—शिक्षा के प्रसार के कारण स्त्रियां घर के कार्यक्षेत्र से निकलकर स्वयं आर्थिक उपार्जन के लिये प्रवृत्त होने लगी थीं, इस बात को पहले

स्पष्ट किया जा चुका है। जापान की सुशिक्षित महिलाएं पुरुषों के समान ही जीवन संघर्ष में तत्पर रहती थीं और किसी भी प्रकार अपने को उनसे हीन नहीं समझती थीं। गरीब कुलों की स्त्रियां भी आर्थिक आवश्यकताओं से विवश होकर कारखानों में काम करने के लिये जाती थीं। हम ऊपर लिख चुके हैं, कि कारखानों में उनकी संख्या पुरुष मजदूरों के मुकाबले में अधिक होती थी। जापान में परदे का रिवाज नहीं था। स्त्रियां न केवल घर को संभालती थीं, अपितु आर्थिक उत्पत्ति में भी पुरुषों का हाथ बटाती थीं।

इस प्रसंग में यह भी आवश्यक है, कि हम जापान की स्त्रियों के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातों का उल्लेख करें, जिन्हें नैतिक दृष्टि से आदर्श नहीं माना जा सकता। कारखानों में कार्य करनेवाली गरीब स्त्रियां व बालिकाएं अपने चरित्र को ठीक नहीं रख पाती थीं, इसका निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं। इसके साथ ही यह भी बता देना आवश्यक है, कि जापान में वेश्यावृत्ति का बहुत जोर था। गरीब घरों की बहुत सी स्त्रियां वेश्यावृत्ति द्वारा अपना व अपने परिवार का पालन करने के लिये विवश होती थीं। वेश्यावृत्ति को अन्य अनेक पेशों के समान एक पेशा माना जाता था। सरकार इस पेशे को कानून से रोकने की आवश्यकता नहीं समझती थी। जापान में यह भी प्रथा थी, कि वेश्यावृत्ति करनेवाली स्त्रियों को सरकार की ओर से लाइसेन्स दिया जाय, और उनके स्वास्थ्य का बाकायदा निरीक्षण होता रहे। १९२० के लगभग इस प्रकार लाइसेन्स प्राप्त करके वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों की संख्या पचास हजार से कम नहीं थी। ये स्त्रियां वेश्यावृत्ति को पसन्द करती हों, यह बात नहीं थी। बहुसंख्यक स्त्रियां इस पेशे को घृणा की दृष्टि से देखती थीं। पर दिक्कत यह थी, कि वेश्यावृत्ति करनेवाली स्त्रियां इस पेशे को करने के लिये सर्वथा विवश होती थीं। गरीबी से परेशान होकर बहुत से माता पिता अपनी लड़कियों को चकलों में भेज देते थे। इसके लिये चकले का मालिक उन्हें कुछ सौ येन प्रदान कर देता था। यह रकम इनके नाम लिख ली जाती थी। साथ ही वस्त्र, आभूषण व शृंगार का सामान आदि के लिये चकले का मालिक जो रकम वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्री के लिये खर्च करता था, वह भी उसके नाम लिख लेता था। इस प्रकार प्रत्येक वेश्या ऋण के बोझ से दबी रहती थी। जब तक वह अपनी कमाई से इस रकम को अदा न कर दे, वह छुटकारा नहीं पा सकती थी। इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि वेश्यावृत्ति करनेवाली स्त्रियां प्रायः समाज के सबसे गरीब और सबसे हीन वर्ग की होती थीं। जापान में एक ऐसा वर्ग था, जिसे अछूत समझा जाता था। इस वर्ग को वहां एता कहते थे। इनकी प्रायः वही स्थिति होती थी, जो भारत में अछूत जातियों की है। ये शहर या गांव से बाहर पृथक् बस्ती में

निवास करते थे और इनके लिये अपना निर्वाह करना भी कठिन होता था। इस दशा में यदि ये अपनी लड़कियों को चकले में भेजकर अपनी आर्थिक समस्या को हल करने का प्रयत्न करें, तो इसे सर्वथा अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। यहां यह लिख देना भी आवश्यक है, कि उन्नीसवीं सदी में पाश्चात्य संसार के बहुसंख्यक देशों में भी वेश्यावृत्ति को कानून द्वारा अभिमत माना जाता था और वहां के चकलों में भी वेश्यावृत्ति की वही दशा थी, जो जापान में थी।

चकलों में काम करनेवाली वेश्याओं के अतिरिक्त जापान में स्त्रियों का एक अन्य वर्ग था, जो होटलों, नाचघरों व चाय की दूकानों में काम करके अपना निर्वाह करता था। इनकी स्थिति वेश्याओं की अपेक्षा ऊंची होती थी। साथ ही अनेक युवतियां गैशा रूप से जनता का मनोरंजन करने का पेशा करती थीं। गैशा वृत्ति के लिये बालिकाओं को बाकायदा शिक्षा दी जाती थी। गैशा का कार्य वेश्या से बहुत भिन्न है। वे रुपये के लिये अपने शरीर को नहीं बेचतीं, वे लोगों का मनोरंजन करके धन पैदा करती हैं।

ज्यों ज्यों जापान में आर्थिक उन्नति होती गई, वेश्या वृत्ति भी वहां कम होती गई। इस पेशे का मुख्य आधार आर्थिक था। जब जापान की स्त्रियों के लिये अन्य उपायों से धनोपार्जन करना सुगम हो गया, तो इस पेशे की आवश्यकता निरन्तर कम होती गई।

**श्रेणि भेद**—भारत के समाज में जिस प्रकार का वर्ण भेद व जाति भेद विद्यमान है, वैसा जापान में नहीं था। आधुनिक युग के प्रारम्भ से पूर्व जापान की जनता को सामाजिक दृष्टि से तीन भागों में बांट सकते हैं—(१) कुलीन श्रेणि, इसमें राजकुल व सामन्त राजाओं के कुलों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले लोग अन्तर्गत किये जा सकते हैं। (२) सर्वसाधारण जनता—इसमें खेती, शिल्प, व्यवसाय आदि से निर्वाह करनेवाले लोग सम्मिलित थे। (३) एता श्रेणि—इसमें वे लोग अन्तर्गत थे, जो अछूत समझे जाते थे और जो अत्यधिक गरीब थे। ये लोग नगर व ग्राम के बाहर पृथक् बस्तियों में निवास करते थे। अन्य जनता के साथ इनका सम्पर्क बहुत कम था।

आधुनिक युग का प्रारम्भ होने पर इस श्रेणिभेद में अन्तर आना शुरू हो गया। सामन्तपद्धति का अन्त हो जाने से पुरानी कुलीन श्रेणि का महत्त्व कम होने लगा और व्यवसाय व व्यापार का अनुसरण कर सर्वसाधारण जनता में से भी बहुत से लोग धनी होकर सम्मानास्पद स्थिति प्राप्त करने लगे। नये युग की भावनाओं से प्रेरित होकर सरकार ने अनेक ऐसे कानून बनाये, जिनसे एता लोगों को अन्य जनता के समान अधिकार दिये गये। उनके लिये भी शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य कर

दिया गया । इस स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि एता लोगों की सामाजिक स्थिति में भी उन्नति हो । पर अनेक सदियों से एता लोगों में अपने को हीन व नीच समझने की भावना इतनी बद्धमूल थी और आर्थिक दृष्टि से वे इतने गरीब थे, कि उनके लिये यह सम्भव व क्रियात्मक नहीं था, कि कानून की दृष्टि से अन्य लोगों के समकक्ष हो जाने पर भी वे वस्तुतः अन्य जनता के समान स्थिति प्राप्त कर लें । पर यह स्पष्ट है, कि आधुनिक युग की प्रवृत्तियां जापान में बड़ी तेजी के साथ कार्य कर रही थीं, और श्रेणि व वर्ग का भेद निरन्तर कम हो रहा था ।

पर नये युग की परिस्थितियां जापान में भी उसी प्रकार का नया श्रेणिभेद विकसित करने में तत्पर थीं, जैसा कि उन्नीसवीं सदी में यूरोप के व्यवसाय प्रधान देशों में विकसित हुआ था । पूंजीपति और मजदूर के रूप में इस समय जापान में दो ऐसे वर्ग विकसित हो रहे थे, जो एक दूसरे से सर्वथा पृथक् थे, जिनके हितों में स्वाभाविक विरोध था, और जिनमें समन्वय व सामंजस्य स्थापित कर सकना सुगम नहीं था । यही कारण है, कि पाश्चात्य देशों के समान जापान में भी मजदूर आन्दोलन का सूत्रपात हुआ ।

## (५) धार्मिक दशा

जापान की बहुसंख्यक जनता बौद्ध धर्म का अनुसरण करती थी, पर चीनी लोगों के समान उन पर भी कन्फ्यूसियस की नैतिक शिक्षाओं का प्रभाव था । चीन के प्रसिद्ध आचार्य कन्फ्यूसियस ने चरित्र निर्माण और नैतिक कर्तव्यों के सम्बन्ध में जो शिक्षाएं दी थीं, जापानी लोग उन्हें आदर्श मानते थे और यथाशक्ति उनका अनुसरण करने का प्रयत्न करते थे । इसीलिये जापान के शिक्षित व उच्च वर्गों में कन्फ्यूसियस के ग्रन्थों को बड़े आदर के साथ पढ़ा जाता था । इसके अतिरिक्त जापान में बौद्ध धर्म के प्रवेश से पूर्व जो धर्म विद्यमान था, उसका प्रभाव भी अभी तक जनता पर मौजूद था । इस धर्म को शिन्तो कहते थे । शोगुन शासन का अन्त होने पर जब सम्राट् की शक्ति का पुनरुद्धार हुआ, तो इस शिन्तो धर्म को भी बल मिला । इस धर्म के अनुसार कुछ देवी देवता ऐसे थे, जिनकी पूजा जापान में सर्वत्र प्रचलित थी । इन देवताओं के विशाल मन्दिर जापान में अनेक स्थानों पर विद्यमान थे । शिन्तो धर्म के इन मन्दिरों में जिन देवताओं की पूजा होती थी, उनका सम्बन्ध जापान के प्राचीन इतिहास के साथ था । जिस प्रकार भारत में राम, सीता, राधा, कृष्ण, शिव, पार्वती, अर्जुन, भीम आदि की देवता रूप से पूजा प्रचलित है, पर वस्तुतः इनका भारत के प्राचीन इतिहास से सम्बन्ध है, और इनके जीवन की अनेक घटनाएं पौराणिक ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार जापान के शिन्तो धर्म के भी बहुत से

देवी देवता ऐसे थे, जिनका सम्बन्ध उसकी प्राचीन पौराणिक गाथाओं के साथ में है। सम्पूर्ण जापान में सर्वमान्य देवी देवताओं के अतिरिक्त बहुत से देवी देवता ऐसे भी थे, जिनकी पूजा केवल किसी विशिष्ट प्रदेश में या ग्राम में ही की जाती थी। इनका सम्बन्ध उस प्रदेश व ग्राम के किसी प्राचीन व्यक्ति से था, जिसकी स्मृति वहां की जनता में अब तक विद्यमान थी। साथ ही, प्रत्येक कुल का अपना पृथक् मन्दिर भी होता था, जिसमें उस कुल के पितरों की पूजा की जाती थी। जापानी लोग यह मानते थे, कि मरने के साथ मनुष्य की आत्मा का अन्त नहीं हो जाता। 'कामी' रूप से उनकी सत्ता मृत्यु के बाद भी कायम रहती है। इनकी देव रूप से पूजा करने के लिये जापानी लोग अनेक विधि विधानों का अनुष्ठान किया करते थे। १९३३ में शिन्तो धर्म के सब प्रकार के मन्दिरों की संख्या १,११, ०३७ थी, जिनमें १५,५८९ पुजारी पूजा का कार्य करते थे। छोटे छोटे मन्दिरों में पृथक् रूप से पुजारियों की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी, इसीलिये मन्दिरों की अपेक्षा पुजारियों की संख्या कम थी। शिन्तो धर्म द्वारा जापान की जनता में यह भावना जागृत रहती थी, कि उनका देश बहुत प्राचीन व गौरवशाली है, उनकी अपनी उत्पत्ति देवताओं द्वारा हुई है, और वे अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक ऊंचे व उत्कृष्ट हैं। शिन्तो धर्म द्वारा जापानी लोग यह भी समझते थे, कि सम्राट् का प्रादुर्भाव भी अत्यंत शक्तिशाली देवता द्वारा हुआ है, और वह स्वयं देवता रूप है। सम्राट् के प्रति भक्ति और देश के प्रति प्रेम की भावना को विकसित करने में शिन्तो धर्म का भारी उपयोग था। यह नहीं समझना चाहिये, कि शिन्तो धर्म के अनुयायी और बौद्ध लोग उस प्रकार एक दूसरे के भिन्न थे, जैसें कि हिन्दू, मुसलिम, व ईसाई लोग एक दूसरे से भिन्न होते हैं। जापान की सर्वसाधारण जनता बौद्ध धर्म की अनुयायी थी, पर साथ ही शिन्तो धर्म के देवी देवताओं की भी पूजा करती थी। शिन्तो धर्म उन अर्थों में मत, धर्म व सम्प्रदाय नहीं था, जिन अर्थों में कि क्रिश्चिएनिटी या इस्लाम हैं। इसीलिये जापान की सरकार इसे एक पृथक् धर्म व मत के रूप में नहीं मानती थी। बौद्ध लोग शिन्तो देवी देवताओं को मानते थे। वे कहते थे, कि शिन्तो देवी देवता भी बुद्ध के ही पूर्वावतार थे। बौद्धों ने शिन्तो धर्म के साथ इस ढंग से समन्वय व सामञ्जस्य स्थापित कर लिया था, कि वे मिलकर एक हो गये थे, उनकी पृथक् सत्ता नहीं रह गयी थी। एशिया के बहुसंख्यक धार्मिक आन्दोलन धर्म के मामले में समन्वयवाद के अनुयायी रहे हैं। भारत में बौद्ध और सनातन हिन्दू धर्म में इस ढंग से समन्वय हो गया था, कि हिन्दू लोग बुद्ध को अपने दशावतारों में मानने लगे थे। बौद्धों ने भी भारत के बहुत से प्राचीन देवी देवताओं को अपने में इस ढंग से समाविष्ट कर लिया था, कि वे बौद्ध धर्म के ही अंग बन गये

थे। तिब्बत, चीन आदि जिन देशों में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, सर्वत्र यही प्रक्रिया हुई। जापान में भी शिन्तो धर्म और बौद्ध धर्म में एक प्रकार का समन्वय व अभेद स्थापित हो गया था।

जापान का बौद्ध धर्म बारह सम्प्रदायों में विभक्त था। इनमें तीन प्रमुख थे, जेन, निचिरिन और शिन। सब बौद्ध सम्प्रदायों के कुल मिलाकर ७१,००० से भी अधिक मन्दिर १९३१ में जापान में विद्यमान थे, जिनमें कार्य करनेवाले पुरोहितों की संख्या ५५,००० से भी अधिक थी। बौद्ध धर्म के ये मन्दिर व विहार कला की दृष्टि से अनुपम थे। बौद्ध धर्म ने जापान में जाकर एक ऐसी उत्कृष्ट कला का विकास किया था, जो वस्तुतः अनुपम थी। क्रिश्चियन मिशनरियों के सम्पर्क में आने से बौद्ध धर्म में भी नवजीवन का संचार हुआ था। बौद्ध धर्म के भिक्षुओं व अन्य नेताओं ने अनुभव किया था, कि ईसाई धर्म के प्रचार का मुकाबला वे तभी कर सकते हैं, जब बौद्ध लोगों द्वारा भी शिक्षणालय व चिकित्सालय खोले जावें, सर्वसाधारण जनता में कार्य किया जाय और नवयुवकों में बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षण व उत्साह उत्पन्न किया जाय। इसीलिये ईसाइयों के यंगमेन्स क्रिश्चियन एसोसियन ने अनुकरण में जापान के बौद्धों ने यंगमेन्स बुद्धिस्ट एसोशियेसन का संगठन किया और यह एसोशियेशन भी जापानी नवयुवकों में कार्य करने के लिये तत्पर हुआ। बौद्धों की ओर से जापान में अनेक स्कूल व अस्पताल खोले गये। फार्मूसा, कोरिया, चीन आदि में भी जापानी बुद्धिस्ट मिशन ने कार्य प्रारम्भ किया। विदेशों में स्थापित ये बौद्ध मिशन जहां उन देशों के बौद्ध लोगों में अपने धर्म के प्रति उत्साह को उत्पन्न करते थे, वहां साथ ही जापान के साम्राज्य विस्तार में भी सहायक होते थे। जापानी लोगों ने जिस प्रकार पाश्चात्य संसार के ज्ञान विज्ञान को अपनाया था, वैसे ही उन्होंने उनके साम्राज्य विस्तार के तरीकों का भी अनुसरण किया था।

ईसाई धर्म का जापान में प्रवेश सबसे पूर्व सोलहवीं सदी में हुआ था। पर जापानी सरकार ने पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क का अन्त करने के साथ साथ ईसाई धर्म के प्रचार को भी कानून द्वारा रोक दिया था। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में जब जापान और पाश्चात्य देशों का सम्पर्क पुनः स्थापित हुआ, तो ईसाई मिशनरियों ने भी वहां अपने प्रचार कार्य को शुरू किया। फ्रांस का रोमन कैथोलिक मिशन और रूस का ओर्थोडोक्स चर्च वहां विशेष रूप से धर्म प्रचार के कार्य में तत्पर हुए। बाद में प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदायों ने भी जापान में कार्य शुरू किया, पर शुरू में विविध ईसाई मिशनों को विशेष सफलता नहीं मिली। १९३३ तक जापान में ईसाई लोगों की कुल संख्या तीन लाख से अधिक नहीं थी। आधी सदी के निरन्तर प्रयत्न से १९१५ तक ईसाई लोग केवल डेढ़ लाख के लगभग जापानियों

को अपने धर्म में दीक्षित कर सके थे । १९१५ से १९३३ तक वे डेढ़ लाख अन्य जापानियों को अपने धर्म में ले आ सकने में समर्थ हुए । जापान में ईसाई प्रचारकों को अधिक सफलता नहीं हो सकी, इसका प्रधान कारण यह था, कि जापानी लोगों में अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम बहुत उत्कट था । वे लोग विदेशी धर्म को स्वीकार करने के लिये आकर्षण अनुभव नहीं करते थे । बौद्ध धर्म में नवजीवन का सचार हो जाने के कारण जापानी लोगों को इस बात की आवश्यकता भी अनुभव नहीं होती थी, कि वे किसी अन्य धर्म को अपनावें । जापान में ईसाई धर्म का जो प्रचार हुआ, उसमें भी उन जापानी मिशनरियों का विशेष कर्तृत्व था, जिन्होंने कि शुरू में ईसाई धर्म को अपना कर जापानी भाषा और जापानी पुस्तकों द्वारा उसका प्रचार शुरू किया था।

## (६) १९३१ का जापान

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यह उपयोगी होगा, कि हम संक्षेप से इस बात का फिर उल्लेख कर दें, कि १९३१ में जब कि जापान एक बार फिर साम्राज्य-विस्तार के लिये अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रवृत्त हुआ, उसकी क्या दशा थी । फार्मूसा और कोरिया इस समय जापान के अधीन थे । फोर्मूसा के समीपवर्ती पेस्करेदोरस द्वीप समूह और दक्षिणी सखालिन पर भी उसका आधिपत्य था । प्रशान्त महासागर में विद्यमान बहुत से छोटे छोटे द्वीप समूह उसके कब्जे में थे । मञ्चूरिया में उसका आर्थिक प्रभाव क्षेत्र विद्यमान था । लिआओतुंग प्रायद्वीप पर उसका प्रभुत्व था और मञ्चूरिया में भी उसकी सेनाएं स्थापित थीं । पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में उसकी स्थिति इतनी सुदृढ़ थी, कि वह निश्चिन्त होकर साम्राज्य विस्तार के लिये प्रवृत्त हो सकता था । जलसेना और सामुद्रिक शक्ति की दृष्टि से वह संसार में तीसरा स्थान रखता था । उसकी स्थलसेना भी अत्यधिक शक्तिशाली थी । व्यवसाय और व्यापार के क्षेत्र में वह ब्रिटेन और अमेरिका सदृश उन्नत व समृद्ध देशों का समकक्ष था । उसकी राजधानी तोक्यो जनसंख्या की दृष्टि से संसार में तीसरा स्थान रखती थी । तीन चौथाई सदी के लगभग समय में पूर्वी एशिया का यह छोटा सा देश इतना अधिक शक्तिशाली और समृद्ध हो गया था, कि वह उन्नत से उन्नत पाश्चात्य देश के साथ लोहा ले सकता था । जापान की यह उन्नति वस्तुतः आश्चर्यजनक है, और संसार के इतिहास में इसका उदाहरण अन्यत्र पा सकना सुगम नहीं है ।

चौदहवां अध्याय

# दक्षिणी-पूर्वी एशिया

## (१) दक्षिणी-पूर्वी एशिया के विविध राज्य

पिछले अध्यायों में हमने चीन और जापान के आधुनिक इतिहास की १९३१ तक की मुख्य घटनाओं का संक्षेप के साथ उल्लेख किया है। एशिया के आधुनिक इतिहास में सन् १९३१ का बहुत अधिक महत्त्व है। इस साल में जापान ने मञ्चूरिया में अपने राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना का उपक्रम किया। मञ्चूरिया को अपने अधीन कर जापान ने मंगोलिया और उत्तरी चीन में अपने साम्राज्य का विस्तार शुरू किया। इसी कारण चीन और जापान के द्वितीय युद्ध का सूत्रपात हुआ। १९३९-४५ के द्वितीय विश्व संग्राम के अवसर पर जापान ने सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया को पाश्चात्य देशों की अधीनता से मुक्त किया और इस विशाल क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित किया। जापान के इस उत्कर्ष का यह महत्त्वपूर्ण परिणाम हुआ, कि एशिया के विविध देशों को पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद से मुक्त होकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को स्थापित करने का अवसर मिला। महायुद्ध के अवसर पर चीन में कम्युनिस्ट लोगों की शक्ति बढ़ने लगी और धीरे धीरे सम्पूर्ण चीन कम्युनिस्ट व्यवस्था के अधीन हो गया। १९३१ में जापान ने साम्राज्य विस्तार के लिये जो संघर्ष शुरू किया था, उसमें सफल होकर वह पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया को अपनी अधीनता में तो नहीं ला सका, पर उसके कारण इन क्षेत्रों के देशों को स्वातन्त्र्य प्राप्ति का अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ। सन् १९३१ से १९४९ तक की घटनाएं एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। क्योंकि इस काल में जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने प्रभाव को विस्तृत करने का असाधारण प्रयत्न किया, अतः यह उपयोगी होगा, कि हम चीन और जापान के समान दक्षिण-पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों के १९३१ तक के इतिहास पर भी प्रकाश डालें। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देश १९३१ तक किस स्थिति में थे, किस प्रकार वे विविध पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद के शिकार हुए थे, और किस प्रकार उनमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद की भावनाएं बल पकड़ रही थीं—यह जान लेने के बाद ही

पाठकों के लिये यह सम्भव होगा, कि वे १९३९-४५ के महायुद्ध के अवसर पर इन देशों में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, उन्हें भलीभांति अवगत कर सकें।

**विविध राज्य**---दक्षिण-पूर्वी एशिया को चीन में नान यांग और जापान में नान यो कहते हैं। चीनी और जापानी भाषा में इस क्षेत्र के लिये एक नाम का होना इस बात को सूचित करता है, कि पूर्वी एशिया के ये दो प्रमुख देश देर से यह अनुभव करते रहे हैं, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में आधारभूत एकता विद्यमान है। यदि हम उत्तर पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर जावें, तो इस क्षेत्र में निम्नलिखित देश मिलेंगे---फिलिप्पीन द्वीप समूह, ब्रिटिश बोर्नियो, इन्डोनीसिया, इन्डो-चायना, मलाया, सियाम और बरमा। दक्षिण-पूर्वी एशिया के ये ही प्रमुख राज्य हैं। १९३९-४५ के महायुद्ध तक ये सब किसी न किसी रूप में पाश्चात्य देशों के प्रभुत्त्व में थे। इस समय इन सब में प्रायः स्वराज्य स्थापित हो गया है। पाश्चात्य देशों का जो प्रभाव व प्रभुत्त्व इन देशों में अब तक विद्यमान है, उसका भी धीरे धीरे अन्त हो रहा है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन देशों का क्षेत्रफल व जनसंख्या कितनी है, इसका परिज्ञान इनके राजनीतिक इतिहास को अवगत करने में बहुत सहायक होगा।

| देश | क्षेत्रफल वर्गमील | जनसंख्या (१९३६) | प्रतिवर्गमील आबादी |
|---|---|---|---|
| बरमा | २,६१,६१० | १,६६,००,००० | ६३ |
| सियाम | २,००,१४८ | १,५६,००,००० | ७७ |
| इन्डो-चायना | २,८६,००० | २,३७,००,००० | ८३ |
| मलाया | ५२,२८६ | ५५,७९,००० | १०७ |
| इन्डोनीसिया | ७,३५,२६८ | ६,९८,३५,००० | ९४ |
| ब्रिटिश बोर्नियो | ८१,७६१ | ९,५१,००० | १२ |
| तिमोर (पोर्तुगाल के अधीन) | ७,३३० | ४,८०,००० | ६६ |
| फिलिप्पीन द्वीपसमूह | १,१५,६०० | १,६३,००,००० | १४१ |
| दक्षिण-पूर्वी एशिया | १७,४०,०००३ | १४,८६,४५,००० | ८५ |

इस तालिका द्वारा यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों का क्षेत्रफल कितना कितना है, और १९३९ में उनमें कितनी कितनी आबादी थी। इन देशों के भौगोलिक व राजनीतिक महत्त्व को समझने में इससे

बहुत सहायता मिलेगी। यहां यह लिख देना भी आवश्यक है, कि इन प्रमुख देशों के अतिरिक्त दक्षिण-पूर्वी एशिया में अनेक ऐसे अनेक छोटे छोटे द्वीप भी हैं, जिन पर ब्रिटेन आदि विदेशी राज्यों का प्रभुत्त्व है, और जिनका शासन क्राउन कोलोनी के रूप में पृथक् रूप से किया जाता है। इन विविध द्वीपों में तिमोर का उल्लेख हमने इस तालिका में किया है। यह द्वीप पोर्तुगाल के अधीन है। पर तिमोर के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से छोटे छोटे द्वीप समूह इस क्षेत्र में हैं, जिनका यहां उल्लेख विशेष उपयोगी नहीं है।

अब हम इन विविध राज्यों के १९३१ तक के इतिहास पर प्रकाश डालना प्रारम्भ करते हैं। इसके लिये हम उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर चलेंगे, क्योंकि अब तक इस ग्रन्थ में हमने चीन और जापान के इतिहास का निदर्शन किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिये यही उचित होगा, कि हम जो राज्य जापान और चीन के सबसे निकट हैं, उन्हीं के विषय में पहले लिखें।

## (२) फिलीप्पीन द्वीप समूह

जापान के दक्षिण और इन्डोचायना के पूर्व में जो फिलिप्पीन द्वीप समूह है, उनमें कुल मिलाकर ३१४१ द्वीप अन्तर्गत है। इन द्वीपों में लूजोन और मिन्दानाओ आकार में अच्छे बड़े हैं, और ये ही फिलिप्पीन के प्रमुख द्वीप हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सब द्वीप छोटे छोटे हैं। फिलिप्पीन द्वीप समूह के बहुसंख्यक निवासी जाति की दृष्टि से मलाया के लोगों से मिलते जुलते हैं। वहां अनेक भाषायें बोली जाती हैं, और पर्वत प्रधान प्रदेशों के निवासी नसल व जाति की दृष्टि से भी मैदान के रहने वालों से भिन्न हैं। फिलिप्पीन द्वीप समूह के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में हमें बहुत ज्ञान नहीं है, और इस इतिहास का इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय से सम्बन्ध भी अधिक नहीं है। पन्द्रहवीं सदी में इन द्वीपों में इस्लाम का प्रचार प्रारम्भ हुआ। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध द्वीपों व प्रदेशों में इस समय तक इस्लाम की भली-भांति स्थापना हो चुकी थी। धीरे-धीरे फिलिप्पीन द्वीपों में भी इस्लाम का प्रवेश हुआ और दक्षिणी द्वीपों के बहुत से लोगों ने इस धर्म को स्वीकार कर लिया। इस्लाम के प्रवेश से पूर्व फिलिप्पीन द्वीप समूह के निवासी बाह्य प्रभाव से प्रायः वंचित थे। भारत के धर्म प्रचारक व विजेता बरमा, मलाया, सियाम, इण्डो-चायना आदि देशों में तो अपना प्रभाव स्थापित कर चुके थे, पर फिलिप्पीन उनके सम्पर्क से पृथक् रहा था। चीन के लोगों ने कोरिया और जापान में तो अपना धार्मिक व सांस्कृतिक प्रभाव स्थापित किया था, पर फिलिप्पीन द्वीपों की तरफ उनका भी ध्यान नहीं गया था। मुसलिम लोग भी इन द्वीपों के बहुत थोड़े से भाग को ही अपने प्रभाव में ला

सके थे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि विदेशी प्रभाव से मुक्त रहते हुए भी इन द्वीपों के निवासियों ने सभ्यता के क्षेत्र में अच्छी उन्नति कर ली थी। वे मकानों में रहते थे, खेती द्वारा अपने खाद्य अन्न को उत्पन्न करते थे, खेतों की सिंचाई की व्यवस्था करते थे और धातुओं के उपयोग से भी परिचित थे। लिखने की कला को भी वे जानते थे, और इस कारण साहित्य की भी वहां सत्ता थी। हिन्दू और बौद्ध धर्मों के प्रचारक भी किसी प्राचीन काल में वहां पहुंचे थे, पर उनके धर्म का कोई विशेष प्रभाव पन्द्रहवीं सदी तक विद्यमान नहीं रहा था। फिलिप्पीन द्वीप समूह के जिन निवासियों ने इस्लाम को स्वीकृत कर लिया था, उनके अतिरिक्त अन्य लोग अपने देवी देवताओं की पूजा में तत्पर थे। किसी केन्द्रीय राजनीतिक संगठन का इन द्वीपों में अभाव था।

**स्पेन का प्रभुत्व**---दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान फिलिप्पीन में भी सबसे पूर्व पोर्तुगीज लोग व्यापार का विस्तार करने के सिलसिले में आये। पर इस प्रदेश में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के कार्य में स्पेनिश लोगों को सफलता हुई। १५२१ में प्रसिद्ध स्पेनिश यात्री फर्डिनन्ड मैगेल्लन पृथ्वी की परिक्रमा करता हुआ फिलिप्पीन पहुंचा। मैगेल्लन वस्तुतः मलक्का पहुंचना चाहता था, जो कि उस युग में मसालों के व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। फिलिप्पीन पहुंच जाने पर उसने वहां स्पेन का आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया और वहां के निवासियों के साथ युद्ध करते हुए ही उसकी मृत्यु हो गई। पर मैगेल्लन ने जो नया प्रदेश ढूंढ़ निकाला था, स्पेनिश लोग उसे सुगमता से छोड़नेवाले नहीं थे। अमेरिका महाद्वीप के अच्छे बड़े भाग पर उनका प्रभुत्व था और मैक्सिको में वे अपनी सत्ता को भलीभांति स्थापित कर चुके थे। मैक्सिको के पश्चिमी समुद्रतट को अपना आधार बनाकर उन्होंने प्रशांत महासागर को पार करना शुरू किया और १५२७ व १५४२ में दो बार फिलिप्पीन पर आक्रमण किया। पर पोर्तुगीज लोग इस प्रदेश को अपने क्षेत्र में समझते थे। पोप की व्यवस्था के अनुसार उनका यह विचार था, कि पूर्वी एशिया के सब प्रदेशों पर उनका अधिकार है। इसलिये स्पेन के आक्रमणों का उन्होंने मुकाबला किया और १५२७ व १५४२ के हमलों में स्पेनिश लोगों को सफलता नहीं मिल सकी। बाद में पोर्तुगीज स्पेनिश लोगों ने आपस में समझौता कर लिया और १५६४ में एक शक्तिशाली स्पेनिश बेड़े ने मैक्सिको से फिलिप्पीन के प्रति प्रस्थान किया। सबसे पहले सेबू द्वीप पर स्पेन का अधिकार स्थापित किया गया, यहीं पर युद्ध करते हुए १५२१ में मैगेल्लन की मृत्यु हुई थी। १५७१ में मनीला को जीत लिया गया। यह एक अच्छा समृद्ध बन्दरगाह था और मुसलमानों के अधीन था। स्पेनिश विजेताओं ने

मनीला को अपनी राजधानी बनाया और उसे केन्द्र बनाकर धीरे धीरे सम्पूर्ण फिलिप्पीन पर अपना शासन स्थापित कर लिया।

राजनीतिक दृष्टि से फिलिप्पीन द्वीप समूह को अपने अधीन कर स्पेनिश लोगों ने वहां क्रिश्चिएनिटी का प्रचार प्रारम्भ किया। इस युग में स्पेन की साम्राज्य विस्तार सम्बन्धी नीति यह थी, कि अधीनस्थ देशों के धर्म, सभ्यता व संस्कृति को पूर्ण रूप से नष्ट कर उन्हें अविकल रूप से पाश्चात्य रंग में रंग लिया जाय। मैक्सिको आदि अमेरिकन प्रदेशों में भी स्पेनिश लोगों ने बल का प्रयोग कर ईसाई धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया था। बहुत से स्पेनिश पादरी इस समय फिलिप्पीन में आये और उन्होंने जबर्दस्ती जनता को ईसाई बनाना शुरू किया। जो कोई व्यक्ति उनका विरोध करता था, उसे सबक सिखाने के लिये स्पेनिश सिपाही पादरियों के साथ रहते थे। फिलिप्पीन की बहुसंख्यक जनता बहुत भीरु थी, अपने धर्म व संस्कृति के लिये उसके हृदय में विशेष निष्ठा नहीं थी। परिणाम यह हुआ, कि स्पेनिश पादरी अपने प्रयत्न में सफल हुए और शीघ्र ही उन्होंने फिलिप्पीन द्वीप समूह के बहुसंख्यक लोगों को ईसाई बना लिया। दक्षिण फिलिप्पीन के मुसलिम लोग ही ऐसे थे, जिन्होंने डटकर ईसाई पादरियों का मुकाबला किया और अपने धर्म को छोड़ देना स्वीकार नहीं किया। यही कारण है, कि स्पेनिश लोग फिलिप्पीन के मुसलमानों को (जिन्हें स्पेन के लोग मोरो कहते थे) अपने धर्म में दीक्षित कर सकने में सफल नहीं हो सके। ईसाई पादरियों के प्रयत्न से फिलिप्पीन में सर्वत्र गिरजों की स्थापना की गई। ऐसे स्कूल खोले गये, जिनमें ईसाई धर्म की शिक्षा को प्रमुख स्थान दिया जाता था और जनता को पश्चिमी ढंग से रहने सहने का प्रकार सिखाया गया। इसमें सन्देह नहीं, कि स्पेन के रोमन कैथोलिक पादरी अपने प्रयत्न में सफल हुए और शीघ्र ही उन्होंने फिलिप्पीन लोगों को अपने रंग में रंग लिया।

व्यापार के क्षेत्र में फिलिप्पीन के स्पेनिश शासकों को विशेष सफलता नहीं हुई। इसका मुख्य कारण यह था, कि वहां से स्पेन जाने का सीधा मार्ग मलाया आदि के उन क्षेत्रों से होकर गुजरता था, जिन पर पोर्तुगाल व अन्य यूरोपियन देशों का कब्जा था। चीनी लोगों ने यह कोशिश की, कि वे फिलिप्पीन के साथ अपने व्यापार का विकास करें। पर इस उद्देश्य से जो चीनी व्यापारी वहां आये, स्पेनिश लोगों ने उनके साथ बहुत बुरा बरताव किया। स्पेनिश लोग चीनी व्यापार की वृद्धि को रोकने का एक ही उपाय जानते थे, वह यह कि फिलिप्पीन में आनेवाले चीनी व्यापारियों को मौत के घाट उतार दिया जाय। उन्होंने अनेक बार चीनी लोगों का कतले आम किया। पर फिर भी चीनी व्यापारियों का वहां आना रुका

नहीं और फिलिप्पीन द्वीप समूह का विदेशों के साथ जो भी व्यापार विकसित हुआ, उसका प्रधान श्रेय चीनी लोगों को ही है।

**अमेरिका का प्रभुत्व**—१५७१ से १८९८ तक फिलिप्पीन द्वीप समूह स्पेन के अधीन रहा। इसके बाद उस पर संयुक्त राज्य अमेरिका का आधिपत्य स्थापित हो गया। फरवरी, १८९८ में संयुक्तराज्य अमेरिका और स्पेन में युद्ध का प्रारम्भ हुआ था। यहां हमारे लिये यह संभव नहीं है, कि इस युद्ध के कारणों पर विशद रूप से प्रकाश डाल सकें। केवल इतना निर्देश कर देना पर्याप्त होगा, कि उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भी अमेरिकन महाद्वीप के कतिपय प्रदेशों पर स्पेन का प्रभुत्व विद्यमान था। इन प्रदेशों पर स्पेन का शासन अत्यन्त अत्याचारमय था। इससे तंग आकर १८९५ में क्यूबा के लोगों ने स्पेन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। स्पेन ने क्यूबा के विद्रोह को शान्त करने के लिये अत्यन्त उग्र उपायों का प्रयोग किया। अपने महाद्वीप के एक प्रदेश पर विदेशी राज्य द्वारा होने वाला यह अत्याचार अमेरिकन लोगों को असह्य था। अमेरिकन पूंजीपतियों ने क्यूबा के व्यवसायों में बहुत सा धन लगा रखा था। अतः वे नहीं चाहते थे, कि स्पेन के दूषित शासन के कारण वहां निरन्तर विद्रोह होते रहें। उन्होंने आन्दोलन किया, कि अमेरिका को चाहिये कि क्यूबा को स्पेन के शासन से मुक्त करावे। इसी बीच में एक अमेरिकन जहाज क्यूबा के तट पर डुबो दिया गया। अमेरिकन लोगों ने इसके लिये स्पेन को दोषी ठहराया और उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। स्पेन के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे प्रबल राज्य का मुकाबला कर सके। वह परास्त हो गया, और अगस्त, १८९८ तक युद्ध की समाप्ति हो गई। इस युद्ध के परिणाम-स्वरूप जहां अमेरिकन महाद्वीप के प्रदेश स्पेन की अधीनता से मुक्त हुए, वहां साथ ही फिलिप्पीन द्वीप समूह पर भी अमेरिका ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। कमोडोर ड्यूई द्वारा १ मई, १८९८ को मनीला की खाड़ी के समीप स्पेन का जहाजी बेड़ा बुरी तरह परास्त किया गया और फिलिप्पीन द्वीप समूह से स्पेन के आधिपत्य का अन्त हो गया। अन्य पाश्चात्य देशों के समान अमेरिका भी इस समय साम्राज्यवाद के मार्ग पर तेजी के साथ अग्रसर हो रहा था। पूर्वी एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये वह प्रयत्नशील था। परिणाम यह हुआ, कि फिलिप्पीन द्वीप समूह पर अमेरिका ने अपना शासन कायम कर लिया।

**स्वाधीनता के लिये संघर्ष**—जिस समय फिलिप्पीन स्पेन के अधीन था, तभी वहां राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था। पश्चिमी देशों के सम्पर्क में आकर जहां फिलिप्पीन लोगों ने उनके धर्म व रहन सहन को स्वीकृत कर लिया था, वहां उनके विचारों का भी उन पर प्रभाव पड़ रहा था। राष्ट्रीय

स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के विचारों से फिलिप्पीन लोग भी अछूते नहीं रहे थे। फिलिप्पीन के अनेक नवयुवकों ने पश्चिमी देशों में जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, और ये देशभक्त अपने देश को विदेशी शासन से मुक्त कराने के लिये प्रयत्नशील थे। इन देशभक्त नेताओं में जोसे रिजाल मर्कादो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मर्कादो के प्रयत्न से फिलिप्पीन में राष्ट्रीय आन्दोलन ने बहुत उग्र रूप धारण किया। स्पेनिश सरकार ने इस आन्दोलन को कुचलने के लिये अत्यन्त उग्र उपायों का अवलम्बन किया। १८९६ में मर्कादो को गिरफ्तार कर लिया गया और उसे प्राण दण्ड दिया गया। पर रिजाल मर्कादो की मृत्यु के साथ फिलिप्पीन स्वतन्त्रता के आन्दोलन का अन्त नहीं हो गया। अगुइनाल्दो नामक नेता के नेतृत्व में फिलिप्पीन लोगों ने अपने आन्दोलन को जारी रखा। जिस समय स्पेन और अमेरिका में युद्ध जारी था, फिलिप्पीन लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और अगुइनाल्दो के नेतृत्व में रिपब्लिकन सरकार का संगठन कर लिया। अमेरिका ने स्पेन को तो युद्ध में परास्त कर दिया था, पर फिलिप्पीन देशभक्तों को परास्त कर सकना सुगम बात नहीं थी। उन्होंने डटकर अमेरिकन सेनाओं का मुकाबला किया। पर अमेरिका जैसे शक्तिशाली राज्य का देर तक मुकाबला कर सकना फिलिप्पीन लोगों के लिये सम्भव नहीं था। १९०१ में अगुइनाल्दो गिरफ्तार कर लिया गया और १९०२ में अमेरिकन लोग फिलिप्पीन द्वीप समूह में अपना शासन भलीभांति स्थापित कर सकने में समर्थ हो गये। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इस समय फिलिप्पीन लोगों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना भलीभांति विकसित हो चुकी थी, और वे अमेरिकन शासकों का विरोध करने के लिये कटिबद्ध थे।

**अमेरिका का शासन**—फिलिप्पीन द्वीप समूह पर अपने शासन को व्यवस्थित रूप से स्थापित कर अमेरिकन लोगों ने उसकी आन्तरिक उन्नति पर ध्यान दिया। बहुत से नये स्कूलों की स्थापना की गई। इनमें अध्यापन का कार्य करने के लिये सैकड़ों शिक्षकों को अमेरिका से बुलाया गया। अंग्रेजी भाषा को स्कूलों में मुख्य स्थान दिया गया और उसी को शिक्षा का माध्यम नियत किया गया। स्कूलों के अतिरिक्त बहुत से कालिजों और अनेक युनिवर्सिटियों की भी स्थापना की गई। अमेरिका के प्रयत्न से फिलिप्पीन में शिक्षा का इतनी तेजी के साथ विस्तार हुआ, कि १९२० तक दस लाख से भी अधिक विद्यार्थी फिलिप्पीन द्वीप समूह के विविध शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। डेढ़ करोड़ के लगभग की आबादी के देश में दस लाख विद्यार्थियों का शिक्षा प्राप्त करना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि अमेरिकन सरकार वहां शिक्षा के विस्तार के लिये निरन्तर प्रयत्न कर रही थी।

फिलिप्पीन के स्वास्थ्य की उन्नति के लिये भी अमेरिकन सरकार ने विशेष रूप से ध्यान दिया। इन द्वीपों में हैजा, प्लेग, चेचक, मलेरिया, तपेदिक आदि का बहुत जोर रहता था। स्वास्थ्य रक्षा के साधनों की उन्नति के कारण फिलिप्पीन में अकाल मृत्यु की संख्या बहुत कम हो गई।

अमेरिका के प्रयत्न से फिलिप्पीन द्वीप समूह के आर्थिक विकास में भी बहुत सहायता मिली। रेलवे लाइनों, सड़कों व पुलों के निर्माण पर सरकार ने बहुत ध्यान दिया। फिलिप्पीन की बहुत सी उपजाऊ भूमि क्रिश्चियन मिशनों की सम्पत्ति थी। सरकार ने इस जमीन को मिशनों से खरीद कर छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त किया और उन्हें फिलिप्पीन किसानों को बेच दिया। १९०९ के बाद अमेरिका और फिलिप्पीन में व्यापार की भी बहुत उन्नति हुई। अमेरिकन पूंजी के उपयोग से बहुत से नये कारोबार वहां विकसित हुए। १९३१ तक फिलिप्पीन में लगी हुई अमेरिकन पूंजी ८०,००,००,००० रुपये के लगभग तक पहुंच गई थी। यह पूंजी प्रधानतया बैंकों, यातायात के साधनों और खेती में लगाई गई थी। व्यवसायों के विकास पर अमेरिका ने बहुत ध्यान नहीं दिया था। खेती के साथ सम्बन्ध रखने वाले कुछ व्यवसाय ही इस समय तक फिलिप्पीन में विकसित हुए थे। चीनी और चावल की मिलों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के कारखाने अभी वहां स्थापित नहीं हुए थे। पर खेती और व्यापार द्वारा फिलिप्पीन की आर्थिक समृद्धि निरन्तर बढ़ रही थी। आर्थिक उन्नति के कारण वहां की जनसंख्या भी लगातार बढ़ती जाती थी। १९०३ में फिलिप्पीन की कुल आबादी ७५,००,००० थी। १९१८ में वह १,०३,००,००० और १९३९ में १,६३,००,००० हो गई थी।

शिक्षा की उन्नति और आर्थिक समृद्धि के बावजूद भी फिलिप्पीन लोग अमेरिकन शासन से संतुष्ट नहीं थे। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना उनमें भलीभांति विकसित हो चुकी थी। इसलिये अमेरिकन आधिपत्य से मुक्त होकर स्वराज्य स्थापित करने की आकांक्षा उनमें तीव्र रूप से विद्यमान थी। इस दशा में अमेरिकन सरकार ने धीरे धीरे स्वराज्य स्थापित करने की नीति को अपना कर फिलिप्पीन लोगों को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया। स्वातन्त्र्य युद्ध में फिलिप्पीन लोगों को परास्त कर १९०२ में अमेरिका ने वहां जिस शासन को स्थापित किया, उसमें सरकार का प्रधान अधिकारी गवर्नर जनरल को बनाया गया, जिसकी नियुक्ति अमेरिकन राष्ट्रपति द्वारा की जाती थी। फिलिप्पीन का प्रथम गवर्नर जनरल विलियम हावर्ड टाफ्ट को नियत किया गया। ये सज्जन आगे चलकर अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर भी निर्वाचित हुए थे। १९०७ में फिलिप्पीन में पहले पहल पार्लियामेन्ट की स्थापना की गई, जिसमें दो सभाएं होती थीं, प्रतिनिधि सभा और कमीशन। प्रतिनिधि

सभा के सदस्यो को जनता निर्वाचित करती थी, और दूसरी सभा (कमीशन) के सदस्यों को अमेरिकन राष्ट्रपति मनोनीत करता था। कमीशन के सदस्यो की संख्या ९ होती थी, जिनमें ५ अमेरिकन और ४ फिलिप्पीन होते थे। १९१३ में इस शासन विधान में महत्त्वपूर्ण संशोधन किये गये। उस समय अमेरिका के राष्ट्रपति श्री. वुडरो विल्सन थे। वे लोकतन्त्रवाद के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने यह व्यवस्था की, कि फिलिप्पीन की द्वितीय सभा (कमीशन) में फिलिप्पीन लोगों का बहुमत रहे और सरकार के विविध पदों पर फिलिप्पीन लोगों को अधिक संख्या में नियत किया जाया करे। फिलिप्पीन द्वीप समूह में निवास करनेवाले अमेरिकन लोग इन सुधारों के विरोधी थे। पर यह प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) का समय था और संसार में सर्वत्र लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तिया जोर पकड रही थीं। इस दशा में १९१६ में अमेरिका की कांग्रेस ने एक नया बिल पास किया, जिसके अनुसार फिलिप्पीन की दूसरी सभा (कमीशन) के सदस्यों को भी जनता द्वारा निर्वाचित किये जाने की व्यवस्था की गई।

१९२१ में अमेरिका ने फिलिप्पीन के प्रति अपनी नीति में परिवर्तन किया। वहां के गवर्नर जनरल के पद पर श्री. लिओनार्ड वुड को नियत किया गया, जो फिलिप्पीन के स्वराज्य आन्दोलन का विरोधी था। उसका विचार था, कि अभी फिलिप्पीन लोग अपना शासन स्वयं करने योग्य नहीं हुए है, और अमेरिका को वहां अपना शासन सुदृढ़ रूप से कायम रखना चाहिये। श्री. वुड की नीति का यह परिणाम हुआ, कि फिलिप्पीन के शासन में और अधिक सुधार स्थगित कर दिये गये। यह बात फिलिप्पीन लोगों को बहुत नापसन्द थी। महायुद्ध की समाप्ति पर संसार के प्रायः सभी देशों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के आन्दोलन प्रबल हो रहे थे। फिलिप्पीन द्वीप समूह भी समय की इस लहर से अछूता नहीं बचा था। परिणाम यह हुआ, कि फिलिप्पीन देशभक्तों ने अपने देश की स्वतन्त्रता और अमेरिकन आधिपत्य के विरुद्ध प्रचण्ड आन्दोलन किया। अनेक स्थानों पर हड़तालें व विद्रोह भी हुए। फिलिप्पीन में स्वतन्त्रता का आन्दोलन इतना जोर पकड़ गया था, कि अमेरिकन सरकार के लिये उसकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं रहा था। अतः विवश होकर अमेरिका की कांग्रेस ने १९३४ में फिलिप्पीन के सम्बन्ध में एक नये कानून को स्वीकृत किया। १९३४ के इस कानून (जो टाइडिंग्स-मैकडफ कानून के नाम से प्रसिद्ध है) के अनुसार फिलिप्पीन को यह अधिकार दिया गया, कि वह अपने लिये नये संविधान का स्वयं निर्माण कर सके। पर उसे यह अवसर नहीं दिया गया, कि वह अमेरिका के प्रभुत्व से मुक्त होकर पूर्ण रूप से अपनी स्वाधीनता को कायम कर सके। अमेरिका और फिलिप्पीन में क्या

सम्बन्ध रहेगा, और फिलिप्पीन के शासन पर अमेरिकन सरकार का किस अंश तक प्रभुत्व रहेगा, यह बात भी इस कानून द्वारा निश्चित कर दी गई थी। यद्यपि बहुत से फिलिप्पीन लोग इस कानून से संतुष्ट थे, तथापि ऐसे राष्ट्रवादी देशभक्तों की वहां कमी नहीं थी, जो १९३४ के कानून को अपर्याप्त और असन्तोषजनक समझते थे। यही कारण है, कि आंशिक स्वराज्य की स्थापना हो जाने के बाद भी फिलिप्पीन में भलीभांति शान्ति स्थापित नहीं हो सकी थी।

## (३) इन्डोनीसिया और बोर्नियो

फिलिप्पीन द्वीप समूह के दक्षिण और मलाया के दक्षिण-पूर्व में जो बहुत से द्वीप पूर्व से पश्चिम की ओर हजारों मील तक फैले हुए हैं, पहले उन्हें ईस्ट इन्डीज नाम से कहा जाता था। उनका बड़ा भाग, जो हालैण्ड की अधीनता में था और जो अब तक भी डच साम्राज्य के साथ सम्बन्ध रखता है, इन्डोनीसिया कहाता है। ईस्ट इण्डीज के कुछ द्वीप ब्रिटेन और पोर्तुगाल के भी अधीन हैं, पर हालैण्ड के मुकाबले में इस क्षेत्र में ब्रिटेन और पोर्तुगाल का प्रभुत्व बहुत कम है। ईस्ट इण्डीज के इन द्वीप समूहों में सुमात्रा, जावा, बाली, सोएम्बावा, फ्लोरेस, तिमोर, बांगका, बोर्नियो, सेलेबस, मोलक्का, न्यू गाइनिआ और पापुआ प्रमुख हैं। इनमें से तिमोर द्वीप का बड़ा भाग पोर्तुगाल के अधीन है, और उत्तरी बोर्नियो पर ब्रिटेन का प्रभुत्व है। ईस्ट इन्डीज के प्रायः अन्य सब प्रदेश हालैण्ड के प्रभाव में है, और इस समय वहां इन्डोनीसियन रिपब्लिक स्थापित है, जो भारत के समान अपने भूतपूर्व शासकों के साथ अभी भी सम्बन्ध बनाये हुए हैं। ईस्ट इन्डीज के इन विविध प्रदेशों पर किस प्रकार विविध विदेशी राज्यों का प्रभुत्व स्थापित हुआ और किस प्रकार उनमें अपनी स्वतन्त्रता का आन्दोलन प्रबल हुआ, इसी विषय पर हम इस प्रकरण में प्रकाश डालेंगे।

**प्राचीन इतिहास**—इन्डोनीसिया के विविध द्वीपों में सबसे अधिक समृद्ध व आबाद जावा है। उसका प्राचीन नाम यवद्वीप था। उसके इतिहास का ज्ञान हमें तब शुरू होता है, जब वहां भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो गई थी। दूसरी सदी ई० प० में वहां का राजा देववर्मन था, जिसने १३२ ई० में अपना राजदूत चीन के सम्राट् के राजदरबार में भेजा था। पश्चिमी जावा में संस्कृत भाषा में लिखे हुए चार शिलालेख मिले हैं, जो छठी सदी के पहले के हैं। प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान भारत से लौटता हुआ ४१४ ई० के लगभग जावा पहुंचा था। जिस जहाज से वह जावा उतरा था, उसमें २०० भारतीय व्यापारी भी उसके साथ थे।

फाइयान ने लिखा है, कि जावा में शैव और वैष्णव धर्मों का बहुत प्रचार है। जावा के समीप बाली द्वीप में भी पांचवीं सदी तक भारतीयों का उपनिवेश स्थापित हो चुका था। ५१८ ई० में यहां के भारतीय राजा ने अपना एक दूत चीनी सम्राट् की सेवा में भेजा था।

चौथी सदी में सुमात्रा में भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो गई थी, जिसका नाम श्रीविजय था। संस्कृत भाषा में लिखे हुए बहुत से शिलालेख यहां उपलब्ध हुए हैं, जिनसे श्रीविजय के राजाओं की शक्ति और वैभव का परिचय मिलता है। श्रीविजय के कतिपय राजाओं ने प्रायः सम्पूर्ण इन्डोनीसिया व मलाया को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। चौथी सदी में बोर्नियो में भी भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो गई थी। ४०० ई० के लगभग के चार शिलालेख यहां मिले हैं, जिनमें राजा अश्ववर्मन के पुत्र राजा देववर्मन के दानपुण्य और यज्ञों का वर्णन है। संस्कृत के ये लेख जिन स्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं, वे राजा मूलवर्मन के यज्ञों में स्तूप के रूप में प्रयुक्त होने के लिये बनाये गये थे। इन यज्ञों के अवसर पर वप्रकेश्वर तीर्थ में बीस हजार गौवें और बहुत सा धन दान दिया गया था। इन्डोनीसिया के ये सब प्राचीन उपनिवेश शुद्धरूप में भारतीय थे। यदि बीच में समुद्र का व्यवधान न होता, तो इन्हें भारत का ही प्रदेश माना जा सकता था। इनमें प्राप्त शिलालेखों की भाषा विशुद्ध संस्कृत है। इनके राजा भारतीय आदर्शों के अनुसार शासन करते थे। उनके आचार विचार, चरित्र, व्यवहार आदि सब भारतीय थे। शैव, वैष्णव और बौद्ध तीनों भारतीय धर्म इन उपनिवेशों में प्रचलित थे। इनमें प्राप्त शिलालेखों से ज्ञात होता है, कि भारत की पौराणिक गाथायें, देवी देवता, सामाजिक आचार विचार, सब इनमें उसी प्रकार प्रचलित थे, जैसे कि भारत में। विष्णु, ब्रह्मा, शिव, गणेश, नन्दी, स्कन्द, महाकाल आदि की मूर्तियां बोर्नियो में प्राप्त हुई हैं। भारत के चक्र, गदा, शंख, पद्म, त्रिशूल आदि सब चिन्ह जावा में मिले हैं। इन उपनिवेशों में भारत का पौराणिक धर्म अविकल रूप से फैला हुआ था। गंगा की पवित्रता तक की भावना इनमें प्रचलित थी। पौराणिक धर्म के साथ साथ अष्टाङ्गिक बौद्ध धर्म का भी इन द्वीपों में प्रचार था। इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रधान श्रेय गुणवर्मन को है, जो काश्मीर का एक राजकुमार था। राजा बनने के स्थान पर इसने भिक्षु बनना अधिक पसन्द किया और जावा जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। बाद में इन्डोनीसिया के विविध द्वीप जो बौद्ध धर्म के अनुयायी हुए, उसमें गुणवर्मन का कर्तृत्व बहुत अधिक था। उसकी कीर्ति इतनी बढ़ गयी थी, कि चीन के सम्राट् ने उसे अपने यहां निमन्त्रित किया था।

इन्डोनीसिया के विविध द्वीपों में बौद्ध व पौराणिक धर्म की सत्ता पन्द्रहवीं सदी

तक कायम रही। पन्द्रहवी सदी में इस क्षेत्र में अरब के मुसलिम व्यापारियों ने बड़ी संख्या में आना शुरू किया। इस समय भारत में भी मुसलिम आक्रान्ता अपने आधिपत्य को स्थापित करने में तत्पर थे। बौद्ध और पौराणिक धर्मों में बहुत ह्रास हो गया था और इन्डोनीसियन प्रदेशों के विविध भारतीय राजा निर्बल हो गये थे। इसके विपरीत इस्लाम में बहुत जीवन था। अरब व्यापारियों के साथ बहुत से मुसलिम प्रचारक भी उस समय जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो आदि जाने लगे, और उनके प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ, कि बहुसंख्यक जनता ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया। केवल बाली द्वीप ही ऐसा रह गया, जहां के लोगों ने इस्लाम को स्वीकृत नहीं किया। वहां की जनता अब तक भी पौराणिक हिन्दू धर्म को मानती है। पर अन्य द्वीपों में जो लोग मुसलमान बने, उन्होंने अपने पुराने देवी देवताओं की उपासना का सर्वथा परित्याग नहीं कर दिया। उनपर अब तक भी पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रभाव अनेक अंशों में विद्यमान है।

**पाश्चात्य देशों से सम्पर्क**—सोलहवीं सदी के शुरू में पोर्तुगीज लोगों ने इन्डो-[illegible]। इस समय इन द्वीपों की राजनीतिक [illegible] शक्तिशाली राजा नहीं था, जिसके शासन को सब लोग स्वीकार करते हों। सब जगह बहुत से छोटे छोटे राजा विद्यमान थे, जो इस्लाम को स्वीकृत कर चुके थे। ये राजा प्रायः आपस में लड़ते रहते थे। इस दशा में पोर्तुगीज लोगों के लिये यह कठिन नहीं था, कि व्यापार की वृद्धि के साथ साथ अपने राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना में भी सफल हों। १५११ में पोर्तुगीज लोगों ने मलक्का को जीत लिया। व्यापारिक दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व था। भारत से इन्डोनीसिया के द्वीपों में आने जाने वाले जहाजों के लिये मलक्का के जलडमरूमध्य से गुजरना आवश्यक था। मलक्का पर कब्जा करके पोर्तुगीज लोगों ने उसे एक दुर्ग के रूप में परिवर्तित किया और उसे अपने सामुद्रिक व्यापार का प्रधान केन्द्र बनाया। इन्डोनीसिया के अन्य द्वीपों में भी उन्होंने अनेक बन्दरगाहों पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित किया। पर पोर्तुगीज लोगों की नीति साम्राज्य विस्तार की नहीं थी। पूर्वी एशिया के व्यापार को अपने हाथों में करके समृद्ध होना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। अतः सोलहवीं सदी में इस क्षेत्र के द्वीपों की राजनीतिक स्वतन्त्रता कायम रही। पोर्तुगीज व्यापारियों के साथ साथ रोमन कैथोलिक पादरियों ने भी इन द्वीपों में आना जाना शुरू किया। जेवियर के नेतृत्व में बहुत से पादरियों ने यह उद्योग किया, कि इन द्वीपों के निवासियों को ईसाई धर्म में दीक्षित करें। पर उन्हें अपने प्रयत्न में विशेष सफलता नहीं हुई। लगभग एक सदी पहले इनके

निवासियों ने इस्लाम को स्वीकार किया था, और उनमें अपने नये धर्म के प्रति निष्ठा बहुत प्रबल थी।

**हालैण्ड का प्रभुत्व**—सतरहवीं सदी में हालैण्ड के डच लोगों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन द्वीपों में आना शुरू किया। सबसे पहले १६०५ में उन्होंने अम्बोयना द्वीप पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। १६४१ में उन्होंने मलक्का को भी पोर्तुगीज लोगों से जीत लिया। मलक्का पर प्रभुत्व स्थापित हो जाने से दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेशों में डच लोगों की शक्ति बहुत बढ़ गई। डच लोग केवल व्यापार से ही संतुष्ट नहीं थे। अंग्रेजों के समान वे भी इन प्रदेशों की राजनीतिक दुर्बलता से लाभ उठाकर इन्हें अपने प्रभुत्व में लाने के लिये उत्सुक थे। जिस प्रकार इङ्गलैण्ड में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना भारत आदि प्राच्य देशों के साथ व्यापार का विस्तार करने के लिये की गई थी, वैसे ही हालैण्ड में भी एक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की गई। इङ्गलिश कम्पनी के समान डच कम्पनी ने भी व्यापार के साथ साथ राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना का भी उद्योग किया। इस उद्योग में उसे सफलता भी मिली। जावा में बटेविया को अपना केन्द्र बनाकर उसने अपने राजनीतिक उत्कर्ष का प्रारम्भ किया और उस द्वीप में शासन करनेवाले विविध राजाओं व सुलतानों को अपना वशवर्ती बना लिया। अपने व्यापारिक हितों की रक्षा के नाम पर डच लोगों ने इन द्वीपों में अपनी सेनाओं की स्थापना की और इनके शासकों की राजनीतिक दुर्बलता तथा पारस्परिक झगड़ों का लाभ उठाकर अपने राजनीतिक प्रभुत्व को कायम कर लिया। भारत में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समान इन्डोनीसिया में हालैंड का जो प्रभुत्व स्थापित हुआ, वह वहां की ईस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वारा ही हुआ था। अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई। फ्रेन्च क्रान्तिकारी सेनाओं ने हालैण्ड का भी विजय कर लिया और वहां एक नई क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना की। इस सरकार ने १७९८ में डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अन्त किया और इन्डोनीसिया के शासन को अपनी अधीनता में कर लिया। नैपोलियन के युद्धों के समय में फ्रांस व उसके अधीनस्थ राज्यों के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि समुद्र पार के प्रदेशों पर अपना आधिपत्य कायम रख सकें, क्योंकि समुद्र में ब्रिटेन की शक्ति अजेय थी। क्योंकि हालैण्ड पर नैपोलियन का कब्जा था, अतः ब्रिटेन ने इन्डोनीसिया पर अपना अधिकार कायम कर लिया। १८११ से १८१९ तक इन द्वीपों पर ब्रिटेन का प्रभुत्व रहा। वीएना की कांग्रेस (१८१४-१५) द्वारा ये प्रदेश फिर से हालैण्ड के सुपुर्द किये गये, और १८१९ में उसने इन पर अपने प्रभुत्व की पुनः स्थापना की।

वीएना की कांग्रेस के निर्णय द्वारा जब १८१९ में इन्डोनीसिया के विविध

द्वीपों पर हालैण्ड ने अपना अधिकार कायम किया, तो अनेक प्रदेश ऐसे थे, जहां उसकी राजनीतिक सत्ता को अविकल रूप से स्वीकृत नहीं किया जाता था। जो प्रदेश उसके अधिकार में थे, वहां की जनता भी उसके शासन से असन्तोष अनुभव करती थी। इसीलिये १८२५ में जावा में विद्रोह हो गया। यह विद्रोह पांच साल तक जारी रहा। इसे शान्त करने और जावा के पुराने शासकों को पूर्ण रूप से अपना वशवर्ती बनाने में हालैण्ड को बहुत शक्ति लगानी पड़ी। पर १८२५-३० के विद्रोह का यह परिणाम हुआ, कि जावा का मुख्य भाग डच सरकार के सीधे शासन में आ गया और उस द्वीप में जो पुराने राजवंश कायम भी रहे, वे भारत के रियासती राजाओं के समान डच सरकार के पूर्णरूप से वशवर्ती हो गये। १९३० के बाद सुमात्रा द्वीप में भी अनेक पुराने राजवंशों का अन्त कर उन द्वारा शासित प्रदेशों का शासन डच सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। पर सुमात्रा में कतिपय प्रदेश ऐसे भी थे, जो उन्नीसवीं सदी में निरन्तर डच सरकार के साथ संघर्ष में व्यापृत रहे। सुमात्रा की मुसलिम जनता यह नहीं सह सकती थी, कि उस पर विधर्मी डच लोगों का शासन कायम हो। इसीलिये वे बहुत समय तक संघर्ष में तत्पर रहे। पर बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग तक सम्पूर्ण सुमात्रा पूर्णरूप से हालैण्ड के अधीन हो गया था। इसी प्रकार बोर्नियो को अपनी अधीनता में लाने में भी डच लोगों को पर्याप्त कठिनता का सामना करना पड़ा था। इस द्वीप के पश्चिमी तट पर चीनी लोगों की अनेक बस्तियां बसी हुई थीं। चीनी लोग डच सरकार की अधीनता को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने डटकर हालैण्ड का मुकाबला किया। सुदीर्घ समय के संघर्ष के बाद १८८० में डच लोग बोर्नियो की चीनी बस्तियों को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुए। समुद्र तट पर विद्यमान चीनी बस्तियों को अपने अधीन कर डच लोगों ने अन्दर के प्रदेशों की विजय प्रारम्भ की और १९३१ तक प्रायः सम्पूर्ण बोर्नियो पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

बाली द्वीप पर डच लोगों का तभी प्रभुत्व कायम हो गया था, जब कि जावा उनकी अधीनता में आया था। पर १९०८ में वहां की हिन्दू जनता ने डच शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और इसे शान्त करने में डच लोगों को बहुत कठिनता का सामना करना पड़ा। सेलेबस द्वीप को अपनी अधीनता में लाने में भी डच लोगों को बहुत कठिनाई हुई। इस द्वीप में अनेक मुसलिम सुलतानों का शासन था, जो डच लोगों का मुकाबला करने के लिये कटिबद्ध थे। १९१० तक हालैण्ड और इन सुलतानों में अनेक बार युद्ध हुए। पर अन्त में डच लोगों की विजय हुई और सेलेबस के विविध सुलतानों को परास्त कर उस द्वीप पर हालैण्ड ने अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। इससे यह समझने में कठिनाई नहीं होगी, कि इन्डोनीसिया के

विविध द्वीपों के निवासियों में अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना प्रबल रूप से विद्यमान थी। उन्हें डच लोगों का शासन पसन्द नहीं था, और इसीलिये बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में भी वे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये तत्पर थे। पर हालैण्ड जैसे उन्नत व शक्तिशाली देश का मुकाबला कर सकना उनके लिये सुगम नहीं था। यदि इस समय इन्डोनीसिया में किसी एक शक्तिशाली सुलतान का शासन होता, और यह देश अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभक्त न होता, तो शायद वह डच सेनाओं से अपनी रक्षा करने में समर्थ होता। पर एशिया के अन्य देशों के समान इन्डोनीसिया की दशा भी इस समय अच्छी नहीं थी। यही कारण है, कि वह हालैण्ड का मुकाबला नहीं कर सका और धीरे-धीरे उस पर डच सरकार का आधिपत्य स्थापित हो गया।

नैपोलियन के युद्धों की समाप्ति पर जब जावा, बाली आदि द्वीपों पर हालैण्ड का आधिपत्य पुनः स्थापित हुआ, तो वहां के शासन को डच सरकार ने सीधा अपने हाथों में ले लिया। इन द्वीपों पर अपनी राजनीतिक प्रभुता स्थापित करने में डच सरकार को बहुत अधिक खर्च करना पड़ा था। विशेषतया जावा आदि में हुए विद्रोहों को शान्त करने में हालैण्ड की धन व जन की बहुत अधिक हानि हुई थी। अतः डच लोग इस बात के लिये उत्सुक थे, कि अपने साम्राज्य के इन प्रदेशों को अपनी आर्थिक समृद्धि का साधन बनावें। इसीलिये उन्होंने इन्डोनीसिया में एक नई आर्थिक पद्धति का प्रारम्भ किया, जो 'कल्चर सिस्टम' के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक इन्डोनीसिया की प्रधान फसल चावल थी और चावल की पैदावार का एक निश्चित हिस्सा सरकार मालगुजारी के रूप में किसानों से वसूल किया करती थी। अब डच सरकार ने किसानों से वसूल होनेवाली मालगुजारी के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की, कि सब किसान अपनी जमीन के एक हिस्से में ऐसी फसलें बोवें, जिनको यूरोप के बाजारों में सुगमता के साथ बेचा जा सके। ये फसलें प्रधानतया ईख और काफी की थीं। किसान लोग अपनी जमीन के एक भाग पर जो ईख या काफी बोते थे, उस सबको उन्हें मालगुजारी के रूप में डच सरकार के सुपुर्द कर देना पड़ता था। इसमें उनका जो समय लगता था या जो मेहनत उन्हें करनी पड़ती थी, उसकी कोई भी उजरत उन्हें नहीं मिलती थी। कल्चर सिस्टम के कारण इन्डोनीसियन किसानों की यह दशा हो गई थी, कि वे अपनी जमीन पर डच सरकार के लिये बेगार में खेती करते थे। ईख, काफी जैसी फसलों के लिये किसानों को न केवल श्रम व समय का व्यय करना होता था, अपितु रुपया भी पर्याप्त मात्रा में खर्च करना पड़ता था। इसका उन्हें कोई भी प्रतिफल प्राप्त नहीं होता था। डच सरकार को इससे बहुत अधिक लाभ था। गन्ने और

काफी सदृश महंगी वस्तुएं उसे इतने अधिक परिमाण में प्राप्त हो जाती थी, कि उनसे वह अपार सम्पत्ति संचित कर सकती थी। इनके लिये उसे कुछ भी कीमत नहीं देनी पड़ती थी। इन्डोनीसिया में अनेक स्थानों पर ईख से चीनी तैयार करने के लिये बड़ी बड़ी मिलें कायम की गई थीं, जो डच लोगों के प्रभुत्व में थीं। इन मिलों के लिये जो ईख चाहिये था, उसे इन्डोनीसियन किसान सरकार की बेगार में उत्पन्न करते थे। डच सरकारी अफसर भी इस दशा से खूब लाभ उठाते थे। कौन किसान कितनी जमीन पर बेगार में खेती करे, क्या फसल बोवे और अपनी कितनी पैदावार सरकार को दे— इन बातों की व्यवस्था करते हुए वे दिल खोलकर रिश्वत लेते थे। कल्चर सिस्टम के कारण इन्डोनीसियन किसानों की दशा अर्ध दासों के समान हो गई थी. जो अपनी ही जमीन पर दूसरे लोगों के लिये खेती करते थे और अपनी मेहनत का खुद प्रतिफल नहीं प्राप्त कर सकते थे।

आखिर हालैण्ड के विचारशील लोगों का ध्यान कल्चर सिस्टम की बुराइयों की ओर आकृष्ट हुआ। उन्नीसवीं सदी में यूरोप में सर्वत्र दास प्रथा के विरुद्ध भावना प्रबल हो रही थी। १८१४ में वीएना की कांग्रेस द्वारा दास प्रथा को नष्ट करने के लिये प्रस्ताव स्वीकृत किया गया था। १८६० में अमेरिका में भी दास प्रथा का अन्त कर दिया गया था। हालैण्ड के साम्राज्य में इन्डोनीसियन किसानों की दशा दासों के ही सदृश थी। अतः १८४८ में डच लोगों का ध्यान अपने साम्राज्य के इस कलंक की ओर आकृष्ट हुआ। अनेक पादरियों ने इस पद्धति के खिलाफ आवाज उठाई। इन्डोनीसिया के एक डच अफसर ने इस प्रथा के खिलाफ एक उपन्यास लिखा, जिसने हालैण्ड में इसके विरुद्ध भावना उत्पन्न करने में वैसा ही काम किया, जैसा कि 'टाम काका की कुटिया' नामक उपन्यास ने अमेरिका में दास प्रथा के विरुद्ध भावना को उत्पन्न करने के लिये किया था। इन्डोनीसियन देशभक्त भी इस प्रथा का अन्त करने के लिये संघर्ष में तत्पर थे। इस दशा में उन्नीसवीं सदी के अन्त तक कल्चर सिस्टम की समाप्ति कर दी गई और इन्डोनीसियन किसान अपनी जमीनों पर स्वेच्छापूर्वक खेती करने के लिये स्वतंत्र हो गये। अब वे बेगार में खेती नहीं करते थे और न ही डच पूंजीपति सरकारी सहायता द्वारा उनका शोषण ही कर सकते थे। इन्डोनीसियन लोगों की आर्थिक उन्नति में इससे बहुत सहायता मिली।

**राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना**—इसी समय इन्डोनीसिया में राजनीतिक अधिकारों के लिये भी संघर्ष का प्रारम्भ हुआ। संसार के अन्य देशों के समान इन्डोनीसिया में भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन बल पकड़ रहा था। पाश्चात्य देशों में शिक्षा प्राप्त कर जो इन्डोनीसियन नवयुवक अपने देश को वापस आते थे,

वे नवयुग की प्रवृत्तियों से भलीभांति परिचित होते थे । हालैण्ड में भी ऐसे राजनीतिक दलों की सत्ता थी, जो अपने साम्राज्य के अन्तर्गत देशों के शासन में उदार नीति का अनुसरण करने के पक्षपाती थे । इसका यह परिणाम हुआ, कि बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग मे इन्डोनीसियन स्वतन्त्रता के आन्दोलन ने अच्छा प्रबल रूप धारण कर लिया । १९१४-१८ के महायुद्ध के अवसर पर इस आन्दोलन को और भी अधिक बल मिला । ब्रिटेन, फ्रांस आदि मित्रराष्ट्र इस समय डंके की चोट के साथ यह घोषित कर रहे थे, कि वे लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों के लिये जर्मनी और आस्ट्रिया के खिलाफ युद्ध में तत्पर हुए हैं । १९१७ में जब अमेरिका महायुद्ध में शामिल हुआ, तो उसके राष्ट्रपति विल्सन ने भी इन्हीं सिद्धान्तों की दुहाई दी । यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि इन सिद्धान्तों का प्रभाव इन्डोनीसिया पर भी पड़े । महायुद्ध की समाप्ति पर इन द्वीपों मे अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए । १९२० में जावा और सुमात्रा में डच शासन के विरुद्ध बाकायदा विद्रोह हो गया । यह विद्रोह अनेक वर्षों तक जारी रहा, और इसका दमन करने में डच सरकार को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा । १९३० के बाद इन्डोनीसिया मे विद्रोह की प्रवृत्ति कुछ मन्द पड़ गई । इसका कारण यह था, कि इस समय जापान मञ्चूरिया में अपने साम्राज्य का विस्तार करने में तत्पर हो गया था, और इन्डोनीसियन नेता इस बात को अनुभव करते थे, कि उनके देश की अव्यवस्थित दशा का लाभ उठाकर जापान उसे भी अपने साम्राज्यवाद का शिकार बना सकता है । साथ ही १९२७ में डच सरकार ने इन्डोनीसिया में आंशिक स्वराज्य की स्थापना का भी उद्योग किया था ।

डच सरकार के लिये यह सम्भव नही था, कि वह इन्डोनीसिया के स्वातन्त्र्य आन्दोलन की सर्वथा उपेक्षा कर सके । इसीलिये महायुद्ध के काल में १९१६ में वहां फोल्क्सराड नामक विधान सभा (पार्लियामेन्ट) की स्थापना की गई थी । शुरू में फोल्क्सराड का कार्य कानून व शासन के मामले में परामर्श देना ही था; उसे स्वयं कानून बना सकने का अधिकार नहीं दिया गया था । १९२७ में डच सरकार ने इन्डोनीसिया के शासन में अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार किये । इस समय वहां बाकायदा विधानसभा की स्थापना की गई, जिसके दो तिहाई सदस्य निर्वाचित होते थे । एक तिहाई सदस्यों को डच सरकार मनोनीत करती थी । विधानसभा का अध्यक्ष भी डच सरकार द्वारा नियुक्त होता था । इन मनोनीत सदस्यों में ५० फीसदी डच होते थे, ५० फी सदी से कुछ कम इन्डोनीशियन लोग और शेष इन्डोनीसिया में बसे हुए अन्य विदेशी लोग होते थे । इन विदेशियों में प्रधान स्थान चीनी और अरब लोगों का था । इन्डोनीसिया का शासन करने के लिये एक बाका-

गया सिविल सर्विस संगठित थी । शुरू में इसके प्रायः सभी सदस्य डच लोग होते थे । हालैण्ड में इन डच कर्मचारियों को शासनकार्य की भलीभांति शिक्षा दी जाती थी और इन्हें इन्डोनीसिया की भाषा, रीति-रिवाज आदि से भलीभांति परिचित करा दिया जाता था । बाद में इन्डोनीसियन लोगों को भी सिविल सर्विस में लिया जाने लगा । १९४१ तक यह दशा आ गई थी, कि इन्डोनीसियन सिविल सर्विस में ८४ फीसदी के लगभग कर्मचारी इन्डोनीसियन लोग हो गये थे । पर उच्च राजकीय पदों पर अब भी डच कर्मचारी विद्यमान थे । शासन की दृष्टि से इन्डोनीसिया की हालत प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि १९३५ के शासन सुधार से पूर्व भारत में ब्रिटिश शासन की थी । १९२७ के शासन सुधारों द्वारा डच सरकार ने यह प्रयत्न भी किया था, कि इन्डोनीसिया को अनेक प्रान्तों में विभक्त कर उनमें स्थानीय स्वशासन की स्थापना की जाय । पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये कि इन्डोनीसियन नेता इन सुधारों से संतुष्ट नहीं थे । वे इन्हें अपर्याप्त समझते थे, और अपने देश की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये उत्सुक थे । डच शासन से और हानि चाहे कुछ भी क्यों न हुई हो, पर यह लाभ भी हुआ था, कि सम्पूर्ण इन्डोनीसिया में राष्ट्रीय एकता की भावना उत्पन्न हो गई थी । इस क्षेत्र के विविध द्वीप सदियों के बाद एक बार फिर एक शासन में आये थे और डच शासन के विरुद्ध एक होकर संघर्ष करने के कारण उनमें अपने एक होने की अनुभूति भलीभांति विकसित हो गई थी ।

**आर्थिक दशा**—इन्डोनीसिया की आर्थिक समृद्धि का प्रधान आधार खेती थी । चावल के अतिरिक्त वहां ईख, काफी, तमाखू, चाय आदि भी प्रचुर परिमाण में उत्पन्न की जाती थीं । मसाले के द्वीप भी इन्डोनीसिया के अन्तर्गत हैं, और इन द्वीपों में उत्पन्न मसाले की संसार के सभी देशों में मांग थी । विशेषतया मोलक्का की काली मिर्च बहुत प्रसिद्ध है । मसालों के अतिरिक्त कुनीन की पैदावार भी इन्डोनीसिया के अनेक द्वीपों में प्रचुर मात्रा में होती है । संसार भर में जितनी कुनीन पैदा होती है, उसका बहुत बड़ा भाग इन्हीं द्वीपों में होता है । कुनीन पर इन्डोनीसिया का एकाधिकार स्थापित है । डच लोगों ने इन द्वीपों में रबड़ की पैदावार पर भी बहुत ध्यान [illegible]
लगा, कि इन्डोनीसि[illegible]
से कम नहीं रही । [illegible]
गया । खेती व जंगल की पैदावार की दृष्टि से तो इन्डोनीसिया समृद्ध था ही, बाद में वहां अनेक व्यावसायिक पदार्थों की भी उत्पत्ति प्रचुर परिमाण में होने लगी । इनमें पेट्रोलियम सबसे महत्त्वपूर्ण है । सुमात्रा और बोर्नियो में पेट्रोलियम बहुत बड़ी मात्रा में उपलब्ध हुई और वहां उसके बहुत से कूप तैयार किये गये । इन्डो-

नीसिया में टीन भी बहुत बड़े परिमाण में उपलब्ध हुई। इस धातु के उत्पादन में केवल मलाया ही उससे आगे था। गन्ने की खेती के कारण चीनी की भी बहुत सी मिलें इन्डोनीसिया में स्थापित हुईं। १९४० के लगभग संसार में कुल मिलाकर जितनी चीनी तैयार होती थी, उसका ५ प्रतिशत अकेले जावा में होती थी। चीनी, चाय, टीन और पेट्रोलियम द्वारा इन्डोनीसिया की आर्थिक समृद्धि में बहुत अधिक सहायता मिली।

उन्नीसवीं सदी तक इन्डोनीसिया के विदेशी व्यापार पर हालैण्ड का एकाधिपत्य था। अन्य देशों का उसके साथ व्यापारिक सम्बन्ध नाममात्र को था। पर बीसवीं सदी में अन्य देश भी इन्डोनीसिया के विदेशी व्यापार में हाथ बटाने के लिये तत्पर हुए। विदेशी राज्यों ने वहां के व्यवसायों में अपनी पूंजी भी अधिक बड़ी मात्रा में लगानी शुरू की। अमेरिका, ब्रिटेन, चीन, बेल्जियम, फ्रांस, जर्मनी और जापान के पूंजीपति इस देश में पूंजी लगाकर वहां के व्यवसायों से नफा कमाने के लिये प्रवृत्त हुए। विशेषतया जापान ने इस बात का बहुत प्रयत्न किया, कि इन्डोनीसिया के साथ अपने व्यापार का विकास करे। इस समय तक जापान व्यावसायिक दृष्टि से बहुत अधिक उन्नति कर चुका था। उसका माल पाश्चात्य देशों के माल के मुकाबले में बहुत सस्ता पड़ता था। अतः इन्डोनीसिया के बाजारों में जापानी माल की मांग बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लग गई थी। व्यापार की वृद्धि के साथ साथ जापानी लोगों में यह विचार भी विकसित होने लगा था, कि इन्डोनीसिया भी उनके साम्राज्य-प्रसार का उपयुक्त क्षेत्र है।

**जनसंख्या में वृद्धि**—संसार के अन्य देशों के समान इन्डोनीसिया में भी इस समय जनसंख्या बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थी। इस दृष्टि से जावा और मदुरा (जावा के उत्तर में एक छोटा सा द्वीप) सबसे आगे थे। १८१९ में इन दो द्वीपों की आबादी ४५,००,००० के लगभग थी। १८५० के लगभग तक वह बढ़ कर १,००,००,००० हो गई थी। तीन चौथाई सदी के बाद १९३० में जावा और मदुरा की जनसंख्या ४,१०,००,००० तक पहुंच गई थी। १८१९ से १९३० तक एक सदी से कुछ ही अधिक समय में इन द्वीपों की आबादी में दस गुना के लगभग की वृद्धि हुई थी। जावा और मदुरा के क्षेत्रफल को दृष्टि में रखते हुए यह आबादी बहुत ही अधिक थी। वहां ८०० व्यक्तियों का एक वर्गमील में निवास था। इसी काल में भारत में एक वर्गमील में निवास करनेवाले लोगों की संख्या २३० के लगभग थी। संसार का कोई भी देश ऐसा नहीं था, जहां आबादी इतनी अधिक सघन हो, जितनी कि जावा और मदुरा में थी। इसमें सन्देह नहीं, कि इन द्वीपों की जमीन बहुत अधिक उपजाऊ है, पर इतनी अधिक आबादी का भरण-पोषण कर सकना

उसके लिये सम्भव नहीं था। इसीलिये डच सरकार ने यह प्रयत्न किया, कि इन द्वीपों के निवासियों को इन्डोनीसिया के अन्य प्रदेशों में बसने के लिये प्रेरित करें। सुमात्रा, बोर्नियो आदि में जनसंख्या अधिक नहीं थी। पर डच सरकार के प्रयत्नों के बावजूद भी १९३० में केवल १३,००,००० जावानिवासी अन्य प्रदेशों में जाकर आबाद हुए थे। इस प्रसंग में यह भी निर्दिष्ट करना उपयोगी होगा, कि १९३० में इन्डोनीसिया की कुल आबादी छः करोड़ के लगभग थी। इसमें से चार करोड़ से भी अधिक आदमी केवल जावा और मदुरा में निवास करते थे, जब कि इन दो द्वीपों का क्षेत्रफल केवल ५१,०३२ वर्गमील है, और इन्डोनीसिया के अन्य प्रदेश क्षेत्रफल में ६,८४,२३६ वर्गमील हैं। इन्डोनीसिया की जनसंख्या की समस्या का इससे भलीभांति अन्दाज किया जा सकता है।

**ईसाई धर्म का प्रचार**—इन्डोनीसिया के बहुसंख्यक निवासी इस्लाम के अनुयायी हैं, यद्यपि बाली द्वीप में पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रचार है। पर सुमात्रा बोर्नियो आदि के पर्वत प्रधान व जांगल प्रदेशों में ऐसी भी अनेक जातियों का निवास है, जो अपने पुराने देवी-देवताओं की पूजा करती हैं। जब डच लोगों ने इन्डोनीसियन द्वीपों को अपने प्रभाव में लाना शुरू किया, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि ईसाई मिशनरी भी वहां अपने धर्म का प्रचार करने में तत्पर हों। डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सहायता इन मिशनरियों को प्राप्त थी। डच लोग प्रोटेस्टेन्ट धर्म के अनुयायी थे, अतः शुरू में जो ईसाई पादरी इन्डोनीसिया में धर्म प्रचार के कार्य के लिये आये, वे भी प्रोटेस्टेन्ट ही थे। बीसवीं सदी में रोमन कैथोलिक पादरियों ने भी इन द्वीपों में कार्य शुरू किया। पर ईसाई लोगों को इन द्वीपों में विशेष सफलता नहीं हुई। १९४१ तक वे केवल बीस लाख आदमियों ो ईसाई धर्म में दीक्षित कर सके थे। पर कुल जनसंख्या के तीन प्रतिशत भाग का ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेना भी साधारण बात नहीं थी। ईसाइयों की सफलता का मुख्य कारण यह था, कि उन्होंने विशेषतया उन लोगों में कार्य किया, जो मुस्लिम व हिन्दू धर्मों के प्रभाव से वञ्चित थे और सभ्यता की दृष्टि से पिछड़े हुए थे। जिस प्रकार भारत में गोंड, भील आदि जातियां पिछड़ी हुई दशा में हैं, और उनमें ईसाई लोग विशेष रूप से कार्य करते रहे हैं, वैसे ही इन्डोनीसिया के ईसाई पादरी वहां की पिछड़ी हुई जातियों में कार्य करते थे, और उनमें अपने धर्म का प्रचार करने में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई थी।

**पोर्तुगाल द्वारा अधिकृत प्रदेश**—सोलहवीं सदी के शुरू में पोर्तुगीज लोगों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन द्वीपों में अपने व्यापार का विस्तार प्रारम्भ किया था, यह हम पहले लिख चुके हैं। पोर्तुगाल ने इस क्षेत्र में अपने साम्राज्य विस्तार पर

विशेष ध्यान नहीं दिया था, उसका ध्यान व्यापार पर अधिक था। फिर भी जो कतिपय प्रदेश बाद में उसके प्रभुत्व में आ गये थे, वे भी अठारहवीं सदी में उसके हाथ से निकलकर हालैण्ड की अधीनता में आ गये थे। उन्नीसवीं सदी में तिमोर द्वीप का पूर्वी भाग व उसके समीप के कतिपय छोटे-छोटे द्वीप ही पोर्तुगाल के प्रभुत्व में रह गये थे। पर इनके सम्बन्ध में भी हालैण्ड और पोर्तुगाल में प्रायः झगड़ा होता रहता था। १८५९ और १८९० में इन दोनों देशों ने परस्पर सन्धि करके इन झगडों का अन्त किया। इन सन्धियों द्वारा हालैण्ड ने अनेक छोटे-छोटे द्वीप पोर्तुगाल से खरीद लिये और तिमोर द्वीप में दोनों राज्यों की सीमा का ठीक प्रकार से निश्चय कर दिया गया। बीसवीं सदी में दक्षिण-पूर्वी एशिया में पोर्तुगाल का प्रभुत्व अगण्य सा था। राजनीतिक व आर्थिक दृष्टि से पोर्तुगीज लोगों द्वारा अधिकृत प्रदेश का कोई महत्त्व नहीं था।

**ब्रिटेन द्वारा अधिकृत प्रदेश**—सतरहवीं सदी में जब हालैण्ड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध द्वीपों में अपने व्यापारिक व राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना में तत्पर थी, तभी ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी इस क्षेत्र में अपना प्रभुत्व कायम करने के लिये प्रयत्नशील थी। सुमात्रा के कुछ प्रदेशों को उसने अपने अधिकार में कर लिया था। पर क्योंकि अठारहवीं सदी में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में अपना राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करने में संलग्न थी, अतः उसे दक्षिण-पूर्वी एशिया की ओर ध्यान देने की अधिक फुरसत नहीं थी। नैपोलियन के युद्धों के अवसर पर जब हालैण्ड फ्रांस के अधीन हो गया, तो ब्रिटेन ने हालैण्ड के इन्डोनीसियन साम्राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। १८११ से १८१९ तक इन द्वीपों पर ब्रिटेन का प्रभुत्व कायम रहा। इनका शासन करने के लिये ब्रिटिश सरकार की ओर से सर टामस स्टैम्फोर्ड रैफल्स को नियत किया गया, जो एक अत्यन्त कुशल व शक्तिशाली शासक था। वीएना की कांग्रेस (१८१४) के निर्णय के अनुसार दक्षिण-पूर्वी एशिया के ये द्वीप हालैण्ड को वापस दे दिये गये। इससे सर रैफल्स को बहुत निराशा हुई। वह इन प्रदेशों को ब्रिटेन के प्रभुत्व में रखना चाहता था। विवश होकर उसने हालैण्ड के साथ यह समझौता किया, कि मलाया में ब्रिटिश लोगों के साम्राज्य विस्तार में हालैण्ड बाधा न डाले और बदले में ब्रिटेन इन द्वीपों में अपने अधिकारों का परित्याग कर दे। इस समझौते के अनुसार सुमात्रा, जावा आदि द्वीप हालैण्ड को प्राप्त हुए और मलाया में अपनी शक्ति की स्थापना के लिये ब्रिटेन को खुली छुट्टी मिल गई। सर रैफल्स ने मलाया में किस प्रकार ब्रिटेन के प्रभुत्व को स्थापित किया, इस पर हम इसी अध्याय में आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

पर ब्रिटिश लोगों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध द्वीपों को अविकल रूप से हालैण्ड के लिये छोड़ दिया हो, यह बात नहीं थी। बोर्नियो के उत्तर पश्चिम में एक द्वीप है, जिसे लाबुआन कहते हैं। अठारहवीं सदी में इसमें ब्रिटिश लोगों ने अपना व्यापारिक केन्द्र स्थापित किया था। ब्रिटिश लोग इसको विकसित करने मे विशेष सफलता नही प्राप्त कर सके थे। इसीलिये अठारहवीं सदी में उन्होंने इसकी उपेक्षा कर दी थी। पर १८४० में एक बार फिर उन्होंने इस पर कब्जा कर लिया था और इसे अपना व्यापारिक केन्द्र बनाया था।

बोर्नियो द्वीप में एक राज्य था, जिसे ब्रुनेई कहते थे। यहां एक मुसलिम सुल-तान का शासन था। किसी समय ब्रुनेई की सल्तनत बहुत शक्तिशाली थी और न केवल बोर्नियो के बड़े भाग पर, अपितु लाबुआन आदि अनेक द्वीपों पर भी उसका शासन था। पर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध मे ब्रुनेई राज्य की दशा बहुत खराब हो गई थी, और उसके सुलतान की निर्बलता का लाभ उठाकर १८८० में ब्रिटिश लोगों ने उसे अपने आधिपत्य में ले लिया था। यद्यपि ब्रुनेई के सुलतान की राजगद्दी को कायम रखा गया था, पर ब्रिटेन की अधीनता में उसकी स्थिति प्रायः वही रह गई थी, जो भारत की देशी रियासतों के राजाओं की थी।

बोर्नियो के उत्तर पश्चिमी समुद्री तट पर सरावक नाम का एक राज्य था। उन्नीसवीं सदी में इसकी दशा भी बहुत खराब थी। सर जेम्स ब्रूक (१८०३-१८६८) नामक एक अंग्रेज ने इसकी राजनीतिक दुर्दशा का लाभ उठाकर इसे अपनी अधीनता में कर लिया था। सर जेम्स ब्रूक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी में था और उसी की तरफ से दक्षिण-पूर्वी एशिया में भेजा गया था। सरावक के सुल्तान के विरुद्ध अनेक विद्रोह हो रहे थे, उन्हें शान्त करने में इसने सुलतान की सहायता की और बाद में अपनी सैनिक शक्ति का उपयोग कर सरावक राज्य पर ही अपना आधिपत्य कायम कर लिया। अब ब्रूक सरावक पर एक स्वतन्त्र राजा के समान शासन करने लगा। १८६३ में उसने ब्रिटिश सरकार के साथ समझौता किया, जिसके अनुसार ब्रिटेन ने सरावक पर सर जेम्स ब्रूक के अधिकार को स्वीकृत कर लिया। पर सरावक के इस अंग्रेज राजा की स्थिति भी ब्रिटेन के अधीनस्थ राजा के समान थी और इस प्रदेश पर ब्रिटेन का आधिपत्य स्थापित हो गया था।

ब्रुनेई और सरावक के अतिरिक्त बोर्नियो द्वीप के उत्तरी भाग पर भी ब्रिटिश सरकार ने अपना आधिपत्य स्थापित किया। यह प्रदेश (उत्तरी बोर्नियो) प्रायः जंगलों से आच्छादित था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में इस पर अपना आधि-पत्य स्थापित करने व इसका आर्थिक विकास करने के लिये नार्थ बोर्नियो कम्पनी

की स्थापना की गई। यह प्रदेश रबड़ के लिये बहुत उपयुक्त था। ब्रिटिश नार्थ बोर्नियो कम्पनी ने यहां रबड़ के वृक्षों का जहां विकास किया, वहां साथ ही ब्रिटिश सरकार की संरक्षा में इसके शासन का भी संचालन किया। इस प्रकार बोर्नियो द्वीप के उत्तरी पश्चिमी और उत्तरी भाग पर ब्रिटेन का आधिपत्य स्थापित हुआ। दक्षिणी बोर्नियो हालैण्ड की अधीनता में था।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में एक अन्य द्वीप है, जिसे न्यू गाइनिआ कहते हैं। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह इस क्षेत्र के अन्य सब द्वीपों की अपेक्षा अधिक बड़ा है। १८८० में इसके दक्षिण-पूर्वी भाग पर ब्रिटेन ने अपना प्रभुत्त्व कायम कर लिया। न्यू गाइनिआ के ब्रिटेन द्वारा अधिकृत प्रदेश को पापुआ कहते हैं। १८८० में ही न्यू गाइनिआ द्वीप के उत्तर पूर्वी भाग पर जर्मनी ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। १९१४-१८ के महायुद्ध में जब जर्मनी की पराजय हुई, तो यह प्रदेश राष्ट्रसंघ की अधीनता में आस्ट्रेलिया के सुपुर्द कर दिया गया। न्यू गाइनिआ का पश्चिमी भाग हालैण्ड की अधीनता में था।

न्यू गाइनिआ और बोर्नियो के कतिपय प्रदेशों के अतिरिक्त दक्षिण-पूर्वी एशिया में अन्य भी अनेक द्वीपों पर ब्रिटेन का आधिपत्य कायम था। इनमें से कोकोस-कीलिंग द्वीपसमूह (सुमात्रा के दक्षिण में कई सौ मील की दूरी पर स्थित) सबसे महत्त्वपूर्ण है।

## (४) इन्डोचायना

**प्राचीन इतिहास**---दक्षिण-पूर्वी एशिया में फ्रांस के अधीन इन्डोचायना का जो राज्य है, उसका क्षेत्रफल २,८६,००० वर्गमील है, और १९३९ में उसकी आबादी २,३७,००,००० थी। इस राज्य के पांच मुख्य भाग हैं, तोन्किन, अनाम, कोचीन चायना, कम्बोडिया और लाओस। फ्रांस की अधीनता में रहने के कारण ये पांचों प्रदेश इस समय एक राज्य के अंग हैं, पर प्राचीन समय में ये राजनीतिक व सांस्कृतिक दृष्टि से एक नहीं थे। तोन्किन और अनाम पर चीनी सभ्यता का प्रभाव था और दक्षिणी इन्डोचायना के प्रदेशों पर भारतीय सभ्यता का। तोन्किन और अनाम चीन की दक्षिणी सीमा के बहुत समीप हैं। तोन्किन तो उसके साथ ही लगा हुआ है। इसी कारण चीन के अनेक शक्तिशाली सम्राट् इन प्रदेशों को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुए थे। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक भी ये चीन के मञ्चू साम्राज्य के अधीन थे। दक्षिणी इन्डोचायना के विविध राज्यों की स्थिति भी इस समय चीनी साम्राज्य के करद राज्यों के सदृश थी। ये मञ्चू सम्राट् की अधीनता को स्वीकृत करते थे।

तीसरी सदी ई० पू०में चिन वंश के शक्तिशाली सम्राट् शी हुआंग ती ने तोन्किन को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। उसने अनाम पर भी आक्रमण किया था और उसके उत्तरी भाग को भी अपने विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया था। चिन वंश की शक्ति के क्षीण होने पर (२०६ ई० पू०) ये प्रदेश चीनी साम्राज्य की अधीनता से मुक्त हो गये। चिन वंश की समाप्ति पर चीन में हान वंश का शासन कायम हुआ था। इसका सबसे अधिक शक्तिशाली सम्राट् बूती था। उसने चीन के साम्राज्य का फिर से विस्तार किया और तोन्किन व अनाम को जीतकर अपने अधीन कर लिया। बूती का शासन काल १४० ई० पू० से ८७ ई० पू० तक था। चीन के इतिहास में वह दिग्विजयी सम्राट् के रूप में प्रसिद्ध है। यद्यपि तोन्किन और अनाम उसके अधीन थे, पर उनके अपने पृथक् राजाओं की सत्ता विद्यमान थी। भारतवर्ष के सम्राट् समुद्रगुप्त के अधीनस्थ विविध राजाओं के समान तोन्किन और अनाम के राजा भी सम्राट् बूती की अधीनता में अपने पृथक् सत्ता रखते थे। हान वंश के क्षीण होने पर इन प्रदेशों के राजा फिर स्वतन्त्र हो गये (२० ई० प० के लगभग)। तीसरी सदी ई० प० के प्रारम्भ में जब चीन की शक्ति का पुनरुद्धार हुआ, तो तोन्किन और अनाम फिर चीन के अधीन हो गये। इस समय इन राज्यों में चीन की सभ्यता और संस्कृति का विशेष रूप से प्रचार हुआ। तोन्किन और अनाम के उच्च श्रेणि के लोग चीनी भाषा बोलने और चीनी साहित्य के अध्ययन में गौरव अनुभव करने लगे। तीसरी सदी से नवीं सदी के अन्त तक ये राज्य चीन की अधीनता में रहे। इस काल में चीन में अनेक राजवंशों ने शासन किया, पर तोन्किन और अनाम अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में सफल नहीं हुए। दसवीं सदी के प्रारम्भ में जब तांग वंश का पतन हुआ, और चीन का विशाल साम्राज्य अनेक राज्यों में विभक्त हो गया, तो इन राज्यों को अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को स्थापित करने का अवसर मिला। पर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद भी इन राज्यों में चीनी सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव कायम रहा। तेरहवीं सदी में जब चीन पर मंगोल लोगों के आक्रमण हुए, और चंगेज खां ने विशाल मंगोल साम्राज्य को स्थापित किया, तो तोन्किन और अनाम भी मंगोल आक्रमणों से अपनी रक्षा नहीं कर सके। पर मंगोल विजेताओं के लिये यह सम्भव नहीं था, कि इतने सुदूरस्थ प्रदेशों पर वे अपने शासन को कायम रख सकें। जिस प्रकार भारत में मंगोल लोगों ने आक्रमण करने के बाद भी अपना स्थिर आधिपत्य स्थापित नहीं किया था, वैसे ही अनाम और तोन्किन पर भी उन्होंने अपना स्थिर शासन कायम नहीं किया। पन्द्रहवीं सदी के शुरू में चीन के मिंगवंशी सम्राट् युंगलो ने फिर तोन्किन और अनाम पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। इस समय के बाद

ये प्रदेश चीन के सम्राटों को भेंट, उपहार, कर आदि द्वारा सन्तुष्ट करते रहे। तोन्किन और अनाम किस अंश तक चीन की अधीनता में रहे, यह बात चीनी सम्राट् की शक्ति पर आश्रित रहती थी। जो सम्राट् अधिक शक्तिशाली होते थे, इन प्रदेशों पर उनका प्रभुत्व अधिक दृढ़ होता था। पर तोन्किन और अनाम के राजाओं की पृथक् सत्ता कायम रहती थी, और वे चीनी साम्राज्य की अधीनता में रहते हुए अपने राज्यों का शासन स्वयं करते थे।

तोन्किन और अनाम के राज्यों में चीनी सभ्यता और संस्कृति का प्रभुत्व था। पर इन प्रदेशों की कोई अपनी संस्कृति न हो, यह बात नहीं थी। चौदहवीं सदी में अनाम के लोगों ने अपनी पृथक् लिपि का विकास किया, जिसके अक्षर चीनी लिपि से भिन्न थे। इस लिपि में अनाम का अपना साहित्य लिखा जाने लगा, और धीरे धीरे अनामी साहित्य का विकास हुआ। चित्रकला आदि में भी इन राज्यों की अपनी पृथक् शैली थी। साथ ही इन प्रदेशों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का भी प्रभाव था। भारतीय व्यापारी व धर्म प्रचारक बड़ी संख्या में अनाम के समुद्र तट पर आते जाते थे और उनका प्रभाव वहां की जनता पर पड़ना सर्वथा स्वाभाविक था।

प्राचीन समय में अनाम के दक्षिणी भाग में चम्पा नामक भारतीय राज्य की सत्ता थी। कुछ समय के लिये चम्पा के राज्य की उत्तरी सीमा तोन्किन से जा लगी थी और सम्पूर्ण अनाम चम्पा राज्य के अन्तर्गत हो गया था। चम्पा का पहला भारतीय राजा श्रीमार था। इसका समय दूसरी सदी ई० प० में है। श्रीमार और उसके उत्तराधिकारी चम्पा के राजा भारतीय थे, संस्कृत उनकी भाषा थी और उनके नाम भी भारतीय थे। इन राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए संस्कृत भाषा के अनेक शिलालेख दक्षिणी अनाम में उपलब्ध हुए हैं। चम्पा के राजाओं में श्री भद्रवर्मन का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह वेदों का विद्वान् था और उसने शिव के एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसमें भद्रेश्वर स्वामी शिव की मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी। यह मन्दिर बाद में चम्पा के धर्म और संस्कृति का केन्द्र बन गया था, और इसकी कीर्ति सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया में व्याप्त थी। यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि चम्पा के इन भारतीय राजाओं के सम्बन्ध में अधिक विस्तार के साथ लिख सकें। चीन के जो शक्तिशाली सम्राट् तोन्किन और अनाम के विविध राजाओं को अपनी अधीनता में लाने में तत्पर थे, उन्होंने चम्पा के राजाओं को भी अपना वशवर्ती व करद बनाने में सफलता प्राप्त की थी।

प्राचीन समय में चम्पा के पश्चिम में कम्बोडिया का राज्य था, जिसे भारतीय लोग कम्बुज कहते थे। चम्पा के समान कम्बुज भी भारत का ही एक उपनिवेश था।

चौथी सदी में कौण्डिन्य नामक एक भारतीय ब्राह्मण ने यहां भारतीयों का एक राज्य स्थापित किया था, जिसे चीनी ऐतिहासिकों ने फूनान नाम से लिखा है। फूनान के निवासी शैव धर्म को मानते थे। फूनान के राजा रुद्रवर्मन और उसकी माता कुल-प्रभावती द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए अनेक शिलालेख इस प्रदेश से उपलब्ध हुए हैं। फूनान के उत्तर में भारतीयों का एक अन्य उपनिवेश था, जिसे कम्बुज कहते थे। बाद में फूनान राज्य को भी कम्बुज के राजाओं ने विजय कर लिया और यह सारा प्रदेश ही कम्बुज व कम्बोडिया कहाने लगा। छठी सदी के अन्त तक कम्बुज और फूनान के भारतीय राज्य परस्पर मिलकर एक हो गये थे। कम्बुज देश के राजा शैव धर्म के अनुयायी थे और उनके शासनकाल में इस धर्म की बहुत उन्नति हुई। न केवल राजा अपितु अन्य धनी मानी लोग भी वहां शैव मन्दिरों के निर्माण में तत्पर थे। कुछ ही समय में कम्बुज शैव धर्म और भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। शिव, विष्णु, दुर्गा आदि पौराणिक देवी देवताओं की वहां सर्वत्र पूजा होने लगी। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि का वहां उसी प्रकार अध्ययन होने लगा, जैसा भारत में होता था। सातवीं सदी में महेन्द्र वर्मा, ईशान वर्मा और जयवर्मा कम्बुज देश के राजा थे। ईशान वर्मा ने कम्बुज में अनेक आश्रम बनवाये। जैसे बौद्ध धर्म के मठ विहार कहाते थे, वैसे ही पौराणिक धर्म के मठों को आश्रम कहते थे। इनमें बहुत से सन्यासी निवास करते थे और बौद्ध भिक्षुओं की तरह धर्म-प्रचार, विद्याध्ययन तथा शिक्षाकार्य में व्यापृत रहते थे। राजा ईशानवर्मा के समय में ही विष्णु और शिव की सम्मिलित मूर्ति बनाई गई। इससे सूचित होता है, कि कम्बुज देश के शैव और वैष्णव शिव व विष्णु में अविरोध मानते थे। नवीं सदी में कम्बुज देश का राजा यशोवर्मा था। उसने यशोधरपुर नाम से अपनी नई राजधानी बनाई थी। उसके भग्नावशेष अब भी अङ्कोरथोम में उपलब्ध होते हैं। इसके चारों ओर ३३० फीट चौड़ी खाई है, जिसके भीतर की ओर एक विशाल प्राचीर बनी हुई है। नगर वर्गाकार है, जिसकी प्रत्येक भुजा लम्बाई में दो मील से भी अधिक है। नगर के द्वार विशाल व सुन्दर हैं। इनके दोनों ओर रक्षकों के लिये मकान बने हैं। तीन सिर वाले विशाल हाथी द्वारों की मीनारों को अपनी पीठ पर थामे हुए हैं। सौ फीट चौड़े और मील भर लम्बे पांच राजमार्ग द्वारों से नगर के मध्य तक गये हैं। पक्की चिनाई के भिन्न भिन्न आकृति वाले अनेक सरोवर अब तक भी अङ्कोरथोम के खण्डहरों में विद्यमान हैं। नगर के ठीक बीच में शिव का एक विशाल मन्दिर है। उसके तीन खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड पर एक एक ऊंची मीनार है। बीच के मीनार की ऊंचाई भग्न दशा में भी १५० फीट के लगभग है। ऊंची मीनार के चारों तरफ बहुत सी छोटी छोटी

मीनारें हैं। इनके चारों ओर एक एक नर मूर्ति बनी हुई है। ये समाधिस्थ शिव की मूर्तियां हैं। इस विशाल शिवमन्दिर में जगह जगह पर सुन्दर चित्रकारी की गई है। पौराणिक धर्म के किसी मन्दिर के इतने पुराने और विशाल अवशेष भारत में भी कहीं उपलब्ध नहीं होते। बारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में कम्बुज देश का राजा सूर्यवर्मा द्वितीय था। उसने एक विशाल विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया, जो अङ्कोर वट के रूप में अब तक भी विद्यमान है। आजकल यह एक बौद्ध विहार है। पर शुरू में इसका निर्माण वैष्णव मन्दिर के रूप में हुआ था। इसके चारों ओर की खाई की चौड़ाई ७०० फीट है। झील के समान चौड़ी इस खाई को पार करने के लिये पश्चिम की ओर एक पुल बना है। पुल पार करने पर एक विशाल द्वार आता है, जिसकी चौड़ाई १००० फीट से भी अधिक है। खाई और द्वार को पार करने के बाद जो मन्दिर आता है, वह भी बहुत विशाल है, उसकी चौड़ाई १८० फीट के लगभग है। समयान्तर में कम्बुज देश में पौराणिक धर्म का ह्रास हो गया और उसका स्थान बौद्ध धर्म ने ले लिया। कम्बोडिया व कम्बुज देश पूर्ण रूप से भारत का उपनिवेश था और इसी रूप में वह सोलहवीं सदी के लगभग तक विद्यमान रहा। पर कम्बुज देश के भारतीय राजाओं की राजनीतिक शक्ति बहुत समय तक कायम नहीं रह सकी। सोलहवीं सदी में उस पर सियाम और अनाम (चम्पा) के राज्यों ने आक्रमण शुरू कर दिये और इनके हमलों के कारण उसकी शक्ति बहुत क्षीण हो गई। सोलहवीं सदी में जब पोर्तुगीज लोगों ने व्यापार आदि के लिये इस देश में आना शुरू किया, तब कम्बुज देश की राजनीतिक व सामरिक शक्ति बहुत निर्बल दशा में थी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि वर्तमान समय में जिस राज्य को इन्डोचायना कहते हैं, प्राचीन समय में वह अनेक राज्यों में विभक्त था। उसके उत्तरी राज्य चीनी सभ्यता के प्रभाव में थे और दक्षिणी राज्यों में भारतीय सभ्यता की सत्ता थी। राजनीतिक दृष्टि से यह देश अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था, जो बहुधा आपस में संघर्ष करते रहते थे। प्राचीन समय में चम्पा और कम्बुज में अनेक ऐसे शक्तिशाली राजा हुए, जिन्होंने इन्डोचायना के बहुत बड़े भाग पर चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में शासन किया। उत्तरी इन्डोचायना पर चीन का प्रभुत्व बहुत समय तक कायम रहा, यद्यपि वहां भी अनेक राजा चीन के करद रूप में शासन करते रहे।

**यूरोपियन जातियों से सम्पर्क**—दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान इन्डोचायना के समुद्र तट पर भी सोलहवीं सदी में पोर्तुगीज लोगों ने आना शुरू किया। पर पोर्तुगीज लोगों ने इस देश में अपने राजनीतिक प्रभुत्व के विस्तार का उद्योग नहीं किया। पोर्तुगाल के बाद हालैण्ड, स्पेन, ब्रिटेन और फ्रांस के व्यापारी

इस देश में व्यापार के लिये आये, पर उन्होंने भी इसमें अपने राजनीतिक प्रभुत्त्व को स्थापित करने की कोई कोशिश नहीं की। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक इण्डोचायना की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रही।

**फ्रान्स का प्रभुत्त्व**—इन्डोचायना पर अपना राजनीतिक प्रभुत्त्व कायम करने का उद्योग फ्रेन्च लोगों ने किया। फ्रेन्च पादरी इस क्षेत्र में देर से ईसाई धर्म के प्रचार का उद्योग कर रहे थे। सतरहवी सदी में पेरिस में एक मिशनरी सोसायटी की स्थापना हुई थी, जिसका उद्देश्य विदेशों में रोमन कैथोलिक धर्म का प्रचार करना था। इसने इन्डोचायना के दक्षिणी भाग कोचीनचायना में कार्य शुरू किया। फ्रेन्च पादरियों के साथ साथ फ्रेन्च व्यापारी भी इस प्रदेश में आने लगे। धीरे धीरे बहुत से फ्रेन्च पादरी और व्यापारी कोचीनचायना और अनाम में पहुंच गये। ये लोग केवल धर्म प्रचार और व्यापार से ही संतुष्ट नहीं रहे, इन्होंने इन प्रदेशों के राजनीतिक मामलों में भी हस्तक्षेप शुरू कर दिया। अठारहवीं सदी में ब्रिटिश और फ्रेन्च लोग भारत के विविध राजाओं व नबाबोंका पक्ष लेकर इस देश की राजनीति में अपना प्रभाव स्थापित कर रहे थे। कोचीनचायना और अनाम में भी फ्रेन्च लोगों ने इस नीति का अनुसरण करना शुरू किया। अनाम की राजगद्दी के एक झगड़े को लेकर १७८० में फ्रांस के एक पादरी ने यह निश्चय किया, कि राजगद्दी के एक उमीदवार की मदद की जाय, ताकि जब फ्रांस की मदद से यह व्यक्ति अनाम का राजा बन जाय, तो वह फ्रांस के प्रभाव में रहे और ईसाई धर्म के प्रचार में भी उससे सहायता मिले। उस समय फ्रांस में बूर्बो वंश के राजा लुई १६वें का शासन था। वह अनाम की राजगद्दी के इस उम्मीदवार की सहायता करने को तैयार हो गया। पर शीघ्र ही (१७७९) फ्रांस में राज्यक्रान्ति हो गई और लुई १६वें को अपनी राजगद्दी का परित्याग करना पड़ा। फ्रांस के सम्राट् की ओर से तो कोई फ्रेन्च सेनायें इस समय अनाम नहीं आ सकीं, पर पादरियों और व्यापारियों की प्रेरणा पर बहुत से फ्रेन्च स्वयंसेवक इस समय अनाम पहुंच गये और उन की सहायता से गिआलोंग अनाम के राजसिंहासन को प्राप्त करने में समर्थ हुआ। अनाम की राजगद्दी के उस उम्मीदवार का नाम गिआलोंग था, जिसे फ्रेंच पादरी सहायता दे रहे थे। आगे चलकर यह गिआलोंग अत्यन्त शक्तिशाली सम्राट् बना और यह न केवल सम्पूर्ण अनाम को अपितु तोन्किन, कोचीनचायना, लाओस और कम्बोडिया को भी अपने प्रभुत्त्व में लाने में समर्थ हुआ। क्योंकि सम्राट् गिआलोंग ने फ्रेन्च लोगों की सहायता से अपनी राजगद्दी प्राप्त की थी, अतः स्वाभाविक रूप से इस समय (अठारहवीं सदी के अन्त में) उसके राज्य में फ्रांस का प्रभाव बढ़ना शुरू हो गया और फ्रेंच पादरी बहुत निश्चिन्तता के साथ धर्म प्रचार के कार्य में व्यापृत हो गये।

उन्नीसवीं सदी में फ्रेञ्च पादरियों का प्रभाव इन प्रदेशों में जिस ढंग से बढ़ रहा था, अनाम की सरकार उसे पसन्द नहीं करती थी। धर्म प्रचार और व्यापार की आड़ में पाश्चात्य देशों के लोग चीन में जिस ढंग से अपना प्रभाव व प्रभुत्व स्थापित कर रहे थे, उससे अनाम के लोग बहुत चिन्तित थे। इसका यह परिणाम हुआ, कि १८५८ में अनाम में कार्य करने वाले फ्रेञ्च पादरियों पर अनेक स्थानों पर हमले किये गये। इसी समय ब्रिटेन और फ्रांस की सेनायें चीन में अपनी शक्ति का प्रयोग कर चीन के सम्राट् को इस बात के लिये विवश कर रही थीं, कि वह इन पाश्चात्य देशों को व्यापार आदि के सम्बन्ध में विशेष सुविधायें प्रदान करे। पूर्वी एशिया के लोगों में यूरोपियन जातियों के प्रति विरोध की भावना बहुत प्रबल रूप धारण कर रही थी। इस दशा में यदि अनाम के लोगों ने भी अपने देश में विद्यमान फ्रेञ्च पादरियों के प्रति अपने रोष को प्रकट किया हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था। पर फ्रेञ्च लोगों ने अपने देश के पादरियों के प्रति किये गये व्यवहार को सहन नहीं किया। फ्रांस की सेनाएं कोचीनचायना में प्रविष्ट हो गईं और उन्होंने उसके अनेक प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। अनाम का राजा उनका मुकाबला नहीं कर सका और १८६३ में इस बात के लिये विवश हुआ, कि फ्रेञ्च लोगों के साथ सन्धि कर ले। १८६३ की सन्धि के अनुसार कोचीनचायना फ्रांस के अधीन हो गया और अनाम के राजा ने एक अच्छी बड़ी रकम हरजाने के रूप में फ्रांस को प्रदान करनी स्वीकार की।

इस प्रकार १८६३ में इन्डोचायना में फ्रांस के प्रभुत्त्व का सूत्रपात हुआ। अगले पांच सालों में फ्रांस ने साम्राज्य विस्तार की अपनी नीति को जारी रखा और कम्बोडिया पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। १८७० में प्रशिया और फ्रांस का युद्ध हुआ, जिसमें फ्रांस की बुरी तरह से पराजय हुई। इस दशा में फ्रांस के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह इन्डोचायना में अपनी शक्ति के विस्तार पर अधिक ध्यान दे सके। पर शीघ्र ही फ्रांस साम्राज्यवाद के मार्ग पर फिर अग्रसर हुआ। १८७३ में एक फ्रेञ्च सेना ने तोन्किन में प्रवेश किया और उसके कुछ प्रदेश में अपनी सत्ता की स्थापना की। १८७४ में फ्रेंच लोगों ने अनाम के राजा को इस बात के लिये विवश किया, कि वह तोन्किन में फ्रांस को व्यापार आदि के विशेष अधिकार प्रदान करे। साथ ही अनाम के राजा ने यह भी स्वीकार किया, कि अपनी विदेशी नीति का संचालन वह फ्रांस के परामर्श के अनुसार करेगा। राजनीतिक दृष्टि से यह एक अद्भुत स्थिति थी। अनाम चीनी साम्राज्य के अधीन था और मञ्चू सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकृत करता था। पर चीन के निर्बल सम्राटों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे अनाम जैसे दूरवर्ती राज्य को फ्रेञ्च लोगों के प्रभाव

व प्रभुत्व से रक्षा कर सकें। १८७४ की सन्धि से लाभ उठाकर फ्रेञ्च व्यापारी बड़ी संख्या में तोन्किन जाने शुरू हुए। यदि ये केवल व्यापार में ही संतुष्ट रहते, तो तोन्किन के लोगों का कोई नुकसान नहीं था। पर फ्रेञ्च व्यापारी इस प्रदेश में अपने राजनीतिक प्रभाव को स्थापित करने के लिये भी प्रयत्नशील थे। वे तोन्किन की जनता के साथ दुर्व्यवहार करते थे और वहां सब प्रकार से मनमानी करने को तत्पर रहते थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि तोन्किन के लोग उनका विरोध करें। १८७४ के बाद तोन्किन में अनेक स्थानों पर झगड़े शुरू हो गये और सर्वत्र अव्यवस्था सी छा गई। चीन की सरकार अपने साम्राज्य के अधीनवर्ती तोन्किन प्रदेश की इस अव्यवस्थित दशा की उपेक्षा नहीं कर सकती थी। उसने वहां अपनी सेनाएं भेज दीं, और तोन्किन के प्रश्न को लेकर चीन और फ्रांस में लड़ाई शुरू हो गई। यद्यपि उनमें बाकायदा युद्ध की घोषणा नहीं की गई थी, पर इस समय चीन और फ्रांस की सेनाएं आपस में युद्ध में व्यापृत थी। चीन की सरकार के लिये यह सुगम नहीं था, कि अपनी राजधानी पेकिंग से इतनी दूर दक्षिण में स्थित तोन्किन प्रदेश में फ्रेञ्च सेनाओं का मुकाबला कर सके। आखिर उसे झुकना पड़ा। १८८३ में अनाम का राजा फ्रांस की अधीनता स्वीकृत कर लेने को विवश हुआ। इस समय से अनाम पर (तोन्किन इस समय अनाम के राजा के ही अधीन था) फ्रांस का आधिपत्य स्थापित हो गया। १८९३ में लाओस प्रदेश पर भी फ्रांस ने अपना अधिकार कायम कर लिया। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही प्रायः सम्पूर्ण इन्डोचायना फ्रांस की अधीनता में आ गया था।

**इन्डोचायना में फ्रान्स का शासन**—तोन्किन और अनाम चीनी साम्राज्य से पृथक् होकर फ्रांस की अधीनता में आ गये थे। कोचीन चायना और कम्बोडिया पहले ही उसके अधीन थे। १८९३ में लाओस भी फ्रांस के कब्जे में आ गया था। ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य के समान फ्रांस भी एशिया में अपना एक ऐसा साम्राज्य विकसित करने में समर्थ हुआ, जो आर्थिक दृष्टि से उसके लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। अब फ्रांस के लिये मुख्य समस्या यह थी, कि इन्डोचायना के शासन की क्या व्यवस्था की जाय। १८८७ में इस राज्य का शासन करने के लिये फ्रेञ्च सरकार की ओर से एक गवर्नर जनरल की नियुक्ति की गई थी। इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिये, कि कम्बोडिया और अनाम (तोन्किन भी जिसके अन्तर्गत था) में वहां के पुराने राजवंशों की सत्ता अभी विद्यमान थी। फ्रेञ्च आधिपत्य में उनकी वही स्थिति थी, जो कि ब्रिटिश शासन में भारत की देशी रियासतों के राजाओं की थी। फ्रेंच सरकार इन राज्यों के राजाओं पर नियन्त्रण रखने

के लिये अपने 'रेजिडेन्ट' नियत करती थी और इन राज्यों के राजा फ्रेञ्च गवर्नर जनरल के हाथों में कठपुतली के समान थे। कोचीन चायना में किसी पुराने राजवंश की सत्ता नहीं थी। वह प्रदेश सीधा फ्रेञ्च गवर्नर जनरल के शासन में था। इसका शासन करने के लिये एक सिविल सर्विस का संगठन किया गया था., जिसमें फ्रेञ्च लोगों का प्रमुख स्थान था। इन्डोचायना के सम्बन्ध में फ्रांस की यह नीति थी, कि वहां फ्रेंच भाषा का प्रचार किया जाय, शिक्षा फ्रेञ्च भाषा द्वारा दी जाय और सरकार का सब कार्य फ्रेञ्च भाषा में ही हो। इस नीति का परिणाम यह था, कि इन्डोचायना के लोग धीरे धीरे फ्रेञ्च रंग में रंगते जाते थे और उनपर फ्रांस का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जाता था।

१९१४-१८ के महायुद्ध के अवसर पर हजारों अनामी सिपाही फ्रांस की सेना में भरती किये गये और उन्हें यूरोप के रणक्षेत्र में लड़ने के लिये ले जाया गया। इसी प्रकार हजारों अनामी मजदूर भी इस काल में यूरोप ले जाये गये। यह अवश्यम्भावी था, कि यूरोप के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आये हुए इन इन्डोचाइनीज लोगों पर पाश्चात्य विचारों का असर हो। फ्रांस में उच्च शिक्षा प्राप्त करके जो इन्डोचाइनीज लोग अपने देश को लौटते थे, वे भी फ्रांस के लोकतन्त्रवाद से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद संसार में सर्वत्र राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियां बल पकड़ रही थीं। उनका प्रभाव इन्डोचायना पर न पड़े, यह सम्भव नहीं था। अतः १९१९ में वहां भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन प्रबल हो गया और फ्रेञ्च सरकार ने अनुभव किया, कि स्वराज्य के मार्ग पर अग्रसर हुए बिना इन्डोचायना के लोगों को कदापि संतोष नहीं होगा। इसीलिये वहां धीरे धीरे स्वशासन को स्थापित करने की नीति को अपनाया गया। कोचीन चायना में प्रतिनिधि सभा की स्थापना की गई, और उसमें प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार जनता को भी प्रदान किया गया। सिविल सर्विस में भी इन्डोचायना के लोगों की संख्या बढ़ाई जाने लगी। १९३० में अनाम के राजा ने भी पाश्चात्य देशों के ढंग पर अपने राज्य के शासन का पुनःसंगठन किया। अनाम के इस राजा की शिक्षा पेरिस में हुई थी, और वह आधुनिक विचारों व प्रवृत्तियों से भलीभांति परिचित था। उसके प्रयत्न से अनाम के शासन में भी अनेक सुधार हुए। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि १९३० के बाद भी कम्बोडिया, अनाम व कोचीन चायना का शासन ऐसा नहीं था, जिससे वहां के राष्ट्रवादी देशभक्त लोग सन्तोष अनुभव कर सकते। कोचीनचायना में जो प्रतिनिधिसभा स्थापित हुई थी, उसमें जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संख्या बहुत कम थी। इस सभा के व्यवस्थापन सम्बन्धी अधिकार भी पर्याप्त नहीं थे। इस दशा में वहां

के देशभक्त इससे कैसे संतुष्ट हो सकते थे । यद्यपि कहने को अनाम और कम्बोडिया में वहां के अपने राजवंशों का शासन था, पर वस्तुतः ये भी फ्रांस के ही अधीन थे । इन्डोचायना का फ्रेञ्च गवर्नर जनरल इन राज्यों में नियुक्त रेजिडेन्टों द्वारा उन पर पूरा नियन्त्रण रखता था और इनके राजाओं की सत्ता नाममात्र को ही थी । इस दशा में इन्डोचायना में सर्वत्र विदेशी फ्रेञ्च शासन के विरुद्ध विद्रोह की भावना निरन्तर प्रबल होती जाती थी ।

**ईसाई धर्म का प्रचार**—जब इन्डोचायना पर फ्रांस का प्रभुत्व स्थापित हो गया, तो वहां ईसाई धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली । १९३० तक इस देश में ईसाइयों की संख्या १३,००,००० से भी अधिक हो गई थी । इन्डोचायना में ईसाइयों की संख्या कुल आबादी के ५ प्रतिशत के लगभग थी । इन्डोचायना के ये ईसाई प्रायः सब रोमन कैथोलिक धर्म के अनुयायी थे और फ्रेञ्च पादरियों ने ही इन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित किया था ।

**आर्थिक दशा**—तोन्किन का प्रदेश कोयले की खानों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है । फ्रेञ्च लोगों ने इसका भलीभांति उपयोग किया और वहां बहुत सी कोयले की खानें खोदी गईं । क्योंकि तोन्किन में कोयला प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता था, अतः वहां व्यवसायों को विकसित कर सकना भी सुगम था । फ्रेञ्च पूंजी द्वारा इस प्रदेश में व्यवसायों का खूब अच्छी तरह विकास हुआ । इन्डोचायना के खनिज द्रव्यों में टीन और जस्ता भी विशेष महत्त्व रखते हैं । ये वहां प्रचुर परिमाण में प्राप्तव्य हैं, और फ्रेञ्च लोगों ने इनके व्यवसाय को भी भलीभांति विकसित किया । रबड़ के वृक्षों की खेती पर भी वहां ध्यान दिया गया । इन्डोचायना से जो माल विदेशों में बिक्री के लिये जाता था, उसमें टीन, जस्ता और रबड़ सबसे मुख्य थे। फ्रेञ्च लोगों ने इस देश की आर्थिक उन्नति के लिये रेलवे लाइनों और सड़कों का भी निर्माण किया और इसमें सन्देह नहीं, कि इनसे इन्डोचायना की आर्थिक उन्नति में अच्छी सहायता मिली । चीन के लोग भी अच्छी बड़ी संख्या में वहां मजदूरी की खोज में आने लगे और वहां के व्यापार से आकृष्ट होकर बहुत से भारतीय भी वहां जाकर बसने शुरू हुए ।

## (५) सिआम या थाईलैण्ड

इन्डोचायना के पश्चिम में सियाम देश है, जिसका वर्तमान नाम थाइलैण्ड है । क्षेत्रफल में यह २,००,१४८ वर्गमील है, और १९३९ में इसकी जनसंख्या १,५६,००,००० थी । दक्षिण-पूर्वी एशिया में सियाम ही एक ऐसा देश है, जो किसी पाश्चात्य देश के सीधे शासन में नहीं रहा और जिसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता

कायम रही, यद्यपि वहां भी अनेक विदेशी राज्यों ने व्यापार सम्बन्धी विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए थे और वहां निवास करने वाले विदेशी नागरिक सियाम के कानून व अदालतों के अधीन नहीं होते थे। एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति सियाम में भी विद्यमान थी, और इस देश को भी यह अधिकार नहीं था, कि वह अपने बन्दरगाहों में माल के आयात व निर्यात पर स्वेच्छापूर्वक टैक्स लगा सके। इस प्रकार सियाम की राजनीतिक स्थिति प्रायः वही थी, जो मञ्चू शासन में चीन की थी।

**प्राचीन इतिहास**—सियाम के प्राचीन इतिहास का प्रारम्भ भी उस समय से होता है, जब वहां भारतीय लोगों ने अपने उपनिवेश बसाने प्रारम्भ किये थे। कम्बोडिया व कम्बुज देश में फूनान नाम से जिस भारतीय औपनिवेशिक राज्य की स्थापना हुई थी, उसने सियाम के बड़े भाग को भी जीतकर अपने अधीन कर लिया था। फूनान साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर सियाम का हिन्दू राज्य स्वतन्त्र हो गया। सियाम के इस हिन्दू राज्य को द्वारवती कहते थे। इसकी राजधानी का नाम अयोध्या था। अब तक भी यह 'अयुदिआ' कहाती है। पर द्वारवती का हिन्दू राज्य अधिक शक्तिशाली नहीं था। पहले उसे फूनान ने अपने अधीन किया था, बाद में कम्बुज देश और सुमात्रा के हिन्दू राजा उसे अपनी अधीनता में लाते रहे। बारहवीं और तेरहवीं सदियों में थाई नाम की जाति ने उत्तर की ओर से सिआम में प्रवेश किया। ये थाई लोग दक्षिणी चीन के यूनान प्रान्त में रहते थे और सिआम पर इनके आक्रमणों का प्रायः वही रूप था, जो कि रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत विविध प्रदेशों पर फ्रांक, एंगल्स, लोम्बार्ड आदि जातियों का था। जिस प्रकार फ्रांक लोगों के आक्रमण से पुराना गॉल फ्रांस बन गया और वहां फ्रांक लोगों की प्रभुता हो गई, वैसे ही थाई लोगों के प्रवेश से प्राचीन द्वारवती में थाई लोगों की प्रभुता हो गई और थाई लोगों की इस प्रधानता के कारण ही वर्तमान समय में वह थाईलैण्ड कहाने लगा। शुरू में इस देश में थाई लोगों ने बहुत से छोटे छोटे राज्यों की स्थापना की। पर बाद में ये विविध थाई राज्य एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की अधीनता में आ गये, जिसकी राजधानी अयोध्या ही रही। राजनीतिक दृष्टि से यद्यपि थाई लोग विजेता थे, पर सिआम में आकर उन्होंने प्राचीन भारतीय सभ्यता व धर्म को स्वीकार कर लिया था।

सिआम के थाई राज्य पर बरमा के राजा निरन्तर आक्रमण करते रहते थे। पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदियों में सिआम और बरमा का यह संघर्ष निरन्तर जारी रहा। दो बार बरमा की सेनाओं ने अयोध्या पर कब्जा किया और बुरी तरह से उसका विनाश किया। १७६७ में बरमा की सेनाओं ने अयोध्या का इतनी बुरी

तरह से विनाश किया था, कि बाद में जब सिआम ने पुनः अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त किया, तो नये सिआमी राज्य की राजधानी अयोध्या को न बनाकर बेंगकोक को बनाया गया, जो अब तक भी उसकी राजधानी है। बरमा की अधीनता से अपने देश को स्वतन्त्र कराने वाले वीर का नाम चक्री था और उससे सिआम में एक नये राजवंश का प्रारम्भ हुआ। आगे चलकर इस वंश के राजाओं ने बीसवी सदी में सिआम में वैध राजसत्ता की स्थापना का भी प्रयत्न किया।

**पाश्चात्य देशों से सम्पर्क**---दक्षिण पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान सिआम में भी सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में पोर्तुगीज लोगों ने व्यापार के लिये आना प्रारम्भ किया था। उसके समुद्रतट पर पोर्तुगीज लोगों ने व्यापार के लिये अनेक केन्द्र कायम किये। पोर्तुगीज व्यापारियों के साथ साथ ईसाई पादरियों ने भी सिआम में प्रवेश किया। बाद में डच और इंगलिश व्यापारी भी सिआम में गये, पर एशिया के अन्य देशों के समान सिआम में इन्होंने अपने राजनीतिक प्रभुत्त्व की स्थापना का उद्योग नहीं किया। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक पोर्तुगीज, डच व इङ्गलिश लोगों ने अपने कार्यक्षेत्र को व्यापार और धर्म प्रचार तक ही सीमित रखा था। इसका कारण यह था, कि सिआम में इस समय एक सुसंगठित केन्द्रीय शासन की सत्ता थी और पाश्चात्य लोगों को वहां यह अवसर नहीं था, कि वे राज्य के विविध झगड़ों का लाभ उठाकर उनमें हस्तक्षेप कर सकें। साथ ही पाश्चात्य लोग एशिया के अन्य क्षेत्रों में अपने साम्राज्यों के विस्तार में तत्पर थे और सिआम की ओर ध्यान देने की उन्हें अधिक फुरसत नहीं थी। पर चीन के समान सिआम में भी पाश्चात्य देशों ने ऐसी सन्धियां कीं, जिनके अनुसार विदेशी व्यापार के आयात और निर्यात माल पर टैक्स की दर निश्चित की गई। सिआम की सरकार के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि सन्धियों में परिवर्तन किये बिना इन टैक्सों की दर में अदल बदल कर सके या अपनी इच्छानुसार विदेशी व्यापार का संचालन कर सके। इसी प्रकार विदेशों के साथ की गई इन सन्धियों द्वारा विदेशी नागरिकों को एक्स्ट्रा-टैरिटोरि-एलिटी विषयक अधिकार प्रदान किये गये। विदेशी राज्यों के साथ ये सन्धियां उन्नीसवी सदी के मध्य भाग में की गई थीं। इन सन्धियों के कारण सिआम की राजनीतिक स्वतन्त्रता बहुत कुछ मर्यादित हो गई थी।

**सिआम के राजा**---यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि चक्री द्वारा स्थापित राजवंश के राजाओं के शासन के सम्बन्ध में संक्षेप के साथ भी लिख सकें। पर कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख करना आवश्यक है। १८५१ में सिआम के राज-सिंहासन पर राजा मंगकूट (राम चतुर्थ) आरूढ़ हुआ। १८२४ से १८५१ तक यह एक बौद्ध विहार में रहा था। इतने दीर्घ समय तक बौद्ध विहार में रहने के

कारण उसे विद्या व ज्ञान प्राप्त करने का अच्छा अवसर हाथ लगा था। उसने न केवल पाली और संस्कृत का भलीभांति अध्ययन किया था, पर साथ ही ईसाई पादरियों के सम्पर्क में आकर इङ्गलिश और लैटिन से भी परिचय प्राप्त किया था। पाश्चात्य संसार के ज्ञान व साहित्य से उसे परिचय था। इसीलिये जब वह १८५१ में सिआम का राजा बना, तो उसने अपनी स्थल व जल सेना का पुनः संगठन करने के लिये यूरोपियन अफसरों का सहयोग लिया। देश के शासन में परामर्श देने के लिये भी अनेक यूरोपियन लोग नियत किये गये। उसने सिआम की मुद्रापद्धति में अनेक सुधार किये और एक नई टकसाल की स्थापना की। पाश्चात्य भाषाओं के अध्ययन को भी उसने उत्साहित किया और अपने देश के विदेशी व्यापार की वृद्धि के लिये उसने यूरोपियन व्यापारियों से नई संधियां कीं। ये सन्धियां १८५५ में की गई थी और इन्हीं के द्वारा पाश्चात्य देशों को एकस्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी का अधिकार प्रदान किया गया था। इन्हीं सन्धियों से आयात और निर्यात माल पर टैक्स की दरों का भी निर्धारण किया गया था। राजा मंगकूट सिआम के विदेशी व्यापार की वृद्धि के लिये उत्सुक था, पर उसके लिये उसने पाश्चात्य देशों के साथ ऐसी संधियां कीं, जिनसे उसके राज्य की राजनीतिक स्वतन्त्रता ही अनेक अंशों में मर्यादित व नियन्त्रित हो गई।

१८६८ में राजा मंगकूट की मृत्यु हुई और उसका लड़का चूललम्बकर्ण (राम पञ्चम) सिआम के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसने अपने पिता की नीति को जारी रखा। उसने सिआम से बाहर जाकर अनेक विदेशी राज्यों की यात्रा की और इससे उसका दृष्टिकोण अधिक विशाल व उदार हो गया। यही कारण है, कि उसने सिआम के बहुत से नवयुवकों को पाश्चात्य देशों में शिक्षा के लिये भेजा और देश के शासन में सुधार के लिये अनेक यूरोपियन परामर्शदाताओं को नियत किया। राजा चूललम्बकर्ण के शासनकाल में ही दासप्रथा का सिआम से अन्त किया गया। शासन के सम्बन्ध में जो सुधार उसने किये, उनमें न्याय व्यवस्था का पुनः संगठन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। साथ ही उसने मन्त्रिमण्डल का बाकायदा निर्माण करना शुरू किया और सरकार के विविध विभागों के आय व्यय पर नियन्त्रण रखने के लिये नियमित रूप से बजट बनाने की भी व्यवस्था की। सिआम के विविध प्रदेशों को केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में लाने के लिये उसने बाकायदा सिविल सर्विस का संगठन किया और विविध राजकीय कर्मचारियों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाने लगी। इन सब सुधारों का यह परिणाम हुआ, कि सिआम का शासन भलीभांति रूप से संगठित हो गया और शासन के संगठन के सम्बन्ध में उसकी स्थिति प्रायः वही हो गई, जो कि पाश्चात्य संसार के उन सुव्यवस्थित

देशों की थी, जिनमें अभी लोकतन्त्र शासन का सूत्रपात नहीं हुआ था। राज्य की शक्ति के बढ़ने के साथ साथ सिआम के लोगों ने यह भी अनुभव करना शुरू किया, कि १८५५ की सन्धियों द्वारा विदेशी लोगों को जो विशेषाधिकार सिआम में प्राप्त हैं, वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की दृष्टि से वाञ्छनीय नहीं हैं। इसलिये उनके खिलाफ आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और राजा चूललम्बकर्ण की सरकार इन सन्धियों में ऐसे संशोधन कराने में समर्थ हुई, जिनसे विदेशी राज्यों का प्रभुत्त्व व प्रभाव कम हो गया।

४२ साल के सुदीर्घ शासन के बाद १९१० में राजा चूललम्बकर्ण की मृत्यु हुई। उसके बाद उसका लड़का बज्रायुध (राम षष्ठ) सिआम की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। उसकी शिक्षा पाश्चात्य देशों में हुई थी और वह आधुनिक युग की प्रवृत्तियों से भलीभांति परिचित था। उसने सिआम के शासन में अन्य अनेक सुधार किये और इस बात का भी प्रयत्न किया, कि एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी व तटकर के सम्बन्ध में पाश्चात्य देशों का जो प्रभाव सिआम में अभी शेष था, उसे दूर किया जावे। १९२५ में राजा बज्रायुध की मृत्यु हो गई और उसका छोटा भाई सिआम का राजा बना। १९१४-१८ के महायुद्ध की समाप्ति के बाद संसार में सर्वत्र लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियां जोर पकड़ रही थीं। सिआम भी इनसे अछूता नहीं रहा। राजा चूललम्बकर्ण के शासन काल में सिआम में सुव्यवस्थित शासन की स्थापना तो हो गई थी, पर इस शासन पर जनता का कोई भी नियन्त्रण नहीं था। सिआम के राजा एकतन्त्र व स्वेच्छाचारी शासकों के रूप में देश का शासन करते थे। इस दशा में जनता में असन्तोष का होना सर्वथा स्वाभाविक था। राजा बज्रायुध के समय में ही जनता ने वैध राजसत्ता की स्थापना के लिये आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। अब १९३२ में यह आन्दोलन बाकायदा विद्रोह के रूप में परिणत हो गया। सिआम में अनेक स्थानों पर जनता ने विद्रोह किये। आधुनिक शिक्षा प्राप्त किये हुए नवयुवक इस विद्रोह के नेता थे। राजा के लिये यह असम्भव था, कि शक्ति का प्रयोग करके इस विद्रोह को शान्त कर सके। उसे शासन सुधार करने के लिये विवश होना पड़ा। १९३२ का अन्त होने से पूर्व ही सिआम में नये शासन विधान की स्थापना की गई और उसके अनुसार जनता को बहुत से महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हुए। पर इन सुधारों से भी जनता को सन्तोष नहीं हुआ। उग्र राष्ट्रवादी देशभक्तों ने अपने आन्दोलन को जारी रखा। आगे चलकर सिआम ने लोकतन्त्र-वाद की ओर किस प्रकार पग बढ़ाया, इस पर हम अगले एक अध्याय में यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

**सिआम की स्वतन्त्रता**—लोकतन्त्रवाद की दृष्टि से सिआम ने चाहे विशेष उन्नति

न की हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि वह अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को कायम रख सकने में समर्थ रहा। विदेशी राज्यों के साथ की गई विविध सन्धियों द्वारा तट-कर और एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी के सम्बन्ध में उसकी स्वतन्त्र सत्ता जिस ढंग से मर्यादित हुई थी, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पर बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में सिआम इन सन्धियों में भी संशोधन करवा चुका था और उसकी स्थिति एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य के समान हो गई थी। उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों में भी सिआम जो पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का शिकार होने से बचा रहा, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था, कि उसके पश्चिम में बरमा पर ब्रिटेन का आधिपत्य था और पूर्व में इन्डोचायना पर फ्रांस का। ब्रिटेन और फ्रांस दोनों की ही यह हार्दिक इच्छा थी, कि वे सिआम को जीतकर अपने अधीन कर लें। पर यदि ब्रिटेन उसे अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न करता, तो फ्रांस उसका विरोध करता और यदि फ्रांस उसे अपने साम्राज्यवाद का शिकार बनाना चाहता, तो ब्रिटेन इस बात को किसी भी दशा में सहन न कर सकता। उन्नीसवीं सदी में ब्रिटेन और फ्रांस एक दूसरे के कट्टर शत्रु थे, साम्राज्यवाद के क्षेत्र में इन दोनों देशों में प्रबल विरोध विद्यमान था। इसी विरोध का यह परिणाम हुआ, कि न फ्रांस सिआम को अपने कब्जे में ला सका और न ब्रिटेन ही वहां अपने प्रभुत्व का विस्तार कर सका।

**जनसंख्या की समस्या**—संसार के अन्य देशों के समान सिआम में भी इस समय आबादी बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थी। पर सिआम की जनसंख्या की एक अन्य समस्या यह थी, कि वहां चीनी लोग बहुत बड़ी संख्या में आकर बसने लगे थे। १९४० में सिआम में बसने वाले चीनी लोगों की संख्या २५,००,००० के लगभग थी। १,५६,००,००० की कुल आबादी में २५,००,००० चीनियों की सत्ता (१६ प्रतिशत के लगभग) एक विकट समस्या को उत्पन्न कर रही थी। जाति, भाषा आदि की दृष्टि से चीनी लोग सिआम के निवासियों से सर्वथा भिन्न थे। जब सिआम में लोकतन्त्र शासन का सूत्रपात हुआ, तो १६ प्रतिशत चीनी लोग एक महत्त्वपूर्ण समस्या बन गये। थाई जाति के राष्ट्रीय नेता यह नहीं चाहते थे, कि चीनी लोग सिआम में आकर बसें और वहां अल्पसंख्यक जाति की समस्या को उत्पन्न करें। इसीलिये सिआम की सरकार ने अनेक ऐसे कानूनों का निर्माण किया, जिनका उद्देश्य चीनी लोगों के सिआम में आकर बसने को रोकना था।

## (६) मलाया

मलाया सिआम की खाड़ी के दक्षिण-पूर्व में है। उसका क्षेत्रफल ५२,२८६ वर्गमील

है। १९३१ में इसकी जनसंख्या '१५,७१,००० थी। भौगोलिक दृष्टि से मलाया का महत्त्व बहुत अधिक है। यूरोप, पश्चिमी एशिया व भारत से पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया आने का सबसे छोटा रास्ता मलाया के जलडमरूमध्य से होकर जाता है। इस समय पृथ्वी पर तीन जलमार्ग ऐसे हैं, जिन्होंने विविध देशों की आपस की दूरी को कम करने में बहुत सहायता दी है। पनामा की नहर के कारण प्रशान्त महासागर से अटलांण्टिक महासागर जाने के लिये दक्षिणी अमेरिका का चक्कर लगाने की आवश्यकता नहीं रही है। इसी प्रकार स्वेज नहर के कारण भूमध्यसागर से हिन्द महासागर आने के लिये अफ्रीका का चक्कर काटना अनावश्यक हो गया है। पर पनामा और स्वेज की ये नहरें मनुष्य की कृति हैं। इसके विपरीत मलाया का जलडमरूमध्य प्राकृतिक है, और उसके कारण पश्चिमी तथा पूर्वी एशिया का जलमार्ग बहुत छोटा हो गया है। यही कारण है, कि सामरिक दृष्टि से मलाया का बहुत महत्त्व है। मलाया पर जिस राज्य का कब्जा होगा, उसके लिये पूर्वी व दक्षिणी पूर्वी एशिया में अपना प्रभुत्त्व कायम रखना बहुत सुगम होगा। इसीलिये मलाया के जलडमरूमध्य में स्थित सिंगापुर को ब्रिटिश लोगों ने अपनी जलसेना का प्रधान केन्द्र बनाया था।

**प्राचीन इतिहास**—दक्षिण पूर्वी एशिया के अन्य अनेक देशों के समान मलाया के प्राचीन इतिहास का प्रारम्भ वहां पर स्थापित हुए भारतीय उपनिवेशों के साथ में होता है। मलाया के इन प्राचीन भारतीय उपनिवेशों का प्रथम परिचय हमें चीनी साहित्य द्वारा मिलता है। चीनी लेखकों के अनुसार मलाया का एक प्राचीन राज्य 'लंग किया सू' था। इसकी स्थापना दूसरी सदी ई० प० में हुई थी। छठी सदी के प्रारम्भ में इसका राजा भगदत्त था और उसने आदित्य नाम का एक राजदूत चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा था। इस प्राचीन काल में मलाया का कुछ भाग कम्बुज देश के भारतीय उपनिवेश फूनान के भी अधीन था। पुरातत्त्व सम्बन्धी अवशेषों द्वारा भी मलाया के प्राचीन भारतीय उपनिवेशों का परिचय मिलता है। मलाया में गुनांग जरई पर्वत की उपत्यका में एक विशाल हिन्दू मन्दिर के खण्डहर अब तक विद्यमान हैं। इसके समीप ही एक बौद्ध विहार के अवशेष भी पाये गये हैं। दोनों स्थानों पर संस्कृत के अनेक शिलालेख मिले हैं, जो पांचवीं सदी के हैं। श्री विष्णु वर्मन नाम के एक प्राचीन राजा की मुद्रा भी इस प्रदेश से मिली है। प्राचीन स्तूप, स्तम्भ व अन्य प्रकार की इमारतों के भी बहुत से अवशेष मलाया में मिलते हैं, जिनसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा आदि के समान यह देश भी प्राचीन समय में भारत का उपनिवेश था और यहां भारतीय सभ्यता और संस्कृति भलीभांति स्थापित थी। बाद में

मलाया के भारतीय उपनिवेश सुमात्रा के श्रीविजय साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये ।

चौदहवीं सदी में अरब के मुसलमान व्यापारियों ने इस प्रदेश में व्यापार के लिये आना शुरू किया । उस समय तक दक्षिण पूर्वी एशिया के हिन्दू व भारतीय राज्यों की शक्ति बहुत निर्बल हो गई थी । जिस प्रकार भारत के हिन्दू राज्य इस समय मुसलिम तुर्क व अफगान आक्रान्ताओं का मुकाबला कर सकने में असमर्थ रहे, वैसे ही मलाया, जावा, सुमात्रा आदि के हिन्दू राजा भी अरबों की शक्ति के सम्मुख नहीं ठहर सके । चौदहवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही अरबों ने मलक्का पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया था । मलाया में मलक्का सबसे महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह था । जो स्थान इस क्षेत्र में अब सिंगापुर का है, वही प्राचीन समय में मलक्का का था । मलक्का को अपने कब्जे में करके अरब लोगों ने पूर्वी एशिया के व्यापार पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया और साथ ही मलाया में अपने धार्मिक व राजनीतिक प्रभाव का विस्तार शुरू किया । मलाया में हिन्दू और बौद्ध धर्म इस समय बहुत क्षीण हो चुके थे । वहां के निवासियों ने अरबों के सम्पर्क में आकर इस्लाम को स्वीकार कर लिया ।

**पाश्चात्य देशों से सम्पर्क**—सोलहवीं सदी के शुरू में पोर्तुगीज लोगों ने व्यापार के लिये इस प्रदेश में आना शुरू किया । उन्हें यह समझने में देर नहीं लगी, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के व्यापार में मलक्का का कितना अधिक महत्त्व है । १५११ में अल्बुकर्क के नेतृत्त्व में पोर्तुगीज लोगों ने मलक्का पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया । १५११ से १६४१ तक मलक्का पोर्तुगाल के आधिपत्य में रहा और इसे अपना केन्द्र बनाकर पोर्तुगीज लोग इन्डोनीसिया के विविध द्वीपों में अपने व्यापार का विस्तार करते रहे । सतरहवीं सदी में हालैण्ड के लोग इस क्षेत्र में अपने व्यापार का विस्तार करने के लिये प्रवृत्त हुए और १६४१ में उन्होंने मलक्का को पोर्तुगीजों से जीत लिया ।

**ब्रिटिश प्रभुत्व**—अठरहवीं सदी के अन्त में जब फ्रांस और ब्रिटेन का युद्ध शुरू हुआ और नैपोलियन की विजयों के कारण हालैण्ड पर फ्रांस का आधिपत्य स्थापित हो गया, तो ब्रिटेन ने हालैण्ड के समुद्र पार के प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया । इसी समय १७९५ में मलक्का भी ब्रिटिश लोगों के हाथों में चला गया । वीएना की कांग्रेस (१८१४) के निर्णयों के अनुसार जब इन्डोनीसिया के विविध द्वीप फिर हालैण्ड को वापस मिले, तो १८१९ में मलक्का भी डच लोगों को दे दिया गया । पर इसी साल अंगरेजों ने मलक्का के अन्यतम राज्य जोहोर के सुलतान से उस प्रदेश को क्रय कर लिया, जिसमें आजकल सिंगापुर स्थित है । मलक्का को कुछ

साल तक अपने कब्जे में रखने के कारण अंगरेज लोग भलीभांति अनुभव करते थे, कि इस बन्दरगाह का व्यापारिक व सामरिक दृष्टि से कितना अधिक महत्त्व है। इसीलिये वे मलक्का के जलडमरूमध्य में अपना एक अड्डा बनाने को उत्सुक थे। सिंगापुर को उन्होंने इसी दृष्टि से जोहोर के सुलतान से खरीदा था। १८२४ में अंगरेजों ने डच लोगोंसे एक समझौता किया, जिसके अनुसार सुमात्रा में अपने प्रभुत्त्व में विद्यमान प्रदेशों के बदले में उन्होंने मलक्का को प्राप्त कर लिया। १८२४ के इस समझौते के अनुसार ब्रिटेन और हालैण्ड में यह भी तय हुआ, कि मलाया में अपने प्रभुत्त्व का विस्तार करने में अंग्रेज लोगों को खुली छुट्टी रहेगी और ब्रिटिश लोग सुमात्रा, जावा आदि इन्डोनीसियन द्वीपों में डच लोगों को अपनी शक्ति का विस्तार करने देंगे। मलक्का के जलडमरूमध्य पर अपना कब्जा कायम करके अंग्रेजों ने सिंगापुर की उन्नति पर विशेष रूप से ध्यान दिया। इस समय दक्षिण-पूर्वी एशिया में अंग्रेजी प्रभुत्त्व में विद्यमान प्रदेशों का प्रधान शासक सर टामस स्टाम्फोर्ड रैफल्स था। नैपोलियन के युद्धों के अवसर पर जब इन्डोनीसिया के द्वीपों पर अंग्रेजों का प्रभुत्त्व कायम हो गया था, तो उनका शासन रैफल्स के ही सुपुर्द था। रैफल्स बहुत ही चाणाक्ष और कुशल राजनीतिज्ञ था। वह समझता था, कि दक्षिण-पूर्वी और पूर्वी एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना का जो यह सुवर्णीय अवसर उपलब्ध हुआ है, उसका पूरा पूरा उपयोग किया जाना चाहिये। वह स्वप्न लेता था, कि भारत के समान इस क्षेत्र में भी शीघ्र ही ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना हो जायगी। वीएना की कांग्रेस के निर्णय से उसे बहुत निराशा हुई थी। पर जोहोर के सुलतान से सिंगापुर खरीदकर उसने यह प्रयत्न किया, कि उसे एक ऐसे बन्दरगाह के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, जो न केवल पूर्वी एशिया के व्यापार का प्रधान केन्द्र बने, अपितु साथ ही ब्रिटेन की जलशक्ति का भी प्रधान अड्डा हो। इसीलिये उसने निश्चय किया, कि सिंगापुर में सब देशों के व्यापारी खुले तौर पर व्यापार कर सकें, और वहां पर आनेवाले व्यापारिक माल पर किसी प्रकार का कर न लिया जावे। सर रैफल्स की नीति [illegible] कि शीघ्र ही सिंगापुर दक्षिण-पूर्वी एशिया का सबसे बड़ा [illegible]। कुछ समय बाद अंग्रेजों ने सिंगापुर की किलाबन्दी भी शुरू की, और उसे अपनी जलशक्ति का प्रधान अड्डा बना दिया।

यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि हम संक्षिप्त रूप से भी उस प्रक्रिया का उल्लेख कर सकें, जिससे अंग्रेजों ने धीरे धीरे सम्पूर्ण मलाया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक मलाया में यह दशा थी, कि वहां बहुत से छोटे छोटे राज्य थे, जो आपस में निरन्तर लड़ते रहते थे। इन

राज्यों में भी राजगद्दी के झगड़े बहुधा होते रहते थे और विविध सरदार अपने राजा या सुलतान के विरुद्ध विद्रोह कर देने में तत्पर रहते थे। सिंगापुर व उसके समीप के कतिपय द्वीप व प्रदेश ब्रिटिश सरकार के अधीन थे। इन्हें स्ट्रेट्स सेटलमैण्ट कहा जाता था। स्ट्रेट्स सेटलमैण्ट (अन्तरीप की बस्ती) के अन्तर्गत निम्नलिखित द्वीप व प्रदेश थे—सिंगापुर, मलक्का, पेनांग, वेलेज्ली प्रोविन्स और डिन्डिंग्स। इनमें से पेनांग पर ब्रिटिश लोगों ने १७८६ में अपना अधिकार स्थापित किया था, सिंगापुर को १८१९ में जोहोर के सुलतान से क्रय किया गया था और मलक्का को १८२४ में हालैण्ड के साथ की गई सन्धि (लण्डन की सन्धि) द्वारा सुमात्रा के कतिपय प्रदेशों के बदले में अधिगत किया गया था। वेलेज्ली प्रोविन्स मलक्का के उत्तर में और पेनांग के दक्षिण में स्थित है, और पेनांग के साथ ही इस प्रदेश को भी ब्रिटिश लोगों ने अपने अधिकार में कर लिया था। डिन्डिंग्स की स्थिति पेनांग के समीप ही दक्षिण में है। स्ट्रेट्स सेटलमैण्ट के ये प्रदेश शासन की दृष्टि से १८६७ तक भारत के साथ सम्बद्ध थे। १८६७ में इन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत एक क्राउन कोलोनी के रूप में परिवर्तित कर दिया गया और इनका शासन ब्रिटिश सरकार के उपनिवेश विभाग (कोलोनियल डिपार्टमेन्ट) द्वारा किया जाने लगा। स्ट्रैट्स सेटलमैण्ट का कुल क्षेत्रफल १२६० वर्गमील है, और १९३९ में इसकी जनसंख्या १३,८०,००० थी।

मलाया में केवल स्ट्रेट्स सेटलमैण्ट का प्रदेश ही ऐसा था, जो ब्रिटेन के सीधे शासन में था। मलाया के अन्य प्रदेश दो भागों में विभक्त थे। फिडरेटेड मलाया स्टेट्स (संघ में संगठित मलाया राज्य) और अनफिडरेटेड मलाया स्टेट्स (संघ में संगठित नहीं हुए मलाया राज्य)। दोनों प्रकार के राज्य ब्रिटेन की अधीनता स्वीकृत करते थे, और ब्रिटिश अधीनता में उनकी स्थिति प्रायः वैसी ही थी, जैसे कि भारत की देशी रियासतों की थी। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक मलाया के ये विविध राज्य स्वतन्त्र थे और इन पर विविध राजवंशों के मुसलिम सुलतानों का शासन था। पर इन राज्यों की दशा अच्छी नहीं थी। इनमें अनेक प्रकार के झगड़े जारी रहते थे। इनकी राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाकर ब्रिटेन ने इनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप किया और इनके साथ इस प्रकार की सन्धियाँ कीं, जिनसे कि ये राज्य ब्रिटेन की संरक्षा व प्रभुत्व में आ गये। भारत में बड़ौदा, ग्वालियर, पटियाला, भूपाल आदि के राजाओं के साथ भी इसी प्रकार की सन्धियाँ ब्रिटिश सरकार ने की थीं। इन सन्धियों के परिणामस्वरूप मलाया के विविध राज्यों में ब्रिटिश रेजीडेन्ड नियुक्त किये गये और उन्हें यह कार्य सुपुर्द किया गया कि वे इन राज्यों के शासन पर नियन्त्रण रखें। १८९६ में मलाया के चार राज्यों

का एक संघ (फिडरेशन) बनाया गया। ये चार राज्य निम्नलिखित थे—पेराक, सेलागोर, नेग्री सेम्बिलान और पेहांग। संघ में सम्मिलित इन चार राज्यों में उनके अपने सुलतानों की शक्ति निरंतर कम होती गई और संघ सरकार की शक्ति में निरन्तर वृद्धि होती गई। फिडरेटेड मलाया स्टेट्स की सरकार के प्रधान को रेजिडेन्ड-जनरल कहते थे और उसकी नियुक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा की जाती थी। संघ सरकार की राजधानी कुआला लुम्पूर को बनाया गया था, जो कि सेलागोर राज्य की प्रमुख नगरी थी। कुआला लुम्पूर में रहता हुआ ब्रिटिश रेजिडेन्ड-जनरल अपने अधीन सिविल सर्विस की सहायता से इन चार मलाया राज्यों के शासन का संचालन करता था। इन राज्यों में सुलतानों के अधिकार नाम-मात्र को ही थे। उन्हें राजकीय आमदनी का अच्छा बड़ा भाग निजू खर्च के लिये प्रदान कर दिया जाता था, और वे बड़े वैभव व सम्मान के साथ जीवन व्यतीत करते थे। पर शासन सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग वे नहीं कर सकते थे। शासन की दृष्टि से उनकी शक्ति उतनी भी नहीं थी, जितनी कि भारत की देसी रियासतों के राजाओं की थी। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद जब संसार में सर्वत्र राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन प्रबल हुआ, तो फिडरेटेड मलाया स्टेट्स में इस आन्दोलन ने यह रूप धारण किया, कि ब्रिटिश रेजिडेन्ट जनरल (जो अब चीफ सेक्रेटरी कहाने लगा था) की शक्ति का अन्त कर सुलतानों के प्रभुत्व की पुनः स्थापना की जाय। इन राज्यों के यूरोपियन निवासी इस आन्दोलन के विरुद्ध थे। उन्होंने शक्तिभर यह प्रयत्न किया, कि मलाया के राज्यों पर ब्रिटिश शासन यथापूर्व कायम रहे। १९३५ में फिडरेटेड मलाया स्टेट्स के शासन में कतिपय सुधार किये गये, जिनके द्वारा चीफ सेक्रेटरी के पद को नष्ट कर दिया गया और स्टेट्स सैटलमेन्ट के गवर्नर को ही यह कार्य भी सुपुर्द किया गया, कि वह फिडरेटेड मलाया स्टेट्स के हाई कमिश्नर के रूप में उनके शासन पर नियन्त्रण रखे। इस प्रकार १९३५ के सुधारों द्वारा मलाया के राज्यों के राष्ट्रीय नेताओं को आंशिक रूप से संतुष्ट किया गया। पर इन सुधारों से मलाया के लोग पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं हुए। इसीलिये उन्होंने अपने आन्दोलन को जारी रखा। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध असन्तोष मलाया में निरन्तर बढ़ता गया।

मलाया में पांच राज्य ऐसे थे, जो फिडरेटेड मलाया स्टेट्स के अन्तर्गत नहीं थे। इनके नाम निम्नलिखित हैं—जोहोर, केलान्तन, त्रेन्गानू, केदाह और पेर्लिस। जोहोर मलाया के दक्षिण प्रदेश में है, और शेष चारों राज्य सुदूर उत्तर में। उनके बीच में फिडरेटेड मलाया स्टेट्स के चारों राज्यों की स्थिति है। नाम को ये पांचों राज्य स्वतन्त्र थे, पर वस्तुतः इनपर ब्रिटेन का उसी ढंग से प्रभुत्व था, जैसे कि

भारत में देसी रियासतों पर था। इनसे इस ढंग की सन्धियां ब्रिटिश सरकार ने की थीं, जिनके कारण इन राज्यों के शासनसूत्र का संचालन ब्रिटेन के हाथों में आ गया था। इन राज्यों में ब्रिटेन के प्रतिनिधि नियुक्त होते थे, और इनके सुल्तान ब्रिटिश प्रतिनिधियों के परामर्श के अनुसार शासनकार्य करने के लिये विवश थे।

**आर्थिक उन्नति**—पिछली एक सदी में मलाया ने आर्थिक क्षेत्र में अच्छी उन्नति की है। इसका मुख्य कारण वहां की खनिज सम्पत्ति है। मलाया की खानों में टीन प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती है। संसार भर में जितनी टीन उत्पन्न होती है, उनका २९ प्रतिशत अकेले मलाया की खानों से प्राप्त किया जाता है। इन्डोनीसिया और सियाम टीन की दृष्टि से मलाया से पीछे हैं। संसार की कुल टीन का १४ प्रतिशत इन्डोनीसिया से और १० प्रतिशत सिआम से प्राप्त होता है। टीन सम्बन्धी ये अंक १९३८ की उत्पत्ति के आधार पर दिये गये हैं। मलाया की यह टीन विदेशों में प्रचुर परिमाण में बिकती थी, और इससे मलाया की आर्थिक समृद्धि में बहुत सहायता मिलती थी। इस देश की आर्थिक समृद्धि का दूसरा हेतु रबड़ थी। मोटरकारों के निर्माण के कारण अमेरिका, यूरोप आदि में रबड़ की मांग बहुत अधिक बढ़ गई थी, क्योंकि मोटरों के पहिये रबड़ द्वारा ही बनते थे। १९३८ में संसार में जितनी रबड़ उत्पन्न होती थी, उसका ९० प्रतिशत भाग दक्षिण-पूर्वी एशिया में उत्पन्न होता था। दक्षिण-पूर्वी एशिया में उत्पन्न होनेवाली कुल रबड़ का ४० प्रतिशत से भी अधिक भाग अकेले मलाया में पैदा होता था। इससे यह भलीभांति समझा जा सकता है, कि संसार के बाजारों के लिये मलाया की रबड़ का महत्त्व कितना अधिक था। टीन और रबड़ के अतिरिक्त नारियल और चावल के उत्पादन में भी मलाया का प्रमुख स्थान था। इनकी भी संसार के बाजारों में अच्छी मांग थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया का व्यापार सिंगापुर में केन्द्रित था, और संसार के प्रायः सभी देशों के व्यापारी सिंगापुर के व्यापार में हाथ बंटाने के लिये वहां आकर बसने लग गये थे। यही कारण है, कि १९४० तक सिंगापुर की जनसंख्या ६,००,००० से भी ऊपर पहुंच गई थी।

**आबादी की समस्या**—संसार के अन्य देशों के समान मलाया की जनसंख्या भी इस समय निरन्तर बढ़ रही थी। वहां की खानों आदि में काम करने के लिये चीन और भारत से मजदूर लोग बड़ी संख्या में वहां पहुंच रहे थे। टीन की खानों और रबड़ के बगीचों में मजदूरों की बहुत अधिक मांग थी। इसीलिये इनमें काम करने के लिये चीनी और भारतीय मजदूर बड़ी संख्या में वहां पहुंचने लगे थे। इनके आने का यह परिणाम हुआ, कि मलाया में विदेशी लोगों की संख्या मलाया के लोगों की अपेक्षा अधिक बढ़ गई। १९३७ में मलाया की कुल जनसंख्या ५५,

७१,००० थी । इसमें १६ फीसदी के लगभग भारतीय थे, और ३४ प्रतिशत के लगभग चीनी लोग थे । इतनी बड़ी संख्या में भारतीयों और चीनी लोगों की सत्ता मलाया के लिये राष्ट्रीय दृष्टि से एक विकट समस्या थी । शुरू में ये विदेशी लोग अकेले मलाया में आते थे, इनके परिवार साथ में नहीं आते थे । पर ज्यों ज्यों समय बीतता गया, चीनी और भारतीय मलाया में स्थिर रूप से बस गये और उनके परिवार भी वहीं आ गये । इस स्थिति में चीनी और भारतीय लोगों का एक ऐसा वर्ग मलाया में हो गया, मलाया ही जिसकी मातृभूमि थी । पर भाषा, जाति, सभ्यता आदि की दृष्टि से ये मलाया के लोगों से सर्वथा भिन्न थे । भारत और चीन की सरकारें अपने मलाया प्रवासी देशबन्धुओं के हितों की उपेक्षा करें, यह सम्भव नहीं था । इसीलिये इन देशों ने मलाया के आन्तरिक मामलों में दिलचस्पी दिखानी शुरू कर दी थी, और मलाया की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की दृष्टि से यह बात बहुत वाञ्छनीय नहीं थी ।

**धार्मिक दशा**—मलाया के निवासी इस्लाम को स्वीकृत कर चुके थे । पर वहां जो चीनी और भारतीय लोग आकर बस रहे थे, वे मुसलिम नहीं थे । बहुसंख्यक चीनी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और भारतीय लोग हिन्दू धर्म को मानने वाले थे । दक्षिणी भारत से न केवल गरीब लोग मजदूरी प्राप्त करने की कोशिश में मलाया गये थे, अपितु बहुत से व्यापारी, महाजन और पूंजीपति भी वहां जाकर आबाद हुए थे । इस प्रकार मलाया में बौद्ध, मुसलिम और हिन्दू तीन धर्मों की सत्ता थी । ईसाई पादरी भी वहां अपने धर्म का प्रचार करने के लिये तत्पर थे और पिछड़ी हुई जातियों के बहुत से लोग ईसाई धर्म को अपनाते जा रहे थे । इन चार धर्मों की सत्ता के कारण मलाया में धार्मिक समस्या भी अधिक अधिक जटिल होती जा रही थी ।

**सिंगापुर का सामरिक अड्डा**—ब्रिटिश लोगों ने सिंगापुर का केवल व्यापारिक केन्द्र के रूप में ही विकास नहीं किया था, अपितु साथ ही पूर्वी एशिया में उसे अपना प्रमुख सामरिक अड्डा भी बनाया था । हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर में ब्रिटिश साम्राज्य बहुत अधिक विस्तृत था । भारत, लंका और बरमा उसके अधीन थे । मलाया, बोर्नियो, पूर्वी गाइनिया आदि पर भी उसका प्रभुत्त्व था और चीन में अनेक प्रकार के व्यापारिक व अन्य विशेषाधिकार ब्रिटेन ने प्राप्त किये हुए थे । इस सुविस्तृत साम्राज्य की रक्षा तभी सम्भव थी, जब हिन्द और प्रशान्त महासागरों के बीच में ब्रिटेन का कोई शक्तिशाली सामरिक केन्द्र हो । इसके लिये सिंगापुर सबसे अधिक उपयुक्त स्थान था । ब्रिटेन ने वहां अपनी जलसेना व जंगी जहाजों को प्रचुर मात्रा में स्थापित किया था, और उसकी किलाबन्दी इतनी मजबूत कर ली थी, कि ब्रिटेन को इस बात का पूरा भरोसा था, कि कोई विदेशी जलसेना

सिंगापुर को विजय नहीं कर सकती। ब्रिटिश सरकार को यह खयाल नहीं था, कि स्थलमार्ग से भी सिंगापुर पर आक्रमण किया जा सकता है। १९३९-४५ के महायुद्ध के अवसर पर जापान ने किस प्रकार स्थलमार्ग द्वारा मलाया को अपने अधीन किया और फिर ब्रिटिश सेनाओं को सिंगापुर छोड़ने के लिये विवश किया, इसपर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

## (७) बरमा

दक्षिण-पूर्वी एशिया का सबसे अधिक पश्चिमी देश बरमा है, जो क्षेत्रफल में २,६१,६१० वर्गमील है, और १९३१ में जिसकी आबादी १,६६,००,००० थी। १९३७ तक बरमा भारत का ही एक प्रान्त था। बाद में उसे ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित किया गया और अब वह पूर्णरूप से स्वतन्त्र राज्य है। बरमा के सम्बन्ध में हम अधिक विस्तार से नहीं लिखेंगे, क्योंकि हमारे पाठक उसके इतिहास से भलीभांति परिचित होंगे। भारत के आधुनिक इतिहास के सम्बन्ध में जो पुस्तकें हमारे देश में पढ़ाई जाती हैं, उनमें बरमा का आधुनिक इतिहास भी दिया जाता है। पर यहां यह ध्यान रखना चाहिये, कि एशिया के भूगोल व इतिहास में बरमा का सम्बन्ध भारत की अपेक्षा दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ अधिक है।

**प्राचीन इतिहास**—बरमा के प्राचीन इतिहास का प्रारम्भ भी वहां पर स्थापित हुए भारतीय उपनिवेशों द्वारा होता है। अराकान की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार वहां का पहला राजा वाराणसी से आया था और उसने पहले पहल रामावती द्वीप को बसाया था। यही प्रदेश अब राम्ब्यी कहाता है। अराकान के समान मध्य और उत्तरी बरमा में भी अनेक भारतीय राज्य स्थापित थे। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् अशोक के समय बौद्ध धर्म का विदेशों में प्रसार करने के लिये आचार्य मौद्गलिपुत्र तिष्य ने जो महान् आयोजन किया था, उसमें कतिपय बौद्ध भिक्षु बरमा में भी धर्म प्रचार के लिये गये थे। तीसरी सदी ई० पू० से पहले ही बरमा में अनेक भारतीय उपनिवेश स्थापित हो चुके थे। इनके निवासी शैव धर्म के अनुयायी थे। अशोक के समय में (तीसरी सदी ई० पू०) में वहां बौद्ध धर्म का प्रचार शुरू हुआ और धीरे धीरे बरमा के भारतीय उपनिवेश बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये।

मध्यकाल में बरमा का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य पागन का था। यह नगर वर्तमान माण्डले के दक्षिण में इरावदी नदी के तट पर स्थित था। ग्यारहवीं सदी में अनाव्रत नाम के वीर पुरुष ने एक नये राजवंश का वहां प्रारंभ किया। तेरहवीं सदी के लगभग तक अनाव्रत द्वारा स्थापित पागन का राज्य बरमा में बहुत प्रबल रहा।

अराकान, तनासिरिम और शान राज्यों के प्रदेश पागन के राज्यों के अधीन थे। पागन के राजाओं ने दक्षिणी चीन के यूनान प्रान्त पर भी आक्रमण किया था और कुछ समय के लिये यह प्रदेश भी पागन के राज्य के अन्तर्गत रहा था। तेरहवीं सदी में जब मंगोल जाति का उत्कर्ष हुआ और चंगेज खां के नेतृत्व में विशाल मंगोल साम्राज्य की स्थापना हुई, तो पागन का राज्य भी मंगोल आक्रमणों से अछूता नहीं रह सका। दक्षिणी चीन से मंगोल सेनाओं ने बरमा पर भी आक्रमण किया और पागन राज्य की शक्ति का अन्त कर दिया। पागन राज्य के पतन से सोलहवीं सदी तक बरमा अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभक्त हो गया, और वहां कोई भी ऐसा राजा नहीं रहा, जो अन्य सब राज्यों को जीतकर अपने प्रभुत्व की स्थापना में समर्थ हो। इस समय बरमा में जो विविध राज्य थे, उनमें आवा, पेगू, तुंगू और अराकान के राज्य प्रमुख थे।

बरमा के इन विविध राज्यों में अराकान का राज्य समुद्र के तट पर स्थित था। इसीलिये वहां पहले अरब और बाद में पोर्तुगीज व्यापारी व्यापार के लिये आने जाने लगे। अरब व्यापारियों के सम्पर्क में आकर बहुत से अराकानी लोगों ने इस्लाम धर्म को भी स्वीकार किया। अराकान के मल्लाह बंगाल की खाड़ी को पारकर भारतवर्ष में आते जाते थे और इसीलिये मुगल बादशाहत के साथ भी अराकान का सम्बन्ध था। बरमा के विविध राज्यों में तुंगू सबसे अधिक शक्तिशाली था। सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध में तुंगू के राजा ने पोर्तुगीज लोगों की सहायता से अपने सेना का नये सिरे से संगठन किया। पोर्तुगीज लोग बन्दूक और तोप का प्रयोग जानते थे। इस समय तक बरमा के लोग बारूद के प्रयोग से अपरिचित थे। अतः तुंगू के राजा के लिये यह सुगम था, कि वह बरमा के अन्य राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर सके। धीरे धीरे तुंगू ने अराकान के अतिरिक्त सम्पूर्ण बरमा को जीतकर अपने अधीन कर लिया। बरमा की सेनाओं ने सिआम पर भी आक्रमण किये और सिआम की राजधानी अयोध्या पर अपना अधिकार कर लिया। सतरहवीं सदी के उत्तरार्ध में तुंगू के राज्य का ह्रास हुआ और आवा का राजवंश बहुत प्रबल हो गया। १८८५ में जब बरमा पर ब्रिटिश लोगों ने अपना आधिपत्य स्थापित किया, तो बरमा आवा के इसी राजवंश के शासन में था। आवा राज्य के जिस राजा ने बरमा के अन्य राज्यों को अपनी अधीनता में लाने में विशेष कर्तृत्व प्रदर्शित किया था, उसका नाम अलोम्प्रा था। अठारहवीं सदी के मध्य भाग में जब क्लाइव भारत में ब्रिटिश शासन की नींव डाल रहा था, अलोम्प्रा ने पेगू, तनेसरीम आदि को जीतकर अपने अधीन कर लिया। १७८४ में उसने अराकान को भी जीत लिया। १७९३ तक प्रायः सम्पूर्ण बरमा आवा राज्य के अधीन हो गया था और

बरमा की सेनाएं पश्चिम की ओर चटगांव पर आक्रमण करने को तत्पर हो गई थीं।

**ब्रिटिश आधिपत्य**—उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में बरमा एक स्वतन्त्र राज्य था और आवा का राजवंश उसपर सुव्यवस्थित रूप से शासन कर रहा था। यूरोपियन लोगों ने समुद्र तट के बन्दरगाहों पर अपने व्यापारिक अड्डे कायम किये हुए थे, पर देश के शासन पर उनका कोई प्रभाव न था। रंगून के बन्दरगाह में अंग्रेजों की व्यापारिक कोठी विद्यमान थी। पर इस समय तक भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शक्ति भलीभांति स्थापित हो चुकी थी। पूर्वी भारत के अनेक प्रदेश उसके आधिपत्य में आ गये थे। उधर बरमा में एक ऐसे राजवंश का शासन था, जो प्रायः सम्पूर्ण देश को अपने अधीनता में ला चुका था, और जो आसाम व चटगांव की ओर भी अपनी शक्ति के विस्तार के लिये तत्पर था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि अंग्रेजों और बरमी सरकार में संघर्ष हो। १८१७ में बरमा की सेनाओं ने आसाम पर आक्रमण किया। आसाम में बरमा की सेनाओं को अच्छी सफलता मिली। अंग्रेजों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे बरमा के इस शक्ति-प्रदर्शन को सह सकें। परिणाम यह हुआ, कि १८२४ में ब्रिटेन और बरमा का प्रथम युद्ध शुरू हुआ। अंग्रेजों के जहाजी बेड़े ने रंगून पर कब्जा कर लिया, पर वे बरमा में अधिक आगे नहीं बढ़ सके। इसी बीच में बरमा के सेनापति बन्दुला ने बंगाल पर आक्रमण किया और वहां अंग्रेजी सेनाओं को परास्त किया। दो साल के निरन्तर युद्ध के बाद ब्रिटेन और बरमा में सन्धि हो गई। इसके अनुसार अराकान और तैनेसरीम के प्रदेश बरमा से अंग्रेजों ने प्राप्त किये। आसाम से बरमा की सेनायें वापस बुला ली गई। आवा में ब्रिटिश रेजीडेन्ट की नियुक्ति की गई और बरमा ने १५,००,००० रुपया हरजाने के रूप में ब्रिटिश सरकार को देना स्वीकार किया। १८२६ की इस सन्धि की शर्तों से यह स्पष्ट है, कि बरमा के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह ब्रिटिश सेनाओं का मुकाबला कर सके। उसने युद्ध में अच्छी वीरता प्रदर्शित की थी, पर अन्त में विवश होकर उसे ब्रिटेन के साम्राज्य-वाद के सम्मुख सिर झुकाना पड़ा था।

पर १८२६ की यह सन्धि देर तक कायम नहीं रह सकी। व्यापार के निमित्त से जो ब्रिटिश व्यापारी रंगून में बसे हुए थे, वे अपने को बरमा के लोगों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट समझते थे। वे बरमा के लोगों से बहुत उद्दण्डता के साथ पेश आते थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि बरमा की सरकार ने उनके साथ कठोरता का व्यवहार किया। ब्रिटेन के व्यापारिक हितों की रक्षा के नाम पर १८५२ में ब्रिटिश सरकार ने फिर बरमा के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। रंगून, प्रोम, पेगू आदि

पर ब्रिटिश सेनाओं का कब्जा हो गया। १८५२ के इस युद्ध के परिणामस्वरूप दक्षिणी बरमा ब्रिटेन के आधिपत्य में आ गया। उत्तरी बरमा पर अब भी आवा के राजवंश का शासन रहा। पर आवा के राजा भी इस समय पूर्णरूप से स्वाधीन नहीं रहे थे। उनकी स्थिति अधीनस्थ राजाओं के सदृश हो गई थी। आवा में ब्रिटिश रेजिडेन्ट नियुक्त था और वह देश के शासन में हस्तक्षेप करता रहता था।

१८२६ की सन्धि द्वारा अराकान और तैनेसरीम ब्रिटेन के आधिपत्य में आये थे, १८५२ के युद्ध की समाप्ति पर पेगू का प्रदेश ब्रिटेन की अधीनता में आ गया था। स्वतन्त्र बरमा के पास अब समुद्र तट का सर्वथा अभाव था। समुद्रतट पर ब्रिटिश व्यापारियों ने अपने व्यापारिक केन्द्रों को भलीभांति स्थापित कर रखा था, पर वे इतने से ही संतुष्ट नहीं थे। वे उत्तरी बरमा में भी अपना व्यापारिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे और इस बात के लिये प्रयत्न कर रहे थे, कि आवा के राज्य में भी व्यापारिक विशेषाधिकार प्राप्त करें। १८७८ में आवा के राजसिंहासन पर थेबो आरूढ़ हुआ। यह एक शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी राजा था। इसने अपने राज्य में ब्रिटिश लोगों के हस्तक्षेप को अनुचित समझा और स्वतन्त्र राजा के समान आचरण प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटिश लोग चाहते थे, कि बरमा के विदेशी व्यापार पर उनका एकाधिपत्य हो। पर थेबो ने फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि से व्यापारिक सन्धियां करने का प्रयत्न किया। थेबो के राज्य की पूर्वी सीमा इन्डो-चायना के साथ लगती थी, और इस देश पर फ्रांस अपने प्रभुत्व की स्थापना में तत्पर था। अतः थेबो ने यह यत्न किया, कि ब्रिटेन के मुकाबले में फ्रांस के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करे। १८८३ में बरमा के एक प्रतिनिधि मण्डल ने पेरिस की यात्रा की और १८८५ में एक फ्रेञ्च प्रतिनिधि मण्डल ले आया। थेबो ने ब्रिटिश रेजिडेन्ट को अपनी राजधानी में रखने से इन्कार कर दिया था और वह ब्रिटिश व्यापरियों के मुकाबले में फ्रेञ्च लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करने का पक्षपाती था। इस समय फ्रांस और ब्रिटेन साम्राज्यवाद के क्षेत्र में एक दूसरे के प्रधान प्रतिस्पर्धी थे। इस दशा में यह सम्भव नहीं था, कि ब्रिटेन बरमा में फ्रांस के बढ़ते हुए प्रभाव को सहन कर सके। १८७५ में ही ब्रिटिश सेनाओं ने उत्तरी बरमा पर आक्रमण कर दिया। बरमी सरकार उनका मुकाबला नहीं कर सकी। शीघ्र ही आवा और माण्डले (इस समय तक स्वतन्त्र बरमा की राजधानी माण्डले बन चुका था) पर ब्रिटिश सेनाओं का कब्जा हो गया। १ जनवरी, १८८६ को ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की, कि बरमा पर ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना की जाती है। बरमा के राजा को गिरफ्तार करके भारत भेज दिया गया और बरमा को ब्रिटिश

साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। इस प्रकार बरमा की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त हुआ।

ब्रिटिश लोगों ने बरमा को जीतकर उसे ब्रिटिश भारत के एक प्रान्त के रूप में परिवर्तित कर दिया। ज्यों ज्यों ब्रिटिश भारत के शासन में स्वशासन की स्थापना हुई, त्यों त्यों बरमा के शासन में भी जनता का सहयोग बढ़ता गया। १९०९ के मिन्टो-मार्ले सुधार और १९१९ के मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार बरमा पर भी लागू किये गये। १९१९ के सुधारों के अनुसार भारत के केन्द्रीय शासन में जो विधानसभा स्थापित की गई थी, बरमा के प्रतिनिधि भी उसमें शामिल होते थे। पर भारत के समान बरमा में भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र शासन के आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ते जाते थे। इण्डियन नेशनल कांग्रेस में बरमा भी सम्मिलित था और वहां अनेक क्रान्तिकारी दल भी ब्रिटिश शासन से अपने देश को स्वतन्त्र कराने के लिये प्रयत्नशील थे। बरमा के राष्ट्रीय नेता जहां अपने देश को ब्रिटेन के आधिपत्य से स्वतन्त्र कराने को इच्छुक थे, वहां भारत के साथ राजनीतिक सम्बन्ध भी उन्हें पसन्द नहीं था। साइमन कमीशन (१९२७-२८) के सम्मुख बरमा के नेताओं ने अपनी पृथक् सत्ता और भारत से सम्बन्ध विच्छेद की मांग पेश की। इसीलिये १९३१ में बरमा के शासन की समस्याओं को हल करने व वहां के राष्ट्रीय नेताओं से समझौता करने के लिये पृथक् गोल मेज कान्फरेन्स का आयोजन किया गया। १९३७ में बरमा भारत से पृथक् हो गया और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत उसकी पृथक् सत्ता स्वीकृत कर ली गई। इस समय बरमा के शासन के सम्बन्ध में जो व्यवस्था हुई, उसके अनुसार वहां आंशिक रूप से स्वराज्य की स्थापना हुई। पर बरमा के लोग इससे संतुष्ट नहीं थे। वे पूर्ण स्वराज्य चाहते थे। इसीलिये वहां स्वतन्त्रता का आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ता जा रहा था।

आर्थिक क्षेत्र में आधुनिक युग में बरमा ने अच्छी उन्नति की। रेलवे और सड़कों के निर्माण के कारण बरमा में व्यापार का विकसित होना अधिक सुगम हो गया। बरमा की नदियां नौकानयन के योग्य हैं, ग्रेट ब्रिटेन में बने हुए वाष्पशक्ति से चलने वाले जहाज उनमें दूर दूर तक आने जाने लगे। पेट्रोलियम बरमा का प्रमुख खनिज पदार्थ है। इसके लिये बहुत से तैलकूप वहां तैयार किये गये। बरमा का पेट्रोलियम प्रचुर परिमाण में विदेशों में जाने लगा। खेती की पैदावार में चावल एक ऐसा अन्न था, जो बहुत बड़ी मात्रा में बरमा से भारत आदि देशों में विक्रय के लिये जाता था। पेट्रोलियम और चावल के निर्यात के कारण बरमा की आर्थिक समृद्धि में बहुत सहायता मिली। इसमें सन्देह नहीं, कि बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में आधुनिक युग की प्रवृत्तियों का प्रभाव बरमा में निरन्तर बढ़ता जाता था। एक

तरफ जहां उसका आर्थिक विकास हो रहा था, वहां साथ ही उसमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना भी जोर पकड़ रही थी। धीरे धीरे बरमा में वे परिस्थितियां उत्पन्न हो रही थीं, जिन्होंने आगे चलकर उसे एक स्वतन्त्र राज्य बना दिया।

## (८) दक्षिण-पूर्वी एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

दक्षिण पूर्वी एशिया के इतिहास की इस अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा को लिख चुकने के बाद अब यह उपयोगी होगा, कि हम उपसंहार के रूप में उन बातों का निर्देश कर दें, जो इस क्षेत्र की राजनीति में विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं—

(१) दक्षिण-पूर्वी एशिया के सभी देश व द्वीप विदेशी राज्यों के प्रभुत्व व प्रभाव में थे। फिलिप्पीन द्वीप समूह पर अमेरिका का शासन था। इन्डोनीसिया हालैण्ड के अधीन था और इन्डोचायना में फ्रांस का आधिपत्य था। बरमा, मलाया, और इन्डोनीसिया के कतिपय द्वीप ब्रिटेन के अधीन थे। तिमोर द्वीप का कुछ भाग व अन्य कतिपय द्वीप पोर्तुगाल के कब्जे में थे। सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया में केवल सिआम ही एक ऐसा देश था, जो किसी विदेशी राज्य के शासन में नहीं था। पर वहां भी एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी व व्यापारिक विशेषाधिकारों के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिससे सिआम को पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य नहीं समझा जा सकता था।

(२) उन्नीसवीं सदी में इस क्षेत्र के विविध प्रदेशों व द्वीपों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये पाश्चात्य देशों में परस्पर विरोध व संघर्ष जारी था। पर बीसवीं सदी में इस विरोध व संघर्ष का अन्त हो गया था। जो प्रदेश जिस राज्य के अधीन था, वहां उसकी सत्ता को अन्य राज्यों ने स्वीकार कर लिया था। इस स्थिति के कारण निम्नलिखित थे—(क)—बीसवीं सदी में ब्रिटेन और फ्रांस के साम्राज्यवाद सम्बन्धी संघर्ष का अन्त हो गया था। यूरोप में जर्मनी की शक्ति से दोनों देश समान रूप से चिन्तित व भयभीत थे। १८७० के फ्रांको-प्रशियन युद्ध के बाद यूरोप में जर्मनी की शक्ति जितनी तेजी के साथ बढ़ रही थी, वह यूरोप के अन्य राज्यों के लिये अत्यन्त चिन्ताजनक थी। बीसवीं सदी में जर्मनी साम्राज्य प्रसार के लिये विशेषरूप से प्रयत्नशील हुआ। एशिया में अपने प्रभुत्व का प्रसार करने के लिये उसने आस्ट्रिया-हंगरी और टर्की के साथ मिलकर एक गुट का निर्माण किया और बर्लिन से बगदाद तक रेलवे लाइन का निर्माण करने के लिये योजना तैयार की। जर्मनी के इस उत्कर्ष से ब्रिटेन का चिन्तित होना सर्वथा स्वाभाविक था, क्योंकि ईरान से लेकर सोमिनी तक ब्रिटेन का प्रभुत्व व प्रभाव स्थापित था। फ्रांस तो जर्मनी के उत्कर्ष में अपनी क्षति समझता ही था। इस दशा में ब्रिटेन और

फ्रांस ने १९०४ में एक सन्धि कर ली थी, जिसका उद्देश्य यह था कि ये दोनों राज्य अपनी विदेशी राजनीति का संचालन पारस्परिक सहयोग द्वारा करेंगे। १९०४ की इस सन्धि के कारण दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी फ्रांस और ब्रिटेन के विरोध व संघर्ष का अन्त हो गया था। (ख) यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हालैण्ड का किसी अन्य राज्य से विरोध नहीं था। इसीलिये ब्रिटेन और फ्रांस उसके इन्डोनीसियन साम्राज्य के विरोधी नहीं थे। साथ ही, वे यह भी समझते थे, कि जर्मनी व जापान जैसे शक्तिशाली राज्यों के मुकाबले में इन प्रदेशों का हालैण्ड की अधीनता में रहना कहीं अधिक अच्छा है। यदि ये प्रदेश हालैण्ड के हाथ से निकल जावें, तो जर्मनी व जापान इन्हें अपने प्रभुत्व में लाने का प्रयत्न करेंगे, यह निश्चित था। अतः फ्रांस, ब्रिटेन व अमेरिका इन प्रदेशों पर हालैण्ड के अधिकार से सन्तुष्ट थे। वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा जापान की जलशक्ति को मर्यादित कर दिया गया था, अतः ब्रिटेन और अमेरिका यह समझते थे, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में उनके साम्राज्यों को जापान से विशेष भय नहीं है। (घ) सिआम का स्वतन्त्र राज्य इन्डो-चायना और बरमा के बीच में बफर राज्य के समान था। फ्रांस और ब्रिटेन इस बात से संतुष्ट थे और वे समझते थे, कि सिआम के स्वतन्त्र रहने में ही उन दोनों का लाभ है। (ङ) फिलिप्पीन द्वीप समूह अमेरिका के अधीन था, अतः वह समझता था, कि प्रशान्त महासागर में एक ऐसा प्रदेश उसके हाथ में है, जिससे वह जापान की बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षाओं का सफलतापूर्वक मुकाबला व विरोध कर सकता है।

(३) यद्यपि दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रायः सभी देश साम्राज्यवादी देशों की साम्राज्य लिप्सा के शिकार थे, पर सर्वत्र राष्ट्रीय स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद के आन्दोलन जोर पकड़ते जाते थे। शासक देशों ने इन राज्यों में जो सुधार किये थे, उनसे राष्ट्र प्रेमी देशभक्त लोगों को सन्तोष नहीं था। जापान के उदाहरण को सम्मुख रखकर इन सब देशों में यह आकांक्षा प्रबलरूप से विद्यमान थी, कि वे न केवल स्वतन्त्रता प्राप्त करें, अपितु जापान के सदृश ही उन्नत व समृद्ध देश बन जावें। इसीलिये १९३९-४५ के महायुद्ध के अवसर पर जब फ्रांस, ब्रिटेन, हालैण्ड और अमेरिकन साम्राज्यों का पतन हुआ, तो दक्षिण-पूर्वी एशिया के सब देशों ने प्रसन्नता अनुभव की।

(४) जापान की साम्राज्य प्रसार विषयक भूख अभी शान्त नहीं हुई थी। यद्यपि कोरिया, फार्मूसा और प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीप उसके अधीन थे और चीन के शान्तुंग और मन्चूरिया प्रदेशों में उसे अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे, पर जापान इसको अपने लिये पर्याप्त नहीं समझता था। व्यावसायिक और सामरिक दृष्टि से जापान ब्रिटेन व फ्रांस का समकक्ष था। पर साम्राज्य के क्षेत्र में वह इन

देशों के मुकाबले में बहुत पीछे था। जर्मनी के समान जापान भी अपने साम्राज्य विस्तार के लिये उत्सुक था। यदि नाजी जर्मनी पूर्वी यूरोप को अपने साम्राज्य का स्वाभाविक क्षेत्र समझता था, तो जापान भी पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया को अपने साम्राज्य का उपयुक्त क्षेत्र मानता था। इसीलिये १९३१ में उसने मञ्चूरिया में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने का प्रयत्न किया और इसीलिये १९३९-४५ के महायुद्ध में उसने दक्षिण-पूर्वी एशिया में पश्चिमी देशों के साम्राज्यों का अन्त किया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ भलीभांति समझते थे, कि उनके एशियन साम्राज्य का सबसे बड़ा शत्रु जापान है। इसीलिये उन्होंने सिंगापुर को अपनी सामुद्रिक शक्ति का सबसे बड़ा केन्द्र बनाया था।

पन्द्रहवां अध्याय

# जापान का वशवर्ती मञ्चूकुओ राज्य

## (१) जापान की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति

पिछले अध्याओं में हमने इस विषय पर विशद रूप से प्रकाश डाला है, कि सन् १९३१ तक पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध राज्यों की क्या स्थिति थी। एशिया के आधुनिक इतिहास में सन् १९३१ का बहुत महत्त्व है, क्योंकि इस साल जापान ने अपने साम्राज्य विस्तार की उस प्रक्रिया को शुरू किया, जिसने दस साल के लगभग समय में प्रायः सम्पूर्ण पूर्वी व दक्षिणी-पूर्वी एशिया को व्याप्त कर लिया। बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ १९३९ में हुआ था, पर जहां तक एशिया का सम्बन्ध है, वहां तक वस्तुतः इस महायुद्ध का श्रीगणेश १९३१ में ही हो गया था। १९३१ में जापान ने मञ्चूरिया से चीन के शासन का अन्त किया और अपनी संरक्षा में उस प्रदेश में मञ्चूकुओ नामक नये राज्य की स्थापना की। यह राज्य नाम को स्वतन्त्र होते हुए भी वस्तुतः जापान का वशवर्ती था। इसके बाद जापान और चीन के द्वितीय युद्ध का प्रारम्भ हुआ और चीन के अनेक प्रदेशों में जापान ने अपनी शक्ति व प्रभुत्व का विस्तार किया। इसी बीच में जब १९३९ में यूरोप में द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो जापान ने जर्मनी और इटली का पक्ष लेकर मित्रराष्ट्रों के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी और महायुद्ध के इस अवसर का लाभ उठाकर सम्पूर्ण दक्षिण पूर्वी एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। संसार के आधुनिक इतिहास में जापान का यह उत्कर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अब हम जापान के इसी उत्कर्ष का वृत्तान्त लिखना प्रारम्भ करते हैं।

कौन सी ऐसी प्रवृत्तियां थीं, जो जापान को साम्राज्य विस्तार के लिये प्रेरित कर रही थीं, इस पर पहले भी इस पुस्तक में प्रकाश डाला जा चुका है। पर इन प्रवृत्तियों में से कतिपय पर इस प्रसंग में फिर विचार करना उपयोगी है--

(१) **जनसंख्या की वृद्धि और व्यावसायिक उन्नति**--१९३१ में जापान की आबादी ७,००,००,००० के लगभग थी। १८५४ में जब कमोडोर पेरी द्वारा जापान का पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ था, जापान की जनसंख्या

तीन करोड़ से भी कम थी। तीन चौथाई सदी के लगभग समय में जापान की जनसंख्या में २५० प्रतिशत के लगभग वृद्धि हुई थी। इस बढ़ती हुई आबादी की आजीविका का समुचित प्रबन्ध करने का यही उपाय था, कि जापानी लोग अन्य प्रदेशों में जाकर बसें, क्योंकि जापान की अपनी जमीन इतने लोगों का बोझ उठा सकने के लिये पर्याप्त नहीं थी। अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में जापानी लोग नहीं बस सकते थे, क्योंकि वहां की गौराङ्ग सरकारें एशियन लोगों को अपने देशों में प्रविष्ट नहीं होने देना चाहती थीं। फार्मूसा, कोरिया आदि जो प्रदेश जापान की अधीनता में थे, वहा जापानी लोग व्यापारी, इन्जीनियर, शिक्षक व शासक के रूप में अवश्य आबाद हो रहे थे, पर वहां कृषक, मजदूर आदि के रूप में जापानी लोगों के लिये बसने की विशेष गुंजाइश नहीं थी। चीन, फिलीप्पीन, मलाया आदि में कुछ जापानी लोग विविध प्रकार के कार्यों के लिये गये थे, पर १९३५ में इन प्रदेशों में प्रवास करनेवाले जापानियों की संख्या दस लाख से अधिक नहीं थी। इस दशा में जापान की सरकार अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या की आजीविका का एक ही उपाय समझती थी, वह यह कि जापान को व्यावसायिक दृष्टि से अधिक से अधिक उन्नत किया जाय। १९१४–१८ के महायुद्ध के अवसर पर जापान को अपनी व्यावसायिक उन्नति का सुवर्णीय अवसर हाथ लग गया था, क्योंकि उस समय एशिया के विविध बाजारों में यूरोप का माल आना रुक गया था। महायुद्ध की समाप्ति पर १९२१ के लगभग यूरोपियन माल भारत आदि देशों में फिर प्रचुर परिमाण में आने लगा था। ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदि देशों के अफ्रीका और एशिया में अपने अपने साम्राज्य व प्रभाव क्षेत्र थे। इनमें जापान का तैयार माल उतनी निश्चिन्तता के साथ नहीं बिक सकता था, जितना कि पाश्चात्य साम्राज्यवादी देशों का। जापानी माल का मुकाबला करने के लिये ब्रिटेन, फ्रांस, आदि उसके माल पर अधिक तट कर लगाने की नीति का अनुसरण कर रहे थे। ब्रिटेन ने साम्राज्यान्तर्गत रियायती कर की नीति का अवलम्बन कर जापान के विदेशी व्यापार में रुकावटें उत्पन्न कर दी थीं। इस दशा में जापान का यह अनुभव करना स्वाभाविक था, कि उसका भी अपना साम्राज्य होना चाहिये, जहां वह अपने तैयार माल को निश्चिन्तता के साथ बेच सके और जहां से वह कच्चा माल सस्ती कीमत पर खरीद सके। इसी मूलभूत कारण से जापान फार्मूसा और कोरिया को अपने आधिपत्य में लाने के लिये प्रवृत्त हुआ था। पर १९३१ में व्यावसायिक दृष्टि से जापान ब्रिटेन का समकक्ष था। फार्मूसा और कोरिया से संतुष्ट रह सकना उसके लिये सम्भव नहीं था। वह चाहता था, कि फ्रांस, ब्रिटेन, रूस और अमेरिका के समान उसका साम्राज्य भी विशाल हो।

वह इस समय संसार के प्रधान राज्यों में से एक था। पर साम्राज्य की दृष्टि से वह अन्य शक्तिशाली राज्यों के मुकाबले में बहुत पीछे था। १९३१ में वह जो साम्राज्यवाद के मार्ग पर अग्रसर हुआ, उसमें यह प्रधान कारण था।

(२) **पूंजीवाद का विकास**--व्यावसायिक उन्नति के साथ साथ जापान में पूंजीवाद की असाधारण रूप से वृद्धि हुई थी। १८९४-९५ में जब चीन और जापान का प्रथम युद्ध हुआ, तो उनकी कम्पनियों में लगी हुई पूंजी की कुल मात्रा ३०,८०,००,००० येन थी। १९२५ में यह पूंजी बढ़कर १३,७९,०७,५८,००० येन तक पहुंच गई थी। ३० साल के थोड़े से अरसे में जापान में व्यावसायिक व व्यापारिक कम्पनियों की पूंजी में ५० गुना के लगभग वृद्धि हुई थी। अनेक कम्पनियां ऐसी थीं, जिनमें अधिक पूंजी नहीं लगी हुई थी। पर यह बात ध्यान देने योग्य है, कि जापान की कुल कम्पनियों की १.५ प्रतिशत कम्पनियां ऐसी थीं, जिनमें कुल पूंजी का ६५ प्रतिशत विनियुक्त था। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है, कि जापान का सम्पूर्ण आर्थिक जीवन कुछ थोड़ी सी कम्पनियों में केन्द्रित था, जिनके मालिक जापान के व्यावसायिक व व्यापारिक जीवन के असली स्वामी थे। इन विशालकाय कंपनियों में सुमीतोमो, मित्सुई और मित्सुबिशी कंपनियां सर्वप्रधान थीं। मित्सुई कम्पनी की अपनी पूंजी ३०,००,००,००० येन थी। पर उसके अधीन, व उससे सम्बद्ध कम्पनियों की पूंजी ८०,००,००,००० येन तक पहुंच जाती थी। सुमीतोमो कम्पनी की अपनी पूंजी १५,००,००,००० थी, पर उसकी अधीनस्थ कम्पनियों की पूंजी १८,००,००,००० तक पहुंच जाती थी। मित्सुबिशी कम्पनी के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। सब प्रकार के व्यवसाय व कारोबार इन विशालकाय कम्पनियों की अधीनता में संचालित होते थे। बैंकिंग, बीमा, मिलें, खानें, भवन निर्माण आदि सब प्रकार के कारोबारों पर इन कम्पनियों का प्रभुत्व था। इनके मालिक राजनीति से पृथक रहकर आर्थिक क्षेत्र तक ही अपने को सीमित रखते हों, यह बात नहीं थी। ये देश की राजनीति में खुले तौर पर भाग लेते थे, और विविध राजनीतिक नेता इनके हाथों में कठपुतली के समान थे। सैयुकाई, मिन्सेइतो आदि राजनीतिक दलों पर इनका प्रभुत्व था। जापान के सैनिक नेता भी इन पूंजीपतियों के प्रभाव में थे। रुपये के जोर पर इन पूंजीपतियों के लिये यह बहुत सुगम था, कि ये देश के राजनीतिक व सैनिक नेताओं को अपनी मुट्ठी में रख सकें। यही कारण है, कि इस समय जापान में अनेक ऐसी घटनाएं हुईं, जिनमें सरकार के प्रमुख कर्मचारियों और मन्त्रियों तक ने पूंजीपतियों के साथ मिलकर अनुचित रूप से लाभ उठाने का प्रयत्न किया। इस बात से यह भलीभांति समझा जा सकता है, कि जापान के राजनीतिक जीवन में बड़े पूंजीपतियों का

कितना अधिक महत्त्व था। ये पूंजीपति अपने व्यवसायों और कारोबार के लिये यह आवश्यक समझते थे, कि जापान साम्राज्य प्रसार के लिये तत्पर हो। साम्राज्य के अभाव में इनके लिये अपने तैयार माल को निश्चिन्तता के साथ बेच सकना व कच्चा माल कम कीमत पर प्राप्त कर सकना सुगम नहीं था। पूंजीवाद साम्राज्यवाद को जन्म देने का प्रधान कारण होता है, और जापान में इस समय पूंजीवाद इस हद तक विकसित हो चुका था, कि वह वहां की सरकार को साम्राज्य विस्तार के लिये प्रेरित कर रहा था। इस समय जापान की राजनीति का निर्धारण करते हुए इन बड़े पूंजीपतियों के हितों को विशेष रूप से दृष्टि में रखा जाता था, और इन पूंजीपतियों का हित इसी बात में था, कि जापान साम्राज्य विस्तार के लिये प्रवृत्त हो।

(३) **मन्दी के युग का प्रभाव**—१९२९ के लगभग सारे संसार में मन्दी के युग का प्रारम्भ हुआ। वस्तुओं की कीमतें गिरने लगीं और एक अर्थ संकट उपस्थित हो गया। यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि इस आर्थिक संकट के कारणों पर प्रकाश डाल सकें। १९१४-१८ के महायुद्ध में जर्मनी आदि जो देश परास्त हुए थे, उन्हें भारी भारी रकमें हरजाने के रूप में अदा करनी थीं। युद्ध में इन देशों का आर्थिक जीवन बुरी तरह से अस्त व्यस्त हो गया था। हरजाने के बोझ से इनकी मुद्रापद्धति बुरी तरह से अव्यवस्थित हो गई थी। महायुद्ध के विजेता देशों के लिये यह सुगम नहीं था, कि वे अपने माल को अन्य देशों में ऊंची कीमतों पर बेच सकें, क्योंकि सर्वत्र बेरोजगारी फैल रही थी। कीमतें गिरने की जो प्रक्रिया १९२९ में शुरू हुई, वह १९३१ तक जारी रही। १९३१ तक कीमतें इस हद तक गिर गई थीं, कि कारखानों को भारी नुकसान होने लगा था। व्यापार, व्यवसाय और सब प्रकार के कारोबार में नुकसान ही नुकसान नजर आता था। जापान भी इस विश्वव्यापी अर्थसंकट से नहीं बच सका। उसके माल की कीमतें निरन्तर गिरने लगीं। पर गिरी हुई कीमत पर भी उसका माल विदेशों में नहीं बिक पाता था। जापान के रेशम की अमेरिका में बहुत खपत थी। पर आर्थिक संकट का जो असर अमेरिका पर पड़ रहा था, उसके कारण अमेरिकन जनता की क्रयशक्ति निरन्तर कम होती जाती थी। अब उसके लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह जापानी रेशम को खरीद सके। जापान का अन्य माल भी विदेशी बाजारों में बिक सकना कठिन हो गया था। इस दशा में बहुत से जापानी कारखाने बन्द हो रहे थे और लाखों मजदूर बेकार होते जाते थे। जापान की कृषि-जन्य वस्तुओं की कीमतें भी निरन्तर गिर रही थीं। १९२९ और १९३० के बीच में जापान के अनाज की कीमतें लगभग आधी हो गई थीं। इस दशा का सर्व-

साधारण किसानों पर क्या प्रभाव हुआ, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। केवल किसान और मजदूर ही नहीं, अपितु दूकानदार और मध्य श्रेणि के व्यवसायी भी मन्दी के झपेट में आ रहे थे। नफा न होने के कारण उन पर कर्ज का बोझ निरन्तर बढ़ता जाता था। अनुमान किया गया है, कि १९३२ में जापान की मध्य श्रेणि के लोगों की कर्जदारी की मात्रा २,५०,००,००,००० येन से भी अधिक हो गई थी। जापान में आर्थिक संकट कितना उग्र था, इसका अनुमान इस बात से भलीभांति किया जा सकता है। आर्थिक संकट के इस काल में जापान के नेता व लोग यही समझते थे, कि इससे छुटकारा पाने का सर्वोत्तम उपाय साम्राज्य-प्रसार है।

(८) **सेना का रुख**—पहले जापान की सेना में कतिपय कुलीन परिवारों का प्राधान्य था। चोशू और सत्सुमा कुल जापान की स्थल व जलसेना में जो प्रमुख स्थिति रखते थे, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पर पाश्चात्य देशों के अनुसरण में जब जापान में भी बाधित सैनिक सेवा की पद्धति का प्रारम्भ किया गया, तो जापान की सेना के स्वरूप में परिवर्तन आने लगा। जल और स्थल सेना के आफिसर के पदों पर ऐसे व्यक्ति नियुक्त होने लगे, जो चोशू और सत्सुमा सदृश कुलीन परिवारों के साथ सम्बन्ध नहीं रखते थे। अपनी सैनिक योग्यता व प्रतिभा के बल पर सर्वसाधारण लोग भी उच्च सैनिक पद प्राप्त करने लगे। १९२० और १९२७ के बीच में साधारण जनता के साथ सम्बन्ध रखनेवाले सैनिक अफसरों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई, और उनकी संख्या ३० प्रतिशत तक पहुंच गई। इन अफसरों के कारण सेना के संगठन व दृष्टिकोण में परिवर्तन आना अवश्यम्भावी था। ये भलीभांति अनुभव करते थे, कि अर्थसंकट के काल में जापान की जनता को कैसी मुसीबतों का सामना करना पड़ रहा है। ये यह भी समझते थे, कि जापान की सरकार पूंजीपतियों के हितों को दृष्टि में रखकर अपनी नीति का निर्धारण कर रही है, और यह बात सर्वथा अनुचित है। कुछ सैनिक अफसरों ने यहां तक कहना शुरू कर दिया था, कि सरकार का संचालन राजनीतिक नेताओं के हाथ में न होकर सेना के हाथ में होना चाहिये, क्योंकि सेना राज्य व शासन के सम्बन्ध में सर्वथा निष्पक्ष नीति का अवलम्बन कर सकती है, और उसका जनता के किसी वर्ग के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं होता। जनता के बहुत से लोग भी सैनिक नेताओं के इन विचारों के साथ सहमति रखते थे। राजनीतिक नेता जिस ढंग से पूंजीपतियों के हाथ में कठपुतली बन रहे थे, उससे जनता में बहुत असंतोष था। इस दशा में सेना का प्रभाव बढ़ जाना बिलकुल स्वाभाविक बात थी। जापानी सरकार की पुरानी परम्परा के अनुसार जलसेना और युद्ध के मन्त्रियों

को यह अधिकार था, कि वे सीधे सम्राट् से भेंट कर सकें और अपनी योजनाओं व नीति का उससे समर्थन प्राप्त कर सकें। इसलिये जिन बातों में सैनिक नेता मन्त्रिमण्डल के राजनीतिज्ञों के साथ मतभेद रखते थे, उन्हें वे स्वयं सम्राट् के सम्मुख उपस्थित कर सकते थे, और उससे उन्हें स्वीकृत करा सकते थे। इस दशा का यह परिणाम था, कि सरकार में उनकी शक्ति बहुत अधिक थी। क्योंकि इस समय बहुत से सैनिक अफसर सर्वसाधारण जनता में से लिये गये थे, अतः जनता की भावनाओं से वे भलीभांति परिचित थे और उनका यह खयाल था, कि जापान को अर्थसंकट से बचाने का एकमात्र उपाय यह है, कि साम्राज्य विस्तार के लिये प्रयत्न किया जाय। वाशिंगटन कान्फरेन्स के बाद जापान के राजनीतिज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति की जिस नीति का अनुसरण कर रहे थे, सैनिक नेता उसे नापसन्द करते थे। १९३१ में जापान साम्राज्यवाद के मार्ग पर जिस प्रकार तेजी के साथ अग्रसर हुआ, उसके लिये राजनीतिज्ञों की अपेक्षा सैनिक नेताओं की उत्तरदायिता अधिक थी।

विश्वव्यापी अर्थसंकट के कारण जापान की सरकार को अपने खर्च चलाने में भी कठिनता अनुभव होने लगी थी। वह जरूरी समझती थी, कि सरकारी खर्च में कमी की जाय। बचत का सबसे सरल उपाय उसे यह समझ पड़ता था, कि सैनिक खर्च को घटाया जाय। पर सैनिक नेता इससे सहमत नहीं थे। सैनिक खर्च को घटाने का यह परिणाम होता, कि सैनिकों व अफसरों के लिये उन्नति का मार्ग रुक जाता। इसके मुकाबले में सेना का यह विचार था, कि सैनिक खर्च को कम करने के बजाय सेना को अपना कर्तृत्व प्रदर्शित करने के लिये मौका दिया जाना चाहिये। सेना का यह कर्तृत्व साम्राज्य विस्तार के क्षेत्र में ही सम्भव था। सैनिक नेता कहते थे, कि जापान की आर्थिक समस्या को हल करने का सबसे उत्तम उपाय साम्राज्य का विस्तार है।

(५) **राष्ट्रभक्ति की भावना**—केवल जापान की सेना ही नहीं, अपितु जनता भी साम्राज्य विस्तार के लिये उत्सुक थी। जापान में अनेक ऐसी समितियां स्थापित हो रही थीं, जो सरकार की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को अत्यन्त निर्बल समझती थीं। देशभक्तों का कहना था, कि वाशिंगटन कान्फरेन्स के निर्णयों को स्वीकार कर सरकार ने जापान को बिलकुल पंगु बना दिया है। उग्र राष्ट्रीय भावना साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति को उत्पन्न करती है। जापान में राष्ट्रीयता की भावना बहुत उग्र रूप धारण कर रही थी। उग्र राष्ट्रीय भावना से आविष्ट जापानी नवयुवक अपनी सरकार की विदेशी नीति के बहुत खिलाफ थे, और साम्राज्य-विस्तार के लिये व्याकुल थे। नवयुवक देशभक्तों की ये समितियां कितना प्रचण्ड

रूप धारण कर रही थीं, इसको स्पष्ट करने के लिये एक यह बात ही पर्याप्त होगी कि १९३० में जापान के प्रधानमन्त्री हामागुची को केवल इसलिये कतल किया गया था, क्योंकि ये राष्ट्रवादी देशभक्त उसकी अन्तर्राष्ट्रीय नीति को निर्बल समझते थे।

इसमें सन्देह नहीं, कि अनेक जापानी राजनीतिज्ञ अपने देश के उत्कर्ष के लिये साम्राज्यवाद की नीति का अनुसरण करने के विरोधी थे। १९२७ में जापान के परराष्ट्रमन्त्री बैरन शिदेहारा ने अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए कहा था— "हमारे लिये यह बात अत्यन्त महत्त्व की है, कि हम अपनी सम्पूर्ण शक्ति व ध्यान को विदेशी व्यापार की वृद्धि में लगावें, पर इसके लिये हमें किसी अन्य राष्ट्र के हितों में अन्याय्य रूप से बाधा डालने की आवश्यकता नहीं है। हमें बाजार चाहियें, अन्य राज्यों के प्रदेश नहीं चाहियें।" यह ठीक है, कि १९२२ के बाद जापान की सरकार का ध्यान अपने देश के विदेशी व्यापार की वृद्धि पर लगा हुआ था। जापानी माल के सबसे बड़े ग्राहक अमेरिका और चीन थे। इसीलिये जापानी सरकार इन देशों के साथ मैत्री सम्बन्ध कायम रखने के लिये उत्सुक थी। पर १९२९-३१ के विश्वव्यापी अर्थसंकट ने जापान के विदेशी व्यापार को भारी धक्का पहुंचाया था। यद्यपि इस समय भी जापान के राजनीतिक नेता साम्राज्य-प्रसार के लिये इच्छुक नहीं थे, पर जनता और सेना उनकी इस नीति से असहमत थी। देशभक्तों की समितियां और सैनिक नेता समझते थे, कि साम्राज्य विस्तार द्वारा ही जापान का कल्याण सम्भव है।

## (२) मञ्चूरिया की स्थिति

जापान के लिये अपने साम्राज्य को विस्तृत करने का सबसे उपयुक्त क्षेत्र मञ्चूरिया था। १९३१ में उसने इसी प्रदेश में अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को चरितार्थ करना प्रारम्भ किया। अतः यह आवश्यक है, कि हम पहले मञ्चूरिया की स्थिति पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करें। १९३१ के शुरू में मञ्चूरिया की क्या स्थिति थी, इसे हम निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं—

(१) मञ्चूरिया चीन का अंग था। चीन के राजनीतिक नेता इसे अपना अधीनस्थ प्रदेश न समझकर अपने राष्ट्र का एक अंग मानते थे। वे इसे मञ्चूरिया न कहकर 'तीन पूर्वी प्रान्त' इस नाम से कहते थे। कुओमिन्तांग सरकार इस प्रदेश को चीनी रिपब्लिक का अखण्डनीय भाग समझती थी। चांग त्सो-लिन की मृत्यु के बाद उसका पुत्र चांग ह्सुएह-लिआंग मंचूरिया का सूबेदार व सिपहसालार बना था। उसके पिता चांग त्सो-लिन ने नानकिंग सरकार के साथ समझौता नहीं किया था। पर चांग ह्सुएह-लिआंग समय की गति को समझता था, और उसने

नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार को मञ्चूरिया का असली स्वामी मान लिया था। कुओमिन्तांग सरकार के साथ जो समझौता ह्सुएह-लिआंग ने किया था, उसके अनुसार मञ्चूरिया के वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन नानकिंग की अखिल चीनी सरकार के सुपुर्द कर दिया गया था, यद्यपि आन्तरिक शासन में चांग ह्सुएह-लिआंग को पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। जापानी लोग इस बात से बहुत असंतुष्ट थे। जब तक मञ्चूरिया का सिपहसालार केन्द्रीय चीनी सरकार के आधिपत्य से सर्वथा स्वतन्त्र था, वे उस पर जोर डालकर अपनी बातें उससे मनवा सकते थे। नानकिंग की अपेक्षा मुकदन (मञ्चूरिया की राजधानी) पर उनका जोर अधिक चल सकता था। इसीलिये जापानी लोगों ने चांग ह्सुएह-लिआंग को चेतावनी दी थी, कि वह नानकिंग की केन्द्रीय सरकार के साथ किसी भी प्रकार का समझौता न करे।

(२) हम पिछले अध्यायों में बतला चुके हैं, कि उत्तरी मञ्चूरिया रूस का प्रभावक्षेत्र था, और दक्षिणी मञ्चूरिया जापान के प्रभावक्षेत्र में था। विविध संधियों द्वारा रूस और जापान ने मञ्चूरिया के उत्तरी और दक्षिणी प्रदेशों में जो विविध विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए थे, उन्हें यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है। पर यह स्पष्ट है, कि एक प्रदेश में तीन राज्य एक साथ नहीं रह सकते थे। जब तक चीन की केन्द्रीय सरकार निर्बल थी, रूस और जापान के लिये मञ्चूरिया में मनमानी कर सकना सम्भव था। पर कुओमिन्तांग दल के शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद चीन में राष्ट्रीयता की भावना बहुत प्रबलता प्राप्त कर रही थी। मार्शल चियांग काई शेक की सरकार इस बात के लिये प्रयत्नशील थी, कि चीन से विदेशी राज्यों के प्रभाव व प्रभुत्व का अन्त कर चीन में अविकल रूप से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना की जाय। कुओमिन्तांग दल के कार्यकर्ता मञ्चूरिया में बड़ी तत्परता के साथ कार्य कर रहे थे। अपने देश में विदेशियों के विशेषाधिकारों की सत्ता उन्हें सह्य नहीं थी।

(३) इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि चीन और जापान में मञ्चूरिया के मामले में विरोध के कारण उत्पन्न हों। ये विरोध के कारण निम्नलिखित थे—क. लिआओतुंग प्रायद्वीप का पट्टा २५ साल के लिये पहले रूस ने प्राप्त किया था। रूस-जापान युद्ध (१९०४-५) के परिणामस्वरूप यह पट्टा जापान ने हस्तगत कर लिया था। १९१५ में चीन और जापान में जो समझौता हुआ था, उसके अनुसार इस पट्टे की अवधि २५ साल से बढ़ाकर ९९ साल कर दी गई थी। पर चीन की नई राष्ट्रीय सरकार का कहना था, कि १९१५ का समझौता जापान ने अपनी शक्ति का प्रयोग कर चीन की निर्बलता से लाभ उठाकर किया

था, अतः वह चीनी सरकार को मान्य नहीं हो सकता। २५ साल के असली पट्टे का काल १९२३ में समाप्त हो गया था। १९२३ के बाद लिआओतुंग पर जापान के कब्जे को चीनी सरकार अन्याय्य समझती थी। पर जापान का कहना था, कि १९१५ का समझौता न्याय्य और उचित है, तथा चीनी सरकार को उसे स्वीकृत करना चाहिये। ख. यही विवाद दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे के सम्बन्ध में था। इस रेलवे का पट्टा भी शुरू में रूस ने २५ साल के लिये प्राप्त किया था, और १९०४-५ के रूस-जापान युद्ध के बाद इस पर जापान ने अपना अधिकार कर लिया था। १९१५ में इसकी अवधि भी २५ साल से ९९ साल कर दी गई थी। चीनी सरकार का कहना था, कि १९२३ में २५ साल का काल समाप्त हो जाने से इस रेलवे पर जापान का स्वामित्व न्याय्य व उचित नहीं है। पर जापान १९१५ के समझौते के आधार पर इस रेलवे पर अपने आधिपत्य की अवधि ९९ साल मानता था। ग. रेलवे के क्षेत्र पर जापानी पुलीस का अधिकार था। साथ ही मञ्चूरिया में निवास करनेवाले जापानियों को एक्सट्रा-टैरिटोरिएलिटी सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे। जापानी लोगों को मञ्चूरिया में जमीन व मकान किराये पर लेने के भी अधिकार मिले हुए थे। यह स्वाभाविक था, कि इन अधिकारों को क्रिया में परिणत करने के प्रश्न पर चीन और जापान में अनेक प्रकार की समस्याएं व विवाद उत्पन्न होते रहें।

(४) वाशिंगटन कान्फरेन्स में जापान ने चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को स्वीकृत किया था, और साथ ही यह भी माना था, कि वह उसमें किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप नहीं करेगा। पर जापान मञ्चूरिया को चीन का अंग नहीं समझता था। वह कहता था, कि मञ्चूरिया चीन का अधीनस्थ राज्य है, और उसमें विविध सन्धियों द्वारा जो विशेषाधिकार जापान को प्राप्त हैं, उन्हें वह चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के नाम पर छोड़ देने को कदापि तैयार नहीं होगा। इसीलिये वह १९१५ के समझौते को आधार बनाकर लिआओतुंग प्रदेश व दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे पर अपने आधिपत्य का दावा करता था, और उसे चांग हुसुएह लिआंग की यह बात भी पसन्द नहीं थी, कि उसने नानकिंग की केन्द्रीय चीनी सरकार के हाथों में मञ्चूरिया की परराष्ट्र नीति का संचालन दे दिया था। जापानी सरकार इस बात के लिये कटिबद्ध थी, कि मञ्चूरिया में ९९ साल के लिये जो विशेषाधिकार उसे प्राप्त हैं, वे अक्षुण्ण रहें।

(५) चीनी सरकार का यह प्रयत्न था, कि मञ्चूरिया पर उसका आधिपत्य अधिक अधिक दृढ़ होता जाय। कुओमिन्तांग दल के राष्ट्रीय कार्यकर्ता वहां प्रचार कार्य में लगे थे। चीन के देशभक्तों का यत्न था, कि मञ्चूरिया पूर्णतया

चीन का एक अंग बन जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति में अन्य भी अनेक बातें सहायक हो रही थीं। क. १९३० में मञ्चूरिया की कुल आबादी २,९०,००,००० थी। इसमें से २,६०,००० जापानी और ८,००,००० कोरियन थे। रूसी लोगों की संख्या १,००,००० थी। कुछ लोग मञ्चू व मंगोल जाति के भी थे। पर मञ्चूरिया की आबादी का बड़ा भाग चीनी लोगों का था। वहां बसे हुए चीनी लोगों की संख्या १९३० में २,००,००,००० के लगभग पहुंच गई थी। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता था, चीनी लोग अधिकाधिक संख्या में वहां बसते जाते थे। दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे के निर्माण के कारण चीनी लोगों के लिये मञ्चूरिया में जाकर बस सकना और अधिक सुगम हो गया था। जापानी लोग इस प्रदेश में लोहे, कोयले आदि की जिन खानों का विकास कर रहे थे, उनमें चीनी मजदूर बड़ी संख्या में काम करते थे। रेलवे के विस्तार के कारण मञ्चूरिया के कृषिजन्य पदार्थों की मांग भी बहुत बढ़ गई थी। इस दशा में बहुत से चीनी किसान वहां की उपजाऊ भूमि पर खेती करने के लिये पहुंच गये थे। इतनी बड़ी संख्या में चीनी लोगों के आबाद हो जाने के कारण मञ्चूरिया वास्तविक अर्थों में चीन का एक अंग बनता जाता था। ख. चीनी सरकार इस बात के लिये प्रयत्नशील थी, कि दक्षिणी मञ्चूरिया में अपनी ओर से भी नई रेलवे लाइनों का निर्माण करे। जापान द्वारा अधिकृत दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे समुद्र तट पर दैरन के बन्दरगाह पर समाप्त होती थी। दैरन जापान के कब्जे में था, और यह उत्तर-पूर्वी चीन व मञ्चूरिया का सर्वप्रधान बन्दरगाह था। उत्तरी चीन, मञ्चूरिया और मंगोलिया के विदेशी व्यापार का यही सबसे बड़ा केन्द्र था। पर चीनी सरकार दैरन के मुकाबले में हुलुताओ के बन्दरगाह को विकसित करने में तत्पर थी। वह दक्षिणी मञ्चूरिया और उसके समीपवर्ती प्रदेश में ऐसी रेलवे लाइनों को बना रही थी, जो हुलताओ में जाकर समाप्त होती थीं। जापान चीन की इस योजना से बहुत चिन्तित था। वह समझता था, कि चीनी सरकार उसकी अपनी रेलवे लाइन और दैरन के बन्दरगाह को नष्ट करने के लिये प्रयत्नशील है। इससे मञ्चूरिया के क्षेत्र में चीन और जापान का विरोध निरन्तर बढ़ता जाता था।

(६) मञ्चूरिया में अन्य भी अनेक बातें चीन और जापान में विरोध उत्पन्न कर रही थीं। जापान ने मञ्चूरिया में अपनी ओर से एक शक्तिशाली सेना स्थापित की हुई थी, जिसे क्वांतुंग सेना कहते थे। क्वांतुंग का अर्थ है, सीमा का पूर्ववर्ती। दक्षिणी मञ्चूरिया का अन्य नाम क्वांतुंग था, क्योंकि यह प्रदेश चीन की विशाल दीवार के पूर्व में स्थित था। क्वांतुंग में विद्यमान जापानी सेना अपना यह कर्तव्य समझती थी, कि मञ्चूरिया में जापान को जो विशेषाधिकार

प्राप्त हैं, उनकी उत्साहपूर्वक रक्षा करे। वह न केवल लिआओतुंग और दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे पर अपना अधिकार समझती थी, अपितु मंचूरिया में जहां कहीं भी जापानी लोग व्यापार आदि के निमित्त से निवास करते थे, उनके हितों की रक्षा करना अपना स्वयंसिद्ध अधिकार समझती थी। यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि चीन की कुओमिन्तांग सरकार और क्वातुंग सेना में बहुधा विरोध होते रहें। जापान की क्वांतुंग सेना उग्र साम्राज्यवादी थी। इसके बहुत से आफिसर सर्वसाधारण जनता के साथ सम्बन्ध रखते थे। उन्हें मालूम था, कि १९२९-३१ के घोर आर्थिक संकट के कारण उनके परिवारों के लोगों को कैसे कष्टों का सामना करना पड़ रहा है। अपने बन्धुओं को आर्थिक कष्ट से बचाने का एकमात्र उपाय इन सैनिक आफिसरोंको यही समझ पड़ता था, कि मञ्चूरिया में जापान के साम्राज्य का विस्तार किया जाय।

(७) जापान समझता था, कि मञ्चूरिया उसका प्रभावक्षेत्र है, और वहां उसे जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं, उनकी रक्षा करना उसका कर्तव्य है। उसका यह भी खयाल था, कि कच्चे माल को प्राप्त करने के लिये इस प्रदेश पर अपना अधिकार कायम रखना आवश्यक है। दूसरी तरफ चीन मञ्चूरिया को अपना अंग मानता था और वहां विदेशी राज्यों के विशेषाधिकारों को अपने राष्ट्रीय गौरव के प्रतिकूल समझता था। इस दशा में वहां अनेक ऐसी घटनाएं होनी शुरू हुईं, जिन्होंने चीन और जापान के विद्वेष को बहुत बढ़ा लिया। हमने इसी प्रकरण में लिखा है, कि मञ्चूरिया में ८,००,००० के लगभग कोरियन लोग आबाद थे। वे मुख्यतया कृषि द्वारा अपना निर्वाह करते थे। क्योंकि कोरिया इस समय जापान के अधीन था, अतः कोरियन लोग जापान की प्रजा थे। मञ्चूरिया की उपजाऊ जमीन से आकृष्ट होकर बहुत से कोरियन लोग इस समय वहां आकर आबाद हो रहे थे। चीनी सरकार समझती थी, कि कोरियन लोगों का मञ्चूरिया में आबाद होना उस प्रदेश पर जापान के प्रभुत्व में वृद्धि करना है। अतः उन्होंने अनेक ऐसी व्यवस्थाएं कीं, जिनके कारण कोरियन लोगों के लिये मञ्चूरिया में जमीन प्राप्त करना कठिन हो गया। साथ ही जो कोरियन लोग मञ्चूरिया में जमीनें प्राप्त कर चुके थे, उनके मार्ग में भी चीनी सरकार ने रुकावटें डालनी शुरू कीं। एक स्थान पर कोरियन लोग खेतों में सिंचाई के लिये नहरें व नालियां बनाने में तत्पर थे। चीनियों ने बल का प्रयोग कर वहां से कोरियन लोगों को बाहर निकाल दिया। इस पर जापानी पुलीस ने अपनी कोरियन प्रजा की सहायता की। यह मामला इतना उग्र रूप धारण कर गया, कि कोरिया और जापान के समाचार-पत्रों ने चीन के खिलाफ आग उगलना शुरू कर दिया। कोरिया और जापान में

अनेक स्थानों पर चीनी लोगों के खिलाफ दंगे हुए। इसी तरह चीन में भी इस घटना से जापान के विरुद्ध विद्वेषाग्नि बहुत प्रचण्ड हो गई।

जून, १९३१ में नाकामुरा नामक जापानी सैनिक आफिसर की मञ्चूरिया में हत्या हो गई। यह हत्या किन कारणों से हुई और इसके लिये चीनी सरकार किस हद तक दोषी थी, इस पर विचार करने की यहां आवश्यकता नहीं है। पर इस प्रकार की घटनाएं चीन और जापान के विद्वेष को और भी अधिक प्रचण्ड बना रही थी। कहा जाता है, कि अगस्त, १९३१ में ऐसे मामलों की संख्या ३०० के लगभग पहुंच गई थी, जिन पर मञ्चूरिया के क्षेत्र में चीन और जापान में झगड़ा था। इस बात में चाहे अतिशयोक्ति क्यों न हो, पर यह निश्चित है, कि इस समय मञ्चूरिया के प्रश्न पर चीन और जापान के सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये थे। यह स्थिति आ गई थी, कि मञ्चूरिया पर या तो जापान का ही कब्जा रह सकता था और या चीन ही का। मञ्चूरिया सम्बन्धी झगड़ों को शान्ति व समझौते से निबटा सकना सम्भव नहीं रह गया था। अब इसका निर्णय केवल युद्ध द्वारा ही हो सकता था, और इसके लिये १८ सितम्बर, १९३१ को उपयुक्त अवसर उपस्थित हो गया।

## (३) मञ्चूकुओ की स्थापना

मञ्चूरिया के प्रश्न पर जो अग्नि चीन और जापान में धीरे धीरे सुलग रही थी, सितम्बर, १९३१ में वह प्रचण्डता के साथ धधक उठी। १८ सितम्बर को दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे की लाइन पर एक बम्ब फेंका गया, जिससे रेलवे लाइन का कुछ भाग नष्ट हो गया। यह घटना बहुत साधारण थी, और इससे जापान की रेलवे को बहुत अधिक क्षति नहीं पहुंची थी। पर इसके परिणाम बहुत भयंकर हुए। जापान का कहना था, कि यह बम्ब चीनी सिपाहियों ने फेंका है। चीनी सरकार इस बात को स्वीकार नहीं करती थी। वास्तविक बात चाहे कुछ भी क्यों न हो, १८ सितम्बर, १९३१ की इस घटना से लाभ उठाकर जापान की क्वां-तुंग सेना ने मञ्चूरिया की राजधानी मुकदन पर कब्जा कर लिया और १९३१ का अन्त होने से पूर्व ही प्रायः सम्पूर्ण मञ्चूरिया पर अपने आधिपत्य को स्थापित कर लिया। मञ्चूरिया के सूबेदार चांग ह्सुएह-लिआंग के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह जापानी सेनाओं का मुकाबला कर सके। कुछ ही समय में क्वांतुंग सेना ने मञ्चूरिया के प्रमुख नगरों पर कब्जा कर लिया। चीनी सेनाएं देहातों में कहीं कहीं जापान की सेनाओं का मुकाबला करती रहीं। पर उन्हें परास्त कर सकना जापान के लिये कठिन बात नहीं थी।

१८ फरवरी, १९३२ को मञ्चूरिया में एक पृथक राज्य की स्थापना कर दी गई। इस नये राज्य का नाम मञ्चूकुओ रखा गया। मञ्चूरिया के तीनों पूर्वी प्रान्त और जहोल (मञ्चूरिया की दक्षिणी सीमा पर स्थित अन्यतम प्रान्त) के प्रदेश को इस नये राज्य में शामिल किया गया। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि जहोल पर जापान ने अपना आधिपत्य १९३३ में स्थापित किया था। फरवरी १९३२ में मञ्चूकुओ के जिस पृथक राज्य का निर्माण किया गया था, जहोल प्रान्त उसके अन्तर्गत नहीं था। क्यों कि बाद में जहोल को भी मञ्चुकुओ में शामिल कर दिया गया, इसी लिये उसका भी यहां उल्लेख कर दिया गया है।

मञ्चुकुओ के शासन के लिये चीन के पदच्युत सम्राट् को नियुक्त किया गया। १९११ में चीन की राज्यक्रान्ति के समय मञ्चूवंश का यह सम्राट् नाबालिग था। इस समय यह बालिग हो चुका था और चीन के जापानी दूतावास में जापानी सरकार की संरक्षा में निवास करता था। जापानी लोगों ने इसी सम्राट् पू यी को मञ्चुकुओ का राजा नियत किया। एक दृष्टि से यह उचित भी था। चीन के मञ्चू राजवंश के सम्राट् वस्तुतः मञ्चूरिया के ही रहनेवाले थे और वहीं से चीन पर आक्रमण करके उन्होंने इस देश को अपने अधीन किया था। जापान का दावा था, कि मञ्चूरिया चीन का अंग नहीं है, वह उसका विजित प्रदेश है। मञ्चुकुओ को एक पृथक व स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित करके उसकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना की जा रही है, यह जापानी लोगों का मन्तव्य था। ९ मार्च, १९३२ के दिन मञ्चुकुओ के संविधान का निर्माण किया गया, जिनमें जनता के आधारभूत अधिकारों के प्रतिपादन के साथ साथ राज्य के शासन, व्यवस्थापन व न्याय विभागों की विशद रूप से व्यवस्था की गई। शासन विभाग का प्रधान सम्राट् पू यी को बनाया गया।

१५ सितम्बर, १९३२ को जापान ने मञ्चूकुओ राज्य की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकृत कर लिया। पर चीन की सरकार मञ्चूकुओ की सत्ता को स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं थी, यद्यपि मञ्चुकुओ को फिर से अपने अधिकार में ले आने की शक्ति उसमें नहीं थी, पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि व समझौते द्वारा उसने इस राज्य की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं किया था। क्रियात्मक दृष्टि से इस समय मञ्चूरिया चीन से पृथक् हो गया था, और यद्यपि नाम को वह एक स्वतन्त्र राज्य था, पर वस्तुतः वह पूर्णतया जापान के प्रभाव व प्रभुत्व में था। जापान की क्वांतुंग सेना वहां पर विद्यमान थी और मञ्चूकुओ राज्य की सत्ता इस जापानी सेना पर आश्रित थी। राज्य के विविध विभागों में जापानी लोगों को सलाहकार के रूप में नियत किया गया था और वस्तुतः मञ्चू-

कुओ की राजनीति का संचालन इन्हीं जापानी सलाहकारों के हाथों में था। मञ्चूकुओ की स्थापना के कारण रूस के सम्मुख भी एक विकट समस्या उत्पन्न हो गई थी, क्यों कि उत्तरी मञ्चूरिया में रूस को अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे। पर रूस की कम्युनिस्ट सरकार इस समय जापान के साथ युद्ध में उलझने के लिये तैयार नहीं थी। मञ्चूकुओ के सम्बन्ध में रूस का क्या रुख था, इस पर हम आगे चल कर यथास्थान प्रकाश डालेंगे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि १९३२ में सम्पूर्ण मञ्चूरिया मञ्चूकुओ राज्य के अन्तर्गत था, और इसकी स्वतन्त्र सरकार जापान के निरीक्षण व संरक्षण में अपने देश का शासन करने लगी थी।

यद्यपि चीन की सरकार इतनी शक्तिशाली नहीं थी, कि मञ्चूकुओ में सैन्य बल से जापान का प्रतिरोध कर सके, पर उसने जापान के साम्राज्यवाद के प्रति अपना विरोध प्रगट करने के लिये अन्य उपायों का आश्रय लिया। चीन में जापानी माल के बहिष्कार का आन्दोलन बहुत प्रबल हो गया। बहिष्कार का यह आन्दोलन किस अंश तक सफल हो रहा था, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि जहां सितम्बर, १९३१ में १,२७,०६,००० येन का जापानी माल चीन में आया था, वहां दिसम्बर, १९३१ में इस माल की मात्रा घट कर ४२,९९,००० येन की रह गई थी। चीन में सर्वत्र ऐसी समितियां कायम थीं, जो जनता को जापानी माल का बहिष्कार करने के के लिये प्रेरित करती थीं। शंघाई इस आन्दोलन का प्रधान केन्द्र था, क्योंकि वह चीन के विदेशी व्यापार का प्रमुख बन्दरगाह था। जापानी लोग चीन के बहिष्कार आन्दोलन से इतने अधिक उद्विग्न हुए, कि उन्होंने शंघाई के म्युनिसिपल अधिकारियों से मांग की, कि उनके क्षेत्र में बहिष्कार का प्रचार करनेवाली जो समितियां विद्यमान हैं, उन्हें भंग कर दिया जाय। जापान की शक्ति के सम्मुख शंघाई के राजपदाधिकारी सर्वथा विवश थे। उन्होंने जापान की मांग को स्वीकृत कर लिया। पर जापान इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ। जापान के जंगी जहाजों ने शंघाई पर आक्रमण कर दिया और एक जापानी सेना ने शंघाई नगरी के एक भाग पर अपना कब्जा कर लिया। इस लड़ाई में बहुत से चीनी लोग मारे गये और बहुत सी सम्पत्ति का विनाश हुआ। शंघाई पर यह जापानी आक्रमण जनवरी, १९३२ में हुआ था। १ फरवरी, १९३२ को चीन की राजधानी नानकिंग पर भी जापानी सेना ने बम्ब वर्षा की। मई, १९३२ तक इसी ढंग से चीन और जापान का संघर्ष चलता रहा। इस समय इन दोनों देशों में बाकायदा युद्ध की घोषणा नहीं हुई थी, पर उनमें उसी ढंग से लड़ाई जारी थी, जैसे कि युद्ध के समय

में होती है। मई, १९३२ तक चीन में जापानी माल को बहिष्कृत करने का आन्दोलन बहुत कुछ शिथिल हो गया था, और उधर मञ्चूकुओ की सरकार की स्थापना भी व्यवस्थित रूप से हो गई थी।

## (४) राष्ट्रसंघ और मञ्चूकुओ

१९१४-१८ के महायुद्ध की समाप्ति पर संसार में चिरशान्ति की स्थापना और राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को शान्तिमय उपायों द्वारा निबटाने के उद्देश्य से राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई थी। चीन और जापान दोनों ही राष्ट्रसंघ के सदस्य थे। जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता को स्वीकृत करते हुए यह बात भी मंजूर की थी, कि वह अन्य किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करेगा और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निबटाने के लिये सैन्य बल का प्रयोग नहीं करेगा। सितम्बर, १९३१ में जब जापान ने मञ्चूरिया की राजधानी मुकदन पर कब्जा किया, तो चीन ने उसके विरुद्ध राष्ट्रसंघ से अपील की। राष्ट्रसंघ की कौंसिल के अधिवेशन उस समय हो रहे थे। २१ सितम्बर को चीनी सरकार की अपील कौंसिल के सम्मुख पेश हुई। ३० सितम्बर को राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया, कि ज्योंही परिस्थितियां अनुकूल हों, मुकदन से जापानी सेनाओं को हटा लिया जाय। 'ज्योंही परिस्थितियां अनुकूल हों' ये शब्द प्रस्ताव में जान बूझ कर इसलिये रखे गये थे, ताकि जापान भी इस प्रस्ताव को स्वीकृत कर सके। जापान ने कौंसिल के प्रस्ताव को मान लिया और वह सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। अक्टूबर, १९३१ में जब कौंसिल का फिर अधिवेशन हुआ, तो मञ्चूरिया की समस्या उसके सम्मुख पुनः उपस्थित की गई। अब तक जापान की सेनाएं मुकदन में मौजूद थी। जापान का कहना था, कि मञ्चूरिया में चीन का शासन अत्यन्त निर्बल और विकृत है, वहां डाकुओं की संख्या बहुत बढ़ गई है, और शासनसूत्र अत्यन्त शिथिल हो गया है। इस दशा में जापानी लोगों के जान व माल की रक्षा के लिये यह आवश्यक है,, कि मुकदन में व अन्यत्र जापानी सेनायें कायम रहें। पर राष्ट्रसंघ की कौंसिल इस बात से सहमत नहीं थी। १० अक्तूबर को उसने एक अन्य प्रस्ताव स्वीकृत किया, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया, कि क्वांतुंग सेना को केवल उस प्रदेश तक ही अपने को सीमित रखना चाहिये, जहां जापान की रेलवे लाइन विद्यमान है, मुकदन व अन्य प्रदेशों से यह सेना शीघ्र ही हटा ली जानी चाहिये। जापान ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया, पर राष्ट्रसंघ की कौंसिल में यह प्रस्ताव बहुमत से स्वीकृत हो गया। नवम्बर, १९३१ में राष्ट्रसंघ की कौंसिल के सम्मुख मञ्चूरिया का मामला फिर

पेश हुआ। इस बार भी जापान ने इस बात पर जोर दिया, कि मञ्चूरिया में चीनी शासन की शिथिलता के कारण उसके लिये यह सम्भव नहीं है, कि वह अपनी सेनाओं को वहां से हटा सके। अन्त में १० दिसम्बर, १९३१ को कौंसिल ने यह निश्चय किया, कि मञ्चूरिया की समस्या पर विचार करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की जाय, जो वहां जा कर वस्तुस्थिति का अध्ययन करे और अपनी रिपोर्ट को कौंसिल के सम्मुख उपस्थित करे। इस समय तक जापानी सेनाओं ने चिन्चो के अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण मञ्चूरिया पर कब्जा कर लिया था। जापान ने यह स्वीकृत कर लिया, कि वह इस बीच में चिन्चो पर कब्जा करने का प्रयत्न नहीं करेगा। पर मञ्चूरियन कमीशन की रिपोर्ट तैयार होने से पूर्व ही ३ जनवरी, १९३२ को जापानी सेनाओं ने चिन्चो पर भी अपना कब्जा कर लिया। राष्ट्र-संघ के निर्णयों का जापान की दृष्टि में उतना महत्व नहीं था, जितना कि मञ्चूरिया में अपने साम्राज्यवादी हितों का था। इसलिये वह राष्ट्रसंघ की उपेक्षा कर अपने साम्राज्य-विस्तार में तत्पर था।

मञ्चूरिया के मामले का अनुसन्धान करने के लिये जो कमीशन राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त हुआ था, उसके प्रधान लार्ड लिटन थे। ब्रिटेन के इस प्रतिनिधि के अतिरिक्त मञ्चूरियन कमीशन में फ्रांस, अमेरिका, इटली और जर्मनी के प्रतिनिधियों को स्थान दिया गया था। ४ सितम्बर, १९३२ को पेकिंग में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट पर हस्ताक्षर कर दिये। इस कमीशन ने यह प्रस्तावित किया कि मञ्चूरिया में चीन, जापान और रूस तीनों के विशेष हित विद्यमान हैं, और तीनों के हितों व विशेषाधिकारों की रक्षा की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिये। मञ्चूरिया में एक ऐसी सरकार कायम की जानी चाहिये, जो अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णतया स्वतन्त्र हो, पर साथ ही उसका संगठन इस ढंग का हो, जिससे चीन की राष्ट्रीय प्रभुता अखण्डित व अविभाजित रहे। मञ्चूरियन कमीशन एक इस प्रकार के मध्य मार्ग का अनुसरण करने के पक्ष में था, जिसके कारण न तो मञ्चूरिया चीन का अंगमात्र रह जाता था और न ही वह एक स्वतन्त्र व पृथक् राज्य बन पाता था। पर जापान लिटन कमीशन की रिपोर्ट को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं था। १५ सितम्बर, १९३२ को उसने मञ्चूकुओ राज्य की स्वतन्त्र व पृथक् सत्ता को स्वीकार कर लिया था। इस दशा में उसके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह किसी ऐसे प्रस्ताव को स्वीकार कर सके, जिससे कि मञ्चूकुओ की स्थिति में अन्तर आता हो। बहुत वाद विवाद के बाद फरवरी, १९३३ में राष्ट्रसंघ ने लिटन कमीशन की रिपोर्ट को स्वीकृत कर लिया। उसने अपने सदस्य राज्यों को आदेश दिया, कि वे मञ्चूकुओ राज्य की स्वतन्त्र व पृथक्

सत्ता को स्वीकार न करें और उसके साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी स्थापित न करें। जापान से भी उसने यह अनुरोध किया, कि वह चीन से अपनी सेनाएं हटा ले और उसके खिलाफ अपनी सैन्यशक्ति का उपयोग न करे। चीन के साथ झगड़े की जो भी बातें हैं, उनका निबटारा करने के लिये जापान बातचीत व शान्तिमय उपायों का प्रयोग करे, शक्ति का नहीं। पर जापान किसी भी दशा में इस बात के लिये तैयार नहीं था, कि वह मञ्चूकुओ से अपने प्रभुत्व का परित्याग करे। मार्च, १९३३ में उसने राष्ट्रसंघ को यह सूचना दे दी, कि वह भविष्य में उसका सदस्य रहने को तैयार नहीं है। वह राष्ट्रसंघ से पृथक हो गया और चीन में अपने साम्राज्य का प्रसार करने के लिये तत्पर हुआ। १९१४–१८ के महायुद्ध के बाद पृथ्वी के विविध देशों को एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की अधीनता में लाने का जो प्रयत्न राष्ट्र-संघ के निर्माण द्वारा किया गया था, उसपर यह भारी आघात था। राष्ट्रसंघ की शक्ति इससे बहुत निर्बल हो गई थी। बाद में जर्मनी, और इटली भी साम्राज्य-वाद के मार्ग को ग्रहण करके राष्ट्रसंघ से पृथक हो गये, और यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एकदम शिथिल हो गया।

## (५) मञ्चूकुओ पर जापान का प्रभुत्व

जापान की क्वांतुंग सेना के प्रयत्न से मञ्चूरिया में जो नया पृथक राज्य मञ्चूकुओ नाम से स्थापित हुआ था, वह कहने को स्वतन्त्र था, पर वस्तुतः वह जापान का एक अधीनस्थ व संरक्षित राज्य था। १५ सितम्बर, १९३२ को जब जापानी सरकार ने मञ्चूकुओ की स्वतन्त्र सत्ता को बाकायदा स्वीकार किया था, तभी दोनों राज्यों की सरकारों ने एक शर्तनामा पर हस्ताक्षर कर दिये थे, जिसमें उन सब विशेषाधिकारों का विशद रूप से उल्लेख किया गया था, जो कि जापान ने मञ्चूरिया में चीन के साथ की गई विविध सन्धियों द्वारा प्राप्त किये थे। १९१५ की सन्धि द्वारा लिआओतुंग प्रदेश और दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे के ९९ साल के पट्टे की बात का भी इसमें स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया गया था। मञ्चूकुओ राज्य की सरकार ने यह बात स्वीकृत की थी, कि इस शर्तनामे में जापान के जिन विशेषाधिकारों का परिगणन किया गया है, उनको वह बिना किसी ननु नच के मानेगी और उनको अक्षुण्ण रखेगी। चीन की कुओमिन्तांग सरकार से जापान के झगड़े की जड़ ये विशेषाधिकार ही थे, जिन्हें नष्ट करने के लिये मार्शल चियांग काई शेक की सरकार कटिबद्ध थी। पर अब मञ्चूकुओ के पृथक राज्य के निर्णय के कारण जापान के ये विशेषाधिकार पूर्ण रूप से सुरक्षित हो गये थे। इन विशेषाधिकारों के मञ्चूकुओ द्वारा स्वीकृत कर लेने के बदले में जापान की

सरकार ने यह जिम्मा लिया था, कि वह नवस्थापित मञ्चूकुओ राज्यों में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखेगी और विदेशी आक्रमणों से उसकी रक्षा करेगी।

अपने इन विशेषाधिकारों की रक्षा के लिये जापान के पास मञ्चूकुओ में शक्ति की कमी नहीं थी। वह निम्नलिखित साधनों द्वारा इनकी रक्षा करने में समर्थ था--(१) लिआओतुंग का जो प्रदेश ९९ साल के पट्टे पर जापान के पास था, उसमें उसकी अपनी सरकार थी। इस प्रदेश में पुलीस, न्यायालय आदि सब जापान के अपने थे। (२) दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे के क्षेत्र में भी जापानी सैनिक पुलीस की सत्ता थी, और इस क्षेत्र के शासनप्रबन्ध में भी उसका हाथ था। (३) क्वांतुंग सेना मञ्चूकुओ में विद्यमान थी, और १९३१ के बाद इस सेना की संख्या और शक्ति दोनों में बहुत वृद्धि हो गई थी। (४) दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे के क्षेत्र में जिन अनेकविध व्यवसायों का संचालन रेलवे कम्पनी द्वारा किया जाता था, उसका उल्लेख हम पहले एक अध्याय में कर चुके हैं। इन व्यवसायों का संचालन जापानी लोगों द्वारा होने के कारण रेलवे क्षेत्र में जापान का प्रभुत्व बहुत व्यापक था। (५) जापानी लोगों के लिये एक्स्ट्रा-टैरिटोरिए-लिटी की पद्धति को अब भी स्वीकृत किया जाता था, और इस पद्धति को क्रिया में परिणत करने के लिये मञ्चूकुओ में उपयुक्त साधन विद्यमान थे। जापानी सरकार द्वारा मञ्चूकुओ में सर्वत्र कान्सल नियुक्त किये गये थे, और जापानी लोग अपने को इन्हीं कान्सलों के शासन में मानते थे। (६) मञ्चू-कुओ राज्य की नई राजधानी हि्सन्किंग को बनाया गया था, और यहां जापान की ओर से एक राजदूत की नियुक्ति की गई थी। लिआओतुंग प्रदेश का गवर्नर, क्वांतुंग सेना का सेनापति और राजदूत के पद एक ही व्यक्ति के हाथ में रहते थे। इन तीन महत्त्वपूर्ण पदों के एक ही व्यक्ति के हाथों में रहने के कारण उसकी स्थिति इतनी शक्तिशाली हो जाती थी, कि वह मञ्चू-कुओ राज्य को भलीभांति अपने असर में रख सकता था। क्वांतुंग सेना के प्रधान सेनापति की हैसियत से मञ्चूकुओ में स्थित जापानी राजदूत वहां की सरकार को कठपुतली के समान नचा सकता था।

मञ्चूकुओ की सरकार पर जापान का कितना अधिक प्रभुत्व था, इसे इसी बात से समझा जा सकता है, कि उसकी सिविल सर्विस के उच्च कर्मचारियों में ६० फी सदी जापानी थे। मञ्चूकुओ की सिविल सर्विस के निम्न श्रेणि के कर्मचारियों में भी जापानियों की संख्या (१९३६ में) ५० प्रतिशत के लगभग थी। यह ठीक है, कि ये जापानी कर्मचारी मञ्चूकुओ की नौकरी में थे। ये उसी से वेतन प्राप्त करते थे, और उसी के आदेशों को क्रिया में परिणत करते

थे। सरकार के विविध विभागों के प्रधान मञ्चूकुओ के ही लोग थे, अतः यह समझा जा सकता है, कि सरकारी नौकरी में जो जापानी लोग नियुक्त किये गये हैं, उसका कारण शासन सम्बन्धी उनकी विशेष योग्यता थी। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है, कि सरकार के कर्मचारियों में इतने अधिक जापानियों की सत्ता क्रियात्मक दृष्टि से मञ्चूकुओ में जापान के प्रभुत्व को स्थापित करने में सहायता पहुंचाती थी और ये जापानी कर्मचारी अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए जापान के हितों को अपनी दृष्टि में रखते थे। मञ्चूकुओ राज्य में जो भी महत्त्वपूर्ण सरकारी पद थे, उन सब पर जापानी लोग नियुक्त थे। सेना, पुलीस आदि में तो जापानियों की प्रमुख स्थिति थी ही, साथ ही शिल्प, व्यवसाय, न्याय विभाग आदि के विभागों में भी जापानी आफिसरों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। मञ्चूकुओ की आभ्यन्तर व बाह्य राजनीति के निर्धारण में जापानी लोगों का विशेष हाथ होता था।

मञ्चूकुओ राज्य की पृथक व स्वतन्त्र रूप से स्थापना हो गई थी। पर इस राज्य के साथ जापान के अतिरिक्त अन्य राज्यों का भी सम्बन्ध था। इनके सम्बन्ध में मञ्चूकुओ की सरकार ने मार्च, १९३२ में जिस नीति का निर्धारण किया था, उसके प्रधान तत्त्व निम्नलिखित थे—(१) विदेशी राज्यों के साथ जो सम्बन्ध स्थापित किया जायगा, वह न्याय और शान्ति के सिद्धान्तों पर आश्रित होगा। इस सम्बन्धों को स्थापित करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पूर्ण रूप से अनुसरण किया जायगा। (२) चीन की सरकार ने मञ्चूरिया में अन्य राज्यों के साथ जो विविध सन्धियां की थीं, उन्हें अविकल रूप से माना जायगा और उन सन्धियों के कारण चीनी सरकार ने अपने ऊपर जो जिम्मेवारियां ली थीं, मञ्चूकुओ की सरकार उन सबको स्वीकृत करेगी। (३) मञ्चूरिया में विदेशी राज्यों ने जो अधिकार प्राप्त किये हुए थे, न केवल उन्हें माना जायगा, अपितु साथ ही मञ्चूकुओ की सरकार विदेशी राज्यों के नागरिकों के जान व माल की रक्षा के लिये भी पूरी तरह से जिम्मेवार होगी। (४) विदेशी लोगों को मञ्चूकुओ में आने व बसने की सुविधा दी जायगी व सब जातियों के लोगों के साथ एक समान व न्याययुक्त बरताव किया जायगा। (५) विदेशी राज्यों के साथ व्यापार को प्रोत्साहित किया जायगा। (६) जहां तक आर्थिक जीवन का सम्बन्ध है, विदेशी राज्यों के लोगों को मञ्चूकुओ में सब प्रकार की सुविधाएं दी जावेंगी।

इसमें सन्देह नहीं, कि यदि इस नीति को भलीभांति अनुसरण किया जाता, तो मञ्चूकुओ के सम्बन्ध में किसी भी विदेशी राज्य को शिकायत का मौका न होता। पर वस्तुतः मञ्चूकुओ जापान का संरक्षित व वशवर्ती राज्य था। यह

स्वाभाविक था, कि उसमें अन्य देशों के मुकाबले में जापान को विशेष सुविधाएं प्राप्त हों। फरवरी, १९३५ में मंचूरियन पेट्रोलियम कम्पनी की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य यह था, कि यह विदेशों से क्रूड आयल को मंगावे और उसे साफ करने के लिये व्यवस्था करे। इस कम्पनी की पूंजी ५०,००,००० येन निश्चित की गई। इस पूंजी में से ३०,००,००० येन मञ्चूकुओ की सरकार और दक्षिणी मञ्चूरियन रेल्वे कम्पनी ने लगाये और शेष २०,००,००० येन जापान की चार आयल कम्पनियों ने लगाये। इस दशा में पेट्रोलियम के महत्त्वपूर्ण व्यवसाय को संचालित करने का अधिकार मुख्यतया जापानी लोगों को प्राप्त हो गया। क्योंकि इस कम्पनी का पेट्रोलियम के व्यवसाय पर एकाधिकार स्थापित किया गया था, अतः अन्य देशों की इससे शिकायत होना सर्वथा स्वाभाविक था, विशेषतया उस दशा में जब कि अनेक विदेशी कम्पनियां पहले से मञ्चूरिया में पेट्रोलियम के व्यवसाय में संलग्न थीं। अन्य देशों का कहना था, कि मञ्चूरियन पेट्रोलियम कम्पनी के निर्माण के कारण उन्हें पेट्रोल के कारोबार में पहले के समान सुविधा नहीं रह गई है, और यह बात उस नीति के विरुद्ध है, जिसका प्रतिपादन मञ्चूकुओ सरकार द्वारा किया गया था। पर मञ्चूकुओ और जापान की सरकारें इसका यह उत्तर देती थीं, कि जिन देशों ने मञ्चूकुओ की पृथक व स्वतन्त्र राज्य के रूप में सत्ता को भी स्वीकृत नहीं किया है, उन्हें उससे आर्थिक सुविधाएं प्राप्त करने की आशा रखने का कोई अधिकार नहीं है। इस युक्ति को सर्वथा गलत भी नहीं कहा जा सकता। मञ्चूकुओ की एक पृथक व स्वतन्त्र राज्य के रूप में सत्ता एक यथार्थ बात थी। इसलिये धीरे धीरे अन्य देश उसकी यथार्थ (द फैक्टो) सत्ता को स्वीकृत करने के लिये विवश होते जाते थे। रूस के राज्य-प्रतिनिधि हिसिन्किंग (मञ्चूकुओ की राजधानी) में रहने लगे थे और मञ्चूकुओ का प्रतिनिधि भी साइबीरियन रिपब्लिक (रूसी सोवियत संघ के अन्तर्गत) में नियुक्त कर दिया गया था। अमेरिका के जो कान्सल मञ्चूरिया में १९३१ से पहले नियुक्त थे, उन्हें भी वहां से वापस नहीं बुलाया गया था। चीन, रूस, अमेरिका आदि जिन राज्यों का पूर्वी एशिया के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था, वे मञ्चूकुओ की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। इसीलिये यद्यपि उन्होंने इस नये राज्य की वैधानिक सत्ता को स्वीकार नहीं किया था, तथापि वे इसकी यथार्थ सत्ता को स्वीकृत करने के लिये विवश थे।

धीरे धीरे कुछ देशों ने मञ्चूकुओ की वैधानिक सत्ता को भी स्वीकृत करना प्रारम्भ कर दिया था। सबसे पूर्व मई, १९३४ में व्यापारिक आवश्यकताओं से विवश होकर अल साल्वदोर रिपब्लिक ने मञ्चूकुओ की पृथक व स्वतन्त्र सत्ता

को वैधानिक रूप से स्वीकृत कर लिया था। इसके बाद अन्य कई राज्यों ने भी उनका अनुसरण किया।

मञ्चूकुओ पर जापान का प्रभाव व प्रभुत्व स्पष्ट रूप से विद्यमान था। इस दशा में यह समस्या उत्पन्न होनी अवश्यम्भावी थी, कि उत्तरी मञ्चूरिया में रूस को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, उनके सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की जाय। उत्तरी मञ्चूरिया की पूर्वी चाइनीज रेलवे रूस के प्रभुत्व में थी, उसके निर्माण के लिये रूस ने बहुत अधिक धन का व्यय किया था। इस रेलवे लाइन के क्षेत्र में रूस को अनेक राजनीतिक विशेषाधिकार भी प्राप्त थे। पर १९३२ तक सम्पूर्ण मञ्चूरिया मञ्चूकुओ राज्य की सरकार के अधिकार में आ चुका था। क्यों कि इस राज्य पर जापान का प्रभुत्व था, अतः रूस अपने विशेषाधिकारों की रक्षा तभी कर सकता था, जब कि वह जापान के साथ संघर्ष करने के लिये तैयार हो। पर इस युग में रूस किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में उलझने की स्थिति में नहीं था। वह विविध योजनाओं द्वारा अपने सैनिक व आर्थिक उत्कर्ष के लिये प्रयत्न कर रहा था, और सब देशों के साथ मैत्री व सुलह की नीति का अनुसरण करना चाहता था। इस दशा में रूसी सरकार ने यही उचित समझा, कि पूर्वी चाइनीज रेलवे का विक्रय करके मञ्चूरिया से अपने विशेषाधिकारों का अन्त कर दे। १९३४ में इस मामले का फैसला कर लिया गया। जिन शर्तों पर रूस ने पूर्वी मञ्चूरियन रेलवेसे मञ्चूकुओ सरकार को बेच देना मंजूर किया, वे निम्नलिखित थीं—(१) मञ्चूकुओ सरकार १४,००,००,००० येन इस रेलवे की कीमत रूस को प्रदान करे। (२) जिन रूसी रेलवे कर्मचारियों को पूर्वी मञ्चूरियन रेलवे की नौकरी से पृथक् किया जायगा, उन्हें ३,५०,००,००० येन हर्जाने के रूप में दिया जाय। (३) मञ्चूकुओ सरकार इन रकमों को ठीक समय पर अदा करेगी, जापान इस बात की गारन्टी दे। १७,५०,००,००० येन की भारी रकम को अदा कर सकने का मञ्चूकुओ सरकार के सम्मुख केवल यही उपाय था, कि वह पूर्वी चाइनीज रेलवे को जमानत के तौर पर रख कर यह रकम जापान से कर्ज ले। उसने इसी उपाय का अनुसरण किया, और उत्तरी मंचूरिया की यह रेलवे लाइन रूस के बजाय जापान के हाथ में आ गई। चीन की सरकार इस सौदे के खिलाफ थी, उसने इसका विरोध भी किया। पर उसका विरोध सर्वथा निरर्थक था। २३ मार्च, १९३५ को पूर्वी चाइनीज रेलवे रूस के बजाय जापान के अधिकार में आ गई। मञ्चूकुओ राज्य के किसी प्रदेश पर भी जापान के अतिरिक्त किसी अन्य विदेशी राज्य का कोई विशेषाधिकार नहीं रहा।

मञ्चूकुओ के पृथक् राज्य के स्थापित हो जाने पर जापान ने उसमें किस

प्रकार अपने प्रभाव को स्थापित करना शुरू किया, इस सम्बन्ध में कुछ अन्य बातों का उल्लेख भी आवश्यक है—

(१) जापान के पूंजीपतियों ने बहुत बड़ी मात्रा में मञ्चूकुओ के विविध व्यवसायों में पूंजी लगानी प्रारम्भ की। १९३२ में जो जापानी पूंजी इस राज्य में लगी हुई थी, उसकी मात्रा ९,७२,००,००० येन थी। इसके बाद मञ्चूकुओ में जापानी पूंजी निरन्तर बढ़ती गई। १९३८ में वहां ४३,१०,००,००० येन नई पूंजी लगाई गई। यह पूंजी प्रधानतया रेलवे लाइनों और लोहे व कोयले के व्यवसायों में लगाई गई थी। १९३१ से पहले मञ्चूरिया कृषिप्रधान देश था, उसमें व्यवसायों का विकास अधिक नहीं हुआ था। पर १९३२ से वहां व्यवसायों की बड़ी शीघ्रता से वृद्धि शुरू हुई।

(२) जापान और मञ्चूकुओ में पारस्परिक व्यापार पहले भी विद्यमान था। पर १९३२ तक जापान मञ्चूरिया में जितना तैयार माल बिक्री के लिये भेजता था, उससे कहीं अधिक कच्चा माल उससे क्रय करता था। यही कारण है, कि १९३२ में मञ्चूरिया से जापान को निर्यात होनेवाले माल की मात्रा वहां से आयात होने वाले माल की अपेक्षा २,६०,००,००० येन अधिक थी। पर मञ्चूरिया से चीनी शासन का अन्त कर अपनी संरक्षा में मञ्चूकुओ राज्य की स्थापना में जापान का प्रधान उद्देश्य आर्थिक था। वह इस प्रदेश पर अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित करके उससे अपनी आर्थिक समस्या को हल करना चाहता था। इस उद्देश्य में जापान को सफलता हुई। १९३६ में जापान से मञ्चूकुओ जाने वाले माल की मात्रा वहां से आने वाले माल की अपेक्षा २७,००,००,००० येन अधिक हो गई।

(३) जापान ने यह भी यत्न किया, कि अपनी निरन्तर बढ़ती हुई आबादी के एक भाग को मञ्चूकुओ में आबाद करे। १९३१ में मञ्चूरिया में जितने जापानी लोग आबाद थे, १९३७ में उसकी अपेक्षा दुगने के लगभग जापानी इस देश में बसे हुए थे। १९३५ की जनगणना के अनुसार मञ्चूकुओ में बसे हुए जापानियों की संख्या ५,०१,१५१ थी। जापानी लोगों के अतिरिक्त कोरिया और फार्मूसा के भी बहुत से लोग इस राज्य में आकर आबाद होने लगे थे। कोरिया और फार्मूसा इस समय जापान के अधीन थे, अतः स्वाभाविक रूप से मञ्चूकुओ में वहां के लोगों को बसने के लिये सब प्रकार की सुविधाएं दी जाती थीं। जापानी सरकार ने बाकायदा एक ऐसी योजना का निर्माण किया था, जिसके अनुसार मञ्चूकुओ के विविध प्रदेशों में जापानी लोगों को आबाद किया जाना था। १९३६ के अन्त तक मञ्चूकुओ में पांच जापानी बस्तियां बसाई जा चुकी थीं, जिनमें

निवासियों की संख्या ८,२४५ थी । इन बस्तियों में बसे हुए जापानी कृषि द्वारा अपना निर्वाह करते थे । १९३६ में मञ्चूकुओ में जापानी बस्तियों का श्री-गणेश मात्र किया गया था । जापानी सरकार की योजना यह थी, कि अगले बीस सालों में १०, ००,००० जापानी परिवारों को मञ्चूकुओ के विविध क्षेत्रों में बसा दिया जाय, ताकि जापान की बढ़ती हुई आबादी के कुछ अंश को इस संरक्षित राज्य में आबाद किया जा सके । यदि जापान १९४० में महायुद्ध के चक्कर में न फंस जाता, तो निःसन्देह उसकी यह योजना अविकल रूप से सफल हो सकती ।

जापानी सरकार यह भी अनुभव करती थी, कि मञ्चूकुओ को जापानी लोगों के आबाद होने के लिये उसी दशा में उपयुक्त बनाया जा सकता है, जब कि वहां चीनी लोगों के प्रविष्ट होने में रुकावटें उपस्थित की जावें । यह स्पष्ट है, कि यदि चीनी लोग भी मञ्चूकुओ में निर्बाध रूप से आबाद होते रहते, तो इस राज्य में जापानी लोगों की स्थिति सुरक्षित नहीं समझी जा सकती थी, क्योंकि चीन की सरकार मञ्चूरिया को अपना अंग मानती थी और चीनी लोगों में जापान के प्रति विरोध का भाव बहुत अधिक था । अतः १९३५ में मञ्चूकुओ की सरकार ने अनेक इस प्रकार के कानून बनाये, जिनके कारण चीनी लोगों के लिये यह तो सम्भव रहा, कि वे सामयिक रूप से मजदूरी आदि के लिये मञ्चूकुओ में आ जा सकें, पर उनके लिये इस देश में स्थिर रूप से आबाद हो सकना सम्भव नहीं रह गया ।

पर मञ्चूकुओ में चीनी लोगों की कमी नहीं थी । उसकी आबादी में चीनी लोगों की बहुसंख्या थी । इसलिये मञ्चूकुओ की सरकार ने यह प्रयत्न किया, कि इस नवस्थापित राज्य के सब निवासियों को सम्राट् के प्रति अनुरक्त करके उनमें राष्ट्रीय एकता को उत्पन्न किया जाय । मञ्चूकुओ के लोगों में यह प्रचार किया गया, कि सम्राट् के प्रति भक्ति रखना और सरकारी आज्ञाओं का पालन करना उनका परम कर्त्तव्य है । यह विचार जापान की अपनी परम्परा के अनुकूल था । जापान में सम्राट् को दैवी माना जाता था और जनता उसके प्रति असाधारण श्रद्धा रखती थी । मञ्चूकुओ में भी यह प्रयत्न किया गया, कि वहां निवास करनेवाले विविध जातियों के लोग सम्राट् को अपना अधीश्वर समझें । चीनी लोगों के लिये यह नई बात नहीं थी । १९११ तक वे मञ्चू सम्राटों को अपना स्वामी मानते रहे थे। अतः उनके लिये यह कठिन नहीं था, कि अब भी वे मञ्चूवंश के सम्राट् को अपना अधिपति मानने लगें और उसकी आज्ञापालक प्रजा बन सकें ।

## (६) मञ्चूकुओ राज्य की प्रगति

मञ्चूकुओ राज्य के सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या देश में शान्ति और व्यवस्था को स्थापित करने के सम्बन्ध में थी। जिस समय मञ्चूरिया चीन के अधीन था, वहां व्यवस्थित शासन का अभाव था। इस कारण वहां डाकुओं का बहुत जोर था। डाकुओं के दल के दल देश में लूटमार करते फिरते थे। किसानों व गरीब लोगों की इतनी आमदनी नहीं थी, कि वे शान्ति के साथ अपना जीवन बिता सकें। अतः सर्वसाधारण किसान लोग भी मौका मिलने पर डकैती से बाज नहीं आते थे। विशेषतया जब फसल खराब हो जाती थी या बाढ़ आदि के कारण फसल नष्ट हो जाती थी, तो भूख से पीड़ित लोग डाकाजनी पर उतर आते थे और देहातों में अव्यवस्था उत्पन्न कर देते थे। जब मञ्चूरिया चीन से पृथक् हो गया और जापान की संरक्षा में वहां नई सरकार की स्थापना हुई, तो अव्यवस्था और डाकाजनी की यह प्रवृत्ति और भी अधिक बढ़ गई। बहुत से चीनी लोग जो नई सरकार से असन्तुष्ट थे, गुरीला पद्धति का अनुसरण कर लूटमार पर उतर आये और देश में अव्यवस्था मचाने लगे। चांग ह्सुएह्-लियांग की सेना इस समय भंग कर दी गई थी। उसके बहुत से सिपाही अब बेकार हो गये थे। ये सिपाही सैनिक दृष्टि से सुशिक्षित थे, और अस्त्र शस्त्र भी इनके पास मौजूद थे। ये उन देशभक्तों के साथ मिल गये, जो मञ्चूकुओ सरकार के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर थे। मञ्चूकुओ में प्रधानतया सोयाबीन की खेती होती थी। वहां की सोयाबीन न केवल जापान में अपितु चीन और यूरोप में भी बिकती थी। पर इस समय विदेशों में मञ्चूकुओ की सोयाबीन की मांग बहुत कम हो गई थी। चीन मञ्चूकुओ के साथ व्यापारिक सम्बन्ध नहीं रखना चाहता था। विश्व-व्यापी अर्थसंकट के कारण जर्मनी आदि यूरोपियन देश भी इस समय इस स्थिति में नहीं थे, कि वे मञ्चूकुओ से सोयाबीन को अधिक परिमाण में खरीद सकें। इस दशा का यह परिणाम हुआ, कि मञ्चूकुओ में सोयाबीन की पैदावार में कमी होने लगी। १९३० में वहां ५३,००,००० टन सोयाबीन उत्पन्न हुई थी। १९३४ में उसकी मात्रा घटकर ३३,५०,००० टन रह गई थी। मञ्चूकुओ के किसानों पर इस दशा का क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। बहुत सी जमीन परती पड़ गई थी, और बहुत से किसान बेकार हो गये थे। इस दशा में यदि मञ्चूकुओ में डाकाजनी की प्रवृत्ति में और अधिक वृद्धि हो गई हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

मञ्चूकुओ की सरकार ने डकैती और अव्यवस्था की प्रवृत्ति को नष्ट करने के लिये बहुत सख्त उपायों का प्रयोग किया। देहातों में यह योजना बनाई गई,

कि गावों के चारों ओर मट्टी की ऊंची ऊंची दीवारें बनाई जावें, ताकि डाकू लोग गांवों पर आक्रमण न कर सकें। १९३६ तक २००० से भी अधिक गांवों के चारों ओर दीवारें बनाकर उन्हें छोटे छोटे दुर्गों के रूप में परिणत कर दिया गया था। इस प्रकार सरकार ६०,००,००० के लगभग मनुष्यों की डाकुओं से रक्षा करने में समर्थ हुई थी। साथ ही डाकुओं और देशभक्त गुरीला सैनिकों का दमन करने के लिये क्वांतुंग सेना में बहुत अधिक वृद्धि की गई थी। इस जापानी सेना के दस्ते मञ्चूकुओ में सर्वत्र नियुक्त कर दिये गये थे। शहरों और देहातों में सब जगह पर क्वांतुंग सेना की छावनियां डाल दी गई थीं, और इसमें सन्देह नहीं कि सैन्य-शक्ति का प्रयोग कर जापान की सरकार व उसकी संरक्षित मञ्चूकुओ सरकार देश में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना में बहुत अंश तक समर्थ हुई थी। पर इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि मञ्चूरिया में निवास करनेवाले बहुत से चीनी लोग देशभक्त गुरीला लोगों के साथ सहानुभूति रखते थे, और बहुधा वे उनकी सहायता के लिये भी तत्पर रहते थे। १९३६ के बाद संसार के प्रायः सभी देशों में कीमतें फिर ऊंची उठनी शुरू हो गईं। मन्दी का युग समाप्त होकर एक बार फिर तेजी का समय शुरू हुआ। मञ्चूकुओ भी इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं रहा। उसकी सोयाबीन व अन्य कृषिजन्य पदार्थों की संसार के बाजारों में मांग बढ़ने लगी और आर्थिक संकट के दूर होने पर वहां शान्ति और व्यवस्था के स्थापित होने में बहुत सहायता मिली। १९३६ में अनेक राज्यों ने मञ्चूकुओ के साथ व्यापार को फिर से प्रारम्भ कर दिया। इस दशा में वहां डाकाजनी और अव्यवस्था बहुत कुछ कम हो गई।

मञ्चूकुओ की सरकार ने देश की उन्नति के लिये जिन विविध उपायों का अवलम्बन किया, उनमें से कतिपय का यहां उल्लेख करना आवश्यक है। उसने देश की मुद्रापद्धति का पुनः संगठन किया। इससे पूर्व मञ्चूकुओ में अनेक प्रकार के सिक्के प्रचलित थे। अब युआन नामक नये सिक्के को जारी किया गया, जिसका मूल्य जापान के येन के आधार पर निश्चित किया गया। युआन और येन के मूल्य को एक दूसरे के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। जिस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य के विविध देशों के सिक्कों की कीमत ब्रिटिश पौंड के साथ सम्बद्ध थी, वैसे ही मञ्चूकुओ के युआन को जापानी येन के साथ सम्बद्ध कर दिया गया।

इस समय मञ्चूकुओ में अनेक नई रेलवे लाइनों का भी निर्माण किया गया। १९३२ से १९३६ तक चार साल के अरसे में मञ्चूकुओ की रेलवे लाइनों में ४० प्रतिशत वृद्धि हुई। आर्थिक दृष्टि से जहां ये नई रेलवे लाइनें अत्यन्त उपयोगी थीं, वहां साथ ही इनका सैनिक महत्त्व भी कम नहीं था। मञ्चूकुओ सरकार भली-

भांति समझती थी, कि भविष्य में रूस और चीन के साथ उसका संघर्ष अवश्यम्भावी है। अतः इन रेलवे लाइनों का निर्माण इस ढंग से किया गया था, जिससे युद्ध के समय में इनसे लाभ उठाया जा सके। इन लाइनों का निर्माण जापानी पूंजी द्वारा किया गया था, अतः इनका प्रबन्ध दक्षिणी मञ्चूरियन रेल्वे कम्पनी के सुपुर्द कर दिया गया था, जो कि एक जापानी कम्पनी थी। रूस से जिस पूर्वी चाइनीज रेल्वे लाइन को १४,००,००० येन में क्रय किया गया था, उसका प्रबन्ध भी दक्षिणी मञ्चूरियन रेल्वे कम्पनी के हाथों में दे दिया गया था। इस प्रकार यह विशाल जापानी रेलवे कम्पनी मञ्चूकुओ की सब रेलवे लाइनों का प्रबन्ध करती थी। मञ्चूकुओ की सरकार ने देश में सड़कों के निर्माण पर भी बहुत ध्यान दिया था। देश के सुशासन और डकैती का दमन करने के लिये इन सड़कों का बहुत उपयोग था। हवाई जहाजों की उन्नति के लिये भी मञ्चूकुओ की सरकार ने प्रयत्न किया था और मञ्चूरियन एविएशन कम्पनी नाम से एक नई कम्पनी की स्थापना की गई थी, जिसकी तरफ से देश के प्रायः सभी मुख्य नगरों में हवाई जहाजों की सर्विस चलती थी। इसी प्रकार टैलीफोन व टैलीग्राफ के विस्तार के लिये भी सरकार द्वारा अनेक व्यवस्थाएं की गई थीं। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता, कि चीन से पृथक होकर जापान जैसे उन्नत देश की संरक्षा में मञ्चूकुओ की सरकार ने देश की आर्थिक उन्नति के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये थे।

पर साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि मञ्चूकुओ की सरकार देश की उन्नति की अपेक्षा सैन्यशक्ति को अधिक महत्व देती थी। सरकारी आमदनी का ४० प्रतिशत भाग सेना पर व्यय किया जाता था। इसके मुकाबले में शिक्षा पर खर्च की मात्रा कुल सरकारी खर्च का केवल २.२ प्रतिशत थी। मञ्चूकुओ में उच्च शिक्षा की संस्थाओं की बहुत कमी थी। सरकार ने प्रारम्भिक शिक्षा के लिये बहुत से नये शिक्षणालय खोले थे, पर उसने उच्च शिक्षा की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया था। मञ्चूकुओ के जिन विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करनी होती थी, वे जापान के विश्वविद्यालयों में जाकर भरती होते थे। इससे उनमें जापान की सभ्यता व संस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न होने में सहायता मिलती थी, और वे जापानी रंग में रंग जाते थे। जापानी सरकार की यह बात अभीष्ट भी थी, क्योंकि मञ्चूकुओ के शिक्षितवर्ग को अपने प्रभाव में रखकर ही जापानी लोग मञ्चूकुओ पर अपना प्रभुत्व कायम रख सकते थे।

सोलहवां अध्याय

# चीन में जापान के आधिपत्य का विस्तार

## (१) मंगोलिया और जापान

जापान मञ्चूरिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका था। पर उसकी साम्राज्य प्रसार की भूख मञ्चूरिया पर अपना आधिपत्य स्थापित करके ही संतुष्ट नहीं हो गई। उसने यत्न किया, कि उत्तर-पूर्वी चीन और मंगोलिया में भी अपने प्रभुत्व का प्रसार किया जाय। वस्तुतः जापान सम्पूर्ण चीन को अपने प्रभाव व प्रभुत्व में ले आना चाहता था। वह भलीभांति अनुभव करता था, कि चीन में जिस प्रकार राष्ट्रीय भावना का विकास हो रहा है, और कुओमिन्तांग दल जिस ढंग से चीन में एक सुव्यवस्थित और सुदृढ़ शासन स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील है, उसका यह परिणाम अवश्यम्भावी है, कि वह मञ्चूरिया को फिर अपने अधीन करने का प्रयत्न करे। नवस्थापित मञ्चूकुओ राज्य की दक्षिणी सीमा चीन से लगती थी, और उसकी पश्चिमी सीमा मंगोलिया को छूती थी। मंगोलिया चीन के अधीन था, अतः स्वाभाविक रूप से जापान यह समझता था, कि मञ्चूकुओ राज्य पर अपने आधिपत्य को कायम रखने के लिये यह आवश्यक है, कि मंगोलिया और उत्तरी चीन को भी अपने प्रभाव में लाया जाय। १९३७ में चीन और जापान में बाकायदा युद्ध प्रारम्भ हो गया। पर १९३२ और १९३७ के बीच में भी जापान चीन में अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर था। इस काल में चीन और जापान में युद्ध की घोषणा नहीं हुई थी। उनके राजदूत व अन्य राजप्रतिनिधि भी एक दूसरे राज्य में विद्यमान थे। पर जापान धीरे धीरे चीन को अपने प्रभुत्व में लाने में तत्पर था। १९३२ से १९३७ तक चीन के जिन प्रदेशों में जापान ने अपने प्रभुत्व को विस्तृत किया, वे आभ्यन्तर मंगोलिया और उत्तरी चीन के होपेई, शान्सी, और शान्तुंग प्रान्त थे। इन प्रदेशों में चीन ने किस प्रकार अपने प्रभुत्व का प्रसार किया, इसी विषय पर हम इस अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

**जहोल की विजय**--१९३३ के प्रारम्भ में क्वांतुंग सेना ने शानहैक्वान पर आक्रमण किया। इस आक्रमण का उद्देश्य जहोल प्रान्त को अपने आधिपत्य में

लाने का उपक्रम करना था। मञ्चूरिया के भूतपूर्व सिपहसालार चांग-ह्सुएह-लियांग ने घोषणा की, कि जब तक उसकी सेना का एक भी सैनिक जीवित है शानहैकवान पर जापानी सेना का कब्जा नहीं होने दिया जायगा। पर चीनी सेनाओं के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे क्वांतुंग सेना के सम्मुख ठहर सकतीं। वे परास्त हो गई, और शानहैकवान को जीतकर जापान की सेना ने जहोल पर आक्रमण किया। ३ मार्च, १९३३ को जहोल की राजधानी चेंगतेह पर जापान का कब्जा हो गया। जहोल के प्रदेश को मञ्चूकुओ राज्य में सम्मिलित कर लिया गया और मंचूरिया के समान उस पर भी जापान का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

**मंगोलिया में हस्तक्षेप**—मंगोलिया किस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर दो भागों में विभक्त था, इस पर हम पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। बाह्य मंगोलिया में मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक के नाम से एक समाजवादी राज्य की स्थापना हो चुकी थी, जो रूस के प्रभाव में थी। पर आभ्यन्तर मंगोलिया चीन के अधीन था, यद्यपि उसमें अनेक मंगोल सरदार क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे। पर चीनी लोग इस प्रदेश में तेजी के साथ आबाद हो रहे थे, और वे मंगोलिया की कृषि योग्य भूमि को अपने कब्जे में लाते जाते थे। मंगोल लोगों का मुख्य पेशा पशुपालन था और खेती की तरफ उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया था। पर मंगोलिया में बसनेवाले चीनी लोग प्रधानतया किसान थे और वे धीरे धीरे मंगोल लोगों की जमीन पर अपना अधिकार स्थापित करते जाते थे। कुओमिन्तांग दल की अनेक शाखाएं आभ्यन्तर मंगोलिया की विविध बस्तियों में कायम थीं, और यह राष्ट्रवादी चीनी पार्टी मंगोलियन लोगों को चीनी सभ्यता व संस्कृति के रंग में रंगने में तत्पर थी।

यह स्थिति थी, जब जापानी लोगों ने आभ्यन्तर मंगोलिया में हस्तक्षेप प्रारम्भ किया। जहोल की बहुसंख्यक आबादी मंगोल जाति की थी। वस्तुतः जहोल भी मंगोलिया का ही एक अंग था। जहोल के मञ्चूकुओ राज्य के अन्तर्गत हो जाने के कारण जापान के वशवर्ती इस राज्य में मंगोल लोगों की संख्या बहुत काफी हो गई थी। जहोल में निवास करनेवाले मंगोलों की संख्या २०,००,००० के लगभग थी। इतनी बड़ी संख्या में मंगोल लोग आभ्यन्तर मंगोलिया में भी नहीं थे, यद्यपि उस प्रदेश का क्षेत्रफल जहोल की अपेक्षा कई गुना था। जापानियों ने जहोल को मञ्चूकुओ का एक पृथक प्रान्त बना दिया और इस प्रान्त को अपने शासन में पूरी पूरी स्वतन्त्रता दे दी गई। यह स्वाभाविक था, कि जहोल में बसनेवाले मंगोल लोगों को प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्राप्त कर अधिक प्रसन्नता हो। इसकी स्वतन्त्रता

उन्हें चीनी शासन में भी प्राप्त नहीं थी। जापानी लोग समझते थे, कि जहोल में बसनेवाले अपने बन्धुओं को प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्राप्त करते देखकर आभ्यन्तर मंगोलिया के मंगोल निवासियों में भी यह प्रवृत्ति होगी, कि वे चीन की अधीनता से मुक्त होकर जापान के प्रभाव में आने की बात का स्वागत करें। पर आभ्यन्तर मंगोलिया के विविध सरदारों ने शक्तिशाली व साम्राज्यवादी जापान की प्रभुता में आने की अपेक्षा चीन की निर्बल सरकार के अधीन रहना अधिक हितकर समझा। इस समय चीन की कुओमिन्तांग सरकार ने भी मंगोल लोगों के सम्बन्ध में जापान की नीति का अनुसरण किया। आभ्यन्तर मंगोलिया को प्रान्तीय स्वतन्त्रता दे दी गई और विविध मंगोल सरदारों ने इससे संतोष अनुभव किया। १९३४ में मंगोल लोग तीन पृथक् राज्यों में विभक्त थे--(१) बाह्य मंगोलिया की रिपब्लिक, जो रूस के प्रभाव में थी। (२) आभ्यन्तर मंगोलिया, जो चीन के अधीन था, पर जिसे प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्राप्त थी। (३) हिंसान्गान, यह उस प्रान्त का नाम था, जो मञ्चूकुओ के अन्तर्गत था, और जिसे मञ्चूकुओ राज्य की सरकार द्वारा प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी।

पर जापानी लोग आभ्यन्तर मंगोलिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये उत्सुक थे। जब उन्होंने देखा, कि विविध मंगोल सरदार चीन की अधीनता में प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्राप्त करके संतुष्ट हैं, तो उन्होंने शक्ति के प्रयोग का निश्चय किया। मञ्चूकुओ और मंगोलिया की सीमाएं आपस में साथ लगती थीं। इस सीमा के सम्बन्ध में झगड़ों का उत्पन्न होना कोई कठिन बात नहीं थी। हम पहले लिख चुके हैं, कि आभ्यन्तर मंगोलिया के तीन प्रान्त थे, चहर, सुइयुआन और निन्ह्सिआ। इनमें से चहर का प्रान्त मञ्चूकुओ की पश्चिमी सीमा पर स्थित था। १९३५ के शुरू में सीमा सम्बन्धी एक झगड़े का लाभ उठाकर क्वांतुंग सेना ने चहर प्रान्त के एक प्रदेश पर कब्जा कर लिया। जून, १९३५ में एक अन्य सीमा सम्बन्धी झगड़े को निमित्त बनाकर क्वांतुंग सेना ने चीनी सरकार को निम्नलिखित बातों को मानने के लिये विवश किया--(१) चहर प्रान्त में कुओमिन्तांग दल की जो शाखायें विद्यमान है, उन्हें भंग कर दिया जाय। (२) चहर प्रान्त के पूर्वी प्रदेशों में चीनी लोग भविष्य में न बस सकें। (३) पूर्वी चहर से चीनी सेनाओं को हटा लिया जाय। इन शर्तों को मान लेने का यह परिणाम हुआ, कि चहर प्रान्त पर से चीन का प्रभुत्व बहुत कुछ नष्ट हो गया। इसी समय चहर में क्वांतुंग सेना की एक छावनी स्थापित कर दी गई और यह प्रान्त जापान के प्रभाव में आ गया।

जापानी सरकार केवल चहर प्रान्त को ही अपने प्रभाव व प्रभुत्व में लाकर

संतुष्ट नहीं हुई। उसने आभ्यन्तर मंगोलिया के सरदारों की कौंसिल के सम्मुख यह मांग भी पेश की, कि वह अपने प्रदेश में जापान को हवाई जहाजों के अड्डे के निर्माण करने और एक वायरलैस स्टेशन स्थापित करने की अनुमति प्रदान करे। इसके अतिरिक्त आभ्यन्तर मंगोलिया की सरकार से जापान ने यह भी मांग की, कि वह अपने प्रदेशों में सेना और शासन के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिये जापानी सलाहकारों को नियुक्त करे। मंगोलियन सरकार जापान के सम्मुख असहाय थी। परिणाम यह हुआ, कि उसने जापान की मांगों को स्वीकार कर लिया। यद्यपि आभ्यन्तर मंगोलिया में प्रान्तीय स्वराज्य स्थापित था और वह नाम को चीन की अधीनता में था, पर जुलाई, १९३५ के बाद इस प्रदेश पर जापान का प्रभाव भलीभांति स्थापित हो गया था और क्वांतुंग सेना की अनेक छावनियां इस प्रदेश में कायम कर दी गई थी।

**बाह्य मंगोलिया और जापान**--मञ्चूकुओ राज्य की सीमा उत्तर पश्चिम में बाह्य मंगोलिया के साथ छूती थी। आभ्यन्तर मंगोलिया के चहर प्रान्त के क्वांतुंग सेना के आधिपत्य में आ जाने के बाद बाह्य मंगोलिया के साथ मञ्चूकुओ व जापान का सम्पर्क और भी अधिक व्यापक हो गया था। जापान की इच्छा थी, कि बाह्य मंगोलिया में भी अपने प्रभाव का विस्तार किया जावे। उसकी सीमा पर क्वांतुंग सेना के साथ बहुत संघर्ष चलते रहते थे, इस दशा में जापान ने मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक से यह मांग की, कि (१) बाह्य मंगोलिया में जापानी लोगों को व्यापार करने व बसने की अनुमति दी जाय। (२) बाह्य मंगोलिया की सीमा को नये सिरे से निर्धारित किया जाय, ताकि भविष्य में सीमा सम्बन्धी झगड़ों की संभावना न रहे। पर मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक जापान की इन मांगों को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हुई। उसका कहना था, कि बाह्य मंगोलिया की सीमा पहले ही सुचारु रूप से निर्धारित है, और उस पर पुनः विचार निरर्थक है। साथ ही वह जापानी लोगों को व्यापार आदि के लिये अपने प्रदेश में बसने देने की अनुमति देने को उद्यत नहीं थी। परिणाम यह हुआ, कि बाह्य मंगोलिया की सीमा सम्बन्धी झगड़ों ने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया। ८ फरवरी, १९३६ को एक अच्छी बड़ी जापानी सेना मंगोलिया की सीमा में ६ मील अन्दर घुस आई। यह सेना अस्त्र शस्त्रों से भलीभांति सुसज्जित थी। पर बाह्य मंगोलिया की सेना ने इसका डटकर मुकाबला किया और इसे अपने प्रदेश से बाहर निकालने में सफलता प्राप्त की। जापान के साथ इस संघर्ष में रूस मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक की पीठ पर था। रूस और बाह्य मंगोलिया ने परस्पर सन्धि करके यह निश्चय किया, कि वे किसी अन्य राज्य के साथ युद्ध होने की दशा में एक दूसरे

की सहायता करेंगे। मार्च, १९३६ में मार्शल स्टालिन ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की, कि यदि जापान की सहायता से मञ्चूकुओ राज्य ने मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक के खिलाफ युद्ध किया, तो रूस इसे अपने खिलाफ युद्ध समझेगा और बाह्य मंगोलिया की पूर्ण रूप से सहायता करेगा। इस दशा में जापान के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह आभ्यन्तर मंगोलिया के समान मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक में भी अपने प्रभाव का विस्तार कर सके। इस विषय में उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी।

## (२) उत्तरी चीन और जापान

**चीन के सम्बन्ध में जापान की नीति**—आभ्यन्तर मंगोलिया में अपने प्रभाव व प्रभुत्व को स्थापित कर चुकने के बाद जापान ने उत्तरी चीन में अपने आधिपत्य को कायम करने का प्रयत्न शुरू किया। इससे पूर्व कि हम जापान के इस प्रयत्न का उल्लेख करें, यह उपयोगी होगा कि चीन के सम्बन्ध में जापान की नीति पर प्रकाश डाला जाय। जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका सम्पूर्ण अमेरिकन महाद्वीप के सम्बन्ध में अपनी विशेष उत्तरदायिता समझता था और यूरोप के साम्राज्यवादी देश अमेरिकन महाद्वीप के किसी भी प्रदेश में अपने प्रभुत्व का विस्तार न कर सकें, इस उद्देश्य से उसने मुनरो सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था; इसी प्रकार जापान का विचार था, कि पूर्वी एशिया में उसका विशेष स्थान है और उसका यह कर्त्तव्य है, कि इस क्षेत्र में कोई पाश्चात्य राज्य अपने प्रभुत्व का प्रसार न कर सके। इसी उद्देश्य से १८ एप्रिल, १९३४ को जापानी सरकार के परराष्ट्र विभाग ने एक घोषणा प्रकाशित की थी, जिसकी कतिपय महत्त्वपूर्ण बातें यहाँ उद्धृत करना बहुत उपयोगी है—

"यह कहने की आवश्यकता नहीं है, कि जापान विदेशी राज्यों के साथ सदैव मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को स्थापित व प्रोत्साहित करने के लिये प्रयत्नशील रहता है, पर साथ ही हम समझते हैं, कि यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि पूर्वी एशिया में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखने के लिये हम अपनी उत्तरदायिता पर अकेले भी तत्पर रहें। यह करना हमारा कर्त्तव्य भी है। साथ ही, जापान के अतिरिक्त केवल चीन ही एक ऐसा देश है, जो पूर्वी एशिया में शान्ति स्थापित रखने में जापान का हाथ बटा सकता है।

"यही कारण है, कि जापान समग्र रूप से इस बात के लिये उत्सुक है, कि चीन में एकता कायम हो, उसकी राजकीय सीमाएं अक्षुण्ण रहें, और उसमें व्यवस्था स्थापित रहे। इतिहास से यह बात भलीभांति स्पष्ट है, कि ये बातें तब तक

सम्भव नहीं है, जब तक कि चीन में जागृति न हो, और चीन स्वयं इनके लिये प्रयत्न करे।

"यदि चीन जापान का विरोध करने के लिये किसी अन्य राज्य के प्रभाव का उपयोग करेगा या यदि चीन कोई ऐसा प्रयत्न करेगा जिसका उद्देश्य एक राज्य को दूसरे राज्य के खिलाफ प्रयुक्त करना होगा, तो इसी कारण जापान उसका विरोध करेगा। मंचूरिया और शंघाई में जो घटनायें पिछले समय में हुई हैं, उनके बाद भी यदि विदेशी राज्य इस समय शिल्पविषयक व आर्थिक सहायता के नाम पर कोई कार्य संयुक्त रूप से करेंगे, तो वह सहायता राजनीतिक महत्त्व प्राप्त किये बिना नहीं रह सकेगी। इस प्रकार के कोई भी कार्य, यदि उन्हें सामूहिक रूप से किया जायगा, ऐसी जटिलताओं को उत्पन्न किये बिना नहीं रहेंगे, जिनके कारण चीन का विभाजन करने व इसी प्रकार की अन्य समस्यायें पैदा होंगी। इस प्रकार के कार्यों का प्रभाव जापान व पूर्वी एशिया पर भी बहुत गम्भीर होगा।

"अतः जापान सिद्धान्त रूप से इस प्रकार के कार्यों का विरोध करेगा। पर यदि कोई विदेशी राज्य आर्थिक व व्यापारिक विषयों पर वैयक्तिक रूप से चीन के साथ किसी प्रकार का समझौता करना चाहेगा, तो जापान को उसमें हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं होगी।

"पर यदि कोई विदेशी राज्य चीन को जंगी हवाई जहाज देगा, चीन में हवाई अड्डे बनायेगा, चीन की स्थल व जल सेना को शिक्षा देने व संगठित करने के लिये शिक्षक भेजेगा, या चीन को सैनिक सलाहकार देगा, या राजनीतिक प्रयोजनों को सम्मुख रखकर चीन को कर्ज देगा, तो इससे चीन, जापान और अन्य राज्यों के मैत्री पूर्ण सम्बन्धों में बाधा उपस्थित होगी और इसका परिणाम पूर्वी एशिया में शान्ति और व्यवस्था को क्षति पहुंचाना होगा। जापान इस प्रकार की सब योजनाओं का विरोध करेगा।"

जापान के परराष्ट्र विभाग की इस विज्ञप्ति पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। इसके द्वारा जापान ने अपनी नीति को बिलकुल स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर दिया था। वह इस बात के विरुद्ध था, कि पाश्चात्य देश संयुक्त रूप से किसी भी प्रकार चीन की सहायता के लिये तत्पर हों। १९३४ तक जापान राष्ट्रसंघ से पृथक् हो चुका था। राष्ट्रसंघ में सम्मिलित विविध राज्य इस बात के लिये प्रयत्नशील थे, कि वे चीन की सहायता करें। राष्ट्रसंघ ने चीन को सहायता देने के प्रश्न पर विचार करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की थी, जिसके अध्यक्ष डा० राखमान थे। यह कमीशन अपना कार्य समाप्त कर चुका था, और इसकी रिपोर्ट प्रकाशित होने को थी। इस दशा में जापान अपनी इस नीति को

स्पष्ट कर देना चाहता था, कि वह राष्ट्रसंघ में सम्मिलित राज्यों द्वारा चीन को सम्मिलित रूप से दी जानेवाली सहायता का विरोध करेगा। इस युग में अनेक विदेशी राज्य चीन के सैनिक उत्कर्ष में सहायता देने के लिये तत्पर थे। जनरल फॉन सीक्ट नाम का जर्मनी सेनापति नानकिंग सरकार का प्रधान सैनिक सलाहकार था और चीन ने अमेरिका से बहुत बड़ी संख्या में जंगी हवाई जहाजों का क्रय किया था। अमेरिका की एक कम्पनी चीन में हवाई जहाजों के निर्माण के लिये एक विशाल कारखाना स्थापित करने में भी प्रयत्नशील थी। जर्मनी और अमेरिका के अतिरिक्त इटली भी चीन के सैनिक उत्कर्ष में दिलचस्पी ले रहा था। स्वाभाविक रूप से जापान के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह चीन में इन विदेशी राज्यों के सैनिक प्रभाव को सहन कर सके। उसका खयाल था, कि चीन में किसी अन्य विदेशी राज्य का प्रभाव जापान के अपने हितों के लिये विघातक है। इसीलिये उसने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की थी, कि यदि चीन किसी अन्य राज्य की सहायता से अपने सैनिक उत्कर्ष का प्रयत्न करेगा, तो जापान उसे सहन नहीं कर सकेगा।

जापान के परराष्ट्रमन्त्री श्री हीरोता ने २८ अक्टूबर, १९३५ को चीन के सम्बन्ध में अपनी नीति को और अधिक स्पष्ट करते हुए तीन बातों व मन्तव्यों का निरूपण किया था—(१) चीन और जापान को चाहिये, कि वे परस्पर मैत्री सम्बन्ध में रहें। इसके लिये आवश्यक है, कि चीन की सरकार अब तक जापान के विरुद्ध जिन कार्यों को करती रही है, व जिन उपायों का प्रयोग करती रही है, उन्हें बन्द कर दिया जाय। (२) चीन और जापान की मैत्री के लिये यह अनिवार्य है, कि चीन की सरकार मञ्चूकुओ की पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के रूप में सत्ता को स्वीकार करे, और उससे बाकायदा वैदेशिक सम्बन्ध स्थापित करे। (३) चीन से कम्युनिज्म को नष्ट करने के कार्य में जापान चीनी सरकार की सहायता करने को पूर्ण रूप से उद्यत रहे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि जापान चीन के साथ मैत्री संबंध को स्थापित करने के लिये तो इच्छुक था, पर उसकी मैत्री का अभिप्राय यह था, कि चीन जापान की इच्छा के अनुसार चले, मञ्चूकुओ के रूप में उसकी क्वांतुंग सेना ने जो पृथक् राज्य स्थापित किया था, चीन उसे स्वीकृत कर ले और चीन की सरकार को अपने आर्थिक व सैनिक उत्कर्ष के लिये जिस विदेशी सहायता की आवश्यकता हो, उसे वह जापान से प्राप्त करे। पर इस समय चीन में राष्ट्रीय भावना भलीभाँति विकसित हो चुकी थी। कुओमिन्तांग दल के नेता अनुभव करते थे, कि जापान चीन में अपने साम्राज्यवाद का प्रसार करने को इच्छुक है। इसलिये वे जापान की अपेक्षा

अमेरिका, जर्मनी व इटली की महानता को अधिक महत्त्व देते थे और राष्ट्रसंघ के सहयोग से अपने देश की उन्नति के पक्ष में थे । इसके विपरीत जापान की यह इच्छा थी, कि जिस अर्थों में मञ्चुकुओ उसका वशवर्ती राज्य है, उसी प्रकार धीरे धीरे सम्पूर्ण चीन को अपने प्रभाव व प्रभुत्व में ले आया जाय ।

**उत्तरी चीन में हस्तक्षेप**—आभ्यन्तर मंगोलिया को अपने प्रभुत्व में ले आने के बाद १९३५ की समाप्ति से पूर्व ही जापान ने उत्तरी चीन पर भी अपने आधिपत्य को स्थापित करने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया । इस समय जापान चीन के जिन प्रदेशों को अपने प्रभाव में लाने के लिये तत्पर हुआ, वे निम्नलिखित थे—होपेई ( इसी प्रान्त को हम पहले चिहली नाम से लिखते रहे हैं । कुओमिन्तांग सरकार ने इसका नाम परिवर्तित करके होपेई कर दिया था), शान्सी और शान्तुंग । इन तीन प्रान्तों में से होपेई प्रांत (जिसकी उत्तरी सीमा मञ्चूकुओ राज्य के साथ लगती थी) पर १९३३ में ही जापान अपने प्रभुत्व को स्थापित करने का प्रयत्न शुरू कर चुका था । मञ्चूरिया को अपने प्रभुत्व में लाने के बाद क्वांतुंग सेना ने होपेई की तरफ प्रस्थान किया था और २५ मई, १९३३ को इस प्रान्त के सम्बन्ध में निम्नलिखित समझौता करने के लिये चीनी सरकार को विवश किया था—

( १ ) होपेई प्रान्त के उत्तरी भाग में चीन अपनी सेनायें न रख सके ।

( २ ) जापान को यह अधिकार हो, कि वह अपने हवाई जहाजों द्वारा इस बात का निरीक्षण कर सके, कि चीन की सेनायें उत्तरी होपेई में विद्यमान तो नहीं हैं ।

( ३ ) जब जापान को यह भरोसा हो जाय, कि उत्तरी होपेई को चीनी सेनाओं ने खाली कर दिया है, तो वह स्वेच्छापूर्वक अपनी सेनाओं को चीन की विशाल दीवार के दक्षिणी प्रदेश से हटा ले ।

( ४ ) उत्तरी होपेई में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने का कार्य चीन की पुलीस के हाथों में रहे, पर उस पुलीस में ऐसे व्यक्ति न हों, जो जापान के विरोधी हों ।

चीन और जापान का यह समझौता इतिहास में तन्गकू समझौते के नाम से प्रसिद्ध है । यह समझौता बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्यों कि इसके द्वारा उत्तरी चीन में जापान के प्रभाव व प्रभुत्व का सूत्रपात हुआ था । इसके अनुसार चीन के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह तीन्त्सिन और पेकिंग के उत्तर में अपनी सेनाओं को रख सके । यद्यपि जापान ने भी इस समझौते के अनुसार उत्तरी होपेई के इस प्रदेश से अपनी सेनाओं को वापस लौटा लेने की बात को स्वीकार किया था, पर

बोक्सर युद्ध के बाद जापान और चीन की जो सन्धि हुई थी, उसके अनुसार जापान को यह अधिकार था, कि वह पेकिंग और तीन्त्सिन में अपनी सेनायें रख सके और तन्गकू समझौते द्वारा उसने अपने इस अधिकार का परित्याग नहीं कर दिया था। इसीलिये तन्गकू समझौते के बाद भी जापान की सेनायें पेकिंग और तीन्त्सिन के क्षेत्र में कायम रहीं और इन सेनाओं की सत्ता के कारण उसके लिये यह सर्वथा सुगम था, कि इस क्षेत्र में वह अपने प्रभाव में निरन्तर वृद्धि करता रह सके। जुलाई, १९३३ में जापान ने चीन को इस बात के लिये विवश किया, कि उत्तरी होपेई में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिये जो पुलीस संगठित है, उसमें उन लोगों को भरती किया जाय, जो कि जापान के समर्थक हैं। १९३३ में तन्गकू समझौते से पूर्व जब क्वांतुग सेना ने होपेई पर आक्रमण किया था, तो कतिपय चीनी सैनिकों ने इस आक्रमण में जापान की सहायता की थी। अब जापान ने चीन की सरकार को इस बात के लिये विवश किया, कि इन देशद्रोही सैनिकों को उत्तरी होपेई की पुलीस में जगह दी जाय। इसका परिणाम यह हुआ, कि इस प्रदेश की पुलीस में उन लोगों का प्राधान्य हो गया, जो चीनी सरकार के विरोधी और जापान के पक्षपाती थे। जुलाई, १९३५ में इस प्रदेश के सम्बन्ध में जापान ने चीनी सरकार के साथ एक अन्य समझौता किया, जो हो-उमेत्सू समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते की मुख्य शर्ते निम्नलिखित थीं—(१) जो राजकर्मचारी जापान के विरोधी हैं, उन्हें अपने पदों से पृथक् कर दिया जाय। (२) इस प्रदेश में कुओमिन्तांग दल की शाखाओं को भंग कर दिया जाय। (३) जापान विरोधी जो भी कार्यवाही व प्रचार आदि इस प्रदेश में हो रहे हैं, उनको बन्द किया जाय।

हो-उमेत्सू समझौते का यह परिणाम हुआ, कि होपेई प्रान्त के उत्तर के पेकिंग और तीन्त्सिन के प्रदेश में जापान का प्रभुत्व व प्रभाव भलीभांति स्थापित हो गया। यद्यपि यह प्रदेश अब भी चीन का एक अंग था, और नानकिंग सरकार का शासन भी वहां विद्यमान था, पर क्रियात्मक दृष्टि से यह प्रदेश पूर्ण रूप से जापान के आधिपत्य में आ गया था। दिसम्बर, १९३५ में जापान ने इस प्रदेश को चीन से पृथक् करने के लिये और कदम बढ़ाया। उसने आन्दोलन शुरू किया, कि उत्तरी चीन के प्रदेश नानकिंग सरकार की अधीनता से मुक्त होकर अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिये उत्सुक हैं। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ, कि १९३५ का अन्त होने से पूर्व ही उत्तरी होपेई का शासन करने के लिये एक 'स्वतन्त्र कौंसिल' की स्थापना हो गई। यह कौंसिल पूर्ण रूप से पेकिंग और

तीन्त्सिन में स्थित जापानी सेना के प्रभाव में थी, और उसी के इशारे पर अपने प्रदेश का शासन कार्य संचालित करती थी। उत्तरी होपेई की स्वतन्त्र कौंसिल ने जापानी सरकार के आदेशानुसार यह व्यवस्था की, कि उसके क्षेत्र में आनेवाले जापानी माल पर तट-कर की मात्रा कम कर दी जाय। इस व्यवस्था के अनुसार होपेई में विदेशी माल पर जो कर लगता था, जापान के लिये उसकी दर को घटाकर २५ फी सदी कर दिया गया। तट कर के सम्बन्ध में यह नीति जहां जापान के लिये अत्यन्त हितकर थी, वहां अन्य विदेशी राज्यों को इससे भारी नुकसान था। अब उनके लिये यह सम्भव नहीं रह गया था, कि वे जापान के मुकाबले में अपने माल को उत्तरी चीन के इस प्रदेश में बेच सकें। साथ ही चीनी सरकार की आमदनी पर भी इसका असर बहुत बुरा होता था। इतना ही नहीं, जापान के व्यापारी रियायती-कर देकर अपने माल को होपेई में ले जाते थे और और वहां से उसे उत्तरी चीन के अन्य प्रदेशों में पहुंचा देते थे। क्योंकि होपेई की सीमा अन्य प्रान्तों के साथ मिली हुई थी, अतः जापानी व्यापारियों को उनमें अपने माल को पहुंचाने में कोई भी कठिनाई नहीं होती थी। इसका परिणाम यह हुआ, कि उत्तरी चीन के विविध प्रान्तों के बाजार सस्ते जापानी माल से भरने लग गये। अन्य विदेशी राज्यों के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वे जापान के मुकाबले में अपने माल को उत्तरी चीन में बेच सकें। इस दशा से न केवल चीन की हानि थी, अपितु ब्रिटेन और अमेरिका आदि को भी बहुत नुकसान उठाना पड़ रहा था। अमेरिका ने जापान की सरकार से इस मामले में शिकायत की और कहा कि जापान के साथ होपेई में रियायती कर की नीति का अनुसरण करना अत्यन्त अनुचित है। चीन में व्यापार के लिये सब देशों को समान अवसर रहेगा, इस बात को जापान स्वीकृत कर चुका था। रियायती कर के कारण इसमें रुकावट उत्पन्न होती थी। पर जापान ने अमेरिका की शिकायत पर कोई ध्यान नहीं दिया। अब उसने यह मांग पेश की, कि होपेई के समान चीन में अन्यत्र भी जापानी माल पर २५ प्रतिशत तट-कर लगना चाहिये।

होपेई को अपने प्रभाव में ले आने से जापान को यह भी अवसर मिला, कि वह चीन में अफीम व उससे निर्मित अन्य नशीली वस्तुओं का प्रचार करे। चीनी लोगों को अफीम का सेवन करने की आदत थी, और इस आदत के लिये मुख्य उत्तरदायित्व ब्रिटिश लोगों के ऊपर थी। ब्रिटिश लोगों ने अपनी आर्थिक आमदनी की वृद्धि के उद्देश्य से चीन में अफीम का प्रचार किया था और इसी कारण चीन के अफीम युद्ध का प्रादुर्भाव हुआ था। इस युद्ध पर हम इस ग्रन्थ में पहले प्रकाश डाल चुके हैं। चीन की सरकार इस बात के लिये प्रयत्नशील थी, कि अपने देश में

अफीम के प्रचार को कम किया जाय। इस सम्बन्ध में उसे आंशिक रूप से सफलता भी प्राप्त हुई थी। पर मन्चूरिया और जहोल के प्रदेशों पर जापान का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के बाद अफीम के उत्पादन और उपयोग में असाधारण रूप से वृद्धि होने लगी। अफीम के व्यापार में आर्थिक लाभ बहुत अधिक था। जापान ने इसे खूब प्रोत्साहित किया। जहोल का प्रदेश अफीम की खेती का बहुत बड़ा केन्द्र था। यहाँ उत्पन्न हुई अफीम न केवल उत्तरी चीन में अपितु अन्यत्र भी बहुत बड़ी मात्रा में भेजी जाती थी। यह व्यापार मुख्यतया कोरियन लोगों के हाथों में था। मञ्चूकुओ में उत्पन्न हुई अफीम को कोरियन लोग चीन में सर्वत्र ले जाते थे और उसकी बिक्री से खूब धन कमाते थे। अफीम से बननेवाली विविध नशीली वस्तुओं को तैयार करने के कारखाने जापानी लोगों द्वारा स्थापित थे। चीन की सरकार यदि कोरियन व्यापारियों को अफीम बेचते हुए पकड़ती थी, तो वह स्वयं उन्हें दण्ड नहीं दे सकती थी। कोरियन लोग जापान की प्रजा थे और एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का अभी तक भी चीन में पूर्णतया अन्त नहीं हुआ था। अतः चीन के अफीम कानून को तोड़ने पर कोरियन व्यापारियों पर जापानी अदालतों में मुकदमा चलता था और वहाँ उन्हें इतनी कम सजा मिलती थी, कि वे उसकी जरा भी परवाह नहीं करते थे। जब उत्तरी होपेई भी जापान के प्रभुत्व में आ गया, तब तो अफीम के इस व्यापार में और भी अधिक वृद्धि हुई। जापान की सरकार ने स्वयं अपने देश में तो अफीम व उससे निर्मित नशीली वस्तुओं के प्रयोग को राजशक्ति द्वारा बन्द कर दिया था, पर जापानी लोग चीन में इन वस्तुओं के प्रचार के लिये प्रयत्नशील थे, क्योंकि इनसे उन्हें भारी आर्थिक लाभ था। अफीम के अतिरिक्त कोकीन का भी वे चीन में प्रचार कर रहे थे।

जापान की सरकार केवल उत्तरी होपेई को ही अपने प्रभाव व प्रभुत्व में लाकर संतुष्ट नहीं हुई। वह चाहती थी, कि सम्पूर्ण होपेई, शान्सी और शांतुंग प्रान्तों को भी अपने आधिपत्य में ले आये। पर १९३७ तक उसने इसके लिये विशेष प्रयत्न नहीं किया। इसके दो कारण थे--(१) उत्तरी चीन के इन प्रान्तों की जनता पूर्ण रूप से चीनी थी। मंचूरिया, जहोल और मंगोलिया के समान इन प्रदेशों की जनता ऐसी नहीं थी, जिसे चीनी लोगों से भिन्न कहा जा सके। इन प्रान्तों के निवासी चीनी लोगों में राष्ट्रीयता की भावना भलीभाँति विकसित हो चुकी और कुओमिन्तांग दल का उनपर बहुत अधिक प्रभाव था। इस दशा में जापान के लिये यह सम्भव नहीं था, कि उन्हें सुगमता से अपने प्रभाव में ला सके। सैन्यशक्ति के प्रयोग द्वारा उन्हें अपने वश में लाया जा सकता था, पर सैन्यशक्ति के प्रयोग

का परिणाम चीन के साथ बाकायदा युद्ध होना, जिसके लिये अभी जापान तैयार नहीं था। (२) चीन के इन प्रदेशों में अन्य विदेशी राज्यों ने भी अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए थे। चीन के साथ विविध समयों में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों ने जो सन्धियां की थी, उनका उल्लेख हम इस इतिहास में पहले कर चुके हैं। इन सन्धियों के कारण इन प्रदेशों में इन राज्यों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। इस दशा में यदि जापान इन प्रदेशों में अपने प्रभुत्व को विस्तृत करने का प्रयत्न करता, तो उसे इन राज्यों के साथ भी संघर्ष में आना पड़ता। जापान के लिये यह सुगम नहीं था, कि वह विविध पाश्चात्य देशों के आर्थिक हितों व विशेषाधिकारों की सर्वथा उपेक्षा कर सकता। अतः वह संभलकर कदम बढ़ाना चाहता था।

चीन के लोग अपने देश में जापान के बढ़ते हुए प्रभुत्व से बहुत चिन्तित थे। १९३५ में चीन के नवयुवकों और विद्यार्थियों ने पेकिंग में एक सभा की स्थापना की, जिसका उद्देश्य चीन पर बढ़ते हुए जापानी प्रभाव का विरोध करना था। इसी प्रकार की सभायें चीन में अन्यत्र भी स्थापित हुई। चीनी सरकार ने भी इस समय जापान की इस नीति का विरोध किया, कि पूर्वी एशिया में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखने की उत्तरदायिता केवल उसकी ही है। चीनी सरकार राष्ट्रसंघ पर बहुत विश्वास रखती थी और उसका खयाल था, कि इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सहायता से वह जापान की शक्ति का मुकाबला कर सकती है। पर राष्ट्रसंघ इस समय निरन्तर अशक्त होता जाता था। अमेरिका पहले ही उससे पृथक् हो चुका था। बाद में जापान, जर्मनी और इटली भी उससे पृथक् हो गये थे। चीनी सरकार ने अपनी रक्षा के लिये एक ऐसी संस्था पर भरोसा किया था, जो स्वयं निरन्तर अशक्त होती जाती थी। इस समय जापान, जर्मनी और इटली तीन देश ऐसे थे, जो राष्ट्रसंघ की सर्वथा उपेक्षा कर शक्ति प्रयोग द्वारा अपने उत्कर्ष में तत्पर थे। १९३७ में जापान ने चीन में अपने प्रभुत्व की स्थापना के लिये पुनः प्रयत्न प्रारम्भ किया, जिसके कारण चीन-जापान के युद्ध का प्रारम्भ हुआ। इस युद्ध पर हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

सतरहवां अध्याय

# चीन और जापान का युद्ध

## (१) १९३७ में चीन की दशा

जुलाई, १९३७ में चीन और जापान का दूसरा युद्ध शुरू हुआ। जापान जिस ढंग से चीन में अपने साम्राज्य का प्रसार करने के लिये प्रयत्नशील था, उसका यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि इन दोनों देशों में बाकायदा युद्ध प्रारम्भ हो। जापान मञ्चूरिया और जहोल के प्रदेशों को जीतकर उनमें मञ्चूकुओ राज्य की स्थापना कर चुका था। यह राज्य पूर्णतया जापान का वशवर्ती था। होपेई प्रान्त के उत्तरी भागमें भी जापान का अधिपत्य स्थापित था और सम्पूर्ण होपेई, शान्सी और शांतुंग प्रान्तों मे जापान की साम्राज्यवादी नीति निरंतर जोर पकड़ती जाती थी। इस दशा में चीन और जापान के युद्ध को देर तक स्थगित नहीं किया जा सकता था। १९३९ में जब यूरोप में बीसवीं सदी के दूसरे महायुद्ध का श्रीगणेश हुआ, तो पूर्वी एशिया में चीन-जापान का यह युद्ध अभी जारी था। महायुद्ध में जापान ने जर्मनी और इटली की फासिस्ट शक्तियों का साथ दिया और चीन ने ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका का। इस दशा में चीन जापान का यह युद्ध १९३९-४५ के महायुद्ध का ही एक अंग बन गया। पर इससे पूर्व कि हम १९३७ में प्रारम्भ हुए चीन-जापान युद्ध पर प्रकाश डालें, यह आवश्यक है कि इस युद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व चीन की राजनीतिक दशा क्या थी, इसको स्पष्ट किया जाय। चीन में मञ्चू शासन का अन्त होकर किस प्रकार रिपब्लिक की स्थापना हुई और बाद में कुओमिन्तांग दल ने किस प्रकार नानकिंग को राजधानी बनाकर देश में एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की स्थापना का उद्योग किया, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। पर नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार का शासन सम्पूर्ण चीन में विद्यमान नहीं था। यद्यपि वह चीन की सबसे प्रबल सरकार थी, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसी को स्वीकार किया जाता था और राष्ट्रसंघ में उसी के प्रतिनिधि चीन का प्रतिनिधित्व करते थे, पर चीन के विविध प्रान्तों में अन्य भी अनेक सरकारों की सत्ता थी, जो या तो नानकिंग के प्रभुत्व को स्वीकार ही नहीं करती

थीं, और या कुओमिन्तांग सरकार के अधिपति चियांग काई शेक के एकाधिपत्य के विरुद्ध थीं। इस प्रकरण में हम चीन की इसी राजनीतिक दशा पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

**चीन की विविध राजनीतिक शक्तियां**—१९३३ में चीन की प्रधान राजनीतिक शक्तियां निम्नलिखित थीं—(१) नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार—इसका अधिपति महासेनापति (जनरलीसमो) चियांग काई शेक था। यह चीन की प्रधान सरकार थी और चीन के बड़े भाग पर इसका आधिपत्य था। (२) कैन्टन की वामपक्षी सरकार—यह भी कुओमिन्तांग दल की थी, पर डा० सन यात सेन द्वारा स्थापित कुओमिन्तांग दल की कार्यनीति के सम्बन्ध में इसके नेताओं का चियांग काई शेक के साथ मतभेद था। इसके प्रमुख नेता वांग चिंग वेई और चेन कुंग-पो थे। (३) कम्युनिस्ट सरकार-कियांगसी, आन्हुई और फूकिएन प्रान्तों के अनेक प्रदेशों पर इस सरकार का अधिकार था। कम्युनिस्ट लोग कुओमिन्तांग दल की सरकार को मानने के लिये तैयार नहीं थे, और सम्पूर्ण चीन में समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार शासन व समाज संबंधी व्यवस्था स्थापित करने के पक्षपाती थे। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का प्रधान नेता माओ त्सेतुंग था। (४) उत्तरी चीन में पहले अनेक ऐसे सिपहसालारों की सत्ता थी, जो नाम को चीन की केन्द्रीय सरकार की अधीनता को स्वीकृत करते हुए भी क्रियात्मक दृष्टि से अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे। इस प्रकार के सिपहसालारों में चांग ह्सुएह्-लियांग सर्वप्रधान था। इसका उल्लेख हम पहले अनेक बार इस इतिहास में कर चुके हैं। पर मंचूरिया और जहोल में जापान का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के कारण इन उत्तरी सिपहसालारों की शक्ति कम हो गई थी और ये नानकिंग सरकार के वशवर्ती हो गये थे।

१९३३ में चीन में ये विविध राजनीतिक शक्तियां विद्यमान थीं। पर कुओमिन्तांग दल की सरकार नानकिंग में इतने सुव्यवस्थित रूप से स्थापित हो चुकी थी, कि उसके लिये चीन की अन्य राजनीतिक शक्तियों को अपने वश में ला सकना बहुत कठिन नहीं रह गया था। चियांग काई शेक का कुओमिन्तांग दल राष्ट्रीय एकता को बहुत महत्त्व देता था। उसकी दृष्टि में लोकतन्त्रवाद का उतना महत्त्व नहीं था, जितना की चीन की राष्ट्रीय एकता व राष्ट्रीय उन्नति का था। इसीलिये कुओमिन्तांग सरकार चीन में राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील थी। इस सम्बन्ध में १९३३ से १९३६ तक जो यत्न उसने किया, उसका उल्लेख करना आवश्यक है।

**कैन्टन की वामपक्षी सरकार**—चीन के दक्षिणी भाग में क्वांटुंग और क्वांगसी

प्रान्तों में कुओमिन्तांग दल के वामपक्षी नेताओं ने एक पृथक् सरकार की स्थापना की हुई थी, जिसकी राजधानी कैन्टन थी। कैन्टन की यह सरकार कम्युनिस्ट नहीं थी, पर इसके नेता चियांग काई शेक की दक्षिणपक्षी प्रवृत्तियों के विरोधी थे। इन नेताओं का विचार था, कि चियांग काई शेक डा० सन यात सेन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का भलीभांति अनुसरण नहीं कर रहा है। कुओमिन्तांग दल की नीति में इस प्रकार के परिवर्तन आवश्यक हैं, जिनका उद्देश्य न केवल चीन की राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि हो, अपितु साथ ही देश में लोकतन्त्र शासन का विकास व सर्वसाधारण जनता की आर्थिक उन्नति भी हो। क्वांगतुंग और क्वांग्सी प्रान्तों की सेनाओं का सहयोग कैन्टन सरकार को प्राप्त था। क्वांगतुंग प्रान्त के सिपहसालार चेन ची तांग की सैन्यशक्ति इस सरकार के साथ थी। कैन्टन सरकार का संचालन करने के लिये एक पृथक् राजनीतिक कौंसिल की सत्ता थी, जिसके प्रधान नेता कुओमिन्तांग दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के भी सदस्य थे। वे प्रायः कुओमिन्तांग दल की इस केन्द्रीय समिति के अधिवेशनों में सम्मिलित भी होते थे और चियांग काई शेक के साथ अपने विरोध को प्रकट करने में संकोच नहीं करते थे। १९३१ में जब जापान ने मंचूरिया पर अपने प्रभुत्व का प्रसार शुरू किया, तो नानकिंग और कैन्टन की सरकारों (जिनके नेता कुओमिन्तांग दल के सदस्य थे) ने परस्पर मिलकर समझौता कर लिया, और नानकिंग की सरकार का संचालन तीन व्यक्तियों की एक समिति के सुपुर्द कर दिया गया, जिसके सदस्य चियांग काई शेक, वांग चिंग वेई और हू हान मिन थे। इनमें से वांग चिंग वेई कैन्टन की वामपक्षी सरकार का प्रधान नेता था। पर कुओमिन्तांग दल के वाम और दक्षिण पक्षों का यह सहयोग देर तक कायम नहीं रहा। शीघ्र ही उनमें फूट पड़ गई और वामपक्षी लोगों ने वांग चिंग वेई के नेतृत्व में कैन्टन में अपनी पृथक् सरकार का पुनः संगठन कर लिया। पर कैन्टन की यह सरकार नानकिंग की केन्द्रीय सरकार के आधिपत्य को स्वीकृत करती थी और इसके नेता कुओमिन्तांग दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के अधिवेशन में सम्मिलित होकर यह यत्न भी करते रहते थे, कि चियांग काई शेक के प्रभुत्व के विरुद्ध आवाज उठाते रहें। इस प्रकार कैन्टन की सरकार यद्यपि क्रियात्मक दृष्टि से अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र थी, तथापि नानकिंग की केन्द्रीय सरकार के साथ उसका सम्बन्ध कायम था।

नानकिंग और कैन्टन की कुओमिन्तांग सरकारें जो आपस में मिलकर एक नहीं हो पाती थीं, उसका प्रधान कारण चियांग काई शेक का व्यक्तित्व था। कुओमिन्तांग दल में इस महासेनापति की शक्ति निरन्तर बढ़ती जाती थी। उसका

न केवल नानकिंग सरकार पर एकाधिपत्य था, अपितु साथ ही कुओमिन्तांग दल में भी उसकी स्थिति अद्वितीय थी । दल के अन्य नेताओं के लिये उसका विरोध कर सकना कठिन था, वह स्वयं उस एजेण्डा को तय करता था, जिस पर दल की कार्यकारिणी समिति ने विचार करना होता था, दल के विविध प्रस्ताव भी उसकी इच्छानुसार ही स्वीकृत होते थे । चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग दल में प्रायः वही स्थिति थी, जो कि जर्मनी के नाजी दल में हिटलर की या इटली के फैसिस्ट दल में मुसोलिनी की थी । यही कारण है, कि कैन्टन के वामपक्षी नेताओं की कुओमिन्तांग दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति में व दल की राष्ट्रीय महासभा में कोई भी सुनवाई नहीं होती थी । कैन्टन के वांग चिंग वाई आदि वामपक्षी नेताओं को यह निरर्थक प्रतीत होता था, कि वे दल की विविध सभा समितियों में उपस्थित हों । इसीलिये १९३३ के बाद कुओमिन्तांग दल की राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन निरन्तर स्थगित होते गये और दल पर चियांग काई शेक का एकाधिपत्य स्थापित हो गया ।

कैन्टन सरकार के नेताओं को चियांग काई शेक से एक अन्य शिकायत यह थी, कि उसने उत्तरी चीन में जापान के बढ़ते हुए प्रभुत्व को नष्ट करने के लिये समुचित उपायों का प्रयोग नहीं किया था । जिस प्रकार जापान ने मंचूरिया, जहोल और होपेई में अपने आधिपत्य को कायम कर लिया था, उसे कैन्टन के वामपक्षी नेता अत्यन्त चिन्ता की दृष्टि से देखते थे । उनका ख्याल था, कि यदि जापान के प्रभुत्व के विरुद्ध जनता में आन्दोलन किया जाय, और चियांग काई शेक ने इस सम्बन्ध में जिस नीति का अनुसरण किया हुआ है, उसका विरोध किया जाय, तो कुओमिन्तांग दल पर महासेनापति का जो अतुल्य प्रभाव है, उसे आघात पहुंचाया जा सकता है । कैन्टन की सरकार ने चीन में जापान के बढ़ते हुए प्रभुत्व के विरुद्ध न केवल जनता में आन्दोलन ही किया, अपितु १९३६ के प्रारम्भ में अपनी सेनाओं को भी जापान का मुकाबला करने के लिये तैयार किया । क्वांगतुंग और क्वांग्सी की सेनाओं ने जापान के विरुद्ध लड़ाई करने के लिये उत्तर की तरफ प्रस्थान किया और नानकिंग सरकार की सेनाओं को भी अपने इस प्रयत्न में सहयोग देने के लिये निमन्त्रित किया । पर चियांग काई शेक चीन की राष्ट्रीय एकता को अधिक महत्त्व देता था । उसकी दृष्टि में जापान के बढ़ते हुए प्रभुत्व को रोकने की अपेक्षा भी कैन्टन सरकार के इस स्वच्छन्द आचरण का प्रतिरोध करना अधिक आवश्यक था । परिणाम यह हुआ, कि उसने क्वांगतुंग और क्वांग्सी की सेनाओं का मुकाबला किया । ये सेनाएं परास्त हो गईं । जापान की शक्ति को नष्ट करने के लिये इन सेनाओं ने उत्तर की ओर प्रस्थान करने का जो उद्योग किया था, वह

निष्फल हो गया। चियांग काई शेक कैन्टन की सेनाओं को परास्त करके ही संतुष्ट नहीं हुआ, उसकी सेनाओं ने क्वांग्तुंग पर भी आक्रमण किया और उसे अपने अधीन कर लिया। चियांग काई शेक स्वयं कैन्टन आया और उसने वहां की सरकार का पुन: संगठन किया। क्वांग्तुंग के शासन सूत्र का संचालन करने के लिये ऐसे सैनिक व अन्य राजकर्मचारियों को नियत किया गया, जो चियांग काई शेक के पक्षपाती थे। सितम्बर, १९३६ में चियांग काई शेक ने क्वांग्सी के सेनापतियों के साथ भी समझौता कर लिया। इस प्रान्त को शासन के सम्बन्ध में बहुत कुछ स्वतन्त्र रखा गया, पर इसमें सन्देह नहीं कि १९३६ के अन्त तक कैन्टन सरकार अविकल रूप से नानकिंग सरकार के अधीन हो गई थी। क्वांग्तुंग प्रान्त (जिसकी राजधानी कैन्टन थी) में ऐसी सरकार की स्थापना कर दी गई थी, जो पूर्ण रूप से चियांग काई शेक की वशवर्ती थी और क्वांग्सी प्रान्त की सरकार भी नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार की अधीनता को मानने लगी थी।

इस प्रकार १९३६ तक दक्षिणी चीन को अपना वशवर्ती बनाने में चियांग-काई शेक को असाधारण रूप से सफलता प्राप्त हो गई थी। वह चीन की जिस राष्ट्रीय एकता के लिये प्रयत्नशील था, उसकी स्थापना में इससे बहुत अधिक सहायता मिली थी।

**कम्युनिस्ट सरकार के साथ संघर्ष**—कैन्टन की सरकार कुओमिन्तांग दल के वामपक्ष की थी, अत: नानकिंग सरकार के साथ उसका सम्बन्ध विद्यमान था। पर चीन में चियांग काई शेक की सबसे प्रबल विरोधी कम्युनिस्ट सरकार थी, जो किसी भी प्रकार चियांग काई शेक के साथ समझौता करने को तैयार नहीं थी। १९२७ में जब कम्युनिस्ट लोग कुओमिन्तांग दल से पृथक् हो गये थे, तो उन्होंने चीन के अनेक प्रदेशों में अपने प्रभुत्व को स्थापित कर लिया था। १९३१ में उनकी शक्ति का प्रधान केन्द्र कियांगसी प्रान्त था। यह प्रान्त क्वांग्तुंग प्रान्त के उत्तर में स्थित है। इसमें कम्युनिस्ट लोगों ने अपनी बाकायदा सरकार बनाई हुई थी और फूकिएन (कियांग्सी के पूर्व में), हूनान (कियांग्सी के पश्चिम में) व आन्हुई (कियांग्सी के उत्तर में) प्रान्तों के अनेक भागों में भी उनकी शक्ति स्थापित थी। कियांग्सी की कम्युनिस्ट सरकार नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार की सत्ता को स्वीकृत नहीं करती थी और उसके साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखती थी। १९३२ में चीन की इस कम्युनिस्ट सरकार के अधीन प्रदेशों का क्षेत्रफल ३,३०,००० वर्गमील के लगभग था, और उसमें निवास करनेवाले लोगों की संख्या ९,००,००,००० से कम नहीं थी। इससे यह भलीभांति समझा जा सकता है, कि कम्युनिस्टों का चीन में प्रभाव कितना अधिक था। तीन लाख वर्ग-

मील से भी अधिक विशाल प्रदेश में कम्युनिस्ट लोग रूस के ढंग की समाजवादी व्यवस्था को कायम करने में तत्पर थे ।

चियांग काई शेक कम्युनिस्टों का प्रबल विरोधी था । वह चीन की राष्ट्रीय एकता के लिये यह आवश्यक समझता था, कि कियांग्सी की कम्युनिस्ट सरकार को युद्ध द्वारा परास्त कर उस द्वारा अधिकृत प्रदेशों को नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार की अधीनता में ले आया जाय । उसकी दृष्टि में जापान का उत्तरी चीन में निरन्तर बढ़ता हुआ प्रभुत्व चीन के लिये उतना हानिकर नहीं था, जितनी कि कम्युनिस्ट सरकार की सत्ता चीन की राष्ट्रीय एकता के लिये विघातक थी । यही कारण है, कि उसने अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग जापान के विरुद्ध न करके कम्युनिस्टों के विरुद्ध किया । जिन दिनों जापानी लोग मञ्चूरिया, जहोल और होपेई में अपने प्रभुत्व की स्थापना में तत्पर थे, चियांग काई शेक की सेनाएं कम्युनिस्टों के साथ युद्ध में व्यापृत थीं । १९३३ में महासेनापति चियांग काई शेक ने चार बार कियांगसी की कम्युनिस्ट सरकार पर आक्रमण किया, पर उसे सफलता नहीं हुई । इस समय में कम्युनिस्ट लोग निरन्तर शक्ति प्राप्त करते जाते थे । १९३३ के अन्त में ऐसा प्रतीत होता था, कि सम्पूर्ण फूकिएन प्रान्त कम्युनिस्ट लोगों के हाथ में चला जायगा । पर १९३४ में चियांग काई शेक ने अपनी सम्पूर्ण सैनिक शक्ति को कम्युनिस्ट लोगों का विनाश करने के लिये लगा दिया । उसने कम्युनिस्टों के विरुद्ध अत्यन्त क्रूर व भयंकर उपायों का अवलम्बन किया । अब कम्युनिस्टों के लिये यह सम्भव नहीं रह गया, कि वे नानकिंग सरकार की शक्ति का मुकाबला कर सकें । जिन प्रदेशों पर चियांग काई शेक की सेनाएं अपना अधिकार स्थापित कर लेती थीं, उनके निवासियों पर वे भयंकर अत्याचार करती थीं । जिस आदमी पर कम्युनिस्ट होने का जरा भी सन्देह होता था, उसे मौत के घाट उतार दिया जाता था । १९३४ में लाखों व्यक्ति कुओमिन्तांग सेनाओं की क्रोधाग्नि के शिकार हुए । कम्युनिस्टों के विनाश के लिये चियांग काई शेक ने केवल अपनी सैन्यशक्ति का ही उपयोग नहीं किया, अपितु अन्य भी अनेक साधन प्रयुक्त किये । इनमें विशेष उल्लेखनीय निम्नलिखित थे—(१) फैसिस्ट ढंग पर 'नीली कुड़ती' नाम से एक आतंकवादी दल का संगठन किया गया, जिसका उद्देश्य कुओमिन्तांग दल के विरोधियों का विनाश करना था । यह नीली कुड़ती (ब्लू शर्ट) दल, जिन लोगों पर कम्युनिज्म के प्रति सहानुभूति रखने का सन्देह भी होता था, उन्हें मौत के घाट उतार देने व उनकी सम्पत्ति को नष्ट कर देने में जरा भी संकोच नहीं करता था । (२) कुओमिन्तांग सरकार

की सेना में राजनीतिक शिक्षा का प्रचार किया गया। उसमें उन विचारों को प्रसारित किया गया, जिनका प्रतिपादन कुओमिन्तांग दल द्वारा किया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ, कि च्यांग काई शेक की सेना कम्युनिस्टों को देश का शत्रु समझने लगी। उसमें उन्हें नष्ट करने के लिये अद्भुत उत्साह का सञ्चार हुआ। (३) जिन प्रदेशों को नानकिंग सरकार कम्युनिस्टों से विजय करती जाती थी, उनके पुराने जमींदारों व पूंजीपतियों को संगठित किया जाता था, ताकि वे कुओमिन्तांग दल की सहायता कर सकें। इन लोगों को कम्युनिस्ट सरकार द्वारा भारी नुकसान उठाना पड़ा था, अतः स्वाभाविक रूप से इनकी सहानुभूति कुओमिन्तांग दल के साथ थी। ये लोग कम्युनिस्टों का विनाश करने में नानकिंग सरकार की उत्साहपूर्वक सहायता करते थे। (४) चीन में एक नये आन्दोलन का सूत्रपात किया गया, जिसे 'नव जीवन आन्दोलन' कहते थे। इस आन्दोलन का उद्देश्य यह था, कि चीन के नवयुवकों में चीन के प्राचीन आदर्शों, व्यवहार, रीतिरिवाज व संस्थाओं के प्रति निष्ठा की भावना को उत्पन्न करे। कम्युनिस्ट लोग चीन में जिस व्यवस्था को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे, वह कार्ल मार्क्स व लेनिन के सिद्धान्तों पर आश्रित थी। यह व्यवस्था चीन के शिक्षित नवयुवकों को बहुत आकर्षक प्रतीत होती थी। कुओमिन्तांग दल के नेताओं को यह अनुभव होता था, कि नवयुवकों को कम्युनिज्म के प्रति जो आकर्षण है, उसे दूर करने का सबसे उत्तम उपाय यह है, कि उन्हें कन्फ्युशियस आदि प्राचीन चीनी आचार्यों के सिद्धान्तों के प्रति आकृष्ट किया जाय, ताकि वे कम्युनिज्म को एक विदेशी सिद्धान्त समझकर उसके विरुद्ध हो जावें। चीन के नवजीवन आन्दोलन का यही प्रधान उद्देश्य था। इस आन्दोलन के नेताओं का विश्वास था, कि यदि चीन के नवयुवकों में अपने देश की प्राचीन विचारसरणी और सामाजिक मर्यादा के प्रति आस्था उत्पन्न कर दी जाय, तो वे कम्युनिज्म के प्रति आकृष्ट नहीं होंगे।

च्यांग काई शेक जिस ढंग से कम्युनिस्ट लोगों के विनाश के लिये तत्पर था, उससे अब यह सम्भव नहीं रहा था, कि कियांगसी प्रान्त व उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर अपने प्रभुत्व को कायम रख सकें। १९३४ के अन्त में उन्होंने अनुभव किया, कि अब वे कुओमिन्तांग सेनाओं का सफलतापूर्वक मुकाबला नहीं कर सकेंगे। पर वे यह भी जानते थे, कि च्यांगकाई शेक उनके साथ किसी भी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं होगा। अब उनके सम्मुख केवल दो मार्ग थे, या तो वे नानकिंग सरकार की सेनाओं का मुकाबला करते हुए अपने जीवन का अन्त कर देते और या कियांगसी प्रान्त को [illegible] अपनी शक्ति का पुनःसंगठन करते। उन्होंने दूसरे मार्ग [illegible] कम्यु-

निस्ट सेनाओं और अन्य कम्युनिस्ट लोगों ने इस समय कियांगसी के उत्तर की ओर 'महाप्रस्थान' शुरू किया। चीन के उत्तर पश्चिम में एक प्रान्त है, जिसका नाम शेन्सी है। यह आभ्यन्तर मंगोलिया के दक्षिण और सिन्कियांग के पूर्व में स्थित है। शेन्सी प्रान्त में भी कम्युनिस्ट लोगों का जोर था। इस दशा में कियांगसी के कम्युनिस्टों ने यही उचित समझा, कि वे चियांग काई शेक की सेनाओं का मुकाबला करने का प्रयत्न न कर उत्तर की ओर शेन्सी प्रान्त की तरफ प्रस्थान कर दें, और वहां जाकर अपनी शक्ति का पुनःसंगठन करें। इसके लिये उन्होंने उस पार्वत्य मार्ग का अवलम्बन किया, जो चीन के पश्चिमी प्रदेशों में दुर्गम पहाड़ों में से होकर गुजरता था। इसी मार्ग का अनुसरण करके वे नानकिंग सरकार की सेनाओं से अपनी रक्षा कर सकते थे। कियांगसी से कम्युनिस्ट सेनायें पहले पश्चिम की ओर क्वेईचाउ में गईं। वहां से दक्षिण-पश्चिम की ओर यूनान प्रान्त में जाकर फिर वे उत्तर की ओर स्जेच्वान प्रान्त में गईं और फिर पूर्वी तिब्बत व कान्सू होती हुई शेन्सी पहुंच गईं। यह मार्ग बहुत विकट था, और इसमें उन्हें ६,००० मील के लगभग यात्रा करनी पड़ी थी। कम्युनिस्ट सेनाओं को जिस दुर्गम मार्ग से गुजरना पड़ा था, वहां न कोई सड़कें थीं और न ही नदियों पर पुल ही थे। इस दुर्गम पथ पर यात्रा करते हुए हजारों कम्युनिस्ट मार्ग के कष्टों द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुए। एक साल से भी अधिक समय तक यात्रा के घोर कष्ट उठाते हुए जो कम्युनिस्ट शेन्सी पहुंचने में समर्थ हुए, उनकी संख्या २०,००० के लगभग थी। १९३६ के शुरू तक कम्युनिस्ट लोग शेन्सी पहुंच गये थे और वहां येनान नगरी को राजधानी बनाकर उन्होंने अपनी सरकार का पुनः संगठन कर लिया था। शेन्सी प्रान्त का उत्तरी भाग और कान्सू प्रान्त का उत्तर-पूर्वी भाग उनकी अधीनता में था। अपने इस राज्य में कम्युनिस्ट लोगों ने समाजवादी व्यवस्था को स्थापित किया और चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग सरकार से लोहा लेने के लिये तैयारी शुरू की।

कम्युनिस्टों का यह नया राज्य जापान द्वारा अधिकृत उत्तरी चीन के बहुत समीप था। अतः यह स्वाभाविक था, कि कम्युनिस्ट नेताओं का ध्यान चीन पर निरन्तर बढ़ते हुए जापानी प्रभुत्व की ओर आकृष्ट हो। वे अनुभव करते थे, कि चीनी लोगों को आपस के मतभेदों को भुलाकर परस्पर मिलकर जापान के साम्राज्यवाद का मुकाबला करना चाहिये। उनका कहना था, कि नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार और कम्युनिस्टों को मिलकर चीन में लोकतन्त्र शासन की स्थापना करनी चाहिये, और जापान के साम्राज्यवाद के रूप में देश का जो घोर शत्रु निरन्तर चीन पर अपना प्रभुत्व कायम करता जाता है, उसका मुकाबला

करना चाहिये। १९३६ में कम्युनिस्ट सरकार के नेता माओ त्सेतुंग ने अपनी पार्टी के उद्देश्यों को निम्नलिखित प्रकार से प्रकट किया था--(१) विदेशी आक्रान्ता का मिलकर मुकाबला करना, (२) जनता को शासन सम्बन्धी अधिकार प्रदान करना, और (३) देश की आर्थिक उन्नति करना। पर चियांग काई शेक कम्युनिस्टों के साथ किसी भी प्रकार समझौता करना नहीं चाहता था। वह शेन्सी प्रान्त में भी उन्हें परास्त करके सम्पूर्ण चीन पर कुओमिन्तांग सरकार का शासन स्थापित करने के लिये कटिबद्ध था। जिस समय कम्युनिस्ट सेनाएं कियांगसी प्रान्त से उत्तर की ओर महाप्रस्थान कर रही थीं, चियांग काई शेक ने चीन के अन्य अनेक प्रान्तों पर भी अपना अधिपत्य कायम कर लिया था। जब कम्युनिस्ट लोग कियांगसी से महाप्रस्थान करते हुए क्वेईचाउ, यूनान और इजेच्वान प्रान्तों में गए, तो वहां के सिपहसालारों ने कम्युनिस्टों से अपने प्रदेशों की रक्षा करने के लिये नानकिंग सरकार से सहायता की अभ्यर्थना की। यह सहायता इन प्रान्तों के सिपहसालारों को सहर्ष दी गई, पर इसके बदले में चियांग काई शेक ने इन पर अपने अधिकार को बहुत दृढ़ कर लिया। १९३५ के अन्त तक यह अवस्था हो गई थी, कि सम्पूर्ण दक्षिणी और पश्चिमी चीन पर नानकिंग सरकार का शासन स्थापित हो गया था। क्वांगतुंग और क्वांगसू की वामपक्षी सरकार पर भी १९३६ में चियांग काई शेक का प्रभुत्व कायम हो गया था। चीन की राष्ट्रीय एकता अब सम्पन्न ही होने वाली है, यह बात सबको स्पष्ट दृष्टिगोचर होती थी। विशाल चीन में केवल दो प्रदेश ऐसे रह गये थे, जो नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार के अधीन नहीं थे। उत्तरी चीन के मञ्चूरिया, जहोल और होपेई प्रान्तों पर जापान का प्रभुत्व था और आभ्यन्तर मंगोलिया का अच्छा बड़ा भाग भी जापान के प्रभाव में था। शैन्सी और कान्सू पर कम्युनिस्टों का अधिकार था। चियांग काई शेक का खयाल था, कि जापान का मुकाबला करने के लिये यह आवश्यक है, कि पहले कम्युनिस्टों को परास्त किया जाय, ताकि चीन की राष्ट्रीय एकता पूर्ण हो जाय। जब सम्पूर्ण स्वतन्त्र चीन नानकिंग सरकार के अधीन हो जायगा, तो देश की आन्तरिक उन्नति द्वारा चीन को इतना समृद्ध व शक्तिशाली बनाया जा सकेगा, जिससे जापान के लिये उसमें अपने साम्राज्य को विस्तृत कर सकना सम्भव नहीं रहेगा। इसके विपरीत कम्युनिस्ट लोग चाहते थे, कि जापान चीन का सबसे बड़ा शत्रु है। उसका सफलतापूर्वक मुकाबला तभी किया जा सकता है, जब कि चीन के विविध दल परस्पर मिलकर एक हो जावें और देश में एक ऐसी सरकार की स्थापना हो, जो लोकतंत्रवाद के सिद्धान्तों पर आश्रित हो। चियांग काई शेक और माओ त्सेतुंग के विचारों में इतना अधिक भेद था, कि उनमें समझौता हो सकना क्रियात्मक नहीं था।

**चियांग काई शेक की गिरफ्तारी**—इस दशा में चियांग काई शेक ने अपनी सेनायें कम्युनिस्टों पर आक्रमण करने के लिये भेजीं। इन सेनाओं का प्रधान सेनापति चांग ह्सुएह-लिआंग को नियत किया गया। पर कम्युनिस्ट लोग अपने देशबन्धुओं से नहीं लड़ना चाहते थे। उन्होंने चांग ह्सुएह-लिआंग की सेनाओं से कहा, कि चीनियों को आपस में लड़ने से क्या लाभ है। उन्हें तो चाहिये, कि वे मिलकर जापान का मुकाबला करें और उत्तरी चीन से जापान के प्रभुत्व को नष्ट करें। इसमें सन्देह नहीं, कि कम्युनिस्ट नेता देशभक्ति की भावना से आविष्ट थे। उन्हें यह व्यर्थ प्रतीत होता था, कि चीन की सेनाओं की शक्ति गृह युद्ध में नष्ट की जाय। यह स्वाभाविक था, कि चांग ह्सुएह-लियांग की सेनाओं पर कम्युनिस्टों के प्रचार का असर पड़े। परिणाम यह हुआ, कि इन सेनाओं ने युद्ध में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं दिखाई। जो सेनायें कम्युनिस्टों का विनाश करने के लिये भेजी गई थीं, उन्होंने उनके खिलाफ लड़ाई करने के स्थान पर मेल करना शुरू कर दिया। चांग ह्सुएह-लिआंग व अन्य सेनापति भी कम्युनिस्ट प्रचार के प्रभाव में आ गये। जब यह बात चियांग काई शेक को ज्ञात हुई, तो उसने स्वयं शेन्सी प्रान्त की ओर प्रस्थान किया। उसने चाहा, कि ह्सुएह-लिआंग की सेनायें पूर्ण शक्ति के साथ कम्युनिस्टों से युद्ध करें। पर उसे असफलता हुई। उसके रुख को देखकर चांग ह्सुएह-लियांग ने अत्यन्त साहस का कार्य किया। उसने चियांग काई शेक को गिरफ्तार कर लिया। वस्तुतः इस समय नानकिंग सरकार की सेना कम्युनिस्टों के साथ युद्ध को जारी रखना इतना निरर्थक समझती थी, कि उसके सेनापति ने चियांग काई शेक को गिरफ्तार तक करने में संकोच नहीं किया। चांग ह्सुएह-लियांग और उसके सहकारियों की यह इच्छा थी, कि कि वे चियांग काई शेक को अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिये विवश करें। उनकी मुख्य मांगें निम्नलिखित थीं—(१) चीन में लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जाय। चीन सैनिक एकाधिकार ( डिक्टेटरशिप ) की ओर बढ़ रहा है, यह बात उचित नहीं है। एकाधिकार का अन्त करके लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जानी चाहिये। (२) कम्युनिस्टों की इस बात को स्वीकार किया जाय, कि आपस की लड़ाई को बन्द करके सम्मिलित रूप से जापान के साम्राज्यवाद का मुकाबला किया जाय। (३) जापान के साथ शीघ्र ही युद्ध शुरू किया जाय।

पर चियांग काई शेक किसी भी प्रकार से इन शर्तों को मानने के लिये तैयार नहीं था। इन शर्तों को मानने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता था, क्योंकि चियांग काई शेक उन लोगों से किसी प्रकार की बातचीत करने को ही तैयार नहीं

था, जिन्होंने कि उसे गिरफ्तार किया था। उसका कहना था, कि उसे गिरफ्तार करनेवाले सेनापति चांग ह्सुएह-लियांग और यांग-चेंग उसके अधीनस्थ सेनापति हैं। उनका कर्तव्य उनकी आज्ञाओं का पालन करना है, उनके साथ समझौता करने के लिये शर्तें पेश करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। यदि वे नानकिंग सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके उसे अपना बंदी समझते हैं, तो उन्हें पूरा अधिकार है, कि वे या तो उसे जान से मार दें या उसके साथ जैसा चाहे बरताव करें। चियांग काई शेक को १२ दिसम्बर, १९३६ के दिन गिरफ्तार किया गया था। तेरह दिन बाद २५ दिसम्बर को उसे कैद या नजरबन्दी से मुक्त कर दिया गया। इस बीच में मदाम चियांग काई शेक अपने भाई श्री० टी० वी० सुंग के साथ शेन्सी प्रान्त की राजधानी सिआन ( जहां कि नानकिंग सेना का हेडक्वार्टर था ) पहुंच गई थी। इनकी प्रेरणा से चियांग काई शेक इस बात के लिये तैयार हो गया, कि चांग ह्सुएह-लिआंग और कम्युनिस्ट सेनापति चोउ एन-लाई के साथ बातचीत करे। पर उसने इन सेनापतियों के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं किया। इस बीच में चांग ह्सुएह-लियांग को चियांग काई शेक की डायरी पढ़ने का अवसर मिला। इस डायरी को पढ़कर उसे यह भलीभांति समझ में आ गया था, कि चियांग काई शेक वस्तुतः देशभक्त है, और उसका उद्देश्य चीन का हित करना है। वह चीन की राष्ट्रीय एकता पर क्यों इतना अधिक जोर देता है, यह बात भी उसने सुचारु रूप से समझ ली थी। इसी प्रकार कम्युनिस्ट नेता भी यह समझते थे, कि जापान के साथ संघर्ष करने के लिये चियांग काई शेक की उपयोगिता निर्विवाद है। उनका यह भी खयाल था, कि यदि इस महासेनापति को कत्ल कर दिया जायगा, तो चीन में इससे बहुत अधिक रोष फैलेगा और कम्युनिस्ट पार्टी बदनाम हो जायगी। इसमें सन्देह नहीं, कि चीन में चियांग काई शेक की स्थिति बहुत ऊंची थी। लोग उसे अपना राष्ट्रीय नेता मानते थे। इस दशा में चांग ह्सुएह-लियांग व कम्युनिस्ट नेताओं ने यही उचित समझा, कि उसे मुक्त कर दिया जाय। चियांग काई शेक नानकिंग वापस लौट आया और चांग ह्सुएह-लियांग भी उसके साथ नानकिंग गया। वहां उस पर विद्रोह के लिये मुकदमा चलाया गया और उसे दण्ड भी दिया गया। पर यह दण्ड केवल नियन्त्रण को कायम रखने के लिये दिया गया था, और बाद में चियांग काई शेक के आदेश से उसे माफ कर दिया गया था। इसमें सन्देह नहीं, कि सिआन की इस घटना ने चांग ह्सुएह-लिआंग को एक बार फिर चियांग काई शेक का अनुरक्त सेनापति बना दिया था।

२५ दिसम्बर, १९३६ को जब चियांग काई शेक को कैद से रिहा कर दिया गया, तो कम्युनिस्टों और नानकिंग सरकार में युद्ध का अन्त हो गया। इस समय

चीन का लोकमत गृह कलह को बन्द कर जापान के साथ संघर्ष को शुरू करने के पक्ष में था। चियांग काई शेक जैसे स्वच्छन्द व स्वेच्छाचारी महासेनापति के लिये भी यह सम्भव नहीं था, कि वह लोकमत की सर्वथा उपेक्षा कर सके। कम्युनिस्ट लोग इस बात का प्रबल आन्दोलन करने में तत्पर थे, कि चीन के विविध दलों को आपस के मतभेदों को भुला कर जापान के प्रभुत्व को नष्ट करने के लिये सम्मिलित रूप से प्रयत्न करना चाहिये। परिणाम यह हुआ, कि कम्युनिस्ट और कुओमिन्तांग दलों में समझौते की बात शुरू हुई। यह बातचीत अभी समाप्त नहीं हुई थी, कि अगस्त, १९३६ में चीन और जापान में युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस युद्ध के कारण पर हम अगले प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। इस युद्ध में कम्युनिस्ट और कुओमिन्तांग दलों की सम्मिलित शक्ति जापान का मुकाबला करने के लिये सन्नद्ध थी। २५ दिसम्बर, १९३६ के बाद शेन्सी की कम्युनिस्ट सरकार और नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार में संघर्ष का अन्त हो गया था और इन दोनों सरकारों में एक प्रकार की सुलह हो गई थी। इस प्रकार १९३७ में चीन-जापान के युद्ध के प्रारम्भ होने के समय में चीन में दो पृथक सरकारें विद्यमान थीं। दोनों की अपनी अपनी पृथक सेनायें थीं और दोनों अपने अपने क्षेत्र में अपने विचारों के अनुसार शासन और सामाजिक व्यवस्था के विकास में तत्पर थीं।

यहां यह भी निर्दिष्ट करना आवश्यक है, कि १९३७ में चीन के बड़े भाग पर नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार का शासन विद्यमान था। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि महासेनापति चियांग काई शेक की गिरफ्तारी के अवसर पर भी क्वांगसी, क्वांगतुंग, हूनान, क्वेईच्वाउ आदि सुदूरस्थ प्रान्तों की सेनाओं ने नानकिंग सरकार के खिलाफ कोई विद्रोह नहीं किया। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि इस समय चीन में राष्ट्रीय एकता पर्याप्त अंशों में स्थापित हो गई थी। राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना चीन में बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थी, और लोग अनुभव करते थे, कि चीन में एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय सरकार का संगठन होना चाहिये। एक शक्तिशाली सुव्यवस्थित सरकार के लिये ही यह सम्भव हो सकता है, कि वह चीन में जापान की निरन्तर बढ़ती हुई शक्ति का सफलतापूर्वक मुकाबला कर सके। इस समय चीन की जनता यह भी अनुभव करती थी, कि देश की केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों को आधुनिक ढंग से सुव्यवस्थित रूप में संगठित करना चाहिये। जनता लोकतन्त्र [illegible] अनुसरण [illegible] चीन की सरकार के पुनः संगठन के पक्ष में थी, पर चियांग काई शेक की प्रवृत्ति सब राज-शक्ति को अपने हाथों में रखने की थी। इस दृष्टि से वह हिटलर और मुसोलिनी का समकक्ष था।

**आर्थिक समस्या**—चीन की सरकार के सम्मुख जहां राष्ट्रीय एकता की स्थापना और जापान के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभुत्व का मुकाबला करने की महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्यायें विद्यमान थीं, वहां साथ ही उसकी आर्थिक समस्या भी कम महत्त्व की नहीं थी। चीन की राजकीय आमदनी निरन्तर कम होती जाती थी। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे--(१) मञ्चूरिया और जहोल के प्रान्त उसकी अधीनता से निकल गये थे। इनसे अब उसे कोई आमदनी नहीं होती थी। (२) होपेई की कौंसिल ने जापान के आयात माल पर तट-कर की मात्रा घटाकर २५ प्रतिशत कर दी थी। इससे होपेई के मार्ग से जापानी माल बहुत बड़ी मात्रा में चीन आने लगा था। आयात माल पर तट-कर द्वारा जो आमदनी चीनी सरकार को होती थी, उसे इससे भारी आघात पहुंचा था। (३) चीन में इस समय अनेक नदियों में भयंकर बाढ़ें आईं, और उनसे बहुत बड़े क्षेत्र की फसलें नष्ट हो गईं। फसलों के विनाश से जहां राजकीय आमदनी में कमी आई, वहां साथ ही बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिये सरकार को भारी रकम खर्च करनी पड़ी। (४) १९२९-३३ के विश्वव्यापी अर्थसंकट का, जिसका उल्लेख हम इस इतिहास में पहले कर चुके हैं, चीन की आर्थिक दशा पर भी बहुत बुरा असर हुआ। (५) आर्थिक संकट के कारण १९३४ में ब्रिटेन ने अपने सिक्के पौंड का, जो पहले सुवर्ण पर आश्रित था, सुवर्ण से सम्बन्ध हटा दिया था। जून, १९३४ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी अपने सिक्के डालर की कीमत को गिरा दिया। इसका परिणाम यह हुआ, कि पौंड और डालर के बदले में सोने और चांदी की कीमतें बढ़ने लगीं। इस समय चीन का सिक्का चांदी पर आश्रित था, अतः चीन में चांदी सस्ती थी। इस कारण अमेरिका भारी परिमाण में चीन से चांदी खरीदने लगा और चीन की बहुत सी चांदी विदेशों में जाने लग गई। इस दशा में चीन के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह अपनी मुद्रा पद्धति को चांदी पर आश्रित रख सके। ४ नवम्बर, १९३५ को चीन ने भी विवश होकर अपने सिक्के और चांदी का सम्बन्धविच्छेद कर दिया। चीन के चार बड़े बैंकों को यह अधिकार दिया गया, कि वे पत्रमुद्रा जारी कर सकें जिस समय चीन की मुद्रापद्धति चांदी पर आश्रित थी, पत्रमुद्रा उसी परिमाण में जारी की जा सकती थी, जितनी कि चांदी कोष में विद्यमान हो। कागजी नोट के बदले में जब चाहें, तब चांदी ली जा सकती थी। पर अब चीन के कागजी नोट चांदी पर आश्रित नहीं रह गये। मुद्रापद्धति के चांदी पर आश्रित न रहने का यह परिणाम हुआ, कि चीन में वस्तुओं की कीमतें निरन्तर बढ़ने लगीं। जनता को इससे बहुत अधिक कष्ट का सामना करना

पड़ा। विदेशी व्यापार पर भी इसका प्रतिकूल असर पड़ा, और सरकारी आमदनी में कमी आने लगी। यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि अपनी मुद्रापद्धति को संभालने के लिये इस समय चीनी सरकार ने जिन उपायों का आश्रय लिया, उनका यहां उल्लेख कर सकें। इतना निर्देश करना ही पर्याप्त होगा, कि इस समय चीन की सरकार के सम्मुख आर्थिक समस्या भी अत्यन्त विकट रूप से विद्यमान थी और इसी कारण देश की उन्नति की विविध योजनाओं को पूर्ण कर सकना उसके लिये सुगम नहीं था।

## (२) युद्ध का सूत्रपात

चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित हो गई थी। नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार का शासन प्रायः सम्पूर्ण चीन पर विद्यमान था। उत्तर-पश्चिमी चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने भी नानकिंग सरकार के साथ समझौता कर लिया था। चीन में जो राष्ट्रीय एकता स्थापित हुई थी, उसका मूल कारण यह था, कि वहां के सब राजनीतिक दलों के नेता, प्रान्तीय सूबेदार और सेनापति यह अनुभव करने लगे थे, कि चीन में जापान जिस ढंग से अपने प्रभाव व प्रभुत्व का विस्तार कर रहा है, उसका मुकाबला किया जाना चाहिये। जापान के प्रति विरोध व विद्वेष की भावना चीन में निरन्तर प्रबल होती जाती थी। यही कारण है, कि अनेक देशभक्त जापानियों पर हमले करने में भी तत्पर रहते थे। हैन्को में एक जापानी पुलीसमैन ( जो उस नगर में स्थापित जापानी कान्सलेट की सर्विस में था ) की हत्या कर दी गई थी। स्वेतो नगर में एक जापानी रेस्तरां में एक बम्ब मिला था, जिसे सम्भवतः किसी चीनी देशभक्त ने वहां रख दिया था। पेकिंग से कुछ दूरी पर फेंगताई में एक जापानी आफिसर पर हमला कर दिया गया था। इसी प्रकार की अन्य अनेक घटनाएं चीन के विविध नगरों में होती रहती थीं, जो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है, कि चीनी लोगों में जापानियों के प्रति विद्वेष की मात्रा किस हद तक पहुंच गई थी।

इस दशा में चीन और जापान में किसी भी छोटी सी घटना को लेकर लड़ाई शुरू हो सकती थी। दोनों देश लड़ाई के लिये तैयार थे। जापान चीन में अपने प्रभुत्व को और अधिक विस्तृत करना चाहता था। दूसरी तरफ चीन की जनता में राष्ट्रीयता की भावना बहुत प्रबल थी और चीन की कुओमिन्तांग व कम्युनिस्ट सरकारें परस्पर मिलकर जापान का मुकाबला करने के लिये तैयार थीं। आखिर, ७ जुलाई १९३७ को वह घटना घटित हुई, जिसने [illegible] में

चिनगारी का काम किया और चीन तथा जापान की विद्वेषाग्नि को युद्ध के रूप में प्रज्वलित कर दिया।

**लुकूचिआओ की घटना**—जिस घटना द्वारा चीन और जापान के युद्ध का श्रीगणेश हुआ, वह लुकूचिआओ में घटित हुई थी। यह स्थान पेकिंग के समीप है, और यहां जापानी सेना लड़ाई का अभ्यास करने में तत्पर थी। बाक्सर युद्ध के बाद अन्य राज्यों के साथ चीन ने जो सन्धियां की थीं, उनके अनुसार जापान को यह अधिकार प्राप्त था, कि वह पेकिंग और तीन्त्सिन में अपनी सेनायें रख सके। इसलिये जापान की एक सेना पेकिंग में विद्यमान थी और यह युद्ध का अभ्यास करने के लिये लुकुचिआओ को प्रयुक्त कर रही थी। १९३५ में पेकिंग में स्थित जापानी सेना की संख्या बहुत बढ़ा दी गई थी। यह बात विवादग्रस्त है, कि क्या पुरानी सन्धियों के आधार पर जापान को यह अधिकार था, कि वह सैनिक अभ्यास के लिये लुकूचिआओ को प्रयुक्त कर सके। ७ जुलाई, १९३७ को चीनी सिपाहियों और लुकूचिआओ में विद्यमान जापानी सैनिकों में गोली चल गई। इसके लिये कौन उत्तरदायी था, यह निश्चित कर सकना बहुत कठिन है। जापानी लोगों का कथन है, कि गोलाबारी का प्रारम्भ चीनी सैनिकों ने किया था और चीनी लोग इसके लिये जापानी सैनिकों को दोषी ठहराते हैं। दोष चाहे किसी का हो, पर यह स्पष्ट है कि लुकूचिआओ की इस घटना ने बहुत गम्भीर रूप धारण कर लिया। इसके कारण चीन और जापान के सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये। तीन सप्ताह तक दोनों देशों की सरकारों में समझौते की बातचीत जारी रही। जापान की मांग थी, कि पेकिंग तीन्त्सिन के क्षेत्र से चीनी सेनायें हटा ली जावें। इससे पूर्व उत्तरी होपेई से चीनी सेनायें हटाली जा चुकी थीं, अब जापान चाहता था कि दक्षिणी होपेई (पेकिंग और तीन्त्सिन दक्षिणी होपेई के ही नगर हैं) को भी चीनी सेनाओं से खाली कर दिया जाय। चीन की सरकार जापान की इस मांगको स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं थी। परिणाम यह हुआ, कि दोनों देशों में युद्ध प्रारम्भ हो गया।

**कम्युनिस्टों से समझौता**—हम इसी अध्याय में पहले लिख चुके हैं, कि २५ दिसम्बर, १९३६ के बाद कुओमिन्तांग सरकार और कम्युनिस्टों में लड़ाई बन्द होगई थी और उन्होंने समझौते की बात शुरू कर दी थी। कम्युनिस्ट लोग गृहकलह के विरुद्ध थे और देश की सम्पूर्ण शक्ति को जापान के विरुद्ध युद्ध में लगा देने के लिये उत्सुक थे। लुकुचिआओ की घटना के बाद जब चीन और जापान में युद्ध की सम्भावना बिलकुल प्रत्यक्ष होगई, तो चियांग काई शेक ने भी अनुभव किया कि कम्युनिस्टों के साथ सुलह कर लेने में ही चीन का लाभ है। इस स्थिति में

दोनों दलों में परस्पर समझौता होने में देर नहीं लगी। इस समझौते की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) उत्तर पश्चिमी चीन के जिन प्रदेशों (शैन्सी और कान्सू) पर कम्युनिस्टों का अधिकार है, वहां उनका शासन कायम रहे। (२) इन प्रदेशों पर कम्युनिस्टों का अपना स्वतन्त्र व पृथक राज्य रहे, जो चीन के अन्तर्गत रहता हुआ भी शासन की दृष्टि से कम्युनिस्टों के अधीन हो। (३) कम्युनिस्ट सेना को चीन की राष्ट्रीय सेना का ही एक अंग मान लिया जाय और कम्युनिस्ट सेनापति जापान के साथ युद्ध करते हुए महासेनापति चियांग काई शेक के आदेशों का पालन करें। चीन के आधुनिक इतिहास में कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारों का यह समझौता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके कारण जापान के साथ संघर्ष के काल में कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में सिद्धान्तों और विचार धारा में मौलिक भेद होते हुए भी परस्पर समझौता हो गया था और वे एक साथ मिलकर जापान का मुकाबला कर सकने में तत्पर हो गई थीं। कम्युनिस्ट सेना को चीन की राष्ट्रीय सेना में 'आठवीं सेना' नाम दे दिया गया था और वह भी महासेनापति चियांग काई शेक की आज्ञानुवर्तिनी बन गई थी।

## (३) युद्ध का इतिवृत्त

हमारे लिये इस इतिहास में यह सम्भव नहीं है, कि चीन और जापान के युद्ध का वृत्तान्त विशद रूप से लिख सकें। पर उसकी कतिपय महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। इस युद्ध की घटनाओं को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) युद्ध के प्रारम्भ से नानकिंग पर जापान के आधिपत्य की स्थापना तक। १५ दिसम्बर, १९३७ को जापानी सेनाओं ने नानकिंग पर अपना अधिकार कायम कर लिया था। (२) अक्टूबर, १९३८ तक जापान ने हैन्को और कैन्टन को भी जीत लिया था। चीन की सरकार ने पहले (नानकिंग के जापानियों के हाथ में चले जाने पर) हैन्को को अपनी राजधानी बनाया था और जब हैन्को पर भी जापान का कब्जा हो गया, तो चीन की राजधानी चुंगकिंग (पश्चिमी चीन के ज़ेचवान प्रान्त में) को बना दिया गया था। (३) चुंगकिंग को राजधानी बना लेने के बाद चीन की कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारों ने अपने अपने क्षेत्र में जापान के विरुद्ध संघर्ष को जारी रखा। जापान इस समय उत्तरी, पूर्वी और दक्षिणी चीन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर चुका था, पर पश्चिम में प्रसार [illegible] पश्चिमी चीन को वह अपनी अधीनता में नहीं ला सका। इन प्रदेशों में कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारों की स्थिति कायम रही। इन्हीं

बीच में बीसवीं सदी का द्वितीय महायुद्ध (१९३९–४५) प्रारम्भ हो गया और जापान दक्षिण-पूर्वी एशिया की विजय में प्रवृत्त हुआ। रूस, अमेरिका और ब्रिटेन चीन की सहायता में तत्पर रहे और इन शक्तिशाली देशों से सहायता प्राप्त कर चीन की कम्युनिस्ट और कुओमिन्तांग सरकारें जापान के साथ संघर्ष में व्यापृत रहीं।

**उत्तरी चीन और नानकिंग पर जापान का प्रभुत्व**—युद्ध शुरू होते ही २७ जुलाई, १९३७ को जापानी सेनाओं ने पेकिंग पर कब्जा कर लिया। पेकिंग होपेई प्रान्त की राजधानी था और उसे जीत लेने पर सम्पूर्ण होपेई प्रान्त जापान के अधीन हो गया। इसके बाद जापानी सेनाओंने चहर और सुईयुआन प्रान्तों पर आक्रमण किया और उन्हें जीत लिया। ये प्रान्त आभ्यन्तर मंगोलिया के अंग थे और ये पहले भी जापान के प्रभाव क्षेत्र में थे। पर अब उनमें जापानी सेनायें प्रविष्ट हो गईं, और वे पूरी तरह से जापान की अधीनता में आ गये। चहर और सुईयुआन पर कब्जा करने के बाद जापानी सेनाओं ने शान्सी प्रान्त पर आक्रमण किया। यह प्रान्त होपेई के पश्चिम और शेन्सी प्रान्त के पूर्व में स्थित है। शेन्सी कम्युनिस्ट सरकार के अधीन था, अतः शान्सी पर आक्रमण करनेवाली जापानी सेनाओं का कम्युनिस्ट सेनाओं ने डट कर मुकाबला किया। कम्युनिस्टों के कारण जापानी लोग शान्सी के पश्चिमी प्रदेशों को अपने अधिकार में नहीं ला सके। इस प्रकार युद्ध के शुरू होने के कुछ दिन बाद तक जापान ने होपेई, चहर, सुईयुआन और पूर्वी शान्सी पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। अपने नये जीते हुए प्रदेशों का शासन करने के लिये जापान ने दो नई सरकारों का संगठन किया। २९ अक्टूबर, १९३७ को 'मंगोलिया की स्वतन्त्र सरकार' संगठित की गई और चहर व सुईयुआन प्रान्तों का शासन इसके सुपुर्द कर दिया गया। इसी प्रकार १४ दिसम्बर, १९३७ को पेकिंग में एक पृथक सरकार संगठित की गई और होपेई प्रान्त व शान्सी प्रान्त के पूर्वी प्रदेश इस पेकिंग सरकार के अधीन कर दिये गये। पेकिंग सरकार का प्रधान वांग केह-मिन को नियुक्त किया गया, जो कि कुओमिन्तांग दल के उत्कर्ष से पूर्व पेकिंग सरकार का अर्थमन्त्री रह चुका था। इन विजित प्रदेशों के शासन के लिये जो नई सरकारें संगठित की गई थीं; उनके प्रमुख राजकर्मचारी चीनी लोग थे, जो कि जापानी सलाहकारों के परामर्श के अनुसार अपने-अपने क्षेत्र में शासन करते थे।

मंगोलिया, होपेई और पूर्वी शान्सी प्रान्त को अपने अधीन करने के साथ-साथ जापानियों ने चीन के समुद्रतट पर भी आक्रमण किया। नवम्बर, १९३७ में एक शक्तिशाली जापानी सेना ने समुद्रमार्ग द्वारा शंघाई पर हमला किया। चियांग

काई शेक की सेनाओं ने यहां डटकर जापानी आक्रमण का मुकाबला किया। पर चीन के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह जापानी आक्रमण को रोक सके। नवम्बर मास के समाप्त होने से पूर्व ही चीनी सेनाओं ने शंघाई खाली कर दिया और उस पर जापान का कब्जा हो गया। शंघाई को जीत लेने के बाद नानकिंग पर आक्रमण कर सकना अधिक कठिन नहीं था। नानकिंग के युद्ध में भी चीनी सेनायें परास्त हुईं, और १५ दिसम्बर, १९३७ के दिन जापान ने नानकिंग पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया। नानकिंग चीन की कुओमिन्तांग सरकार की राजधानी था। जापानी सेनाओं के प्रवेश से पूर्व ही च्यांग काई शेक ने वहां से अपनी सरकार को हटा लिया था और सरकार के सब कार्यालय हैन्को पहुंचा दिये गये थे। नानकिंग में जापानी सेनाओं ने जनता पर बहुत भयंकर अत्याचार किये। सेना द्वारा इस समृद्ध व वैभवशाली नगर को बुरी तरह से लूटा गया। इस लूट के विशद वृत्तान्त यूरोप और अमेरिका के समाचार पत्रों में प्रकाशित हुए, और इनको पढ़ कर पाश्चात्य संसार का लोकमत जापान के बहुत अधिक विरुद्ध हो गया।

**हैन्को और कैन्टन की विजय**--उत्तरी चीन, शंघाई और नानकिंग पर कब्जा कर लेने के बाद जापान ने चीन के एक अच्छे बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। जापान सम्भवतः चीन में इससे अधिक आगे नहीं बढ़ना चाहता था। जिस प्रकार १९३१ में उसने मञ्चूकुओ में अपने वशवर्ती एक नये राज्य की स्थापना कर ली थी, उसी प्रकार शायद वह इन प्रदेशों में भी ऐसे एक या अधिक राज्य स्थापित कर देना चाहता था, जो मञ्चूकुओ के समान ही उसके वशवर्ती हों और जिनका चीन के साथ कोई सम्बन्ध न रहे। इस समय वह चीन में इससे अधिक आगे बढ़ने के लिये इच्छुक नहीं था। पर चीन में राष्ट्रीयता की भावना इतनी अधिक प्रबल हो चुकी थी, कि चीन का लोकमत अपने 'मध्यदेश' में एक विदेशी शक्ति के प्रभुत्व को किसी भी रूप में सहने के लिये तैयार नहीं था। यही कारण है, जो नानकिंग की विजय के साथ चीन-जापान के युद्ध की समाप्ति नहीं हो गई। अब जापान के सम्मुख केवल एक ही मार्ग था, वह यह कि वह सम्पूर्ण चीन को अपनी अधीनता में ले आने के लिये संघर्ष को जारी रखे, अन्यथा चीन में उसकी स्थिति सुरक्षित नहीं रह सकती थी।

चीन की कुओमिन्तांग सरकार की नई राजधानी हैन्को थी। अतः जापानी सेनाओं ने उसकी ओर आगे बढ़ना शुरू किया। हैन्को पर यह आक्रमण दो तरफ से किया गया। नानकिंग की जापानी सेनाओं ने पूर्व की ओर से और पेकिंग की उत्तरी सेनाओं ने उत्तर की ओर से हैन्को की तरफ प्रस्थान किया। इस समय शांतुंग प्रान्त का सूबेदार हान फू-चू था। उसे चाहिये था, कि वह पेकिंग से दक्षिण

की ओर बढ़ती हुई जापानी सेनाओं का डटकर मुकाबला करता। पर उसने अपने कार्य में शिथिलता प्रदर्शित की। परिणाम यह हुआ, कि पेकिंग की सेनाओं ने शानुंग पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया। हान चू-फू पर कर्तव्य पालन न करने के लिये मुकदमा चलाया गया और उसे प्राणदण्ड दिया गया। जिस समय पेकिंग की उत्तरी सेनायें और नानकिंग की सेनायें हैन्को की ओर आगे बढ़ने में तत्पर थीं, उसी समय समुद्री मार्ग से जापान की एक अन्य सेना केन्टन पर भी आक्रमण कर रही थी। १७ अक्टूबर, १९३८ को इसने केन्टन पर कब्जा कर लिया। २१ अक्टूबर, १९३८ को हैन्को भी जीत लिया गया और चीन की सरकार अपनी इस राजधानी को छोड़कर चुंगकिंग चले जाने को विवश हुई। हैन्को को जीतने में जापान को जो इतना अधिक समय लगा, उसमें चीनी सेनाओं का प्रतिरोध जहां महत्त्वपूर्ण कारण था, वहां साथ ही पश्चिमी चीन की दुर्गमता भी इसमें कारण थी।

**नानकिंग की नई सरकार**—जब हैन्को के समीप जापान की सेनायें पहुंच गई, तो अनेक चीनी नेता इस पक्ष में थे, कि जापान के साथ युद्ध को जारी रखना व्यर्थ है। उनकी दृष्टि में अब वह समय आ गया था, जब कि जापान के साथ समझौता करने में ही देश का हित था। इस दल का नेता वांग चिंग वेई था, पर चियांग काई शेक व अन्य चीनी नेता जापान के साथ युद्ध को जारी रखने के पक्ष में थे। परिणाम यह हुआ, कि वांग चिंग वेई व उसके अनुयायी कुओमिन्तांग सरकार से पृथक हो गये। चियांग काई शेक व उसके पक्षपातियों ने उन्हें देशद्रोही घोषित किया। इस समय जापान की ओर से यह घोषणा स्पष्ट शब्दों में की जा रही थी, कि हैन्को को जीत लेने के बाद उसकी सेनाओं का कार्य समाप्त हो जायगा और जापान यह प्रयत्न करेगा कि जिन प्रदेशों को कुओमिन्तांग सरकार की अधीनता से स्वतन्त्र कर दिया गया है, उनमें ऐसी चीनी सरकार की स्थापना की जाय, जो जापान को अपना शत्रु न समझकर उसके साथ सहयोग करके देश की उन्नति में तत्पर हो। पूर्वी एशिया में जापान और चीन दो ही प्रमुख राज्य हैं, और उनमें विरोध भावना एशिया के उत्कर्ष के लिये हानिकारक है। अतः पूर्वी एशिया में चिरशान्ति की स्थापना के लिये यह आवश्यक है, कि चीन की सरकार जापान के साथ मैत्री सम्बन्ध रखे। जापान का उद्देश्य चीन में अपना प्रभुत्व स्थापित करना नहीं है, वह उसका सहयोगी व मित्र बनकर रहना चाहता है। वांग चिंग-वेई जापान की इस नीति से बहुत प्रभावित हुआ और उसने नानकिंग में एक नई चीनी सरकार को संगठित करना स्वीकार कर लिया। वांग चिंग वेई द्वारा स्थापित इस नानकिंग सरकार पर हम इसी अध्याय में आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

**चीन के दो विभाग**--हैन्को के पतन के बाद चीन दो भागों में विभक्त हो गया--(१) स्वतन्त्र चीन और (२) जापान द्वारा अधिकृत चीन। उत्तर में पेकिंग सेशुरू करमध्य में हैन्को होती हुई दक्षिण में कैन्टन तक यदिएक रेखा खींची जाय, तो इस रेखा के पश्चिमी प्रदेश 'स्वतन्त्र चीन' थे और इस रेखा से पूर्व की ओर के प्रदेश जापान द्वारा अधिकृत थे। स्वतन्त्र चीन के भी दो विभाग थे। कुओमिन्तांग सरकार की राजधानी चुंगकिंग थी और कम्युनिस्ट सरकार की येनान (उत्तरी शेन्सी प्रान्त में)। १९३९ के बाद इन दोनों स्वतन्त्र चीनी सरकारों में सहयोग की भावना निरन्तर कम होती गई। चीन के पूर्वी प्रदेशों पर जापान का आधिपत्य स्थापित हो चुका था और स्वतन्त्र चीन की इन दोनों सरकारों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे जापान को चीन से बाहर निकाल सकें। इस दशा में उनमें परस्पर विद्वेष पुनः जागृत होने लगा था। इस विद्वेश का एक कारण यह भी था, कि इस समय स्वतन्त्र चीन का बाह्य संसार से समुद्र मार्ग द्वारा कोई सम्बन्ध नहीं रहा था। उत्तर पश्चिमी चीन में जो कम्युनिस्ट सरकार स्थापित थी, उसके लिये स्थल मार्ग द्वारा रूस के साथ सम्बन्ध कायम रख सकना अधिक सुगम था। वह रूस से अस्त्र-शस्त्र आदि की सहायता अधिक सुगमता से प्राप्त कर सकती थी। इसके विपरीत चुंगकिंग में स्थापित कुओमिन्तांग सरकार के लिये पाश्चात्य देशों से सहायता प्राप्त करने के केवल तीन मार्ग थे--(१) फ्रेञ्च इंडोचायना से फ्रेंच यूनान रेलवे द्वारा और फिर मोटर रोड से होकर चुंगकिंग को युद्ध सामग्री पहुंचाई जा सकती थी, यह मार्ग सुगम था, पर इसकी सफलता इस बात पर निर्भर थी, कि फ्रांस किस हद तक चुंगकिंग सरकार की सहायता करने को तैयार है। (२) बरमा के उत्तरी मार्गों द्वारा स्वतन्त्र चीन को सहायता पहुंचाई जा सकती थी। पर ये मार्ग अभी भलीभांति विकसित नहीं हुए थे। महायुद्ध के दौरान में ब्रिटिश और अमेरिकन लोगों ने उत्तरी बरमा में मोटर रोड का निर्माण इसी उद्देश्य से किया था, ताकि जापान के विरुद्ध कुओमिन्तांग सरकार की सहायता की जा सके। (३) हांगकांग से वायुयानों द्वारा भी चुंगकिंग युद्ध सामग्री भेजी जा सकती थी। महायुद्ध के समय पर ब्रिटेन और अमेरिका आदि ने इसी मार्ग का आश्रय लेकर चुंगकिंग सरकार की मदद करने का प्रयत्न किया था। पर वायुयानों द्वारा प्रचुर परिमाण में स्वतन्त्र चीन को सहायता पहुंचा सकना सम्भव नहीं था। क्योंकि कुओमिन्तांग सरकार का पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क बहुत कम रह गया था, अतः जापान का मुकाबला करने के लिये उसकी शक्ति निरन्तर क्षीण होती जाती थी। इसके विपरीत रूस से सहायता प्राप्त करने की सुविधा होने के कारण येनान की कम्युनिस्ट सरकार अपने को उतना असहाय

अनुभव नहीं करती थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि चियांग काई शेक की सरकार कम्युनिस्टों से ईर्षा करने लगे और उसे यह भय हो, कि कहीं कम्युनिस्ट लोग इतने प्रबल न हो जावें, कि वे सम्पूर्ण चीन में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का स्वप्न लेने लगें।

**गुरीला युद्ध**—चीन के जो प्रदेश जापान द्वारा अधिकृत थे, उनमें इस प्रकार की सरकारें स्थापित हो गई थीं, जो ऊपर से देखने में पूर्णतया चीन की अपनी सरकारें थीं। मंगोलिया की स्वतन्त्र सरकार का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। मञ्चूकुओ के समान मंगोलिया के चहर और सुईयुआन प्रान्तों में भी एक पृथक व स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर दिया गया था। पेकिंग को राजधानी बनाकर उत्तरी चीन में और नानकिंग को राजधानी बना कर दक्षिणी चीन में दो पृथक् राज्य कायम हुए थे, जिनका शासन चीनी लोगों के ही हाथों में था। पर मञ्चूकुओ के समान पेकिंग और नानकिंग के राज्य भी जापान के वशवर्ती थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि इन राज्यों में निवास करनेवाले राष्ट्रवादी देशभक्त लोग जापान की कठपुतली के समान आचरण करने वाली पेकिंग व नानकिंग की सरकारों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिये तत्पर हों। उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे सम्मुख युद्ध में जापान का मुकाबला कर सकें, अतः उन्होंने गुरीला युद्ध नीति का आश्रय लिया। देशभक्त चीनी लोगों के अनेक गिरोह जापान की सेनाओं पर आक्रमण करने लगे और उन्होंने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी, जिसके कारण उत्तरी और दक्षिणी चीन में जापानियों की स्थिति बहुत अरक्षित सी हो गई।

**युद्ध की प्रगति**—हैन्को के पतन के बाद जापानी लोग चीन में युद्ध को समाप्त कर देना चाहते थे। उनका खयाल था, कि अपनी निरन्तर पराजयों के कारण चीनी लोगों को यह अनुभव करने में कठिनाई नहीं होगी, कि युद्ध को जारी रखना व्यर्थ है, और वे सन्धि के लिये तैयार हो जायेंगे। पर उन्हें निराशा का सामना करना पड़ा। महासेनापति चियांग काई शेक ने यही निश्चय किया, कि जापान के साथ संघर्ष को जारी रखा जाय। परिणाम यह हुआ, कि जापान ने भी हैन्को से आगे बढ़ना शुरू किया। नवम्बर, १९३८ में योचो पर जापानी सेनाओं का कब्जा हो गया और उसके कुछ मास बाद इचांग जापान की अधीनता में चला गया। मार्च, १९३९ में कियांगसी प्रान्त की राजधानी नानचांग जापानियों के कब्जे में चली गई और नवम्बर, १९३९ में जापानी सेनाओं ने पेखोई के बन्दरगाह को जीत लिया। यह बन्दरगाह कैन्टन के दक्षिण में स्थित है। पेखोई के बाद नानिंग पर आक्रमण किया गया। नानिंग क्वांगसी प्रान्त में है, जो

चीन का सबसे दक्षिणी प्रान्त है, और जो इन्डोचायना की उत्तरी सीमा पर स्थित है। नानकिंग पर कब्जा करने में जापान का यह उद्देश्य था, कि फ्रेंच इन्डोचायना के मार्ग से स्वतन्त्र चीन को युद्ध सामग्री भेज सकना सम्भव न रहे। वायुयानों की दृष्टि से चीन की शक्ति जापान के सम्मुख अगण्य थी। अतः जापान की वायु सेना स्वतन्त्र चीन के नगरों व व्यवसाय केन्द्रों पर स्वेच्छापूर्वक आक्रमण करती रह सकती थी। चुंगकिंग सरकार के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह जापान के हवाई हमलों को किसी भी प्रकार रोक सके। १९३९ में यूरोप में बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हो गया था। पाश्चात्य देशों के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे पूर्वी एशिया के मामलों पर ध्यान दे सकें। यह स्थिति जापान के लिये बहुत अनुकूल थी। उसने इसका पूर्ण रूप से उपयोग किया और चीन में अपनी शक्ति को भलीभांति सुदृढ़ कर लिया। पर कुछ समय बाद ही जापान भी इस महायुद्ध में शामिल हो गया। महायुद्ध के अवसर पर चीन ने किस प्रकार जापान का मुकाबला किया और किस प्रकार कुओमिन्तांग व कम्युनिस्ट सरकारों ने जापान के साथ संघर्ष किया, इस विषय पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

## (४) स्वतन्त्र चीन

**जनता का प्रवास**--चीन और जापान के युद्ध की मुख्य घटनाओं पर हमने पिछले प्रकरण में संक्षेप के साथ प्रकाश डाला है। अब हम इस बात पर विचार करेंगे, कि स्वतन्त्र चीन के जिन प्रदेशों पर चुंगकिंग की कुओमिन्तांग सरकार का शासन था, उनकी क्या दशा थी। जापानी सेनाओं के आक्रमण के कारण जब नानकिंग की सरकार पश्चिम की ओर जाने के लिये विवश हुई, तो बहुत से देशभक्त लोगों ने भी अपने घरबार को छोड़कर पश्चिम की ओर प्रस्थान किया। पश्चिमी चीन में प्रवास करनेवाले इन लोगों की संख्या लाखों में थी। जो लोग इस समय अपने घर बार को छोड़कर कुओमिन्तांग सरकार का अनुसरण कर पश्चिम की ओर गये, उन्हें हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) विद्यार्थी और अध्यापक लोग--चीन के ज्ञान और विद्या के सब महत्वपूर्ण केन्द्र पूर्वी तट के समीपवर्ती नगरों में स्थित थे। इन प्रदेशों के विश्वविद्यालयों में हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे और विज्ञान, शिल्प, कला आदि सब प्रकार की शिक्षा का इनमें प्रबन्ध था। चीन के इन विद्यार्थियों और शिक्षकों में राष्ट्रीयता की भावना अत्यन्त प्रबल थी। चीन में राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र शासन की स्थापना के लिये जो भी आन्दोलन हुए, चीनी विद्यार्थियों ने उनमें प्रमुख भाग

लिया था। जापान के विरुद्ध भावना को उत्पन्न करने में भी उनका प्रमुख हाथ था। इस दशा में उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे जापान द्वारा अधिकृत प्रदेशों में रह सकें। कुओमिन्तांग सरकार के साथ साथ उन्होंने भी पश्चिम की ओर बड़ी संख्या में प्रस्थान किया और चीन के जो अनेक कालिज व विश्वविद्यालय पहले पूर्वी चीन में स्थापित थे, अब पश्चिमी चीन में कायम हुए। चीनी विद्यार्थी और शिक्षक अपने साथ में बहुत सी पुस्तकें व अन्य शिक्षा सामग्री भी ले गये। चीन में यातायात के साधनों की बहुत कमी थी। अतः बहुत से लोग पैदल यात्रा करने को विवश थे। पर पैदल जाते हुए भी उन्होंने इस बात का यत्न किया था, कि वे पुस्तकों व प्रयोगशालाओं के उपकरणों को अधिक से अधिक संख्या में अपने साथ में ले जावें। पश्चिमी चीन के स्जेच्वान, क्वेईचाउ और यूनान प्रान्तों के जिन नगरों व ग्रामों को जापानी आक्रमणों से सुरक्षित समझा गया, वहां इन कालिजों और विश्वविद्यालयों की पुनः स्थापना की गई।

(२) चीनी लोगों की यह नीति थी, कि जिन प्रदेशों पर जापानी सेनाओं का प्रभुत्व स्थापित होने की सम्भावना हो, उनकी फसलों को उजाड़ दें और उनके कारखानों को नष्ट कर दें, ताकि जापानी लोग उनका उपयोग न कर सकें। अतः कारखानों के मालिकों ने यह यत्न किया, कि पूर्वी चीन के कारखानों की मशीनरी को उखाड़ कर उसे पश्चिमी चीन में ले जावें और वहां अपने कारखानों को नये सिरे से स्थापित करें। यह सम्भव नहीं था, कि युद्ध की परिस्थिति में सब मशीनरी को पश्चिम की ओर ले जाया जा सकता। पर जिस अंश तक भी सम्भव हुआ, चीनी लोगों ने अपने कारखानों की मशीनरी को पश्चिमी चीन में पहुंचा दिया। रेल, मोटर, ठेला आदि जिस किसी साधन से भी सम्भव हुआ, उन्होंने अपनी मशीनों को पश्चिम पहुंचाया। इस नीति का यह परिणाम हुआ, कि पश्चिमी चीन में बहुत से कारखानों का विकास हुआ और बहुत से पूंजीपति व व्यवसायपति पूर्वी चीन को छोड़कर पश्चिम के विविध प्रान्तों में आ बसे।

(३) विद्यार्थियों, शिक्षकों और पूंजीपतियों के अतिरिक्त बहुत से सम्पन्न लोग भी इस समय अपने परम्परागत घरों का परित्याग कर पश्चिमी चीन में चले आये। सम्भवतः इन्हें अपने घर बार को छोड़ने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। पर इनका कुओमिन्तांग सरकार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था और जिस ढंग से इस समय चीन के विविध लोग पश्चिम की तरफ प्रस्थान में तत्पर थे, उसमें ये भी शामिल हो गये थे। ये समझते थे, कि जापानी सेनाओं के शासन में इनके जान और माल की रक्षा सम्भव नहीं होगी। इसीलिये अन्य लोगों के समान ये भी पश्चिम में जा बसने के लिये तत्पर हो गये थे।

**पश्चिमी चीन की उन्नति**—लाखों की संख्या में जो बहुत से विद्यार्थी, शिक्षक, पूंजीपति और सम्पन्न लोग इस समय पूर्वी चीन को छोड़कर पश्चिम के विविध प्रान्तों में बसने के लिये आ गये, उसके अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। इन परिणामों को हम संक्षेप में इस प्रकार निर्दिष्ट कर सकते हैं—

(१) पश्चिमी चीन में अनेक नये कालिज और विश्वविद्यालय स्थापित हुए। अब तक पश्चिमी चीन शिक्षा की दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था। पर अब वह चीन के ज्ञान और विज्ञान का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया।

(२) पश्चिमी चीन में बहुत से नये कारखाने खोले गये। कुओमिन्तांग सरकार के लिये यह आवश्यक था, कि जापान के साथ युद्ध को जारी रखने के लिये युद्ध सामग्री को अपने क्षेत्र में ही तैयार किया जाय। विदेशों से अस्त्र शस्त्र आदि को प्राप्त कर सकना सुगम नहीं था, क्योंकि पश्चिमी चीन का पाश्चात्य संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। इस दशा में चियांग काई शेक की सरकार तभी युद्ध को जारी रख सकती थी, जब कि वह अपनी आवश्यक वस्तुओं को स्वयं उत्पन्न करने का प्रयत्न करे। बहुत से पूंजीपति अपने कारखानों की मशीनरी को पश्चिमी चीन में ले आये थे। पर ये कारखाने युद्ध की दृष्टि से पर्याप्त नहीं थे। अतः कुओमिन्तांग सरकार ने प्रयत्न किया, कि पश्चिमी चीन का आर्थिक दृष्टि से अधिक से अधिक विकास करें। इसके लिये उसने तीन कमीशनों की नियुक्ति की—क-व्यावसायिक और खनिज द्रव्य कमीशन, इसके लिये एक करोड़ चीनी डालर की पूंजी की व्यवस्था की गई। ख- कृषि कमीशन, इसके लिये तीन करोड़ चीनी डालर पूंजी दी गई। ग- व्यापार कमीशन, इसके लिये दो करोड़ चीनी डालर पूंजी दी गई। इन कमीशनों का उद्देश्य यह था, कि व्यवसाय, खान, कृषि और व्यापार की उन्नति के लिये योजनाएं तैयार करें और उन योजनाओं को क्रिया में परिणत करें। इन कमीशनों ने अपने कार्य के लिये अनेक विदेशी विशेषज्ञों की सहायता प्राप्त की और शीघ्र ही पश्चिमी चीन आर्थिक उन्नति के क्षेत्र में बहुत अधिक उन्नति कर गया। कृषि और व्यवसाय की उन्नति के बिना यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था, कि पश्चिमी चीन अपनी विशाल सेनाओं व पूर्वी चीन से आये हुए लोगों की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता। पर कृषि और व्यवसाय की उन्नति एकदम नहीं की जा सकती थी, इसके लिये समय की अपेक्षा थी। यही कारण है, कि इस काल में पश्चिमी चीन के लोगों को बहुत सी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। वहां वस्तुओं की मांग बहुत अधिक थी, पर उनकी उपलब्धि बहुत कम थी। इसका परिणाम यह हुआ, कि वस्तुओं की कीमतें बड़ी तेजी के साथ

बढ़ने लगीं, और सर्वसाधारण जनता के लिये अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को प्राप्त कर सकना कठिन हो गया।

(३) इस समय पश्चिमी चीन में बहुत सी नई सड़कों और रेलवे लाइनों का निर्माण किया गया। युद्ध के सुचारु रूप से संचालन के लिये यातायात और आवागमन के साधनों का उन्नत होना बहुत आवश्यक था। कुओमिन्तांग सरकार ने इस ओर विशेष रूप से ध्यान दिया।

(४) अब तक पूर्वी चीन सभ्यता, संस्कृति और आर्थिक जीवन का केन्द्र था। पश्चिमी प्रान्त इन क्षेत्रों में बहुत पिछड़े हुए थे। आधुनिक युग के विचारों, संस्थाओं और आदर्शों का उन पर प्रभाव नाममात्र को ही था। इस दशा में चुंगकिंग के राजधानी बन जाने से इन प्रान्तों की सर्वतोमुखी उन्नति में बहुत अधिक सहायता मिली।

**चुंगकिंग सरकार का शासन**—जिस समय चीन की कुओमिन्तांग सरकार की राजधानी नानकिंग में थी, तब भी उसका स्वरूप लोकतन्त्र नहीं था। मञ्चू राजवंश का अंत कर चीन में रिपब्लिक की स्थापना अवश्य हो गई थी; पर चीन की रिपब्लिकन सरकार का संगठन लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार नहीं किया गया था। सम्भवतः रिपब्लिक के नेताओं को इस बात का अवकाश ही नहीं मिला था, कि वे देश में लोकतन्त्रवाद का विकास कर सकें। शुरू में उनकी सम्पूर्ण शक्ति विविध सिपहसालारों को अपने वश में लाने में लगी रही। बाद में चीन में अनेक ऐसी स्वतन्त्र सरकारें स्थापित हो गईं, जो नानकिंग के आधिपत्य को नहीं मानती थीं। चियांग काई शेक की शक्ति इन सरकारों को अपने अधीन कर राष्ट्रीय एकता की स्थापना में लगी। चीन में राष्ट्रीय एकता अभी पूर्ण रूप से स्थापित नहीं हो पाई थी, कि जापान के साथ युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस दशा में यदि चीन में लोकतन्त्र संस्थाओं का विकास न हो सका हो, तो इसे अस्वाभाविक व अनुचित नहीं कहा जा सकता।

यही कारण है, कि जब चुंगकिंग को राजधानी बनाकर कुओमिन्तांग दल ने अपना कार्य प्रारम्भ किया, तो चीन की शासन-व्यवस्था में लोकतन्त्रवाद की और भी अधिक कमी हो गई। युद्ध की आवश्यकताओं ने इस समय चीन की सम्पूर्ण राजशक्ति को महासेनापति चियांग काई शेक के हाथों में केन्द्रित कर दिया था। उसकी स्थिति एक एकाधिकारी (डिक्टेटर) के समान हो गई थी और वह न केवल सैनिक क्षेत्र में अपितु शासन कार्य में भी पूर्णतया स्वच्छन्द हो गया था। चियांग काई शेक के सम्मुख कुओमिन्तांग दल भी सर्वथा अशक्त हो गया था और वह इस शक्तिशाली महासेनापति के हाथों में कठपुतली के समान आचरण करने

लगा था। इस समय चीन में चियांग काई शेक की शक्ति जो इस प्रकार असीम हो सकी, उसमें निम्नलिखित परिस्थितियां सहायक थीं—

(१) युद्ध की परिस्थितियों के कारण देश के शासन में सेना और सेनापतियों का महत्त्व बहुत बढ़ा हुआ था। चियांग काई शेक स्वतन्त्र चीन की सेनाओं का प्रधान सेनापति था और चीन की राष्ट्रीय सेना के बहुसंख्यक युवक सेनापति उसे अत्यधिक आदर की दृष्टि से देखते थे। हम पहले लिख चुके हैं, कि कुओमिन्तांग दल के उत्कर्ष के समय नानकिंग के पास एक सैनिक एकेडमी की स्थापना की गई थी, जिसका संस्थापक और संचालक चियांग काई शेक ही था। इस सैनिक एकेडमी में शिक्षा प्राप्त करनेवाले आफिसर अपने को चियांग काई शेक का शिष्य समझते थे और उसे अपना मार्गप्रदर्शक मानते थे। जब नानकिंग जापानियों के हाथों में चला गया, तो अन्य अनेक शिक्षणालयों के समान यह सैनिक एकेडमी भी पश्चिमी चीन में ले आई गई थी। इस समय चीन की राष्ट्रीय सेना के बहुसंख्यक उच्च आफिसर ऐसे थे, जिन्होंने चियांग काई शेक द्वारा स्थापित सैनिक एकेडमी में शिक्षा प्राप्त की थी। यह स्वाभाविक था, कि वे पूर्णतया उसके अनुयायी हों और उसके सिद्धान्तों, आदर्शों और नीति के समर्थक हों। इस सैनिक एकेडमी की स्थापना से पूर्व चीन के विविध सेनापतियों में प्रायः प्रतिद्वन्द्विता का भाव रहता था और किसी एक सेनापति की स्थिति ऐसी नहीं होती थी, जो अन्य सब सेनापतियों को पूर्ण रूप से अपनी आज्ञा में रख सके। पर अब यह स्थिति बदल चुकी थी।

(२) कुओमिन्तांग दल में बहुत से लोग ऐसे थे, जो वैयक्तिक रूप में चियांग काई शेक के प्रति अनुरक्त थे। इनमें चेन ली-फू और चेन कुओ-फू का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये दोनों चेन बन्धु कम्युनिज्म के कट्टर विरोधी थे और दक्षिणपक्षी प्रवृत्तियों के पक्षपाती थे। कुओमिन्तांग दल में इनका बहुत ऊंचा स्थान था। चेन कुओ-फू चीन के केन्द्रीय पोलिटिकल इन्स्टिट्यूट का अध्यक्ष था। यह संस्था कुओमिन्तांग दल के कार्यकर्ताओं को ट्रेन करती थी। इस संस्था में नवयुवकों को यह सिखाया जाता था, कि अपने नेताओं के आदेशों को आंख मींचकर मानना उनका सबसे बड़ा कर्तव्य है। चीन की प्राचीन विचारसरणी भी यही शिक्षा देती है। कन्फ्यूसियस की यह प्रधान शिक्षा थी, कि अपने गुरुजनों और गुरुओं के प्रति भक्ति रखी जाय और बिना किसी ननु नच के उनकी शिक्षाओं का अनुसरण किया जाय। चेन कुओ-फू द्वारा संचालित पोलिटिकल इन्स्टिट्यूट में जो नवयुवक राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करते थे, वे कुओमिन्तांग दल के विचारों और सिद्धान्तों में आंख मींचकर विश्वास करते

थे और उन्हें क्रिया में परिणत करना अपना कर्तव्य समझते थे। चेन ली-फू चुंगकिंग सरकार में शिक्षामन्त्री के पद पर अधिष्ठित था। उसकी भी यही नीति थी, कि चीन के विविध शिक्षणालयों में विद्यार्थियों को अपने नेताओं व गुरुजनों की आज्ञाओं के पालन की शिक्षा दी जाय। इस नीति का यह परिणाम था, कि चीन के नवयुवकों व विद्यार्थियों में स्वतन्त्र विचार और परम्परागत आदर्शों की सत्यता व उपयोगिता में सन्देह करने की प्रवृत्ति में कमी होती जाती थी और वे अपने नेताओं को असाधारण आदर व श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे थे। क्योंकि चियांग काई शेक चीन का सर्वप्रधान नेता था, अतः उसके प्रति भक्ति व सम्मान की भावना निरन्तर बढ़ती जाती थी और जो नवयुवक चीन की सेना व सरकार में विविध पदों को प्राप्त करते थे, वे उसके आदेशों को मानना अपना परम कर्तव्य समझते थे।

(३) चियांग काई शेक के अपने विचार दक्षिण पक्षी थे, और वह स्वयं कम्युनिज्म का कट्टर विरोधी था। इसीलिये उसने कुओमिन्तांग दल से कम्युनिस्टों को बहिष्कृत कर दिया था और अपनी शक्ति का आधार चीन के उन पूंजीपतियों, जमींदारों व सम्पन्न श्रेणि के लोगों को बनाया था, जिनको सर्वसाधारण जनता से जरा भी सहानुभूति नहीं थी। यही कारण है, कि कुओमिन्तांग सरकार देहात में निवास करनेवाले किसानों की दशा को उन्नत करने के लिये कोई कार्य नहीं कर रहा था। उसका सम्पूर्ण ध्यान इस बात पर था, कि कल कारखानों का विकास हो, शहरों की उन्नति हो और रेलवे लाइनों, सड़कों आदि का इस ढंग से निर्माण किया जाय, ताकि शहरों के व्यवसायपति उनसे लाभ उठा सकें। चीन की देहाती जनता में इस समय तक अभिनव जागृति नहीं हुई थी, इसलिये यदि उनके हित के लिये चियांग काई शेक ने कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया, तो इससे उसकी शक्ति व प्रभाव में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। पर शहरों की मध्यम श्रेणि, पूंजीपति व जमींदार आदि सम्पन्न वर्ग के लोगों के लिये कुओमिन्तांग दल जिस नीति का अनुसरण कर रहा था, उससे यह वर्ग उसका पक्षपाती बन गया था। चियांग काई शेक के अतुल प्रभाव के लिये सम्पन्न वर्ग का समर्थन बहुत सहायक था।

इन सब बातों का यह परिणाम हुआ, कि चीन में कुओमिन्तांग दल की स्थिति जर्मनी की नाजी पार्टी व इटली की फैसिस्ट पार्टी के समान अद्वितीय हो गई। चीनी सरकार की नीति का निर्धारण जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि नहीं करते थे। यह कार्य कुओमिन्तांग दल के हाथों में था, और इस दल पर चियांग काई शेक का एकाधिपत्य था। महासेनापति चियांग काई शेक जो कुछ सोचता था, जो

कुछ निर्धारित करता था, कुओमिन्तांग दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति बिना किसी विवाद के उसे स्वीकार कर लेती थी। जापान के साथ युद्ध की परिस्थिति में कुओमिन्तांग दल पर चियांग काई शेक का आधिपत्य और भी अधिक बढ़ गया था। यही कारण है, कि चुंगकिंग सरकार में चियांग काई शेक की स्थिति एकाधिपति (डिक्टेटर) के सदृश थी।

पर यह नहीं समझना चाहिये, कि चुंगकिंग सरकार में जनता को अपनी सम्मति को अभिव्यक्त करने के लिये कोई भी अवसर नहीं था। जब चीन की स्वतन्त्र सरकार का प्रधान कार्यालय हैन्को में था, तभी जनता की राजनीतिक कौंसिल (पीपल्स पोलिटिकल कौंसिल) की वहां स्थापना की गई थी। शुरू में इसके २०० सदस्य थे, बाद में उनकी संख्या बढ़ाकर २४० कर दी गई थी। जब सरकार हैन्को से चुंगकिंग चली गई, तो इस कौंसिल के अधिवेशन भी चुंगकिंग में होने लगे। राजनीतिक कौंसिल के सदस्यों की नियुक्ति जनता निर्वाचन द्वारा नहीं करती थी, उन्हें मनोनीत किया जाता था। पर इन सदस्यों को मनोनीत करते हुए यह भी ध्यान में रखा जाता था, कि कुओमिन्तांग दल के अतिरिक्त अन्य विचारों का भी उसमें प्रतिनिधित्व हो सके। कम्युनिस्ट दल तक के व्यक्ति इस कौंसिल में मनोनीत किये जाते थे। इस कौंसिल के संगठन का प्रधान उद्देश्य यह था, कि सब दलों और विचारों के लोग परस्पर मिलकर जापान के विरुद्ध संघर्ष में सहयोग दे सकें। पर साथ ही इस कौंसिल से यह लाभ भी अवश्य था, कि इसमें कुओमिन्तांग दल के विरोधियों को भी अपनी नीति व विचारों को प्रकट करने का अवसर मिल जाता था।

**येनान की कम्युनिस्ट सरकार**—स्वतन्त्र चीन के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में कम्युनिस्ट लोगों की पृथक् सरकार स्थापित थी, जिसकी राजधानी येनान थी। कम्युनिस्ट सरकार जापान के विरुद्ध संघर्ष में चियांग काई शेक के आदेशों के अनुसार चलती थी और उसकी सेनायें चीन की राष्ट्रीय सेना का अंग मानी जाती थीं। चुंगकिंग की पोलिटिकल कौंसिल में भी कम्युनिस्ट दल को स्थान प्राप्त था। पर शासन की दृष्टि से कम्युनिस्ट सरकार अपने क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थी और वह समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार अपने राज्य का संगठन करने में तत्पर थी। बड़े व्यवसायों को राज्य के अधिकार में कर लिया गया था और देहातों में स्थानीय सोवियतों की स्थापना कर दी गई थी। सर्वसाधारण जनता इस नई व्यवस्था से बहुत संतुष्ट थी और कम्युनिस्ट सरकार के प्रति अनुरक्त थी। चुंगकिंग और येनान की दो सरकारों में यह भिन्नता बहुत महत्व की है। चियांग काई शेक की नीति व कार्यक्रम से जनता को विशेष सहानुभूति नहीं थी, क्योंकि इसमें

उसे अपना कोई लाभ प्रतीत नहीं होता था । इसके विपरीत कम्युनिस्ट शासन में जनता जहां एक तरफ राष्ट्रीय आदर्श को सम्मुख रखकर जापान के साथ संघर्ष में तत्पर थी, वहां साथ ही वह यह भी अनुभव करती थी, कि इस शासन से उसका अपना भी हित और कल्याण है । इसीलिये वह जापान के साथ संघर्ष में बड़े से बड़ा त्याग करने के लिये तैयार थी । यही कारण है, कि कम्युनिस्ट लोग जापान के विरुद्ध गुरीला युद्ध में जनता का सहयोग प्राप्त करने में समर्थ थे । चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग सेनाएं गुरीला युद्ध में कोई भी निपुणता नहीं प्राप्त कर सकी थीं, क्योंकि जनता उनके साथ सहयोग करते हुए कोई उत्साह अनुभव नहीं करती थी । इसीलिये जापान द्वारा अधिकृत चीन के जिन प्रदेशों में गुरीला युद्ध की आवश्यकता अनुभव की गई, उनमें कम्युनिस्ट लोगों को आगे किया गया ।

क्योंकि कम्युनिस्ट सरकार के लिये स्थल मार्ग द्वारा रूस से युद्ध सामग्री की सहायता प्राप्त कर सकना अधिक सुगम था, अतः उसकी स्थिति चुंगकिंग सरकार की अपेक्षा अधिक मजबूत थी। पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये कि, रूस चीन को युद्ध सामग्री की जो भी सहायता देता था, वह चुंगकिंग सरकार को दी जाती थी और चुंगकिंग सरकार ही उसके एक अंश को येनान सरकार को प्रदान करती थी। रूसी लोग येनान की कम्युनिस्ट सरकार के प्रति पक्षपात प्रदर्शित नहीं करते थे । क्योंकि कुओमिन्तांग सरकार चीन की प्रमुख सरकार थी, अतः रूस की ओर से दी जानेवाली युद्ध सामग्री उसी के सुपुर्द की जाती थी । बहुधा येनान सरकार को यह शिकायत भी रहती थी, कि चुंगकिंग सरकार रूस से प्राप्त होने वाली युद्ध सामग्री को कम्युनिस्ट सेनाओं को नहीं देती है । जिस समय १९४० में बरमा के मार्ग से ब्रिटेन और अमेरिका की युद्ध सामग्री प्रचुर परिमाण में चुंगकिंग पहुंचने लगी, तो चियांग काई शेक की सरकार का कम्युनिस्टों के साथ विरोध अधिक प्रत्यक्ष हो गया । कई बार ऐसे अवसर भी उपस्थित हुए, जब कि कुओमिन्तांग सरकार कम्युनिस्ट सेनाओं का सहयोग प्राप्त करने के बजाय उनका विरोध करने के लिये उद्यत हुई । वस्तुतः चियांग काई शेक और उसके साथी हृदय से कम्युनिस्टों के विरोधी थे । जापान के प्रभुत्व से अपने देश की रक्षा के कार्य में भी उन्हें कम्युनिस्टों का सहयोग अभीष्ट प्रतीत नहीं होता था । इसीलिये जब वांग चिंग वेई के नेतृत्व में जापान की संरक्षा में नानकिंग सरकार का सुचारु रूप से संगठन हो गया, तो चुंगकिंग सरकार कम्युनिस्टों की अपेक्षा उस सरकार के साथ अधिक सहयोग करने लगी । बाद में कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में जो घोर संघर्ष हुआ, उसके मूल कारण इस समय में भी विद्यमान थे और यही

कारण है कि चियांग काई शेक ने कभी भी जापान के विरुद्ध कम्युनिस्ट दल के सहयोग का हृदय से स्वागत नहीं किया।

चियांग काई शेक ने कम्युनिस्ट सेनाओं का जो सहयोग लिया, उसका कारण उसकी सैनिक विवशता ही थी। १८३८ में जब हैंको पर जापानी सेनाओं का अधिकार हो गया, तो कुओमिन्तांग सरकार की स्थिति बहुत दयनीय हो गई थी। चीन के बहुत बड़े भाग पर जापान का प्रभुत्व कायम हो गया था और जापानी सेनाएं निरन्तर आगे बढ़ती जाती थीं। इस दशा में चियांग काई शेक ने विवश होकर कम्युनिस्टों को यह अनुमति प्रदान की, कि वे यांगत्से नदी के दक्षिण में गुरीला युद्ध को प्रारम्भ कर सकें। यांगत्से नदी के दक्षिण में विद्यमान कियांग्सी और हूनान प्रान्तों में १९३४ तक कम्युनिस्टों का शासन विद्यमान था। यहां उन्होंने समाजवादी व्यवस्था भी कायम की हुई थी। यद्यपि चियांग काई शेक की कम्युनिस्ट विरोधी नीति के कारण वे लोग इन प्रदेशों का परित्याग कर उत्तर-पश्चिम के शेन्सी प्रान्त में चले जाने के लिये विवश हुए थे, पर कियांग्सी प्रान्त और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में अब तक कम्युनिस्ट व्यवस्था की स्मृति विद्यमान थी। वहां ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो कम्युनिस्टों के साथ सहानुभूति रखते थे। विशेषतया सर्वसाधारण किसान मजदूर जनता कम्युनिस्ट शासन के दिनों को अभिमानपूर्वक याद करती थी। इस दशा में कम्युनिस्ट लोगों के लिये यह अत्यन्त सुगम था, कि वे कियांगसी की जनता के सहयोग से इस प्रान्त में गुरीला युद्ध को शुरू कर सकें। इस प्रान्त में जापान के साथ संघर्ष को जारी रखने का कार्य कम्युनिस्टों के सुपुर्द किया गया और उन्होंने 'चीन की चतुर्थ सेना' के रूप में वहां अपने गुरीला सैनिकों को जापान से युद्ध जारी रखने के लिये नियुक्त किया। इसमें सन्देह नहीं, कि कम्युनिस्ट लोग गुरीला युद्ध में बहुत प्रवीण थे और उन्हें जापान के साथ संघर्ष में इस क्षेत्र में अच्छी सफलता भी प्राप्त हुई। कियांगसी प्रान्त में कम्युनिस्ट सेनाओं के प्रविष्ट हो जाने से चीन में कम्युनिस्टों के दो क्षेत्र हो गये—(१) उत्तर पश्चिमी चीन और (२) कियांगसी प्रान्त। चीन के अगले इतिहास को भलीभांति समझने के लिये इस बात को ध्यान में रखने की आवश्यकता है, क्योंकि भविष्य में जब कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में संघर्ष का फिर प्रारम्भ हुआ, तो कम्युनिस्टों की शक्ति के ये दो महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे और इन्हीं से उन्होंने अन्य प्रदेशों में अपनी शक्ति का विस्तार किया था।

## (५) जापान द्वारा अधिकृत चीन

चियांग काई शेक की सेनाओं को परास्त कर जापान ने चीन में पेकिंग और

नानकिंग में जिन दो सरकारों की स्थापना की थी, उनका उल्लेख इस अध्याय में पहले किया जा चुका है। पेकिंग की सरकार की स्थापना १४ दिसम्बर, १९३७ को हुई थी, और नानकिंग सरकार की २८ मार्च, १९३८ को। इन दो सरकारों के अतिरिक्त जापान की अधीनता में एक तीसरी सरकार भी थी, जिसका शासन आभ्यन्तर मंगोलिया पर विद्यमान था। जापान की इच्छा थी, कि इन तीनों सरकारों को मिलाकर एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना की जाय, जो अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से चीन की वैध सरकार मानी जाय और जो चियांग काई शेक का स्वतन्त्र रूप से मुकाबला कर सके। इसी उद्देश्य से २२ सितम्बर, १९३८ को 'चीन की संयुक्त कौंसिल' का संगठन किया गया, जिसका केन्द्र नानकिंग को रखा गया। पर इस संयुक्त कौंसिल के निर्माण द्वारा अधिकृत चीन की विविध सरकारों की पृथक् सत्ता का अन्त नहीं कर दिया गया। ये सरकारें कायम रहीं, यद्यपि यह कौंसिल उन सब पर नियन्त्रण रखती थी और उनमें सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न करती थी।

हम पहले लिख चुके हैं, कि जब हैन्को पर जापान का अधिकार हुआ, तो वांग चिंग वेई इस पक्ष में था, कि चीन को जापान के साथ समझौता कर लेना चाहिये। युद्ध को और अधिक जारी रखना उसकी दृष्टि में निरर्थक था। चियांग काई शेक ने उसे देशद्रोही समझा और वह अपने अनेक साथियों के साथ कुओमिन्तांग सरकार से पृथक् हो गया। वांग चिंग वेई ईमानदारी के साथ यह समझता था, कि चियांग काई शेक डा० सन यात सेन की नीति व आदर्शों का पालन नहीं कर रहा है, और उसके नेतृत्व में चीन लोकतन्त्रवाद के मार्ग से हटकर फैसिज्म की तरफ चला जा रहा है। वांग चिंग वेई यह भी समझता था, कि चीन का हित व कल्याण इस बात में है, कि वह अपनी उन्नति के लिये जापान का सहयोग प्राप्त करे। उसे विश्वास था, कि जापानी सरकार से बातचीत करके ऐसी सन्धि की जा सकती है, जिससे चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहे और चीन जापान का सहयोग प्राप्त कर लोकतन्त्र शासन की स्थापना में और अपनी राष्ट्रीय उन्नति में समर्थ हो। इसीलिये उसने चियांग काई शेक का साथ छोड़कर जापान के साथ सन्धि करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। पर यह कार्य सुगम नहीं था, कारण यह कि वांग चिंग वेई जापान से कोई ऐसा समझौता नहीं करना चाहता था, जिसमें चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अक्षुण्ण न रहती हो। दूसरी तरफ जापान इस बात के लिये उत्सुक था, कि चीन की सरकार उसके प्रभाव में रहे और पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में उसकी नीति का अनुसरण करे। वस्तुतः जापान की यह इच्छा थी, कि पूर्वी एशिया में मञ्चूकुओ, चीन और जापान को मिलाकर एक ऐसा गुट बनाया जाय,

जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक नीति का अनुसरण करे। इस नीति के निर्धारण में जापान का प्रमुख हाथ हो, और चीन व मञ्चूकुओ विदेशी राजनीति में जापान के अनुगामी रहें। केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ही नहीं, अपितु आर्थिक जीवन में भी ये दोनों राज्य जापान के सहयोगी बन कर रहें। इसी उद्देश्य से जापान यह चाहता था, कि चीन और मञ्चूकुओ की मुद्रापद्धति येन से सम्बद्ध रहे। जापान की यह इच्छा नहीं थी, कि वह चीन के साथ एक अधीनस्थ राज्य का सा व्यवहार करे। जिन अर्थों में ब्रिटेन ने भारत और बरमा पर या फ्रांस ने इन्डोचायना पर अपना आधिपत्य स्थापित किया हुआ था, उन अर्थों में जापान चीन को अपनी अधीनता में नहीं लाना चाहता था। उसकी यह आकांक्षा नहीं थी, कि चीन पर जापान का शासन कायम हो, पर वह यह अवश्य चाहता था, कि चीन में ऐसी सरकार कायम हो, जो जापान की संरक्षा और सहयोग को महत्व दे। चीन पहले भी सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न देश नहीं था। ब्रिटेन, अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों ने न केवल उसमें अपने अनेक प्रकार के विशेषाधिकार कायम किये हुए थे, अपितु चियांग काई शेक की सरकार अमेरिका और ब्रिटेन की संरक्षा तथा साहाय्य पर भी निर्भर थी। पाश्चात्य देशों ने जिस ढंग से एशिया के प्रायः सभी देशों पर अपना प्रभाव व प्रभुत्व स्थापित किया हुआ था, जापान उसके विरुद्ध था। वह चाहता था, कि पूर्वी एशिया से पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व का अन्त हो और इस भूखण्ड की विविध सरकारें जापान को अपना संरक्षक, नेता व सहयोगी स्वीकार करें।

वांग चिंग वेई जापान की इस नीति से सहमत था। इसीलिये उसने जापान के साथ सहयोग की नीति को स्वीकार किया। मार्च, १९४० में नानकिंग में चीन की केन्द्रीय सरकार का संगठन किया गया और वांग चिंग वेई को इस सरकार का प्रधान बनाया गया। नानकिंग सरकार के साथ जापान ने जो समझौता किया, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) जापान ने वांग चिंग वेई की सरकार को चीन की वैध सरकार के रूप में स्वीकृत किया और उसे यह वचन दिया, कि चियांग काई शेक की चुंगकिंग सरकार को परास्त करके सम्पूर्ण चीन में अपना शासन स्थापित करने के कार्य में वह वांग चिंग वेई सरकार की सब प्रकार से सहायता करेगा। (२) जिस समय चियांग काई शेक की पराजय के कारण चीन में गृह कलह का अन्त हो जायगा, जापान अपनी सेनाओं को चीन से हटा लेगा। उस समय तक जो जापानी सेनाएं चीन में रहेंगी, उनका उद्देश्य केवल वांग चिंग वेई की सरकार को सहायता पहुँचाना ही रह जायगा। (३) चियांग काई शेक की सेनाओं के परास्त हो जाने के बाद जापानी सेनाएं तब तक उत्तर-पश्चिमी चीन में रह सकेंगी, जब तक कि उस प्रदेश में कम्युनिस्ट लोगों को परास्त न कर दिया

जाय। (४) आर्थिक मामलों में वांग चिंग वेई की सरकार जापान के साथ सहयोग करेगी और मुद्रापद्धति व आर्थिक नीति का संचालन जापान के परामर्श के अनुसार करेगी। इस समझौते के अनुसार जापान की दृष्टि में वांग चिंग वेई की नानकिंग सरकार चीन की असली और वैध सरकार थी और चियांग काई शेक के साथ उसका संघर्ष एक गृहयुद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई हैसियत नहीं रखता था। जापान की दृष्टि में चियांग काई शेक की सरकार व कम्युनिस्टों के विरुद्ध युद्ध का संचालन वांग चिंग वेई की सरकार कर रही थी और जापान केवल उसकी सहायता कर रहा था। इस समय यूरोप में द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) का प्रारम्भ हो चुका था और जर्मनी, इटली आदि राज्यों की सहानुभूति जापान के साथ में थी। अतः १ जुलाई, १९४१ तक अनेक यूरोपियन राज्यों ने, जो कि इस समय जर्मनी के साथ थे, वांग चिंग वेई की सरकार को स्वीकृत कर लिया था। इन राज्यों के नाम निम्नलिखित हैं—जर्मनी, इटली, स्पेन, रूमानिया, स्लोवाकिया और क्रोटिया। यहां यह लिखने की आवश्यकता नहीं, कि इस समय रूमानिया, स्लोवाकिया और क्रोटिया जर्मनी के अधिकार में थे और इनकी सरकारें पूर्णतया जर्मनी की वशवर्ती थीं। इटली और स्पेन जर्मनी के मित्र थे और महायुद्ध के अवसर पर इन सब राज्यों की सहानुभूति जापान के साथ थी।

राजनीतिक दृष्टि से वांग चिंग वेई की सरकार स्वतन्त्र थी, पर जापान उसकी आर्थिक नीति का संचालन इस ढंग से कर रहा था, जिससे उसका अपना लाभ हो। चीन के आर्थिक विकास के लिये जापानी मन्त्रिमण्डल की अधीनता में एक बोर्ड स्थापित किया गया था, जिसकी अधीनता में अनेक जापानी कम्पनियां चीन में व्यापार और व्यवसायों की उन्नति के लिये काम कर रही थीं। इन कम्पनियों को चीन में विशेष अधिकार प्रदान किये गये थे। चीन की मुद्रा-पद्धति को जापान के येन के साथ सम्बद्ध किया गया था और जापानी सरकार का यह प्रयत्न था, कि चीन के साथ उसके व्यापार में निरन्तर वृद्धि हो। इस प्रयत्न में उसे सफलता भी प्राप्त हुई थी। १९३७ में जापान से जो माल चीन में गया था, उसका मूल्य १९,००,००,००० येन था। १९३८ में चीन में आये जापानी माल की मात्रा बढ़कर ३४,३०,००,००० येन तक पहुंच गई थी। इसके बाद चीन में जापानी आयात माल की मात्रा में और भी अधिक वृद्धि हुई। जापान से आने वाले माल के मुकाबले में चीन से जापान जानेवाले माल की मात्रा में इतनी तेजी के साथ वृद्धि नहीं हुई थी। १९३७ में चीन से जापान जानेवाले माल का मूल्य १७,००,००,०००, येन था। १९३८ में यह बढ़कर १७,९०,००,००० येन हो गया था। इससे स्पष्ट है, कि चीन जापान से जो

माल मंगा रहा था, उसकी मात्रा उससे जापान जानेवाले माल की अपेक्षा बहुत अधिक थी। जापान को यही बात अभीष्ट भी थी। जापान चीन में अपने आधिपत्य को इसीलिये स्थापित करना चाहता था, ताकि वहां वह अपने तैयार माल के लिये सुरक्षित बाजार प्राप्त कर सके। इस उद्देश्य में उसे अच्छी सफलता प्राप्त हो गई थी।

अठारहवां अध्याय

# महायुद्ध और जापान

## (१) महायुद्ध से पूर्व जापान की अन्तर्राष्ट्रीय नीति

चियांग काई शेक की शक्ति का अन्त करके और वांग चिंग वेई के नेतृत्व में नई चीनी सरकार की स्थापना करने में जापान का क्या उद्देश्य था, इसे पिछले अध्याय में भलीभांति स्पष्ट किया जा चुका है। जापान पूर्वी एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। उसकी इच्छा थी, कि मञ्चूकुओ, मंगोलिया और चीन में ऐसी सरकारों का शासन कायम हो, जो जापान को अपना नेता माने और अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का निर्माण जापान की इच्छा के अनुसार करें। इस उद्देश्य में उसे आंशिक रूप से सफलता भी हो गई थी। पर जापान यह भलीभांति समझता था, कि पूर्वी एशिया में उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति में तीन तरफ से बाधा उपस्थित हो सकती है। (१) उत्तरी एशिया पर रूस का आधिपत्य था। रूसी सोवियत संघ की सीमायें मञ्चूकुओ और मंगोलिया के साथ मिलती थीं। उत्तरी पश्चिमी चीन में येनान को राजधानी बनाकर जो कम्युनिस्ट सरकार स्थापित थी, भौगोलिक दृष्टि से उसका रूस के साथ सन्निकट सम्बन्ध था। स्वाभाविक रूप से रूस येनान की कम्युनिस्ट सरकार का समर्थक था। इस दशा में जापान को यह आशंका थी, कि पूर्वी एशिया को अपने प्रभाव में लाने के प्रयत्न में रूस उसका विरोध कर सकता है। (२) चीन के समुद्रतट पर अनेक स्थानों पर ब्रिटेन का अधिकार था। हांगकांग सीधा ब्रिटेन के शासन में था और पूर्वी एशिया में यह ब्रिटेन की शक्ति का प्रधान केन्द्र था। शंघाई की अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती में ब्रिटेन का स्थान सर्वप्रधान था और तीन्त्सिन, कैन्टन आदि बन्दरगाहों में भी ब्रिटेन की अनेक बस्तियां कायम थीं। चीन के विदेशी व्यापार में ब्रिटेन का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि ब्रिटेन चीन में निरन्तर बढ़ती हुई जापानी प्रभुता का विरोधी हो। (३) संयुक्त राज्य अमेरिका के लिये यह बात बहुत अधिक महत्त्व की थी, कि प्रशान्त महासागर के क्षेत्र और पूर्वी एशिया में किस राज्य की शक्ति प्रधान है। संयुक्त राज्य अमेरिका अपने विशाल प्रदेश में निरन्तर पश्चिम की

ओर बढ़ता जा रहा था और उसकी बस्तियां प्रशान्त महासागर के पूर्वी तट पर कैलिफोर्निया आदि में भलीभांति विकसित हो गई थीं। साथ ही, फिलीप्पीन द्वीपसमूह उसकी अधीनता में था। यदि जापान मञ्चूकुओ, मंगोलिया और चीन को अपने प्रभाव व प्रभुत्व में ले आने की योजना में सफल हो जाता, तो अमेरिका के लिये यह बात बहुत हानिकारक होती। इससे फिलिप्पीन द्वीप समूह पर अपना कब्जा रख सकना उसके लिये कठिन हो जाता और प्रशान्त महासागर में भी उसकी स्थिति सुरक्षित न रहने पाती। इस प्रकार रूस, ब्रिटेन और अमेरिका--तीन ऐसे देश थे, जो जापान के साम्राज्य विस्तार में सबसे अधिक बाधक हो सकते थे। इसीलिये इन देशों के साथ जापान ने किस ढंग के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विकसित किये, यह बात विचार के योग्य है।

**एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट**--रूस के मुकाबले में अपनी स्थिति को सुरक्षित करने के लिये जापान ने जर्मनी के साथ एक गुट बनाया, जो इतिहास में एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। यह पैक्ट २५ नवम्बर, १९३६ को किया गया था। इसका उद्देश्य यह था, कि जर्मनी और जापान मिलकर यूरोप और एशिया में कम्युनिज्म के प्रसार का विरोध करें। इस पैक्ट के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जापान ने एक ऐसे शक्तिशाली देश के साथ मैत्री स्थापित कर ली थी, जो इस समय में यूरोप में बहुत अधिक प्रबल था। हिटलर द्वारा जर्मनी में जिस नाजी व्यवस्था की स्थापना की गई थी, वह कम्युनिज्म के सर्वथा विपरीत थी। अतः हिटलर को यह भय था, कि यदि कोई दल उसके विरुद्ध खड़ा हो सकता है, तो वह केवल कम्युनिस्ट दल ही है। नाजी दल के नेता जर्मनी में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए, बहुधा कहा करते थे, कि "यदि राष्ट्रीय समाजवादी (नाजी) दल शिथिल हो जाता है, तो जर्मनी में एक करोड़ कम्युनिस्ट लोग मैदान में आ जावेंगे।" अतः वे अनुभव करते थे, कि संसार में जो देश कम्युनिज्म के विरोधी हैं, उन्हें परस्पर मिलकर अपना पृथक् गुट बनाना चाहिये, और इस गुट का उद्देश्य कम्युनिज्म के प्रचार का विरोध होना चाहिये। १९३७ में इटली भी इस गुट में शामिल हो गया, और जर्मनी, जापान और इटली की सम्मिलित शक्ति कम्युनिज्म के विरोध में प्रयुक्त होने लगी। इस एण्टि कोमिन्टर्न पैक्ट के कारण जापान रूस की तरफ से बहुत कुछ निश्चिन्त हो गया था। यही कारण है, कि रूस चीन में निरन्तर बढ़ते हुए जापान के प्रभुत्व का स्पष्ट रूप से विरोध नहीं कर सकता था। जापान का विरोध करने का उसको [illegible] नहीं था, कि वह चीन को [illegible] में अधिक सहायता प्रदान करे। गुप्त मार्गों द्वारा तो वह चीन की सहायता करता ही था, साथ ही रूस के भय से जापान को अपनी [illegible] बड़ी सेना मञ्चूकुओ की उत्तरी सीमा पर रखनी पड़ती

थी। यह बात भी चीन के लिये अत्यधिक सहायक थी। मञ्चूकुओ की उत्तरी सीमा पर जो जापानी सेना विद्यमान थी, उसकी संख्या चार लाख के लगभग थी। इतनी बड़ी जापानी सेना रूस की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर इसीलिये रखी गई थी, कि कहीं रूस मंचूकुओ व मंगोलिया पर आक्रमण न कर दे। पर इस समय रूस जापान के सम्बन्ध में बहुत कुछ निष्पक्ष व उदासीन नीति का अनुसरण कर रहा था, क्योंकि एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट के कारण जापान की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत सुदृढ़ हो गई थी।

**ब्रिटेन और जापान**--१९०२ में इङ्गलैण्ड और जापान में जो सन्धि हुई थी, उसका उल्लेख हम इस इतिहास में विशद रूप से कर चुके हैं। इस सन्धि के कारण ब्रिटेन और जापान एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र बन गये थे, और युद्ध के अवसर पर उन्होंने एक दूसरे की सहायता का वचन दिया था। १९१४-१८ के महायुद्ध में जापान ब्रिटेन के पक्ष में लड़ाई में शामिल हुआ था और उनकी यह मित्रता तीस साल से भी अधिक समय तक कायम रही थी। पर इस समय ब्रिटेन और जापान के राजनीतिक सम्बन्ध पहले के समान मैत्रीपूर्ण नहीं रहे थे, क्योंकि जापान चीन में अपने प्रभुत्व की स्थापना के लिये प्रयत्नशील था और ब्रिटेन इस बात को पसन्द नहीं करता था। चीन के अनेक प्रदेश ब्रिटेन के अधिकार में थे और चीन में जापान की शक्ति के विस्तार से ब्रिटेन के इस प्रभुत्व में बाधा पड़ती थी। पर जापान को ब्रिटेन की शक्ति का विशेष भय नहीं था। यूरोप की राजनीति में ब्रिटेन जिस प्रकार शक्तिहीन हो गया था, उसके कारण जापान उसको विशेष महत्त्व नहीं देता था। २९ सितम्बर, १९३८ को ब्रिटेन ने जर्मनी के साथ एक समझौता किया था, जो इतिहास में 'म्यूनिख का समझौता' के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते द्वारा ब्रिटेन ने चेकोस्लोवाकिया के सम्बन्ध में हिटलर की सब मांगों को अविकल रूप से स्वीकार कर लिया था। ब्रिटेन और फ्रांस जैसे देशों की सर्वथा उपेक्षा कर जर्मनी इस समय जिस प्रकार यूरोप में अपने प्रभुत्व के विस्तार में तत्पर था, उससे जापानी लोगों का यह विचार दृढ़ हो गया था, कि ब्रिटेन की शक्ति अब बिलकुल क्षीण हो गई है। इसीलिये पूर्वी एशिया के क्षेत्र में जापान ब्रिटेन से किसी प्रकार के विरोध की आशंका नहीं रखता था। २९ सितम्बर, १९३८ को यूरोप में म्यूनिख समझौता हुआ था, जिसमें ब्रिटेन को जर्मनी के सामने नीचा देखना पड़ा था। इस घटना के केवल अठारह दिन बाद १७ अक्टूबर को जापानी सेनाओं ने कैन्टन पर अपना अधिकार कायम कर लिया था। कैन्टन हांगकांग के समीप है, और यह भी ब्रिटिश व्यापार का महत्त्व-

पूर्ण केन्द्र था। कैन्टन पर जापान का कब्जा इस बात का प्रमाण था, कि जापान ब्रिटिश शक्ति की कोई विशेष परवाह नहीं करता। वस्तुतः इस समय जापान यह भलीभांति अनुभव करता था, कि ब्रिटेन के साथ उसकी मैत्री का कायम रह सकना असम्भव है। यूरोप में ब्रिटेन और जर्मनी एक दूसरे के प्रबल विरोधी थे। जापान जर्मनी और इटली का मित्र था। इस दशा में उसने ब्रिटेन के साथ अपनी मैत्री को कायम रखने के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया।

**जापान और अमेरिका**--प्रशान्त महासागर और पूर्वी एशिया के क्षेत्र में जापान और अमेरिका के हित आपस में टकराते थे, यह हमने अभी ऊपर लिखा है। यही कारण है, कि जुलाई, १९३७ में जब जापान चीन में अपनी शक्ति के विस्तार के लिये प्रवृत्त हुआ, तो अमेरिका के राष्ट्रपति श्री रुजवेल्ट ने शिकागो में भाषण करते हुए उद्घोषित किया कि "ऐसा प्रतीत होता है, कि दुर्भाग्यवश यह बात सच है, कि संसार में अराजकता की महामारी फैलने लग गई है। युद्ध छूत की बीमारी के समान होता है। जहां से युद्ध का प्रारम्भ होता है, उससे बहुत दूर के राज्य व लोग भी उसकी लपेट में आ जाते हैं। हमारा यह पक्का इरादा है, कि हम अपने को युद्ध से बचाये रखें, पर हम इस बात का भरोसा नहीं रख सकते, कि हम युद्ध के विनाशकारी परिणामों से या युद्ध की लपेट में आ जाने से अपने को बचाये रख सकेंगे। अतः यह आवश्यक है, कि संसार में शान्ति स्थापित रखने के लिये पूरा-पूरा प्रयत्न किया जाय।" इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि अमेरिका के राजनीतिज्ञ यह भलीभांति अनुभव करते थे, कि जापान ने चीन में जिस युद्ध का प्रारम्भ किया है, उसके प्रभाव से बच सकना उनके लिये सम्भव नहीं रहेगा। इस युद्ध में उनकी सहानुभूति चीन के साथ थी और वे युद्ध सामग्री और धन द्वारा चियांग काई शेक की सहायता के लिये तत्पर थे।

**राष्ट्रसंघ और चीन-जापान युद्ध**--जिस समय जुलाई, १९३७ में चीन और जापान का युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग सरकार ने जापान के विरुद्ध राष्ट्रसंघ से अपील की। यह अपील राष्ट्रसंघ की ईस्टर्न एडवाइजरी कमेटी (पूर्वी सलाहकार समिति) के सुपुर्द कर दी गई। कमेटी ने चीन और जापान के युद्ध पर भलीभांति विचार किया, और इस युद्ध के लिये जापान को दोषी ठहराया। उसने यह भी सिफारिश की, कि इस युद्ध का अन्त करने के लिये यह उपयोगी होगा, कि वाशिंगटन कान्फरेन्स (१९२२) के परिणामस्वरूप नौ राज्यों (अमेरिका, बेल्जियम, ब्रिटिश साम्राज्य, चीन, फ्रांस, इटली, हालैण्ड, पुर्तगाल और जापान) ने मिलकर जो सन्धि की थी और जिसके अनुसार उन्होंने एक दूसरे के प्रदेशों की अक्षुण्णता के सिद्धान्त को स्वीकृत किया था,

उन नौ राज्यों की एक कान्फरेन्स बुलाई जाय और यह कान्फरेन्स चीन और जापान की समस्या पर विचार करे। ६ अक्टूबर, १९३७ के अधिवेशन में राष्ट्रसंघ की एसेम्बली ने ईस्टर्न एड्वाइजरी कमेटी की रिपोर्ट व सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। बेल्जियम की राजधानी ब्रुसल्स में नौ राज्यों की कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, और ३ नवम्बर, १९३७ को उसका अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। जापान इस कान्फरेन्स में शामिल नहीं हुआ। संसार के अन्य प्रधान राज्यों में से जर्मनी और रूस को भी इस कान्फरेन्स में शामिल होने का निमन्त्रण दिया गया था। जर्मनी इसमें शामिल नहीं हुआ, वह अपने को चीन और जापान दोनों का मित्र समझता था और इस प्रयत्न में लगा था कि उनमें सुलह कराई जाय। रूस ब्रुसल्स कान्फरेन्स में शामिल हुआ। जापान की अनुपस्थिति के कारण यह सम्भव नहीं था, कि ब्रुसल्स कान्फरेन्स सफल हो सके। उसमें चीन और जापान की समस्या पर विचार किया गया, उन सिद्धान्तों को निर्धारित किया गया, जिनका अनुसरण करके पूर्वी एशिया में शान्ति स्थापित की जा सकती है, और इसके लिये क्या कार्यवाई आवश्यक है, इस सम्बन्ध में भी सिफारिशें तैयार कर ली गईं। २४ नवम्बर, १९३७ को ब्रुसल्स कान्फरेन्स ने अपना कार्य समाप्त कर दिया, पर उसका कोई परिणाम नहीं निकला और चीन तथा जापान का युद्ध पूर्ववत् जारी रहा। वस्तुतः इस समय तक राष्ट्रसंघ सर्वथा शक्तिहीन हो चुका था। संयुक्तराज्य अमेरिका, जर्मनी, इटली और जापान जैसे शक्तिशाली राज्य उससे पृथक् हो चुके थे और संसार में शान्ति स्थापित रख सकने के कार्य में राष्ट्रसंघ का कोई प्रभाव नहीं रह गया था। विविध राज्य अपनी रक्षा के लिये अपनी सैनिक शक्ति की वृद्धि में तत्पर थे और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फिर से अराजकता का प्रादुर्भाव हो गया था। मई, १९३६ तक इटली अफ्रीका में अपने अच्छे बड़े साम्राज्य को स्थापित कर चुका था और अबीसीनिया के स्वतन्त्र राज्य (जो कि राष्ट्रसंघ का सदस्य था) को जीतकर अपने अधीन कर चुका था। जर्मनी आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया को जीतकर अपनी अधीनता में लाने में तत्पर था और राष्ट्रसंघ इन साम्राज्यवादी देशों को नियन्त्रित व मर्यादित करने में सर्वथा अशक्त था। इस दशा में यदि चीन में जापान के साम्राज्य प्रसार को रोकने में भी वह असमर्थ रहा हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

**राजनीतिक गुटबन्दियां**—राष्ट्रसंघ से निराश होकर संसार के विविध राज्य अपनी रक्षा के लिये अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने और आपस में गुट बनाने में तत्पर थे। जर्मनी, इटली और जापान का गुट इसी प्रवृत्ति का परिणाम था।

अन्य पाश्चात्य राज्य भी इस समय गुटबन्दियों के निर्माण में तत्पर थे । १९३४ में रूस राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया था । फ्रांस और रूस ने यह कोशिश की, कि वे आपस में मिलकर एक ऐसा समझौता कर लें, जिसके अनुसार उन दोनों में से किसी पर यदि जर्मनी हमला करे, तो दूसरा उसका साथ दे । वे चाहते थे, कि ब्रिटेन भी इस समझौते में शामिल हो जाय । जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति इस समय यूरोप के राज्यों के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या थी । फ्रांस और रूस को उससे बहुत भय था । पर ब्रिटिश राजनीतिज्ञ जर्मनी की शक्ति से बहुत चिन्तित नहीं थे । उनका विचार था, कि यूरोप में विविध राज्यों के समुत्तुलन को कायम रखने के लिये जर्मनी का शक्तिशाली होना आवश्यक है । चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि पूर्वी यूरोपियन राज्यों पर इस समय फ्रांस का जिस ढंग से प्रभाव विद्यमान था, उसे ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ यूरोप के शक्ति संतुलन के लिये हानिकारक समझते थे । यही कारण है, कि मई, १९३५ में रूस और फ्रांस ने परस्पर मिलकर जो गुट बनाया, ब्रिटेन उसमें शामिल नहीं हुआ । पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया के साथ फ्रांस की पहले ही पारस्परिक सहायता की सन्धि विद्यमान थी । अब फ्रांस के इस गुट में रूस भी शामिल हो गया । १९३६ में जर्मनी, जापान और इटली ने मिलकर अपने जिस गुट का निर्माण किया था, उसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं । इस समय संसार के प्रमुख राज्य दो गुटों में संगठित हो गये थे । एक गुट का नेता जर्मनी था और दूसरे का फ्रांस । इन गुटों का आधार दो बातें थीं, एक तो विचारों और आदर्शों की समानता और दूसरी हितों की एकता । इटली जर्मनी और जापान फैसिज्म के अनुयायी थे । ये राज्य अपने-अपने साम्राज्यों के विस्तार के लिये उत्सुक थे । उनको वर्साय की सन्धि से समान रूप से शिकायत थी और उसका उल्लंघन करके अपनी शक्ति को बढ़ाने में उनका एक समान लाभ था । इसके विपरीत फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि राज्यों को पेरिस की सन्धि परिषद् द्वारा किये गये निर्णयों से बहुत लाभ पहुंचा था । उन निर्णयों को कायम रखने में उन सबका फायदा था । साथ ही ये राज्य लोकतन्त्रवाद के पक्षपाती थे । रूस में कम्युनिस्ट शासन होने के कारण उसकी सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था लोकतन्त्र राज्यों से भिन्न थी । पर उसका हित इसी बात में था, कि इटली, जर्मनी और जापान का उत्कर्ष न होने पावे । जर्मनी की नाजी शक्ति रूस के कम्युनिज्म की विरोधी थी । यही कारण है, कि रूस ने फैसिस्ट शक्तियों के खिलाफ फ्रांस व उसके साथियों के पक्ष में होना स्वीकार किया । १९३६ के अन्त तक ब्रिटेन और अमेरिका इन दोनों गुटों से अलग रहे

थे। पर ब्रिटेन के लिये देर तक यूरोप के राजनीतिक दांव पेंचों से अलग रह सकना सम्भव नहीं रहा। १९३६-३७ में यूरोप में युद्ध के बादल घिरने शुरू हो गये थे। स्पेन में जनरल फ्रांको के उत्कर्ष के कारण सम्पूर्ण यूरोप में सनसनी छा गई थी। फ्रेंच लोगों की इच्छा थी, कि स्पेन के गृह-कलह में फ्रांको के विरुद्ध वहां की रिपब्लिकन सरकार की सहायता करें। जर्मनी और इटली खुले तौर पर फ्रांको की मदद कर रहे थे। पर ब्रिटेन यही उचित समझता था, कि स्पेन के आन्तरिक झगड़े में तटस्थता की नीति का अनुसरण किया जाय। १९३७ और १९३८ में ब्रिटेन की यही कोशिश रही, कि यूरोप के किसी युद्ध में शामिल न हुआ जाय। पर जर्मनी और इटली की साम्राज्य विस्तार की नीति जो रूप धारण करती जाती थी, उससे ब्रिटेन का रुख धीरे धीरे फ्रांस की तरफ होता जाता था। अबीसिनिया की विजय के बाद इटली की यह आकांक्षा थी, कि पूर्वी भूमध्यसागर पर भी उसका प्रभुत्व हो जाय और स्वेज की नहर के प्रबन्ध में भी उसका हाथ रहे। ब्रिटेन यह सहन नहीं कर सकता था। परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटेन का रुख इटली के खिलाफ हो गया। इसी बीच में जर्मनी ने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया का विजय किया। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद यूरोप में जो व्यवस्था कायम हुई थी, उसके अनुसार ब्रिटेन और फ्रांस का कर्तव्य था, कि चेकोस्लोकिया के जर्मनी द्वारा विजय करने में बाधा उपस्थित करें। पर इस समय ब्रिटेन की यह नीति थी, कि मध्य यूरोप के झगड़ों से उसे पृथक रहना चाहिये। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चैम्बरलेन ने यत्न किया, कि फ्रांस भी चैकोस्लोवाकिया के मामले में हस्तक्षेप न करे। परिणाम यह हुआ, कि मध्य यूरोप में जर्मनी अपने प्रभुत्व का विस्तार करता गया और फ्रांस, ब्रिटेन व रूस ने उसके मार्ग में बाधा नहीं डाली। पर ब्रिटेन देर तक अपनी तटस्थता की नीति का अनुसरण नहीं कर सका। आस्ट्रिया और चेकोस्लोकिया को जीत कर भी हिटलर की साम्राज्य पिपासा शान्त नहीं हुई। उसने शीघ्र ही लिथुएनिया और पोलैन्ड की तरफ कदम बढ़ाया। अब यूरोप की स्थिति ऐसी हो गई थी, कि ब्रिटेन को तटस्थता की नीति का परित्याग कर जर्मनी के खिलाफ फ्रांस के पक्ष में शामिल होने के लिये विवश होना पड़ा।

इस प्रकार १९२९ के शुरू तक संसार की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दो पक्ष व गुट स्पष्ट रूप से विकसित हो गये थे। एक गुट में फ्रांस, ब्रिटेन और रूस शामिल थे और दूसरे गुट में जर्मनी इटली और जापान थे। पूर्वी एशिया की राजनीति में इन गुटों का बहुत महत्त्व है, इसीलिये हमने इनका [illegible] उल्लेख करना आवश्यक समझा है। जिसप्रकार ब्रिटेन, रूस और फ्रांस यूरोप में जर्मनी और इटली के

साम्राज्य विस्तार से चिन्तित थे, वैसे ही ये राज्य पूर्वी एशिया में जापान के विस्तार को चिन्ता की दृष्टि से देख रहे थे। पर अभी संयुक्त राज्य अमेरिका यूरोप की गुट-बन्दियों से पृथक था। इसमें सन्देह नहीं, कि उसकी सहानुभूति ब्रिटेन और फ्रांस के पक्ष में थी और यूरोप में फैसिज्म और साम्राज्यवाद के उत्कर्ष को वह संसार की शान्ति के लिये हानिकारक समझता था। पर अभी अमेरिका ने यह स्पष्ट नहीं किया था, कि वह जर्मनी और इटली के खिलाफ फ्रांस और ब्रिटेन की सहायता किस रूप में और किस हद तक करने को तैयार है। यूरोप की अपेक्षा पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में अमेरिका की दिलचस्पी कहीं अधिक थी। इस क्षेत्र की घटनाओं के साथ अमेरिका अपना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध अनुभव करता था। यही कारण है, कि अमेरिका ने महायुद्ध (१९३९-४५) में पूर्वी एशिया के प्रश्न पर ही प्रवेश किया। यूरोप के महायुद्ध से लाभ उठाकर जब जापान पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने प्रभुत्व की स्थापना के लिये प्रवृत्त हुआ, तभी अमेरिका भी खुले तौर पर फैसिस्ट राज्यों के विरुद्ध ब्रिटेन और फ्रांस का पक्ष लेकर युद्ध में शामिल हो गया।

## (२) चीन में पाश्चात्य देशों के प्रभावक्षेत्र और जापान

जिस समय जापानी सेनायें चीन में अपने प्रभुत्व की स्थापना के लिये तत्पर थीं, उस समय इस देश में विद्यमान पाश्चात्य देशों के प्रभाव क्षेत्रों की क्या दशा थी, इस विषय पर भी प्रकाश डालने की आवश्यकता है, क्योंकि इनका जापान की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। चीन के अनेक बन्दरगाहों में पाश्चात्य देशों को व्यापार आदि की विशेष सुविधाएं प्राप्त थीं। शंघाई और टीन्त्सिन में पाश्चात्य लोगों की अत्यन्त समृद्ध बस्तियां विद्यमान थीं और अन्यत्र कैन्टन आदि में भी पाश्चात्य व्यापारी बड़ी संख्या में विद्यमान थे। चीन के साथ की गई पुरानी सन्धियों के अनुसार अनेक स्थानों पर इन विदेशी राज्यों की शक्तिशाली सेनायें भी स्थापित थीं और यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि चीन-जापान के युद्ध के अवसर पर विदेशी राज्यों के इन प्रभाव क्षेत्रों पर भी युद्ध का असर पड़े। युद्ध के समय यह असम्भव था, कि ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, आदि की सम्पत्ति गोलाबारी से सर्वथा सुरक्षित रहे या उनका कोई नागरिक लड़ाई की चपेट में न आ जाय। जापानी सेनायें यह यत्न करती थीं, कि चीनी सेनाओं से युद्ध के समय उन द्वारा पाश्चात्य देशों के नागरिकों के जान और माल को नुकसान न पहुंचने पावे। पर बहुधा उनका यह प्रयत्न सफल नहीं होने पाता था। इसके कारण निम्नलिखित थे, (१) बहुत से पाश्चात्य

व्यापारी उन नगरों व प्रदेशों में बसे हुए थे, जहां युद्ध जारी था। युद्ध के समय यह असम्भव था, कि ये व्यापारी व अन्य विदेशी लोग लड़ाई की चपेट में न आ जावें। (२) शंघाई, तीन्त्सिन आदि नगरों में विदेशियों की अनेक बस्तियां ऐसी थीं, जिनका प्रबन्ध व शासन भी विदेशी लोगों के ही हाथों में था। चीन के बहुत से गुरीला सैनिक जापानी सेनाओं से अपनी रक्षा करने के उद्देश्य से इन विदेशी बस्तियों में आश्रय ले लेते थे और क्योंकि इन विदेशी लोगों की सहानुभूति च्यांग काई शेक की सरकार के पक्ष में थी, अतः ये उन्हें सहर्ष आश्रय दे देते थे। इस दशा में अनेक बार जापानी सेनायें चीन की विदेशी बस्तियों में हस्तक्षेप करने के लिये विवश होती थीं। (३) चीन-जापान युद्ध के कारण पाश्चात्य देशों के व्यापार को बहुत नुकसान पहुंच रहा था। बहुधा विदेशी व्यापारी यह प्रयत्न करते थे, कि वे जापानी सेनाओं के आदेशों की उपेक्षा कर चीन में अपने माल को पहुंचावें। इस दशा में जापानी सेनाओं के साथ उनका संघर्ष आवश्यक हो जाता था। (४) अमेरिका, ब्रिटेन, और फ्रांस च्यांग काई शेक की सरकार को युद्ध सामग्री और धन की सहायता देते थे। यह सहायता हांगकांग से वायु मार्ग द्वारा, इन्डो-चायना से या उत्तरी बरमा से रेल और मोटर द्वारा पहुंचाई जाती थी। जापान स्वाभाविक रूप से यह यत्न करता था, कि यह सहायता च्यांग काई शेक की सरकार को न पहुंचने पावे। इस कारण भी विदेशियों के साथ जापान के संघर्ष के अवसर उपस्थित हो जाते थे।

पर साथ ही जापानी सरकार इस बात के लिये भी उत्सुक थी, कि चीन के मामले को लेकर उसका ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों के साथ युद्ध न शुरू हो जाय। इसीलिये जब इन पाश्चात्य राज्यों के जान व माल को चीन में जापानी सेनाओं द्वारा कोई नुकसान पहुंचता था, तो जापानी सरकार उसकी क्षतिपूर्ति का प्रयत्न करती थी। ब्रिटेन को क्षतिपूर्ति द्वारा संतुष्ट रखने की जापानी सरकार को उतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी कि अमेरिका को संतुष्ट रखने की थी। जापान अनुभव करता था, कि ब्रिटेन उसका प्रतिरोध करने के लिये पर्याप्त शक्ति नहीं रखता है। यूरोप में जर्मनी और इटली अपने साम्राज्य विस्तार के लिये जिस प्रकार मनमानी कर रहे थे, और ब्रिटेन उनके मार्ग में बाधा उपस्थित करने के लिये कोई भी प्रयत्न जो नहीं करता था, उससे जापान को विश्वास हो गया था, कि ब्रिटेन चीन में भी उसके मार्ग में बाधक नहीं हो सकता। पर अमेरिका की शक्ति के सम्बन्ध में जापान का विचार दूसरा था। वह अनुभव करता था, कि प्रशान्त महासागर और पूर्वी एशिया के क्षेत्र के साथ अमेरिका का घनिष्ठ सम्बन्ध है, और उसकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं है। इसीलिये

१९३७ में चीन जापान के युद्ध के प्रारम्भिक काल में जापान उन प्रदेशों के विषय में पहले ही अमेरिका को सूचित कर देता था, जहां कि सैनिक कार्यवाई प्रारम्भ की जानेवाली होती थी। अमेरिका भी इन प्रदेशों से अपने नागरिकों को हटा लेने की व्यवस्था कर देता था। १९३७ में जुलाई से नवम्बर तक चार महीनों में ५,००० से अधिक अमेरिकन लोगों को चीन के युद्धक्षेत्र से हटा लिया गया था। १२ दिसम्बर, १९३७ को जब कतिपय अमेरिकन जहाज नानकिंग से अमेरिकन नागरिकों को ले जाने में तत्पर थे, वे जापानी सेनाओं की गोलाबारी के शिकार हो गये और उनमें से चार डूब गये। अमेरिका में इस दुर्घटना से बहुत अधिक असन्तोष फैला, पर जापानी सरकार का कहना था, कि पनाई आदि इन चार जहाजों का डूबना एक आकस्मिक दुर्घटना है, और जापान की सेनाओं ने जान बूझकर इन जहाजों पर हमला नहीं किया था। जापान की सरकार ने इस दुर्घटना के लिये अमेरिका से बाकायदा क्षमा मांग ली और उसके लिये समुचित रूप से क्षतिपूर्ति करना भी स्वीकार कर लिया। अनेक जापानी नेताओं ने स्पष्ट शब्दों में इस घटना के लिये खेद प्रकाशित किया और अमेरिका को इस सम्बन्ध में कोई और कार्यवाई करने की आवश्यकता नहीं हुई। इसी प्रकार की अन्य भी अनेक घटनाएं इस समय युद्ध के कारण हुईं, पर उनके कारण जापान और अमेरिका के सम्बन्धों में विशेष अन्तर नहीं आने पाया।

१९३९ में जब यूरोप में युद्ध के प्रारंभ होने की संभावना बहुत स्पष्ट हो गई, तो जापान विदेशी राज्यों की और अधिक उपेक्षा करने लगा। १० फरवरी, १९३९ को हैनान द्वीप पर जापान ने अपना अधिकार कर लिया। यह विशालकाय द्वीप हांगकांग के दक्षिण और इन्डोचायना के पूर्व में स्थित है। हैनान द्वीप चीन का ही एक अंग था और इसके सम्बन्ध में चीन और फ्रांस में यह सन्धि हो चुकी थी, कि इस द्वीप पर वे किसी अन्य विदेशी राज्य का प्रभुत्व नहीं होने देंगे। हैनान पर जापानी सेनाओं का प्रभुत्व हो जाने के कारण इन्डोचायना में फ्रांस की स्थिति बहुत अधिक असुरक्षित हो गई थी। साथ ही ब्रिटेन के लिये भी हैनान पर जापान का कब्जा बहुत अधिक हानिकारक था। सिंगापुर से हांगकांग जानेवाला सामुद्रिक मार्ग हैनान के समीप से होकर गुजरता था और इस द्वीप पर जापान का कब्जा हो जाने से उसके लिये यह बहुत सुगम हो गया था, कि वह हांगकांग जानेवाले ब्रिटिश जहाजों पर आक्रमण कर सके। फ्रांस और ब्रिटेन ने हैनान पर कब्जा कर लेने की बात पर जापानी सरकार के सम्मुख अपने रोष को प्रकट किया, पर जापान ने इसकी कोई परवाह नहीं की। इसके कुछ दिन बाद जापानी सेनाओं ने स्पार्टली द्वीप समूह पर अपना अधिकार कर लिया। इन द्वीपों पर जापान का

प्रभुत्व भी फ्रांस और ब्रिटेन के लिये हानिकारक था, पर अपना विरोध व रोष प्रकट कर देने के अतिरिक्त उनके सम्मुख अन्य कोई मार्ग नहीं था।

१९३९ के फरवरी मास के अन्तिम दिनों में जापान ने यह यत्न किया, कि शंघाई की अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती के शासन में अपने अधिकार को और अधिक बढ़ाया जाय। चीन के बहुत से गुरिला सैनिक इस बस्ती में आकर आश्रय ग्रहण करते थे और वहां रहकर जापानी सेना से अपनी रक्षा करने में समर्थ होते थे। जापान की स्वाभाविक रूप से यह इच्छा थी, कि वह इस बस्ती में चियांग काई शेक की सरकार व येनान की कम्युनिस्ट सरकार के पक्षपाती लोगों को आश्रय ग्रहण न करने दे। इसके लिये उसने शंघाई की अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती के अधिकारियों पर यह जोर देना शुरू किया, कि वे इस बस्ती के शासन में जापान का सहयोग प्राप्त करें और उस की इच्छा के अनुसार अपने शासन का संचालन करें। पर अमेरिका के विरोध के कारण उसे अपने उद्देश्य में अधिक सफलता नहीं हो सकी। इसी प्रकार मई, १९३९ में कुलांग्सू द्वीप की अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती को अपने प्रभाव में लाने के लिये जापानी सेनाओं ने प्रयत्न किया। कुलांग्सू द्वीप अमोय के बन्दरगाह से कुछ दूरी पर स्थित है, और इसकी अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती में अमेरिकन, फ्रेंच और ब्रिटिश लोगों की प्रमुखता थी। यहां पर भी कुओमिन्तांग दल के लोग आश्रय ग्रहण करते थे और जापान का प्रतिरोध करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। पर जापान को कुलांग्सू द्वीप पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में भी सफलता नहीं हो सकी, कारण यह कि अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन ने भी वहां अपनी सेनाओं की संख्या बढ़ा दी और जापान के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह इन पाश्चात्य सेनाओं के साथ युद्ध किये बिना कुलांग्सू द्वीप को अपनी अधीनता में ला सके। शंघाई और कुलांग्सू द्वीप की अन्तर्राष्ट्रीय बस्तियों के सम्बन्ध में जापान जिस नीति का अनुसरण कर रहा था, उससे यह स्पष्ट है, कि वह अमेरिका का स्पष्ट रूप से विरोध नहीं करना चाहता था और उसकी यह नीति थी, कि जहां तक हो सके, पाश्चात्य राज्यों के साथ संघर्ष में आने से बचा जाय।

पाश्चात्य राज्यों के साथ संघर्ष का एक अन्य अवसर तीन्त्सिन की विदेशी बस्तियों के सम्बन्ध में उपस्थित हुआ। तीन्त्सिन बंदरगाह उत्तरी चीन के समुद्र तट पर स्थित है, और उत्तरी चीन पर १९३७ में ही जापान के प्रभुत्व की स्थापना हो चुकी थी। तीन्त्सिन में ब्रिटिश और फ्रेंच लोगों की दो बस्तियां थीं, जिनके निवासी उत्तरी चीन पर जापान के प्रभुत्व की उपेक्षा करने में संकोच नहीं करते थे। इन बस्तियों में ब्रिटेन और फ्रांस के अनेक बैंक विद्यमान थे, जो विदेशी विनिमय के लिये जापान की संरक्षा में विद्यमान पेकिंग सरकार द्वारा प्रचारित

मुद्रापद्धति को स्वीकृत नहीं करते थे। पेकिंग में जापान द्वारा फिडरल रिजर्व बैंक की स्थापना की गई थी और यह बैंक उत्तरी चीन की मुद्रापद्धति का संचालन करता था। तीन्त्सिन पेकिंग सरकार के क्षेत्र के अन्तर्गत था, पर उसकी ये विदेशी बस्तियां फिडरल रिजर्व बैंक द्वारा प्रचारित सिक्कों व नोटों को स्वीकार करने के बजाय चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग सरकार द्वारा प्रचारित मुद्रापद्धति को स्वीकृत करने का आग्रह करती थीं। साथ ही, इन विदेशी बैंकों के पास कुओ-मिन्तांग सरकार की बहुत सी चांदी व अन्य धन जमा था। अब क्योंकि तीन्त्सिन के क्षेत्र में चियांग काई शेक के शासन का अन्त हो चुका था और वहां एक नई चीनी सरकार की स्थापना हो गई थी, अतः स्वाभाविक रूप से पेकिंग सरकार इस धन पर अपना अधिकार समझती थी। पर तीन्त्सिन के ये ब्रिटिश और फ्रेंच बैंक इस धन को कुओमिन्तांग सरकार की सम्पत्ति समझते थे और इसका उपयोग चियांगकाई शेक को युद्ध सामग्री पहुंचाने के लिये करना अपना कर्तव्य मानते थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि जापान तीन्त्सिन की इन विदेशी बस्तियों को अपने अधिकार में लाने का प्रयत्न करे। ९ एप्रिल, १९३९ में तीन्त्सिन के तट-कर के प्रधान अधिकारी की हत्या हो गई। यह अधिकारी चीनी था, और पेकिंग सरकार की ओर से तीन्त्सिन में नियुक्त था। इस चीनी अधिकारी के हत्याकारियों ने तीन्त्सिन की ब्रिटिश बस्ती में आश्रय ग्रहण किया। इस दशा में जापानी सेना ने तीन्त्सिन की ब्रिटिश बस्ती के अधिकारियों से यह मांग की, कि वे इन हत्याकारियों को ( जिनकी संख्या चार थी ) गिरफ्तार करके जापानियों के सुपुर्द कर दें। ब्रिटिश अधिकारियों ने इस मांग को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। इस पर जून, १९३९ में जापान ने तीन्त्सिन के ब्रिटिश अधिकारियों को यह चुनौती दी, कि यदि वे जापान की इस मांग को स्वीकृत नहीं करेंगे, तो तीन्त्सिन की ब्रिटिश बस्ती के सब मार्गों को अवरुद्ध कर दिया जायगा। ब्रिटिश अधिकारियों ने जापान की इस चुनौती की कोई परवाह नहीं की। परिणाम यह हुआ, कि जापान के जंगी जहाजों ने तीन्त्सिन आने जाने के सामुद्रिक मार्ग पर कब्जा कर लिया। अब ब्रिटिश जहाजों के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वे अपने माल को तीन्त्सिन ला सकें व वहां से कोई माल बाहर ले जा सकें। जो ब्रिटिश लोग तीन्त्सिन से बाहर आते जाते थे, उनकी भी तलाशी ली जाने लगी और वहां की ब्रिटिश बस्ती में भोजन का पहुंचना भी कठिन हो गया।

इस दशा में ब्रिटिश अधिकारियों को जापान के साथ समझौता करने के लिये विवश होना पड़ा। तोक्यो में समझौते की बातचीत शुरू हुई। यह समझौता

क्रैगी-अरीता समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार ब्रिटेन के प्रतिनिधि श्री क्रैगी ने इस बात को स्वीकार किया, कि जापान के लिये यह आवश्यक है, कि चीन में अपने अधिकृत प्रदेशों में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिये और अपनी सैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये ऐसे कदम उठाये, जिनसे चीन में विद्यमान ब्रिटिश नागरिकों की स्वतन्त्रता में बाधा उपस्थित हो सके। इसी समझौते के अनुसार तीन्त्सिन के ब्रिटिश अधिकारियों ने उन लोगों को भी जापान के सुपुर्द कर दिया, जिन पर तट-कर के चीनी अधिकारी की हत्या करने का सन्देह था। इन हत्याकारियों को जापान के सुपुर्द करने के मामले में ब्रिटेन को बहुत नीचा देखना पड़ा था। उसने यह कहकर सन्तोष कर लिया था, कि और अधिक खोज के बाद इस बात के प्रमाण मिल गये हैं, कि वस्तुतः इन अभियुक्तों का चीनी अधिकारी की हत्या में हाथ था।

चीन में विद्यमान पाश्चात्य देशों के अधिकार क्षेत्रों के सम्बन्ध में जैसी समस्याएं शंघाई, तीन्त्सिन और कुलांग्सू में उत्पन्न हुई थीं, वैसी ही स्वातो, वेन्चौ, फूचो आदि में भी प्रादुर्भूत हुई थीं। इन सब स्थानों पर पाश्चात्य देशों की बस्तियां थीं और उनमें विदेशी लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। चीन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करते हुए जापान को इन विदेशियों के प्रति बहुत सावधानी से बरतना पड़ रहा था। यह जानते हुए भी कि ये विदेशी लोग चियांग काई शेक की सरकार के साथ पूर्ण रूप से सहानुभूति रखते हैं, और हर प्रकार से उसकी सहायता करने को उद्यत रहते हैं, वह खुले तौर पर उनके विरुद्ध कार्यवाई नहीं कर सकता था।

## (३) अमेरिका और जापान

इस अध्याय में हम पहले लिख चुके हैं कि, पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान के हित आपस में टकराते थे। पूर्वी एशिया में जापान जिस नीति का अनुसरण कर रहा था, उस पर भी हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। जापान की चीन सम्बन्धी नीति के मुख्य आधार निम्न-लिखित थे—(१) चीन में चियांग काई शेक के नेतृत्व में विद्यमान कुओमिन्तांग सरकार के स्थान पर ऐसी चीनी सरकार की स्थापना की जाय, जो जापान के साथ सहयोग करने को तैयार हो, और जो जापान को अपना शत्रु न समझकर उसे अपना मित्र, संरक्षक व सहयोगी माने। (२) चीन में पाश्चात्य देशों का जो प्रभाव व प्रभुत्व है, उसका अन्त किया जाय। न केवल चीन में अपितु पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों से भी पाश्चात्य देशों के साम्राज्यों का अन्त कर उन्हें स्वतन्त्र

किया जाय और ये स्वतन्त्र हुए एशियन देश जापान के सहयोग और संरक्षण में अपनी शासन नीति व आर्थिक व्यवस्था का संचालन करें। (३) चीन और जापान मिलकर पूर्वी व उत्तरी एशिया में काम्युनिज्म का मुकाबला करें। बैकाल की झील के पूर्व में रूस अपनी शक्ति का विस्तार न कर सके। जापान, जर्मनी और इटली के साथ मिलकर एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट बना चुका था, अतः स्वाभाविक रूप से वह काम्युनिज्म का विरोधी था और इस कार्य में वह चीन के सहयोग की आशा रखता था। (४) चीन में व्यापार व आर्थिक विकास के लिये पाश्चात्य देशों को जो खुली छुट्टी मिली हुई है, उसका अन्त किया जाय। मञ्चूकुओ, आभ्यन्तर मंगोलिया, चीन और जापान मिलकर एक आर्थिक गुट (ब्लाक) का निर्माण करें। यह गुट आर्थिक दृष्टि से अपने आप में आत्म-निर्भर रहे और किसी अन्य देश की सहायता पर निर्भर न करे। चीन, मञ्चूकुओ और मंगोलिया में किसी अन्य देश को अपनी पूंजी लगाने व इनका आर्थिक विकास करने का अधिकार न रहे, और यदि किसी देश को इस कार्य के लिये अनुमति दी जाय, तो वह जापान की सहमति से। इस आर्थिक नीति से चीन को भी लाभ होगा, क्योंकि जापान उसके आर्थिक विकास के लिये सब आवश्यक पूंजी जुटा सकेगा। राजनीतिक दृष्टि से भी यह बात चीन के लाभ की होगी, क्योंकि जापान की सैनिक शक्ति सदा चीन की रक्षा व सहायता के लिये तत्पर रहेगी।

जापान चीन सम्बन्धी अपनी नीति को 'नई व्यवस्था' (न्यू आर्डर) के नाम से कहता था। वह यह भी कहता था, कि वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा चीन के विषय में जिस नीति का प्रतिपादन किया गया था, वह अब क्रियात्मक नहीं रह गई है। १९२२ के बाद संसार की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में बहुत अंतर आ चुका है, और पूर्वी एशिया में अनेक ऐसी नई बातें उत्पन्न हो गई हैं, जिनके कारण अब वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा निर्धारित नीति पुरानी पड़ गई है। पर संयुक्त राज्य अमेरिका इस बात से सहमत नहीं था। उसका कहना था, कि यह बात ठीक है, कि १९२२ के बाद से पूर्वी एशिया की स्थिति में बहुत अन्तर आ गया है, पर इस अन्तर लाने की प्रधान उत्तरदायिता जापान के ऊपर है। जापान ने पिछले वर्षों में चीन के सम्बन्ध में जिस नीति का अनुसरण किया है, उसके कारण चीन की राजनीतिक दशा बहुत कुछ परिवर्तित हो गई है। पर अमेरिका इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता, कि पूर्वी एशिया में किसी राज्य को यह अधिकार है, कि वह उन प्रदेशों के सम्बन्ध में, जो कि उसकी अधीनता में नहीं है, या जिन पर किसी भी अन्य स्वतन्त्र सरकार का शासन है, स्वयं विधायक बन जाय और उनके भाग्य का निर्णय अपनी इच्छा के अनुसार करने लगे। अमेरिका की इस

नीति का स्पष्ट अभिप्राय यह था, कि वह जापान की 'नई व्यवस्था' का प्रबल विरोधी था और चीन में उसे स्थापित नहीं होने देना चाहता था।

चीन में जापान द्वारा स्थापित नई व्यवस्था का विरोध करने के लिये अमेरिका के सम्मुख यही उपाय था, कि वह चियांगकाई शेक की सरकार की अधिक से अधिक सहायता करे। इसीलिये १५ दिसम्बर, १९३८ को उसने चियांग काई शेक की सरकार की मदद के लिये २,५०,००,००० डालर अलग कर दिये। इसी समय ब्रिटेन ने कुओमिन्तांग सरकार की सहायता के लिये ६०,००,००० रुपये के लगभग रकम प्रदान की। बरमा रोड इस समय तक बन कर तैयार हो चुकी थी और दक्षिणी चीन के यूनान प्रान्त से मोटर मार्ग द्वारा चुंगकिंग सरकार को युद्ध सामग्री की सहायता पहुंचाई जा सकती थी। ब्रिटेन ने ये साठ लाख रुपये चीन को इसी उद्देश्य से दिये थे, कि वे इनसे मोटर गाड़ियां खरीदकर युद्ध सामग्री को ढो सकने में समर्थ हों। १९३८ का अन्त होने से पूर्व ही अमेरिका और ब्रिटेन धन द्वारा चियांग काई शेक सरकार की स्पष्ट रूप से सहायता करने को तत्पर हो गये थे। अमेरिका और ब्रिटेन पहले भी कुओमिन्तांग सरकार की युद्ध सामग्री व धन द्वारा सहायता कर रहे थे, पर १९३८ के बाद इस सहायता में और भी अधिक वृद्धि हो गई। बरमा रोड के निर्माण के कारण अब इन देशों के लिये यह सुगम हो गया, कि वे चुंगकिंग को युद्ध सामग्री भेज सकें। पहले इस सरकार को मुख्य रूप से सहायता रूस द्वारा प्राप्त होती थी, पर बरमा रोड के तैयार हो जाने पर अमेरिका और ब्रिटेन चुंगकिंग की सहायता के लिये पूर्ण रूप से कटिबद्ध हो गये और इन देशों से युद्ध सामग्री प्रचुर परिमाण में चियांग काई शेक की सेनाओं को पहुंचने लगीं। १९३९ में जब यूरोप में महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, तो उसका असर पूर्वी एशिया पर क्या पड़ा, इस पर हम अगले प्रकरण में विचार करेंगे, पर महायुद्ध में जर्मनी और इटली जिस ढंग से सफल हो रहे थे, उससे अमेरिका बहुत चिन्तित था। १९४१ तक वह स्वयं महायुद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था, पर वह यूरोप की फैसिस्ट शक्तियों के खिलाफ मित्रराष्ट्रों की युद्ध सामग्री व धन द्वारा सहायता करता रहा। इसके लिये उसने 'लीज-लैण्ड बिल' नाम से एक बिल अपनी कांग्रेस (पार्लियामेन्ट) में स्वीकृत किया, जिसका उद्देश्य उन राज्यों की युद्ध सामग्री और धन से सहायता करना था, जिनकी रक्षा अमेरिका की अपनी सुरक्षा के लिये आवश्यक थी। इस बिल के अनुसार अमेरिका के राष्ट्रपति को यह अधिकार दे दिया गया कि वह इस प्रकार के राज्यों को कितनी सहायता दी जाय और यह सहायता किन शर्तों पर दी जाय, इसका निश्चय कर सके। यह बिल जनवरी, १९४१ में स्वीकृत हुआ था। इसके अनुसार जहां यूरोप में ब्रिटेन, फ्रांस आदि को अमेरिका द्वारा

सहायता दी गई, वहां साथ ही चीन की चुंगकिंग सरकार को भी प्रभूत परिमाण में युद्ध सामग्री और धन की सहायता देने की व्यवस्था की गई। जापान ने अमेरिका की इस सहायता को अपने लिये अत्यन्त हानिकारक समझा और इससे अमेरिका के साथ उसके सम्बन्ध बहुत अधिक बिगड़ गये। पर जापान अब भी यही चाहता था, कि अमेरिका के साथ उसके सम्बन्ध अधिक न बिगड़ने पावें। उसका खयाल था, कि पूर्वी एशिया के क्षेत्र में जापान और अमेरिका के हितों में इतना अधिक विरोध नहीं है, कि उसके कारण इन दो देशों में युद्ध की आवश्यकता हो। इस बात को दृष्टि में रखकर जापान ने अमेरिका के साथ सन्धि की जो बातचीत शुरू की, उसका उल्लेख हम इसी अध्याय में आगे चलकर करेंगे।

## (४) महायुद्ध और जापान

सितम्बर, १९३९ में पोलैण्ड के प्रश्न पर यूरोप में महायुद्ध का प्रारम्भ हो गया। जर्मनी चाहता था, कि आस्ट्रिया और चैकोस्लोवाकिया के समान पोलैण्ड को भी अपने प्रभुत्व में ले आवे। उसे भरोसा था, कि ब्रिटेन आदि अन्य यूरोपियन राज्य इस मामले में भी उसके विरुद्ध लड़ाई के लिये तत्पर नहीं होंगे। पर जर्मनी यूरोप में जिस ढंग से अपनी शक्ति का विस्तार कर रहा था, उसे अब ब्रिटेन अधिक सहन नहीं कर सकता था। परिणाम यह हुआ, कि पोलैण्ड के प्रश्न पर यूरोप के फैसिस्ट राज्यों और लोकतन्त्र राज्यों में युद्ध का प्रारम्भ हो गया। इस युद्ध का वृत्तान्त यहां लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है, कि शीघ्र ही पोलैण्ड के बड़े भाग पर जर्मन सेनाओं का कब्जा हो गया। कुछ ही महीनों में नार्वे, डेन्मार्क, हॉलैण्ड, बेल्जियम और फ्रांस जर्मनी के अधिकार में आ गये। फ्रांस की सहायता के लिये जो ब्रिटिश सेनाएं यूरोप आई हुई थीं, उन्हें बड़ी कठिनता से ब्रिटेन वापस लौट जाने में सफलता हुई। कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा, कि जर्मनी की शक्ति अजेय है, और यूरोप का कोई देश उसका मुकाबला नहीं कर सकता। यूरोप के महायुद्ध की इन घटनाओं का प्रभाव पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया पर पड़ना आवश्यक था। इस क्षेत्र में हालैण्ड, फ्रांस और ब्रिटेन के जो औपनिवेशिक साम्राज्य विद्यमान थे, उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। हालैण्ड और फ्रांस पर जर्मनी का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था, अतः उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे एशिया के अपने साम्राज्यों की रक्षा कर सकें। फ्रांस की इन्डोचायना में और हालैण्ड की इन्डोनीसिया में अपनी अपनी पृथक् सरकारें थीं, पर इन सरकारों की सैनिक शक्ति इतनी अधिक नहीं थी, कि वे जापान जैसे शक्तिशाली देश का मुकाबला कर सकतीं। ब्रिटेन पर जर्मनी का कब्जा नहीं हुआ था, पर उस पर जर्मन वायुसेना इतनी

तीव्रता के साथ आक्रमण कर रही थी, कि ब्रिटेन के लिये अपनी रक्षा कर सकना सुगम कार्य नहीं रहा था। इस स्थिति में उसके लिये भी यह सुगम नहीं था, कि वह सुदूरपूर्व में विद्यमान अपने सुविस्तृत साम्राज्य की रक्षा पर विशेष ध्यान दे सके। महायुद्ध ने ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दी थीं, जो जापान के लिये एक सुवर्णीय अवसर के समान थीं। इनका उपयोग कर जापान पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी नई व्यवस्था की स्थापना कर सकता था, जिसका उद्देश्य इन प्रदेशों में पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त कर उनमें ऐसी सरकारों की स्थापना करना था, जो जापान को अपना मित्र, सहयोगी और संरक्षक समझें और जो जापान की सहमति से अपनी अन्तर्राष्ट्रीय व आर्थिक नीति का संचालन करें।

**रूस के साथ सन्धि**—जापान की इस आकांक्षा के पूर्ण होने में यदि किसी शक्तिशाली राज्य से विरोध की सम्भावना हो सकती थी, तो वह रूस था। रूस की कम्युनिस्ट व्यवस्था से जापान का विद्वेष था। रूसी सरकार येनान की कम्युनिस्ट सरकार की सहायता के लिये तत्पर थी। जर्मनी और इटली के साथ मिलकर जापान ने १९३६ में जिस एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट का निर्माण किया था, उसका उद्देश्य भी कम्युनिज्म का विरोध करना था। इस स्थिति में यदि जापान दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी नई व्यवस्था की स्थापना के लिये उद्योग करता, तो उसे रूस के विरोध की प्रबल आशंका थी। अतः उसने यह आवश्यक समझा, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने से पूर्व रूस की ओर से निश्चिन्त हो लिया जाय। इससे पूर्व २३ अगस्त, १९३९ को महायुद्ध के प्रारम्भ से कुछ दिन पहले जर्मनी ने भी रूस के साथ एक समझौता कर लिया था, जिसका प्रयोजन यह था, कि जर्मनी और रूस एक दूसरे पर आक्रमण न करें। जर्मनी मध्य यूरोप में जिस ढंग से अपनी शक्ति का विस्तार कर रहा था, उससे उसे यह सर्वथा स्पष्ट था, कि फ्रांस और ब्रिटेन के साथ उसका युद्ध अवश्यम्भावी है। इस दशा में स्वाभाविक रूप से उसकी इच्छा थी, कि वह रूस के साथ युद्ध की सम्भावना को दूर करने की व्यवस्था कर दे। इसीलिये उसने अगस्त, १९३९ में रूस के साथ समझौता कर लिया था। यह समझौता १९३६ के एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट के सर्वथा विपरीत था, पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिस्थितियों ने इस समय रूस और जर्मनी को एक सूत्र में बांध दिया था। रूस और जर्मनी के इस समझौते के कारण पूर्वी एशिया में जापान की स्थिति और भी अधिक अरक्षित हो गई थी, क्योंकि अब रूस की सेनाओं को यूरोप से बहुत कुछ छुट्टी मिल गई थी और उन्हें जर्मनी के आक्रमण का भय नहीं रह गया था। अब रूस अपनी सैन्यशक्ति को पूर्वी एशिया में केन्द्रित कर सकता था और वहां जापान की बढ़ती हुई शक्ति का प्रतिरोध कर सकता था। अतः

जापान के लिये यह और भी अधिक आवश्यक हो गया था, कि वह दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति का विस्तार करने से पूर्व रूस की तरफ से निश्चिन्त होने का प्रयत्न करे। इसी उद्देश्य से १९४१ के प्रारम्भ में जापान के परराष्ट्र मन्त्री श्री मत्सुओका ने यूरोप की यात्रा की। इस यात्रा के सिलसिले में श्री मत्सुओका मास्को भी गये और वहां उन्होंने १३ एप्रिल, १९४१ के दिन रूस के साथ एक सन्धि की, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) रूस और जापान दोनों एक दूसरे की सीमाओं को अनुलंघनीय मानते हैं, और इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं, कि वे एक दूसरे की सीमाओं का व्याघात करने का कोई प्रयत्न नहीं करेंगे। (२) रूस मञ्चूकुओ पर जापान के प्रभावक्षेत्र को स्वीकृत करता है और जापान बाह्य मंगोलिया पर रूस के प्रभावक्षेत्र को मानता है। (३) यदि कोई अन्य राज्य रूस या जापान के साथ युद्ध में व्यापृत हो जाय, तो इस युद्ध में रूस और जापान उस राज्य की सहायता नहीं करेंगे और तटस्थ नीति का अवलम्बन करेंगे।

जापान की दृष्टि से यह सन्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। इसके अनुसार उसे यह भरोसा हो गया था, कि यदि पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के मामले पर उसका अमेरिका के साथ युद्ध प्रारम्भ हो जाय, तो कम से कम रूस इस युद्ध में तटस्थ रहेगा और जापान को इन दो प्रबल शक्तियों का एक साथ मुकाबला करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। इससे दक्षिण-पूर्वी एशिया में 'नई व्यवस्था' स्थापित करने के उद्देश्य में जापान का मार्ग बहुत कुछ निष्कण्टक हो गया था। रूस के लिये भी यह सन्धि बहुत लाभदायक थी। उसे अब यह भरोसा हो गया था, कि यदि भविष्य में जर्मनी के साथ यूरोप में उसका संघर्ष शुरू हो, तो उसे दो मोर्चों पर लड़ाई लड़ने की आवश्यकता नहीं होगी। एशिया में जापान इस स्थिति से लाभ उठाकर उसके खिलाफ लड़ाई शुरू नहीं कर देगा, इस विषय में वह निश्चिन्त हो गया था। इस प्रकार रूस की ओर से निश्चिन्त होकर जापान दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी नई व्यवस्था को कायम करने के लिये प्रवृत्त हुआ। जापान को दक्षिण-पूर्वी एशिया में जो असाधारण सफलता हुई, उसमें एप्रिल, १९४१ का यह समझौता (रूस और जापान की परस्पर अनाक्रमण विषयक सन्धि) एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

**इन्डोचायना और जापान**—जून, १९४० में जर्मनी की सेनाओं ने पेरिस पर कब्जा कर लिया था। जर्मनी के संरक्षण में मार्शल पेतां के नेतृत्व में फ्रांस में ऐसी सरकार कायम कर दी गई थी, जो नाजी लोगों की नीति का अनुसरण कर देश का शासन करने को तैयार थी। इस दशा में इन्डोचायना की फ्रेञ्च सरकार के सम्मुख एक विकट समस्या उपस्थित हुई, पर वहां के फ्रेञ्च शासकों ने यही उचित समझा,

कि वे मार्शल पेतां का अनुसरण करें और उसकी नीति को अपनावें। जापान ने इन्डोचायना की सरकार की निर्बलता से लाभ उठाया और उसे निम्न-लिखित बातों को मानने के लिये विवश किया---(१) इन्डोचायना से कोई युद्ध सामग्री चुंगकिंग सरकार को न पहुंचाई जा सके। जापानी सरकार को अधिकार हो, कि वह इस सम्बन्ध में निरीक्षण रख सके। (२) बरमा रोड द्वारा जो युद्ध सामग्री चुंगकिंग सरकार को पहुंचाई जा रही है, उसमें वायुमार्ग द्वारा बाधा उपस्थित करने के लिये जापान इन्डोचायना के हवाई अड्डों को प्रयुक्त कर सके। कुछ समय बाद जापान ने इन्डोचायना की सरकार से यह अधिकार भी प्राप्त कर लिया, कि वह इन्डोचायना के प्रदेश में अपनी सेनाएँ भेज सके और वहां से उन्हें चुंगकिंग सरकार के विरुद्ध लड़ाई के लिये प्रयुक्त कर सके। साथ ही, इन्डोचायना की सरकार ने जापान को यह अनुमति प्रदान कर दी, कि उसके हवाई अड्डों को चियांग काई शेक की सेनाओं के साथ संघर्ष के लिये प्रयोग में ला सके। फ्रांस इस समय हिटलर की सेनाओं द्वारा परास्त किया जा चुका था। उसकी सैन्य-शक्ति छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। पेरिस पर जर्मनी का कब्जा था। मार्शल पेतां के नेतृत्व में विशी को राजधानी बनाकर जो स्वतन्त्र फ्रेन्च सरकार कायम हुई थी, वह पूर्णतया जर्मनी की वशवर्त्ती थी। इन्डोचायना की फ्रेन्च सरकार विशी की सरकार के अधीन थी, अतः स्वाभाविक रूप से वह जर्मनी के मित्र जापान की मांगों की उपेक्षा नहीं कर सकती थी।

**इन्डोनीसिया और जापान**---दक्षिण-पूर्वी एशिया में हालैण्ड का जो सुविस्तृत साम्राज्य विद्यमान था, उसे इन्डोनीसिया कहते हैं। पहले उसे 'डच ईस्ट इन्डीज' कहा जाता था। आर्थिक और व्यापारिक दृष्टि से जापान का इसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। जापान का तैयार माल बहुत बड़ी मात्रा में इन्डोनीसिया के विविध द्वीपों में बिकता था और जापान इन द्वीपों से पेट्रोलियम, रबड़, टीन आदि प्रचुर मात्रा में क्रय करता था। अमेरिका के साथ जापान के राजनीतिक सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते जाते थे, और अब उसके लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि पेट्रोलियम आदि की अपनी आवश्यकताओं को अमेरिका से सुविधापूर्वक प्राप्त कर सके। अतः जापान की स्वाभाविक रूप से यह इच्छा थी, कि इन्डोनीसिया के साथ अपने व्यावसायिक सम्बन्धों को और अधिक दृढ़ करे। वस्तुतः जापान सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया को उसी प्रकार अपने प्रभाव में ले आना चाहता था, जैसे कि वह मन्चूकुओ को अपने प्रभाव व संरक्षण में ले आने में समर्थ हुआ था। जापान इस प्रदेश को 'बृहत्तर पूर्वी एशिया' के नाम से कहता था और उसकी यह इच्छा थी, कि मन्चूकुओ, आभ्यन्तर मंगोलिया, चीन, इन्डोनीसिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य

देशों को मिलाकर एक ऐसा गुट या ब्लाक बनाया जाय, जो जापान को अपना सहयोगी व संरक्षक माने। यही कारण है, कि जर्मनी द्वारा हालैण्ड पर अधिकार स्थापित करने के कुछ समय पहले जापान के परराष्ट्र मंत्री श्री अरीता (जो श्री मत्सुओका से पूर्व इस पद पर विराजमान थे) ने इन्डोनीसिया के सम्बन्ध में निम्नलिखित नीति का प्रतिपादन किया था—"दक्षिणी समुद्र के क्षेत्र के साथ और विशेषतया नीदरलैण्ड्स ईस्ट इन्डीज के साथ जापान का बहुत अधिक घनिष्ठ आर्थिक सम्बन्ध है, और ये एक दूसरे की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये परस्पर सम्बद्ध हैं। पूर्वी एशिया के अन्य देशों के साथ भी इन प्रदेशों का घनिष्ठ आर्थिक सम्बन्ध विद्यमान है। इसका अभिप्राय यह है, कि जापान और ये सब देश व प्रदेश पारस्परिक सहायता और अन्योन्याश्रयिता द्वारा पूर्वी एशिया की समृद्धि में सहायक हैं।" इसी प्रसंग में श्री अरीता ने यह भी स्पष्ट किया, कि यदि यूरोप में युद्ध की प्रगति के कारण नीदरलैण्ड ईस्ट इन्डीज (इन्डोनीसिया) की स्थिति में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर आयगा, तो जापान उसकी उपेक्षा नहीं कर सकेगा। श्री अरीता को भय था, कि जब जर्मनी हालैण्ड पर कब्जा कर लेगा, तो नीदरलैण्ड की अधीनता में विद्यमान ईस्ट इन्डीज की राजनीति का संचालन मित्रराष्ट्र व अमेरिका इस ढंग से करने का प्रयत्न करेंगे, जिससे कि जापान इस देश के पेट्रोल, रबड़, टीन आदि का उपयोग न कर सके, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जापान की जर्मनी और इटली के साथ सन्धि थी। इसी आशंका को दृष्टि में रखकर जापान पहले ही अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देना चाहता था।

**अमेरिका का रुख**—यूरोप के महायुद्ध द्वारा जो नई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति उत्पन्न हो रही थी, अमेरिका भी उससे चिन्तित था। वह भलीभांति अनुभव करता था, कि जापान इसका उपयोग अपने उत्कर्ष के लिये कर सकता है, और वह हालैण्ड, फ्रांस व ब्रिटेन के संकट का लाभ उठाकर दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को सुगमता से अपने प्रभाव में ला सकता है। इसीलिये उसने अपनी यह नीति सर्वथा स्पष्ट कर दी, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में जो प्रदेश जिस रूप में हैं, जो देश जिस किसी राज्य के अधीन हैं, उन्हें वैसे ही रहना चाहिये, उनकी राजनीतिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं आना चाहिये। अपनी इस नीति को क्रिया में परिणत करने के लिये अमेरिका ने निम्नलिखित उपायों का अवलम्बन किया—(१) जापान अमेरिका से जो युद्ध-सामग्री मंगाता था, उसे देना बन्द कर दिया गया। केवल अस्त्र शस्त्र ही नहीं, अपितु पेट्रोल, लोहा आदि जो वस्तुएँ युद्ध के लिये सहायक हो सकती थीं, उन्हें जापान को भेजना व पहुंचाना रोक दिया गया। (२) चीन में महासेनापति चियांग काई शेक की सरकार को दी जानेवाली सहायता की मात्रा पहले की अपेक्षा

बहुत बढ़ा दी गई, ताकि अब वह अधिक प्रबलता से जापान के साथ युद्ध को जारी रख सके और जापान की अच्छी बड़ी सैन्यशक्ति चीन में उलझी रहे। (३) ब्रिटेन को युद्ध सामग्री और धन की सहायता बहुत बड़ी मात्रा में दी जाने लगी, ताकि यूरोप के रणक्षेत्र में फैसिस्ट राज्य सफल न हो सकें और ब्रिटेन उनका सफलता के साथ मुकाबला कर सके।

अमेरिका की इस नीति का यह परिणाम हुआ, कि वह शक्तिशाली देश महायुद्ध के मैदान में उतर आया। यद्यपि उसकी सेनाएं फैसिस्ट शक्तियों के साथ युद्ध करने के लिये अभी लड़ाई में शामिल नहीं हुई थीं, पर क्रियात्मक दृष्टि से अमेरिका ब्रिटेन, फ्रान्स आदि लोकतन्त्रवादी देशों को सब प्रकार की सहायता प्रदान करने के लिये तत्पर हो गया था। यद्यपि महायुद्ध में अमेरिका की सहानुभूति शुरू से ही मित्र राष्ट्रों के पक्ष में थी, पर १९४० के मध्यभाग में, जब कि फ्रांस जर्मनी द्वारा बुरी तरह से परास्त कर दिया गया था और जर्मन हवाई जहाज बड़ी तेजी के साथ ब्रिटेन पर गोलाबारी करने में तत्पर थे, अमेरिका ने अपनी शक्ति भर मित्रराष्ट्रों की सहायता करनी प्रारम्भ कर दी थी। अमेरिका जो इस समय खुले तौर पर लड़ाई में शामिल नहीं हो गया था, उसके दो कारण थे—(१) अमेरिका का लोकमत अभी तक युद्ध में शामिल होने के लिये पूरी तरह से तैयार नहीं था। यूरोप के झगड़ों में हस्तक्षेप न करने की नीति के कारण ही अमेरिका राष्ट्रसंघ से पृथक् हुआ था और इस समय भी वहां ऐसे राजनीतिक नेताओं की कमी नहीं थी, जो अपने देश को युद्ध से पृथक् रखना ही राष्ट्रीय हित की दृष्टि से उपयोगी समझते थे। (२) अमेरिका के राजनीतिक व सैनिक नेता यह भी अनुभव करते थे, कि अभी उनकी सेना युद्ध के लिये पूरी तरह से तैयार नहीं है। जर्मनी, इटली और जापान की फैसिस्ट सरकारें पिछले दस सालों से युद्ध की तैयारी में तत्पर थीं और इस समय में संसार के अन्य लोकतन्त्र राज्यों के समान अमेरिका ने भी अपने सैनिक उत्कर्ष पर विशेष ध्यान नहीं दिया था। अतः इस समय अमेरिका युद्ध की तैयारी के लिये अपनी पूर्णशक्ति के साथ तत्पर था, और वह पूरी तैयारी किये बिना लड़ाई में शामिल होने में संकोच करता था।

**इटली, जर्मनी और जापान की सैनिक सन्धि**—अमेरिका जिस ढंग से ब्रिटेन, फ्रांस आदि मित्र राष्ट्रों की सहायता के लिये कटिबद्ध था, उससे फैसिस्ट राज्यों के लिये यह समझ सकना कठिन नहीं था, कि वह समय दूर नहीं है, जब कि अमेरिका खुले तौर पर लड़ाई में शामिल हो जायगा। इटली, जर्मनी और जापान का गुट १९३६ में ही बन चुका था। अब २७ सितम्बर, १९४० को इन राज्यों ने परस्पर मिलकर एक सैनिक सन्धि की, जिसके अनुसार उन्होंने निश्चय किया कि (१) यदि

अमेरिका पूर्वी एशिया व प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जापान के विरुद्ध लड़ाई शुरू करे या इन्डोनीसिया पर जापान द्वारा कब्जा करने के रास्ते में बाधा डाले, तो जर्मनी और इटली अटलाण्टिक महासागर के क्षेत्र में उसके विरुद्ध लड़ाई शुरू कर देंगे। (२) इसी प्रकार यदि अमेरिका ब्रिटेन को स्पष्ट रूप से सैनिक सहायता देने लगे, तो जापान प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में उसके खिलाफ युद्ध प्रारम्भ कर देगा। इटली, जर्मनी और जापान की यह सैनिक सन्धि बहुत अधिक महत्त्व रखती है। इसके अनुसार जापान को यह भरोसा हो गया था, कि यदि वह दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने प्रभाव व प्रभुत्व के विस्तार का उद्योग करेगा, तो अमेरिका अपनी सम्पूर्ण शक्ति को उसके खिलाफ प्रयुक्त नहीं कर सकेगा। अमेरिका को अपनी अच्छी बड़ी जलसेना अटलाण्टिक महासागर में भी रखनी होगी और वह अपनी जो जलसेना प्रशान्त महासागर में प्रयुक्त कर सकेगा, उससे जापान को विशेष भय नहीं होगा।

सितम्बर, १९४० की इस सन्धि के कारण पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान की स्थिति बहुत अधिक सुरक्षित हो गई थी। इस क्षेत्र में जापान को अमेरिका के अतिरिक्त रूस से भी भय था। उसके हस्तक्षेप से निश्चिन्त होने के लिये ही उसने एप्रिल, १९४१ में रूस के साथ तटस्थता की जो सन्धि कर ली थी, उसका उल्लेख हम इसी प्रकरण में पहले कर चुके हैं। अमेरिका और रूस दोनों के मुकाबले में अपनी स्थिति को मजबूत कर लेने के बाद जापान दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति के विस्तार के लिये प्रवृत्त हुआ। इस समय जापान अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कितनी सावधानी व बुद्धिमानी के साथ कदम बढ़ा रहा था, इसे अवगत करने के लिये ये दोनों सन्धियां पर्याप्त हैं।

**अमेरिका के साथ सन्धि का प्रयत्न**—१९४१ के शुरू तक अमेरिका यह अन्तिम रूप से निश्चय कर चुका था, कि फैसिस्ट शक्तियों के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों की पूर्णरूप से सहायता की जाय। वह अभी युद्ध में शामिल नहीं हुआ था, पर उसने युद्ध में तटस्थता व उदासीनता की नीति का परित्याग कर दिया था। वह समझता था, कि लोकतन्त्रवाद के अनुयायी मित्रराष्ट्रों के लिये शस्त्रागार का कार्य करके वह उन्हें अच्छी तरह से सहायता पहुंचा सकता है। इसीलिये उसने जनवरी, १९४१ में लीज-लेन्ड बिल स्वीकृत किया था, जिसके अनुसार राष्ट्रपति रूजवेल्ट को यह अधिकार दिया गया था, कि वह फैसिस्ट राज्यों के साथ संघर्ष करने वाले देशों को युद्ध सामग्री और धन की सहायता की व्यवस्था कर सके। चीन की चुंगकिंग सरकार को यह सहायता प्रचुर मात्रा में दी जा रही थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि जापान और अमेरिका में विरोध उत्पन्न हो। पर जापान इस बात

के लिये उत्सुक था, कि वह जहां तक सम्भव हो, अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश के साथ युद्ध में व्यापृत होने से बचा रहे। पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में 'नई व्यवस्था' स्थापित करने की जापान की आकांक्षा तभी निर्बाध रूप से सफल हो सकती थी, जब रूस और अमेरिका से उसके युद्ध की सम्भावना न रहे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में जापान का अमेरिका के साथ कोई विशेष विरोध नहीं था। यदि फिलिप्पीन द्वीपसमूह को अपनी अधीनता में लाने का जापान प्रयत्न न करे, तो इस क्षेत्र में अन्य कोई प्रदेश ऐसा नहीं था, जिसमें अमेरिका का आधिपत्य हो और जिसे जापान की नई व्यवस्था से हानि पहुंचने की सम्भावना हो। एप्रिल, १९४१ में जापान रूस के साथ सन्धि कर चुका था। साथ ही उसने यह भी यत्न किया, कि इसी ढंग की सन्धि अमेरिका के साथ भी कर ली जावे। अमेरिका में जापानी राजदूत के पद पर एड्मिरल नोमूरा विद्यमान थे। उन्होंने अमेरिका के साथ सन्धि की बातचीत शुरू की और पारस्परिक समझौते के लिये निम्नलिखित बातें पेश कीं—(१) नानकिंग में वांग चिंग-वेई के नेतृत्व में जो चीनी सरकार स्थापित हुई है, वह जापान के साथ मैत्री सम्बन्ध पर विश्वास रखती है। जापान चीन का पड़ोसी राज्य है, और इन दोनों राज्यों का मैत्री संबंध व सहयोग पूर्वी एशिया में शांति और व्यवस्था की स्थापना के लिये अनिवार्य है। अतः अमेरिका को चाहिये, कि वह चियांग काई शेक की सरकार पर इस बात के लिये जोर दे, कि वह जापान के साथ समझौता कर ले। (२) जापान और अमेरिका दोनों देश यह स्वीकार करें, कि उन्हें जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, और जो वे एक दूसरे को दे सकते हैं, वे एक दूसरे को देते रहेंगे। जापान अमेरिका से पेट्रोल, लोहा आदि पदार्थ प्रचुर परिमाण में प्राप्त करता था। इसी प्रकार रेशम आदि अनेक पदार्थ जापान से अमेरिका जाते थे। एड्मिरल नोमूरा की इच्छा थी, कि अमेरिका और जापान का यह पारस्परिक व्यापार भविष्य में भी पूर्ववत् जारी रहे। (३) जापान दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों के साथ जो अपना सम्बन्ध स्थापित रखना चाहता है, उसका स्वरूप शान्तिमय है। जापान इन देशों को अपनी अधीनता में लाकर उनमें अपना शासन स्थापित नहीं करना चाहता। अतः अमेरिका को चाहिये, कि इन देशों से जापान तेल, रबड़, टीन, निकल आदि जिन पदार्थों को प्राप्त करना चाहता है, उन्हें प्राप्त करने में वह किसी प्रकार की बाधा न डाले। (४) फिलिप्पीन द्वीप समूह को स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय और अमेरिका व जापान दोनों इस स्वतन्त्र राज्य की उदासीन व तटस्थ सत्ता को स्वीकार करें।

इस प्रसंग में विचारणीय बात यह है, कि पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान के उद्देश्य क्या वस्तुतः शान्तिमय थे? इस बात का उत्तर देने के लिये यह ध्यान

में रखना आवश्यक है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देश इस समय स्वतन्त्र नहीं थे। वे ब्रिटेन, फ्रांस, पोर्तुगाल, हालैण्ड और अमेरिका के साम्राज्यवाद के शिकार थे, और इन सब देशों में अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन जारी थे। अतः यदि जापान महायुद्ध की परिस्थितियों का लाभ उठाकर इन देशों में अपने प्रभाव का विस्तार करने का प्रयत्न करता, तो उसका परिणाम किन्हीं स्वाधीन राज्यों की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को नष्ट करना नहीं हो सकता था। जापान के लिये यह भी सम्भव नहीं था, कि वह इन देशों को उसी प्रकार अपनी अधीनता में ला सकता, जैसे कि वे पाश्चात्य देशों की अधीनता में थे। इस क्षेत्र में जापानी शक्ति के विस्तार का यही परिणाम हो सकता था, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देश पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकंजे से मुक्त हो जाते, और उनमें जो नई सरकारें कायम होतीं, वे जापान को अपना संरक्षक, मित्र व सहयोगी समझतीं। दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों के लिये यह बात कुछ अधिक बुरी न होती। वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता व लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर अग्रसर होने में इससे कुछ सहायता ही प्राप्त करते। मञ्चूकुओ और चीन में जिस ढंग की सरकारें जापान के संरक्षण में कायम हुई थीं, वे उन अर्थों में जापान की अधीनता में नहीं थीं, जिन अर्थों में कि इन्डोचायना, भारत, बरमा, इन्डोनीसिया आदि की सरकारें विविध पाश्चात्य देशों के अधीन थीं। चियांग काई शेक की सरकार को भी चीन की पूर्णतया स्वतन्त्र सरकार कह सकना सम्भव नहीं है। वह ब्रिटेन और अमेरिका के प्रभाव में थी, और उस पर इन पाश्चात्य देशों का आधिपत्य व प्रभाव उसी प्रकार विद्यमान था, जिस प्रकार कि वांग चुंग-वेई की सरकार पर जापान का। इस स्थिति में पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में जापान की नीति व उद्देश्यों को सर्वथा बुरा कह सकना एक निष्पक्ष ऐतिहासिक के लिये सम्भव नहीं है। वस्तुतः महायुद्ध की परिस्थितियों ने एशिया के विविध देशों को पाश्चात्य साम्राज्यवाद से छुटकारा पाने का एक सुवर्णीय अवसर प्रदान किया था। पर पराधीन एशियन देशों के राष्ट्रीय नेताओं की अपनी सैन्य-शक्ति इतनी नहीं थी, कि वे अकेले अपने को पाश्चात्य देशों की अधीनता से मुक्त कर सकते। इसके लिये उन्हें किसी शक्तिशाली देश की सहायता की आवश्यकता थी। जापान इस स्थिति में था, कि वह इन देशों को सहायता प्रदान कर सके। दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान के विस्तार का यही परिणाम हुआ, कि इन्डोनीसिया, बरमा, मलाया आदि देशों को अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने का अवसर मिला और वहां जो नई सरकारें कायम हुई, महायुद्ध की परिस्थितियों के बावजूद भी वे इतनी अधिक स्वाधीन थीं, जितनी कि पाश्चात्य देशों की अधीनता में इन देशों की सरकारें कभी स्वाधीन नहीं हुई थीं। जापान की सहायता द्वारा

इन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलन को जो बल मिला था, इनमें जो राष्ट्रीय शक्ति विकसित हुई थी, वह इतनी अधिक थी, कि यदि जापान इन देशों को अपनी अधीनता में रखने का प्रयत्न करता, तो इनकी राष्ट्रीय चेतना उसे कभी सहन न कर सकती।

**युद्ध का सूत्रपात**—पर अमेरिका की नीति यह थी, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के जिस देश के शासन का जो स्वरूप है, उसमें कोई परिवर्तन न आये। इसका अभिप्राय यह था, कि इन्डोनीसिया पर हालैण्ड का, इन्डोचायना पर फ्रांस का और बरमा, मलाया आदि पर ब्रिटेन का प्रभुत्त्व यथापूर्व कायम रहे। इन देशों को भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अधिकार है, और इन देशों में विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन विद्यमान है—इस तथ्य का अमेरिका की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं था। इसीलिये अमेरिका के साथ सन्धि करने के प्रयत्न में एड्मिरल नोमूरा को सफलता नहीं हो सकी। अमेरिका इण्डोचायना के मार्ग से चुंगकिंग सरकार को सहायता न दे सके, इस उद्देश्य से जब जापान ने इन्डोचायना में अपनी सेनाएं भेजनी प्रारम्भ की, तो अमेरिका अपने को काबू में नहीं रख सका। २६ जुलाई, १९४१ को अमेरिकन सरकार ने एक आज्ञा प्रकाशित की, जिसके अनुसार जापान के साथ होने वाले सब अमेरिकन व्यापार पर सरकारी नियन्त्रण कायम कर दिया गया। साथ ही यह भी व्यवस्था की गई, कि अमेरिका में जापान की जो धनसम्पत्ति है, उस सबको सरकार अपने अधिकार में कर ले और जापानी लोग स्वेच्छापूर्वक उसका उपयोग न कर सकें। ब्रिटेन और उसके उपनिवेशों ने अमेरिका का अनुसरण किया और उन्होंने भी इसी प्रकार के आदेश जारी किये। हालैण्ड की सरकार ने भी अमेरिका के अनुसरण में जापान के सम्बन्ध में इसी नीति का आश्रय लिया। इसका परिणाम यह हुआ, कि जापान के लिये पेट्रोल जैसे आवश्यक पदार्थ को प्राप्त कर सकना कठिन हो गया। जापान पेट्रोल को अमेरिका, ब्रिटेन या इन्डोनीसिया से ही प्राप्त कर सकता था। इन देशों की नीति के कारण अब उसके लिये पेट्रोल व इसी प्रकार के अन्य पदार्थों को कहीं से भी प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं रहा।

यह स्वाभाविक था, कि जापान अमेरिका, ब्रिटेन और हालैण्ड की इस नीति को अपने प्रति विद्वेष व विरोध का परिणाम समझे। पर अभी अमेरिका युद्ध के लिये तैयार नहीं था। वह समझता था, कि अभी उसकी सामरिक तैयारी नहीं पूरी हुई है। इसीलिये उसने जापान के साथ सन्धि की बातचीत को जारी रखा। पर जापान ने यह भलीभांति अनुभव कर लिया था, कि अमेरिका के साथ उसका युद्ध अवश्यम्भावी है। उसके लिये यह सम्भव नहीं है, कि रूस के समान अमेरिका को

भी वह तटस्थता की नीति का अनुसरण करने के लिये राजी कर सके। अतः उसने यही निश्चय किया, कि अमेरिका को युद्ध की तैयारी का और अधिक समय न दे। ७ दिसम्बर, १९४१ के दिन उसने पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर दिया। पर्ल हार्बर हवाई द्वीपसमूह में अमेरिकन जलशक्ति का प्रधान केन्द्र था। इस आक्रमण के कारण जापान और अमेरिका की सन्धि विषयक बातचीत का स्वयमेव अन्त हो गया और ये दोनों देश महायुद्ध के मैदान में कूद पड़े।

## (५) जापान की आन्तरिक राजनीति

जिस समय जापान ने १९३१ में मञ्चूरिया में अपने प्रभुत्व की स्थापना का प्रयत्न प्रारम्भ किया, उस समय तक के जापान के राजनीतिक इतिहास पर हम पहले एक अध्याय में संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाल चुके हैं। इससे पूर्व कि हम १९४१ के बाद जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में किस प्रकार अपनी शक्ति व प्रभाव का विकास किया, इसका इतिवृत्त लिखें, यह उपयोगी होगा कि १९३१ से १९४१ के जापान के राजनीतिक इतिहास की प्रमुख घटनाओं का भी संक्षेप के साथ उल्लेख कर दिया जाय।

१९३२ में जापान की पार्लियामेन्ट में सैयुकाई दल का बहुमत था और उसके नेता श्री इनुकाई जापान के प्रधानमन्त्री थे। इस समय जापान में इस बात पर संघर्ष शुरू हो चुका था, कि सरकार का संचालन राजनीतिक दलों व उनके नेताओं के हाथों में रहे या सेना के। इस संघर्ष का उल्लेख हम इस इतिहास में पहले भी कर चुके हैं। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद संसार के प्रायः सभी देशों में लोकतंत्रवाद की प्रवृत्ति को बल मिला था। बहुत से राज्यों में लोकतन्त्र रिपब्लिकों की स्थापना हुई थी और जहां वंशक्रमानुगत राजा कायम रहे थे, वहां भी शासन कार्य में लोकमत के प्रभाव में वृद्धि हुई थी। जापान भी इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं बचा था। १९२० के बाद जापान में किस प्रकार निरन्तर राजनीतिक दलों का विकास हुआ और देश के शासन में इन दलों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। १९३० के बाद यूरोप में लोकतन्त्रवाद का ह्रास शुरू हुआ, फैसिज्म और नाजीज्म के रूप में ऐसी प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हुआ, जिनका उद्देश्य सरकार के संचालन में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के महत्त्व को कम करके एक नेता और एक दल के प्रभुत्व की स्थापना था। यह फैसिस्ट प्रवृत्ति केवल इटली और जर्मनी तक ही सीमित नहीं रही, यूरोप के अन्य देशों पर भी उसका प्रभाव पड़ा। जर्मनी और इटली में जिस प्रकार हिटलर और मुसोलिनी के रूप में ऐसे नेताओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने विविध राजनीतिक दलों की पृथक् सत्ता

और विरोध का अन्त कर राज्य की सम्पूर्ण शक्ति अपने हाथों में कर ली, वैसे किसी नेता का प्रादुर्भाव जापान में नहीं हुआ। पर वहां के सैनिक नेता इस बात को भलीभांति अनुभव करते थे, कि राजनीतिक दलों के हाथ में सरकार के संचालन कार्य को रहने देना देश के लिये अत्यन्त हानिकारक है। राजनीतिक दलों की प्रभुता के कारण सरकार का संचालन कतिपय ऐसे लोगों के हाथों में आ जाता है, जो राजनीति को अपना पेशा बना लेते हैं, और सर्वसाधारण मतदाताओं को अपने पक्ष में करके राजशक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। ये राजनीतिज्ञ अपनी शक्ति का प्रयोग स्वार्थ के लिये करते हैं, और बड़े पूंजीपतियों के साथ मिलकर अपना स्वार्थ साधन करते हैं। अतः उचित यह है, कि देश के शासन में राजनीतिक दलों और राजनीतिज्ञों का प्रभुत्व न रहे। सैनिक नेताओं का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता, अतः वे जनता के हित के लिये अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। १९३० के बाद केवल सैनिक नेता ही यह बात अनुभव नहीं करते थे, अपितु जनता में भी बहुत से ऐसे लोग उत्पन्न हो गये थे, जो इन्हीं विचारों के थे। ये लोग उग्र राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत होने के कारण यह विश्वास रखते थे, कि जापान के सब संकटों को दूर करने का एकमात्र उपाय यह है, कि ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, हालैण्ड आदि पाश्चात्य देशों के समान जापान भी साम्राज्य विस्तार के लिये प्रवृत्त हो। पर साम्राज्य विस्तार के कार्य में सफलता के लिये राजनीतिक दलों व राजनीतिक नेताओं पर भरोसा नहीं किया जा सकता। इसके लिये देश का शासन उन सैनिक नेताओं के हाथों में होना चाहिये, जो तलवार के धनी हों और जो अपने देश के उत्कर्ष के लिये उग्र उपायों का अनुसरण कर सकने में समर्थ हों। १९३१ में जापान की क्वांतुंग सेना ने मञ्चूरिया पर अपना आधिपत्य स्थापित करना शुरू कर दिया था। मञ्चूरिया में जापान की शक्ति के विस्तार का उत्तरदायित्व क्वांतुंग सेना पर ही था। जब यह मामला जापान के मन्त्रिमण्डल के सम्मुख विचारार्थ उपस्थित किया गया, तो प्रधानमन्त्री इनुकाई ने कहा, कि जापान की आर्थिक दशा ऐसी नहीं है, कि मञ्चूरिया और चीन में किसी बड़े युद्ध का सूत्रपात किया जा सके। इनुकाई चीन और मञ्चूरिया में लड़ाई बढ़ाने का विरोधी था। परिणाम यह हुआ, कि सैनिक नेता और उग्र राष्ट्रवादी लोग उसके विरोधी हो गये। कतिपय सैनिक आफिसरों के नेतृत्व में इन उग्र राष्ट्रवादियों ने तोकियो में चक्कर लगाना शुरू किया। ये लोग अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे और अपने विरोधियों का संहार करने के लिये कटिबद्ध थे। उन्होंने सैयुकाई दल के प्रधान कार्यालय, कोतवाली और प्रधान मन्त्री के निवासस्थान आदि महत्त्वपूर्ण इमारतों पर हमला किया। श्री इनुकाई इन राष्ट्रवादी लोगों द्वारा मार दिये गये, और उनके समान अन्य

भी अनेक राजनीतिक नेता उग्र राष्ट्रवादी क्रान्तिकारियों के कोप के शिकार बने। इन हत्याकारियों पर मुकदमे चलाये गये, उन्हें सजा भी दी गई, पर यह सजा इतनी कम थी, कि उसका जनता पर कोई भी प्रभाव नहीं हो सकता था। इन लोगों को हत्याकारी न समझकर 'पथभ्रष्ट देशभक्त' माना गया। इस समय जापान में सेना का इतना अधिक जोर था और लोग साम्राज्य प्रसार के लिये इतने अधिक उतावले थे, कि इन हत्याकारियों को कठोर दण्ड दे सकना सम्भव नहीं था। इन हत्याओं में केवल सेना का ही हाथ नहीं था, इस समय जापान में फैसिस्ट ढंग की एक राजनीतिक संस्था भी स्थापित हो चुकी थी और उसकी अधीनता में 'रक्त बन्धुत्व संघ' (ब्लड ब्रदरहुड लीग) अपना कार्य कर रही थी, जिसका प्रयोजन अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों की हत्या करना था। इस संघ में सैनिक आफिसर, विद्यार्थी व उग्र विचारों के नवयुवक सम्मिलित थे और इन्होंने यह अपना ध्येय बनाया हुआ था, कि सरकार के संचालन का कार्य ऐसे लोगों के हाथों में ले आया जाय, जो साम्राज्य प्रसार के कट्टर पक्षपाती हों। ब्लड ब्रदरहुड लीग की स्थापना सन १९३० में हुई थी और उसके संस्थापकों में लेफ्टिनेन्ट फूजिमा और निशो इनूये प्रमुख थे। फूजिमा सैनिक आफिसर था और इनूये एक बौद्ध भिक्षुक था।

इनूकाई की हत्या के बाद जनरल सैतो के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया गया। सैतो का मन्त्रिमण्डल किसी एक राजनीतिक दल पर आश्रित नहीं था, उसमें सैनिक नेताओं की प्रधानता थी और एड्मिरल अराकी उसका अत्यधिक प्रभावशाली सदस्य था। यह मन्त्रिमण्डल १९३४ तक कायम रहा। जिस समय जापान मञ्चूरिया और आभ्यन्तर मंगोलिया के पूर्वी प्रदेशों में अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर था, यही मन्त्रिमण्डल जापान में विद्यमान था। १९३४ में इस मन्त्रिमण्डल के अन्यतम मंत्री पर आर्थिक गबन सम्बन्धी कुछ आक्षेप किये गये और उसके कारण नये मन्त्रिमण्डल के निर्माण की आवश्यकता हुई। अब एड्मिरल ओकोदा के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का संगठन हुआ। यह मन्त्रिमण्डल भी किसी एक राजनीतिक दल के समर्थन पर आश्रित नहीं था। पर फरवरी, १९३६ में जब जापान की पार्लियामेन्ट का नया निर्वाचन हुआ, तो उसमें पुराने राजनीतिक दलों की शक्ति फिर बढ़ गई। इस नई पार्लियामेन्ट में विविध दलों के सदस्यों की संख्या इस प्रकार थी—मिन्सेइतो २०५, सैयुकाई १७४, शोवाकाई (फैसिस्ट प्रवृत्ति का नया दल) २०, अन्य दल ६७। पार्लियामेन्ट के निर्वाचन के परिणाम से वे लोग बहुत अधिक असंतुष्ट हुए, जो जापान में राजनीतिक दलों के प्रभुत्व का अन्त कर सैनिक नेताओं के आधिपत्य के पक्षपाती थे। प्रधानमन्त्री एड्मिरल ओकोदा ने इस समय यही उचित समझा, कि लोकमत के अनुसार देश का शासन

किया जाय और पार्लियामेन्ट के निर्वाचन द्वारा जनता ने जिन राजनीतिक दलों के प्रति अपना विश्वास प्रगट किया है, उनको देश के शासन में अधिक महत्त्व दिया जाय। पर सेना के नेता और ब्लड ब्रदरहुड लीग के सदस्य इस बात को सहन करने के लिये उद्यत नहीं थे। वे खुले तौर पर विद्रोह करने को तैयार हो गये। २६ फरवरी, १९३६ के दिन १५०० सैनिकों ने अस्त्र-शस्त्रों के साथ तोकियो में विद्रोह कर दिया। उन्होंने प्रधान मन्त्री ओकोदा, एड्मिरल सैतो, एड्मिरल सुजुकी, श्री ताकाहाशी, काउण्ट मकिनो आदि सरकार के प्रधान अधिकारियों व मन्त्रियों पर हमला बोल दिया और अनेक सरकारी नेता इन विद्रोहियों के कोप के शिकार हुए। प्रधान मन्त्री ओकोदा बड़ी कठिनता से अपनी प्राणरक्षा करने में समर्थ हुआ। विद्रोही सैनिकों के एक अन्य गिरोह ने हाईकोर्ट, पार्लियामेन्ट, पुलीस हेड-क्वार्टर्स, जल और स्थल सेना के प्रधान कार्यालय, राजप्रासाद आदि सरकारी इमारतों पर आक्रमण किया। सैनिकों का यह विद्रोह २९ फरवरी तक जारी रहा। यद्यपि अनेक मन्त्री व अन्य उच्च राजपदाधिकारी इस विद्रोह में मारे गये, पर सम्राट् और उसकी सरकार ने इस बार विद्रोह को शान्त करने में बहुत अधिक तत्परता प्रदर्शित की। विद्रोही सैनिकों को गिरफ्तार किया गया, उन पर मुकदमे चलाये गये और १७ सैनिक आफिसरों को प्राणदण्ड दिया गया।

पर इस विद्रोह के कारण सेना ने एड्मिरल ओकोदा के प्रति जो रोष प्रकट किया था, उसके कारण उसके मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देना पड़ा। ९ मार्च, १९३६ को श्री हीरोता के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का संगठन किया गया। हीरोता का मन्त्रिमण्डल देर तक अपने पद पर कायम नहीं रह सका। उसके पतन के बाद दो अन्य मन्त्रिमण्डल बने, पर उनका यहां उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। ३१ मई, १९३७ को जापान के प्रधान मन्त्री के पद पर प्रिंस कोनोये की नियुक्ति हुई। प्रिंस कोनोये को जहां सैनिक नेता पसन्द करते थे, वहां राज-नीतिक नेताओं का समर्थन भी उसे प्राप्त था। प्रिंस कोनोये वस्तुतः जापान का राष्ट्रीय नेता था और उसी ने पूर्वी एशिया व वृहत्तर पूर्वी एशिया (दक्षिण-पूर्वी एशिया) के सम्बन्ध में उस नई नीति का सूत्रपात किया था, जिसका उल्लेख हम पहले 'नई व्यवस्था' के नाम से कर चुके हैं। प्रिंस कोनोये ने इस नई व्यवस्था के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था—(१) चीन में चियांग काई शेक के नेतृत्व में स्थापित सरकार का अन्त कर एक ऐसी सरकार की स्थापना की जाय, जो जापान के साथ सहयोग करने को तैयार हो और जो जापान को अपना मित्र, सहयोगी व संरक्षक स्वीकार करे। (२) चीन में पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व का अन्त करने के साथ-साथ पूर्वी एशिया के सम्पूर्ण प्रदेशों से पाश्चात्य देशों के

साम्राज्यवाद का अन्त किया जाय । (३) रूस अपने प्रभाव व प्रभुत्व का विस्तार बैकाल झील से पूर्व के प्रदेशों में न कर सके । पूर्वी एशिया में 'नई व्यवस्था' की स्थापना के लिये जापान ने चीन में जिन युद्धों का प्रारम्भ किया था, उनका उल्लेख इस इतिहास में पहले किया जा चुका है । इन युद्धों का संचालन प्रिंस कोनोये के मन्त्रिमण्डल द्वारा ही किया जा रहा था । चीन में जापान की शक्ति के विस्तार का प्रधान श्रेय इसी मन्त्रिमण्डल को है ।

प्रिंस कोनोये का मन्त्रिमण्डल ५ जनवरी, १९३८ तक कायम रहा । मन्त्रियों में आपस के मतभेद के कारण इस मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया और डा० हीरानूमा के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ । यद्यपि डा० हीरानूमा स्वयं सैनिक आफिसर नहीं था, पर वह उग्र राष्ट्रवादी था और जापान की शक्ति के विस्तार का प्रबल पक्षपाती था । उसने चीन-जापान युद्ध का बड़ी उग्रता के साथ संचालन किया, पर वह देर तक अपने पद पर कायम नहीं रह सका । अगस्त, १९३९ में जब जर्मनी और रूस ने परस्पर तटस्थता की सन्धि कर ली, (इस सन्धि का उल्लेख हम इसी अध्याय में पहले कर चुके हैं) तो जापान में उससे बहुत असन्तोष हुआ । जर्मनी, इटली और जापान ने परस्पर मिलकर जो एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट बनाया हुआ था, यह सन्धि स्पष्टतया उसके विरुद्ध थी । इस सन्धि के कारण जापान की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत निर्बल हो गई थी और इसीलिये डा० हीरानूमा के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह अपने विरोधियों से अपने मन्त्रिमण्डल की रक्षा कर सके । परिणाम यह हुआ, कि २८ अगस्त, १९३९ को उसने त्यागपत्र दे दिया और जनरल नोबूयूकी आबे के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का संगठन हुआ । जनरल आबे के मन्त्रिमण्डल के सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या यह थी, कि जापान अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी स्थिति को फिर से मजबूत करने का प्रयत्न करे । इसके लिये उसने यह निर्धारित किया, कि जहां तक सम्भव हो यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों से पृथक् रहा जाय और संयुक्तराज्य अमेरिका के साथ समझौते का प्रयत्न किया जाय, ताकि पूर्वी एशिया में 'नई व्यवस्था' को कायम करने की योजना को जापान निश्चिन्त रूप से पूरा कर सके । पर अमेरिका और जापान में विरोध इतना अधिक था, कि उनमें समझौता हो सकना सुगम नहीं था । १५ जनवरी, १९४० को जनरल आबे के मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया और एड्मिरल मित्सुमासा योनाई के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ ।

इस समय यूरोप में महायुद्ध का प्रारम्भ हो चुका था और जर्मनी बड़ी तेजी के साथ यूरोप के विविध देशों को अपनी अधीनता में लाने में तत्पर था । जापान के उग्र राष्ट्रवादी नेता अनुभव करते थे, कि पूर्वी एशिया में 'नई व्यवस्था' स्थापित

करने का यह सुवर्णीय अवसर है। ब्रिटेन, फ्रांस और हालैण्ड की इस समय जो दुर्दशा है, उसका लाभ उठाकर जापान को अब चीन व दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में अपनी शक्ति के विस्तार के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। इन उग्र राष्ट्रवादी नेताओं का विचार था, कि एड्मिरल योनाई का मन्त्रिमण्डल महायुद्ध के अवसर का सुचारु रूप से जापान के उत्कर्ष के लिये उपयोग करने में असमर्थ है। इन नेताओं के विरोध के कारण १८ जुलाई, १९४० को योनाई के मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया और प्रिंस कोनोये ने एक बार फिर जापानी सरकार के शासनसूत्र को अपने हाथों में लिया।

प्रिंस कोनोये जापान की 'नई व्यवस्था' सम्बन्धी नीति का प्रवर्त्तक था। उसके शासनकाल में जापान ने पूर्वी व बृहत्तर पूर्वी एशिया में नई व्यवस्था की स्थापना के लिये जो उद्योग किया, उसके सम्बन्ध में इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि उसी के मन्त्रिमण्डल ने एप्रिल, १९४१ में रूस के साथ तटस्थता की सन्धि की और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ समझौता करने का अत्यधिक गम्भीरता के साथ उद्योग किया। इन सन्धियों का क्या उद्देश्य था, इस पर हम इसी अध्याय में पहले प्रकाश डाल चुके हैं। प्रिंस कोनोये वस्तुतः अमेरिका के साथ सन्धि करना चाहता था। पर जब अमेरिका ने अपने प्रदेशों में विद्यमान सम्पूर्ण जापानी सम्पत्ति व धन पर सरकारी अधिकार कायम कर लिया और ब्रिटेन व हालैण्ड ने उसका अनुसरण किया (इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं), तो प्रिंस कोनोये के लिये यह सम्भव नहीं रह गया, कि वह अमेरिका के साथ सन्धि की बात को आगे बढ़ा सके। पर प्रिंस कोनोये अब भी निराश नहीं हुआ। उसने यत्न किया कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट से मुलाकात करे और स्वयं सब बातों का निर्णय करे। पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट प्रिंस कोनोये से मुलाकात के लिये तैयार नहीं हुआ। प्रिंस कोनोये की अमेरिका सम्बन्धी नीति की यह भारी असफलता थी। विवश होकर उसे अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा और जनरल हिदेका तोजो के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ। जनरल तोजो उग्र राष्ट्रवादी व साम्राज्यवादी था। उसका मन्त्रिमण्डल १९४४ तक कायम रहा। दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान की शक्ति का जो असाधारण रूप से विस्तार हुआ, उसका श्रेय जनरल तोजो के मन्त्रिमण्डल को ही है। पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर जनरल तोजो की सरकार ने ही महायुद्ध में प्रवेश किया था।

१९३१ से १९४१ तक के काल में जापान के राजकीय व्यय में बहुत अधिक वृद्धि हुई। इसका कारण मञ्चूरिया और चीन के युद्धों में अत्यधिक खर्च का होना था। १९३१-३२ में जापान का कुल राजकीय व्यय १,४७,७०,००,०००

येन था। १९३६-३७ में इस खर्च की मात्रा बढ़कर २,२८,२०,००,००० येन तक पहुंच गई थी। १९३६ के बाद जापान के राजकीय व्यय में और भी अधिक वृद्धि हुई, क्योंकि इस समय जापानी सेनाएं चीन के साथ युद्ध में व्यापृत थीं। इतने खर्च को अकेले टैक्सों से प्राप्त नहीं किया जा सकता था, अतः सरकार को राष्ट्रीय ऋण का आश्रय लेना पड़ा। जापान के राष्ट्रीय ऋण में कितनी तेजी के साथ वृद्धि हो रही थी, इसका अन्दाज निम्नलिखित तालिका द्वारा भली-भांति किया जा सकता है।

| वर्ष | राष्ट्रीय ऋण की मात्रा |
|---|---|
| १९३० | ४,५२,३०,००,००० येन |
| १९३७ | ९,२५,८०,००,००० येन |
| १९४० | ११,०३,३०,००,००० येन |

इस राष्ट्रीय ऋण को प्रधानतया जापान के पूंजीपतियों द्वारा प्राप्त किया गया था। जर्मनी के समान जापान भी इस समय अपनी व्यावसायिक उन्नति के लिये विशेष रूप से तत्पर था। सरकार मुख्यतया ऐसे व्यवसायों पर विशेष रूप से ध्यान दे रही थी, जो युद्ध के लिये उपयोगी हों।

उन्नीसवां अध्याय

# दक्षिण-पूर्वी एशिया में महायुद्ध का प्रसार

## (१) जापान द्वारा पाश्चात्य देशों के साम्राज्यों का अन्त

**पर्ल हार्बर**—७ दिसम्बर, १९४१ को जापान ने पर्ल हार्बर पर हमला किया। यह बन्दरगाह प्रशान्त महासागर में हवाई द्वीपसमूह में स्थित है, और अमेरिका की सामुद्रिक शक्ति का प्रधान केन्द्र है। अमेरिका को इस बात की आशंका नहीं थी, कि जापान इस प्रकार अकस्मात् पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर देगा। इसमें सन्देह नहीं, कि अमेरिका और जापान के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते जा रहे थे। जापान के राजदूत द्वारा अमेरिका के साथ सन्धि व समझौता करने का जो प्रयत्न जारी था, वह असफल हो चुका था। प्रिंस कोनोये के साथ मुलाकात करने से भी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इन्कार कर दिया था। इस दशा में इन दोनों देशों में युद्ध होना अनिवार्य हो गया था। जापान पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व का अन्त कर वहां ऐसी सरकारें स्थापित करना चाहता था, जो जापान को अपना मित्र, सहयोगी व संरक्षक मानें। अमेरिका जापान की इस नीति को किसी भी प्रकार सहने के लिये तैयार नहीं था। अतः जापान ने यह निश्चय किया, कि प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में अमेरिका की जो जलशक्ति विद्यमान है, उसे एकदम पंगु बना दिया जाय, ताकि अमेरिका के लिये जापान के मार्ग में बाधा उपस्थित कर सकना सम्भव न रहे। पर्ल हार्बर के इस हवाई हमले में अमेरिका के अनेक जंगी जहाज डूब गये और अनेक तहस-नहस हो गये। इस आक्रमण में २,११७ अमेरिकन आफिसर और सैनिक मारे गये, ३७६ घायल हुए और ९६० लापता हो गये। जो जंगी जहाज इस हमले द्वारा डूबे या नष्ट हुए, उनकी संख्या १४ थी। इसी प्रकार १२७ अमेरिकन हवाई जहाज इस आक्रमण के कारण नष्ट हुए। जापान के इस अकस्मात् हमले से अमेरिका की आधे के लगभग सामुद्रिक शक्ति नष्ट हो गई।

इसमें सन्देह नहीं, कि जिस उद्देश्य से जापान ने अकस्मात् पर्ल हार्बर पर आक्रमण किया था, उसमें उसे सफलता हुई। जापान यही चाहता था, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति के विस्तार में अमेरिका की जलशक्ति बाधक न हो।

सके। पर्ल हार्बर पर आक्रमण के कारण प्रशान्त महासागर में विद्यमान अमेरिकन जलशक्ति इतनी अधिक भंग हो गई थी, कि उसके लिये जापान का प्रतिरोध कर सकना सम्भव नहीं रहा था। पर अन्ततोगत्वा इससे जापान को नुकसान ही हुआ। अमेरिका में बहुत से लोग ऐसे थे, जो महायुद्ध से पृथक् रहने में ही अपने देश का हित समझते थे। उनका विचार था, कि यूरोप के झगड़ों में अमेरिका को नहीं पड़ना चाहिये और उसके लिये यही पर्याप्त है, कि वह फैसिस्ट शक्तियों के खिलाफ मित्र राज्यों की युद्ध सामग्री और धन द्वारा सहायता करता रहे। यद्यपि राष्ट्रपति रूजवेल्ट लीज लेन्ड बिल द्वारा सब प्रकार से मित्र राष्ट्रों की सहायता करने को उद्यत थे, पर अमेरिका की जनता में युद्ध में शामिल होने के लिये विशेष उत्साह नहीं था। पर पर्ल हार्बर पर जापानी आक्रमण ने स्थिति को एकदम परिवर्तित कर दिया। अब सम्पूर्ण अमेरिकन जनता फैसिस्ट राज्यों के खिलाफ युद्ध में शामिल होने के लिये तैयार हो गई और इस विशाल रिपब्लिक की सम्पूर्ण शक्ति मित्र राज्यों के पक्ष में प्रयुक्त होने लगी। धन, जन और युद्ध सामग्री की दृष्टि से अमेरिका का भण्डार वस्तुतः अक्षय था। आधुनिक युग में सफलता प्राप्त करने के लिये जहां सैनिकों की आवश्यकता होती है, वहां साथ ही अपार आर्थिक साधन और अत्यधिक युद्ध सामग्री की उपलब्धि भी अनिवार्य होती है। महायुद्ध में जो फैसिस्ट राज्यों की पराजय और मित्र राज्यों की विजय हुई, उसका प्रधान कारण अमेरिका की अनन्त धनशक्ति और जनशक्ति थी। यदि जापान इस प्रकार अकस्मात् पर्ल हार्बर पर आक्रमण न कर देता, तो यह बात संदिग्ध है, कि अमेरिका की यह शक्ति किस अंश तक मित्रराज्यों को उपलब्ध हो सकती। यद्यपि राष्ट्रपति रूजवेल्ट की सरकार मित्र राज्यों की सब प्रकार से सहायता करने के लिये कटिबद्ध थी, पर अमेरिका में ऐसे लोग भी विद्यमान थे, जो महायुद्ध में शामिल होने के लिये विशेष उत्साह नहीं रखते थे और अमेरिका जैसे लोकतन्त्र देश में इन लोगों के मत की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

**अन्यत्र जापानी आक्रमण**—जापान केवल पर्ल हार्बर में विद्यमान अमेरिकन जंगी जहाजों को डुबा कर ही संतुष्ट नहीं हुआ। १० दिसम्बर, १९४१ को उसके हवाई जहाजों ने मलाया के समुद्रतट पर स्थित ब्रिटिश जंगी जहाजों पर भी हमला किया। प्रिंस आफ वेल्स और रिपल्स नामक दो बड़े ब्रिटिश जंगी जहाज डुबा दिये गये। इन जहाजों के डूबने का यह परिणाम हुआ, कि चीन का दक्षिणी समुद्रतट सर्वथा अरक्षित दशा में हो गया और ब्रिटेन के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह जापान की बढ़ती हुई शक्ति का सफलतापूर्वक मुकाबला कर सके। ७ दिसम्बर को जब जापान के हवाई जहाजों ने पर्ल हार्बर पर हमला किया था, तभी साथ ही गुआम (फिलिप्पीन

के पूर्व में स्थित एक द्वीप), शंघाई और सिंगापुर पर भी वायुमार्ग द्वारा आक्रमण हुए थे। इनके अतिरिक्त फिलिप्पीन द्वीप समूह पर भी अनेक स्थानों पर बम्ब वर्षा की गई थी। शंघाई की अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती पर तो उसी समय जापानी सेनाओं ने कब्जा भी कर लिया था। हम यह पहले लिख चुके हैं, कि ८ दिसम्बर, १९४१ को ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका और नीदरलैण्ड्स ईस्ट इन्डीज की डच सरकार ने जापान के विरुद्ध बाकायदा युद्ध की घोषणा कर दी थी।

पर्ल हार्बर की अमेरिकन सामुद्रिक शक्ति को पंगु बनाकर जापान ने फिलिप्पीन द्वीपसमूह पर हमला करना प्रारम्भ किया। बहुत से जहाज व नौकाएं आदि एकत्र कर दो लाख से अधिक जापानी सैनिकों को फिलिप्पीन में उतार दिया गया। जनरल मैक आर्थर के नेतृत्व में अमेरिकन सेनाओं ने बड़ी वीरता के साथ इनका मुकाबला किया। पर जापानी सेना के सम्मुख वे टिक नहीं सकीं। १९४२ के शुरू के सप्ताहों में सारा फिलिप्पीन द्वीपसमूह जापान के हाथ में चला गया। जनरल मैक आर्थर ने आस्ट्रेलिया जाकर आश्रय ग्रहण किया और वहां से जापान का प्रतिरोध करने के लिये तैयारी शुरू की।

इसी बीच में जापान की सेनाएं हांगकांग पर भी हमला कर रही थीं। चीन के पूर्वी समुद्रतट पर विद्यमान यह विशाल व समृद्ध नगर ब्रिटिश शक्ति का प्रमुख केन्द्र था। जापान की शक्ति के सम्मुख हांगकांग देर तक नहीं टिक सका। सन् १९४२ के शुरू में उस पर भी जापान का कब्जा हो गया। फिलिप्पीन और हांगकांग की विजय में जापान ने अद्भुत साहस और सैनिक क्षमता का परिचय दिया। जहाजों द्वारा समुद्र के रास्ते सेनाएँ उतारकर स्थल में शत्रु को कैसे परास्त किया जा सकता है, इसका उत्तम उदाहरण इस महायुद्ध में पहले पहल जापान ने ही उपस्थित किया। शंघाई और हांगकांग पर जापान का कब्जा हो जाने से चीन के ये दो प्रधान नगर पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व से मुक्त हो गये थे। फिलिप्पीन द्वीप समूह अमेरिका के अधीन था। उसे जीतकर जापान ने प्रशान्त महासागर के इस विशाल द्वीप समूह पर पाश्चात्य आधिपत्य का अन्त किया।

**सिंगापुर**—पर्ल हार्बर में अमेरिका की सामुद्रिक शक्ति को अस्तव्यस्त करके और फिलिप्पीन द्वीपसमूह तथा हांगकांग पर कब्जा करके जापान के लिये दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति का विस्तार करने का मार्ग बिल्कुल साफ हो गया था। इस क्षेत्र में ब्रिटिश शक्ति का प्रधान केन्द्र सिंगापुर था। यह बन्दरगाह मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में एक छोटे से द्वीप पर स्थित है। मलाया प्रायद्वीप के साथ एक बांध द्वारा इसका सम्बन्ध भी है। ब्रिटिश लोगों ने यहां जबर्दस्त किलाबन्दी की

हुई थी। इसमें पचास करोड़ के लगभग रुपया खर्च हुआ था। ब्रिटिश लोगों को अभिमान था, कि कोई शत्रुदेश सिंगापुर के इस अड्डे पर आक्रमण नहीं कर सकता। यहीं उनके जंगी जहाज बड़ी संख्या में रहते थे। विशाल ब्रिटिश साम्राज्य में पूर्व से पश्चिम या पश्चिम से पूर्व की ओर जानेवाले जहाज यह भरोसा रखते थे, कि उनकी स्थिति सर्वथा सुरक्षित है। सिंगापुर के किलानुमा बन्दरगाह में विद्यमान ब्रिटिश सामुद्रिक शक्ति उनकी रक्षा के लिये सदा उद्यत रहती थी। इसमें सन्देह नहीं, कि समुद्र के रास्ते से हमला करके सिंगापुर को जीत सकना सुगम नहीं था। पर मलाया से होकर स्थल-मार्ग द्वारा भी सिंगापुर पर हमला किया जा सकता है, यह बात ब्रिटिश लोगों ने कभी सोची भी नहीं थी। उनका खयाल था, कि मलाया सघन व दुर्गम जंगलों से परिपूर्ण है। ये जंगल मलेरिया व अन्य घातक बुखारों से सदा आक्रान्त रहते हैं। इनमें से गुजरकर कोई शत्रुसेना कभी सिंगापुर पर हमला करने का साहस नहीं कर सकती। पर जापानियों ने सिंगापुर पर आक्रमण के लिये इसी मार्ग का अवलम्बन किया। इन्डोचायना में जापानी सेनायें उसी समय आ गई थीं, जब कि फ्रांस के पराजित होने पर वहां मार्शल पेतां के नेतृत्व में विदेशी सरकार की स्थापना हुई थी। पर्ल हार्बर पर आक्रमण करने के बाद बाद जापानी सेनाओं ने इन्डोचायना से थाईलैण्ड में प्रवेश किया और ये सेनाएँ मलाया के जंगलों में से होती हुई ३१ जनवरी, १९४२ को सिंगापुर पहुंच गईं। १५ फरवरी को सिंगापुर की ब्रिटिश सेनाओं ने जापान के सम्मुख घुटने टेक दिये।

**ईस्ट इन्डीज**—सिंगापुर की विजय के कारण ईस्ट इन्डीज की स्थिति बहुत संकटमय हो गई। ईस्ट इन्डीज के बड़े भाग (इन्डोनीसिया) पर हालैण्ड का आधिपत्य था और हालैण्ड उस समय जर्मनी के कब्जे में आ चुका था। इन्डोनीसिया में जो भी डच सेना विद्यमान थी, वह जापान का मुकाबला कर सकने में असमर्थ थी। हालैण्ड अपने विशाल एशियन साम्राज्य की रक्षा के लिये अमेरिका और ब्रिटेन की सहायता पर ही निर्भर कर सकता था। पर्ल हार्बर के ध्वंस के कारण अमेरिका की और सिंगापुर के पतन से ब्रिटेन की अपनी स्थिति ही अत्यन्त संकटमय हो गई थी, अतः उनके लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे नीदरलैण्ड्स ईस्ट इन्डीज की रक्षा में डच सरकार की सहायता कर सकें। १४ फरवरी, १९४२ को जापानी सेनाओं ने सुमात्रा में पालेम्बांग पर आक्रमण किया। यहां पेट्रोलियम के बहुत से तैलकूप थे। डच सेनाओं ने इनको तहस-नहस कर दिया, ताकि वे जापानी लोगों के हाथों में न पड़ जावें। तेल को साफ करने व उसे जमा करके रखने के लिये जो बहुत सी मशीनरी व टंकियां यहां विद्यमान थीं, [illegible] नष्ट कर दीं। इनकी कीमत का अनुमान २५,००,००,००० रुपया किया गया है। पालेम्बांग

पर जापानी सेनाओं का कब्जा हो जाने के कुछ ही दिनों में सम्पूर्ण सुमात्रा जापान के अधिकार में चला गया। इसी समय के लगभग अन्य जापानी सेनाओं ने बोर्नियो, जावा, बाली, अम्बोयना, तिमोर, सेलेबस आदि अन्य द्वीपों पर आक्रमण किया। फरवरी, १९४२ तक ईस्ट इन्डीज के ये सब द्वीप जापान के प्रभुत्व में आ गये थे। इन्डोनीसिया में हालैण्ड का जो विशाल साम्राज्य स्थापित था, वह सब उसकी अधीनता से मुक्त हो गया था। मार्च, १९४२ में जापानी सेनाओं ने न्यू गाईनिआ द्वीप पर भी आक्रमण किया। इस द्वीप का एक भाग डच अधीनता में था और एक ब्रिटेन के साम्राज्य के अन्तर्गत था। दोनों भागों पर जापान का प्रभुत्व स्थापित हो गया और न्यू गाईनिआ पर जापान का कब्जा हो जाने से आस्ट्रेलिया की स्थिति भी सुरक्षित नहीं रह गई। आस्ट्रेलिया इस द्वीप से केवल ८०० मील की दूरी पर स्थित है, और वहां से जापानी वायुसेना के लिये यह अत्यन्त सुगम था, कि वह आस्ट्रेलिया पर बम्ब वर्षा कर सके।

**बरमा**—मलाया और सिंगापुर पर जापान अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका था। अब उसकी सेनाएं बरमा की ओर अग्रसर हुईं। वहां उनका मुकाबला कर सकने की शक्ति ब्रिटिश लोगों के पास नहीं थी। जापानी सेनाएं निरन्तर आगे बढ़ती गईं, और ८ मार्च, १९४२ को रंगून पर उनका कब्जा हो गया। बरमा और सिंगापुर से ब्रिटिश सैनिकों व नागरिकों को बचाकर लौटा लाने की समस्या अत्यन्त विकट थी। बहुत से अंग्रेजों को हवाई जहाजों द्वारा भारत लाया गया। अनेक साहसी मनुष्य जंगल के रास्ते भी बरमा से आसाम आने में समर्थ हुए।

**पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त**—७ दिसम्बर, १९४१ को जापान महायुद्ध में शामिल हुआ था। तीन मास के स्वल्पकाल में उसने सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया से पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व का अन्त कर दिया था। जापान की सेनायें जो इतनी शीघ्रता और सुगमता से इस विशाल भूखण्ड से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त कर सकीं, उसके प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—(१) इन देशों के निवासियों की सहानुभूति अपने विदेशी शासकों के साथ नहीं थी। अमेरिका व यूरोप के गौराङ्ग लोग यह समझते थे, कि एशिया के निवासी उनकी अपेक्षा हीन हैं, और उनपर शासन करने का उन्हें दैवी अधिकार प्राप्त है। इन देशों में पाश्चात्य शासकों की इतनी सेनाएं तो थीं, जो अधीनस्थ जातियों के विद्रोहों को शान्त करके उन्हें अपनी अधीनता में रख सकती थीं। पर जब जापान जैसा विज्ञान-कला-सम्पन्न शत्रु उनके खिलाफ उठ खड़ा हुआ, तो उसका पराजय वे तभी कर सकती थीं, जब कि इन क्षेत्रों के निवासियों का भी पूरा पूरा सहयोग उन्हें प्राप्त हो। पर एशि-यन लोगों का सहयोग और सद्भावना प्राप्त करने का कोई भी प्रयत्न पश्चिमी देशों

के गौराङ्ग लोगों ने नहीं किया था । आधुनिक युग की लड़ाइयों में कोई पक्ष तभी सफल हो सकता है, जब जनता की सामूहिक सहायता उसे प्राप्त हो । आधुनिक युग की यह सबसे प्रबल शक्ति ब्रिटिश और डच लोगों को एशिया के क्षेत्र में प्राप्त नहीं थी । दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन देशों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन अच्छे प्रबल रूप में विद्यमान था । यही कारण है, कि जापानी सेनाओं के आक्रमण का इन देशों ने स्वागत किया । इस समय जापान स्पष्ट रूप से यह घोषित कर रहा था, कि उसका उद्देश्य पाश्चात्य साम्राज्यवाद से एशिया को स्वतन्त्र कराना है । उसकी यह नीति थी, कि पाश्चात्य प्रभुत्व का अन्त कर इन देशों में ऐसी राष्ट्रीय व स्वतन्त्र सरकारें कायम की जावें, जो जापान को अपना पथ प्रदर्शक और मित्र समझें और जो पाश्चात्य साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने में जापान के साथ सहयोग करने को उद्यत हों । इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि जापान दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को पाश्चात्य लोगों की अधीनता से मुक्त कराने में विशेष कठिनता का अनुभव न करे । (२) पाश्चात्य देश इस समय यूरोप के महायुद्ध में व्यापृत थे । हालैण्ड जर्मनी द्वारा अधिकृत हो चुका था और ब्रिटेन के ऊपर जर्मन आक्रमण बड़ी तेजी के साथ जारी थे । दक्षिण-पूर्वी एशिया में जिन पाश्चात्य देशों का शासन था, उनकी अपनी स्थिति ही अत्यन्त दयनीय और अरक्षित थी । इस दशा में उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे सुदूर एशिया में विद्यमान अपने साम्राज्य की रक्षा पर ध्यान दे सकें । (३) इसमें सन्देह नहीं, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में पाश्चात्य देशों की सैन्यशक्ति प्रचुर परिमाण में विद्यमान थी । ब्रिटिश, डच व अमेरिकन लोग अपने इस साम्राज्य की रक्षा के लिये बेखबर नहीं थे । वहां उन्होंने अपनी शक्ति को भलीभांति स्थापित किया हुआ था, पर इन अधीनस्थ देशों में जो पाश्चात्य लोग शासक के रूप में नियुक्त थे, वे धीरे धीरे अपने कर्तव्यों के प्रति विमुख होने लग गये थे । अधीनस्थ लोगों पर शासन करने के कारण उनमें स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता की प्रवृत्ति विकसित हो गई थी, और उनकी शासननीति कुछ कुछ उसी ढंग की हो गई थी, जैसी कि मध्यकाल के स्वेच्छाचारी राजाओं व उनके अमीर उमराओं की हुआ करती थी । वे भोगविलास और उच्छृंखल जीवन के अभ्यस्त हो गये थे और उनमें वह [illegible] कि जापान जैसे प्रबल शत्रु का मुकाबला कर सकते [illegible] ।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में पाश्चात्य साम्राज्य का अन्त संसार के आधुनिक इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है । गौराङ्ग लोग उच्च हैं, और एशिया व अफ्रीका के लोग हीन हैं—इस मान्यता का थोथापन इससे भलीभांति स्पष्ट हो गया ।

महायुद्ध में यद्यपि अन्ततोगत्वा जापान पराजित हुआ, पर एक बार दक्षिण-पूर्वी एशिया के लोगों को अपने बन्धन काटकर स्वतन्त्र होने का अवसर प्राप्त हो गया, और उन्होंने अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये अद्भुत कार्यक्षमता और शक्ति प्रदर्शित की। इन्डोनीसिया, बरमा आदि पर पाश्चात्य देश फिर से पहले के समान अपना प्रभुत्त्व स्थापित नहीं कर सके।

## (२) दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रति जापान की नीति

दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों से पाश्चात्य लोगों के शासन का अन्त कर जापान ने उनमें पहले सैनिक शासन की स्थापना की। युद्ध की परिस्थिति में यह आवश्यक था, कि इन देशों में शान्ति और व्यवस्था कायम रखी जावे और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सैनिक शासन की स्थापना के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग क्रियात्मक नहीं था। मलाया, बरमा, बोर्नियो, जावा, सुमात्रा, फिलिप्पीन आदि सर्वत्र उच्च सैनिक आफिसरों को शासन कार्य के लिये नियुक्त किया गया। ये सैनिक शासक इन देशों में व्यवस्था कायम रखने में सफल हुए। राज्य परिवर्तन के कारण देश में जो अराजकता व अव्यवस्था की प्रवृत्तियां बलवती होती हैं, उन्हें प्रबल होने का अवसर जापानी सैनिक अधिकारियों ने नहीं दिया। इन देशों की बहुसंख्यक जनता की सहानुभूति जापानी लोगों के साथ थी। ब्रिटिश, डच, अमेरिकन व फ्रेंच लोग इन देशों के निवासियों को अपने से हीन समझते थे, उन्हें 'नेटिव' व 'एशियाटिक' कहकर उनसे घृणा करते थे। अतः यह स्वाभाविक था, कि जनता को उनके शासन का अन्त होने से प्रसन्नता व सन्तोष अनुभव हो।

पर दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन देशों में जापानी लोगों ने सैनिक शासन को देर तक कायम नहीं रखा। शीघ्र ही सर्वत्र 'स्वराज्य' की स्थापना कर दी गई। फिलिप्पीन द्वीप समूह और बरमा में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन अच्छे प्रबल रूप में विद्यमान था। वहां ऐसे देशभक्त नेताओं की कमी नहीं थी, जो अपने देश के शासन की बागडोर को भलीभांति संभाल सकें। अतः शीघ्र ही इन दोनों देशों में स्वतन्त्र सरकारों की स्थापना कर दी गई। मलाया के विविध राज्यों को मिलाकर एक केन्द्रीय संघ में संगठित किया गया और उनके शासन के लिये विधानसभा का निर्माण किया गया। इन्डोनीसिया के शासन का कार्य भी वहां के राष्ट्रीय नेताओं के सुपुर्द कर दिया गया। इन देशों के गौराङ्ग पाश्चात्य शासकों का मत था, कि इन देशों के लोग स्वशासन के सर्वथा अयोग्य हैं, और पाश्चात्य शासन के अन्त का केवल यह परिणाम होगा, कि सर्वत्र अराजकता छा जायगी। पर जापान ने इन देशों के

राष्ट्रीय नेताओं को यह अवसर दिया, कि वे सरकार के कार्य को अपने हाथों में ले लें। ये नेता अपने कार्य में पूर्णरूप से सफल हुए और एक बार 'स्वराज्य' प्राप्त कर लेने से इन देशों में इतनी अधिक राष्ट्रीय शक्ति विकसित हुई, कि महायुद्ध में जापान के परास्त हो जाने पर भी पाश्चात्य देशों के लिये यह सम्भव नहीं हुआ, कि वे इन देशों को फिर से अपने साम्राज्यवाद का शिकार बना सकें। बरमा, मलाया, फिलिप्पीन, इन्डोनीसिया आदि देशों में जापान के प्रयत्न से जिन स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकारों की स्थापना हुई, उनके सम्बन्ध में हम अगले एक अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डालेंगे।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों के लिये जापान का उत्कर्ष बहुत अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। जापान की सेनाओं ने ब्रिटेन, अमेरिका और हालैण्ड की सेनाओं को परास्त कर दक्षिण-पूर्वी एशिया को स्वाधीन होने का अवसर प्रदान किया था। यह ठीक है, कि जापान इस भूखण्ड को अपने संरक्षण में रखना चाहता था। उसकी यह नीति थी, कि इन देशों में जो राष्ट्रीय सरकारें कायम हों, वे जापान को अपना मित्र, सहयोगी व संरक्षक मानें और आर्थिक क्षेत्र में जापान के साथ सहयोग करें। पर जापान की यह आकांक्षा पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद से अनेक अंशों में भिन्न थी। (१) जापान के लोग एशियन हैं, वे एशिया के अन्य निवासियों को अपनी अपेक्षा उस ढंग से हीन नहीं समझते थे, जिस ढंग से कि पाश्चात्य गौराङ्ग लोग उन्हें हीन मानते थे। (२) जापान ने यह प्रयत्न नहीं किया, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में अपना आधिपत्य व साम्राज्य स्थापित करे। जापान की सैनिक शक्ति के सम्मुख इन देशों की शक्ति सर्वथा अगण्य थी। यदि वह चाहता, तो अत्यन्त सुगमता से इन देशों को अपनी राजनीतिक प्रभुता में ला सकता था और इन पर उसी ढंग से अपने गवर्नर जनरलों द्वारा शासन कर सकता था, जैसे कि बरमा, भारत आदि में ब्रिटिश लोग करते थे। पर महायुद्ध की विकट परिस्थिति में भी जापान ने इन देशों में स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकारों की स्थापना की और इनपर अपने राजनीतिक प्रभुत्व को कायम करने का उद्योग नहीं किया। (३) जापान ने यह यत्न अवश्य किया, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन देशों के साथ आर्थिक सहयोग कायम करे। इन्डोनीसिया से पेट्रोलियम प्राप्त करने व मलाया आदि से रबड़, टीन आदि युद्धोपयोगी पदार्थों को प्राप्त करने की उसने भरपूर कोशिश की। उसने इन देशों की स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकारों के साथ इस प्रकार के समझौते किये, जिनके अनुसार इन देशों की सरकारों ने पेट्रोलियम, टीन, रबड़ आदि पदार्थों को जापान को देना स्वीकार किया। पर यह बात सर्वथा स्वाभाविक थी। इन्डोनीसिया, मलाया

आदि में जो सरकारें कायम हुई थी, उनका लाभ इसी में था, कि महायुद्ध में पाश्चात्य देशों को सफलता न होने पावे। पाश्चात्य देशों की सफलता का यही परिणाम हो सकता था, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता फिर से खतरे में पड़ जाती। अतः उन्होंने न केवल आर्थिक क्षेत्र में जापान के साथ सहयोग किया, अपितु ऐसी राष्ट्रीय सेनाओं का भी संगठन किया, जो पाश्चात्य देशों के विरुद्ध संघर्ष करने में तत्पर थीं। इन्डोनीसिया आदि में जब पाश्चात्य देशों की सेनाएं एक बार फिर विजेता के रूप में प्रविष्ट हुईं, तो वहां की राष्ट्रीय सेनाओं ने उन विदेशी आक्रान्ताओं का शक्तिभर मुकाबला किया।

पर इस प्रसंग में यह निर्दिष्ट कर देना भी आवश्यक है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया को पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त कराने में जापान का अपना स्वार्थ भी कम नहीं था। आर्थिक आवश्यकताओं से जापान इस बात के लिये विवश था, कि वह अपने साम्राज्य या प्रभावक्षेत्र का विस्तार करे। मञ्चूकुओ को एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित करके जापान ने एक नये ढंग के साम्राज्यवाद का श्रीगणेश किया था। मञ्चूकुओ एक स्वतन्त्र राज्य था, पर वह जापान के प्रभाव में था। वांग चिंग-वेई के नेतृत्व में नानकिंग में जो स्वतन्त्र चीनी सरकार कायम हुई थी, वह भी जापान के प्रभाव में थी। मञ्चूकुओ और चीन के राजनीतिक शासन को अपने हाथ में न लेने पर भी इन देशों के शासन पर जापान का प्रभाव स्पष्टरूप से विद्यमान था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों के सम्बन्ध में भी जापान की यही नीति थी, कि उनमें जो स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकारें कायम हों, वे मञ्चूकुओ और नानकिंग सरकार के समान जापान के प्रभाव में रहें। वस्तुतः जापान पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में एक ऐसे गुट की स्थापना करना चाहता था, जिसके देश राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र रहते हुए भी जापान को अपना पथप्रदर्शक, नेता व संरक्षक मानें। पर साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा, कि जापान की यह नीति दक्षिण-पूर्वी एशिया को गुलामी के बन्धनों से मुक्त करके राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के मार्ग पर अग्रसर होने में सहायता पहुंचानेवाली थी। पाश्चात्य साम्राज्यवाद की जंजीरों को तोड़कर इन देशों के लोगों को जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने का सुवर्णीय अवसर हाथ लगा था, उसके कारण उनमें राष्ट्रीय भावना, आत्मसम्मान और देश-प्रेम की भावना इस हद तक उत्पन्न हो गई थी, कि वे जापान की अधीनता को सुगमता के साथ स्वीकार नहीं कर सकते थे।

## (३) जापान की पराजय

बरमा को जीतने के लगभग दो साल बाद मार्च, १९४४ में जापान ने भारत

पर आक्रमण करना शुरू किया । यह आक्रमण आजाद हिंद सरकार के सहयोग से किया जा रहा था । भारत के प्रसिद्ध नेता श्री सुभाषचन्द्र बोस ब्रिटिश सरकार की नजरबन्दी से छूट कर जर्मनी पहुंच गये थे । उनका ख्याल था, कि ब्रिटेन के चंगुल से भारत को मुक्त कराने का यह सुवर्णीय अवसर है । यदि महायुद्ध में ब्रिटेन की पराजय हो जाय, तो भारत के स्वतंत्र होने में कोई बाधा नहीं रह जायगी । इसलिये उन्होंने यूरोप में विद्यमान भारतीयों का एक सङ्गठन बनाया, और युद्ध के कार्य में जर्मनी के साथ सहयोग प्रारम्भ किया । जब जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया से श्वेताङ्ग देशों के प्रभुत्व का अन्त कर दिया, तो श्रीयुत् सुभाषचन्द्र बोस जापान चले आये । सिंगापुर, मलाया आदि में लाखों भारतीय बसते थे । ब्रिटेन की जो फौजें इस क्षेत्र में जापानियों के हाथ पड़ गई थी, उनमें भी भारतीय सैनिकों की संख्या बहुत अधिक थी । श्रीयुत् बोस ने इन्हें देशभक्ति और राष्ट्रीयता का सन्देश दिया । ब्रिटेन की सेना में ये भारतीय केवल वेतन व सांसारिक समृद्धि व गौरव की खातिर भरती हुए थे । देश-प्रेम और राष्ट्रीयता का इनमें सर्वथा अभाव था । श्रीयुत् बोस के तेजस्वी भाषणों से इनकी आंखें खुल गईं । जापान की विजयों के कारण दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों ने जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त की थी, उसका उदाहरण इनके सम्मुख विद्यमान था । ये स्वेच्छापूर्वक बहुत बड़ी संख्या में आजाद हिन्द फौज में शामिल हुए । बाकायदा आजाद हिन्द सरकार का संगठन किया गया । श्रीयुत् बोस इस सरकार के 'नेताजी' बने, और इस आजाद हिन्द सरकार ने भारत को ब्रिटेन के प्रभुत्व से मुक्त कराने के कार्य को अपने हाथ में लिया । आसाम की पूर्वी सीमा पर मणिपुर की रियासत पर बाकायदा हमला किया गया । कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा, कि ब्रिटिश सेना इस क्षेत्र में नहीं टिक सकेगी । पर अन्त में उसकी विजय हुई । आजाद हिन्द सेना और उसके जापानी सहायकों को पीछे हटना पड़ा और भारत में ब्रिटेन की सत्ता सुरक्षित हो गई । १९४२ से १९४४ तक दो साल जापान ने भारत पर आक्रमण करने का कोई प्रयत्न नहीं किया, यह उसकी भारी भूल थी । इस अरसे में ब्रिटेन ने भारत के धन व जन की अपार शक्ति को भलीभांति संगठित कर लिया था । भारत और आस्ट्रेलिया में अमेरिका और ब्रिटेन ने अपने संयुक्त मोरचे कायम कर लिये थे । इनको आधार बनाकर मित्र राज्यों ने जापान के खिलाफ लड़ाई शुरू करने की योजना तैयार कर ली थी ।

१९४२ में जब जापान ने बरमा से ब्रिटिश शासन का अन्त किया था, तो ब्रिटेन की सैनिक शक्ति बहुत अस्त-व्यस्त दशा में थी । सिंगापुर, मलाया, बरमा आदि से भागकर जो ब्रिटिश लोग भारत पहुंच रहे थे, उन्हें संभाल सकना भी भारत

की ब्रिटिश सरकार के लिये एक विकट समस्या थी । १९४२ में भारत में स्वराज्य के आन्दोलन ने भी बहुत विकट रूप धारण कर लिया था । अगस्त, १९४२ में भारत की राष्ट्रीय महासभा ने विदेशी ब्रिटिश सरकार का प्रतिरोध करने के लिये अधिक उग्र उपायों का अनुसरण करने का निश्चय कर लिया था । ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनता में तीव्र भावना उत्पन्न हो चुकी थी, और स्वराज्य प्राप्ति की यह उत्कण्ठा अनेक रूपों में प्रगट होने लगी थी । देशभक्त भारतीय युवक ब्रिटिश सत्ता को छिन्न-भिन्न करने के लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार हो गये थे । सरकार के प्रतिरोध ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया था, कि रेल, तार और डाक तक में अनियमितता आ गई थी । कई स्थानों पर जनता खुले तौर पर विद्रोह के लिये कटिबद्ध हो गई थी । पर जापान ने भारत पर आक्रमण कर इसे भी इन्डोनीसिया, बरमा आदि के समान पाश्चात्य साम्राज्यवाद से मुक्त कराने के इस सुवर्णीय अवसर का कोई उपयोग नहीं किया । बाद में मार्च, १९४४ में जब आजाद हिन्द फौज ने भारत को स्वतन्त्र कराने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया, तो भारत में ब्रिटिश व अमेरिकन सेनाओं ने अपनी शक्ति को भलीभांति संगठित व सुव्यवस्थित कर लिया था ।

अगस्त, १९४४ तक जापान के भारत पर आक्रमण कर सकने का भय सर्वथा दूर हो गया था । इसके विपरीत, ब्रिटिश सेना ने बरमा की तरफ आगे बढ़ना शुरू कर दिया था । इम्फाल आसाम की सीमा का प्रमुख नगर है । यदि आजाद हिन्द सेना व जापान इसे जीत सकते, तो आसाम पर कब्जा करने का मार्ग उनके लिये खुल जाता । पर इसमें उन्हें असफलता हुई और ब्रिटिश व अमेरिकन सेनाओं ने बरमा की तरफ आगे बढ़ना शुरू कर दिया । जनवरी, १९४५ तक उत्तरी बरमा मित्रराज्यों के अधिकार में चला गया । ३ मई, १९४५ को रंगून पर भी मित्रराज्यों का कब्जा हो गया । यद्यपि जापानी व बरमी सैनिकों की अनेक टोलियां इसके बाद भी बरमा में युद्ध करती रहीं, पर अब बरमा पर एक बार फिर ब्रिटेन का आधिपत्य कायम हो गया था । बरमा की विजय से मित्रराज्यों के लिये न केवल मलाया की तरफ आगे बढ़ सकना सम्भव हो गया था, अपितु चीन की चुंगकिंग सरकार को स्थलमार्ग द्वारा सहायता पहुंचा सकना भी सुगम हो गया था । उत्तरी बरमा से रेल व मोटर मार्ग द्वारा पश्चिम-दक्षिणी चीन का सम्बन्ध था और चीन का यह प्रदेश इस समय भी च्यांग काई शेक की चुंगकिंग सरकार के अधीन था ।

जनवरी, १९४५ में अमेरिकन सेनाओं ने फिलिपीन द्वीप समूह पर हमले शुरू किये । एक लाख से अधिक अमेरिकन सैनिक जहाजों द्वारा लूजोन द्वीप पर उतार दिये गये । शीघ्र ही मनीला पर कब्जा कर लिया गया और धीरे-धीरे सम्पूर्ण

फिलिप्पीन द्वीप समूह अमेरिका के प्रभुत्त्व में आ गया। अब अमेरिकन सेनाओं ने फ़िलिप्पीन को आधार बनाकर जापान के अधिक समीप विविध टापुओं पर आक्रमण प्रारम्भ किये। इससे चीन में भी चियांग काई शेक की जापान-विरोधी सरकार को बल मिला। प्रशान्त महासागर के विविध द्वीपों से जापानी सेनाओं को बाहर निकालने के लिये ब्रिटिश और अमेरिकन जल व वायुसेना अपूर्व कार्यशक्ति प्रदर्शित करने लगीं। जिस वायुवेग से जापान का उत्कर्ष हुआ था, उसका पतन भी उसी गति से हुआ। १९४५ के मध्य तक यह दशा आ गई थी, कि जापान को अपनी स्थिति बिलकुल डांवाडोल प्रतीत होने लग गई थी। बरमा को अपनी अधीनता में लाकर ब्रिटिश लोगों ने मलाया पर आक्रमण किया। इस समय मित्रराज्यों की सेनाओं के तीन मुख्य आधार थे, भारत, आस्ट्रेलिया और पश्चिमी चीन। इन तीनों क्षेत्रों को अपना आधार बनाकर मित्रराज्यों की जल व वायु शक्ति बड़ी तीव्रता के साथ जापान व उसके प्रभाव में विद्यमान दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों पर आक्रमण में तत्पर थीं। इन आक्रमणों का मुकाबला कर सकना जापान की सेनाओं के लिये सम्भव नहीं था। मई, १९४५ में यूरोप के रणक्षेत्र में जर्मनी की पराजय हो गई थी और ७ मई, १९४५ को जर्मनी ने आत्म समर्पण कर दिया था। इस दशा में मित्रराज्यों की सम्पूर्ण शक्ति जापान को परास्त करने के लिये लग गई थी और अकेले जापान के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह मित्रराज्यों की सम्मिलित शक्ति का विरोध कर सके।

जुलाई, १९४५ में जापान पर घोर बम्ब वर्षा शुरू की गई। हवाई जहाजों द्वारा न केवल जापान के कल कारखानों, रेलवे लाइनों और युद्ध सामग्री के भण्डारों पर बम्ब बरसाये जाने लगे, अपितु जापानी जहाजों को भी डुबाया जाना शुरू किया गया। जुलाई, १९४५ के दो सप्ताहों में जापान के ४१६ जहाज समुद्र तल में पहुंचा दिये गये, और ५५६ हवाई जहाज नष्ट कर दिये गये। २७ और २८ जुलाई को जापान की जलसेना पर जबर्दस्त हमला किया गया और इन दो दिनों में जापान के ५०० जहाज डुबा दिये गये। चीन और जापान के मध्यवर्ती समुद्र में बड़ी संख्या में बारूदी सुरङ्गें बिछा दी गईं, और जापान के बंदरगाहों पर हवाई हमलों का जोर बहुत बढ़ गया। चीन में महासेनापति चियांग काई शेक की सेनाओं ने आगे बढ़ना शुरू किया और चीन के पूर्वी प्रदेशों पर जहां जापान का प्रभाव विद्यमान था, जापानी सेनायें पीछे हटने लगीं। २६ जुलाई, १९४५ को श्री ट्रूमैन (राष्ट्रपति रूजवेल्ट की मृत्यु के बाद श्री. ट्रूमैन अमेरिका के राष्ट्रपति बन गये थे), श्री. चर्चिल और चियांग काई शेक की ओर से एक घोषणा जापान की जनता के नाम प्रकाशित की गई, जिसमें यह कहा गया, कि जापान को साम्राज्य विस्तार का इरादा छोड़ देना

चाहिये, जापान के अपने प्रदेशों पर मित्रराज्यों की सेनाएं कब्जा नहीं करना चाहती, जापान की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखी जायगी और वहां उनके अर्थों में लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जायगी । अतः जापान को चाहिये, कि युद्ध को जारी न रखकर वह मित्रराज्यों के सम्मुख आत्म समर्पण कर दे । पर जापान के नेताओं ने इस घोषणा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया । उनका खयाल था, कि अब भी वे मित्रराज्यों को परास्त करने में समर्थ हो सकते हैं । उन्होंने युद्ध को जारी रखने में ही अपने देश का हित समझा ।

८ अगस्त, १९४५ को रूस ने भी जापान के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी । मञ्चूरिया (मञ्चूकाओ का पृथक् व स्वतन्त्र राज्य) पर रूसी सेनाओं ने अधिकार कर लिया और उत्तरी चीन का यह सम्पूर्ण प्रदेश कम्युनिस्ट रूस के प्रभाव में आ गया । इन सब विषम परिस्थितियों में भी जापान लड़ाई को जारी रखने के लिये तैयार था । पर इस समय अमरिका ने एक नये अस्त्र का प्रयोग किया, जिसके कारण जापान में आतंक छा गया । यह अस्त्र एटम बम्ब था । वैज्ञानिक लोग यह भलीभांति जानते थे, कि सब पदार्थ परमाणुओं (एटम) के संयोग से बने होते हैं । परमाणु उस सूक्ष्म तत्त्व का नाम है, जिसके टुकड़े नहीं हो सकते । ये अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु एक शक्ति से आपस में जुड़े रहते हैं । यदि इनको एक दूसरे से पृथक् किया जा सके, तो जो शक्ति प्रादुर्भूत होगी, वह इतनी जबर्दस्त होगी कि संसार की कोई भी ज्ञात शक्ति उसका मुकाबला नहीं कर सकेगी । अग्नि, वायु, जल, विद्युत्—ये सब प्राकृतिक शक्तियां हैं, पर परमाणु शक्ति उनकी अपेक्षा बहुत अधिक बलवती है । इस शक्ति का प्रयोग मनुष्य कैसे कर सके, यह जानने के लिये वैज्ञानिक लोग जी जान से जुटे हुए थे । जर्मन वैज्ञानिक भी इस खोज में तत्पर थे, और हिटलर को आशा थी, कि वे एटम बम्ब का आविष्कार करने में समर्थ हो जायेंगे । अमेरिकन वैज्ञानिक भी इसी कोशिश में लगे थे । जर्मनी को इसमें देर हो गई और मित्रराज्यों की सेनाओं ने पहले ही उसे परास्त कर दिया । कुछ समय बाद अमेरिकन वैज्ञानिक अपने प्रयत्न में सफल हो गये और उन्होंने एटम बम्ब तैयार कर लिया । अमेरिका ने इस बम्ब का प्रयोग जापान को परास्त करने के लिये किया । ५ अगस्त, १९४५ को पहला एटम बम्ब हिरोशीमा नामक नगर पर गिराया गया । इससे चार वर्गमील का प्रदेश बिलकुल नष्ट हो गया । हिरोशीमा नगर का नाम व निशान भी शेष नहीं बचा । एटम बम्ब का असर इस चार वर्गमील के प्रदेश के चारों ओर भी दूर-दूर तक पड़ा । इसके प्रभाव से लाखों आदमी बीमार पड़ गये, उनके शरीर पर फुन्सियां निकल आईं । कई प्रकार की बीमारियां सर्वत्र फैल गईं । पर जापान के सैनिक नेताओं ने अब भी आत्मसमर्पण नहीं किया । मित्रराज्यों की ओर से तीस लाख

परचे हवाई जहाजों द्वारा जापान पर गिराये गये, जिनमें एटम बम्ब की भयंकरता का वर्णन करके यह कहा गया था, कि अब लड़ाई को जारी रखना बिलकुल व्यर्थ है। अब जापान का हित इसी में है, कि वह आत्मसमर्पण कर दे। पर जापान पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। रूस ने भी इसी बीच में उसके खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। ९ अगस्त, १९४५ को दूसरा एटम बम्ब नागासाकी पर गिराया गया। इसके कारण यह विशाल नगर एकदम तहस-नहस हो गया। अब जापान के सम्राट् ने अनुभव किया, कि लड़ाई को जारी रखने से देश बिलकुल नष्ट हो जायगा। उचित यही है, कि आत्मसमर्पण करके लड़ाई का अन्त कर दिया जाय। १५ अगस्त, १९४५ को जापान ने मित्रराज्यों के सम्मुख बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया और पूर्वी एशिया में युद्ध का अन्त हो गया।

१९४२ में जापान सर्वत्र विजयी था। चीन के बड़े भाग में ऐसी सरकारें कायम थीं, जो जापान के साथ सहयोग करने को उद्यत थीं। मञ्चूकुओ का राज्य जापान को अपना संरक्षक व सहयोगी मानता था और नानकिंग सरकार राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होती हुई भी जापान के प्रभाव में थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया से पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का अन्त हो गया था और इस क्षेत्र के विविध देशों में जो नई राष्ट्रीय सरकारें कायम हुई थीं, वे पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से अपनी रक्षा करने के लिये जापान की सहायता पर निर्भर करती थीं। पर १९४५ के मध्य तक जापान की शक्ति पूर्णतया क्षीण हो गई थी और सैनिक क्षेत्र में उसे सर्वत्र परास्त होना पड़ा था। जापान की इस पराजय का मुख्य कारण उसके विरोधियों की अपार शक्ति थी। अमेरिका के युद्ध में प्रविष्ट होने से मित्रराज्यों के धन व जन की शक्ति में असाधारण रूप से वृद्धि हो गई थी। महायुद्ध में जापान जर्मनी और इटली का पक्ष लेकर शामिल हुआ था। जर्मनी ने यूरोप के जिन देशों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था, उनकी जनता जर्मन शासन के विरुद्ध थी। फ्रांस, पोलैण्ड, चेको-स्लोवाकिया, ग्रीस, युगोस्लाविया आदि सब देशों में सर्वसाधारण जनता यह अनुभव करती थी, कि जर्मनी का शासन उनके राष्ट्रीय गौरव की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। उनमें ऐसे देशभक्तों की कमी नहीं थी, जो अपना सर्वस्व कुर्बान करके भी विजेता जर्मनी के खिलाफ संघर्ष को जारी रखने के लिये उद्यत थे। जर्मनी के लिये यह तो सम्भव था, कि वह लड़ाई के मैदान में शत्रु सेना को परास्त कर सके। पर यह बात सुगम नहीं थी, कि जर्मनी सर्व साधारण जनता की स्वातन्त्र्य भावना का पूरी तरह से दमन कर सके। इसमें सन्देह नहीं, कि जर्मनी ने अपने अधिकृत और विजित देशों में नाजी सिद्धान्तों को मानने वाले वहीं के लोगों का शासन स्थापित किया। पर इस बात में कोई सन्देह नहीं, कि जर्मनी

ने जिस ढंग से यूरोप के बड़े भाग पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया था, वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के अनुकूल नहीं था। यही कारण है, कि यूरोप के महायुद्ध में नाजी और फैसिस्ट शक्तियों की पराजय हुई। जब एक बार ब्रिटेन, रूस और अमेरिका की सम्मिलित शक्ति यूरोप में जर्मनी और इटली को परास्त करने में समर्थ हो गई, तो उसके लिये यह बहुत कठिन नहीं रहा, कि वह पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान को भी परास्त कर सके। इस क्षेत्र में जापान ने जो कार्य किया था, वह राष्ट्रीय भावना के अनुकूल था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों को पाश्चात्य साम्राज्यवाद से स्वतन्त्र करके जापान ने एक ऐसा कार्य किया था, जो कि मानव इतिहास की प्रवृत्तियों के अनुरूप था। पर जापान को इतना समय नहीं मिला, कि वह इन देशों की नई राष्ट्रीय सरकारों के साथ सहयोग कर इनके आर्थिक जीवन का सुचारु रूप से विकास कर सके और इनकी धन व जनशक्ति को पाश्चात्य देशों का मुकाबला करने के लिये प्रयुक्त कर सके। यदि यूरोप में जर्मनी कुछ साल तक मित्रराज्यों का मुकाबला कर सकने में समर्थ रहता, तो जापान को भी एशिया में अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने का अवसर मिल जाता। पर युद्ध के संचालन में जर्मनी ने अनेक भूलें की थीं। डनकर्क की दुर्घटना के बाद जर्मनी ब्रिटेन पर सुगमता के साथ आक्रमण कर सकता था। मई, १९४० में जब फ्रांस के परास्त हो जाने के बाद ब्रिटिश सेनाएं बड़ी कठिनता से इङ्गलैण्ड लौट सकने में समर्थ हुईं, तो ब्रिटेन की शक्ति इतनी अस्त-व्यस्त थी, कि जर्मनी सुगमता के साथ उसे अपना वशवर्ती बना सकता था। पर हिटलर ने इस अवसर का पूर्णरूप से उपयोग नहीं किया। रूस के साथ लड़ाई में उलझ पड़ना जर्मनी की दूसरी भयंकर भूल थी। १९३९ में जर्मनी और रूस में तटस्थता की सन्धि हो चुकी थी। पर हिटलर के हृदय में कम्युनिज्म के प्रति घोर विद्वेष था। यदि वह इस विद्वेष की उपेक्षा कर यह अनुभव करता, कि रूस के साथ तटस्थता की नीति का अनुसरण करने में ही जर्मनी का हित है, तो शायद नाजीज्म का अन्त इतना दुर्दशापूर्ण न होता। ब्रिटेन, रूस और अमेरिका के साथ संयुक्त रूप से लड़ सकना जर्मनी की शक्ति के बाहर था। १९१४-१८ के महायुद्ध के समान १९३९-४५ के महायुद्ध में भी जर्मनी और उसके साथियों के खिलाफ संसार के बहुत से देश (इनकी कुल संख्या ४४ थी) मिलकर युद्ध कर रहे थे। विश्व के इतने देशों की सम्मिलित शक्ति का मुकाबला कर सकना जर्मनी व उसके फैसिस्ट साथियों के लिये सम्भव नहीं था।

जर्मनी के परास्त हो जाने के बाद यह असम्भव था, कि जापान अकेला संसार के ४४ राज्यों की संयुक्त शक्ति के मुकाबले में खड़ा हो सके। इसमें सन्देह नहीं, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देश यह अनुभव करते थे, कि महायुद्ध में पाश्चात्य

देशों की विजय से उनकी नई प्राप्त हुई राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रह सकेगी। इसीलिये जापान के साथ उनकी सहानुभूति थी। पर तीन साल के थोड़े से समय में जापान व इन देशों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे अपने व्यवसायों को इतना अधिक उन्नत कर लें, कि अमेरिका जैसे समृद्ध व व्यवसाय प्रधान देश की शक्ति का सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकें। दक्षिण-पूर्वी एशिया के लोगों के लिये तीन साल के काल में यह भी सम्भव नहीं था, कि वे अपनी सेनाओं को इस रूप में संगठित कर लें, जो कि ब्रिटेन और अमेरिका की अपार जल व वायुशक्ति का सामना कर सकें। परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी के समान जापान को भी मित्रराज्यों से परास्त होना पड़ा। पर दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में कुछ समय के लिये राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के कारण जो असाधारण देश-प्रेम व स्वातन्त्र्य की भावना विकसित हो गई थी, उसे दबा सकना पाश्चात्य देशों के लिये सुगम नहीं था। इसीलिये ये देश जापान की पराजय के बाद भी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा करने में अनेक अंशों में सफल हुए। इन देशों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता किस अंश तक कायम रही, इस विषय पर हम अगले एक अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

बीसवां अध्याय

# चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना

## (१) महायुद्ध और चीन

दिसम्बर, १९४१ में जब जापान ने महायुद्ध में प्रवेश किया, तब चीन की क्या स्थिति थी, इस विषय पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। मञ्चूरिया में एक स्वतंत्र व पृथक् राज्य विद्यमान था, जिसे 'मञ्चूकुओ' कहते थे। यह राज्य जापान के प्रभाव में था। नानकिंग को राजधानी बनाकर एक स्वतंत्र चीनी सरकार की स्थापना हो चुकी थी, जो जापान के साथ सहयोग करने में ही अपने देश का हित समझती थी। नानकिंग की इस चीनी सरकार के नेता अपने को डा० सन यात सेन का अनुयायी कहते थे और यह समझते थे, कि च्यांग काई शेक के शासन में चुंगकिंग में जो सरकार विद्यमान है, वह कुओमिन्तांग दल के आदर्शों व सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं कर रही है। इस सरकार के नेताओं की दृष्टि में चीन की उन्नति के लिये यह उपयोगी था, कि वह जापान के सहयोग को प्राप्त करे और अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों को अपना पथ प्रदर्शक व मित्र न समझ कर जापान के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करे। चीन के पूर्वी समुद्र तट के साथ के सब प्रदेश नानकिंग सरकार के अधीन थे। महासेनापति च्यांग काई शेक के नेतृत्व में जो स्वतंत्र राष्ट्रीय सरकार स्थापित थी, उसकी राजधानी चुंगकिंग थी। उत्तर-पश्चिमी चीन में कम्युनिस्ट सरकार स्थापित थी, जिसका प्रधान नेता माओ त्से तुंग था। इस सरकार की राजधानी येनान थी। कम्युनिस्ट लोगों की यह सरकार राजनीतिक व सैनिक दृष्टि से अपनी पृथक् सत्ता रखते हुए भी चुंगकिंग की राष्ट्रीय सरकार के साथ सहयोग करने के लिये तैयार थी। उसका यह मत था, कि स्वतंत्र चीन के सब दलों के लोगों को आपस के मतभेदों को भुलाकर जापान के साथ संघर्ष करने में अपनी सारी शक्ति को लगा देना चाहिये और चुंगकिंग की केन्द्रीय सरकार का संगठन लोकतन्त्र सिद्धान्तों के अनुसार किया जाना चाहिये। सब दलों के लोगों को यह अवसर होना चाहिये, कि वे लोकमत को अपने पक्ष में करके सरकार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकें। कम्युनिस्ट लोग चुंगकिंग सरकार की अधीनता में रहते हुए जापान के साथ युद्ध कार्य में पूर्ण रूप से सहयोग देने को

उद्यत थे। पर चियांग काई शेक जापान के साथ संघर्ष की अपेक्षा चीन की आन्तरिक राजनीति को अधिक महत्व देता था और उसे इस बात का भय था, कि कहीं कम्युनिस्ट लोग चीन में अधिक प्रबल न हो जावें। इसलिये वह जापान के विरुद्ध संघर्ष में कम्युनिस्टों के सहयोग को बहुत महत्व नहीं देना चाहता था।

चीन के संपूर्ण समुद्र तट पर जापान का अधिकार हो जाने के कारण चियांग काई शेक की सरकार का अन्य देशों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। इस कारण अमेरिका, ब्रिटेन आदि पाश्चात्य देश उसे केवल दो मार्गों से सहायता पहुंचा सकते थे--(१) इन्डोचायना से और (२) उत्तरी बरमा से। जब यूरोप में फ्रान्स पर जर्मनी का आधिपत्य स्थापित हो गया, और मार्शल पेतां के नेतृत्व में विशी को राजधानी बनाकर एक ऐसी फ्रेञ्च सरकार की स्थापना हुई, जो जर्मनी के साथ मैत्री सम्बन्ध कायम करने को तैयार थी, तो श्री देकू को इन्डोचायना का गवर्नर जनरल नियत किया गया। श्री देकू मार्शल पेतां के पक्षपाती थे और इसी बात में अपने देश का हित समझते थे, कि जर्मनी व उसके साथियों के साथ मैत्री सम्बन्ध रखा जाय। इसीलिये उन्होंने जापान के विरुद्ध चियांग काई शेक की सहायता न करने की नीति का अनुसरण किया। जापानी सेनाओं को इन्डोचायना में अनेक प्रकार की सुविधायें दी गई और मित्रराज्यों के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वे इन्डोचायना के मार्ग से चुंगकिंग सरकार को युद्ध सामग्री आदि पहुचा सकें। इस दशा में १९४१ में चियांग काई शेक को सहायता पहुंचा सकने का केवल एक ही मार्ग ब्रिटेन और अमेरिका के लिये शेष रह गया था। यह मार्ग उत्तरी बरमा से होकर जाता था। पर जब १९४२ के प्रारम्भ में जापान ने बरमा को विजय कर लिया, तो चुंगकिंग को सहायता पहुंचा सकने का यह मार्ग भी अवरुद्ध हो गया। अमेरिकन और ब्रिटिश लोग यह भली-भांति अनुभव करते थे कि जापान को परास्त करने के लिये चियांग काई शेक की सहायता करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि चियांग काई शेक की सरकार का पतन हो जायगा, तो जापान को दो बड़े लाभ होंगे--(१) जापान की जो सेनाएं चुंगकिंग सरकार का प्रतिरोध करने के लिये चीन में विद्यमान हैं, वे खाली हो जावेंगी और जापान उनका उपयोग युद्ध के अन्य क्षेत्रों में कर सकेगा। (२) चीन की सम्पूर्ण जनता यदि नानकिंग सरकार के शासन में आ जायगी, तो जापान के लिये यह बहुत सुगम होगा, कि वह इस विशाल देश की धन व जन-शक्ति का उपयोग मित्रराज्यों को परास्त करने में कर सके। इसलिये ब्रिटेन और अमेरिका इस बात के लिये उत्सुक थे, कि वे चुंगकिंग सरकार को अधिक से अधिक सहायता करते रहें, ताकि वह जापान के मुकाबले में अपनी स्थिति को कायम रख सके। अतः अब इन राज्यों ने

वायु मार्ग द्वारा चियांग काई शेक की सरकार को सहायता पहुंचाना प्रारम्भ किया। हिमालय की उच्च पर्वतमाला को पार कर अमेरिका और ब्रिटेन के हवाई जहाज भारत से चुंगकिंग जाने लगे और उन्होंने वायुयानों द्वारा युद्ध सामग्री को चुंगकिंग पहुंचाना शुरू किया। जनवरी, १९४४ में १३,३९९ टन युद्ध सामग्री भारत से चीन पहुंचाई गई। एक साल बाद जनवरी, १९४५ में वायु मार्ग द्वारा चीन पहुंचाई जानेवाली युद्ध सामग्री की मात्रा ४३,८९६ टन तक पहुंच गई। हवाई जहाजों द्वारा इतनी अधिक युद्ध सामग्री प्रति मास चीन भेजना इस बात का प्रमाण है, कि अमेरिका और ब्रिटेन चियांग काई शेक की राष्ट्रीय सरकार की सत्ता को कितना अधिक महत्व देते थे। पर वायु मार्ग द्वारा भारी माल को हिमालय के पार भेज सकना सुगम नहीं था। इसीलिये मोटर ट्रक, टैंक आदि भारी उपकरणों को पर्याप्त मात्रा में चीन नहीं भेजा जा सकता था।

१९४२ में चुंगकिंग सरकार का पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध प्रायः नहीं के बराबर रह गया था। इस स्थिति में यह स्वाभाविक था, कि चियांग काई शेक की अधीनता में विद्यमान चीन की जनता में निरन्तर असन्तोष बढ़ता जावे। चुंगकिंग सरकार के लिये अपने मित्रराज्यों से युद्ध सामग्री की सहायता प्राप्त कर सकना सुगम नहीं था। उसके अपने प्रदेश में कल कारखानों का प्रायः अभाव था, और यह सम्भव नहीं था, कि चियांग काई शेक की सरकार अपनी युद्ध सामग्री को स्वयं उत्पन्न कर सके। जो थोड़े बहुत कारखाने पश्चिमी चीन में विद्यमान थे, उन पर भी जापानी हवाई जहाज बहुधा आक्रमण करते रहते थे। आर्थिक उत्पत्ति की दशा चीन के इस भाग में अत्यन्त अस्त-व्यस्त थी। किसान लोग खेती भी इन प्रदेशों में निश्चिन्त रूप से नहीं कर सकते थे। जब फसल तैयार होने को होती थी, जापानी हवाई जहाज खेतों पर अग्निवर्षक बम्ब गिरा देते थे और तैयार फसल को भस्म कर देते थे। सब प्रकार के पदार्थों की पश्चिमी चीन में निरंतर कमी होती जाती थी। इस दशा में यदि चियांग काई शेक की सरकार के कर्मचारी देशभक्ति, स्वार्थत्याग और राष्ट्रीय हित की भावना से प्रेरित होकर कार्य करते, तो वे स्थिति को बहुत कुछ संभाल सकते थे। पर उनका ध्यान जापान के साथ संघर्ष करने की अपेक्षा स्वार्थ साधन की तरफ अधिक था। युद्ध की परिस्थिति से लाभ उठाकर वे अपनी वैयक्तिक समृद्धि के लिये तत्पर थे। सेनाओं की सहायता के लिये जो युद्ध सामग्री वायु मार्ग द्वारा चुंगकिंग पहुंचाई जाती थी, उसका भी अच्छा बड़ा भाग चोर बाजार में पहुंच जाता था और चियांग काई शेक की सरकार के प्रमुख राजकर्मचारी पूंजीपतियों के साथ मिलकर इस माल को चोर बाजार में बेच देते थे। आर्थिक उत्पत्ति की कमी के कारण पश्चिमी चीन के बाजारों में सब प्रकार के पदार्थों की मांग

सदा बनी रहती थी और युद्धकार्य में सहायता पहुंचाने के लिये आया हुआ माल ऊँची कीमत पर बड़ी सुगमता के साथ बिक जाता था। इस प्रकार चोर बाजार में युद्ध सामग्री को बेचकर चीन के अनेक सेनापति व उच्च राजकर्मचारी अपनी वैयक्तिक समृद्धि के लिये प्रयत्नशील थे। युद्ध को चलाने के लिये जो रुपया अपेक्षित था, उसे टैक्सों द्वारा वसूल कर सकना सुगम नहीं था। अतः चुंगकिंग सरकार अपने खर्च को चलाने के लिये सबसे अधिक सुगम व क्रियात्मक उपाय यह समझती थी, कि अधिक से अधिक मात्रा में पत्र मुद्राओं को जारी कर दिया जाय। इसका यह परिणाम होता था, कि चीन में मुद्रा की कीमत निरन्तर गिरती जाती थी और वस्तुओं की कीमत में निरन्तर वृद्धि होती जाती थी।

इस विकट परिस्थिति में भी येनान की कम्युनिस्ट सरकार इस बात के लिये उत्सुक थी, कि जापान के विरुद्ध लड़ाई में चुंगकिंग सरकार के साथ सहयोग करे। पर चियांग काई शेक और उसके कुओमिन्तांग दल के साथी कम्युनिस्टों के साथ सहयोग की अपेक्षा उनके विरुद्ध संघर्ष को अधिक महत्त्व देते थे। यही कारण है, कि वायुमार्ग द्वारा प्राप्त होने वाली युद्ध सामग्री का उपयोग वे कम्युनिस्टों के विरुद्ध करने में संकोच नहीं करते थे। चुंगकिंग और येनान की सरकारों में सहयोग निरन्तर कम होता जाता था, और चियांग काई शेक की सर्वोत्कृष्ट सेनाएं जापान के विरुद्ध लड़ाई में न लगकर कम्युनिस्टों के विरुद्ध युद्ध करने में अपनी शक्ति का उपयोग करने में कोई अनौचित्य अनुभव नहीं करती थीं। जिस समय ब्रिटेन और अमेरिका दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान के साथ घनघोर युद्ध में व्यापृत थे, चीन में चियांग काई शेक और उसकी राष्ट्रीय सेना जापान के खिलाफ लड़ाई न करके येनान की कम्युनिस्ट सेनाओं के साथ युद्ध में संलग्न थी।

चुंगकिंग सरकार जापान के साथ लड़ाई करने में चाहे कितनी ही शिथिलता प्रदर्शित कर रही थी, पर ब्रिटेन और अमेरिका की दृष्टि में उसका महत्त्व बहुत अधिक था। चीन और जापान की लड़ाई दस साल से भी अधिक समय तक जारी थी। युद्ध में जापान द्वारा निरन्तर परास्त होते रहने पर भी चियांग काई शेक ने उसके साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं किया था। पाश्चात्य देशों के राजनीतिज्ञ यह भलीभांति अनुभव करते थे, कि इतने सुदीर्घ काल तक जापान के साथ निरन्तर संघर्ष करके कुओमिन्तांग सरकार ने असाधारण शक्ति और धैर्य का परिचय दिया है। वे यह भी जानते थे, कि यदि वांग चिंग-वेई के समान चियांग काई शेक भी जापान के साथ समझौता कर लेता, तो जापान के लिये चीन की अपरिमित जन और धनशक्ति का पूर्णरूप से उपयोग कर सकना बहुत सुगम हो जाता। जिस प्रकार भारत पर ब्रिटेन का प्रभुत्व उसकी सैन्यशक्ति की दृष्टि से अत्यधिक

सहायक रहा है, और ब्रिटेन भारत के सैनिकों को अपने साम्राज्य प्रसार के लिये प्रयुक्त करता रहा है, उसी प्रकार जापान भी चीन की शक्ति को अपने उत्कर्ष के लिये सुगमता के साथ प्रयुक्त कर सकता था। पर चियांग काई शेक के प्रतिरोध के कारण यह बात जापान के लिये सम्भव नहीं हो सकी। अतः ब्रिटेन और अमेरिका के राजनीतिक नेता उसकी सरकार को बहुत अधिक महत्त्व देते थे, और उसे सब प्रकार से सहायता देने को उद्यत थे। चुंगकिंग सरकार को अपने पक्ष में रखने के लिये ११ जनवरी, १९४३ को ब्रिटेन और अमेरिका ने चियांग काई शेक के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार 'एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति' का अन्त किया गया। इसके अतिरिक्त, इन देशों को चीन में जो अन्य अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे, इस सन्धि द्वारा उनकी भी समाप्ति की गई। साथ ही, यह भी स्वीकार किया गया, कि चीन राजनीतिक दृष्टि से पाश्चात्य देशों का समकक्ष है, और संसार का एक प्रमुख व शक्तिशाली राज्य है। इसीलिये जब बाद में संयुक्त राज्य संघ (यूनाइटेड नेशन्स आर्गनिजेशन) का संगठन किया गया, तो उसकी सुरक्षा परिषद् (सिक्योरिटी कौंसिल) में चीन को भी स्थिर रूप से सदस्यता प्रदान की गई। सुरक्षा परिषद् के अन्य स्थिर सदस्य संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और फ्रांस थे। चीन को भी उनका समकक्ष बनाकर मित्रराज्यों ने यह प्रदर्शित किया, कि वे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चीन को कितना अधिक महत्त्व देते हैं। महायुद्ध के अवसर पर मित्रराज्यों की जो अनेक कान्फरेन्सें हुईं, उनमें चीन को भी निमन्त्रित किया गया। कैरो की कान्फरेन्स (नवम्बर, १९४३) में मित्रराज्यों के प्रतिनिधियों ने यहां तक स्वीकार किया, कि महायुद्ध की समाप्ति के बाद चीन को वे सब प्रदेश प्राप्त करा दिये जावेंगे, जो १८९४ में उसके अधीन थे। इसका अभिप्राय यह था, कि प्रथम चीन-जापान युद्ध के समय से जो विविध प्रदेश चीन के हाथ से निकल कर जापान के प्रभाव व अधीनता में आ गये थे, वे सब चीन को पुनः प्राप्त हो जावेंगे। मित्र राज्य इस बात के लिये बहुत अधिक उत्सुक थे, कि चियांग काई शेक की सरकार जापान के विरुद्ध लड़ाई को जारी रखे और किसी भी प्रकार उसके साथ समझौता न कर ले। पाश्चात्य देशों से पर्याप्त सहायता प्राप्त न हो सकने के कारण चुंगकिंग सरकार जितनी दुर्दशाग्रस्त थी, उसमें यह असम्भव नहीं था, कि वह जापान के साथ समझौता करने का प्रयत्न करती। इसीलिये ब्रिटेन और अमेरिका जिस तरह भी सम्भव हो, उसे जापान के खिलाफ लड़ाई जारी रखने के लिये तैयार करने में तत्पर थे।

चीन के रणक्षेत्र में युद्ध को जारी रखने के लिये अमेरिका की ओर से जो सेनाएं वहां विद्यमान थीं, या जो युद्ध प्रयत्न जारी था, उसका प्रधान अधिकारी जनरल

स्टिल्वेल था। वह इस बात के लिये उत्सुक था, कि चुंगकिंग सरकार की सम्पूर्ण शक्ति का जापान के खिलाफ लड़ाई के लिये प्रयुक्त किया जाय। अतः उसकी इच्छा थी, कि (१) चियांग काई शेक की जो राष्ट्रीय सेनाएं येनान की कम्युनिस्ट सरकार के साथ संघर्ष में व्यापृत हैं, उनका प्रयोग जापान से लड़ाई के लिये किया जाय। (२) जापान के खिलाफ लड़ाई के कार्य में माओ त्से तुंग की कम्युनिस्ट सेनाओं का सहयोग प्राप्त किया जाय, और चीनी लोग युद्ध के समय में आपस के मतभेदों को भुलाकर संयुक्तरूप से जापान से युद्ध करें। (३) चीन की सेनाओं को नये ढंग की सैनिक शिक्षा दी जाय, ताकि वे जापान से लड़ने में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकें। यह कार्य अमेरिकन सेनापति अपने हाथों में लें और जब चीन की सेना युद्धकार्य में भलीभांति निपुण हो जाय, तो चुंगकिंग सरकार और येनान सरकार की सेनाएं सम्मिलित रूप से जापान के खिलाफ आगे बढ़ना प्रारम्भ करें। जिस प्रकार भारत और आस्ट्रेलिया को आधार बनाकर मित्रराज्यों की सेनाएं जापान के विरुद्ध लड़ाई की योजना बना रही थीं, वैसे ही जनरल स्टिल्वेल चाहता था, कि पश्चिमी चीन को भी जापान के खिलाफ लड़ाई शुरू करने के लिये आधार बनाया जाय। पर महासेनापति चियांग काई शेक स्टिल्वेल की इस नीति से सहमत नहीं था। वह इतनी बात के लिये तो तैयार था, कि जापान पर हवाई आक्रमणों के लिये पश्चिमी चीन को आधार के रूप में प्रयुक्त किया जाय, पर उसे यह बात स्वीकार्य नहीं थी, कि येनान की कम्युनिस्ट सेनाएं भी पूर्वी चीन पर आक्रमण करें और पूर्वी चीन के प्रदेशों पर कम्युनिस्ट लोगों को अपने प्रभुत्व की स्थापना का अवसर मिले। महायुद्ध की समाप्ति पर जापान की पराजय के बाद चीन की आन्तरिक राजनीति जो रूप धारण करेगी, चियांग काई शेक की दृष्टि में उसका महत्त्व बहुत अधिक था। वह किसी भी दशा में इस बात के लिये तैयार नहीं था, कि येनान के कम्युनिस्टों को चीन में अपने उत्कर्ष का मौका मिले। यही कारण है, कि उसने स्टिल्वेल का विरोध किया और अन्त में अमेरिकन सरकार को विवश होकर स्टिल्वेल को वापस बुलाना पड़ा। अमेरिकन लोग चियांग काई शेक को किसी भी दशा में नाराज करने के लिये तैयार नहीं थे। इसीलिये इस महासेनापति के साथ विरोध होने की दशा में जनरल स्टिल्वेल को नीचा देखना पड़ा।

जनरल स्टिल्वेल को वापस बुला लेने के बाद अमेरिका की ओर से श्री हर्ले को चीन में राजदूत बनाकर भेजा गया। उसे यह समझने में देर नहीं लगी, कि चुंगकिंग सरकार की आन्तरिक दशा बहुत अस्तव्यस्त है, और उसके मुकाबले में येनान की कम्युनिस्ट सरकार बहुत अधिक सुव्यवस्थित व शक्तिशाली है। अतः उसने इस बात का उद्योग किया, कि कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में परस्पर

समझौता हो जावे और ये दोनों दल आपस में मिलकर काम करें । पर उसे भी अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई । जनरल हर्ले भी चुंगकिंग और येनान सरकारों में समझौता नहीं करा सका । पर उसके प्रयत्न का यह लाभ अवश्य हुआ, कि कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारों में गृहयुद्ध प्रारम्भ नहीं हुआ, यद्यपि चीन की स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार जापान को परास्त करने के लिये किसी महत्त्वपूर्ण कार्य को करने में असमर्थ रही ।

## (२) अमेरिका द्वारा चीन में एकता की स्थापना का उद्योग

जनरल हर्ले को चीन में अमेरिकन राजदूत के पद पर विशेष रूप से इसलिये नियुक्त किया गया था, ताकि वह चुंगकिंग सरकार और कम्युनिस्ट लोगों में समझौता कराके उनकी संयुक्त शक्ति को जापान के विरुद्ध युद्ध करने के लिये प्रयुक्त कर सके । जनरल हर्ले ने अपने इस प्रयत्न में जो सिद्धान्त सम्मुख रखे थे, वे निम्नलिखित थे---(१) चुंगकिंग की राष्ट्रीय सरकार की सत्ता अक्षुण्ण रहे, उसकी सर्वोच्च स्थिति में कोई अन्तर न आने पावे । (२) चियांग काई शेक स्वतन्त्र चीनी रिपब्लिक के राष्ट्रपति पद पर कायम रहे और चीन की सब राष्ट्रीय सेनाओं का प्रधान सेनापति भी वही रहे । (३) येनान की कम्युनिस्ट सरकार चुंगकिंग की केन्द्रीय सरकार के आधिपत्य को स्वीकार करे और कम्युनिस्ट सेनायें युद्ध के कार्य में चियांग काई शेक की राष्ट्रीय सेनाओं के साथ पूर्ण रूप से सहयोग करें । ७ नवम्बर, १९४४ को जनरल हर्ले स्वयं येनान गया, और वहां जाकर उसने कम्युनिस्ट नेताओं से बातचीत प्रारम्भ की । कम्युनिस्ट लोग जापान से लड़ाई करने के उद्देश्य से चुंगकिंग सरकार के साथ समझौता करने को तैयार थे । उन्होंने समझौते के लिये एक मसविदा तैयार किया, जिसके अनुसार यह प्रस्तावित किया गया, कि चुंगकिंग की सरकार विविध राजनीतिक दलों की मिली-जुली सरकार हो और देश के शासन पर कुओमिन्तांग दल का एकाधिपत्य न रहे । कम्युनिस्ट नेताओं का कहना था, कि चीन की राष्ट्रीय सरकार और कुओमिन्तांग दल दो पृथक् सत्ताएं हैं, और कम्युनिस्ट आदि अन्य राजनीतिक दलों की भी सरकार की दृष्टि में वही स्थिति होनी चाहियें, जो कुओमिन्तांग दल की है । कुओमिन्तांग को अन्य राजनीतिक दलों की अपेक्षा अधिक ऊंची स्थिति प्राप्त नहीं होनी चाहिये । चीन में लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना के लिये यह आवश्यक है, कि शासन का संचालन लोकमत के अनुसार हो, और विविध राजनीतिक दलों को यह अवसर हो, कि वे अपने विचारों व सिद्धान्तों का स्वतन्त्रता के साथ प्रचार कर सकें । पर चियांग काई शेक व उसके साथी इस बात को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे।

उनका कथन था, कि पहले कम्युनिस्ट लोगों को यह स्पष्टरूप से मान लेना चाहिये, कि वे चुंगकिंग सरकार के अधीन हैं और उन्हें अपनी सेनाएं पूर्णरूप से चियांग काई शेक की सेनाओं के साथ सम्मिलित कर देनी चाहिये। यह हो जाने के बाद ही कम्युनिस्ट दल की सत्ता को अन्य राजनीतिक दलों के समकक्ष रूप से स्वीकृत किया जा सकता है। पर कम्युनिस्ट लोग समझते थे, कि यदि वे बिना किसी शर्त के अपनी सेनाओं को उस चुंगकिंग सरकार के अधीन कर देंगे, जिस पर कुओमिन्तांग दल का एकाधिपत्य है, तो उसका परिणाम केवल यह होगा, कि कम्युनिस्ट दल की सत्ता ही खतरे में पड़ जायगी। वे पहले चुंगकिंग में विविध राजनीतिक दलों की मिली जुली सरकार स्थापित कर लेना चाहते थे, ताकि कुओमिन्तांग दल का एकाधिपत्य कायम न रहने पावे। जनरल हर्ले के लिये यह सम्भव नहीं हुआ, कि वह चियांग काई शेक को कम्युनिस्टों की इस मांग को स्वीकृत कर लेनेके लिये प्रेरित कर सके। पर उसने समझौते की बातचीत को जारी रखा, और इसी कारण चीन के इन दो प्रधान दलों में परस्पर गृहयुद्ध प्रारम्भ नहीं होने पाया।

इसी बीच में अगस्त, १९४५ में जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया और महायुद्ध (१९३९-४५) का अन्त हो गया। पर महायुद्ध की समाप्ति के साथ चीन की समस्या का अन्त नहीं हो गया। जापान की पराजय के कारण नानकिंग की उस सरकार का स्वयमेव अन्त हो गया, जो वांग चिंग-वेई के नेतृत्व में कायम की गई थी। वांग चिंग-वेई की मृत्यु १९४४ में हो गई थी, पर नानकिंग की सरकार अभी कायम थी। महायुद्ध की समाप्ति पर यह समस्या उत्पन्न हुई, कि नानकिंग सरकार द्वारा अधिकृत प्रदेशों पर अब किसका आधिपत्य स्थापित हो, चुंगकिंग की कुओमिन्तांग सरकार का या येनान की कम्युनिस्ट सरकार की। कम्युनिस्ट सरकार इस स्थिति में थी, कि वह बड़ी सुगमता के साथ उत्तरी चीन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकती थी। पर चियांग काई शेक कभी इस बात को सहन नहीं कर सकता था। अतः नानकिंग सरकार द्वारा अधिकृत प्रदेशों पर कब्जा करने के प्रश्न पर कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारों में परस्पर संघर्ष का प्रारम्भ अवश्यम्भावी था। अमेरिका का हित इस बात में था, कि चीन में सुव्यवस्थित और सुदृढ़ शासन स्थापित हो, और चीन पूर्वी एशिया का प्रमुख राज्य बने। महायुद्ध के समय में मित्रराज्यों ने चियांग काई शेक और उसकी सरकार को बहुत अधिक महत्त्व दिया हुआ था। अतः अमेरिका और ब्रिटेन इस बात के लिये उत्सुक थे, कि चीन में गृह-कलह न हो और जापान की पराजय के बाद सम्पूर्ण चीन में एक शक्तिशाली व केन्द्रीय शासन स्थापित करने का जो सुवर्णीय अवसर उपस्थित हुआ है, उसका

पूर्ण रूप में उपयोग किया जाय । अतः उन्होंने कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारों में समझौता कराने के अपने प्रयत्न को जारी रखा ।

२६ नवम्बर, १९४५ को जनरल हर्ले ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और दिसम्बर, १९४५ में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने जनरल मार्शल को विशेषरूप से चीन इस उद्देश्य से भेजा, कि वह चीन के दोनों प्रमुख दलों में समझौता कराने का उद्योग करें । उन्हें यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वे चीन जाकर न केवल कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में सैनिक सन्धि स्थापित करें, पर साथ ही यह भी उद्योग करें कि चीन में एक ऐसी लोकतन्त्र सरकार स्थापित हो जाय, जिसके शासन को सम्पूर्ण चीन स्वीकृत करता हो ।

अमेरिका चीन में शासन सम्बन्धी एकता को कायम करने के लिये जिस प्रकार प्रयत्नशील था, उसकी उपेक्षा कर सकना चियांग काई शेक व उसके साथियों के लिये सम्भव नहीं था । अतः उन्होंने चीन में 'पीपल्स कान्सल्टेटिव कान्फरेन्स' नाम से एक नई संस्था का निर्माण किया, जिसके सदस्यों की संख्या ३६ नियत की गई । यह व्यवस्था की गई, कि इस कान्फरेन्स में कुओमिन्तांग दल के ८, कम्युनिस्ट दल के ७ और अन्य दलों के २१ व्यक्ति सदस्य रूप से लिये जावें । निःसन्देह यह लोकतन्त्र शासन के मार्ग पर एक महत्त्वपूर्ण कदम था । यद्यपि चीन में कुओमिन्तांग व कम्युनिस्ट दलों का प्राधान्य था, पर इस कान्फरेन्स में इन दोनों दलों के मुकाबले में अन्य अप्रसिद्ध दलों व स्वतन्त्र व्यक्तियों को अधिक स्थान दिये गये थे । यदि यह कान्फरेन्स सफल हो सकती, तो चीन राष्ट्रीय एकता और लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर अवश्य अग्रसर हो सकता । पर पीपल्स कान्सल्टेटिव कान्फरेन्स केवल २२ दिन तक कायम रही । अपने इतने छोटे से जीवनकाल में इस कान्फरेन्स ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न कर दिया । यह कार्य था, कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में यह समझौता कराने का, कि उनकी सेनायें आपस के युद्ध को बन्द कर दें और चीन का जो प्रदेश जिस सेना के कब्जे में है, वह उसी के कब्जे में रहे । १० जनवरी, १९४६ को इस कान्फरेन्स की ओर से तीन व्यक्तियों की एक समिति नियत की गई, जिसे कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सेनाओं में युद्ध बन्द रखने का कार्य सुपुर्द किया गया । इन तीन व्यक्तियों में एक कुओमिन्तांग दल का हो, एक कम्युनिस्ट दल का हो और एक अमेरिकन हो, यह व्यवस्था की गई । इस प्रकार अमेरिका के जोर देने से चीन में गृहकलह कुछ समय के लिये स्थगित हो गया और बहुत समय बाद चीन में सामयिक रूप से शान्ति की स्थापना हुई ।

पर १० जनवरी, १९४६ के समझौते से चीन की वास्तविक समस्या का हल नहीं हुआ था । चीन में स्थिर शान्ति के लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक थीं—

(१) अब तक चियांग काई शेक की सरकार कुओमिन्तांग दल की सरकार थी। आवश्यकता इस बात की थी, कि एक राजनीतिक दल के शासन का अन्त होकर चीन में ऐसी सरकार स्थापित हो, जो लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर आश्रित हो। (२) चीन की सेनायें राष्ट्रीय न होकर राजनीतिक दलों की सेनायें थी। चियांग काई शेक की सेनायें कुओमिन्तांग दल की थीं और माओ त्से तुंग की सेनायें कम्युनिस्ट दल की। चीन की राष्ट्रीय एकता के लिये यह आवश्यक था, कि उसकी सेनाओं का किसी दल विशेष से सम्बन्ध न हो; वे चीन की राष्ट्रीय सेनायें हों और राजनीतिक दलबन्दी से सर्वथा पृथक् रहते हुए राष्ट्रीय सरकार की आज्ञानुवर्तिनी हों। यह सुगम नहीं था, कि इन बातों को क्रिया में परिणत किया जा सके। जनरल मार्शल ने इस बात की भरसक कोशिश की, कि कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में समझौता कराके एक केन्द्रीय चीनी सरकार की स्थापना करे। पर जनरल हर्ले के समान जनरल मार्शल को भी निराश होना पड़ा। जनवरी, १९४७ में वह चीन की राष्ट्रीय एकता से निराश होकर अमेरिका वापस लौट गया।

अमेरिका के योग्यतम राजनीतिज्ञ जो चीन में राष्ट्रीय एकता की स्थापना में निरन्तर असफल हो रहे थे, उसके कारण निम्नलिखित थे—(१) कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों के लोग एक दूसरे के प्रति घोर अविश्वास रखते थे। (२) चियांग काई शेक और उसके साथी कम्युनिज्म के विरोधी थे, वे किसी भी रूप में समाजवादी व्यवस्था को सहन करने के लिये उद्यत नहीं थे। इसके विपरीत कम्युनिस्ट लोग चीन में समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने के लिये उत्सुक थे। समाज संगठन के प्रश्न पर इतना गहरा मतभेद होने की दशा में यह असम्भव था, कि इन दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं में किसी भी प्रकार से समझौता हो सके।

## (३) लोकतन्त्र शासन की स्थापना का प्रयत्न

यद्यपि कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सका, पर चियांग काई शेक के लिये यह असम्भव था, कि वह चीन में लोकतन्त्र शासन की स्थापना के कार्य को कोई महत्त्व न दे। जापान के साथ युद्ध की परिस्थितियों के कारण चीन की राष्ट्रीय सरकार का शासनसूत्र पूर्णरूप से चियांग काई शेक के हाथों में आ गया था। वह एकाधिपति (डिक्टेटर) के रूप में देश का शासन करता था और सम्पूर्ण राज्यशक्ति उसी के पास थी। १९३६ के बाद चीन में न कोई निर्वाचन हुए थे और न किसी अन्य प्रकार से लोक मत के अनुसार शासन करने का उद्योग किया गया था। युद्ध के समय चियांग काई शेक की ओर से बहुधा यह घोषणा की जाती थी, कि युद्ध की समाप्ति पर जब शान्ति स्थापित हो जायगी,

तो चीन में पुनः लोकतन्त्र शासन कायम किया जायगा और सरकार का संगठन लोकमत के अनुसार किया जायगा। इसीलिये अब युद्ध की समाप्ति के लगभग एक साल बाद नवम्बर, १९४६ में चियांग काई शेक के आदेश के अनुसार राष्ट्रीय महासभा (नेशनल एसेम्बली) का संगठन किया गया। इसके सदस्यों की संख्या २१५० थी। इनमें से ९५० सदस्य वे थे, जिनका निर्वाचन अब से दस साल पूर्व १९३६ में हुआ था। इनके अतिरिक्त अन्य सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित न होकर सरकार द्वारा नियुक्त किये गये थे। इन्हें नियुक्त करते हुए सरकार की ओर से यह यत्न किया गया था, कि जहां राष्ट्रीय महासभा में विविध राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों को स्थान प्राप्त हो, वहां साथ ही चीन के प्रमुख व्यक्ति भी उसमें स्थान पा सकें। २५ दिसम्बर, १९४६ को राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। कम्युनिस्ट सदस्य इस अधिवेशन में सम्मिलित नहीं हुए। पर उनकी अनुपस्थिति की कोई परवाह न कर राष्ट्रीय महासभा ने चीन के लिये नये शासन-विधान का निर्माण किया और यह व्यवस्था की, कि यह नया विधान २५ दिसम्बर, १९४७ से लागू कर दिया जाय। चीन के इस नये लोकतन्त्र शासनविधान पर यहां प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसे क्रिया में परिणत करने के लिये चियांग काई शेक और उसके साथियों को अवसर नहीं मिल सका। कम्युनिस्ट लोग राष्ट्रीय महासभा में सम्मिलित नहीं हुए थे, और शीघ्र ही उन्होंने चीन के बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। कुओमिन्तांग दल की सम्पूर्ण शक्ति कम्युनिस्ट लोगों का मुकाबला करने में ही लग गई और इन्हें इस बात का अवकाश नहीं मिला, कि वे राष्ट्रीय महासभा द्वारा तैयार किये गये शासन-विधान के अनुसार चीन में लोकतन्त्र शासन का विकास कर सकें। यहां इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है, कि इस शासन विधान का निर्माण डा० सन यात सेन के सिद्धान्तों व आदर्शों को दृष्टि में रखकर किया गया था, और राजशक्ति के उपयोग का अधिकार राज्य के पांच विभागों व युआनों को दिया गया था। ये युआन निम्नलिखित थे, व्यवस्थापन युआन, शासन युआन, न्याय युआन, परीक्षा युआन और नियन्त्रण युआन। डा० सन यात सेन के शासन सम्बन्धी विचारों पर हम इस इतिहास में पहले प्रकाश डाल चुके हैं, अतः इन पांच युआनों के सम्बन्ध में यहां अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

जनवरी, १९४८ में नये शासनविधान के अनुसार व्यवस्थापन युआन (पार्लियामेन्ट) का निर्वाचन हुआ। श्री चियांग काई शेक चीनी रिपब्लिक के राष्ट्रपति निर्वाचित किये गये और उप राष्ट्रपति के पद पर जनरल ली त्सुंग-जेन को चुना गया। जनरल ली कट्टर सुधारवादी थे और चियांग काई शेक के साथ उनका

प्रबल मतभेद था। चियांग काई शेक के विरोध के बावजूद भी उनका उपराष्ट्रपति निर्वाचित होना इस बात का प्रमाण है, कि चीन में इस समय भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो चियांग काई शेक का अन्धानुसरण करने को उद्यत नहीं थे। यदि इस समय चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित हो सकती और कुओमिन्तांग व कम्युनिस्ट दलों के लोग आपस में समझौता करके लोकतन्त्र शासन के विकास के लिये उद्योग करते, तो निःसन्देह चीन लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर बड़ी तेजी के साथ अग्रसर हो सकता। पर यह सम्भव नहीं था, कि इन दो दलों में परस्पर समझौता हो सकता। जिस समय चीन की केन्द्रीय सरकार दिसम्बर, १९४६ के शासन विधान के अनुसार विविध युआनों के संगठन में तत्पर थी, तभी कम्युनिस्ट सेनायें निरन्तर आगे बढ़ रही थीं, और चीन के बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में संलग्न थीं। जुलाई, १९४९ तक चीन के बड़े भाग पर कम्युनिस्ट लोगों का शासन कायम हो गया था और डा० सन यात सेन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार निर्मित नये शासन विधान को क्रिया में परिणत होने का कोई अवसर नहीं रह गया था। यहां यह निर्दिष्ट कर देने की आवश्यकता नहीं है, कि चीन जो लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सका, उसमें महासेनापति चियांग काई शेक का दुराग्रह और स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति एक बड़ा कारण थी।

## (४) कम्युनिस्ट दल का उत्कर्ष

अमेरिका के प्रयत्न के बावजूद भी कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में समझौता नहीं हो सका था। जब तक जापान के साथ युद्ध जारी रहा, इन दोनों दलों में गृहकलह ने उग्ररूप धारण नहीं किया। पर जापान के आत्मसमर्पण करते ही जब उत्तरी व पूर्वी चीन पर पुनः अधिकार स्थापित करने का प्रश्न उत्पन्न हुआ, तो चुंगकिंग और येनान सरकारों के पारस्परिक विरोध ने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया। कुछ ही समय बाद इन दोनों दलों की सेनाओं में गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया, और अन्त में इस युद्ध में कम्युनिस्टों की विजय हुई।

हम पहले लिख चुके हैं, कि ८ अगस्त, १९४५ को रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी। १९३९-४५ के महायुद्ध में रूस मित्रराज्यों के पक्ष में था और जर्मनी की नाजी शक्ति को परास्त करने में उसका कर्तृत्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में रूस ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाई हुई थी, इसीलिये उसने जापान के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित करना उचित नहीं समझा था। एप्रिल, १९४१ में रूस और जापान ने एक सन्धि की थी, जिसके अनुसार दोनों राज्यों ने तटस्थता की नीति का अनुसरण करना स्वीकार किया था। यह सन्धि पांच साल

के लिये ही की गई थी और दोनों राज्योंको यह अधिकार था, कि सन्धि की अवधि के समाप्त होने से एक साल पूर्व इस सन्धि को समाप्त कर देने का नोटिस दे सकें। ब्रिटेन और अमेरिका चाहते थे, कि रूस जापान के साथ लड़ाई की घोषणा कर दे, ताकि जापान को परास्त कर सकना उनके लिये सुगम हो जाय। पर रूस यह भलीभांति समझता था, कि उत्तर-पूर्वी चीन में जापान की शक्तिशाली क्वान्तुंग सेना अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है, और यदि रूस जापान के खिलाफ लड़ाई में शामिल हो जायगा, तो यह सेना पूर्वी साइबीरिया पर सुगमता के साथ अपना आधिपत्य स्थापित कर लेगी, और एशियन रूस का पूर्वी समुद्र तट जापान के कब्जे में चला जायगा; रूस को अपनी अच्छी बड़ी सेना जापान के मुकाबले में साइबीरिया भेजनी पड़ेगी, और इसका केवल यह परिणाम होगा, कि वह जर्मनी के विरुद्ध अपनी सम्पूर्ण सैन्यशक्ति का उपयोग नहीं कर सकेगा। फरवरी, १९४५ में याल्टा नामक स्थान पर मित्र राज्यों के प्रमुख नेताओं की कान्फरेन्स हुई। इस में रूस ने यह स्वीकार किया, कि जब जर्मनी महायुद्ध में परास्त हो जायगा, तो उसके दो या तीन महीने बाद रूस जापान के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर देगा, ताकि जापान को परास्त करने में वह भी सहायक हो सके। रूस समझता था, कि जापान के साथ लड़ाई शुरू करने के लिये इतने समय की आवश्यकता होगी, क्योंकि यूरोप से हजारों मील दूर पूर्वी साइबीरिया में अपनी सेनाओं व युद्ध सामग्री को प्रचुर परिमाण में पहुंचाने के लिये दो या तीन महीने का समय अवश्य लग जायगा। याल्टा कान्फरेन्स में ही ब्रिटेन और अमेरिका ने रूस के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार उन्होंने यह स्वीकार किया, कि जापान की पराजय के बाद पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में नई व्यवस्था करते हुए रूस की निम्नलिखित मांगों को मंजूर किया जायगा— (१) मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक (जिसमें समाजवादी व्यवस्था कायम थी) को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्वीकृत किया जाय। (२) १९०४-५ के रूस-जापान युद्ध के परिणामस्वरूप रूस से जो प्रदेश व प्रभावक्षेत्र जापान ने प्राप्त किये थे, वे रूस को प्रदान कर दिये जावें। (३) सखालिन द्वीपका दक्षिणी भाग व उसके समीपवर्ती द्वीप रूस को पुनः प्राप्त हों। (४) पोर्ट आर्थर रूस को पट्टे पर दे दिया जावे, ताकि वह वहां अपनी जलशक्ति का अड्डा बना सके। (५) मञ्चूरिया पर चीनी सरकार का अधिकार हो, पर उसकी दो प्रमुख रेलवे लाइनों का संचालन एक ऐसी कम्पनी द्वारा किया जाय, जिसपर चीन और रूस दोनों का सम्मिलित आधिपत्य हो।

याल्टा कान्फरेन्स में ब्रिटेन और अमेरिका के साथ उपर्युक्त समझौता करके रूस ने यह तय कर लिया, कि जर्मनी की पराजय के कुछ मास बाद वह भी जापान

के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर देगा। ७ मई, १९४५ को जर्मनी ने आत्मसमर्पण किया और उसके ठीक तीन मास बाद ८ अगस्त, १९४५ को रूस ने जापान के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। रूस की सेनाओं ने उत्तर की ओर से मञ्चूरिया में प्रवेश किया। कुछ समय बाद १५ अगस्त, १९४५ को जापान ने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया और रूस को और अधिक युद्ध की आवश्यकता नहीं हुई। पर जापान के साथ सामयिक सन्धि २ सितम्बर, १९४५ से पूर्व सम्पन्न नहीं की जा सकी। इसका परिणाम यह हुआ, कि ८ अगस्त से २ सितम्बर तक लगभग तीन सप्ताह तक रूसी सेनायें जापान द्वारा अधिकृत प्रदेशों में निरन्तर आगे बढ़ती गईं। इस अवसर का लाभ उठाकर रूस ने सम्पूर्ण मञ्चूरिया पर अपना कब्जा कर लिया और उसकी एक अन्य सेना कोरिया में निरन्तर आगे बढ़ती गई। २ सितम्बर तक उसने सम्पूर्ण उत्तरी कोरिया (३८वीं पेरेलल तक) पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। तीन सप्ताह के थोड़े से काल में मञ्चूरिया और उत्तरी कोरिया के सुविस्तृत प्रदेश रूसी कम्युनिस्टों के अधिकार में आ गये। यद्यपि रूस के इस आधिपत्य का चीन के कम्युनिस्टों के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था, पर हमने इसका इतने विशदरूप में उल्लेख इसलिये किया है, क्योंकि चीन में कम्युनिस्ट दल के उत्कर्ष में इससे बहुत सहायता मिली थी।

१५ अगस्त, १९४५ को जापान ने आत्म समर्पण किया था। यद्यपि महायुद्ध में जापान परास्त हो गया था, पर मञ्चूरिया और पूर्वी चीन पर उसका आधिपत्य अभी अविकल रूप से विद्यमान था। मञ्चूरिया और कोरिया में रूसी सेनायें निरन्तर आगे बढ़ रही थीं, पर मञ्चूकुओ और नानकिंग की सरकारें अभी पूर्ववत् कायम थीं। जापान के आत्म समर्पण का यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि मञ्चूरिया और पूर्वी चीन से उन सरकारों का अन्त हो जाय, जो कि जापान को अपना संरक्षक, मित्र व सहयोगी मानती थीं। साथ ही, यह भी आवश्यक था, कि इन प्रदेशों में जो जापानी सेनायें विद्यमान थीं, वे हथियार डाल दें और मित्र-राज्यों के सम्मुख आत्म समर्पण कर दें। मञ्चूरिया और उत्तरी कोरिया में रूसी सेनायें प्रविष्ट हो गई थीं, और रूस ने वहां अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। पर प्रश्न यह था, कि पूर्वी चीन पर अब किसका अधिकार हो और वहां की जापानी सेनायें किसके सम्मुख आत्म समर्पण करें। मित्रराज्यों ने इस बात का तो फैसला कर लिया था, कि पूर्वी चीन पर चीन की स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार का अधिकार कायम होगा। पर चीन की स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार की सेनायें दो प्रकार की थीं, कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट। इन दोनों सेनाओं में किसी भी प्रकार का समझौता अब तक नहीं हो सका था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि ये दोनों सेनायें

पूर्वी चीन के अधिक से अधिक प्रदेश पर अपना कब्जा कायम करने का प्रयत्न करें। कम्युनिस्ट सेनायें अधिक व्यवस्थित व संगठित थीं। उत्तर-पश्चिमी चीन पर तो उनका अधिकार था ही, साथ ही जापान द्वारा अधिकृत चीन में भी अनेक स्थानों पर कम्युनिस्ट सेनायें गुरीला पद्धति से युद्ध में व्यापृत थीं। इस दशा में उनके लिये यह अधिक सुगम था, कि वे पूर्वी चीन के बड़े भाग पर अपना कब्जा कायम कर लें। पर चियांग काई शेक इस बात को नहीं सह सकता था। अमेरिकन लोग भी यह नहीं चाहते थे, कि जापान को परास्त कर पूर्वी चीन के जिन प्रदेशों को जापान की अधीनता से 'स्वतन्त्र' कराया गया है, उन पर अब कम्युनिस्टों का आधिपत्य स्थापित हो जाय। अतः उन्होंने इस समय चियांग काई शेक की दिल खोलकर सहायता की। बहुत बड़ी संख्या में मोटर गाड़ियां, ट्रक, हवाई जहाज आदि चुंगकिंग सरकार को प्रदान किये गये, ताकि कुओमिन्तांग दल की सेनायें तेजी के साथ पूर्वी चीन पहुंच सकें और कम्युनिस्टों से पहले उनपर अपना कब्जा कर लें। इस अवस्था में यह स्वाभाविक था, कि चुंगकिंग सरकार और येनान सरकार में फिर से गृहयुद्ध का प्रारम्भ हो। क्योंकि कम्युनिस्ट लोग यह नहीं चाहते थे, कि चियांग काई शेक सम्पूर्ण पूर्वी चीन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर ले। परिणाम यह हुआ, कि सितम्बर, १९४५ में कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारों में लड़ाई शुरू हो गई और जापान की पराजय के बाद भी चीन में शान्ति स्थापित नहीं हो सकी।

अमेरिका नहीं चाहता था, कि चीन में इस प्रकार गृहयुद्ध जारी रहे। इसीलिये उसने दिसम्बर, १९४५ में जनरल मार्शल को इस उद्देश्य से चीन भेजा, कि वह चीन के इन दोनों दलों में समझौता कराके वहां लोकतन्त्र शासन की स्थापना का उद्योग करे। जनरल मार्शल को अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हो सकी, यह हम इसी अध्याय में पहले लिख चुके हैं। जनवरी, १९४६ में चीन के दोनों दलों ने जो सामयिक रूप से समझौता किया, उसका विवरण भी हम ऊपर दे चुके हैं। पर कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में समझौता हो सकना सुगम बात नहीं थी। नवम्बर, १९४६ में चियांग काई शेक ने देश के लिये नये शासन विधान का निर्माण करने के लिये जिस राष्ट्रीय महासभा का आयोजन किया था, कम्युनिस्ट दल ने उसका बहिष्कार किया था। इस बीच में कम्युनिस्ट सेनायें उत्तरी व पूर्वी चीन के अनेक प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर चुकी थीं। कुछ मास बाद १९४६ के शुरू में रूसी सेनाओं ने मञ्चूरिया और उत्तरी कोरिया को खाली कर दिया था, और इन प्रदेशों पर भी चीन के कम्युनिस्टों ने अपना कब्जा कायम कर लिया था। इस प्रकार चीन के अच्छे बड़े भाग पर चीनी कम्युनिस्टों का अधिकार था अब और चियांग काई शेक चीन में राष्ट्रीय एकता की

स्थापना के लिये केवल दो उपायोंका ही अवलम्बन कर सकता था—(१) या तो वह कम्युनिस्टों के साथ समझौता करके इस बात के लिये तैयार हो, कि चीन में एक ऐसी लोकतन्त्र सरकार की स्थापना की जाय, जिसका निर्माण लोकमत के अनुसार हो और जो कुओमिन्तांग, कम्युनिस्ट व अन्य राजनीतिक दलों को एक समान दृष्टि से देखे। (२) और या वह कम्युनिस्टों को युद्ध में परास्त करके उन द्वारा अधिकृत प्रदेशों को अपने कब्जे में ले आवे। १९४७ तक समझौते के लिये जो प्रयत्न चीन में हुए, उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। १९४८ में भी ये प्रयत्न जारी रहे, पर ये सफल नहीं हो सके। इस बीच में कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सेनाओं में थोड़ा बहुत युद्ध भी होता रहा। इस समय चीन दो भागों में विभक्त था। कुछ प्रदेशों पर कम्युनिस्टों का कब्जा था और कुछ पर कुओमिन्तांग दल का। १९४८ के शुरू में चीन में जिस लोकतन्त्र शासन की स्थापना का उद्योग हुआ था, उसका सम्बन्ध केवल कुओमिन्तांग दल द्वारा अधिकृत चीन के साथ था। शेष चीन में कम्युनिस्ट लोग समाजवादी व्यवस्था की स्थापना में तत्पर थे।

१९४९ के प्रारम्भ में एक बार फिर दोनों दलों में समझौते का उद्योग किया गया। १४ जनवरी, १९४९ को कम्युनिस्ट दल की ओर से समझौते की निम्नलिखित शर्तें पेश की गईं—(१) चियांग काई शेक और ली त्सुंग-जेन को अपने पदों से पृथक् कर दिया जावे। (२) कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारें एक साथ अपनी सेनाओं को लड़ाई बन्द कर देने का आदेश दें। (३) देश के लिये एक नया शासन विधान बनाया जाय, जिसे बनाने का कार्य जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के सुपुर्द हो। (४) जब तक नया शासन विधान न तैयार हो, शासन कार्य का संचालन करने के लिये एक ऐसी सरकार का संगठन किया जाय, जिसमें सब प्रमुख राजनीतिक दलों को स्थान दिया जाय। (५) सेना का नये सिरे से संगठन किया जाय। (६) युद्ध के लिये जिन चीनी नेताओं को दोषी पाया जाय, उन्हें दण्ड देने की व्यवस्था की जाय। यह स्पष्ट है, कि महासेनापति चियांग काई शेक इन शर्तों को स्वीकार नहीं कर सकता था। पर इस समय चीन में चियांग काई शेक की स्थिति बहुत हीन हो चुकी थी। कम्युनिस्टों के विरुद्ध लड़ाई के लिये वह अमेरिका से यथेष्ट सहायता प्राप्त कर सकने में समर्थ नहीं हुआ था। इस समय अमेरिका इस स्थिति में नहीं था, कि चीन के गृहयुद्ध में एक पक्ष की खुले रूप से सहायता कर सके। यदि अमेरिका कुओमिन्तांग दल की सहायता करता, तो कम्युनिस्ट लोगों को रूस से सहायता पाने का पूरा भरोसा था। इस दशा में अमेरिका ने बहुत कुछ तटस्थता की नीति का अनुसरण किया और इस कारण चियांग काई शेक की राजनीतिक स्थिति बहुत कुछ डांवाडोल हो गई। २२ जनवरी, १९४९ को उसने

अपनी सरकार का सब कार्य भार उप राष्ट्रपति ली त्सुंग-जेन के सुपुर्द कर दिया। यद्यपि राष्ट्रपति के पद पर अब भी चियांग काई शेक कायम रहा, पर नानकिंग सरकार (जापान के आत्म समर्पण के कुछ समय बाद कुओमिन्तांग सरकार चुंगकिंग से नानकिंग चली आई थी) का संचालन जनरल ली के हाथों में आ गया। इस समय नानकिंग सरकार का प्रधानमंत्री सन फो था। उसने कम्युनिस्टों के साथ समझौते की बातचीत को जारी रखा। पर उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हो सकी। १९ एप्रिल, १९४९ को समझौते की बातचीत अन्तिम रूप से समाप्त हो गई, और कम्युनिस्टों और कुओमिन्तांग सरकार की सेनाओं में बाकायदा युद्ध प्रारम्भ हो गया।

यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि चीन के इस गृहयुद्ध की प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त रूप से भी उल्लेख कर सकें। उत्तरी चीन के सब प्रदेशों पर कम्युनिस्टों का पहले से ही कब्जा था। जनवरी, १९४९ में समझौते की बातचीत शुरू होने के पहले कम्युनिस्ट लोग तीन्त्सिन और पेकिंग पर अपना आधिपत्य कायम कर चुके थे। समझौते की बातचीत के असफल हो जाने पर एप्रिल, १९४९ में कम्युनिस्ट सेनाओं ने यांगत्सी नदी को पार कर लिया। नानकिंग और शंघाई कम्युनिस्टों के अधिकार में चले गये। कुछ समय बाद कम्युनिस्ट सेनाओं ने हैन्को को जीत लिया और अक्टूबर, १९४९ में दक्षिणी चीन के प्रसिद्ध नगर कैन्टन पर भी उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया।

१७ सितम्बर, १९४९ को ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के परराष्ट्र विभाग की ओर से यह बात स्वीकृत कर ली गई, कि चीन में कुओमिन्तांग दल की शक्ति व सत्ता का पूर्णरूप से ह्रास हो गया है। इस दल का चीन में कुछ भी प्रभाव नहीं है, और इसका कोई ऐसा व्यवस्थित संगठन नहीं है, जिसे ये पाश्चात्य राज्य सहायता दे सकें। वस्तुतः, महायुद्ध के समय में ही अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों के अनेक राजनीतिज्ञ इस बात को अनुभव करते थे, कि कुओमिन्तांग दल के नेताओं में बहुत अधिक विकृति आ चुकी है, और वे अपनी राजशक्ति का उपयोग देश के हित व कल्याण के लिये न करके स्वार्थ साधन के लिये करने में तत्पर हैं। चीन की जनता भी उनके पक्ष में नहीं थी। इसके विपरीत कम्युनिस्ट लोग जहां सुव्यवस्थित और सुसंगठित थे, वहां साथ ही देश के हित-साधन में भी तत्पर थे। इस दशा में यदि उन्हें कुओमिन्तांग सरकार को परास्त कर सकने में असाधारण रूप से सफलता मिली हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

नवम्बर, १९४९ तक यह दशा आ गई थी, कि कुओमिन्तांग सरकार की अधीनता में केवल निम्नलिखित प्रदेश रह गये थे—(१) इजेचुआन का प्रान्त, जिसकी

राजधानी चुंगकिंग थी, (२) दक्षिण-पूर्वी चीन के क्वांग्सी प्रान्त का कुछ भाग, (३) फार्मूसा द्वीप और (४) हैनान द्वीप। ये चार प्रदेश जहां कुओमिन्तांग सरकार की अधीनता में थे, वहां पश्चिमी चीन के अनेक प्रदेशों पर एक बार फिर विविध सिपहसालारों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। चीन के गृह-कलह की दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि विविध शक्तिशाली सेनापति अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र शासकों के समान आचरण करने लगें। इस दशा में कम्युनिस्ट सरकार के सम्मुख मुख्य कार्य यह था, कि इन सब प्रदेशों को जीतकर सम्पूर्ण चीन में राष्ट्रीय एकता की स्थापना करे। इस कार्य में उसे विशेष कठिनता का सामना नहीं करना पड़ा। १९४९ के अन्त से पूर्व ही कम्युनिस्ट सेनाओं ने आभ्यन्तर मंगोलिया के निन्ग्सिआ प्रदेश को जीत लिया और मार्च, १९५० तक उन्होंने सब स्वतन्त्र सिपहसालारों को परास्त कर अपने अधीन कर लिया। इसी प्रकार कम्युनिस्ट सेनाओं ने श्जेचुआन और क्वांग्सी में विद्यमान कुओमिन्तांग सेनाओं के साथ भी संघर्ष जारी रखा। मार्च, १९५० तक यह स्थिति आ गई थी, कि कुओ-मिन्तांग दल का प्रभुत्व केवल फार्मूसा और हैनान द्वीपों तक ही सीमित रह गया गया था। चीन के विशाल प्रदेशों में कोई भी ऐसा नहीं रहा था, जो चियांग काई शेक या उसके कुओमिन्तांग दल के अधिकार में हो। बाद में हैनान पर भी कम्युनिस्ट सेनाओं ने कब्जा कर लिया। इस समय केवल फार्मूसा द्वीप ही एकमात्र ऐसा प्रदेश है, जो चियांग काई शेक या कुओमिन्तांग दल के आधिपत्य में है। चीन की राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने में कम्युनिस्ट दल को असाधारण रूप से सफलता प्राप्त हुई है।

सम्पूर्ण चीन को अपने अधिकार में लाकर कम्युनिस्ट लोगों ने वहां किस प्रकार का शासन स्थापित किया और देश में किस ढंग की आर्थिक,, सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की, इस महत्त्वपूर्ण विषय पर हम अगले एक अध्याय में प्रकाश डालेंगे। पर इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यह उपयोगी होगा, कि हम कम्युनिस्ट दल की सफलता के कारणों पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालें। जापान की पराजय के बाद जो चीन की राजशक्ति कम्युनिस्ट लोगों के हाथों में आगई, उसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे—(१) कम्युनिस्ट लोगों में उग्र देशभक्ति और राष्ट्रीय भावना विद्यमान थी। चीन में जापान का प्रभाव जिस ढंग से बढ़ रहा था, वे उसके प्रबल विरोधी थे। वे चाहते थे, कि चीन के सब राजनीतिक दल आपस के मतभेदों को भुलाकर सम्मिलित रूप से जापान का मुका-बला करें। इस कारण चीन की जनता उनके पक्ष में थी। चियांग काई शेक व उसके साथी जापान के विरुद्ध युद्ध के मुकाबले में चीन में अपनी स्थिति को मजबूत

रखने की अधिक चिन्ता करते थे । इसीलिये वे पाश्चात्य देशों से प्राप्त होनेवाली सहायता का उपयोग भी जापान के विरुद्ध न करके कम्युनिस्टों के खिलाफ करते थे । चीन की जनता इस बात को पसन्द नहीं करती थी । (२) महायुद्ध के समय जो प्रदेश येनान की कम्युनिस्ट सरकार के हाथों में थे, उनकी आर्थिक व राजनीतिक अवस्था बहुत सन्तोषजनक थी । कम्युनिस्ट लोग इन प्रदेशों का युद्ध के लिये शोषण न करके इनकी उन्नति में संलग्न थे । इसके विपरीत चुंगकिंग की कुओमिन्तांग सरकार द्वारा शासित प्रदेशों में आर्थिक दशा बहुत ही अस्त-व्यस्त थी । कीमतें वहां इतनी अधिक बढ़ गई थीं, कि सर्व साधारण जनता के लिये अपना निर्वाह कर सकना असम्भव हो गया था । (३) कम्युनिस्ट सरकार का जनता के साथ घनिष्ठ सम्पर्क था । वह अपनी शक्ति के लिये जनता की सद्भावना व सहयोग पर निर्भर करती थी । इसके विपरीत कुओमिन्तांग दल के नेता सर्वसाधारण जनता की सर्वथा उपेक्षा कर अपने वैयक्तिक उत्कर्ष के लिये तत्पर थे ।

इक्कीसवां अध्याय

# दक्षिण-पूर्वी एशिया में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये संघर्ष

## (१) इन्डो-चायना

दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों के लिये गत महायुद्ध (१९३९-४५) एक वरदान के समान था। इन्डो-चायना, मलाया, इन्डोनीसिया, बरमा, फिलिप्पीन आदि जो देश सुदीर्घ समय से पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकार थे, जापान की विजयों के कारण उन्हें स्वतन्त्र होने का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हुआ था। जापान ने इन देशों में कुछ समय के लिये अपना सैनिक शासन स्थापित किया और बाद में इनमें ऐसी स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकारें कायम हुईं, जो पाश्चात्य देशों के विरुद्ध जापान के साथ सहयोग करने को तैयार थीं। महायुद्ध की परिस्थितियों के कारण इन देशों में जापानी सेनायें स्थापित थीं, और इनके शासन पर जापान का पर्याप्त प्रभाव था। पर एक बार पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त हो जाने के कारण इन देशों में राष्ट्रीय स्वाधीनता की जो भावना अत्यन्त उग्र रूप में विकसित हो गई थी, उसे कुचल सकना न जापान के लिये सम्भव था और न पाश्चात्य देशों के लिये। महायुद्ध के अवसर पर युद्ध की परिस्थितियों से विवश होकर जब जापान ने इन देशों में अपने प्रभाव को अधिक व्यापक करने का प्रयत्न किया, तो वहां ऐसे देशभक्तों की कमी नहीं थी, जिन्होंने जापान का विरोध करने के लिये अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगा दिया और जब जापान की पराजय के बाद ये देश एक बार फिर पाश्चात्य देशों की सेनाओं के अधिकार में आ गये, तो इन्हीं राष्ट्रवादी देशभक्तों ने पाश्चात्य साम्राज्यवाद का मुकाबला करने के लिये असाधारण तत्परता प्रदर्शित की। एशिया के आधुनिक इतिहास में दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों का राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये संघर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस अध्याय में हम इसी संघर्ष के वृत्तान्त का संक्षिप्त रूप से उल्लेख करेंगे।

**महायुद्ध में इन्डो-चायना की स्थिति**—फ्रांस ने किस प्रकार इन्डो-चायना पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। इन्डो-

चायना फ्रांस के उसी प्रकार अधीन था, जैसे कि भारत और बरमा ब्रिटेन के। जून, १९४० में फ्रांस जर्मनी द्वारा परास्त कर दिया गया था और पेरिस नाजी सेनाओं के कब्जे में आगया था। फ्रांस में कतिपय ऐसे राजनीतिक नेता विद्यमान थे, जो दिल से नाजी विचारधारा के साथ सहानुभूति रखते थे। उनकी दृष्टि में नाजीज्म की अपेक्षा कम्युनिज्म अधिक खतरनाक था और उन्हें कम्युनिज्म के बढ़ते हुए प्रभाव का मुकाबला करने का सर्वोत्तम उपाय यही समझ पड़ता था, कि नाजी जर्मनी के साथ समझौता कर लिया जाय। मार्शल पेतां और श्री लवाल इन लोगों के प्रधान नेता थे। इन्होंने फ्रांस में एक नई सरकार का संगठन किया और विशी को अपनी राजधानी बनाया। फ्रांस की इस नई सरकार ने २१ जून, १९४० को हिटलर के प्रतिनिधियों से सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार फ्रांस को दो भागों में विभक्त किया गया, जर्मनी द्वारा अधिकृत फ्रांस और स्वाधीन (विशी सरकार के अधीन) फ्रांस। सम्पूर्ण उत्तरी फ्रांस, जिसमें पेरिस भी सम्मिलित था, जर्मनी के अधिकार में रहा। दक्षिणी फ्रांस पर मार्शल पेतां की सरकार स्वतन्त्र रूप से शासन करती रही। २१ जून, १९४० की सन्धि के अनुसार विशी सरकार ने यह भी स्वीकार किया, कि फ्रांस के पास जो कुछ भी युद्ध सामग्री शेष है, वह सब जर्मनी के सुपुर्द कर दी जाय। फ्रांस जर्मनी के अधिकार में आ गया था, पर उसका विशाल साम्राज्य अभी जर्मनी की पहुंच से बहुत दूर था। जो फ्रेंच लोग मार्शल पेतां की नीति से असन्तुष्ट थे, उनका नेता जनरल द गॉल था। ये लोग ब्रिटेन में एकत्र हुए और वहां इन्होंने आजाद फ्रेञ्च सरकार का संगठन किया। द गॉल ने यत्न किया, कि फ्रांस के विशाल साम्राज्य के विविध प्रदेश आजाद फ्रेञ्च सरकार का साथ दें। पर मार्शल पेतां की सरकार यह नहीं चाहती थी। उसका विचार था, कि अब फ्रेञ्च लोगों को महायुद्ध में पूर्णतया तटस्थ रहना चाहिये और जर्मनी के साथ जो सन्धि हुई है, उसका अविकल रूप से पालन करना चाहिये। इन्डो-चायना के गवर्नर जनरल श्री कार्तू ने जनरल द गॉल का साथ देने का फैसला किया। इस पर विशी सरकार ने उसे पदच्युत कर दिया और श्री देकू को इन्डो-चायना का नया गवर्नर जनरल नियत किया गया।

श्री देकू को यह भय नहीं था, कि जर्मन जलसेना इन्डो-चायना पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर सकेगी। पर जापान महायुद्ध में जर्मनी और इटली के साथ सहानुभूति रखता था। यद्यपि अभी जापान महायुद्ध में तटस्थ था, पर वह इन्डो-चायना को अपने प्रभाव में लाने के लिये उत्सुक था। ब्रिटेन और अमेरिका इन्डो-चायना के मार्ग से चियांग काई शेक की चुंगकिंग सरकार को सहायता पहुंचाने में तत्पर थे और यह बात जापान को किसी भी प्रकार सह्य नहीं थी। जापान

चुंग किंग सरकार का अन्त कर सम्पूर्ण चीन को एक ऐसी सरकार की अधीनता में ले आना चाहता था, जो जापान को अपना रक्षक, मित्र व सहयोगी समझे। अतः फ्रांस के पतन का उसने चुंग किंग सरकार का प्रतिरोध करने के लिये उपयोग किया और ३० अगस्त, १९४० को श्री देकू के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार (१) इन्डोचायना की फ्रेंच सरकार ने जापान को यह अनुमति प्रदान की, कि वह अपनी सेनायें तोन्किन के प्रदेश में रख सके, और (२) जापान इन्डोचायना को सैन्य सञ्चालन के लिये आधार के रूप में प्रयुक्त कर सके। इस समझौते का उद्देश्य यह था, कि ब्रिटेन और अमेरिका इन्डोचायना के मार्ग से चुंगकिंग सरकार को सहायता न पहुंचा सकें और जापान इस देश का चीन के विरुद्ध युद्ध के लिये उपयोग कर सके।

३० अगस्त, १९४० के समझौते का लाभ उठाकर जापान ने अपनी सेनायें इन्डोचायना में भेजनी प्रारम्भ कर दी। दक्षिण-पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में जापान की जो नीति थी, उसके अनुसार वह इस भूखण्ड से पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का अन्त करना चाहता था और वहां ऐसी सरकारें कायम करना चाहता था, जो जापान के प्रभाव में हो। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये जापान यह आवश्यक समझता था, कि इन्डो-चायना में अपनी इतनी अधिक सेनायें भेज दी जावें, जो उपयुक्त अवसर उपस्थित होने पर सियाम (थाइलैंड), मलाया, बरमा आदि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकें। इसी कारण १९४० का अन्त होने से पूर्व ही बहुत सी जापानी सेनायें इन्डो चायना पहुंच गईं और वहां की फ्रेञ्च सरकार जापान के सम्मुख सर्वथा असहाय हो गई। यद्यपि इस समय इन्डोचायना में फ्रांस का राजनीतिक प्रभुत्व विद्यमान था, पर श्री देकू की सरकार जापान का किसी भी प्रकार विरोध कर सकने में सर्वथा असमर्थ थी। पर यह नहीं समझना चाहिये, कि इन्डोचायना में ऐसे फ्रेञ्च लोगों का सर्वथा अभाव था, जो इस समय जापान के सैनिक प्रभुत्व का प्रतिरोध करने में तत्पर हों। उसके फ्रेञ्च नागरिक श्री देकू की नीति से असन्तुष्ट थे और इस प्रकार के गुरीला युद्ध में संलग्न थे, जिसका प्रयोजन इन्डोचायना में विद्यमान जापानी सेनाओं को नुकसान पहुंचाना था।

**राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास**—महायुद्ध (१९३९-४५) के प्रारम्भ से पूर्व भी इन्डो-चायना में राष्ट्रीय स्वधीनता का आन्दोलन विद्यमान था। यद्यपि इन्डो-चायना के सब निवासी जाति, नसल, भाषा, संस्कृति आदि की दृष्टि से एक नहीं थे, पर उन सबमें फ्रांस के विदेशी शासन का विरोध कर राष्ट्रीय स्वाधीनता की स्थापना की आकांक्षा समान रूप से विद्यमान थी। इन्डो-चायना में जो अनेक दल स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील थे, उन्हें हम निम्नलिखित भागों में विभक्त

कर सकते हैं—(१) फाम-पुइन्हो दल—यह इन्डो-चायना का नरम दल था, जो फ्रांस के साथ सम्बन्ध बनाये रख कर शासन सुधार से सन्तुष्ट था। इस दल के लोग चाहते थे, कि इन्डो-चायना फ्रांस के साम्राज्य के अन्तर्गत रहे, पर धीरे धीरे देश के शासन में इस प्रकार के सुधार कर दिये जावें, जिनसे इन्डोचाइनीज लोगों को शासन में हाथ बटाने का अवसर प्राप्त हो। (२) क्रान्तिकारी दल—इसमें अनाम के नवयुवक देशभक्त सम्मिलित थे। ये अपने देश को फ्रांस की अधीनता से मुक्त करके पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के पक्षपाती थे। १९२८ तक इस दल में कम्युनिस्ट लोग भी शामिल थे। पर बाद में कम्युनिस्टों का राष्ट्रीय क्रान्तिकारी दल से मतभेद हो गया और उन्होंने अपना पृथक् दल बना लिया। (३) आतंकवादी दल—इस दल के लोग फ्रेञ्च शासन का अन्त करने के लिये आतंकवादी उपायों का अवलम्बन करने के पक्षपाती थे और इन्डो-चायना से बाहर कैन्टन को अपना आश्रय स्थान बना कर अपने कार्य में तत्पर थे।

महायुद्ध के समय ये सब दल अपने अपने ढंग से इन्डो-चायना की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील रहे। क्रान्तिकारी दल के लोग और विशेषतया कम्युनिस्ट लोग महायुद्ध को अपने देश की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये एक सुवर्णीय अवसर समझते थे और इसीलिये उन्होंने गुप्तरूप से श्री देकू की सरकार का प्रतिरोध करना प्रारम्भ कर दिया था। इन लोगों ने अनेक गुप्त समितियां कायम कर ली थीं, जो फ्रेञ्च शासन और जापान के सैनिक प्रभुत्व का समान रूप से प्रतिरोध कर रही थीं। इन देशभक्त लोगों ने गुरील्ला युद्धनीति का अनुसरण कर फ्रांस और जापान के आफिसरों पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे और विदेशी सरकार के कार्य को कठिन बना दिया था। महायुद्ध के समय में इन लोगों के लिये यह तो सम्भव नहीं था, कि ये खुले मैदान में आकर स्पष्टरूप से फ्रांस या जापान की शक्ति का मुकाबला कर सकें, पर ये गुरील्ला पद्धति का अनुसरण कर अपने देश को स्वतन्त्र कराने में तत्पर थे।

**वियत मिन्ह सरकार की स्थापना**—मार्च, १९४५ में महायुद्ध की परिस्थिति ऐसी हो गई थी, कि जापान के लिये अपने विशाल साम्राज्य व प्रभावक्षेत्र को संभाल सकना सम्भव नहीं रहा था। जर्मनी देर तक मित्रराज्यों का मुकाबला करता रह सकेगा, इसकी कोई आशा नहीं रह गई थी। अगस्त, १९४४ में फ्रांस जर्मनी के आधिपत्य से स्वतन्त्र हो गया था और जनरल द गॉल के नेतृत्व में फ्रांस की सरकार का पुनः संगठन कर लिया गया था। मार्शल पेतां की विशी सरकार का पतन हो गया था और इन्डो-चायना में श्री देकू की स्थिति बहुत डांवाडोल हो गई थी। इस दशा में जब १९४५ में जापान ने अपनी सेनाओं को धीरे-धीरे दक्षिण-पूर्वी एशिया

से हटाना शुरू किया, तो मार्च मास में इन्डोचायना से भी उसने अपनी सेनाएं वापस बुला लीं। जापान की सेनाओं के वापस चले जाने पर श्री देकू के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह इन्डो-चायना में फ्रांस के प्रभुत्त्व को कायम रख सके। इस दशा में राष्ट्रवादी देशभक्तों ने इन्डो-चायना की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी, और विएत मिन्ह नाम से अपनी स्वतन्त्र सरकार का संगठन कर लिया। इस सरकार का नेता हो ची मिन्ह था, जो कट्टर राष्ट्रवादी होने के साथ साथ कम्युनिज्म का मानने वाला था। हो ची मिन्ह के क्रान्तिकारी अनुयायी देर से इन्डो-चायना की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील थे और महायुद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाकर गुरीला युद्ध पद्धति का अनुसरण कर फ्रेञ्च आधिपत्य का प्रतिरोध करने में तत्पर थे। अगस्त, १९४५ में जब जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया, तो हो ची मिन्ह और उसके क्रान्तिकारी अनुयायियों को अपनी मनोकामना की पूर्त्ति का सुअवसर मिला। उन्होंने अनाम के राजा या सम्राट् बाओ दाई की सत्ता की सर्वथा उपेक्षा कर इन्डो-चायना में 'विएत नाम' नाम से रिपब्लिकन राज्य की घोषणा कर दी और अपने को फ्रेञ्च आधिपत्य से पूर्णरूप से मुक्त कर लिया। हम इस पुस्तक में पहले लिख चुके हैं, कि इन्डो-चायना अनेक राज्यों व प्रदेशों में विभक्त था। इनमें से कम्बोडिया और अनाम में प्राचीन राजवंशों का शासन था। फ्रेञ्च आधिपत्य में कम्बोडिया और अनाम के राजाओं की वही स्थिति थी, जो भारत के ब्रिटिश शासकों की अधीनता में ग्वालियर, रामपुर आदि रियासतों के राजाओं की थी। अनाम के राजा को 'सम्राट्' कहा जाता था, यद्यपि वह इन्डो-चायना के फ्रेञ्च गवर्नर जनरल के हाथों में कठपुतली मात्र था। इस समय अनाम का सम्राट् बाओ दाई था। पर जब हो ची मिन्ह के नेतृत्त्व में विएत नाम रिपब्लिक की स्थापना हो गई, तो सम्राट् बाओ दाई के लिये अपने पद को कायम रख सकना सम्भव नहीं रहा। २५ अगस्त, १९४५ को बाओ दाई ने सम्राट् पद का परित्याग कर दिया और २ सितम्बर, १९४५ को विएत नाम रिपब्लिक का शासन सम्पूर्ण अनाम पर नियमित व व्यवस्थित रूप में कायम हो गया।

**इन्डो-चायना के सम्बन्ध में फ्रांस की नीति**—पर फ्रांस के लिये यह सम्भव नहीं था, कि इन्डो-चायना के अपने साम्राज्य को इस ढंग से अपनी अधीनता से मुक्त हो लेने दे। यद्यपि महायुद्ध के समय मित्र राज्य डंके की चोट के साथ यह उद्घोषित करते थे, कि वे मानव स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के लिये नाजी व फैसिस्ट प्रवृत्तियों के साथ संघर्ष कर रहे हैं, पर महायुद्ध में विजयी होने के बाद उन्होंने अपने सिद्धान्तों और आदर्शों को ताक में रख दिया था। ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड और अमेरिका दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने खोये हुए साम्राज्य की पुनः स्थापना के लिये

तत्पर थे। फ्रांस ने इन्डो-चायना के सम्बन्ध में जिस नीति का निर्धारण किया था, उसके मुख्य तत्त्व निम्नलिखित थे----(१) फ्रांस के विशाल साम्राज्य को एक यूनियन के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, जिसमें फ्रांस के अतिरिक्त उसके अधीनस्थ देश भी अन्तर्गत हों। (२) इन्डो-चायना इस फ्रेञ्च यूनियन का एक अंग हो। (३) इन्डो-चायना के चार संरक्षित राज्यों और कोचीन चायना को मिलाकर एक संघर्ग (फिडरेशन) बनाया जाय और इस फिडरेशन में राजकीय पदों को प्राप्त करने का इन्डो-चायना के सब नागरिकों को समान रूप से अवसर प्रदान किया जाय। (४) इन्डो-चाइनीज फिडरेशन की परराष्ट्रनीति और सेना का सञ्चालन फ्रेञ्च सरकार के हाथों में रहे। राज्य के आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में इन्डो-चाइनीज फिडरेशन को स्वतन्त्रता प्राप्त रहे। (५) फ्रेञ्च यूनियन में सर्वत्र सरकारी नौकरी प्राप्त करने का यूनियन के सब नागरिकों को समान रूप से अवसर हो।

फ्रेञ्च यूनियन की यह योजना ब्रिटिश कामनवेल्थ की योजना से अनेक अंशों में मिलती है। महायुद्ध के बाद फ्रांस के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह इन्डो-चायना आदि साम्राज्यान्तर्गत देशों पर पहले के समान अपना आधिपत्य स्थापित रख सके। अतः उसने फ्रेञ्च यूनियन की योजना तैयार की थी, जिसके द्वारा इन्डो-चायना आदि देशों को अपने आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती थी। पर विदेशी मामलों और सेना पर उनका नियन्त्रण नहीं होता था। यह सम्भव नहीं था, कि इन्डो-चायना के राष्ट्रवादी नेता फ्रेञ्च यूनियन की योजना को स्वीकृत कर सकते। वे पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे। उनमें राष्ट्रीय स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद की भावना इस हद तक उत्पन्न हो चुकी थी, कि वे फ्रांस के आधिपत्य को आंशिक रूप में भी स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं थे।

**फ्रांस के आधिपत्य की पुनः स्थापना**---मार्च, १९४५ में जापानी सेनाएँ इन्डो-चायना को छोड़कर चली गई थीं। यदि इसके बाद फ्रेञ्च सेनाएँ अच्छी बड़ी संख्या में तुरन्त इन्डो-चायना पहुंच जातीं, तब फ्रांस के लिये यह सम्भव होता, कि वह एक बार फिर इस देश पर पहले के समान अपने आधिपत्य को स्थापित कर सकता। पर अभी महायुद्ध की परिस्थितियां ऐसी नहीं थीं, कि फ्रेञ्च सेनाएँ अच्छी बड़ी संख्या में सुदूर पूर्व में पहुंच सकतीं। अगस्त, १९४५ में जापान के आत्मसमर्पण कर देने पर इन्डो-चायना पर अधिकार स्थापित करने का कार्य मित्रराज्यों की ओर से ब्रिटेन और चीन के सुपुर्द किया गया। यह व्यवस्था की गई, कि ब्रिटिश सेनाएँ दक्षिणी इन्डो-चायना पर और चीनी सेनाएँ उत्तरी इन्डो-चायना पर कब्जा करें, ताकि सर्वत्र व्यवस्था स्थापित की जा सके। पर मार्च और अगस्त के बीच के

महीनों में इन्डो-चायना में कोई भी ऐसी राजशक्ति नहीं थी, जो हो ची मिन्ह की वियत नाम सरकार का मुकाबला कर सकती। परिणाम यह हुआ, कि इस काल में हो ची मिन्ह के दल ने अनाम में अपनी स्थिति को बहुत मजबूत कर लिया। अगस्त, १९४५ तक न केवल अनाम अपितु तोन्किन और कोचीन चायना भी हो ची मिन्ह की अधीनता में आ गये थे।

ब्रिटिश सेनाओं ने सबसे पूर्व सैगोन पर अपना कब्जा कायम किया। इससे पूर्व सैगोन वियत नाम सरकार के अधीन था। ब्रिटिश सेनाओं ने सैगोन पर तो अपना अधिकार कायम कर लिया था, पर उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे इन्डो-चायना में और अधिक आगे बढ़ सकें, क्योंकि वियत नाम सरकार की सेनाएँ उनका मुकाबला करने के लिये तत्पर थीं। ब्रिटिश सेनाओं ने इसके लिये विशेष प्रयत्न भी नहीं किया। सैगोन को अपने कब्जे में करके उन्होंने उसे फ्रांस के सुपुर्द कर दिया और अब सम्पूर्ण इन्डो-चायना पर अपने प्रभुत्त्व की पुनः स्थापना का कार्य फ्रांस की सेनाओं के हाथों में आ गया। १९४६ के शुरू तक फ्रेञ्च सेनायें अच्छी बड़ी संख्या में सैगोन पहुंच गई थीं और फ्रेञ्च सरकार स्वाभाविक रूप से इस प्रयत्न में लगी थी, कि इन्डो-चायना पर फिर से अपने आधिपत्य को स्थापित कर ले। फ्रेञ्च लोगों ने यत्न किया, कि वियत नाम सरकार के नेताओं को फ्रेञ्च यूनियन की योजना को स्वीकृत कर लेने के लिये तैयार कर लें। पर अपने इस प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं हुई। अब फ्रांस के सम्मुख केवल यही मार्ग अवशिष्ट था, कि वह वियत नाम सरकार को युद्ध द्वारा परास्त करे।

**वियत नाम और फ्रांस**—उत्तरी इन्डो-चायना में जापान के प्रभाव का अन्त कर व्यवस्था स्थापित करने का कार्य चीनी सरकार के सुपुर्द किया गया था। चीनी लोगों ने यह यत्न नहीं किया, कि वियत नाम सरकार के खिलाफ संघर्ष करें या उसके शासन-कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करें। अतः उत्तरी इन्डो-चायना में वियत नाम सरकार की सत्ता अक्षुण्ण रूप से कायम रही। पर फ्रांस इस बात के लिये उत्सुक था, कि जिस प्रकार सैगोन में उसकी सेनाएँ प्रविष्ट हुई हैं, वैसे ही उत्तरी इन्डो-चायना में भी प्रविष्ट हो जावें और चीनी सेनाओं का स्थान फ्रेञ्च सेनाएँ ले लें। पर यह बात तभी सम्भव थी, जब कि या तो फ्रांस वियत नाम सरकार के साथ युद्ध करे और या किसी प्रकार समझौते द्वारा वियत नाम सरकार को इसके लिये राजी कर ले। ६ मार्च, १९४६ को फ्रांस ने वियत नाम सरकार के साथ एक समझौता किया, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) फ्रांस यह स्वीकार करता है, कि वियत नाम रिपब्लिक की स्थिति एक स्वतन्त्र राज्य की है, और उसे यह अधिकार है, कि वह अपनी पृथक् सरकार, पृथक् पार्लियामेन्ट और पृथक् सेना

रख सके। (२) विएत नाम रिपब्लिक इन्डो-चाइनीज फिडरेशन के अन्तर्गत रहेगी और इन्डो-चाइनीज फिडरेशन फ्रेञ्च यूनियन का अंग बनकर रहेगा। (३) विएत नाम रिपब्लिक का शासन किन-किन प्रदेशों में हो, यह बात लोकमत (रिफरेन्डम) द्वारा निश्चित की जायगी। (४) फ्रेञ्च सेनाएँ तोन्किन में प्रवेश कर सकेंगी। (५) इस समझौते के बाद जब फ्रांस और विएत नाम रिपब्लिक के पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हो जावें, तो परस्पर बातचीत द्वारा यह बात तय की जाय, कि विएत नाम का अन्य विदेशी राज्यों के साथ क्या और किस प्रकार का सम्बन्ध रहे।

६ मार्च, १९४६ का यह समझौता हनोई समझौते के नाम से प्रसिद्ध है, और इन्डो-चायना के आधुनिक इतिहास में इसका बहुत अधिक महत्त्व है। यद्यपि विएत नाम सरकार के नेता पूर्ण स्वाधीनता चाहते थे और अपने देश पर किसी भी प्रकार के फ्रेंच प्रभुत्त्व को स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं थे, पर समय की परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर उन्होंने यही उचित समझा, कि वे फ्रांस के साथ समझौता कर लें, और फ्रेञ्च यूनियन के अन्तर्गत रहते हुए अपने देश की उन्नति के लिये प्रयत्नशील हों। हनोई समझौते के परिणामस्वरूप फ्रेञ्च सेनाएँ तोन्किन में प्रविष्ट हो गईं और हनोई नगर में उन्होंने अपनी छावनी डाल दी। अब दक्षिण में सैगोन में और उत्तर में हनोई में फ्रेञ्च सेनाओं ने अपना कब्जा कर लिया था, पर इनके बीच का सब प्रदेश विएत नाम सरकार के शासन में था।

पर ६ मार्च, १९४६ का यह समझौता देर तक कायम नहीं रह सका। जिन प्रश्नों पर फ्रेञ्च और विएत नाम सरकारों में परस्पर मतभेद उत्पन्न हुआ, वे निम्नलिखित थे—(१) सैगोन में फ्रेंच सेनाओं की सत्ता के कारण फ्रांस ने कोचीन चायना में एक पृथक् सरकार की स्थापना कर दी थी, जो विएत नाम रिपब्लिक की अधीनता में नहीं थी। कोचीन चायना विएत नाम रिपब्लिक के अन्तर्गत हो या नहीं, इस प्रश्न का निर्णय रिफरेन्डम द्वारा किया जाना चाहिये था। पर फ्रांस ने अपनी सैन्य शक्ति के जोर पर इस प्रदेश में पृथक् सरकार का निर्माण कर लिया था, जिसको विएत नाम सरकार स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं थी। (२) फ्रेञ्च लोग समझते थे, कि इन्डो-चायना में जिस फिडरेशन का निर्माण किया जाना है, उसका अध्यक्ष फ्रांस द्वारा नियुक्त हाई कमिश्नर होगा, जो कि फिडरेशन के अन्तर्गत सब राज्यों पर अपना नियन्त्रण रखेगा। इसके विपरीत विएत नाम रिपब्लिक के नेताओं का यह विचार था, कि इन्डो चाइनीज फिडरेशन के अन्तर्गत सब राज्यों की स्थिति स्वतन्त्र राज्यों के सदृश होगी और वे केवल आर्थिक क्षेत्र में सहयोग करने के उद्देश्य से ही फिडरेशन में सम्मिलित होंगे।

इन मतभेदों को दूर करने के लिये अनेक प्रयत्न किये गये। १९४६ में कई बार

फ्रांस और विएत नाम रिपब्लिक के प्रतिनिधियों की सम्मिलित कान्फरेन्सें हुईं। पर ये मतभेद दूर नहीं हो सके। परिणाम यह हुआ, कि हनोई समझौता भंग हो गया और फ्रांस और विएत नाम रिपब्लिक में युद्ध प्रारम्भ हो गया। विएत नाम सरकार के नेताओं की सैन्य शक्ति इतनी नहीं थी, कि वे फ्रेन्च सेनाओं का सम्मुख-युद्ध में मुकाबला कर सकते। १९४६ में बहुत सी फ्रेंच सेनाएँ सैगोन और हनोई में पहुंच गई थीं। इन सेनाओं को परास्त कर सम्पूर्ण तोन्किन, अनाम और कोचीन चायना में अपने प्रभुत्व की स्थापना कर सकना विएत नाम सरकार के लिये सुगम नहीं था। पर विएत नाम में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना इतनी अधिक प्रबल थी, कि फ्रांस के लिये भी उसको दबा सकना सम्भव नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि हो ची मिन्ह और उसके साथियों ने गुरीला युद्धनीति का आश्रय लिया और फ्रेंच सेनाओं के कार्य को बहुत अधिक कठिन बना दिया। फ्रांस और विएत नाम रिपब्लिक का यह युद्ध दिसम्बर, १९४६ में शुरू हो गया था।

**बाओ दाई की सरकार**—हो ची मिन्ह के साथ युद्ध शुरू हो जाने पर फ्रेन्च सरकार ने यह आवश्यक समझा, कि इन्डो-चायना में एक ऐसी सरकार कायम की जाय, जो उसके हाथ की कठपुतली हो। महायुद्ध के बाद संसार में सर्वत्र राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियां जिस ढंग से प्रबल हो गई थीं, उसके कारण फ्रांस के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह इन्डो-चायना पर पहले के समान अपना शासन स्थापित कर सके। अतः उसने यह निश्चय किया, कि इन्डो-चायना में एक ऐसी सरकार कायम कर दी जाय, जो कम्युनिज्म की विरोधी हो और जो फ्रांस के आदेशों का अनुसरण करती हुई हो ची मिन्ह के विरुद्ध युद्ध जारी करने का कार्य कर सके। हम इसी प्रकरण में ऊपर लिख चुके हैं, कि २५ अगस्त, १९४५ को अनाम के सम्राट् बाओ दाई ने अपने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया था, क्योंकि विएत नाम रिपब्लिक की स्थापना हो जाने के कारण उसके लिये अपने पद पर रह सकना सम्भव नहीं रहा था। इन्डो-चायना छोड़कर यह बाओ दाई यूरोप चला गया था, और लण्डन में अपना समय बिता रहा था। दिसम्बर, १९४७ में ब्रिटेन में स्थित फ्रेन्च राजदूत की बाओ दाई के साथ मुलाकात हुई। वहां उसके सम्मुख यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया, कि वह अपने देश को वापस जाकर उसके शासन को फिर से संभाल ले। इंडो-चायना में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो हो ची मिन्ह की समाजवादी प्रवृत्तियों के विरोधी थे। फ्रांस को आशा थी, कि ये सब कम्यु-निस्ट विरोधी लोग बाओ दाई का समर्थन करेंगे और उनकी सहायता से बाओ दाई एक ऐसी सरकार का निर्माण कर सकने में समर्थ हो सकेगा, जो विएत मिन्ह दल की विरोधी होगी। फ्रेन्च सेनाओं की सहायता से बाओ दाई की सरकार विएत नाम

रिपब्लिक को परास्त कर सकेगी और इन्डो-चायना में एक ऐसा शासन स्थापित हो जायगा, जो न केवल कम्युनिज्म का विरोधी होगा, अपितु साथ ही फ्रांस का वशवर्ती भी होगा।

मार्च, १९४९ में फ्रांस के राष्ट्रपति श्री ऑरयोल और बाओ दाई में इन्डो-चायना के सम्बन्ध में बाकायदा सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार इन्डो-चायना का शासन-अधिकार फ्रांस ने बाओ दाई के सुपुर्द कर दिया। यद्यपि बाओ दाई फ्रांस की तरफ से इन्डो-चायना का शासक बना दिया गया था, पर इस देश के बड़े भाग पर हो ची मिन्ह की सरकार का कब्जा था। बाओ दाई इन्डो-चायना पर अपना प्रभुत्व तभी स्थापित कर सकता था, जब कि वह वियत नाम रिपब्लिक की सेनाओं को युद्ध में परास्त करे। पर इस कार्य में फ्रांस उसकी सहायता करने के लिये उद्यत था। एक लाख से भी अधिक फ्रेञ्च सैनिक बाओ दाई की सहायता के लिये इन्डो-चायना भेज दिये गये। ये सैनिक सब प्रकार के आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे और हो ची मिन्ह की सरकार के लिये यह सुगम नहीं था, कि वह उनका सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकती। परिणाम यह हुआ, कि हो ची मिन्ह और बाओ दाई की सेनाओं में बाकायदा युद्ध प्रारम्भ हो गया। रूस, कम्युनिस्ट चीन आदि अनेक देशों ने हो ची मिन्ह की सरकार को इन्डोचायना की वैध सरकार के रूप में स्वीकृत किया और अमेरिका फ्रांस, ब्रिटेन आदि ने बाओ दाई की सरकार को। शुरू में हो ची मिन्ह की वियत नाम सरकार पूर्णरूप से कम्युनिस्ट नहीं थी। उसका उद्देश्य इन्डो-चायना में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना करना था। पर फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका आदि के विरोध के कारण और बाओ दाई के नेतृत्व में एक विरोधी सरकार की स्थापना हो जाने से इन्डो-चायना में जो लोग कम्युनिज्म के पक्षपाती थे, वे हो ची मिन्ह की सरकार का समर्थन करने लगे और कम्युनिज्म के विरोधी इन्डो-चाइनीज लोग बाओ दाई की सरकार के पक्ष में हो गये। इस प्रकार इन्डो-चायना में कम्युनिज्म और पूंजीवादी प्रवृत्तियों में परस्पर संघर्ष का प्रारम्भ हुआ, जो इस समय संसार के बहुत से देशों में जारी है।

## (२) थाइलैंड

महायुद्ध से पूर्व दक्षिण-पूर्वी एशिया में सियाम या थाइलैण्ड ही एक ऐसा देश था, जो राजनीतिक दृष्टि से किसी पाश्चात्य देश के अधीन नहीं था। बरमा (ब्रिटेन के अधीन) और इन्डो-चायना (फ्रांस के अधीन) के बीच में उसकी स्थिति प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि भारत और रूस के बीच में अफगानिस्तान की थी। सियाम

के राजनीतिक इतिहास पर हम पहले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। १९३० के बाद जापान जिस प्रकार पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति के विस्तार में लगा था, सियाम के लोग उससे भली-भांति परिचित थे। मञ्चूरिया से चीन के शासन का अन्त कर जापान ने वहां मञ्चूकुओ नामक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। बाद में द्वितीय चीन-जापान युद्ध के परिणामस्वरूप जापान ने पूर्वी व दक्षिणी चीन पर अपना प्रभाव व प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इन बातों को देखकर, सियाम के राजनीतिक नेताओं का यह विश्वास दृढ़ हो गया था, कि जापान का भविष्य बहुत उज्ज्वल है, और वह समय दूर नहीं है, जब कि जापान सम्पूर्ण पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया का नेतृत्व करेगा और पाश्चात्य देश उसकी शक्ति के सम्मुख खड़े नहीं रह सकेंगे। इसीलिये सियाम की सरकार जापान के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उत्सुक थी। १९३२ में जब मञ्चूरिया के प्रश्न पर राष्ट्रसंघ में जापान के विरुद्ध प्रस्ताव उपस्थित किया गया, तो सियाम इस प्रस्ताव पर उदासीन रहा। मई, १९३८ में सियाम और जापान ने परस्पर मिलकर एक सन्धि की, जिसके अनुसार जापानी नागरिकों को सियाम में व्यापार करने, कारोबार खोलने, मकान व जमीन को किराये पर लेने, जायदाद खरीदने व पट्टे पर लेने और बसने के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई। जून, १९४४ में सियाम ने जापान के साथ एक और सन्धि की। इस सन्धि का उद्देश्य यह था, कि इन्डो-चायना के वे पश्चिमी प्रदेश, जहां थाई लोग बहुसंख्या में निवास करते थे, अब सियाम को प्राप्त हो जावें। जून, १९४० में फ्रांस का पतन हो गया था और इन्डो-चायना की फ्रेञ्च सरकार के साथ जापान ने समझौता कर लिया था। इस समझौते के अनुसार जापानी सेनाएँ इन्डो-चायना में प्रवेश कर गई थीं, और फ्रांस द्वारा शासित यह देश जापान के प्रभाव में आ गया था। फ्रांस की निर्बलता से लाभ उठाकर सियाम ने यह उपयुक्त समझा, कि इन्डो-चायना के जिन पश्चिमी प्रदेशों में थाई लोग बड़ी संख्या में निवास करते हैं, उन्हें अपने देश के साथ मिला लिया जाय। इसके लिये उसे सैन्यशक्ति के प्रयोग की आवश्यकता नहीं हुई। इन्डो-चायना की फ्रेञ्च सरकार इस समय इस स्थिति में नहीं थी, कि वह जापान की उपेक्षा कर सके। क्योंकि जापान सियाम का मित्र था, और यह चाहता था, कि थाई लोगों द्वारा आबाद ये प्रदेश सियाम को प्राप्त हो जावें, अतः इन्डो-चायना की सरकार ने इस क्षेत्र में कोई बाधा नहीं डाली और सियाम को अपने विस्तार का अवसर हाथ लग गया।

जापान ने थाई लोगों द्वारा आबाद प्रदेशों को इन्डोचायना से सियाम को दिलाने में सहायता की थी, अतः सियाम और जापान के पारस्परिक सम्बन्ध और भी

अधिक मित्रतापूर्ण हो गये। दिसम्बर, १९४१ में जब जापान ने महायुद्ध में प्रवेश किया, तो सियाम ने भी उसका साथ दिया। २१ दिसम्बर, १९४१ को जापान और सियाम में परस्पर सन्धि हो गई, जिसके अनुसार सियाम ने भी ब्रिटेन और अमेरिका के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। महायुद्ध के समय में सियाम की सरकार पूर्णरूप से जापान की वशवर्ती थी। जापान ने स्थलमार्ग द्वारा जो मलाया और बरमा पर आक्रमण किया था, उसके लिये उसकी सेनाओं ने सियाम के स्थल-मार्ग का स्वच्छन्द रूप से उपयोग किया था। सियाम की सरकार ने जापान की सेनाओं को अपने प्रदेश से गुजरने की अनुमति ही नहीं दी थी, अपितु उनकी पूर्णरूप से सहायता भी की थी। इस समय सियाम की सरकार का प्रधान नेता श्री लुआंग पिबुल संग्राम था, जो जापान का प्रबल समर्थक था। पर सियाम में ऐसे लोगों का भी अभाव नहीं था, जो अपने देश में जापान के प्रभाव व प्रभुत्व के विरोधी थे। महायुद्ध के अन्तिम दिनों में इन लोगों ने जापान के विरुद्ध मित्रराज्यों की सहायता भी की थी।

महायुद्ध में जब जापान परास्त हो गया, तो सियाम पर कब्जा करने का कार्य मित्रराज्यों की ओर से ब्रिटेन के सुपुर्द किया गया। ब्रिटिश सेनाओं ने सियाम पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया और वहां की सरकार के सम्मुख निम्नलिखित मांगें पेश कीं—(१) सियाम की सरकार पूर्णतया ब्रिटिश शासकों के नियन्त्रण में रहे। (२) सियाम का विदेशी व्यापार ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा संचालित हो। (३) जब तक कि मित्रराज्य सियाम को संयुक्त राज्यसंघ (यूनाइटेड नेशन्स आर्गनिजेशन) का सदस्य बनाना स्वीकार न कर लें, सियाम की स्थिति ब्रिटेन के संरक्षित राज्य (प्रोटेक्टरेट) के सदृश रहे। पर सियाम के राष्ट्रवादी नेता ब्रिटेन की इन मांगों को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान सियाम में भी महायुद्ध के समय राष्ट्रीयता की भावना अत्यन्त उग्र-रूप धारण कर चुकी थी। सियाम में भी राष्ट्रवादी देशभक्तों का एक ऐसा दल विद्यमान था, जो अपने देश पर जापान के बढ़ते हुए प्रभाव को अत्यन्त अनुचित समझता था। इस दल के नेता श्री लुआंग प्रदीत थे। श्री लुआंग प्रदीत और उनके अनुयायी जब अपने देश पर जापान के प्रभाव को सहने के लिये तैयार नहीं थे, तो उनके लिये यह कैसे सम्भव हो सकता था, कि वे सियाम को ब्रिटेन का संरक्षित राज्य बनने दें। उन्होंने ब्रिटेन का प्रचण्डरूप से विरोध किया। आखिर, १ जनवरी, १९४६ को ब्रिटेन और सियाम में सन्धि हो गई, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) ७ दिसम्बर, १९४१ को सियाम की जो सीमायें थीं, वे ही अब भी रहें। (२) सियाम में १९४१ तक ब्रिटिश लोगों को व्यापार आदि के सम्बन्ध में जो विशेष

अधिकार प्राप्त थे, उन्हें फिर से स्वीकृत किया जाय। (३) महायुद्ध के समय सियाम के कारण ब्रिटेन को जो नुकसान उठाना पड़ा था, सियाम की सरकार उसकी क्षतिपूर्ति करने के लिये उपयुक्त हरजाना प्रदान करे।

श्री लुआंग प्रदीत और उनके साथियों ने ब्रिटेन की इन मांगों को स्वीकृत करके अपने देश की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को कायम रख लिया। २८ एप्रिल, १९४७ को सियाम या थाईलैण्ड संयुक्तराज्य संघ का सदस्य बना लिया गया और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसकी प्रायः वही स्थिति कायम रही, जो महायुद्ध के पहले थी।

महायुद्ध की समाप्ति पर सियाम के शासन में भी अनेक सुधार किये गये। पिछले एक अध्याय में हम सियाम के शासन पर प्रकाश डाल चुके हैं। वहां राजसत्ता कायम थी, यद्यपि राजा के शासन को मर्यादित करने के लिये पार्लियामेन्ट भी वहां विद्यमान थी। १९४६ में सियाम के लिये जो नया शासन विधान बना, उसमें पार्लियामेन्ट में दो सभाएँ रखी गईं। यह व्यवस्था की गई, कि दोनों सभाओं के सम्पूर्ण सदस्यों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा की जाय। मन्त्रिमण्डल को भी पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। राष्ट्रीय स्वाधीनता की दृष्टि से सियाम पहले भी एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य था। १९४६ के शासन विधान के कारण वहां लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्ति भी बहुत कुछ सफल हो गई। पर महायुद्ध के बाद लोकतन्त्र शासन की स्थापना के कारण सियाम की समस्याओं का अन्त नहीं हो गया। महायुद्ध के कारण संसार के बहुसंख्यक देशों में जो आर्थिक संकट प्रादुर्भूत हुआ था, उसका असर सियाम पर भी पड़ा और वहां भी अनेक ऐसे दल उत्पन्न हुए, जो समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे।

## (३) मलाया

महायुद्ध से पूर्व ब्रिटेन की अधीनता में मलाया की क्या दशा थी, इस विषय पर हम पहले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान मलाया में भी राष्ट्रीय स्वाधीनता की आकांक्षा विद्यमान थी और अनेक मलाया नेता अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील थे। जब जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त किया, तो मलाया में भी राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत बल मिला। मलाया से ब्रिटिश शासन का अन्त कर जब जापान ने वहां अपना सैनिक शासन स्थापित किया, तो राष्ट्रभक्त मलाया लोग उसका विरोध करने के लिये समानरूप से तत्पर हो गये। हम पहले लिख चुके हैं, कि मलाया में नौ राज्य थे, जिनमें वहां के पुराने वंशक्रमा-

नुगत सुल्तानों का शासन था । इन सुल्तानों की ब्रिटेन की अधीनता में वही स्थिति थी, जो भारत में देशी रियासतों के राजाओं की थी । इन नौ राज्यों के अतिरिक्त स्ट्रेट सैटलमेन्ट का राज्य सीधा ब्रिटेन के शासन में था । ब्रिटिश आधिपत्य के युग में इन दस राज्यों के निवासियों में अपने एक होने की अनुभूति भलीभांति विकसित नहीं हुई थी । पर जब जापान ने इन सब राज्यों को ब्रिटिश आधिपत्य से मुक्त कराके अपने सैनिक शासन के अधीन किया, तो मलाया के लोगों में राष्ट्रीय एकता की अनुभूति उत्पन्न हुई और उन्होंने एक साथ मिलकर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया । दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान मलाया में भी जापानी लोगों ने बाद में स्वराज्य की स्थापना की और इस देश के शासन का कार्य मलाया के लोगों के हाथों में सुपुर्द कर दिया ।

अगस्त, १९४५ में जापान के आत्म समर्पण कर देने के बाद सितम्बर, १९४५ में जब ब्रिटिश सेनाओं ने मलाया में प्रवेश किया, तो उन्होंने देखा कि इस देश में एक ऐसी सरकार स्थापित है, जिस पर राष्ट्रवादी देशभक्तों का प्रभुत्व है । इस स्थिति में ब्रिटिश लोगों के लिये यह बहुत सुगम नहीं था, कि वे मलाया पर पहले के समान अपना आधिपत्य स्थापित कर सकें । मलाया के देशभक्तों के लिये यह तो सम्भव नहीं था, कि वे शक्तिशाली ब्रिटिश सेनाओं का सम्मुख युद्ध में मुकाबला कर सकते । पर वे गरीला युद्धनीति का आश्रय लेकर अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये अवश्य प्रयत्न कर सकते थे । इस दशा में ब्रिटिश सरकार के लिये यह अनिवार्य हो गया, कि वह मलाया के सम्बन्ध में एक ऐसी नीति का अनुसरण करे, जिसे मलाया के राष्ट्रीय नेता स्वीकृत करने के लिये तैयार हों । अक्तूबर, १९४५ में ब्रिटिश सरकार की ओर से मलाया के सम्बन्ध में यह योजना प्रकाशित की गई, कि (१) मलाया के विविध राज्यों को मिलाकर एक यूनियन का निर्माण किया जाय, जिसमें मलाया के नौ पुराने राज्य (जिनपर सुल्तानों का शासन था) और स्ट्रेट्स सैटलमैन्ट अन्तर्गत हों । (२) सिंगापुर को इस यूनियन से बाहर रखा जाय, और वहां पर पहले के सदृश ब्रिटेन का शासन जारी रहे । (३) मलाया यूनियन का एक गवर्नर हो, जिसकी नियुक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा की जाय । यूनियन के शासन पर नियन्त्रण रखना इस गवर्नर का कार्य हो । (४) मलाया यूनियन में व्यवस्थापिका सभा का निर्माण किया जाय और इस सभा को देश के लिये कानून आदि बनाने के उपयुक्त अधिकार प्राप्त हों ।

पर मलाया के राष्ट्रीय नेता ब्रिटिश सरकार की इस योजना को स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं थे । इन नेताओं ने ब्रिटिश योजना का विरोध करने के लिये एक संगठन का निर्माण किया, जो 'युनाइटेड मलाया नेशनल आर्गेनिजेशन' के नाम

से प्रसिद्ध है। ब्रिटिश सरकार के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह मलाया के राष्ट्रीय नेताओं के विरोध की उपेक्षा कर सके। अतः उसकी तरफ से मलाया के सम्बन्ध में एक अन्य योजना बनाई गई, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) मलाया के दस राज्यों की पृथक् रूप से सत्ता कायम रहे, उनकी पृथक् सरकारें और पृथक् व्यवस्थापिका सभायें हों और उन्हें मिलाकर एक मलाया फिडरेशन (संवर्ग) का निर्माण किया जाय। फिडरेशन की पृथक् सरकार और पृथक् संघ सभा (फिडरल कौंसिल) बनाई जाय। (२) मलाया के शासन पर देखभाल रखने के लिये ब्रिटिश सरकार की ओर से एक हाई कमिश्नर की नियुक्ति की जाय। इस हाई कमिश्नर का कार्य राज्यकार्य में परामर्श देना हो, सरकार पर इसका सीधा नियन्त्रण न हो। शासनकार्य में मलाया के विविध राज्यों की सरकारों और संघ सरकार को अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रता व पूर्ण अधिकार प्राप्त हों।

युनाइटेड मलाया नेशनल आर्गनिजेशन के नेताओं को ब्रिटिश सरकार की यह नई योजना पसन्द थी, पर मलाया में ऐसे उग्र राष्ट्रवादी लोगों की कमी नहीं थी, जो अपने देश की पूर्ण स्वाधीनता के लिये उत्सुक थे और जो किसी भी रूप में ब्रिटिश आधिपत्य को सहने के लिये तैयार नहीं थे। इन लोगों ने मलाया नेशनलिस्ट पार्टी नाम से एक नये दल का संगठन किया और ब्रिटिश योजना का विरोध करना प्रारम्भ किया। मलाया नेशनलिस्ट पार्टी की मुख्य मांगें निम्नलिखित थीं—(१) मलाया के संघराज्य में सिंगापुर को भी सम्मिलित किया जाय, (२) सम्पूर्ण मलाया के लिये जिस केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का निर्माण हो, उसके सब सदस्य निर्वाचित हों। संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों की विधान सभाओं के सदस्य भी निर्वाचन द्वारा नियुक्त हों, और (३) मलाया के सब स्थिर निवासियों को नागरिकता के अधिकार समान रूप से प्रदान किये जावें। मलाया की यह नेशनलिस्ट पार्टी न केवल ब्रिटिश आधिपत्य की विरोधी थी, अपितु साथ ही मलाया से सुलतानों के शासन का अन्त कर लोकतन्त्र शासन भी स्थापित करना चाहती थी। युनाइटेड मलाया नेशनल आर्गनिजेशन के नेता नरम दल के थे, वे ब्रिटेन के आधिपत्य को भी स्वीकृत करने के लिये उद्यत थे और प्राचीन वंशक्रमानुगत सुलतानों की सत्ता को भी कायम रखना चाहते थे।

ब्रिटिश सरकार के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह उग्र राष्ट्रवादी नेताओं (मलाया नेशनलिस्ट पार्टी) की मांगों को स्वीकृत कर सके। परिणाम यह हुआ, कि उसने १९४७ की योजना (जिसे युनाइटेड मलाया नेशनल आर्गनिजेशन ने स्वीकृत कर लिया था) के अनुसार मलाया के शासन का पुनः संगठन कर दिया। पर इससे मलाया की राजनीतिक समस्याओं का अन्त नहीं हो गया। १९४७ की

योजना को क्रिया में परिणत करने के बाद मलाया की नई सरकार को जिन मुख्य समस्याओं का सामना करना पड़ा, वे निम्नलिखित थीं—(१) मलाया के उग्र राष्ट्रवादी नेता अपने देश पर ब्रिटिश आधिपत्य को किसी भी रूप में सहन करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने संघर्ष को जारी रखा। (२) मलाया की जनता में चीनी और भारतीय लोगों की संख्या बहुत अधिक है। मलाया के अपने लोगों के अतिरिक्त इस देश में चीनी और भारतीय कितनी अधिक संख्या में निवास करते हैं, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। मलाया जाति के लोगों में जो राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो रही थी, उसके कारण उन्हें चीनी व भारतीय लोगों का अपने देश में बड़ी संख्या में निवास करना पसन्द नहीं था। मलाया देश मलाया के अपने लोगों के लिये है, यह भाव उनमें निरन्तर प्रबल होता जाता था। (३) जब चीन में समाजवादी व्यवस्था कायम हो गई और कम्युनिस्ट लोगों का चीन पर आधिपत्य स्थापित हो गया, तो मलाया में भी कम्युनिस्ट दल प्रबल होने लगा। विशेषतया मलाया में निवास करने वाले चीनी लोगों में कम्युनिज्म का प्रचार बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लगा और मलाया का कम्युनिस्ट दल अपने देश में समाजवादी शासन कायम करने के लिये प्रयत्नशील हो गया। मलाया के इस कम्युनिस्ट दल के साथ वहां के राष्ट्रवादी देशभक्तों की भी सहानुभूति थी, क्योंकि ब्रिटिश आधिपत्य का अन्त करने के लिये वे भी कम्युनिस्टों के समान ही प्रयत्नशील थे। परिणाम यह हुआ, कि उग्र राष्ट्रवादी नेताओं और कम्युनिस्टों के सम्मिलित प्रयत्न के कारण मलाया की सरकार के लिये अपने देश में शान्ति व्यवस्थापित कर सकना बहुत कठिन हो गया।

## (४) बरमा

जिस समय दिसम्बर, १९४१ में जापान ने महायुद्ध में प्रवेश किया, तब बरमा की क्या स्थिति थी, इस विषय पर हम पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। बरमा में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध प्रबल भावना विद्यमान थी, और अनेक उग्र राष्ट्रीय दल ब्रिटिश शासन का अन्त कर अपने देश की स्वाधीनता के लिये प्रयत्नशील थे। यही कारण है, कि जब जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त करते हुए बरमा पर आक्रमण किया, तो अनेक बरमी देशभक्त दलों ने प्रसन्नता और सन्तोष का अनुभव किया। उन्होंने समझा, कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने का यह सुवर्णीय अवसर है, और इसीलिये ब्रिटेन के आधिपत्य का अन्त करने में उन्होंने जापान के साथ सहयोग करने में भी संकोच नहीं किया। फरवरी, १९४२ तक जापान ने बरमा के बड़े भाग को

ब्रिटेन की अधीनता से स्वतन्त्र करा दिया था और प्रारम्भ में देश में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखने के लिये सैनिक शासन का संगठन किया था। पर जापानी लोग बरमा को अपनी अधीनता में रखने के स्थान पर वहां एक ऐसी बरमी सरकार कायम करना चाहते थे, जो पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त करने में जापान के साथ सहयोग करने को तैयार हो। इसीलिये उन्होंने १ अगस्त, १९४२ को बरमा में एक स्वतन्त्र बरमी सरकार का संगठन किया, जिसका अधिपति डा० बा मो को बनाया गया। डा० बा मो ब्रिटिश आधिपत्य के युग में बरमा के प्रधान मन्त्री रह चुके थे और राष्ट्रीय दल के प्रधान नेता थे। यही कारण है, कि ब्रिटिश सरकार के साथ कार्य कर सकना उनके लिये सम्भव नहीं रहा था और इसीलिये ब्रिटिश शासकों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया था। डा० बा मो का यह विचार था, कि जापान के साथ सहयोग करके बरमा न केवल अपने देश की स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है, अपितु साथ ही एशिया से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त करने में भी सहायक हो सकता है।

पर बरमा में इस प्रकार के नेताओं की भी कमी नहीं थी, जो बरमा में जापान के बढ़ते हुए प्रभाव व प्रभुत्व को पसन्द नहीं करते थे। इसमें सन्देह नहीं, कि जापान ने बरमा को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त कराया था। पर डा० बा मो की स्वतन्त्र बरमी सरकार जापान के प्रभाव व प्रभुत्व से मुक्त नहीं थी। महायुद्ध के अवसर पर संसार के प्रायः सभी देशों में इस प्रकार के आन्दोलन चल रहे थे, जिनका उद्देश्य फैसिज्म की प्रवृत्ति का विरोध करना था। इटली और जर्मनी के समान जापान भी फैसिस्ट विचारधारा का अनुयायी था और उसने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में जिन 'स्वतन्त्र सरकारों' की स्थापना की थी, वे फैसिस्ट विचारों से प्रभावित थीं। रूस के नेतृत्व में इस समय सर्वत्र एण्टि-फैसिस्ट प्रवृत्तियां प्रबल हो रही थीं, और इन फैसिस्ट-विरोधी लोगों की सहानुभूति कम्युनिस्टों के साथ थी। बरमा में जो लोग जापान के प्रभाव का अन्त कर विशुद्ध बरमी सरकार की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे, उनके प्रधान नेता जनरल आंग सान थे। उन्होंने 'एण्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग' (फैसिस्ट-विरोधी जन स्वातन्त्र्य सभा) नाम से एक नई संस्था का संगठन किया था, जिसका उद्देश्य बरमा से जापान के प्रभुत्व व प्रभाव का अन्त कर स्वतन्त्र बरमी [illegible] को स्थापित करना था।

जनवरी, १९४५ में ब्रिटिश सेनाओं ने बरमा पर आक्रमण किया, और कुछ ही समय में इस देश पर फिर से अपना अधिकार स्थापित कर लिया। पर ब्रिटेन के लिये अब यह सुगम नहीं था, कि वह बरमा पर पहले के समान अपना शासन स्थापित कर सके। बरमा के लोगों में राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना बहुत

प्रबल हो गई थी, और वे किसी भी प्रकार ब्रिटिश लोगों के शासन को सहने के लिये तैयार नहीं थे। विशेषतया एण्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग के नेता अपने देश की स्वाधीनता के लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार थे और वे किसी भी रूप में ब्रिटिश आधिपत्य को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं हो सकते थे।

पर ब्रिटिश लोग बरमा को फिर से अपनी अधीनता में लाने के लिये कटिबद्ध थे। जापानी आक्रमण के कारण बरमा की ब्रिटिश सरकार भारत चली आई थी और शिमला में रहकर उस दिन की प्रतीक्षा कर रही थी, जब कि उसे फिर से बरमा पर शासन करने का अवसर मिलेगा। रंगून की विजय के बाद मई, १९४५ में इस ब्रिटिश 'बरमी सरकार' की ओर से एक योजना प्रकाशित की गई, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) बरमा की वही स्थिति रहेगी, जो कि जापान के आक्रमण से पूर्व १९४१ में थी। (२) शुरू में बरमा पर ब्रिटिश गवर्नर का सीधा शासन कायम किया जायगा, और सम्पूर्ण राजशक्ति उसी के हाथों में होगी। (३) १९३५ में बरमा के शासन के लिये जो विधान ब्रिटिश पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत किया गया था, उसे फिर से लागू किया जायगा और जब बरमा में पूर्णरूप से शान्ति व व्यवस्था कायम हो जायगी, तब इस विधान के अनुसार व्यवस्थापिका सभा का नया निर्वाचन होगा और फिर से मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जायगा। पर इस स्थिति को लाने में तीन वर्ष के लगभग समय लग जायगा। (४) बरमा के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की यह नीति है, कि अन्ततोगत्वा वहां औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना की जाय। यदि बरमा के विविध राजनीतिक दल औपनिवेशिक स्वराज्य के सम्बन्ध में परस्पर सहमत होकर किसी नये शासन विधान का निर्माण कर सकने में समर्थ हो जावें, तो ब्रिटिश सरकार उसे स्वीकृत कर लेगी।

मई, १९४५ की इस ब्रिटिश योजना से बरमा के देशभक्त संतुष्ट नहीं थे। जापान की विजयों के कारण बरमा एक बार स्वाधीनता का आस्वाद ले चुका था। वहां के उग्र राष्ट्रवादी नेता जापान द्वारा स्थापित बरमी सरकार से भी सन्तुष्ट नहीं थे। इस दशा में यह कैसे सम्भव था, कि ये लोग अब ब्रिटिश आधिपत्य व शासन को सह सकें। परिणाम यह हुआ, कि आंग सान और उसके अनुयायियों ने ब्रिटिश शासन का विरोध करना शुरू किया और ब्रिटिश लोगों के लिये बरमा पर पहले के समान अपना शासन स्थापित कर सकना असम्भव हो गया। इस दशा में अगस्त, १९४६ में बरमा के नये ब्रिटिश गवर्नर सर हुबर्ट रान्स ने यह आवश्यक समझा, कि बरमा के राष्ट्रवादी नेताओं के साथ समझौता कर लिया जाय। उसने बरमा के शासन के लिये एक 'शासन सभा' (एक्जीक्यूटिव कौंसिल) का संगठन किया, जिसमें ग्यारह सदस्य रखे गये। इनमें से छः एण्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग के थे, और

पांच अन्य राजनीतिक दलों के । इस कौंसिल के निर्माण से बरमा के नेताओं ने संतोष अनुभव किया । पर यह व्यवस्था सामयिक रूप से की गई थी, और यह निश्चय किया गया था, कि बरमा के शासन के सम्बन्ध में स्थिर रूप से व्यवस्था करने के लिये लण्डन में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया जाय, जिसमें बरमा के नेता अपने देश की भावी व्यवस्था के विषय में निर्णय करने के लिये स्वतन्त्र हों । २० दिसम्बर, १९४६ को ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री द्वारा यह घोषणा की गई, कि बरमा को यह निर्णय करने की पूरी स्वतन्त्रता होगी, कि वह ब्रिटिश कामनवेल्थ का अंग बनकर रहना चाहता है, या उसके साथ कोई भी सम्बन्ध न रखकर पूर्ण स्वाधीनता चाहता है । वस्तुतः, इस समय ब्रिटेन के चतुर राजनीतिज्ञों ने यह भलीभांति अनुभव कर लिया था, कि बरमा पर अपना आधिपत्य कायम रख सकना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है । बरमा में राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना इतनी प्रबल हो चुकी थी, कि सैन्य शक्ति का उपयोग कर इस देश को अपने अधीन रख सकना असम्भव था ।

लण्डन कान्फरेन्स में बरमा की ओर से जो प्रतिनिधिमण्डल सम्मिलित हुआ, उसके प्रधान नेता श्री आंग सान थे । इस कान्फरेन्स ने जनवरी, १९४७ में जो निर्णय किया, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) बरमा का शासन विधान तैयार करने के लिये एक संविधान परिषद् का निर्वाचन किया जावे । इस परिषद् को यह अधिकार हो, कि वह अपने देश के लिये शासन विधान का निर्माण कर सके । (२) जब तक बरमा की संविधान परिषद् अपना कार्य समाप्त न कर ले, तब तक के काल के लिये एक सामयिक सरकार का संगठन किया जावे । (३) इस काल के लिये बरमा में एक व्यवस्थापिका सभा हो, जिसके सदस्यों की संख्या १८० हो । संविधान परिषद् के जो सदस्य निर्वाचित हों, उन्हीं में से १८० को सरकार इस सामयिक व्यवस्थापिका सभा के सदस्य रूप से मनोनीत कर ले । (४) इस काल में बरमा को यह अधिकार हो, कि वह लण्डन में अपनी तरफ से एक हाई कमिश्नर को नियत कर सके, जो बरमा के हितों का ध्यान रखे । (५) संयुक्त राज्य संघ में बरमा भी एक सदस्य के रूप में सम्मिलित हो, और ब्रिटिश सरकार इस बात का प्रयत्न करे, कि बरमा को संयुक्त राज्यसंघ का सदस्य बना लिया जाय । (६) बरमा को यह अधिकार हो, कि वह अन्य देशों के साथ अपना सीधा राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर सके ।

बरमा के सब राजनीतिक नेता लण्डन कान्फरेन्स के इन निर्णयों से संतुष्ट नहीं थे । वे चाहते थे, कि बरमा में तुरन्त पूर्ण स्वराज्य स्थापित हो, और सामयिक रूप से भी बरमा का ब्रिटेन के साथ कोई सम्बन्ध न रहे । पर आंग सान और उसके

अनुयायी लण्डन कान्फरेन्स के इन निर्णयों से संतुष्ट थे और उनका ख्याल था, कि बरमा को अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करने का यह सुवर्णीय अवसर है। इसके अनुसार एप्रिल, १९४७ में बरमा की संविधान परिषद् का निर्वाचन किया गया, जिसमें एण्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग के उम्मीदवार बहुत बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। २४ सितम्बर, १९४७ को बरमा का नया शासन विधान बन कर तैयार हो गया और १७ अक्टूबर, १९४७ को बरमा और ब्रिटेन में परस्पर सन्धि हो गई, जिसमें ब्रिटेन ने बरमा की संविधान परिषद् द्वारा तैयार किये गये शासन विधान को स्वीकृत कर लिया। बरमा की संविधान परिषद् ने यह निर्णय किया, कि बरमा का ब्रिटिश कामनवैल्थ के साथ कोई सम्बन्ध न रहे और वह पूर्ण-रूप से स्वतन्त्र हो। जनवरी, १९४८ से यह नया शासन विधान बरमा में लागू हो गया और तब से बरमा की स्थिति ब्रिटिश कामनवैल्थ से बाहर एक स्वतन्त्र राज्य के सदृश है।

बरमा के के नये शासन विधान की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—(१) राष्ट्रपति का निर्वाचन पांच साल के लिये किया जाय। पार्लियामेन्ट की दोनों सभाओं के सदस्य एक स्थान पर एकत्र होकर बैलट द्वारा राष्ट्रपति का निर्वाचन करें। (२) पार्लियामेन्ट में दो सभायें हों, प्रतिनिधिसभा और राष्ट्रसभा। प्रतिनिधि सभा के सब सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित किये जावें। राष्ट्रसभा में बरमा की अल्पसंख्यक जातियों को प्रतिनिधित्व देने की विशेषरूप से व्यवस्था की जाय। इस सभा के सदस्यों की संख्या १२५ हो, जिनमें से ७२ अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधि हों। (३) मन्त्रिमण्डल प्रतिनिधिसभा के प्रति उत्तरदायी हो।

संविधान परिषद् ने अपना कार्य अभी समाप्त नहीं किया था, कि १९ जुलाई, १९४७ को आंग सान और उसके साथी छः मन्त्रियों (जो कि सामयिक रूप से स्थापित शासन सभा के सदस्य थे) की हत्या कर दी गई। इस हत्या के नेता श्री यू सॉ थे, जो कि आंग सान के दल के मुख्य विरोधी थे। पर इन हत्याओं से एण्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग की शक्ति कम नहीं हुई। आंग सान के बाद श्री थाकिन नू ने बरमा के प्रधान मन्त्री का कार्य संभाला और संविधान परिषद् के कार्य को जारी रखा।

जनवरी, १९४८ से बरमा पूर्णरूप से स्वतन्त्र राज्य है। पर उसे अनेक विकट समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है—(१) दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान बरमा में भी कम्युनिस्ट दल विद्यमान है, जो बरमा के नये शासनविधान से संतुष्ट नहीं है। यह दल बरमा में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील है। (२) बरमा में अनेक इस प्रकार की अल्पसंख्यक जातियां विद-

मान हैं, जो बरमा से पृथक् होकर अपना पृथक् स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाहती हैं। इनमें करन लोग मुख्य हैं। इन अल्प संख्यक जातियों के लोग अपना पृथक् राज्य स्थापित करने के लिये बरमी सरकार के साथ संघर्ष में तत्पर हैं।

## (५) इन्डोनीसिया

महायुद्ध (१९३९-४५) के प्रारम्भ तक के इन्डोनीसिया के इतिहास पर हम पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। यह देश हालैण्ड के अधीन था, पर जनता में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये उत्कट अभिलाषा विकसित हो रही थी। मई, १९४० में यूरोप के रणक्षेत्र में हालैण्ड जर्मनी द्वारा परास्त कर दिया गया था और वहां की रानी विल्हल्मिना अपनी सरकार के साथ हालैण्ड छोड़कर ब्रिटेन चली आई थी। इस समय तक जापान महायुद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था, फिर भी हालैण्ड की पराजय का उसके साम्राज्य पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। इन्डोनीसिया में स्वाधीनता का आन्दोलन अब अधिक प्रबल हो गया था। इस समय चाहिये तो यह था, कि हालैण्ड इन्डोनीसिया के राष्ट्रवादी देशभक्तों के साथ सहानुभूति प्रगट करता और उसकी स्वाधीनता की आकांक्षा को पूर्ण कर उसकी सहायता मित्र-राज्यों के लिये प्राप्त करता। पर हालैण्ड की साम्राज्यवादी सरकार (इन्डोनीसियन डच सरकार) ने स्वाधीनता के आन्दोलन को कुचलने के लिये उग्र उपायों का अवलम्बन किया। पुलीस की शक्ति बढ़ा दी गई, अनेक देशभक्त नेताओं को गिरफ्तार किया गया और अनेक ऐसे कानून जारी किये गये, जिनका उद्देश्य जनता को भाषण करने व अन्य प्रकार से अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने से रोकना था। पर यह सम्भव नहीं था, कि इन्डोनीसिया की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचला जा सकता। अन्ततोगत्वा, डच सरकार ने यह आवश्यक समझा, कि इन्डोनीसिया की जनता को संतुष्ट रखने के लिये शासन में सुधार किये जावें। इस उद्देश्य से एक कमीशन की नियुक्ति की गई, जिसके अध्यक्ष श्री विस्मान थे। विस्मान कमीशन ने जनता के प्रतिनिधियों की गवाही लेकर इस बात पर विचार करना प्रारम्भ किया, कि इन्डोनीसिया के शासन में कौन से ऐसे सुधार किये जा सकते हैं, जिनसे जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को संतुष्ट किया जा सके।

पर इन्डोनीसिया में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये आन्दोलन इतना प्रबल हो चुका था, कि विस्मान कमीशन की नियुक्ति द्वारा उसे संतुष्ट नहीं किया जा सकता था। इस बीच में यूरोप के रणक्षेत्र में जर्मनी और इटली निरन्तर विजयी हो रहे थे। फ्रांस, बेल्जियम आदि देशों पर जर्मनी का कब्जा हो गया था, और ब्रिटेन पर हवाई आक्रमण बहुत उग्र रूप धारण कर रहे थे। इस स्थिति में इन्डोनीसिया

के देशभक्त यह अनुभव करते थे, कि अपने देश से डच साम्राज्यवाद का अन्त करने का यह सुवर्णीय अवसर है, और उन्हें इसका पूरी तरह से उपयोग करना चाहिये। दिसम्बर, १९४१ में जापान भी मित्रराज्यों के खिलाफ युद्ध में शामिल हो गया। जापान का दावा था, कि महायुद्ध में वह इस उद्देश्य से शामिल हुआ है, ताकि पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया से पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का अन्त कर इस क्षेत्र के सब देशों में स्वाधीन सरकारों की स्थापना की जाय। इन्डोनीसिया के राष्ट्रवादी देश भक्तों को जापान से बहुत आशा थी। वे अनुभव करते थे, कि डच अधिपत्य के अन्त करने का क्रियात्मक उपाय यही है, कि जापान की सेनायें इन्डोनीसिया पर आक्रमण करें और डच सेनाओं को परास्त कर उनके देश को स्वतन्त्र करें। यही कारण है, कि जब जापानी सेनाओं ने फिलिप्पीन आदि देशों को विजय किया, तो इन्डोनीसियन लोगों ने अत्यधिक उल्लास का अनुभव किया।

जापानी सेनायें विद्युत्गति से दक्षिण-पूर्वी एशिया में आगे बढ़ रही थीं। इस समय प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जापान का मुकाबला कर सकने की शक्ति किसी देश में नहीं थी। डच लोगों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे जापानी आक्रमण से अपने साम्राज्य की रक्षा कर सकते। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि जो विविध द्वीप हालैण्ड के अधीन थे, उन पर एक एक करके हमला किया गया। जल और वायु के मार्गों से जापानी सेनायें इन द्वीपों में प्रविष्ट हो गईं, और मार्च १९४२ तक सम्पूर्ण इन्डोनीसिया डच आधिपत्य से मुक्त होकर जापानी सेनाओं के कब्जे में आ गया। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान इन्डोनीसिया में भी शुरू में जापान ने अपना सैनिक शासन स्थापित किया, ताकि देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रह सके।

पर जापान स्थिररूप से इन्डोनीसिया को अपनी अधीनता में नहीं रखना चाहता था। इस देश के सर्वप्रधान राष्ट्रपति नेता डा० सुकर्ण थे। शीघ्र ही उनके नेतृत्व में इन्डोनीसिया की स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की गई। जिस समय अगस्त, १९४५ में महायुद्ध में परास्त होकर जापान ने मित्रराज्यों के सम्मुख आत्म-समर्पण किया, तब डा० सुकर्ण के नेतृत्व में इन्डोनीसिया में एक स्वतन्त्र रिपब्लिकन राज्य की स्थापना हो चुकी थी।

महायुद्ध में परास्त होकर भी हालैण्ड के राजनीतिक नेताओं को यह सुबुद्धि नहीं आई थी, कि अब इन्डोनीसिया को अपनी अधीनता में रख सकना सम्भव नहीं है। ६ दिसम्बर, १९४२ को (जब कि इन्डोनीसिया हालैण्ड की अधीनता से मुक्त हो चुका था, और वहां स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना की जा रही थी) ब्रिटेन में स्थित डच सरकार की ओर से एक उद्घोषणा प्रकाशित की गई, जिसमें उस नीति

का प्रतिपादन किया गया, जिसका अनुसरण हालैण्ड महायुद्ध की समाप्ति पर इन्डोनीसिया के सम्बन्ध में करेगा। इस उद्घोषणा में यह कहा गया था, कि महायुद्ध की समाप्ति पर डच साम्राज्य की नई व्यवस्था करने के लिये एक कान्फरेन्स का आयोजन किया जायगा। इस कान्फरेन्स में इस बात पर विचार होगा, कि हालैण्ड और उसके साम्राज्य के देशों के शासन का क्या रूप हो। डच सरकार का विचार यह था, कि डच साम्राज्य को एक कामनवेल्थ के रूप में परिवर्तित कर दिया जावे, जिसके अन्तर्गत सब राज्य अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णतया स्वतन्त्र हों। डच कामनवेल्थ की इस कल्पना के अनुसार इन्डोनीसिया को अपने आन्तरिक शासन में तो स्वतन्त्रता मिल जाती थी, पर अब इन्डोनीसियन देशभक्त पूर्ण स्वराज्य के बिना किसी भी प्रकार सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे। १९४३ के अन्त से पूर्व ही इन्डोनीसिया में स्वतन्त्र रिपब्लिक की सुचारुरूप से स्थापना हो चुकी थी, उसके शासन-विधान का निर्माण हो गया था और नई रिपब्लिकन सरकार ने देश के शासनकार्य को भलीभांति संभाल लिया था।

महायुद्ध में जापान की पराजय होने के बाद इन्डोनीसिया पर कब्जा करने का कार्य ब्रिटिश सेनाओं के सुपुर्द किया गया। मित्र राज्यों की ओर से दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान के खिलाफ लड़ाई लड़ने के लिये 'दक्षिण-पूर्वी एशिया कमान्ड' का संगठन हुआ था, और इसी कमाण्ड की ओर से ब्रिटिश सेनाओं को यह कार्य सुपुर्द किया गया था, कि वे इन्डोनीसिया से जापानी सेनाओं को परास्त कर इस देश पर अपना सैनिक आधिपत्य स्थापित करें। साथ ही, यह व्यवस्था भी की गई थी, कि इन्डोनीसिया के जो द्वीप मित्र सेनाओं के कब्जे में आते जावें, उन्हें पुनः डच सरकार के शासन में दे दिया जाय। इसके लिये हालैण्ड की ओर से 'नीदरलैण्ड्स इन्डीज सिविल एड्मिनिस्ट्रेशन' नामक संगठन का निर्माण किया गया था। इन्डोनीसिया के जो जो द्वीप मित्रराज्यों के आधिपत्य में आते जाते थे, उस पर इस डच संस्था का शासन स्थापित कर दिया जाता था। पर जावा, मदुरा और सुमात्रा द्वीपों पर इन्डोनीसियन रिपब्लिक का शासन सुव्यवस्थित रूप से कायम था। यह हम पहले लिख चुके हैं, कि इन्डोनीसिया के कुल निवासियों का दो तिहाई के लगभग भाग जावा और मदुरा के द्वीपों में निवास करता है। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि जनसंख्या की दृष्टि से ६६ प्रतिशत से भी अधिक इन्डोनीसियन लोग डा० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार के शासन में थे। मित्रराज्यों की तरफ से इन्डोनीसिया पर सैनिक आधिपत्य स्थापित करने का कार्य ब्रिटिश सेनाओं के सुपुर्द था। जावा, मदुरा और सुमात्रा में जो ब्रिटिश सेनायें आईं, उन्होंने जापानी अधिकारियों, सैनिकों और नागरिकों को तो अपने कब्जे में ले लिया, पर उन्होंने यह उचित

नहीं समझा कि इन द्वीपों में स्थापित इन्डोनीसियन रिपब्लिकन सरकार का प्रतिरोध करें। ब्रिटिश सेनाओं की यह नीति वस्तुतः बुद्धिमत्तापूर्ण थी। इन्डोनीसियन लोगों में राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना इतने प्रबल रूप में विकसित हो चुकी थी, कि वे किसी भी दशा में अपनी स्वतन्त्रता को खोने के लिये उद्यत नहीं थे। यदि ब्रिटिश सेना डा० सुकार्ण की रिपब्लिकन सरकार का प्रतिरोध करने का प्रयत्न करती, तो उसे न केवल इन्डोनीसियन सेना का अपितु उस देश की जनता का भी कड़ा मुकाबला करना पड़ता। इस प्रकार १९४६ के मध्य में इन्डोनीसिया की राजनीतिक स्थिति यह थी, कि जावा, मदुरा और सुमात्रा द्वीपों में स्वतन्त्र रिपब्लिक की सत्ता थी, जो किसी भी प्रकार डच लोगों के आधिपत्य को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं थी। अन्य द्वीपों पर नीदरलैण्ड इन्डीज सिविल एड्मिनिस्ट्रेशन का शासन था, और इस संस्था ने अपने अधिकृत प्रदेशों पर १९४२ से पूर्व जिस ढंग का डच शासन विद्यमान था, उसी प्रकार का शासन फिर से स्थापित कर दिया था।

सम्पूर्ण इन्डोनीसिया पर हालैण्ड का शासन दो ही प्रकार से स्थापित हो सकता था। डच सेनायें युद्ध में इन्डोनीसियन रिपब्लिक को परास्त करके उस द्वारा अधिकृत प्रदेशों को अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न कर सकती थीं, या डा० सुकार्ण आदि रिपब्लिकन नेताओं से समझौता करके डच सरकार एक ऐसा मार्ग निकाल सकती थी, जिसमें इन्डोनीसिया की स्वतन्त्रता भी कायम रहे और उस देश पर हालैण्ड का आधिपत्य भी बना रहे। डच नेताओं ने इन दोनों उपायों का उपयोग किया। डच सेनायें बहुत बड़ी संख्या में इन्डोनीसिया भेज दी गईं। वहाँ जाकर उन्होंने रिपब्लिकन सेनाओं के साथ युद्ध प्रारम्भ किया। पर इन्डोनीसिया की सेनायें भी इस समय निर्बल नहीं थीं। उनमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी और जापान जो बहुत सी युद्ध सामग्री इन द्वीपों में छोड़ गया था, उसका उपयोग कर इन्डोनीसियन सेनाओं ने अपने को बहुत शक्तिशाली भी बना लिया था। उन्होंने डटकर डच सेनाओं का मुकाबला किया। पर युद्ध के साथ साथ हालैण्ड की सरकार ने इन्डोनीसिया के रिपब्लिकन नेताओं के साथ समझौते की बातचीत को भी जारी रखा।

डच सरकार को डा० सुकार्ण और उनके साथियों से बहुत विद्वेष था। उसका ख्याल था, कि इन नेताओं ने महायुद्ध के समय जापान के साथ सहयोग किया है, अतः उनसे किसी भी प्रकार का समझौता करना उचित नहीं है। पर इन्डोनीसिया में डा० सुकार्ण का प्रभाव इतना अधिक था, कि डच सरकार उनकी उपेक्षा नहीं कर सकती थी। अतः उसने समझौते की बातचीत का यह मार्ग निकाला, कि राष्ट्र-

पति सुकार्ण (डा० सुकर्ण इन्डोनीसियन रिपब्लिक के राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित थे) से बातचीत कर प्रधानमन्त्री सहरीर के साथ समझौते का प्रयत्न किया जाय। पर ऐसा करना डच सरकार का दुराग्रह मात्र था, क्योंकि श्री सहरीर डा० सुकर्ण के ही अनुयायी थे। अन्त में डच सरकार को अपना हठ छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा। उसने यह स्वीकार किया, कि इन्डोनीसियन रिपब्लिक एक सुव्यवस्थित राज्य है, और उसके विविध राजपदाधिकारी एक सरकार के ही विविध अंग हैं। उनमें भेद कर सकना क्रियात्मक दृष्टि से सम्भव नहीं है। नवम्बर, १९४६ में डच सरकार और इन्डोनीसियन रिपब्लिकन सरकार में सामयिक रूप से सन्धि हो गई। उन्होंने युद्ध को स्थगित कर दिया और इस बात का प्रयत्न प्रारम्भ किया, कि परस्पर बातचीत द्वारा इन्डोनीसिया के सम्बन्ध में एक ऐसी व्यवस्था का निर्धारण करें, जो दोनों पक्षों को मान्य हो।

अब दोनों सरकारों में समझौते की बातचीत शुरू हुई। २५ मार्च, १९४७ को वे एक समझौते पर पहुंचने में समर्थ हुईं। यह लिंगजाति समझौते के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। इसके अनुसार यह निश्चय किया गया, कि (१) इन्डोनीसिया के जिन प्रदेशों पर डा० सुकार्ण की रिपब्लिकन सरकार का कब्जा है, उन्हें स्वतन्त्र इन्डोनीसियन रिपब्लिक के रूप में स्वीकार किया जाय। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, ये प्रदेश जावा, मदुरा और सुमात्रा के द्वीप थे। (२) दक्षिण-पूर्वी एशिया में डच सरकार की अधीनता में जो अन्य प्रदेश हैं, उनको और स्वतन्त्र इन्डोनीसियन रिपब्लिक को साथ मिलाकर 'इन्डोनीसिया का स्वतन्त्र राज्यसंघ' बनाया जाय। इस संघराज्य के अन्तर्गत इन विविध राज्यों को अपने आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वाधीनता रहे। पर केन्द्रीय शासन के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामलों पर संघ सरकार का नियन्त्रण रहे। (३) इन्डोनीसियन संयुक्त राज्यसंघ और हालैण्ड को मिला कर एक 'यूनियन' कायम किया जाय। विदेशी राजनीति, सेना आदि विषय इस यूनियन के अधीन रहें। डा० सुकार्ण के नेतृत्व में विद्यमान रिपब्लिकन सरकार का शासन जावा, सुमात्रा और मदुरा पर कायम था। इन तीन द्वीपों के अतिरिक्त बोर्नियो का द्वीप ऐसा था, जिसे इस लिङ्गजाति समझौते के अनुसार एक पृथक् रिपब्लिक के रूप में परिणत करने का निश्चय किया गया था। जावा, मदुरा, सुमात्रा और बोर्नियो के अतिरिक्त जो अन्य बहुत से छोटे बड़े द्वीप इन्डोनीसिया के अन्तर्गत थे, उन्हें मिलाकर एक तीसरी [illegible] की व्यवस्था की गई थी, जिसे 'विशाल पूर्व' (ग्रेट [illegible]) [illegible]। इस प्रकार इन्डोनीसियन राज्यसंघ के [illegible] की गई थीं।

यह स्पष्ट है, कि [illegible] नीसिया के सम्बन्ध में

जो व्यवस्था की गई थी, उससे इस देश के राष्ट्रीय नेताओं को पूर्ण सन्तोष नहीं हो सकता था। इससे सम्पूर्ण इन्डोनीसिया डा० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार के अधीन नहीं होता था। बोर्नियो और ग्रेट ईस्ट में जो नई रिपब्लिकें कायम की गई थीं, उन पर डच लोगों का प्रभाव व प्रभुत्त्व बहुत दृढ़ रहता था। इसके अतिरिक्त इन्डोनीसियन राज्यसंघ की परराष्ट्रनीति और सेना आदि पर हालैण्ड का प्रभाव पूर्ववत् कायम रहता था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि अनेक राष्ट्रवादी देशभक्त लिङ्गजाति समझौते से असन्तोष अनुभव करें। परिणाम यह हुआ, कि मार्च, १९४७ में हालैण्ड और इन्डोनीसियन रिपब्लिक में पुनः संघर्ष प्रारम्भ हो गया। डच सेनाओं ने अपनी शक्ति के प्रयोग द्वारा डा० सुकर्ण की सरकार को परास्त कर जावा, मदुरा और सुमात्रा पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का उद्योग प्रारम्भ कर दिया। भारत ने इसी समय संयुक्त राज्यसंघ (यूनाइटेड नेशन्स आर्गनिजेशन) के सम्मुख इन्डोनीसिया का मामला पेश किया। उसका कथन था, कि जावा, मदुरा और सुमात्रा पर डच सेनाओं का आक्रमण सर्वथा अनुचित है, और डच सरकार इन्डोनीसियन लोगों पर घोर अत्याचार कर रही है। पर डच सरकार का कहना था, कि इन्डोनीसिया का मामला हालैण्ड के साम्राज्य की आन्तरिक समस्या है। वह जिस नीति का वहां अनुसरण कर रही है, उसका उद्देश्य अपने साम्राज्य के अन्यतम देश में शान्ति और व्यवस्था कायम करना ही है। संयुक्त राज्य संघ की सुरक्षा परिषद् (सिक्यॉरिटी कौंसिल) ने सारे प्रश्न पर विचार करके यह आदेश जारी किया, कि दोनों तरफ से लड़ाई को तुरन्त बन्द कर दिया जाय। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई, कि इन्डोनीसिया की समस्या पर विचार करने के लिये एक कमेटी बनाई जाय, जिसके तीन सदस्य हों। इस कमेटी के एक सदस्य को हालैण्ड मनोनीत करे, दूसरे को इन्डोनीसियन रिपब्लिक मनोनीत करे और वे दोनों सदस्य मिलकर एक तीसरे सदस्य को नियुक्त करें। इसके अनुसार हालैण्ड ने बेल्जियम को, इन्डोनीसियन रिपब्लिक ने आस्ट्रेलिया को और उन दोनों देशों ने मिलकर अमेरिका को कमेटी का सदस्य चुना। इस कमेटी ने सबसे पहले लड़ाई को बन्द कराया और फिर यह व्यवस्था की, कि दोनों पक्ष युद्ध को बन्द कर शान्ति स्थापित रखें। शान्ति स्थापित करके जनवरी, १९४८ में उस कमेटी ने इन्डोनीसिया की समस्या को स्थिर रूप से सुलझाने का उद्योग शुरू किया। बेल्जियम, आस्ट्रेलिया और अमेरिका के प्रतिनिधियों ने हालैण्ड और इन्डोनीसियन रिपब्लिक में जो समझौता कराया, उसका आधार निम्नलिखित बातें थीं—(१) इन्डोनीसिया में एक राज्यसंघ कायम किया जाय। जावा, सुमात्रा और मदुरा (डा० सुकर्ण की सरकार द्वारा अधिकृत द्वीप) पृथक् रूप से या संयुक्त रूप से इस राज्यसंघ

में सम्मिलित हों। (२') इन्डोनीसियन राज्यसंघ और हालैण्ड को मिलाकर एक यूनियन बनाया जाय, जो विदेशी राजनीति, सेना आदि पर नियन्त्रण रखे।

पर यह समझौता भी देर तक कायम नहीं रह सका। डच सरकार का प्रयत्न यह था, कि इन्डोनीसिया की विविध जातियों व प्रदेशों को डा० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार के खिलाफ उभाड़ दे। वह इन्डोनीसियन लोगों में फूट डालकर उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचल डालने के लिये प्रयत्नशील थी। इसी उद्देश्य से डच सरकार ने इन्डोनीसिया के अनेक प्रदेशों में ऐसी सरकारें कायम करने का उद्योग किया, जो हालैंड के पक्ष में और डा० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार के विरोध में थीं। इससे इन्डोनीसिया की समस्या और भी अधिक जटिल हो गई। वहां न केवल डच सरकार के साथ युद्ध जारी रहा, अपितु विविध प्रदेशों में भी गृह-कलह प्रारम्भ हो गया। इस स्थिति से लाभ उठाकर दिसम्बर, १९४८ में डच सेनाओं ने बाकायदा इन्डोनीसिया पर चढ़ाई कर दी। जोग जाकर्ता (इन्डोनीसिया की राजधानी) पर उन्होंने कब्जा कर लिया। रिपब्लिकन सरकार के अनेक नेता गिरफ्तार कर लिये गये। पर इससे भी इन्डोनीसिया के राष्ट्रवादी देशभक्तों ने अपने संघर्ष को बन्द नहीं किया। संसार के लोकमत की सहानुभूति इस समय इन्डोनीसिया के साथ थी। संयुक्त राज्यसंघ के सम्मुख यह मामला फिर उपस्थित हुआ। सुरक्षा परिषद् ने हालैण्ड को आदेश दिया, कि इन्डोनीसियन रिपब्लिक के नेताओं को रिहा कर दिया जाय और डच सरकार जो सैनिक कार्रवाई इन्डोनीसिया में कर रही है, उसे बन्द कर दे। पर हालैण्ड ने सुरक्षा परिषद् के इस आदेश की कोई परवाह नहीं की। इस पर संयुक्त राज्यसंघ ने एक बार फिर इन्डोनीसिया की समस्या को हल करने के लिये एक समझौता कमीशन की नियुक्ति की। हालैण्ड चाहता था, कि इस कमीशन की कोई परवाह न करे, और इन्डोनीसिया को अपनी अधीनता में लाने के लिये युद्ध को जारी रखे। पर उसके लिये यह सम्भव नहीं था, कि संसार के लोकमत की पूर्णरूप से अवहेलना कर सके। अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के कारण अन्ततोगत्वा हालैण्ड इस बात के लिये विवश हुआ, कि गिरफ्तार हुए इन्डोनीसियन नेताओं को रिहा कर दे और इस देश की समस्या का हल युद्ध द्वारा न कर समझौते द्वारा करने का उद्योग करे। ३ अगस्त, १९४९ को डा० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार और हालैण्ड में सामयिक रूप से समझौता हो गया, जिसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि (१) दोनों पक्ष पारस्परिक युद्ध को स्थगित कर दें, (२) इन्डोनीसियन नेताओं को रिहा कर दिया जाय, और (३) इन्डोनीसिया की समस्या को स्थिर रूप से हल करने के लिये हालैण्ड की राजधानी हेग में एक गोलमेज परिषद् का आयोजन किया जाय।

इसी बीच में जनवरी, १९४९ में भारतीय सरकार ने दिल्ली में एक एशियन कान्फरेन्स का आयोजन किया, जिसमें एशिया के १७ देशों के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इन्डोनीसिया की समस्या पर इसमें विस्तार के साथ विचार किया गया। इस कान्फरेन्स ने जो सुधार पेश किये, संयुक्त राज्यसंघ ने उन्हें क्रियात्मक व उचित माना। इन्डोनीसिया की समस्या के हल होने में इस कान्फरेन्स से बहुत सहायता मिली।

इन्डोनीसिया के सम्बन्ध में जो गोलमेज परिषद् हेग में हुई, उसने २ नवम्बर, १९४९ को अपना कार्य समाप्त कर लिया। गोलमेज परिषद् में जो निर्णय किये गये, उनके अनुसार इन्डोनीसिया को एक राज्यसंघ के रूप में परिवर्तित किया गया, जिसमें सबसे प्रधान स्थान डा० सुकर्ण के नेतृत्व में स्थापित रिपब्लिक को दिया गया। इस रिपब्लिक की अधीनता में पूर्वी सुमात्रा और ग्रेट ईस्ट के द्वीपों के अतिरिक्त अन्य सब इन्डोनीसियन प्रदेशों को दे दिया गया। इस सुविस्तृत इन्डोनीसियन रिपब्लिक को यह अधिकार दिया गया, कि वह अपने शासन विधान का स्वयं निर्माण कर सके और इसके लिये एक संविधान परिषद् का निर्वाचन करा सके। पर हेग कान्फरेन्स में जिस प्रश्न पर विशेषरूप से निर्णय किया जाना था, वह इन्डोनीसियन संघ और हालैण्ड के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में था। इस महत्त्वपूर्ण मामले के विषय में जो निर्णय हेग कान्फरेन्स द्वारा किये गये, वे निम्नलिखित थे—(१) हालैण्ड और इन्डोनीसिया, दोनों राज्यों की स्थिति सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के सदृश हो। (२) ये दोनों सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य स्वेच्छापूर्वक एक यूनियन का निर्माण करें, जिसमें दोनों राज्यों की स्थिति समान मानी जाय। (३) यह यूनियन परराष्ट्र नीति और आर्थिक मामलों के सम्बन्ध में उपयुक्त अधिकार रखे और यूनियन में सम्मिलित दोनों राज्य विदेशी राजनीति और आर्थिक उन्नति के लिये परस्पर सहयोग से कार्य करें। (४) हालैण्ड और इन्डोनीसिया दोनों राज्यों का शासन विधान लोकतन्त्रवाद पर आश्रित हो। (५) इन्डोनीसिया का जो राष्ट्रीय ऋण है, उसे अदा करने की जिम्मेवारी इन्डोनीसियन सरकार पर रहे। (६) दोनों राज्यों में जिस प्रश्न पर विवाद हो, उसका निर्णय पञ्चनिर्णय पद्धति द्वारा किया जाय। (७) यूनियन का अध्यक्ष साम्राज्ञी जुलियाना व उनके वंशज रहें।

हेग गोलमेज कान्फरेन्स के इन निर्णयों को दोनों पक्षों ने स्वीकार किया। उनके अनुसार जहाँ इन्डोनीसिया का हालैण्ड के साथ सम्बन्ध कायम रहा, वहाँ राष्ट्रीय स्वाधीनता की उसकी आकांक्षा भी पूर्ण हो गई। पर दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान इन्डोनीसिया में भी अभी अनेक समस्यायें विद्यमान हैं, जिनमें सबसे

प्रमुख कम्युनिस्टों का है। इन्डोनीसिया में भी कम्युनिस्ट दल निरन्तर जोर पकड़ रहा है।

## (६) फिलिप्पीन द्वीपसमूह

फिलिप्पीन द्वीपसमूह पर जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रभुत्व स्थापित हुआ, और फिलिप्पीन लोगों की राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना से विवश होकर जिस प्रकार अमेरिका की सरकार इस द्वीप समूह में आंशिक स्वराज्य स्थापित करने के लिये उद्यत हुई, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। १९४२ के प्रारम्भ में जब जापान ने इस देश पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, तो वहां वैध शासन विद्यमान था। मानुअल क्वेजोन फिलिप्पीन के राष्ट्रपति थे और श्री ओसमेना उपराष्ट्रपति। फिलिप्पीन की पार्लियामेन्ट (इसे अमेरिकन शैली के अनुसार कांग्रेस कहा जाता था) में दो सभायें थीं, सीनेट और प्रतिनिधिसभा। फिलिप्पीन की यह लोकतन्त्र सरकार आंशिक रूप से स्वतन्त्र होती हुई भी अमेरिका की अधीनता में थी और फिलिप्पीन देशभक्त इससे सन्तोष अनुभव नहीं करते थे। जापानी सेनाओं के विजयी होने के कारण न केवल जनरल मैकआर्थर अपनी अमेरिकन सेनाओं के साथ फिलिप्पीन से चले गये, अपितु राष्ट्रपति क्वेजोन और उपराष्ट्रपति ओसमेना ने भी अमेरिका जाकर आश्रय लिया। वहां पहुंचकर उन्होंने प्रवासी फिलिप्पीन सरकार की सत्ता को कायम रखा।

पर फिलिप्पीन में ऐसे देशभक्तों की कमी नहीं थी, जो जापानी विजय को अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये सुवर्णीय अवसर समझते थे। उनका खयाल था, कि अमेरिका की पराजय से उन्हें स्वाधीन होने का जो अवसर प्राप्त हुआ है, उसका भलीभांति उपयोग करना चाहिये। श्री लॉरेल इनके नेता थे। उनके नेतृत्व में स्वाधीन फिलिप्पीन सरकार का संगठन किया गया। एक्विनो, ओसिआस्, [illegible], रॉक्सास् आदि अनेक नेताओं ने इस सरकार का साथ दिया। पुराने समय की फिलिप्पीन कांग्रेस के बहुसंख्यक सदस्य इस नई राष्ट्रीय स्वतन्त्र सरकार के साथ सहयोग करने को उद्यत हुए। श्री लॉरेल स्वाधीन फिलिप्पीन रिपब्लिक के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए और श्री लॉरेल की सरकार जापान के साथ सहयोग करने में ही अपने देश का हित समझने लगी।

पर फिलिप्पीन में एक ऐसा दल भी विद्यमान था, जो जापान के साथ सहयोग को अनुचित समझता था। यह दल 'हुक बली हप' (जनता की सेना) कहाता था। इस दल के लोग जहां जापान के विरोधी थे, वहां साथ ही अमेरिकन आधिपत्य के भी विरुद्ध थे। श्री लॉरेल द्वारा स्थापित सरकार को ये उच्च व सम्पन्न वर्ग की सर-

क्कार समझते थे और फिलिप्पीन द्वीप समूह में एक ऐसे शासन की स्थापना के लिये उत्सुक थे, जो वस्तुतः जनता द्वारा संचालित हो, और जिसमें जनता को अपनी आर्थिक उन्नति का अवसर प्राप्त हो। इस समय संसार के प्रायः सभी देशों में ऐसे दल विद्यमान थे, जिनका झुकाव कम्युनिज्म की तरफ था, जो केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता को पर्याप्त नहीं समझते थे, अपितु ऐसी सामाजिक व्यवस्था के पक्षपाती थे, जिसमें सर्वसाधारण जनता को आर्थिक उन्नति के लिये उपयुक्त अवसर प्राप्त होता हो। इसलिये हुक बली हप दल को बाद में कम्युनिस्ट घोषित किया गया, और अमेरिकन लोगों ने उसका उग्ररूप से विरोध किया। क्योंकि महायुद्ध (१९३९-४५) में जापान फैसिस्ट शक्तियों के पक्ष में था, और जर्मनी समाजवादी रूसकी शक्ति व सत्ताको नष्ट करनेके लिये जी जानसे कोशिश कर रहा था, अतः हुकबली हप दल के लोग फिलिप्पीन में श्री लॉरेल की रिपब्लिकन सरकार के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर थे, और उनका प्रयत्न यह था, कि अपने देश को जापान के प्रभाव व प्रभुत्व से मुक्त कर एक ऐसी सरकार की स्थापना की जाय, जो न केवल सच्चे अर्थों में पूर्णतया स्वाधीन हो, पर साथ ही देश में समाजवादी व्यवस्था को कायम करने के लिये भी प्रयत्नशील हो।

अक्टूबर, १९४४ में अमेरिकन सेनाओं ने फिलिप्पीन पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया था, और जनवरी, १९४५ तक प्रायः सभी फिलिप्पीन द्वीप अमेरिकन सेनाओं के कब्जे में आ गये थे। इस दशा में प्रवासी फिलिप्पीन सरकार अमेरिका से अपने देश को वापस आ गई। इस बीच में राष्ट्रपति क्वेजोन की अमेरिका में मृत्यु हो गई थी, अतः श्री ओसमेना ने राष्ट्रपति का पद ग्रहण कर लिया था। २७ फरवरी, १९४५ को राष्ट्रपति ओसमेना अपने राजकर्मचारियों के साथ फिलिप्पीन चले आये और उन्होंने शासनसूत्र को अपने हाथों में ले लिया। पर श्री ओसमेना की सरकार की सत्ता अमेरिकन सेनाओं की शक्ति पर आश्रित थी और उन्होंने ही उसे फिलिप्पीन के शासन का कार्य सुपुर्द किया था। महायुद्ध के कारण फिलिप्पीन द्वीपसमूह का आर्थिक जीवन बिलकुल अस्त-व्यस्त हो गया था। १९४२ के शुरू में उसपर जापान ने आक्रमण किया था और केवल ढाई साल बाद अमेरिकन सेनाओं ने इस देश में घोर युद्ध करके इस पर अपना अधिकार स्थापित किया था। जापान को फिलिप्पीन से कोई द्वेष नहीं था। उसने इस देश पर केवल इसलिये आक्रमण किया था, क्योंकि इस पर अमेरिका का प्रभुत्व विद्यमान था और जापान पूर्वी एशिया से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त करना चाहता था। फिलिप्पीन लोग अनुभव करते थे, कि उन्हें युद्ध के कारण जो क्षति उठानी पड़ी है और उनका आर्थिक जीवन जिस बुरी तरह से अस्त-व्यस्त हो गया है, उसके लिये अमे-

रिका ही उत्तरदायी है और उसीका यह कर्तव्य है, कि आर्थिक पुनर्निर्माणमें उनकी सहायता करे। जिस समय (१९४१ तक) फिलिप्पीन पर अमेरिका का शासन था, उसका आर्थिक जीवन पूर्णतया अमेरिका पर आश्रित था। फिलिप्पीन द्वीप समूहसे जो माल विदेशोंमें बिकनेके लिये जाता था, उसका ९५ प्रतिशत अमेरिका जाता था। वस्तुतः अमेरिका ने फिलिप्पीन की आर्थिक उत्पत्ति को इस ढंग से नियन्त्रित किया हुआ था, कि वह वहां से कच्चे माल को खरीदकर उसके बदले में अपने तैयार व्यावसायिक माल को वहां बेच सके। इसी कारण फिलिप्पीन में कल-कारखानों और व्यवसायोंका विकास प्रायः न के बराबर था। फिलिप्पीन अपनी आवश्यकता की सब वस्तुओं को स्वयं उत्पन्न नहीं करता था। सब प्रकार के तैयार माल के लिये वह अमेरिका पर आश्रित था। यही कारण है, कि जापान की विजय के बाद जब फिलिप्पीन का अमेरिका के साथ व्यापारिक सम्बन्ध नष्ट हो गया, तब फिलिप्पीन लोगों को बहुत अधिक आर्थिक कष्ट का सामना करना पड़ा। महायुद्ध के समय फिलिप्पीन लोग यह बात बहुत प्रबलरूप से अनुभव करने लगे थे, कि उन्हें आर्थिक दृष्टि से बहुत कुछ आत्मनिर्भर होना चाहिये।

राष्ट्रपति ओसमेना ने फिलिप्पीन के शासनसूत्र को संभाल कर यह प्रयत्न किया, कि देश में शान्ति और व्यवस्था को स्थापित करे और अमेरिका के साथ इस प्रकार के सम्बन्ध को कायम करे, जिससे राष्ट्रवादी देशभक्तों को शिकायत का अवसर न मिले। ओसमेना के सम्मुख मुख्य समस्यायें निम्नलिखित थीं—(१) श्री लॉरेल आदि जिन नेताओं ने महायुद्ध के समय प्रवासी फिलिप्पीन सरकार की उपेक्षा कर स्वतन्त्र सरकार की स्थापना करके जापान के साथ सहयोग किया था, उनके साथ क्या बरताव किया जाय। यह समस्या बहुत विकट थी, क्योंकि पुरानी कांग्रेस के बहुसंख्यक सदस्य श्री लॉरेल के साथ थे, और उन्होंने जापान के साथ पूर्णरूप से सहयोग करने में ही अपने देश का हित समझा था। (२) हुकबलीहप दल अब तक भी अपने प्रयत्न में संलग्न था। यह दल किसी भी रूप में अमेरिका के प्रभुत्व व प्रभाव को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं था, और समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील था। (३) फिलिप्पीन लोगों में राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना बहुत प्रबलरूप में विद्यमान थी। अतः अमेरिका के साथ इस ढंग का समझौता आवश्यक था, जिससे राष्ट्रीय स्वाधीनता में बाधा न पड़ती हो।

जब फिलिप्पीन पर अमेरिकन सेनाओं ने जनवरी, १९४५ में कब्जा किया, तो श्री लॉरेल और उनके साथी जापान चले गये थे। जापान के आत्म-समर्पण के बाद इन्हें गिरफ्तार करके फिलिप्पीन लाया गया और यह प्रयत्न किया गया, कि

जापान के साथ सहयोग करने के अपराध में इन पर मुकदमा चलाया जाय। पर इनमें अनेक ऐसे प्रभावशाली व सम्पन्न व्यक्ति भी थे, जिन्हें दण्ड दे सकना सुगम नहीं था। १९४५ में जब राष्ट्रपति ओसमेना ने फिलिप्पीन के शासनसूत्र को अपने हाथों में लिया, तो पुरानी कांग्रेस का भी पुनरुद्धार किया गया। कांग्रेस के सदस्यों का नया निर्वाचन शीघ्र नहीं किया जा सकता था, अतः यही निश्चय हुआ, कि अभी पुरानी कांग्रेस को ही कायम रखा जाय। इस कांग्रेस के बहुसंख्यक सदस्य जापान के साथ सहयोग कर चुके थे, अतः यह सम्भव नहीं था, कि इस ढंग के कानून कांग्रेस द्वारा स्वीकृत कराये जा सकें, जिनके अनुसार श्री लॉरेल व उनके साथियों को दण्ड दिया जाय। साथ ही, जनता यह अनुभव करती थी, कि महायुद्ध की परिस्थितियों में श्री लॉरेल ने स्वाधीन फिलिप्पीन सरकार कायम करके कोई अनुचित कार्य नहीं किया था। इस दशा में राष्ट्रपति ओसमेना के लिये यह सम्भव नहीं हुआ, कि वह श्री लॉरेल व उसके साथियों के विरुद्ध मुकदमे चलाकर उन्हें दण्ड दे सकें।

१९४५ के बाद हुक बली हप दल फिलिप्पीन में निरन्तर प्रबल होता गया। इस दल के प्रधान नेता लुई तारुक और कास्तो अलेजान्द्रिनो थे। फिलिप्पीन सरकार ने यत्न किया, कि इस समाजवादी दल को शक्ति के प्रयोग द्वारा कुचल दिया जाय। पर इसमें सफलता न होने पर उसने यह यत्न किया, कि इस दल के साथ समझौता कर ले। कुछ समय के लिये हुक बली हप दल और फिलिप्पीन सरकार में समझौता भी हो गया। पर यह सम्भव नहीं था, कि फिलिप्पीन की पूंजीवादी सरकार और कम्युनिस्टों में कोई समझौता देर तक कायम रह सके। १९४९ में उनमें फिर संघर्ष प्रारम्भ हो गया। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान फिलिप्पीन में भी हुक बली हप के रूप में कम्युनिस्ट दल की सत्ता है, जो अपने देश में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील है। फिलिप्पीन के कम्युनिस्ट किसी ढंग से अपनी शक्ति का निरन्तर विकास कर रहे हैं।

महायुद्ध की समाप्ति पर अमेरिका ने फिलिप्पीन को स्वाधीनता प्रदान कर दी है। पर इस स्वाधीनता से इस देश से अमेरिकन प्रभाव व प्रभुत्व का अन्त नहीं हो गया है। १९४६ में अमेरिकन कांग्रेस ने फिलिप्पीन के लिये एक ट्रेड एक्ट (व्यापार कानून) स्वीकृत किया था, जिसके कारण इस देश पर अमेरिका का आर्थिक प्रभुत्व पूर्ववत् कायम है। इस कानून के अनुसार अमेरिकन नागरिकों को यह अधिकार दिया गया है, कि वे फिलिप्पीन में जमीन जायदाद खरीद सकें और वहां स्वेच्छापूर्वक व्यापार, व्यवसाय आदि का संचालन कर सकें। अमेरिकन लोग फिलिप्पीन में यह अवसर व अधिकार रखते हैं, कि वे वहां कल-कारखाने

खोल सकें और क्योंकि अमेरिकन लोगों के पास पूंजी की प्रचुरता है, अतः वे अपनी इस पूंजी के जोर पर फिलिप्पीन को अपने आर्थिक कब्जे में रखने में समर्थ हैं।

इतना ही नहीं, अमेरिका ने इस बात की भी जिम्मेवारी ली है, कि वह भविष्य में विदेशी आक्रमणों से फिलिप्पीन की रक्षा करेगा। इसके लिये उसने फिलिप्पीन में अनेक स्थानों पर अपने सैनिक केन्द्र कायम करने का अधिकार प्राप्त कर लिया है। ये सैनिक केन्द्र फिलिप्पीन में अमेरिकन सैनिक प्रभुत्त्व के आधार हैं। इनसे अमेरिका न केवल फिलिप्पीन द्वीप समूह को अपना वशवर्ती बनाये रख सकता है, अपितु साथ ही प्रशान्त महासागर के सुविस्तृत क्षेत्र में अपने प्रभुत्त्व व शक्ति को स्थिर रख सकता है।

बाईसवाँ अध्याय

# जापान की नई व्यवस्था

## (१) परास्त जापान के सम्बन्ध में मित्रराज्यों की नीति

महायुद्ध (१९३९-४५) में जापान के परास्त होने से पूर्व ही मित्रराज्यों ने यह तय कर लिया था, कि जापान के परास्त हो जाने पर उसके सम्बन्ध में किस नीति का अनुसरण किया जायगा। अनेक उद्घोषणाओं द्वारा इस नीति को स्पष्ट कर देने का भी प्रयत्न भी मित्र राज्यों की ओर से किया गया था। फरवरी, १९४५ में याल्टा कान्फरेन्स के परिणामस्वरूप यह घोषणा की गई थी, कि कोरिया को जापान की अधीनता से मुक्त कराके स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जायगा और दक्षिणी सखालिन तथा उसके समीपवर्ती द्वीप रूस के सुपुर्द कर दिये जावेंगे; मञ्चूरिया, पूर्वी चीन, हैनान और फार्मूसा को जापान की अधीनता से मुक्त कर दिया जायगा; चीन में स्वतन्त्र चीनी सरकार की स्थापना होगी, और हैनान व फार्मूसा द्वीपों को चीन के अन्तर्गत रखा जायगा। मञ्चूरिया भी चीन के अन्तर्गत होगा, पर जापान द्वारा मञ्चूकुओ राज्य की स्थापना से पूर्व वहां रूस को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, वे उसे पुनः प्राप्त होंगे। महायुद्ध के दौरान में दक्षिण-पूर्वी एशिया के जिन विविध देशों को जापान ने अपने अधीन कर लिया है, उन सबको उसके प्रभुत्व से मुक्त कर जापान की सत्ता केवल उन द्वीपों तक सीमित कर दी जायगी, जो वस्तुतः उसके अंग हैं, और जो १८९४-९५ तक उसके अधिकार में थे। जुलाई, १९४५ में पोट्सडम कान्फरेन्स द्वारा यह घोषित किया गया, कि जापान की सैनिक शक्ति को सदा के लिये नष्ट कर दिया जायगा और यह प्रयत्न किया जायगा, कि सभ्य संसार के अन्य देशों के समान जापान में भी लोकतन्त्र शासन की स्थापना हो और वहां भी भाषण व विचार की स्वतन्त्रता का विकास हो। साथ ही, ऐसी व्यवस्था की जायगी, कि भविष्य में फिर कभी जापान साम्राज्य विस्तार के लिये प्रयत्न न कर सके।

अगस्त, १९४५ में जब जापान ने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया, तो यह प्रश्न उत्पन्न हुआ, कि परास्त जापान के शासन की क्या व्यवस्था की जाय। यह प्रश्न अधिक विकट नहीं था, कारण यह कि जापान में सम्राट् की सरकार का

सुव्यवस्थित शासन विद्यमान था। मित्रराज्यों ने जापान के विविध द्वीपों पर अभी सैनिक दृष्टि से कब्जा नहीं किया था और न ही वहां कोई ऐसे दल थे, जो सम्राट् के शासन का अन्त कर एक नई सरकार की स्थापना के लिये प्रयत्नशील हों। मित्र-राज्यों ने जापान में सम्राट् की सरकार को कायम रखा, पर उस पर नियन्त्रण रखने व सैनिक दृष्टि से जापान की सैन्यशक्ति पर अपना कब्जा कायम करने की सारी जिम्मेवारी जनरल मैकआर्थर के हाथों में दे दी। जनरल मैक् आर्थर प्रशान्त महासागर व पूर्वी एशिया के क्षेत्र में मित्रराज्यों के प्रधान सेनापति थे और इस क्षेत्र की सब सैन्य शक्ति उन्हीं के हाथों में केन्द्रित थी। अब जापान के शासन को नियन्त्रित करने का कार्य भी उन्हीं के सुपुर्द कर दिया गया।

जनरल मैक आर्थर को अपने कार्य में परामर्श देने के लिये मित्रराज्यों की एक कौंसिल नियत की गई, जिसे 'अलाइड कौंसिल ऑफ जापान' कहते थे। इस कौंसिल में निम्नलिखित राज्यों के प्रतिनिधि सदस्यरूप से नियत किये गये—(१) अमेरिका, इसका प्रतिनिधि इस कौंसिल के प्रधान का कार्य भी करता था। (२) चीन (३) रूस और (४) ब्रिटेन। यह समझा जाता था, कि ब्रिटेन का प्रतिनिधि अपने देश के अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और भारत का भी प्रतिनिधित्व करता है। इस कौंसिल का प्रधान कार्यालय जापान की राजधानी तोकियो में स्थापित किया गया था। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इस कौंसिल का कार्य केवल परामर्श देना था। सब बातों का अन्तिम निर्णय जनरल मैक आर्थर के ही हाथों में था। अलाइड कौंसिल ऑफ जापान का पहला अधिवेशन ५ एप्रिल, १९४६ को तोकियो में हुआ था।

इस कौंसिल के अतिरिक्त एक अन्य समिति थी, जिसका निर्माण जापान सम्बन्धी विषयों पर विचार करने व नीति के निर्धारण के उद्देश्य से किया गया था। इसे फार ईस्टर्न कमीशन (सुदूर पूर्व कमीशन) कहते थे, और इसका प्रधान कार्यालय संयुक्तराज्य अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन में था। इसके सदस्य निम्नलिखित ग्यारह राज्यों के प्रतिनिधि होते थे—(१) अमेरिका, इसका प्रतिनिधि कमीशन के प्रधान का कार्य भी करता था। (२) चीन, (३) आस्ट्रेलिया, (४) कनाडा, (५) फ्रांस, (६) भारत, (७) हालैंड, (८) न्यूजीलैंड, (९) फिलिप्पीन, (१०) रूस, और (११) ब्रिटेन। प्रशान्त [illegible] एशिया के क्षेत्र के साथ जिन राज्यों का सम्बन्ध [illegible] सदस्यता का अधिकार दिया गया था। पर यह करते हुए अधीनस्थ देशों (इन्डोनीसिया, बरमा, इन्डो-चायना आदि) को दृष्टि में नहीं रखा गया था। इस कमीशन का मुख्य कार्य यह था, कि इस बात का फैसला करे, कि जापान की अधीनता व प्रभाव से मुक्त

हुए देशों व द्वीपों के शासन के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की जाय और जापान में जो नई सरकार कायम हो, उसका क्या स्वरूप हो और वह किस नीति का अनुसरण करे। यह निर्णय किया गया था, कि सुदूर पूर्व कमीशन अपने निर्णय बहुमत द्वारा करे, पर कोई निर्णय तब तक मान्य न हो, जब तक कि अमेरिका, चीन, रूस और ब्रिटेन उसके साथ सहमत न हों। इसका अभिप्राय यह था, कि इन राज्यों में से प्रत्येक को कमीशन के निर्णयों को वीटो कर देने का अधिकार प्राप्त था। क्योंकि जापान का शासन और व्यवस्था पूरी तरह जनरल मैक आर्थर के एकाधिकार में दे दी गई थी, अत: यह कमीशन पहले अपने निर्णयों को अमेरिकन सरकार के पास भेजता था और अमेरिकन सरकार उन्हें जनरल मैक आर्थर के पास पहुंचाती थी। कमीशन के निर्णयों के सम्बन्ध में भी अन्तिम अधिकार जनरल मैक आर्थर के हाथों में ही था। यद्यपि जापान में सम्राट् और उसकी सरकार की सत्ता विद्यमान थी, पर वे पूरी तरह से मैक आर्थर के नियन्त्रण में थे और मित्रराज्यों के इस प्रधान सेनापति ने यह भलीभांति स्पष्ट कर दिया था, कि अपनी किसी भी आज्ञा को मनवाने के लिये सैन्यशक्ति के प्रयोग में वह जरा भी संकोच नहीं करेगा।

जनरल मैक आर्थर ने जापान में जिस नीति का अनुसरण किया था, वह पोट्सडम कान्फरेन्स द्वारा निर्धारित की गई थी। उसके मुख्य अंग निम्नलिखित थे—(१) जापान की सैन्यशक्ति को सर्वथा पंगु बना देना। (२) युद्ध के लिये जो जापानी लोग जिम्मेवार थे, और जिन्होंने युद्ध के अवसर पर विविध प्रकार के अपराध किये थे, उन्हें दण्ड देना। (३) जापान में लोकतन्त्र शासन स्थापित करना और (४) जापान के आर्थिक जीवन को इस प्रकार से सञ्चालित करना, ताकि उसका उपयोग सैन्यशक्ति के लिये न किया जा सके।

इन चारों बातों को पूर्ण करने के लिये जनरल मैक आर्थर ने कोई भी कसर उठा नहीं रखी। जापान के युद्ध व सैनिक विभागों को अब यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वे अपनी सम्पूर्ण सैन्यशक्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर दें। इसी उद्देश्य से बाधित सैनिक शिक्षा व बाधित सैनिक सेवा की पद्धतियों को नष्ट किया गया। जो लाखों सैनिक जापान की सेना में थे, उन्हें बर्खास्त कर दिया गया। जापान के लाखों सैनिक प्रशान्त महासागर के विविध द्वीपों व दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में फैले हुए थे, उन सबको जापान वापस बुला लिया गया और वहां उन्हें सैनिक सेवा से पृथक् कर दिया गया। जंगी जहाज, हवाई जहाज व युद्ध के अन्य सब भौतिक सामान को या तो मित्रराज्यों को दे दिया गया और या उन्हें नष्ट कर दिया गया। यह भी व्यवस्था की गई, कि जिस अधिकारी ने जापान की सेना को इतना उन्नत व शक्तिशाली बनाने का कार्य किया था, उन्हें किसी भी राजकीय पद पर न रहने

दिया जाय। जापानी लोग समझते थे, कि उनका सम्राट् दैवी अधिकार द्वारा देश पर शासन करता है, वह साक्षात् देवता है, और जापानी लोग अन्य सब जातियों की अपेक्षा अधिक ऊंचे व उत्कृष्ट हैं। इन विचारों के खिलाफ जबर्दस्त प्रचार किया गया। स्वयं सम्राट् की ओर से एक उद्घोषणा प्रकाशित कराई गई, जिसमें यह कहा गया था, कि सम्राट् को दैवी मानना या देवता के रूप में उसकी पूजा करना सर्वथा अनुचित है। यह बात भी गलत है, कि जापानी लोग अन्य लोगों की अपेक्षा ऊँचे व उत्कृष्ट हैं। शिक्षणालयों में जो ऐसे अध्यापक थे, जो उग्र राष्ट्रीय विचार रखते थे, उन्हें अपने पदों से पृथक् कर दिया गया। ऐसी पाठ्य पुस्तकों को कोर्स से हटाया गया, जो उग्र राष्ट्रभक्ति का प्रतिपादन करती थीं। उन सब सभासमितियों को गैर-कानूनी घोषित किया गया, जिनका उद्देश्य जापान की राष्ट्रीय शक्ति को उन्नत करना था। इन सब बातों का उद्देश्य यही था, कि जापान सैनिक दृष्टि से शक्तिहीन हो जाय और वहां के लोग फिर कभी पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर को अपने आधिपत्य में लाने का प्रयत्न न करें। जापान में कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्हें उनके उदार राजनीतिक विचारों के कारण पिछली सरकार ने कैद कर रखा था। उन सबको अब रिहा कर दिया गया। इन लोगों से जापान में लोकसत्तावादी विचारों के प्रसार में बड़ी सहायता मिली।

युद्ध के समय जापान के जो प्रमुख राजनीतिक व सैनिक नेता थे, प्रायः उन सबको गिरफ्तार किया गया और उन पर युद्ध के अपराधी (वार क्रिमिनल) होने का आरोप लगाया गया। यद्यपि रूस की यह मांग थी, कि सम्राट् को सर्वप्रधान अपराधी करार कर उस पर भी मुकदमा चलाया जाय, पर जापान की जनता में अपने सम्राट् के प्रति जो असाधारण भक्ति भावना थी, उसे दृष्टि में रखकर सम्राट् पर युद्ध के अपराध का अभियोग नहीं चलाया गया और उसकी सत्ता को अक्षुण्ण रूप से कायम रखा गया। जनरल तोजो, मार्क्विस किदो, मत्सुओका, हीरानुमा आदि प्रमुख व्यक्तियों पर युद्ध के अपराध का मुकदमा चलाया गया और इसके लिये एक विशेष न्यायालय की रचना की गई। इन मुकदमों पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

## (२) जापान की नई सरकार

पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने प्रभाव व प्रभुत्व की स्थापना के लिये जापान प्रयत्नशील था। इसीलिये उसने मञ्चूरिया और चीन में युद्ध का प्रारम्भ किया था और इसीलिये दिसम्बर, १९४१ में उसने महायुद्ध में जर्मनी और इटली के पक्ष में और मित्रराज्यों के विरुद्ध प्रवेश किया था। इस काल में जापान में भी

इसी प्रकार की फैसिस्ट प्रवृत्ति प्रबल हो रही थी, जैसी कि मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में और हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी में हुई थी। यद्यपि जापान में हिटलर व मुसोलिनी के समान स्थिति एक शक्तिशाली एकाधिकारी (डिक्टेटर) का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, पर सम्राट् के प्रति जो असाधारण श्रद्धा का भाव जापानी जनता में विद्यमान था, उसके कारण जापान के लोग अपने राजनीतिक भेद-भावों व मतभेदों को भुलाकर सम्राट् के नेतृत्व में अपनी राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि में तत्पर हो गये थे। इसी कारण जापान में 'इम्पीरियल रूल असिस्टेन्स एसोशियेशन' (सम्राट् के शासन के लिये सहायक सभा) नामक संस्था का निर्माण हुआ था, जिसका उद्देश्य राजनीतिक दलों के मतभेदों की उपेक्षा कर सम्राट् की शक्ति के विस्तार में सहायता पहुंचाना था। १९४१ में जापान के प्रधानमन्त्री के पद पर प्रिंस कोनोये विद्यमान था। पर जापान के महायुद्ध में प्रवेश करने से कुछ समय पूर्व ही उसका स्थान जनरल तोजो ने ले लिया था। तोजो जापान के सैनिक दल का नेता था और उसके प्रधानमन्त्री बन जाने के कारण जापान की सरकार में उन लोगों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था, जो सैनिक शक्ति का उपयोग कर जापान के उत्कर्ष के पक्षपाती थे। फैसिस्ट विचारधारा का अनुसरण कर जनरल तोजो व इम्पीरियल रूल असिस्टेन्स एसोशियेशन इस बात के प्रयत्न में थे, कि जापान की जनता के विविध वर्ग राष्ट्रीय उन्नति व साम्राज्य विस्तार में सहायक हों। इसीलिये कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों का 'देशभक्त व्यावसायिक सोसायटी' के रूप में संगठन किया गया था, ताकि मजदूर लोग अपनी शक्ति का उपयोग अपने वेतन बढ़वाने के लिये व अन्य सुविधाएं प्राप्त करने के लिये हड़तालें करने में न करके अधिकतम आर्थिक उत्पत्ति करने में करें। इसी प्रकार जापान के व्यवसायों व कल-कारखानों का स्वामित्व जिन बड़े पूंजीपतियों के हाथों में था, और जिनको 'जैबत्सु' कहा जाता था, उनसे भी यह आशा की जाती थी, कि राष्ट्रीय उत्कर्ष के कार्य में वे सरकार के साथ सहयोग करें।

जापान की पराजय के बाद यह स्वाभाविक था, कि मित्रराज्य वहां से इस फैसिस्ट शासन का अन्त करके लोकतंत्र सरकार की स्थापना का उद्योग करें। इसके लिये उन्होंने जो कार्य किये, उन्हें संक्षिप्त रूप से इस प्रकार प्रतिपादित किया जा सकता है—(१) १८८९ में सम्राट् मेइजी द्वारा जापान में जिस शासन-व्यवस्था का सूत्रपात किया गया था, उसके अनुसार सब राजकीय शक्ति सम्राट् में केन्द्रित थी। सम्राट् न केवल शासन विधान का प्रधान अध्यक्ष था, अपितु व्यवस्थापन और न्याय विभागों का अध्यक्ष भी वही था। यद्यपि बाद में जापान ने लोकतन्त्रवाद की ओर पग बढ़ाया था, पर अब तक भी सम्राट् की दैवी व साक्षात्

देवता माना जाता था। ३ मई, १९४७ से जापान में जिस नये शासन विधान का प्रारंभ किया गया, उसके अनुसार पार्लियामेन्ट को राजकीय शक्ति का प्रधान आधार बनाया गया। कानून बनाने की सम्पूर्ण शक्ति पार्लियामेन्ट को दी गई और सम्राट् की स्थिति को 'ध्वजमात्र' बना दिया गया। नये शासन विधान में यह प्रतिपादित किया गया, कि सम्राट् राज्य का ध्वजमात्र है, और उससे जनता की एकता सूचित होती है। राज्य की प्रभुत्वशक्ति जनता में निहित है, और सम्राट् अपने पद को 'जनता की इच्छा' द्वारा ही प्राप्त करता है। जापान का सम्राट् जो पहले दैवी अधिकार द्वारा शासन करता था, अब उसकी सत्ता व स्थिति जनता की इच्छा पर आश्रित हो गई। (२) जापान में जिस पार्लियामेन्ट की व्यवस्था की गई, उसमें दो सभाएं रखी गईं, प्रतिनिधि सभा और परामर्श सभा। दोनों सभाओं के सम्पूर्ण सदस्य जनता द्वारा वोटों से चुने जावें, यह व्यवस्था की गई। पुराने शासन विधान के अनुसार पार्लियामेन्ट की दूसरी सभा में उच्च कुलों के कुलीन लोग या सम्राट् द्वारा मनोनीत लोग सदस्य हुआ करते थे। पर १९४७ के नये शासन विधान द्वारा यह व्यवस्था की गई, कि पार्लियामेन्ट की दूसरी सभा के सदस्य भी जनता द्वारा निर्वाचित हों। (३) सम्राट् के राजप्रासाद के खर्च को भी पार्लियामेन्ट के नियन्त्रण में लाया गया। राजकीय आय व्यय पर प्रतिनिधि सभा का नियन्त्रण पूर्ण रूप से स्थापित किया गया और ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के हाउस ऑफ कामन्स के समान जापान की प्रतिनिधि सभा की शक्ति भी द्वितीय सभा की अपेक्षा अधिक रखी गई। (४) न्याय विभाग का स्वतंत्र रूप से संगठन किया गया और उसे शासक वर्ग के प्रभाव से मुक्त रखा गया। जापान में सुप्रीम कोर्ट का संगठन करके उसे यह अधिकार दिया गया, कि वह यह निर्णय कर सके, कि सरकार द्वारा प्रचारित कोई आदेश व आज्ञा और पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत कोई कानून संविधान (कोन्स्टिट्यूशन) के अनुकूल है या नहीं। (५) शासन विधान में जनता के अधिकारों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया और यह व्यवस्था की गई, कि इन आधारभूत अधिकारों का कोई भी राजकीय शक्ति उल्लंघन न कर सके। (६) वोट के अधिकार को बहुत अधिक विस्तृत किया गया और स्त्रियों को भी वोट देने का अधिकार प्रदान किया गया। इसमें सन्देह नहीं, कि ३ मई, १९४७ के इस नये शासन विधान द्वारा जापान लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर बहुत आगे बढ़ गया। यद्यपि वहां सम्राट् की सत्ता कायम रखी गई, पर इंगलैण्ड के राजा के समान जापान का सम्राट् भी नये शासन विधान के कारण पूर्ण रूप से 'वैध' व 'ध्वजमात्र' बन गया। पार्लियामेन्ट के नये स्वरूप के कारण जापान का व्यवस्थापन विभाग ब्रिटेन के व्यवस्थापन विभाग की अपेक्षा भी अधिक लोकतन्त्र हो गया और स्वतन्त्र न्याय विभाग के

कारण जापान में इस बात का अवसर जनता को प्राप्त हुआ, कि वह राजकीय स्वच्छन्दता से अपने आधारभूत अधिकारों की भलीभांति रक्षा कर सके।

जापान को लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर अग्रसर करने के लिये एक और महत्त्वपूर्ण कदम इस समय बढ़ाया गया। यह था जापान के शासन को धर्मनिरपेक्ष (सिक्युलर) बनाने के रूप में। हम पहले लिख चुके हैं, कि जापान में सम्राट् को दैवी माना जाता था और पितरों की पूजा वहां के धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग थी। पितृपूजा के लिये वहां बहुत से मन्दिर विद्यमान थे और राज्य की ओर से जनता में पितृपूजा और परम्परागत प्रथाओं व धार्मिक विश्वासों के अनुसरण को प्रोत्साहित किया जाता था। इसी उद्देश्य से पितृपूजा सम्बन्धी बहुत से मन्दिरों का खर्च राज्य की ओर से दिया जाता था। यद्यपि जापान के लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, पर इस अत्यन्त प्राचीन धार्मिक मर्यादा का पालन वहां के बौद्ध लोग भी करते थे। राज्य की ओर से धर्म के इस अङ्ग को (जिसे 'शिन्तो' कहते थे) संरक्षण व प्रोत्साहन मिलता था, क्योंकि इसके कारण जनता में सम्राट् के प्रति भक्ति की भावना को दृढ़ करने में सहायता मिलती थी। जब १९४७ के नये शासन विधान के अनुसार सम्राट् के 'दैवी अधिकार' का विरोध किया गया और उसकी सत्ता व स्थिति को 'जनता की इच्छा' पर आश्रित प्रतिपादित किया गया, तो शिन्तोवाद को बहुत बड़ा आघात लगा। साथ ही, इस समय यह भी व्यवस्था की गई, कि शिन्तो को राजकीय आमदनी में से सहायता न दी जाय और पितृपूजा सम्बन्धी मन्दिरों की रक्षा व पूजा के खर्च का राजकीय कोष के साथ कोई सम्बन्ध न रहे। इसमें सन्देह नहीं, कि जापान के लिये यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व क्रान्तिकारी परिवर्तन था।

अगस्त, १९४५ में जब जापान ने आत्मसमर्पण किया, तो वहां की पार्लियामैन्ट का नया चुनाव १९४६ की वसन्त ऋतु में कराया गया। अभी तक नया शासन विधान नहीं बना था। इस समय जापान के प्रधानमन्त्री के पद पर श्री शिदेहारा विराजमान थे, जो कि अत्यन्त उदार विचारों के व्यक्ति थे। वे जापान के सैनिक आधिपत्य के पक्षपाती नहीं थे और शान्तिवादी नीति का अनुसरण करने के पक्षपाती थे। जापान के आत्मसमर्पण के बाद उन्हीं को वहां का प्रधानमन्त्री नियत किया गया था। १९४६ के प्रारम्भ में जब पुराने शासन विधान के अनुसार पार्लियामैन्ट का नया चुनाव हो गया, तो श्री शिदेहारा ने त्यागपत्र दे दिया और श्री योशीदा ने उनका स्थान ग्रहण किया। उन्हीं के समय में नये शासन विधान का निर्माण हुआ, और जापान में सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र शासन का

सूत्रपात किया गया। इस नये शासन विधान का निर्माण १९४६ के चुनाव द्वारा निर्वाचित पार्लियामेन्ट ने ही किया था।

१९४७ की शरद्ऋतु में नये शासन विधान के अनुसार जापान की पार्लियामेन्ट का चुनाव किया गया। इस चुनाव के परिणामस्वरूप जहां जापान के पुराने राजनीतिक दलों (सैयुकाई और मिन्सेइतो) के बहुत से प्रतिनिधि पार्लियामेन्ट में निर्वाचित हुए, वहां साथ ही एक नई राजनीतिक पार्टी भी मैदान में आ गई, जिसे 'सामाजिक लोकतन्त्रवादी दल' (सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी) कह सकते हैं। इस दल के प्रधान नेता श्री कातायामा थे, जो कि जापान के मजदूरों के एक लोकप्रिय नेता थे। श्री कातायामा की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी में बहुत से ऐसे लोग भी शामिल थे, जो केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता व राजनीतिक अधिकारों को अपर्याप्त समझते थे। इनका विचार यह था, कि जहां सब लोगों को राजनीतिक दृष्टि से समान होना चाहिये, वहां साथ ही आर्थिक दृष्टि से भी उन्हें समान होना चाहिये। ये लोग कम्युनिस्ट व समाजवादी विचारों के थे। इस प्रकार संसार के अन्य देशों के समान जापान में भी इस समय कम्युनिस्ट विचारधारा जोर पकड़ने लगी थी और इस विचारधारा के अनुयायी भी पार्लियामेन्ट में निर्वाचित हुए थे।

१९४७ के चुनाव में पार्लियामेन्ट की प्रतिनिधिसभा में विविध दलों के सदस्यों की संख्या निम्नलिखित प्रकार से थी—सोशल डेमोक्रेट पार्टी १४३, सैयुकाई (लिबरल) दल १३३, मिन्सेइतो दल १२६ और ४६६ स्वतन्त्र व अन्य पार्टियों के उम्मीदवार। क्योंकि प्रतिनिधि सभा में सबसे अधिक सदस्य सोशल डेमोक्रेट पार्टी के थे, अतः उसके नेता श्री कातायामा ने प्रधान मन्त्री के पद को ग्रहण किया और उन्होंने मिन्सेइतो दल व कतिपय अन्य छोटे दलों के सहयोग से अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। पर क्योंकि उनके अपने दल के सदस्यों की संख्या प्रतिनिधिसभा में पर्याप्त नहीं थी, अतः उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र में अपने विचारों को क्रिया में परिणत कर सकें। परिणाम यह हुआ, कि फरवरी, १९४८ में उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और मिन्सेइतो दल के नेता श्री अशीदा हितोशी ने प्रधान मन्त्री के पद को ग्रहण किया।

पर श्री अशीदा हितोशी के लिये भी मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सकना सुगम नहीं था। इस समय जापान के विविध राजनीतिक दल अपनी सत्ता के लिये पूंजीपतियों व अन्य सम्पन्न लोगों की सहायता को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। लोकतन्त्र शासन की यह निर्बलता होती है, कि विविध राजनीतिक दलों के नेता अपनी अपनी शक्ति व सत्ता के लिये पूंजीपतियों की सहायता व सहयोग पर निर्भर करने

लगा है । महायुद्ध से पूर्व जापान के अनेक राजनीतिक दल जागीरदारों और पूँजीपतियों के हाथों में कठपुतलीमात्र थे और उनकी शक्ति जैबत्सु के अन्तर्गत विविध समृद्ध परिवारों की सहायता पर आश्रित थी । महायुद्ध के दौरान में जापान की सरकार पर पूँजीपतियों व जागीरदारों का प्रभाव कुछ कम हो गया था, क्योंकि उस काल के मन्त्रिमण्डल में सैनिक नेताओं की प्रमुखता थी । जापान के आत्म-समर्पण कर देने के बाद वहाँ बड़े पूँजीपति परिवारों का महत्त्व अधिक नहीं रह गया था, क्योंकि उनके अनेक प्रमुख व्यक्तियों को युद्ध का अपराधी बताकर उनपर मुकदमे चलाये गये थे और जनरल मैक आर्थर की यह नीति थी, कि जापान में जैबत्सु की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया जाय । पर महायुद्ध के बाद जब जापान में आर्थिक जीवन का पुनः विकास प्रारम्भ हुआ, तो सम्पन्न लोगों की एक नई श्रेणि विकसित होनी प्रारम्भ हुई, जिसकी आमदनी व समृद्धि का मुख्य आधार सरकारी ठेके थे । अमेरिकन सेनाओं की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये और जनरल मैक आर्थर के आदेशों के अनुसार आर्थिक जीवन के विकास के लिये विविध ठेके सम्पन्न जापानी व्यक्तियों को प्रदान किये जाते थे और इन सरकारी ठेकों द्वारा इन ठेकेदारों को असाधारण आमदनी थी । ये ठेकेदार उचित व अनुचित सब प्रकार के उपायों से अपनी आमदनी बढ़ाने का प्रयत्न करते थे और इस प्रयत्न में राजनीतिक दलों के नेताओं को रिश्वत आदि द्वारा अपने साथ मिलाये रखते थे । इसीलिये अशीदा हितोशी का मन्त्रिमण्डल देर तक कायम नहीं रह सका । उस पर रिश्वत आदि ग्रहण करने के अनेक अपराध लगाये गये और अक्टूबर, १९४८ में उसने त्यागपत्र दे दिया । अब सीयुकाई दल के नेता श्री योशीदा शिगेरू ने नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया । जनवरी, १९४९, में जापान की पार्लियामेन्ट का पुनः निर्वाचन हुआ, इस में श्री योशीदा के दल के उम्मीदवार बहुत बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए । प्रतिनिधि सभा में इस दल को बहुसंख्या प्राप्त हो गई और इस कारण योशीदा के मन्त्रिमण्डल की स्थिति बहुत अधिक सुरक्षित हो गई । अब श्री योशीदा को अन्य दलों के सहयोग की विशेष आवश्यकता नहीं रही थी ।

जापान के आत्मसमर्पण के बाद उसके शासन में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए और जिन विविध सरकारों ने उसका शासन किया, उनके उल्लेख के साथ साथ यह निर्दिष्ट कर देना भी आवश्यक है, कि यद्यपि इस समय जापान का शासन सम्राट् के नाम पर होता था और वहाँ जापानी मन्त्रिमण्डल विद्यमान थे, पर शासनसूत्र का वास्तविक सञ्चालन जनरल मैक आर्थर के हाथों में था । उसी के आदेश के अनुसार जापान में सब कार्य होते थे और जापानी सरकार में यह साहस नहीं था, कि वह उसके किसी आदेश की उपेक्षा कर सके ।

## (३) जापानी नेताओं पर मुकदमे

पोट्सडम कान्फरेन्स में मित्रराज्यों के नेताओं ने यह भी निर्णय किया था, कि जर्मनी, इटली और जापान के उन व्यक्तियों पर मुकदमा चलाया जाय, जिन्होंने युद्ध के लिये विशेषरूप से कार्य किया था। इस निर्णय के अनुसार परास्त राज्यों के नेताओं पर जो अभियोग लगाये गये थे, उन्हें चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) युद्ध के लिये साजिश करना, (२) युद्ध के समय में ऐसे अपराध करना, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध हों, (३) शान्ति और व्यवस्था के खिलाफ अपराध करना और (४) मानव समाज और मनुष्यता के विरुद्ध अपराध करना। इन मुकदमों का निर्णय करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गई थी। जापान के अभियुक्तों पर मुकदमा चलाने के लिये जो न्यायालय संगठित हुआ था, उसका एक न्यायाधीश भारतीय भी था। उन सज्जन का नाम है, श्री राधा विनोद पाल। जापान के जिन नेताओं को इस न्यायालय के सम्मुख अभियुक्त के रूप में पेश किया गया, उनमें जनरल तोजो (भूतपूर्व प्रधानमन्त्री), मत्सुओका (भूतपूर्व परराष्ट्र मन्त्री), जनरल कीमुरा, श्री हीरोता, मार्क्विस किदो और श्री हीरानुमा जैसे प्रमुख व्यक्ति भी शामिल थे। इस अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय के अनुसार जिन जापानी नेताओं को फांसी के तख्ते पर लटकाया गया, उनकी संख्या सात थी। अन्य बहुत से बड़े जापानी सेनापतियों व राजनीतिज्ञों को आजन्म कारावास की सजा दी गई।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अन्यतम न्यायाधीश श्री राधा विनोद पाल ने अपने निर्णय में यह बात भलीभांति स्पष्ट करदी थी, कि युद्ध के लिये केवल जापानी अभियुक्तों को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। उन्होंने जो कुछ भी किया, वह अपने देश के हित को दृष्टि में रखकर किया। उनका प्रधान अपराध यही है, कि वे एक परास्त देश के नेता हैं। श्री पाल अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों के निर्णय से सहमत नहीं थे। इसमें सन्देह नहीं, कि परास्त देशों के नेताओं पर मुकदमा चलाकर उन्हें दण्ड देना संसार के इतिहास में एक नई बात थी। इससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नई परम्परा का प्रारम्भ हुआ। पराजित राज्यों से बदला लेने की भावना इस परम्परा में स्पष्टरूप से प्रकट होती है, और इसका अभिप्राय यही समझा जा सकता है, कि अपने शत्रु का [illegible] करने का प्रयत्न किया जाय। यदि महायुद्ध में ब्रिटेन और अमेरिका परास्त होते, तो श्री चर्चिल और राष्ट्रपति रूजवेल्ट पर भी इसी प्रकार के मुकदमे चलाये जा सकते थे। जिस

ढंग के अभियोग जनरल तोजो व मत्सुओका पर लगाये गये, ठीक उसी ढंग के अभियोग चर्चिल आदि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों पर भी लागू हो सकते थे। इस समय संसार में असहिष्णुता की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। विविध देशों में लोग अपने से विरोध रखने वाले राजनीतिक विचारों को सहन नहीं करना चाहते। अपनी विरोधी राजनीतिक पार्टी की सत्ता को सहन न करना इस युग की राजनीति की एक विशेषता हो गई है। फ्रांस की सरकार ने मार्शल पेतां पर इसीलिये मुकदमा चलाया था। पेतां ने फ्रांस के सम्बन्ध में जिस नीति को अपनाया था, उनकी सम्मति में वह देश के हित के लिये ही थी। पर बाद में उन्हें देशद्रोही माना गया। यही प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी पाई जाती है। तोजो, गोयरिंग आदि परास्त देशों के नेताओं पर मुकदमे चलाना इसी असहिष्णता का परिणाम था। संसार के लिये इस प्रवृत्ति को हितकर नहीं कहा जा सकता।

मित्रराज्य केवल जापान के बड़े नेताओं पर मुकदमे चलाकर व उन्हें दण्ड देने की व्यवस्था करके ही संतुष्ट नहीं हुए, उन्होंने यह भी प्रयत्न किया कि उन सब लोगों को सरकारी पदों व आर्थिक जीवन के महत्त्वपूर्ण पदों से पृथक् कर दिया जाय, जिन्होंने महायुद्ध के समय मित्रराज्यों के विरुद्ध तत्परता प्रदर्शित की थी। १९४६ और १९४७ में अनेक ऐसे आर्डिनान्स जारी किये गये, जिनका उद्देश्य इस प्रकार के सब व्यक्तियों को अपने पदों से पृथक् कर देना था। जापान के व्यापार और व्यवसाय के क्षेत्र से जिन प्रमुख व्यक्तियों को इन आर्डिनान्सों द्वारा पदच्युत किया गया, उनकी संख्या २२०० से भी अधिक थी। इनका मुख्य अपराध यही था, कि महायुद्ध के समय में इन्होंने अपने देश के लिये उत्साह के साथ कार्य किया था और अपने कल कारखानों व आर्थिक जीवन के सञ्चालन में अपने कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन किया था। २२०० के लगभग इन बड़े आदमियों के अतिरिक्त जिन साधारण लोगों को इन आर्डिनान्सों के अनुसार अपने अपने कार्य से पृथक् कर दिया गया था, उनकी संख्या १५,००,००० के लगभग थी। महायुद्ध के समय में जो लोग विविध राजकीय पदों पर नियत थे, जो कल कारखानों में इन्जीनियर, शिल्पी व विशेषज्ञ आदि के रूप में कार्य कर रहे थे, या जो लोग जापान के आर्थिक जीवन को संभाले हुए थे, उनके बहुत बड़े भाग को इस अपराध पर अपने कार्य से पृथक किया गया, कि उन्होंने युद्धकार्य में अपने 'अपराधी' नेताओं के साथ सहयोग किया था। मित्रराज्य और विशेषतया अमेरिका परास्त जापान के साथ बरताव करते हुए कितनी अयुक्ति युक्त नीति का अनुसरण कर रहे थे, यह बात इसका स्पष्ट उदाहरण है।

## (४) जापान के सम्बन्ध में नई नीति

अगस्त, १९४५ में जब जापान ने मित्रराज्यों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया, तो उसके सम्बन्ध में मित्रराज्यों की यह नीति थी, कि उसे सैनिक और आर्थिक दृष्टि से इतना अधिक पंगु और निर्बल बना दिया जाय, कि वह भविष्य में फिर कभी अपने साम्राज्य विस्तार के लिये प्रयत्न न कर सके। इसीलिये जनरल मैक आर्थर ने यह व्यवस्था की थी, कि जापान के कल कारखानों में जो उत्कृष्ट प्रकार की मशीनें हैं, उन्हें वहां से उखाड़ कर चीन, फिलिप्पीन आदि देशों को युद्ध के हरजाने के रूप में दे दिया जाय। पर मित्रराज्य देर तक इस नीति का अनुसरण नहीं कर सके। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे—(१) चीन में कम्युनिस्ट दल की शक्ति किस प्रकार बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थी, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। चियांग काई शेक का कुओमिन्तांग दल कम्युनिस्टों द्वारा निरन्तर परास्त हो रहा था, और बाद में यह स्थिति आ गई थी, कि फार्मूसा के अतिरिक्त शेष सब चीन कम्युनिस्टों के अधिकार में आ गया था। मित्रराज्यों और विशेषतया अमेरिका को यह भय था, कि यदि जापान सैनिक और आर्थिक दृष्टि से निर्बल हो जायगा, तो वहां भी कम्युनिस्टों की शक्ति बढ़ने में सहायता मिलेगी। (२) महायुद्ध की समाप्ति के बाद संसार की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में लोकतन्त्रवादी और समाजवादी (कम्युनिस्ट) देशों का विरोध सबसे महत्त्वपूर्ण बात हो गई। यद्यपि महायुद्ध में रूस, अमेरिका और ब्रिटेन एक साथ मिलकर फैसिस्ट शक्तियों की पराजय के लिये तत्पर थे, पर उनमें सौमनस्य देर तक कायम नहीं रह सका। समाज का आर्थिक संगठन किस प्रकार का हो, इस विषय पर ब्रिटेन और अमेरिका सदृश लोकतन्त्र राज्यों और रूस सदृश समाजवादी राज्यों में गहरा मतभेद था। यह मतभेद शीघ्र ही स्पष्ट विरोध व विद्वेष के रूप में परिणत हो गया और संसार के प्रमुख राज्य दो गुटों में विभक्त हो गये। एक गुट का नेता रूस था और दूसरे का संयुक्त-राज्य अमेरिका। जब चीन पर कम्युनिस्ट सरकार का आधिपत्य स्थापित हो गया, तो प्रशान्त महासागर और दक्षिण-पूर्वी व पूर्वी एशिया में अमेरिका की स्थिति बहुत निर्बल व अरक्षित हो गई। इस क्षेत्र में रूस के समाजवादी गुट का प्रभाव व प्रभुत्व बहुत अधिक बढ़ गया। इस स्थिति में अमेरिका ने यह अनुभव किया, कि यदि जापान को आर्थिक व सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाया जाय, तो वह कम्युनिज्म की [illegible] ने के कार्य में अमेरिका का प्रधान सहायक हो सकता है। महायुद्ध के समय में मित्रराज्यों और विशेषतया अमेरिका का यह ख्याल था, कि चीन पूर्वी एशिया का नेतृत्व कर सकता है, और उसकी लोकतंत्र राष्ट्रीय सरकार को

नाजी व फैसिस्ट प्रवृत्तियों के खिलाफ प्रयुक्त करने के साथ-साथ कम्युनिज्म के विरुद्ध भी प्रयोग में लाया जा सकता है । इसीलिये संयुक्त राज्यसंघ में चीन को ब्रिटेन, अमेरिका, रूस और फ्रांस के समान ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था । पर जब चीन जैसे विशाल देश में कम्युनिस्टों का आधिपत्य स्थापित हो गया, तो प्रशान्त महासागर और पूर्वी एशिया के क्षेत्र में कम्युनिज्म की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला करने का केवल यही उपाय अमेरिका के सम्मुख रह गया, कि वह जापान को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करे । (३) १९५० में कोरिया में युद्ध का सूत्रपात हो गया । दक्षिणी कोरिया अमेरिका के प्रभुत्व में था और उत्तरी कोरिया में कम्युनिस्ट सरकार की सत्ता थी । दक्षिणी कोरिया की कम्युनिस्टों से रक्षा करने के लिये जब अमेरिका और अन्य मित्रराज्यों ने उसकी लोकतन्त्र सरकार की सहायता प्रारम्भ की, तो इसके लिये जापान को 'आधार' बनाया गया । जापान से दक्षिणी कोरिया की सहायता तभी समुचित रूप से की जा सकती थी, जब कि वह देश आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली हो ।

जिस प्रकार रूस के कम्युनिस्टों से पश्चिमी यूरोप की रक्षा करने के लिये ब्रिटेन और अमेरिका ने पश्चिमी जर्मनी को फिर से शक्तिशाली बनाने का उद्योग शुरू किया, वैसे ही चीनी कम्युनिस्टों से पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया की रक्षा करने के लिये उन्होंने जापान को फिर से शक्तिशाली बनाने की नीति का अनुसरण प्रारम्भ किया । यही कारण है, कि इस समय अमेरिका और ब्रिटेन जैसे लोकतन्त्र देश जापान को अपना शत्रु न समझ कर उसे अपना मित्र मानते हैं, और इस बात के लिये प्रयत्नशील है, कि वह एक बार फिर पूर्ववत् शक्तिशाली बनकर रूस और चीन के कम्युनिज्म का मुकाबला कर सकने में समर्थ हो । पर जापान में भी कम्युनिस्ट विचारों का जोर निरन्तर बढ़ रहा है, और यह बात विवादास्पद है, कि जापान कहां तक कम्युनिज्म के प्रतिरोध में अमेरिका का सहायक हो सकेगा ।

तेईसवां अध्याय

# कोरिया की समस्या

## (१) कोरिया की नई व्यवस्था

१ दिसम्बर, १९४३ को कैरो कान्फरेन्स के परिणामस्वरूप अमेरिका, ब्रिटेन और चीन की तरफ से एक उद्घोषणा प्रकाशित हुई थी, जिसमें यह कहा गया था, कि महायुद्ध में जापान के परास्त हो जाने पर कोरिया को जापान की अधीनता से मुक्त कर एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिणत कर दिया जायगा। याल्टा और पोट्सडम की उद्घोषणाओं में इस बात को फिर दोहराया गया था और कोरिया के सम्बन्ध में मित्र राज्यों की यह नीति सर्वथा स्पष्ट थी, कि जापान की पराजय के बाद कोरिया की राष्ट्रीय स्वाधीनता को पुनः स्थापित किया जायगा। उन्नीसवीं सदी में कोरिया चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत एक अधीनस्थ राज्य की स्थिति रखता था। जापान ने उसे किस प्रकार अपने अधीन किया, इस पर हम पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। १९४५ तक कोरिया पूर्णतया जापान के अधीन था और जापानी लोग उसे अपनी आर्थिक समृद्धि के लिये प्रयुक्त करने में तत्पर थे। पर कोरियन लोगों में अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना विद्यमान थी और वे जापान की अधीनता से मुक्त होने के लिये प्रयत्नशील थे। जहां विदेशों में विद्यमान बहुत से सुशिक्षित कोरियन देशभक्त अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिये उद्योग में लगे थे, वहां कोरिया के अन्दर भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो महायुद्ध में जापान की गिरती कला से लाभ उठाकर स्वराज्य के संघर्ष में तत्पर थे।

कैरो कान्फरेन्स में अमेरिका, ब्रिटेन और चीन ने यह बात तो स्वीकार कर ली थी, कि महायुद्ध के बाद कोरिया को स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जायगा, पर उनका खयाल था कि इस देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने के लिये अनेक वर्षों तक वहां मित्रराज्यों का आधिपत्य कायम रखने की आवश्यकता होगी। धीरे धीरे जब कोरियन लोग अपने देश का शासन स्वयं संभाल सकने के लिये समर्थ हो जायेंगे, तब वहां स्वराज्य स्थापित कर दिया जायगा। जब अगस्त, १९४५ में रूस ने भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, तो

यह आवश्यक हो गया, कि उसे भी कोरिया के सम्बन्ध में की जानेवाली नई व्यवस्था में हाथ बटाने का अधिकार हो। उत्तरी चीन में जापान की सबसे अधिक शक्तिशाली स्थल सेना क्वांतुंग सेना विद्यमान थी। इसे रूसी सेनाओं ने ही परास्त किया था। इस दशा में उसे ही सबसे पूर्व यह अवसर मिला, कि वह उत्तरी कोरिया में जापानी सेनाओं को परास्त कर उस प्रदेश [illegible] अपने कब्जे में ले आये। इस स्थिति में मित्रराज्यों ने कोरिया के सम्बन्ध में आपस में यह समझौता किया, कि ३८वीं पेरेलल के उत्तर में रूसी सेनायें अपना कब्जा रखें और ३८वीं पेरेलल के दक्षिण में अमेरिकन सेनायें। पर यह सैनिक कब्जा केवल सामयिक रूप से हो और रूसी व अमेरिकन सेनाओं का यह कार्य हो, कि वे अपने अपने क्षेत्र में जापान के सैनिक व अन्य प्रभुत्व को नष्ट कर कोरिया को जापानी अधीनता से मुक्त करें।

यह स्वाभाविक था, कि जापान की अधीनता से मुक्त होने के बाद कोरिया में सर्वत्र स्वाधीनता की भावना अत्यन्त प्रबल रूप धारण कर ले। इसी कारण वहां सर्वत्र जनता ने बड़ी बड़ी सभायें कीं और उत्साहपूर्ण जुलूस निकालकर अपनी प्रसन्नता को प्रकट किया। जो अनेक कोरियन देशभक्त जापान की जेलों में बन्द थे, वे इस समय रिहा हो गये। इनमें प्रसिद्ध क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट नेता पाक हेन एन भी था। उसने जेल से मुक्त होकर कोरिया में कम्युनिस्ट दल का पुनः संगठन शुरू किया। सब बड़े नगरों में कम्युनिस्ट नेतृत्व में जनसमितियां (पीपल्स कमेटी) संगठित की जानी प्रारम्भ हुई और ६ सितम्बर, १९४५ को सिऊल नगर में जनता के प्रतिनिधियों की एक विशाल कांग्रेस का आयोजन किया गया। इसमें १००० से अधिक प्रतिनिधि एकत्र हुए। इस कांग्रेस ने निश्चय किया, कि कोरिया को एक स्वतन्त्र रिपब्लिकन राज्य के रूप में परिवर्तित किया जाय। इसके लिये एक केन्द्रीय जनसमिति का भी संगठन कर लिया गया। इस केन्द्रीय समिति में कम्युनिस्टों के अतिरिक्त अन्य राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे। यदि मित्रराज्य इस समय कोरिया के मामले में हस्तक्षेप न करते, तो कोरियन देशभक्त स्वयं अपने देश के शासनसूत्र को संभाल सकते थे और कोरिया एक स्वतन्त्र रिपब्लिक के रूप में परिणत हो जाता।

पर मित्रराज्यों के निर्णय के अनुसार दक्षिणी कोरिया पर अमेरिकन सेनाओं ने और उत्तरी कोरिया पर रूसी सेनाओं ने अपना कब्जा कायम कर लिया था। यह कब्जा केवल सैनिक ही नहीं था, अपि[illegible] थी। अमेरिकन और रूसी सेनायें अपने अपने [illegible] करने लगी थीं। इस स्थिति में दिसम्बर, १९४५ में ब्रिटेन, रूस और अमेरिका के परराष्ट्र मन्त्री मौस्को में एकत्र हुए। इस कान्फरेन्स का प्रयोजन यह था, कि सम्पूर्ण कोरिया

में एक स्वतन्त्र व लोकतन्त्र राज्य की स्थापना के प्रश्न पर विचार किया जाय। इस सम्बन्ध में रूस और अमेरिका ने दो पृथक् योजनायें पेश कीं। बहुत वाद-विवाद के बाद अन्त में यह निश्चय हुआ, कि रूस और अमेरिका का एक संयुक्त कमीशन बनाया जाय, जो कि सम्पूर्ण कोरिया के लिये एक सामयिक लोकतन्त्र सरकार को संगठित करने का कार्य करे। इस कोरियन सरकार के निर्माण के लिये देश की विविध लोकतन्त्र राजनीतिक दलों का सहयोग प्राप्त किया जाय और उनके परामर्श के अनुसार सब कार्य हो। अधिक से अधिक पांच साल तक कोरिया पर रूस और अमेरिका की ट्रस्टीशिप कायम रहे, और इस अवधि में कोरिया की सरकार को शासनसूत्र के संचालन की सारी उत्तरदायिता दे दी जाय। कोरिया की जनता ने मोस्को कान्फरेन्स के इस निर्णय का बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया। इससे वे अनुभव करते थे, कि कोरिया में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के स्थापित होने में अब अधिक विलम्ब नहीं है।

मार्च, १९४६ में संयुक्त सोविएत-अमेरिकन कमीशन ने सिऊल में अपना कार्य प्रारम्भ किया। पर शुरू से ही रूस और अमेरिका में मतभेद प्रकट होने लग गये। सामयिक कोरियन सरकार की स्थापना में किन राजनीतिक दलों का सहयोग लिया जाय, इस प्रश्न पर रूस और अमेरिका के लिये एकमत हो सकना सुगम नहीं था। रूसी प्रतिनिधि समझते थे, कि कोरिया में सबसे अधिक शक्तिशाली दल कम्युनिस्टों का है, और वही दल जनता का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता है। इसके विपरीत अमेरिकन प्रतिनिधियों की दृष्टि में कोरिया के दक्षिण-पक्षी (कम्युनिस्ट-विरोधी) दलों का अधिक महत्त्व था। इस समय कोरिया के लोग दो मुख्य दलों में विभक्त थे। एक दल कम्युनिस्ट व्यवस्था का पक्षपाती था और दूसरा दल अमेरिका और ब्रिटेन के ढंग की लोकतन्त्र रिपब्लिक के पक्ष में था। यह सुगम नहीं था, कि इन दो दलों में समझौता हो सके। स्वाभाविक रूप से रूस के प्रतिनिधियों की यह इच्छा थी, कि सामयिक कोरियन सरकार का निर्माण करते हुए कम्युनिस्ट दल को प्रमुख स्थान दिया जाय। अमेरिकन प्रतिनिधि इसके विरुद्ध थे। इस दशा में संयुक्त सोविएत-अमेरिकन कमीशन अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका।

रूस और अमेरिका दोनों ही कोरिया के अपने अपने क्षेत्र में अपने विचारों व आदर्शों के अनुसार सामयिक सरकार के संगठन में तत्पर थे। यदि संयुक्त सोविएत-अमेरिकन कमीशन एकमत होकर सम्पूर्ण कोरिया में एक सरकार की स्थापना में समर्थ हो जाता, तो कोरिया की एकता अक्षुण्ण रहती। पर जब यह कमीशन अपने कार्य में असफल हो गया, तो रूस और अमेरिका के सम्मुख एक ही मार्ग शेष रह

गया। उन दोनों ने अपने अपने क्षेत्र में ऐसी सरकारें संगठित करनी शुरू कर दीं, जो उनके अपने आदर्शों के अनुकूल थीं। उत्तरी कोरिया व्यवसायों और कल-कारखानों का केन्द्र था। वहां मजदूर श्रेणि की प्रचुरता थी, जो कम्युनिस्ट विचारधारा की अनुयायी थी। दक्षिणी कोरिया की जनता मुख्यतया कृषि पर निर्भर थी। यद्यपि वहां भी कम्युनिज्म की सत्ता थी, पर उस क्षेत्र में कम्युनिस्टों का उतना जोर नहीं था, जितना कि उत्तरी कोरिया में था। अतः रूसी सेनाओं के संरक्षण में उत्तरी कोरिया में एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार का सुगमता के साथ संगठन हो गया, जिसमें कम्युनिस्ट लोगों की प्रधानता थी। कम्युनिस्ट लोगों ने अन्य राजनीतिक दलों के साथ सहयोग कर एक नई पार्टी का संगठन किया, जिसे 'नवीन जनता दल' (न्यू पीपल्स पार्टी) का नाम दिया गया। इस नये दल ने एक सामयिक सरकार का संगठन किया, जिसका नेता श्री किम इर सेन था। ये श्री किम इर सेन कम्युनिस्ट दल के प्रभावशाली व सुयोग्य नेता थे। इस सामयिक सरकार ने देश के शासनसूत्र को भलीभांति संभाल लिया और इस प्रकार के अनेक सुधारों का प्रारम्भ किया, जिनका उद्देश्य कोरिया की जनता का हित व कल्याण था। कोरिया की अधिकांश भूमि जापानी जागीरदारों की सम्पत्ति थी। इस भूमि को जापानी मालिकों से छीनकर कोरियन किसानों में विभक्त कर दिया गया। कोरियन लोगों के पास भी जो बड़ी बड़ी जागीरें थीं, उनकी भूमि भी किसानों में बांट दी गई। भूमि सम्बन्धी इस सुधार के कारण जो भूमि सर्वसाधारण किसानों (जिनके पास अब तक खेती के लिये कोई भी जमीन नहीं थी) में विभक्त की गई, उसका क्षेत्रफल १०,००,००० चों (एक चो=२.४५ एकड़) से भी अधिक था और इससे जिन किसानों को लाभ पहुंचा, उनकी संख्या ७,२५,००० के लगभग थी। श्री किम इर सेन की सरकार केवल जमीन को किसानों में बांट कर ही संतुष्ट नहीं हुई, उसने यह भी प्रयत्न किया, कि किसानों को खेती के लिये आवश्यक उपकरण भी प्राप्त हों। जमीन के सम्बन्ध में व्यवस्था करके श्री किम इर सेन की सरकार ने व्यवसायों की उन्नति पर ध्यान दिया। अब तक कोरिया के प्रायः सभी कल कारखाने जापानी लोगों के स्वत्व में थे। उन पर राज्य ने अपना स्वत्व स्थापित कर लिया। बात की बात में कोरिया के सब कल कारखाने, बैंक और बीमा कम्पनियां आदि राज्य की सम्पत्ति बन गईं। जो छोटे व्यवसाय कोरियन लोगों के हाथों में थे, उन पर उन्हीं का अधिकार कायम रखा गया। राज्य के स्वत्व में विद्यमान बड़े कल कारखानों व अन्य आर्थिक संस्थाओं में कार्य करने वाले मजदूरों के लिये इस प्रकार के कानून बनाये गये, जो मजदूरों व कर्मचारियों के लिये बहुत अधिक हितकर व सुविधाजनक थे।

सितम्बर, १९४६ में उत्तरी कोरिया की सामयिक सरकार ने अपने देश के लिये नये शासनविधान का निर्माण कर लिया। इसमें यह व्यवस्था की गई, कि सब बालिग पुरुषों व स्त्रियों को वोट का अधिकार प्राप्त हो और वोट देने के लिये गुप्त पर्चियों (बैलट) का प्रयोग किया जाय। नया शासन विधान समाजवादी और लोकतन्त्र सिद्धान्तों के अनुसार बनाया गया था। देश को अनेक प्रान्तों में और प्रान्तों को अनेक जिलों में विभक्त करके यह व्यवस्था की गई थी, कि प्रान्तों, जिलों और नगरों का शासन-प्रबन्ध जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथों में रहे। इसी के अनुसार नवम्बर, १९४६ में उत्तरी कोरिया में निर्वाचन किये गये। इस चुनाव में नवीन जनता दल को असाधारण सफलता हुई।

इस प्रकार जापान की अधीनता से मुक्त होने के लगभग एक साल बाद तक उत्तरी कोरिया में एक ऐसी सरकार की स्थापना हो गई थी, जो पूर्णतया राष्ट्रीय व स्वतन्त्र थी। यद्यपि रूसी सेनायें अभी इस क्षेत्र में विद्यमान थीं, पर देश के शासन में वे कोई हस्तक्षेप नहीं करती थीं। सरकार का संचालन पूर्ण रूप से कोरियन लोगों के हाथों में था और इस कोरियन सरकार का निर्माण लोकमत के अनुसार हुआ था। इसमें सन्देह नहीं, कि रूसी सेनाओं की सत्ता के कारण कोरिया की कम्युनिस्ट पार्टी को बल मिलता था, पर साथ ही यह बात भी निर्विवाद है, कि उत्तरी कोरिया के व्यवसाय प्रधान क्षेत्रों में कम्युनिस्ट लोग अधिक शक्तिशाली थे और जापानी लोगों की जागीरों को भूमिविहीन किसानों में विभक्त कर तथा जापानी लोगों के कल कारखानों व बैंकों आदि को राज्य के स्वत्व में लाकर सरकार ने एक ऐसा कार्य किया था, जिसके कारण सर्वसाधारण जनता की सहानुभूति उसे अविकल रूप से प्राप्त हो गई थी।

## (२) दक्षिणी कोरिया में रिपब्लिक की स्थापना

हम ऊपर लिख चुके हैं, कि ३८वें पेरेलल के दक्षिण में दक्षिणी कोरिया में जापानी प्रभुत्व का अन्त करने का कार्य अमेरिकन सेनाओं के सुपुर्द किया गया था। इस अमेरिकन सेना के सेनापति जनरल जॉन हॉज थे, जो जनरल मैक आर्थर की अधीनता में अपना कार्य करते थे। जिस प्रकार जापान में शासन के सञ्चालन का कार्य जापानी सरकार के हाथों में रखा गया था, उसी प्रकार दक्षिणी कोरिया में भी शुरू में वहां का शासन जापानी कर्मचारियों के हाथों में ही रखा गया। ये जापानी कर्मचारी जनरल हॉज के आदेशों के अनुसार शासन का कार्य करते थे। जनवरी, १९४६ तक यह व्यवस्था कायम रही। जनवरी, १९४६ में दक्षिणी कोरिया के शासन के लिये अमेरिकन सैनिक सरकार का संगठन किया गया, जिसमें

कोरियन लोगों का सहयोग भी प्राप्त किया गया। यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इस समय तक उत्तरी कोरिया में सर्वत्र जनसमितियां संगठित हो चुकी थीं और जनता इन समितियों द्वारा अपने शासन कार्य का स्वयं सञ्चालन करने लगी थी। अमेरिकन सैनिक सरकार शासनकार्य में जिन कोरियन लोगों का सहयोग प्राप्त कर रही थी, वे प्रायः धनी व सम्पन्न लोग थे। इनके अतिरिक्त वे कोरियन लोग जो विदेशों में रहने के कारण अंग्रेजी भाषा और अमेरिकन आचार विचार से भलीभांति परिचित थे, इस सैनिक सरकार को सहयोग देने का कार्य कर रहे थे। अमेरिकन लोगों ने यह प्रयत्न नहीं किया, कि रूसी लोगों के समान सर्वसाधारण कोरियन जनता का सहयोग देश के शासन में प्राप्त करे। फरवरी, १९४६ में जब उत्तरी कोरिया में बाकायदा सामयिक सरकार की स्थापना हो गई थी और यह सरकार पूर्ण रूप से जनता के हाथों में थी, दक्षिणी कोरिया में एक परामर्श समिति (एड्वाइजरी कौंसिल) का निर्माण किया गया। पर इस कौंसिल में केवल उन लोगों को स्थान दिया गया, जो घोर दक्षिणपक्षी विचारों के थे। कम्युनिस्ट व वामपक्षी लोगों के इसमें सम्मिलित होने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था, जब कि इसमें उदार लोकतन्त्र विचारों के राजनीतिक दलों तक को स्थान नहीं दिया गया था।

नवम्बर, १९४६ में जब उत्तरी कोरिया में नये शासन विधान के अनुसार नई निर्वाचित सरकार का संगठन हो गया, तब दक्षिणी कोरिया में अमेरिकन सैनिक सरकार ने एक सामयिक व्यवस्थापिका सभा का संगठन करने की व्यवस्था की। इस व्यवस्थापिका सभा के विषय में यह निश्चय किया गया, कि इसके आधे सदस्य अमेरिकन सैनिक सरकार द्वारा मनोनीत किये जावें, और आधे निर्वाचन द्वारा नियुक्त हों। पर इन निर्वाचित सदस्यों के लिये भी यह व्यवस्था की गई थी, कि उन्हें सम्पूर्ण बालिग स्त्री पुरुष अपने वोटों द्वारा न चुनकर कतिपय सम्पन्न व शिक्षित लोग परोक्ष निर्वाचन पद्धति द्वारा निर्वाचित करें। यह स्वाभाविक था, कि दक्षिणी कोरिया की सर्वसाधारण जनता इस व्यवस्थापिका सभा और इसके सदस्यों की नियुक्ति की योजना का विरोध करती। परिणाम यह हुआ, कि नवम्बर, १९४६ के निर्वाचन से पूर्व सम्पूर्ण दक्षिणी कोरिया में अशान्ति और विद्रोह के चिह्न प्रकट होने लगे। अक्टूबर, १९४६ में दक्षिणी कोरिया के मजदूरों ने आम हड़ताल की घोषणा कर दी। कई स्थानों पर दंगे और विद्रोह हुए। वामपक्षी दलों का कहना था, कि अमेरिकन सैनिक सरकार जान बूझकर इस बात का यत्न कर रही है, कि जनता के वास्तविक प्रतिनिधि व्यवस्थापिका सभा में निर्वाचित न हो सकें और केवल ऐसे लोग ही व्यवस्थापिका सभा

में आवें, जो अमेरिकन प्रभुत्त्व को कोरिया में स्थापित रखने में सहायक हों। इसके विपरीत अमेरिकन सैनिक सरकार का कहना था, कि दक्षिणी कोरिया में जो हड़तालें, दंगे व विद्रोह हो रहे हैं, वे सब कम्युनिस्ट लोगों की कृति हैं। यह स्वाभाविक था, कि व्यवस्थापिका सभा में जो ५० प्रतिशत सदस्य निर्वाचन द्वारा नियुक्त होते थे, वे सब अनुदार व दक्षिण पक्षी विचारों के हों। ऐसा ही हुआ, केवल कम्युनिस्ट व वामपक्षी लोगों का ही नहीं, अपितु उदार लोकतन्त्रवादी लोगों का भी यह कहना था, कि नवम्बर, १९४६ का यह चुनाव एक तमाशामात्र था, और इसके कारण दक्षिणी कोरिया की वास्तविक जनता को व्यवस्थापिका सभा में अपने प्रतिनिधि भेज सकने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था।

इस प्रकार १९४६ के अन्त तक कोरिया में दो सरकारों की स्थापना हो गई थी। दोनों का रूप सामयिक था। उत्तरी कोरिया की सरकार लोकतन्त्रवाद पर आश्रित थी और उसमें कम्युनिस्टों व अन्य वामपक्षी दलों का प्रभुत्त्व था। दक्षिणी कोरिया की सरकार में कुलीन-श्रेणि के लोगों, जागीरदारों, पूंजीपतियों व अन्य दक्षिण पक्षी लोगों का जोर था और वह अमेरिकन सरकार के संरक्षण व तत्त्वावधान में कायम की गई थी। एप्रिल, १९४७ में रूस के परराष्ट्र मन्त्री श्री मोलोतोव ने प्रस्ताव किया, कि संयुक्त सोविएत-अमेरिकन कमीशन फिर से अपना कार्य प्रारंभ करे और सम्पूर्ण कोरिया के लिये एक लोकतंत्र सरकार के संगठन का प्रयत्न करे। २१ मई, १९४७ को संयुक्त कमीशन ने अपने कार्य को फिर से शुरू किया, पर उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हो सकी। उत्तरी और दक्षिणी कोरिया के दोनों भागों में पृथक् पृथक् सरकारें कायम रहीं, और उन्हें एक करने के कार्य में संयुक्त कमीशन असफल रहा।

इस दशा में नवम्बर, १९४७ में अमेरिका की ओर से कोरिया की समस्या को संयुक्त राज्य संघ की जनरल एसेम्बली में पेश किया गया। अमेरिका के प्रस्ताव पर जनरल एसेम्बली ने १४ नवम्बर, १९४७ को कोरिया के सम्बन्ध में यह निर्णय किया, कि संयुक्त राज्यसंघ की ओर से एक सामयिक कमीशन (युनाइटेड नेशन्स टैम्परेरी कमीशन) की नियुक्ति की जाय, जो कोरिया में लोकमत के अनुसार नया निर्वाचन कराने का कार्य करे। इस कमीशन को यह अधिकार हो, कि वह कोरिया में जहां चाहे आ जा सके और निर्वाचन का निरीक्षण कर सके। रूस ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उसका कहना था, कि मास्को कान्फरेन्स द्वारा मार्च, १९४६ में जिस संयुक्त सोविएत-अमेरिकन कमीशन की नियुक्ति की गई थी, उसे अपना कार्य करने देना चाहिये और इस कमीशन को यह यत्न करना चाहिये, कि वह कोरिया के सब लोकतन्त्र दलों के सहयोग से एक ऐसी कोरियन सरकार का

संगठन करे, जो जनता के वास्तविक लोकमत का प्रतिनिधित्व करती हो। रूस के विरोध के बावजूद संयुक्त राज्य संघ द्वारा नियुक्त सामयिक कमीशन ने कोरिया में अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

उत्तरी कोरिया में सामयिक कमीशन का बहुत विरोध हुआ, वहां के राजनीतिक नेता इसके साथ किसी भी प्रकार का सहयोग करने को तैयार नहीं हुए। वे नहीं चाहते थे, कि लोकमत के अनुसार जनसमितियों के रूप में जो संगठन उत्तरी कोरिया में स्थापित हो चुका है, उसमें किसी भी प्रकार से बाधा उपस्थित हो। दक्षिणी कोरिया में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो कम्युनिस्ट व वामपक्षी विचारधारा के अनुसार अपने क्षेत्र में जनसमितियों की स्थापना के पक्षपाती थे। अमेरिकन सैनिक सरकार ने इन्हें गिरफ्तार करके जेलों में डाला हुआ था। इस प्रकार गिरफ्तार हुए लोगों की संख्या ३०,००० के लगभग थी। जब संयुक्त राज्य संघ द्वारा नियुक्त सामयिक कमीशन ने देखा, कि उत्तरी कोरिया के लोग उसके साथ किसी भी प्रकार से सहयोग करने को तैयार नहीं हैं, तो उसने निश्चय किया, कि दक्षिणी कोरिया में ही संयुक्त राज्य संघ के प्रस्ताव के अनुसार निर्वाचन कराये जावें। अतः १० मई, १९४८ को दक्षिण कोरिया में निर्वाचन की व्यवस्था की गई। पर अमेरिकन सैनिक सरकार द्वारा अधिकृत इस प्रदेश में भी सामयिक कमीशन के खिलाफ भावना इतनी प्रबल थी, कि निर्वाचन से पहले ७ मई से १० मई तक तीन दिनों में दक्षिणी कोरिया में अनेक स्थानों पर दंगे हुए। दंगे व विद्रोह के अपराध में सरकार ने जिन लोगों को गिरफ्तार किया, उनकी संख्या इन तीन दिनों में ५,४२४ तक पहुंच गई। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि दक्षिणी कोरिया की कुल आबादी २,००,००,००० के लगभग थी। दो करोड़ की जनसंख्या में ५४२४ व्यक्तियों का गिरफ्तार किया जाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि दक्षिणी कोरिया में भी संयुक्त राज्यसंघ के निर्णय के खिलाफ असन्तोष की भावना बहुत अधिक प्रबल थी।

१० मई, १९४८ के निर्वाचन द्वारा दक्षिणी कोरिया में जिस राष्ट्रीय महासभा (नेशनल असेम्बली) का चुनाव हुआ, उसने देश के लिये नये शासन विधान का निर्माण करने का कार्य अपने हाथों में लिया। १२ जुलाई, १९४८ तक राष्ट्रीय महासभा ने नया शासन विधान तैयार कर लिया। इसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) कोरिया में रिपब्लिकन शासन की स्थापना की जाय। (२) कोरियन रिपब्लिक का शासन एक राष्ट्रपति के अधीन हो, जिसका चुनाव नेशनल एसेम्बली द्वारा किया जाय। राष्ट्रपति को कार्य में सहायता देने के लिये एक उपराष्ट्रपति भी हो। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति दोनों का चुनाव नेशनल एसेम्बली द्वारा चार

वर्ष के लिये किया जाय। नेशनल एसेम्बली को यह अधिकार हो, कि महा अपराध करने पर राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति पर अभियोग चला सके और उन्हें अपने पद से पृथक् कर सके। (३) राज्य की व्यवस्थापन शक्ति नेशनल एसेम्बली में निहित हो, जिसके सदस्यों की नियुक्ति जनता के वोटों द्वारा हो। (४) राष्ट्रपति को यह अधिकार हो, कि वह किसी ऐसे व्यक्ति को प्रधानमन्त्री के पद पर नियत करे, जिसे नेशनल एसेम्बली के बहुसंख्यक सदस्यों का विश्वास प्राप्त हो। यह प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सके। (५) राष्ट्रपति को अधिकार हो, कि वह नेशनल एसेम्बली के किसी भी निर्णय को वीटो कर सके। (६) शासन विधान के एक पृथक् अध्याय में जनता के जन्मसिद्ध अधिकारों का विशदरूप से प्रतिपादन किया गया। (७) न्याय विभाग का पृथक् रूप से संगठन करने की व्यवस्था की गई और न्यायालयों को शासन विभाग के प्रभाव से स्वतन्त्र रखा गया। सुप्रीम कोर्ट को यह अधिकार दिया गया, कि किसी कानून, आदेश व प्रस्ताव के संविधान के अनुकूल व प्रतिकूल होने के सम्बन्ध में निर्णय दे सके।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि १२ जुलाई, १९४८ का यह शासनविधान लोकतन्त्र विचारधारा के अनुकूल था, और इसके अनुसार प्रायः उसी ढंग की शासन व्यवस्था को कायम करने का प्रयत्न किया गया था, जैसा कि समाजवाद का अनुसरण न करने वाले अमेरिका, ब्रिटेन आदि देशों में कायम है। १० मई, १९४८ को निर्वाचित हुई नेशनल एसेम्बली ने डा० सिगमन र्‍ही को कोरिया का प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया। प्रधानमन्त्री के पद पर श्री ली बोम सोक को नियुक्त किया गया। इस प्रकार दक्षिणी कोरिया में संयुक्त राज्यसंघ द्वारा नियुक्त सामयिक कमीशन के निरीक्षण व तत्त्वावधान में एक बाकायदा रिपब्लिकन सरकार कायम हो गई। यद्यपि उत्तरी कोरिया ने नेशनल एसेम्बली के चुनाव में कोई हिस्सा नहीं लिया था, पर डा० र्‍ही की इस सरकार का दावा था, कि वह सम्पूर्ण कोरिया की वैध सरकार है, और वैधानिक रूप से उसका सम्पूर्ण कोरिया पर अधिकार है। उसका यह भी दावा था, कि क्योंकि उसका निर्माण संयुक्त राज्यसंघ द्वारा तय की गई व्यवस्था के अनुसार हुआ था, अतः अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से उसी को अन्य देशों द्वारा स्वीकृत किया जाना चाहिये। चीन की सरकार (चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग सरकार) ने तुरन्त डा० र्‍ही की सरकार को कोरिया की वैध सरकार के रूप में स्वीकार कर लिया। फिलिपीन की सरकार ने भी इस विषय में चीन का अनुसरण किया। डा० र्‍ही की सरकार ने अब अमेरिका के सैनिक अधिकारियों के साथ इस बात के लिये बातचीत शुरू की, कि वे कोरिया के शासनसूत्र को पूर्णरूप से रिपब्लिकन सरकार के सुपुर्द कर दें, ताकि कोरिया अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से

पूर्ण रूप से स्वतन्त्र राज्य बन जाय और जापान के आधिपत्य का अन्त करने के लिये जो अमेरिकन शासन वहां सामयिक रूप से स्थापित किया गया था, उसकी आवश्यकता न रहे।

## (३) उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार

उत्तरी कोरिया में कम्युनिस्ट व अन्य वामपन्थी दलों के नेतृत्व में जिस सामयिक सरकार का संगठन हुआ था, उसका उल्लेख हम इसी अध्याय में पहले कर चुके हैं। इस सरकार का शासन ३८ वीं पेरेलल के उत्तर में विद्यमान था। जब संयुक्त सोवियत-अमेरिकन कमीशन सम्पूर्ण कोरिया के लिये एक सरकार के संगठन में असफल हो गया, तो उत्तरी कोरिया के राजनीतिक नेताओं ने निश्चय किया, कि वे भी अपने देश के लिये स्थायी सरकार का निर्माण करें। इस उद्देश्य से विविध राजनीतिक दलों और अन्य सार्वजनिक संगठनों के नेता एक सभा में एकत्र हुए, और उन्होंने यह निश्चय किया, कि एक 'सर्वोच्च जन महासभा' (सुप्रीम पीपल्स एसेम्बली) का निर्वाचन किया जाय, जो कि देश के लिये नये शासन विधान का निर्माण करे। इस निर्णय के अनुसार २५ अगस्त, १९४८ को कोरिया में महासभा के सदस्यों का निर्वाचन किया गया। इस महासभा में जिन विविध दलों व राजनीतिक संस्थाओं के उम्मीदवार निर्वाचित हुए, उनकी संख्या ३२ थी। पर ये सभी वामपक्ष के विचारों के थे और समाजवादी व्यवस्था के समर्थक थे। इस महासभा ने कोरिया के लिये एक नये शासन विधान को स्वीकृत किया। इस शासन विधान के अनुसार कोरिया के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई थी, कि वहां 'कोरियन जनता की लोकतन्त्र रिपब्लिक' (कोरियन पीपल्स डेमोक्रेटिक रिपब्लिक) की स्थापना की जाय। शासन विधान का रूप प्रायः उसी ढंग का था, जैसा कि समाजवादी देशों में होता है। रूस के शासन विधान की छाया स्पष्ट रूप से इस कोरियन विधान पर विद्यमान थी। इस कोरियन पीपल्स रिपब्लिक के मन्त्रिमण्डल के प्रधान पद पर श्री किम इर सेन को नियुक्त किया गया था। डा० र्‍ही की दक्षिणी कोरियन रिपब्लिक के समान उत्तरी कोरिया की इस पीपल्स रिपब्लिक का भी यह दावा था, कि वह सम्पूर्ण कोरिया की वास्तविक और वैध सरकार है।

१० सितम्बर, १९४८ को कोरिया की सुप्रीम पीपल्स एसेम्बली ने रूस और अमेरिका की सरकारों से एक समय में ही यह निवेदन किया, कि वे अपनी अपनी सेनायें कोरिया से वापस बुला लें। रूसी सरकार ने इस बात को स्वीकार कर लिया और दिसम्बर, १९४८ में सब रूसी सेनायें कोरिया से वापस बुला ली गईं। अमे-

रिकन लोग श्री किम इर सेन की उत्तरी पीपल्स रिपब्लिक को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं थे। वे दक्षिणी कोरिया में डा० र्‌ही के नेतृत्व में एक पृथक् सरकार की स्थापना करा चुके थे और इसी को सम्पूर्ण कोरिया की वास्तविक व वैध सरकार समझते थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि उत्तरी और दक्षिणी कोरिया की सरकारों में परस्पर संघर्ष का प्रारम्भ हो।

उत्तरी कोरिया में श्री किम इर सेन की सरकार ने समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने के लिये जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये, वे निम्नलिखित थे—(१) जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया और २४,५१,०३७ एकड़ कृषियोग्य भूमि बिना मुआवजे के जमींदारों से लेकर किसानों को वितरित कर दी गई। (२) बड़े कल कारखानों, यातायात के साधनों, बैंकों, बीमा कम्पनियों व अन्य बड़े व्यवसायों को राष्ट्रीय सम्पत्ति बना दिया गया। (३) व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण के साथ ही मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये अनेक नये कानून बनाये गये। दफ्तरों व कारखानों में काम करने का समय आठ घण्टा प्रतिदिन निश्चित किया गया और खतरनाक कारखानों व खानों में कार्य करने का अधिकतम समय सात घण्टा प्रतिदिन नियत किया गया। यह व्यवस्था की गई, कि १४ साल से कम आयु के बालक मजदूरी न कर सकें।

इन व्यवस्थाओं के अतिरिक्त उत्तरी कोरिया की सरकार ने १९४८ में एक वर्षीय योजना और १९४९ में दो वर्षीय योजनायें तैयार कीं। इन योजनाओं का उद्देश्य कोरिया की आर्थिक उत्पत्ति में वृद्धि करना था। इन्हें अपने उद्देश्य में सफलता भी प्राप्त हुई। इन योजनाओं के परिणामस्वरूप उत्तरी कोरिया के कारखानों का उत्पादन १९४६ के मुकाबले में ३॥ गुना बढ़ गया है। कागज, शीशा, बिजली का सामान, मशीनरी आदि को तैयार करने के अनेक नये कारखाने वहां खोले गये हैं, और इनके लिये नवीनतम ढंग के उपकरणों को प्रयोग में लाया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार को अपने देश की आर्थिक उन्नति में और जनता के जीवनस्तर को ऊँचा उठाने में अच्छी सफलता प्राप्त हुई है।

## (४) कोरिया का गृह-युद्ध

कोरिया में किस प्रकार दो विभिन्न सरकारों की स्थापना हुई, इस विषय पर हम इस अध्याय में पहले प्रकाश डाल चुके हैं। दक्षिणी कोरिया की सरकार संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव में थी और उसी की सहायता पर निर्भर रहकर अपना कार्य कर रही थी। यह सरकार कम्युनिज्म के विरुद्ध थी और अपने क्षेत्र में

पूंजीवाद व वैयक्तिक सम्पत्ति पर आश्रित लोकतन्त्र शासन स्थापित करने में तत्पर थी। इसके विपरीत उत्तरी कोरिया की सरकार समाजवादी (कम्युनिस्ट) व्यवस्था को माननेवाली थी और अपनी शक्ति के लिये रूस की सहायता व सहानुभूति पर भरोसा रखती थी। दोनों सरकारों का यह दावा था, कि वे सम्पूर्ण कोरिया की न्याय्य सरकारें हैं। इस दशा में उनमें परस्पर युद्ध का प्रारम्भ होना सर्वथा स्वाभाविक और अवश्यम्भावी था। जून, १९५० में कोरिया की दोनों सरकारों में युद्ध शुरू हो गया। इस युद्ध के लिये उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में कौन उत्तरदायी था, इसका निश्चय कर सकना सुगम नहीं है। उत्तरी कोरिया की सरकार युद्ध के लिये दक्षिणी कोरिया को दोषी ठहराती है। उसका कहना है, कि राष्ट्रपति रही ने अमेरिका के इशारे पर युद्ध को शुरू किया और दक्षिणी कोरिया की सेनाओं ने ३८वीं पैरेलल को पार कर अनेक स्थानों पर कब्जा कर लिया। उत्तरी कोरिया को अपने देश की रक्षा करने के उद्देश्य से ही ३८वीं पैरेलल को पारकर दक्षिणी कोरिया की सेनाओं पर आक्रमण करने के लिये विवश होना पड़ा। इसके विपरीत दक्षिणी कोरिया की सरकार उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार को युद्ध के लिये दोषी ठहराती है। संयुक्त राज्य संघ की सुरक्षा परिषद् ने कोरियन युद्ध के लिये उत्तरी सरकारको उत्तरदायी माना और विविध राज्योंसे इस बातके लिये अपील की, कि वे कोरियन युद्ध में सिंगमन रही की सरकारकी सहायता करें। युद्ध में पहल चाहे किसी की ओर से हुई हो, पर इस बात में कोई सन्देह नहीं, कि कोरियन गृहकलह का आधारभूत कारण सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका की परस्पर विरोधी राजनीति है। अमेरिका यह चाहता है, कि कोरिया में समाजवादी व्यवस्था कायम न होने पावे, वहां ऐसी सरकार कायम रहे, जो समाजवाद (कम्युनिज्म) की विरोधी हो, और जो अमेरिकन ढंग की पूंजीवादी लोकतन्त्र व्यवस्था की पक्षपाती हो। इसके विपरीत रूस और कम्युनिस्ट चीन कोरिया को कम्युनिस्ट प्रभाव में ले आने के लिये उत्सुक है। कोरिया की जनता में भी उन लोगों का बहुत जोर है, जो अपने देश में कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित करने के पक्षपाती हैं।

कोरिया के गृहयुद्ध का अभी अन्त नहीं हुआ है। इस युद्ध में कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार ने असाधारण शक्ति प्रदर्शित की। रूस की शक्तिशाली सेनाओं ने प्रत्यक्ष रूप से उत्तरी कोरिया की सहायता नहीं की, यद्यपि कम्युनिस्ट चीन की स्वयंसेवक सेनायें कोरियन कम्युनिस्टों की सहायता के लिये खुले तौर पर मैदान में आ गईं। अमेरिका ने पूर्ण रूप से सिंगमन रही की दक्षिणी कोरियन सरकार की मदद की और संयुक्त राज्य संघ की प्रेरणा से अन्य भी अनेक राज्यों ने इस सरकार

को सहायता पहुंचाई। अनेक बार ऐसा प्रतीत होने लगा, कि कोरिया का युद्ध विश्वव्यापी महायुद्ध में परिणत हुए बिना नहीं रहेगा। पर संसार के राजनीतिज्ञ अब तक इस बात में सफल रहे हैं, कि वे कोरिया के युद्ध को अधिक व्यापक रूप धारण न करने दें। दोनों पक्षों में सुलह कराने के प्रयत्न भी अभी जारी हैं। वस्तुतः कोरिया की समस्या उस विश्वव्यापी संघर्ष का एक अंग है, जो कम्युनिस्ट और लोकतन्त्रवाद के पक्षपाती देशों में सर्वत्र जारी है।

चौबीसवां अध्याय

# पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्युनिज्म का विस्तार

## (१) चीन में कम्युनिस्ट शासन

बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) की समाप्ति पर चीन में किस प्रकार गृहयुद्ध (१९४६-४९) हुआ, और इसमें महासेनापति चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग दल की पराजय होकर किस प्रकार कम्युनिस्ट दल की विजय हुई, इस विषय पर हम इस पुस्तक के बीसवें अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना न केवल एशिया के आधुनिक इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है, अपितु संसार के इतिहास की दृष्टि से भी उसका अत्यधिक महत्त्व है। इसलिये यह उपयोगी होगा, कि हम कम्युनिस्ट चीन के सम्बन्ध में कुछ अधिक विशद रूप से विचार करें।

**कम्युनिस्ट सरकार**—गृहयुद्ध में विजयी होकर चीन के कम्युनिस्ट दल ने समाजवादी आदर्शों के अनुसार देश में शासन को स्थापित किया। इसके लिये जनता के प्रतिनिधियों की एक महासभा का आयोजन किया गया, जिसे 'चीनी जनता की राजनीतिक परामर्शदात्री महासभा' (चाइनीज पीपल्स पोलिटिकल कन्सल्टेटिव कान्फरेन्स) कहा जाता है। इस महासभा के ६६२ सदस्य थे, जो विविध राजनीतिक दलों और प्रान्तों का प्रतिनिधित्त्व करते थे। महासभा का अधिवेशन २१ सितम्बर, १९४९ को शुरू हुआ और दस दिन तक होता रहा। इसमें न केवल चीन के लिये नये संविधान का निर्माण किया गया, अपितु साथ ही उन राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक आदर्शों का भी निश्चय किया गया, जिन्हें चीन की नई सरकार ने अपने सम्मुख रखना है। चीन का नया संविधान समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार बनाया गया और यह निश्चय किया गया, कि देश में समाजवादी व्यवस्था को कायम किया जाय।

चीनी जनता की राजनीतिक परामर्शदात्री महासभा ने देश की केन्द्रीय सरकार का प्रधान (चेयरमैन) माओ त्से तुंग को निर्वाचित किया। माओ त्से तुंग चीन के कम्युनिस्ट दल के प्रधान नेता हैं, और कुओमिन्तांग दल को परास्त करने के कार्य

में उनका मुख्य कर्तृत्व था। कम्युनिस्ट चीन में उनका वही स्थान है, जो कम्युनिस्ट रूस में लेनिन और स्टालिन का है। इसी महासभा ने केन्द्रीय सरकार के लिये छः उपप्रधानों का भी निर्वाचन किया, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—मदाम सन यात सेन, श्री चांग लांग, जनरल चू तेह, श्री काओ कांग, श्री लिऊ शाओ ची और जनरल ली चिह-शेंग। मदाम सन यात सेन कुओमिन्तांग दल के संस्थापक डा० सन यात सेन की पत्नी हैं, और चियांग काई शेक के साथ उनका मतभेद था। उनका विचार था, कि चियांग काई शेक के नेतृत्त्व में कुओमिन्तांग दल ने अपने संस्थापक की नीति व आदर्शों का परित्याग कर दिया है। श्री चांग लांग चीन की डेमोक्रेटिक लीग के अध्यक्ष थे। यह लीग वामपक्ष की अनुयायी होते हुए भी कम्युनिस्ट दल से पृथक् स्थिति रखती थी। जनरल चू तेह कम्युनिस्ट सेनाओं के प्रधान सेनापति थे और कुओमिन्तांग सेनाओं को परास्त करने के लिये कम्युनिस्ट दल की ओर से जिस जन स्वातन्त्र्य सेना का संगठन किया गया था, उसके प्रधान संचालक थे। श्री काओ कांग मञ्चूरिया की प्रादेशिक सरकार के प्रधान (चेयरमैन) थे। श्री लिऊ शाओ ची कम्युनिस्ट दल के थे और उसकी केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के सदस्य थे। जनरल ली चिह-शेंग क्रान्तिकारी कुओमिन्तांग दल के अध्यक्ष थे। कुओमिन्तांग दल के सब लोग महासेनापति चियांग काई शेक के अनुयायी नहीं थे। उनमें अनेक लोग चियांग काई शेक की नीति से मतभेद रखते थे, और यह समझते थे, कि महासेनापति ने डा० सन यात सेन के आदर्शों का परित्याग कर दिया है। इन लोगों ने अपनी पृथक् पार्टी का संगठन कर लिया था और जनरल ली चिह-शेंह इन्हीं के नेता थे।

एक प्रधान और छः उपप्रधानों के अतिरिक्त "चीनी जनता की राजनीतिक परामर्शदात्री महासभा" ने एक 'केन्द्रीय जन शासन कौंसिल' (सेन्ट्रल पीपल्स गवर्नमेन्ट कौंसिल) का भी निर्वाचन किया, जिसके ५६ सदस्य थे। यह कौंसिल महासभा की उपसमिति की स्थिति रखती थी, जिसका कार्य चीनी सरकार की नीति का निर्धारण करना था। ५६ साधारण सदस्यों के अतिरिक्त चीनी रिपब्लिक के प्रधान और उपप्रधान अपने पदाधिकार से इस कौंसिल के सदस्य होते थे। इस प्रकार इस कौंसिल के सदस्यों की कुल संख्या ६३ थी। यह कौंसिल केन्द्रीय चीनी सरकार की नीति का निर्धारण ही नहीं करती थी, अपितु इसे यह भी अधिकार दिया गया था, कि यह राज्य के लिये कानूनों का निर्माण कर सके।

केन्द्रीय जनशासन कौंसिल के निरीक्षण में कार्य करने के लिये चार कौंसिलों का निर्माण किया गया। ये चार कौंसिलें निम्नलिखित थीं—(१) शासन सभा (स्टेट एडमिनिस्ट्रेटिव कौंसिल)—इस सभा के सदस्यों की संख्या २१ नियत की

गई। इसकी वही स्थिति रही रखी गई, जो लोकतन्त्र राज्यों में मन्त्रिमण्डल की होती है। यह व्यवस्था की गई, कि चीन का प्रधान मन्त्री इस शासनसभा का अध्यक्ष हो, और उसे अपने कार्य में सहायता करने के लिये चार उप-प्रधानमन्त्री रहें। प्रधानमन्त्री और चार उप-प्रधानमन्त्रियों के अतिरिक्त इस शासनसभा के १५ अन्य सदस्य नियत किये। साथ ही, इस सभा के सचिव के रूप में एक अन्य पदाधिकारी को नियत किया गया, जिसे सेक्रेटरी जनरल कहते हैं। कम्युनिस्ट चीनी सरकार के प्रधानमन्त्री के पद पर श्री चोऊ एन-लाई को नियत किया गया। (२) जन क्रान्तिकारी सैनिक कौंसिल (पीपल्स रेवोल्युशनरी मिलिटरी कौंसिल)—इस कौंसिल को सैन्यसंचालन का कार्य सुपुर्द किया गया। (३) सर्वोच्च जन न्यायालय (सुप्रीम पीपल्स कोर्ट)—इस न्यायालय को चीन के न्याय विभाग के संचालन का कार्य दिया गया। (४) जन निरीक्षण विभाग—इसे यह कार्य दिया गया, कि यह शासन के विविध अंगों का निरीक्षण करे। यहां यह लिखने की आवश्यकता नहीं है, कि चार कौंसिलों व विभागों का निर्माण करते हुए डा० सन यात सेन के शासन सम्बन्धी विचारों व आदर्शों को दृष्टि में रखा गया था। ये विभाग प्रायः उसी ढंग से बनाये गये थे, जैसे कि डा० सन यात सेन ने प्रतिपादित किया था।

३० सितम्बर, १९४९ को 'चीनी जनता की राजनीतिक परामर्शदात्री महासभा' ने अपना कार्य समाप्त कर दिया, और १ अक्टूबर, १९४९ को चीन में समाजवादी रिपब्लिक की बाकायदा स्थापना कर दी गई। चीन के कम्युनिस्ट दल की दृष्टि में १ अक्टूबर, १९४९ का दिन बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वर्तमान चीन में यह माना जाता है, कि इस दिन चीन के इतिहास में एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ है।

गृहयुद्ध की परिस्थिति के कारण यह सम्भव नहीं था, कि चीन में सर्वत्र शान्ति व व्यवस्था स्थापित हो सकती। यद्यपि कुओमिन्तांग दल व उसकी सैन्यशक्ति को परास्त किया जा चुका था, पर चीन जैसे विशाल देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित कर सकना सुगम बात नहीं थी। यही कारण है, कि कम्युनिस्ट चीन में सर्वसाधारण जनता के वोटों द्वारा किसी केन्द्रीय पार्लियामेन्ट का निर्वाचन नहीं किया जा सका। चीनी जनता की केन्द्रीय परामर्शदात्री महासभा के सदस्यों की नियुक्ति जनता द्वारा निर्वाचित होकर नहीं हुई थी। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इस महासभा के सदस्य उन विविध दलों का प्रतिनिधित्व करते थे, जो समाजवादी व्यवस्था के पक्षपाती व वामपक्ष की थीं। महासभा ने कम्युनिस्ट चीन के शासन के सम्बन्ध में जिस नीति व जिन आदर्शों को स्वीकार किया था, उनके अनुसार यह व्यवस्था की गई थी, कि चीन के जिन-जिन प्रान्तों व प्रदेशों में शान्ति व व्यवस्था

कायम होती जाय, उनमें जनता (प्रत्येक बालिग स्त्री और पुरुष) के वोटों द्वारा स्थानीय व प्रान्तीय सभाओं का निर्वाचन किया जाय और इन सभाओं को कानून बनाने व शासन पर नियन्त्रण रखने के अधिकार प्रदान किये जावें। इस नीति के अनुसार अब तक चीन के आधे से अधिक प्रदेशों में जनता द्वारा निर्वाचित सभाओं की स्थापना की जा चुकी है, और चीन लोकतन्त्र शासन की ओर अग्रसर हो रहा है।

**कम्युनिस्ट शासन में चीन की उन्नति**—१ अक्टूबर, १९४९ को चीन में कम्युनिस्ट व्यवस्था के अनुसार लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना हुई थी। इस समय से अगले दो वर्षों में चीन ने जो असाधारण उन्नति की है, वह वस्तुतः आश्चर्यजनक है। चीन की इस प्रगति पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

(१) विशाल चीन में राजनीतिक एकता स्थापित करने में कम्युनिस्ट सरकार को असाधारण सफलता मिली है। क्षेत्रफल की दृष्टि से चीन बहुत बड़ा देश है। इसकी जनसंख्या ४७,००,००,००० से भी अधिक है। जनसंख्या की दृष्टि से संसार का अन्य कोई देश चीन का मुकाबला नहीं करता। इतने विशाल देश में राजनीतिक एकता कायम करना साधारण बात नहीं है। मञ्चू सम्राटों के शासन-काल में चीन के विविध प्रदेश सम्राट् की अधीनता को स्वीकार करते थे, पर साम्राज्य के अन्तर्गत अनेक राज्य व प्रदेश क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र थे और मञ्चू सम्राटों का उन पर प्रभुत्व केवल नाममात्र को था। १९११ में जब चीन में राज्यक्रान्ति हुई, तो विकेन्द्रीभाव (डीसेन्ट्रलिजेशन) की प्रवृत्तियां बहुत प्रबल हो गईं, और विविध सिपहसालार अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हो गये। कुओमिन्तांग दल ने चीन में राष्ट्रीय व राजनीतिक एकता को स्थापित करने का बहुत प्रयत्न किया, पर उसे सफलता नहीं हुई। कम्युनिस्ट सरकार इस कार्य में वस्तुतः सफल हुई है। फार्मूसा के अतिरिक्त चीन के सब प्रदेश इस समय कम्युनिस्ट शासन में हैं। १९५० के मार्च मास तक हैनान और फार्मूसा द्वीप के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण चीन पर कम्युनिस्ट सरकार का आधिपत्य स्थापित हो गया था। बाद में हैनान पर भी कम्युनिस्ट सेनाओं ने अपना कब्जा कर लिया। १९५१ के मध्य-भाग में तिब्बत में कम्युनिस्ट सेनाओं ने प्रवेश किया और वहां की सरकार ने पेकिंग की केन्द्रीय कम्युनिस्ट सरकार की अधीनता स्वीकृत कर ली। मञ्चू शासन के काल में व उससे पूर्व भी तिब्बत चीन का अधीनस्थ राज्य माना जाता था। १९१२ के बाद जब चीन में कोई शक्तिशाली व व्यवस्थित केन्द्रीय सरकार नहीं रह गई थी, तिब्बत की स्थिति क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र राज्य के समान हो गई थी। पर अब तिब्बत फिर चीन का अंग बन गया है, और विशाल चीन में अविकल रूप से राजनीतिक एकता कायम हो गई है। कम्युनिस्ट सरकार इस प्रयत्न में है, कि फार्मूसा को भी

कुओमिन्तांग सरकार की अधीनता से मुक्त कर उसे भी अपने अधीन कर ले, और इस प्रकार सम्पूर्ण चीन को एक शासन में ले आवे। इसमें सन्देह नहीं, कि चीन को एक शासन में ले आने और उसके विविध प्रदेशों में व्यवस्थित शासन स्थापित करने में कम्युनिस्ट लोगों को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है।

(२) राष्ट्रीय दृष्टि से चीन के सब निवासी एक नहीं है। चीनी लोगों के अतिरिक्त इस देश में तिब्बती, मंगोल, मुसलिम, मिआओ, यिस आदि अनेक अन्य जातियों के लोग भी पर्याप्त संख्या में निवास करते हैं। इन विविध प्रकार के लोगों में राष्ट्रीय एकता को स्थापित कर सकना सुगम कार्य नहीं है। कम्युनिस्ट सरकार ने अल्पसंख्यक- जातियों के सम्बन्ध में यह नीति निर्धारित की, कि उन्हें अपनी जातीय विशेषताओं (भाषा, धर्म, परम्परा, रीति-रिवाज आदि) को विकसित करने का पूरा अवसर दिया जायगा, और चीन के लोकतन्त्र गणराज्य में उनकी स्थिति बहुसंख्यक चीनी लोगों के समान व समकक्ष मानी जावेगी। इस नीति को क्रिया में परिणत करने के लिये कम्युनिस्ट सरकार ने प्रत्येक अल्पसंख्यक जाति के लोगों को पृथक् स्वतन्त्र राज्य के रूप में संगठित करने का प्रयत्न किया, जो विशाल चीनी लोकतन्त्र गणराज्य के अन्तर्गत रहते हुए भी अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। अल्पसंख्यक जातियों के इन पृथक् स्वतन्त्र राज्यों की स्थिति को स्पष्ट करने के लिये आभ्यन्तर मंगोलिया के उदाहरण को सम्मुख रखना उपयोगी होगा। आभ्यन्तर मंगोलिया के निवासी मंगोल जाति के हैं और उनकी संख्या ८,००,००० से अधिक है। मंगोल लोगों के अतिरिक्त इस प्रदेश में चीनी लोग भी पर्याप्त संख्या में निवास करते हैं, और आभ्यन्तर मंगोलिया में बसे हुए चीनी लोगों की संख्या १५ लाख से कम नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि आभ्यन्तर मंगोलिया में मंगोल लोग बहुसंख्या में न होकर अल्पसंख्या में हैं। पर चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने इस प्रदेश को एक स्वतंत्र पृथक् राज्य के रूप में परिणत किया, ताकि मंगोल लोग वहां अपनी जातीय विशेषताओं का सुचारु रूप से विकास कर सकें। मंगोल लोगों को उनकी अपनी भाषा में शिक्षा दी जाती है, और मंगोल भाषा में साहित्य का बहुत तेजी के साथ विकास हो रहा है। मंगोल भाषा में अनेक पत्र पत्रिकाएं भी प्रकाशित होने लगी हैं, और आभ्यन्तर मंगोलिया के सब शिक्षणालयों में मंगोल भाषा का अध्ययन अनिवार्य कर दिया गया है। इसी प्रकार की नीति तिब्बत, सिन्किआंग आदि अन्य प्रदेशों में भी अपनाई जा रही है, क्योंकि इन प्रदेशों के निवासी जातीय दृष्टि से चीनी लोगों से भिन्न हैं। कम्युनिस्ट लोगों की इस नीति के कारण विशाल चीन में रहने वाले अल्पसंख्यक जातियों के लोग सन्तोष अनुभव करते हैं।

(३) माओ त्से तुंग की सरकार ने चीन में समाजवादी व्यवस्था के अनुसार आर्थिक नीति का अनुसरण किया। इसके लिये उसने जो महत्त्वपूर्ण कदम उठाये वे निम्नलिखित हैं—(क) जापानी लोगों के स्वामित्त्व में जो कारखाने, खानें, रेलवे, जहाज, बैंक व अन्य व्यवसाय थे, उन सबको राज्य ने अपने स्वामित्त्व में ले लिया। (ख) इसी प्रकार कुओमिन्तांग दल के पूंजीपतियों व सम्पन्न लोगों के हाथों में विद्यमान कल-कारखानों व अन्य व्यवसायों को उनसे छीनकर राज्य के स्वामित्त्व में ले आया गया। इसका यह परिणाम हुआ, कि चीन के कुल व्यवसायों का ५० प्रतिशत के लगभग भाग राज्य के स्वामित्त्व में आ गया। (ग) कम्युनिस्ट सरकार ने यह प्रयत्न नहीं किया, कि व्यवसायों व व्यापार का संचालन व्यक्तियों के हाथ में सर्वथा न रहने दिया जाय। चीन के जो व्यवसायपति व व्यापारी कुओमिन्तांग दल के साथ सम्बन्ध नहीं रखते थे, उन्हें यह अवसर दिया गया, कि वे पहले के समान अपने व्यापार व व्यवसाय का संचालन करते रहें। पर उनके सम्बन्ध में भी यह व्यवस्था की गई, कि वे कल-कारखाने आदि के प्रबन्ध के मामले में उस नीति का अनुसरण करें, जो कि राज्य द्वारा संचालित कल-कारखानों में प्रयुक्त की जाती है। राज्य द्वारा संचालित कारखानों, बैंकों, रेलवे आदि में मजदूरों का बहुत अधिक महत्त्व है। कारखानों के कर्मचारी उनके प्रबन्ध में भी हाथ बंटाते हैं, व आर्थिक उत्पत्ति में वृद्धि करने के लिये स्वयं प्रयत्नशील रहते हैं।

(४) भूमि सम्बन्धी कानून में सुधार करने के लिये चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने विशेष रूप से उद्योग किया। चीन में जमीन सम्पन्न जमींदारों की वैयक्तिक सम्पत्ति थी। ये जमींदार भोग-विलास में जीवन व्यतीत करते थे, और कृषि की उन्नति पर जरा भी ध्यान नहीं देते थे। किसानों की दशा बहुत खराब थी। चीन की ८० प्रतिशत जनता अपनी आजीविका के लिये कृषि पर आश्रित थी, पर बहुसंख्यक किसान खेती से इतनी आमदनी प्राप्त नहीं कर पाते थे, जिससे वे अपना निर्वाह भलीभांति कर सकें। कम्युनिस्ट सरकार ने यह व्यवस्था की, कि जमीन पर से जमींदारों के स्वत्त्व को नष्ट कर दिया जाय, और जमींदारों को अपनी भूमि के बदले में किसी भी प्रकार का मुआवजा न दिया जाय। वे केवल इतनी जमीन अपने पास रख सकें, जिस पर वे स्वयं खेती कर सकें, और जो उनके गुजारे के लिये पर्याप्त हो। जमींदारों से जो जमीन ली गई, वह उन किसानों में बांट दी गई, जो स्वयं उस पर खेती करने के लिये तैयार थे। इस नीति का परिणाम यह हुआ, कि करोड़ों गरीब चीनी किसान खेती के लिये जमीन प्राप्त करने में समर्थ हुए। जमीन की व्यवस्था करने का कार्य स्थानीय ग्रामसभाओं के सुपुर्द किया गया। देहातों में

जो स्थिति पहले शक्तिशाली व सम्पन्न जमींदारों की थी, वह अब ग्रामसभाओं को प्राप्त हुई। इन ग्रामसभाओं के सदस्य ग्राम के किसान हों, यह व्यवस्था की गई। पर यहां यह ध्यान में रखना चाहिये, कि भूमि सम्बन्धी इन सुधारों को सारे देश में एकदम लागू कर सकना सुगम व क्रियात्मक नहीं था। चीन जैसे विशाल देश में इन क्रान्तिकारी सुधारों को एक साथ प्रारम्भ कर सकना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था। अतः कम्युनिस्ट सरकार ने यह व्यवस्था की, कि धीरे-धीरे इन सुधारों को चीन के विविध प्रदेशों में लागू किया जाय। कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के दो साल बाद १ अक्टूबर, १९५१ तक यह स्थिति आ गई थी, कि चीन की (अल्प संख्यक जातियों के प्रदेशों को छोड़कर) दो तिहाई से भी अधिक जमीन में जमींदारों के स्वत्त्व का अन्त कर उसे किसानों में विभक्त कर दिया गया था। जिस जनता को इन भूमि सम्बन्धी सुधारों से लाभ पहुंचा था, उसकी संख्या ३० करोड़ से भी अधिक थी। इसमें सन्देह नहीं, कि दो साल के थोड़े से समय में कृषि सम्बन्धी इतने महत्व-पूर्ण व क्रान्तिकारी सुधार करके कम्युनिस्ट सरकार ने चीन के देहातों की दशा में बड़ा भारी परिवर्तन ला दिया है। अब चीन का किसान अपने को जमींदार का अर्धदास अनुभव नहीं करता। वह अपनी उपज का स्वयं मालिक होता है, और इसी कारण वह अधिक से अधिक पैदावार का प्रयत्न करता है। चीन में अनाज की समस्या के हल होने में इससे बहुत अधिक सहायता मिली है। इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है, कि चीन में सब किसान आमदनी की दृष्टि से एक समान स्थिति नहीं रखते। वहां ऐसे भी किसान मौजूद हैं, जो अधिक सम्पन्न हैं, और जो यान्त्रिक शक्ति की सहायता से बहुत बड़े खेतों में खेती करते हैं। कम्युनिस्ट सरकार ने इन किसानों से अतिरिक्त भूमि को छीनकर उसे भूमिविहीन किसानों में विभक्त करने की नीति को नहीं अपनाया है, क्योंकि उसका ख्याल है, कि देश की वर्तमान स्थिति में इन सम्पन्न किसानों से अनाज की पैदावार में सहायता प्राप्त होती है।

(५) चीन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या यह थी, कि वहां नदियों में बहुधा बाढ़ें आती रहती थीं, और इन बाढ़ों के कारण जहां लाखों एकड़ जमीन से खेती नष्ट हो जाती थी, वहां लाखों आदमी भी बेघरबार से हो जाते थे। कम्युनिस्ट सरकार ने नदियों पर बांध बांधकर व अनेक अन्य उपायों का अवलम्बन कर इन बाढ़ों को रोकने का प्रयत्न किया। अपने शासन के दो वर्षों में कम्युनिस्ट सरकार ने नदियों पर जो बांध बंधवाये, उनका आकार बहुत विशाल है। यदि एक मीटर (एक मीटर=४० इंच के लगभग) ऊंचा और एक मीटर चौड़ा बांध भूमध्य रेखा के साथ-साथ बांधा जाय, तो उसके २४ चक्कर लगाने में जितने बांध

की आवश्यकता होगी, उतने बांध कम्युनिस्ट सरकार ने चीन की नदियों पर बंध-वाये हैं। इन बांधों का परिणाम यह हुआ, कि चीन की नदियों में बाढ़ों की आशंका बहुत कम हो गई। फसलों का नष्ट होना रुक गया और चीन में अनाज की पैदावार बहुत बढ़ गई। चीन जो अपनी खाद्य समस्या को बहुत कुछ हल कर रहा है, उसका एक मुख्य कारण यह है, कि अब बाढ़ों के कारण करोड़ों रुपये साल की फसलें अब वहां नष्ट नहीं हो जातीं। इन बांधों के लिये कम्युनिस्ट सरकार ने देहात की जनता का सहयोग लिया था, और इनका निर्माण करते हुए मुख्यतया मानव श्रम को ही प्रयुक्त किया था।

(६) कृषि और व्यवसाय की उन्नति के कारण चीन के विदेशी व्यापार में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई है। उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग (१८७७) से चीन विदेशों में जो माल विक्रय के लिये भेजता था, उससे कहीं अधिक विदेशों से क्रय करता था। उसके आयात माल की मात्रा निर्यात माल की मात्रा से अधिक होती थी। इसका परिणाम यह था, कि चीन निरन्तर अधिक-अधिक गरीब होता जाता था। पर १९४९ के बाद कम्युनिस्ट शासन में इस स्थिति में परिवर्तन आ गया है। अब चीन के निर्यात माल की मात्रा आयात माल की अपेक्षा अधिक हो गई है। चीन का विदेशी व्यापार मुख्यतया रूस व अन्य समाजवादी देशों के साथ है।

(७) शिक्षा के विस्तार पर भी कम्युनिस्ट सरकार का विशेष ध्यान है। १९४९ तक चीन में शिक्षा का बहुत कम प्रसार था। शिक्षित व साक्षर लोगों की संख्या वहां १४ प्रतिशत से अधिक नहीं थी। कम्युनिस्ट सरकार के प्रयत्न से वहां शिक्षा में जिस ढंग से उन्नति शुरू हुई है, उसका अनुमान इस बात से किया जाता है, कि अक्तूबर, १९५१ में चीन के प्रारम्भिक शिक्षणालयों में ३,७०,००,००० माध्यमिक स्कूलों में १५,७०,००० और कालेजों व विश्वविद्यालयों में १,२८,००० विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। इनके अतिरिक्त जो किसान व मजदूर अपने अतिरिक्त समय में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, उनकी संख्या ४,००,००,००० के लगभग थी। इसमें सन्देह नहीं, कि कम्युनिस्ट सरकार चीन में निरक्षरता के विनाश और शिक्षा प्रसार के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है।

(८) जनता का शासन स्थापित हो जाने के कारण चीन में असाधारण शक्ति का संचार हुआ है। विदेशी साम्राज्यवाद से तो चीन पूर्णतया मुक्त हो ही चुका है, साथ ही वह संसार के प्रमुख शक्तिशाली राज्यों में भी गिना जाने लगा है। जनसंख्या की दृष्टि से चीन का संसार के राज्यों में प्रथम स्थान है। इस विशाल जनता की सामूहिक शक्ति के कारण चीन में जो आर्थिक उन्नति हो रही है, उससे अब यह देश भौतिक साधनों की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर रहा है। कोरिया के

युद्ध में उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार की सहायता करने में जो असाधारण सैन्यशक्ति चीन ने प्रदर्शित की है, उसके कारण अब संसार का कोई भी राज्य चीन को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता।

**अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध**---चीन के लोकतन्त्र गणराज्य (चाइनीज पीपल्स रिपब्लिक) की स्थापना १ अक्टूबर, १९४९ को हुई थी। अगले दिन २ अक्टूबर को रूस के सोवियत यूनियन ने चीन की नई कम्युनिस्ट सरकार को स्वीकृत कर लिया और उसके साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया। बल्गारिया, रूमानिया, हंगरी, उत्तरी कोरिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक, पूर्वी जर्मनी (जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक), अल्बानिया और वियत नाम की सरकारों ने रूस का अनुसरण किया और माओत्सेतुंग के नेतृत्व में स्थापित चीनी सरकार की सत्ता को स्वीकार किया। इन सब राज्यों में समाजवादी व्यवस्था विद्यमान है, और चीन की समाजवादी सरकार की सत्ता को स्वीकृत करके इन्होंने किसी असाधारण मार्ग का अनुसरण नहीं किया था। पर कई ऐसे राज्यों ने भी चाइनीज पीपल्स रिपब्लिक को स्वीकृत किया, जिनमें कम्युनिस्ट व समाजवादी व्यवस्था स्थापित नहीं है। इनमें भारत, स्वीडन, डेन्मार्क, बरमा, इन्डोनीसिया, स्विट्जरलैण्ड, फिनलैण्ड और पाकिस्तान के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त बाद में ब्रिटेन, सीलोन, नार्वे, इजराईल, अफगानिस्तान और नीदरलैण्ड ने भी चीन की कम्युनिस्ट सरकार को स्वीकृत कर उसके साथ राजनीतिक संबंध स्थापित किये। संसार के प्रमुख राज्यों में अभी तक संयुक्त राज्य अमेरिका चीन की कम्युनिस्ट सरकार को चीन की वैध व वास्तविक सरकार मानने के लिये उद्यत नहीं है। इसी कारण संयुक्त राज्यसंघ में भी अब तक चाइनीज पीपल्स रिपब्लिक को स्थान नहीं मिल सका है। इस अन्तर्राष्ट्रीय संघ में अब तक भी चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग सरकार के प्रतिनिधियों को ही स्थान प्राप्त है, यद्यपि इस सरकार की सत्ता केवल फार्मूसा द्वीप तक ही सीमित है, और वास्तविक चीन में कहीं भी उसका अधिकार नहीं रहा है। संयुक्त राज्यसंघ में चाइनीज पीपल्स रिपब्लिक को स्थान देने के लिये जो भी प्रस्ताव उपस्थित हुए, अमेरिका ने उनका विरोध किया, और इसी कारण अब तक कम्युनिस्ट चीन को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना समुचित स्थान प्राप्त नहीं हो सका। पर इसमें सन्देह नहीं, कि कम्युनिस्ट सरकार अपनी स्थिति को बहुत मजबूत बना चुकी है, और न केवल चीन के मामले में, अपितु एशिया के सम्बन्ध में कोई ऐसी व्यवस्था सम्भव नहीं है, जिसमें कम्युनिस्ट चीन का सहयोग प्राप्त न हो।

## (२) फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार

१ अक्टूबर, १९४९ को जब कम्युनिस्ट लोगों ने पेकिंग को राजधानी बनाकर चाइनीज पीपल्स रिपब्लिक की स्थापना की थी, तब दक्षिण-पूर्वी चीन और पश्चिमी चीन पर कुओमिन्तांग सरकार का आधिपत्य था। इस कुओमिन्तांग सरकार की राजधानी कैन्टन थी। अक्टूबर, १९४९ में कम्युनिस्ट सेनाओं ने कैन्टन को जीत लिया था और कुछ ही समय में दक्षिण-पूर्वी व पश्चिमी चीन से भी कुओमिन्तांग शासन का अन्त कर दिया था। इस दशा में चीन में कोई भी ऐसा प्रदेश शेष नहीं रहा था, जो कुओमिन्तांग सरकार के हाथों में रहा हो। हैनान और फार्मूसा—ये दो द्वीप ही ऐसे थे, जो अब इस सरकार की अधीनता में रह गये थे। इस दशा में ८ दिसम्बर, १९४९ को कुओमिन्तांग सरकार चीन से फार्मूसा चली आई थी, और तैपेई को राजधानी बनाकर उसने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था।

हम पहले लिख चुके हैं, कि २२ जनवरी, १९४९ को महासेनापति चियांग काई शेक ने कुओमिन्तांग सरकार का सब कार्यभार उपराष्ट्रपति ली त्सुंग-जेन के सुपुर्द कर दिया था। यद्यपि राष्ट्रपति के पद पर अब भी चियांग काई शेक विराजमान थे, पर कुओमिन्तांग सरकार के संचालन का उत्तरदायित्व जनरल ली के हाथों में आ गया था। १ मार्च, १९५० को चियांग काई शेक ने कुओमिन्तांग सरकार का कार्यभार पुनः ग्रहण किया और फार्मूसा की राजधानी तैपेई को केन्द्र बनाकर अपना कार्य प्रारम्भ किया। बाद में जब कम्युनिस्ट सेनाओं ने हैनान द्वीप को भी जीत लिया, तो चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग सरकार का शासन केवल फार्मूसा तक ही सीमित रह गया। फार्मूसा द्वीप के समीपवर्ती १३ अन्य छोटे-छोटे द्वीप और पेस्कादोरेस द्वीपसमूह के अन्तर्गत ६४ छोटे-छोटे द्वीप भी कुओमिन्तांग सरकार के शासन में हैं।

फार्मूसा व उसके साथ के इन द्वीपों का कुल क्षेत्रफल ३२९६२ वर्गमील है, और इनकी जनसंख्या ९० लाख के लगभग है। जहां माओ त्से तुंग की कम्युनिस्ट सरकार के शासन में ४७ करोड़ के लगभग मनुष्य हैं, वहां चियांग काई शेक की सरकार की अधीनता में विद्यमान मनुष्यों की संख्या एक करोड़ से भी कम है। पर सैनिक दृष्टि से इस कुओमिन्तांग सरकार की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसकी सेना में सात लाख के लगभग सैनिक हैं, जो सब प्रकार के आधुनिक अस्त्रशस्त्रों से भलीभांति सुसज्जित हैं। संयुक्तराज्य अमेरिका जैसे शक्तिशाली व वैभवपूर्ण देश की सहायता तैपेई की इस कुओमिन्तांग सरकार को प्राप्त है। अमेरिका और संयुक्त राज्यसंघ की दृष्टि में तैपेई सरकार ही चीन की वैध व वास्तविक सरकार

है, और अमेरिका यह सर्वथा उचित समझता है, कि इस सरकार को अपने देश से विद्रोही कम्युनिस्टों के शासन का अन्त करने के लिये खुले तौर पर सहायता दे। यही कारण है, कि अमेरिका युद्ध सामग्री, जंगी जहाज, वायुयान व धन आदि से चियांग काई शेक की पूर्ण रूप से सहायता कर रहा है। चियांग काई शेक को भी यह विश्वास है, कि वह एक बार फिर सम्पूर्ण चीन को कुओमिन्तांग शासन की अधीनता में लाने में समर्थ हो सकेगा। चीन के इतिहास में अनेक बार कुओमिन्तांग दल को नीचा देखना पड़ा है। कुछ वर्षों के लिये जापानी लोग चीन के बड़े भाग को अपने प्रभाव व प्रभुत्व में लाने में समर्थ हुए थे, और चियांग काई शेक की सरकार को पश्चिमी चीन में चुंगकिंग में आश्रय लेने के लिये विवश होना पड़ा था। इस समय कम्युनिस्ट दल के उत्कर्ष के कारण कुओमिन्तांग दल को फार्मूसा में आश्रय लेना पड़ा है। पर चियांग काई शेक व उसके अनुयायियों का यह दृढ़ विश्वास है, कि वे पहले के समान एक बार फिर चीन को अपने शासन में ले आने में समर्थ होंगे। अमेरिका की सहायता के कारण उनके पास सैनिकों, युद्ध सामग्री व धन की कमी नहीं है। कम्युनिस्टों को परास्त कर पाश्चात्य ढंग की लोकतन्त्र व्यवस्था को स्थापित कर सकने के कार्य में कुओमिन्तांग दल को सफलता होगी या नहीं, इस बात का निर्णय भावी इतिहास ही कर सकेगा।

जिस समय से कुओमिन्तांग सरकार ने फार्मूसा को अपना आश्रय स्थान बनाया है, उसकी नीति में भारी परिवर्तन हुआ है। १ सितम्बर, १९५० को कुओ-मिन्तांग सरकार ने अपनी नीति की जो घोषणा की थी, उसकी मुख्य बातें निम्न-लिखित हैं—(१) हमारा उद्देश्य कम्युनिस्ट विद्रोह को कुचलना है। संयुक्त राज्यसंघ द्वारा जिन आदर्शों का प्रतिपादन किया गया है, हम उन्हें स्वीकृत करते हैं, और उन्हीं के अनुसार चीन का पुनः निर्माण करना चाहते हैं। (२) हम चाहते हैं, कि सब लोगों को विचार करने और अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की पूरी स्वतन्त्रता हो। धर्म के मामले में भी सब लोग स्वतन्त्र हों। जनता में राष्ट्रीय अनुभूति और लोकतन्त्रवाद की भावना का विकास हो। (३) समाज की व्यवस्था इस ढंग की हो, जिससे कि सब लोगों को आजीविका के साधन उपलब्ध हो सकें। आर्थिक जीवन और विविध व्यवसायों को इस ढंग से विकसित किया जाय, जिससे कि राष्ट्र की शक्ति में वृद्धि हो। जमीन से वसूल किये जाने वाले लगान में कमी की जाय और भूमि सम्बन्धी कानून के सुधार को विशेष रूप से महत्त्व दिया जाय। (४) जब हम चीन को कम्युनिस्ट लोगों के पंजे से मुक्त करने में समर्थ होंगे, तो कम्युनिस्ट नेताओं और उनके सहयोगियों के साथ जरा भी दया प्रदर्शित नहीं करेंगे। पर जिन लोगों ने विवश होकर कम्युनिस्टों का साथ दिया है, उनके प्रति हम

सहानुभूति रखेंगे और उन्हें पश्चात्ताप करके सन्मार्ग पर आने का अवसर देंगे।

फार्मूसा में दो अन्य दल हैं, जो कुओमिन्तांग सरकार के साथ सहयोग कर रहे हैं। ये दल लोकतन्त्र समाजवादी दल (डेमोक्रेटिक सोशलिस्ट पार्टी) और चीनी युवक दल (चाइना यूथ पार्टी) हैं। लोकतन्त्र समाजवादी दल चाहता है, कि समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिये लोकतन्त्रवाद के उपायों का अनुसरण किया जाय। कम्युनिस्ट लोग जिस प्रकार के उग्र व क्रान्तिकारी उपायों से समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करना चाहते हैं, यह दल उसका विरोधी है।

तैपेई में बाकायदा कुओमिन्तांग सरकार विद्यमान है। इस सरकार के राजदूत न केवल संयुक्त राज्य अमेरिका आदि विविध देशों में मौजूद हैं, अपितु संयुक्त राज्यसंघ में भी इसी सरकार के प्रतिनिधि लिये गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से यह स्थिति बड़ी अद्भुत है। संसार के बहुत से देश जहां पेकिंग की कम्युनिस्ट सरकार को चीन की वैध व वास्तविक सरकार मानते हैं, वहां ऐसे देशों की भी कमी नहीं है, जो तैपेई की कम्युनिस्ट सरकार को सम्पूर्ण चीन की वैध सरकार स्वीकृत करते हैं।

## (३) दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्युनिज्म का विस्तार

बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) में जापान के परास्त होने पर पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्युनिज्म को बहुत अधिक बल मिला है। इस महायुद्ध के परिणामस्वरूप चीन न केवल जापान व अन्य साम्राज्यवादी देशों के प्रभाव व प्रभुत्त्व से मुक्त हुआ, अपितु वहां कम्युनिस्ट व्यवस्था की भी स्थापना हुई। इसी प्रकार दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक देश जहां महायुद्ध के कारण पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद से छुटकारा पाने में समर्थ हुए, वहां उनमें कम्युनिस्ट प्रवृत्तियां भी निरंतर बल पकड़ती गईं। इसमें संदेह नहीं, कि इस क्षेत्र के अन्य किसी देश में अभी पूर्ण रूप से समाजवादी व्यवस्था स्थापित नहीं हुई है, पर यह सर्वथा स्पष्ट है, कि इस क्षेत्र में कम्युनिस्ट दल निरंतर शक्ति पकड़ रहे हैं। इस इतिहास में हमारे लिये यह संभव नहीं है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में कम्युनिस्ट दलों के विकास पर संक्षिप्त रूप से भी प्रकाश डाल सकें। सम्भवतः, यह उचित भी नहीं है, क्योंकि अभी इन देशों की राजनीति ने कोई स्पष्ट रूप धारण नहीं किया है। पर यह बात निर्विवाद है, कि कम्युनिज्म का विकास व विस्तार एक ऐसी घटना है, जिसे एशिया के आधुनिक इतिहास को लिखते हुए उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

**इन्डोचायना**—डा० हो ची मिन्ह ने के नेतृत्व में इन्डोचायना में फ्रांस के प्रभुत्त्व के विरुद्ध किस प्रकार संघर्ष प्रारम्भ हुआ, इस पर हम इस इतिहास के इक्कीसवें

अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। जापान के परास्त होने पर १७ अगस्त, १९४५ को डा० हो ची मिन्ह और उसके क्रान्तिकारी अनुयायियों ने इन्डोचायना में 'वियट नाम' नाम से रिपब्लिकन राज्य की घोषणा कर दी और डा० हो को इस रिपब्लिक का राष्ट्रपति उद्घोषित किया गया। यह वियट नाम रिपब्लिक इन्डोचायना में फ्रांस के प्रभुत्व को स्वीकृत नहीं करती थी। स्वभावतः, फ्रांस इस रिपब्लिक की सत्ता को मानने के लिये तैयार नहीं हुआ, और उसने बाओ दाई के नेतृत्व में एक ऐसी इन्डोचायनीज सरकार की स्थापना का प्रयत्न किया, जो फ्रांस के प्रभुत्व को स्वीकृत करने के लिये व उसके साथ समझौता करके देश का शासन करने के लिये उद्यत थी। फ्रेञ्च सेनाओं की सहायता से बाओ दाई की सरकार ने डा० हो ची मिन्ह की रिपब्लिकन सरकार के साथ किस प्रकार संघर्ष किया, इस विषय पर भी हम इस इतिहास में पहले प्रकाश डाल चुके हैं।

पर यहां उल्लेखनीय बात यह है, कि डा० हो ची मिन्ह की सरकार न केवल फ्रांस के प्रभुत्व का अन्त कर इन्डोचायना की राष्ट्रीय स्वाधीनता की स्थापना के लिये तत्पर है, पर साथ ही वह कम्युनिस्ट व्यवस्था की भी पक्षपाती है। वह अपने देश के आर्थिक व सामाजिक जीवन को कम्युनिस्ट आदर्शों के अनुसार परिवर्तित कर रही है, और इन्डोचायना में उसी ढंग की व्यवस्था स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील है, जैसी कि माओ त्से तुंग की सरकार ने चीन में स्थापित की है। भूमि के सम्बन्ध में उसने इस ढंग के सुधार किये हैं, जिनसे कृषि की भूमि पर से जमींदारों का स्वत्त्व समाप्त हो गया है, और खेत किसानों में विभक्त कर दिये गये हैं। बड़े कल-कारखानों और व्यवसायों को राज्य के स्वामित्व में लाया गया है, और आर्थिक जीवन पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया है। डा० हो ची मिन्ह की सरकार को कम्युनिस्ट चीन की सहायता प्राप्त है, और इन्डोचायना में डा० हो की वही स्थिति है, जो चीन में माओ त्से तुंग की है।

फ्रांस अभी इन्डोचायना को अपनी अधीनता में रख सकने के सम्बन्ध में सर्वथा निराश नहीं हुआ है। छः वर्षों के निरन्तर संघर्ष के बावजूद भी फ्रेञ्च सेनाएं डा० हो की रिपब्लिकन सरकार को परास्त नहीं कर सकी हैं। कोई आश्चर्य नहीं, कि निकट भविष्य में सम्पूर्ण इन्डोचायना डा० हो ची मिन्ह की कम्युनिस्ट सरकार के अधिकार में आ जाय, और इन्डोचायना में भी चीन के ढंग की कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो जाय।

**मलाया**—महायुद्ध के बाद मलाया के सम्बन्ध में वहां के ब्रिटिश शासकों ने क्या व्यवस्था की, इस प्रश्न पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। मलाया के राष्ट्रवादी देशभक्त इस व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे। महायुद्ध के समय में जब

मलाया ब्रिटिश आधिपत्य से मुक्त हो गया था, तो वहां राष्ट्रीय स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियों को बहुत बल मिला था। उस समय वहां अनेक ऐसे दलों का संगठन हो गया था, जो न केवल मलाया की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये प्रयत्नशील थे, पर साथ ही इस बात के लिये भी उत्सुक थे, कि मलाया से विदेशी पूंजीपतियों और मध्यकालीन सामन्तपद्धति का अन्त होकर ऐसा शासन स्थापित हो, जो समाजवादी प्रवृत्तियों के अनुकूल हो। कम्युनिस्ट दल का भी इस समय मलाया में विकास हो गया था। जापान के परास्त हो जाने पर जब ब्रिटिश सेनाओं ने मलाया पर अपने शासन को फिर से स्थापित किया, तो कम्युनिस्ट लोगों के सम्मुख केवल यही मार्ग रह गया था, कि वे गुरीला युद्ध नीति का अनुसरण कर ब्रिटिश सेनाओं का मुकाबला करें। कम्युनिस्ट लोगों ने अपने स्वयंसेवक सैनिकों का व्यवस्थित रूप से संगठन किया और ब्रिटिश शासकों के साथ संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। १६ जून, १९४८ को तीन अंग्रेज (जो रबड़ के बगीचों के मालिक थे) कम्युनिस्ट लोगों द्वारा कतल कर दिये गये। ब्रिटिश लोग इसे कब सहन कर सकते थे? २० जून से २४ जून तक पांच दिनों में ८०० से भी अधिक कम्युनिस्ट लोग गिरफ्तार किये गये, और उन्हें कठोर दण्ड दिये गये। पर कम्युनिस्टों ने भी अपने संघर्ष को जारी रखा। १९४८-४९ में मलाया में कम्युनिस्ट लोगों की शक्ति इतनी बढ़ गई, कि ब्रिटेन को उन्हें वश में लाने के लिये नई सेनाएं भेजने की आवश्यकता हुई। यद्यपि ब्रिटिश सैन्यशक्ति के मुकाबले में मलाया के कम्युनिस्ट अपनी पृथक् सरकार कायम करने में सफल नहीं हुए हैं, पर इसमें सन्देह नहीं, कि वहां कम्युनिस्ट लोग पर्याप्त शक्ति रखते हैं, और ब्रिटिश शासक उनके गुरीला युद्ध से बहुत अधिक परेशानी अनुभव करते हैं। ब्रिटेन की सैन्यशक्ति अभी मलाया के कम्युनिस्टों को नष्ट नहीं कर सकी है।

**अन्य देशों में कम्युनिस्ट दल**—इन्डोचायना और मलाया के समान बरमा, इन्डोनीसिया और फिलिप्पीन में भी कम्युनिस्ट दल विद्यमान हैं। बरमा के कम्युनिस्ट भी गुरीला युद्ध का आश्रय देकर बरमी सरकार को परेशान करने में तत्पर हैं। इस देश में अनेक ऐसी अल्पसंख्यक जातियां विद्यमान है, जो बरमा के केन्द्रीय शासन के अधीन न रहकर अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील हैं। कम्युनिस्ट लोग इनके समर्थक हैं। इन्डोनीसिया में स्वतन्त्र व व्यवस्थित सरकार कायम हो जाने के कारण कम्युनिस्ट दल निर्बल पड़ गया है, पर उसकी सत्ता अब भी विद्यमान है। यही बात फिलिप्पीन द्वीपसमूह के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। थाईलैण्ड में कम्युनिस्ट दल अभी तक अपने पैर नहीं जमा सका है। वहां के शासक कम्युनिज्म के कट्टर विरोधी हैं, और किसी

भी प्रकार इस दल को सहन करने के लिये उद्यत नहीं है। पर फिर भी वहां ऐसे लोग विद्यमान हैं, जो कम्युनिज्म के पक्षपाती हैं।

**दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देश**—इन्डोनीसिया, थाईलैण्ड, मलाया, फिलिप्पीन और बरमा कब तक कम्युनिज्म से बचकर अपने-अपने क्षेत्र में लोकतन्त्रवाद के अनुसार अपना विकास करते रह सकेंगे, यह बात अभी निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। संयुक्तराज्य अमेरिका सदृश कम्युनिज्म-विरोधी देश इस बात के लिये उत्सुक हैं, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध राज्य कम्युनिज्म के प्रभाव से बचे रहें, और रूस के कम्युनिस्ट प्रभावक्षेत्र के अन्तर्गत न होने पावें। इसीलिये अमेरिका इन देशों को अपनी आर्थिक उन्नति व विकास के लिये उदारतापूर्वक सहायता देने के लिये तत्पर है। पर साथ ही यह बात भी स्पष्ट है, कि इस क्षेत्र में कम्युनिज्म निरन्तर उन्नति कर रहा है। पाश्चात्य साम्राज्यवाद से मुक्त होने के बाद ये देश इस बात के लिये प्रयत्नशील हैं, कि लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार अपनी उन्नति करें। पर पूंजीवाद और वैयक्तिक सम्पत्ति पर आश्रित लोकतन्त्रवाद इन देशों को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने में कहां तक सहायक हो सकेगा, इसी बात से इस प्रश्न का निर्णय होगा, कि ये देश कम्युनिज्म के प्रभाव से बच सकते हैं या नहीं।

## (४) भविष्य

बीसवीं सदी का द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों के लिये एक क्रान्तिकारी घटना थी। इस महायुद्ध ने इन देशों की राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में भारी परिवर्तन ला दिया है। ये परिवर्तन निम्नलिखित हैं—

(१) महायुद्ध में जापान के परास्त हो जाने के कारण इस देश की शक्ति बहुत क्षीण हो गई है। १९४४ तक जापान संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली और साम्राज्यवादी देशों में गिना जाता था। अब उसके विशाल साम्राज्य का अन्त हो गया है, और उसका क्षेत्र केवल उन द्वीपों तक सीमित रह गया है, जिनमें जापानी लोगों का निवास है। जापान की सैनिक शक्ति भी बहुत क्षीण हो गई है।

(२) चीन की राष्ट्रीय एकता और उसमें समाजवादी (कम्युनिस्ट) व्यवस्था की स्थापना महायुद्ध का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम है। ४७,००,००,००० जनता का यह विशाल देश अब न केवल राष्ट्रीय दृष्टि से एक संगठन में संगठित हो गया है, अपितु कम्युनिस्ट व्यवस्था को अपनाकर यह अपनी आर्थिक व

सैनिक शक्ति की वृद्धि के लिये भी तत्पर है। चीन की सीमा कम्युनिस्ट रूस की सीमा के साथ लगी हुई है, अतः प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में अब कम्युनिज्म का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया है।

(३) पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देश अब पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से प्रायः मुक्त हो गये हैं। इन्डोनीसिया, फिलिप्पीन, थाईलैण्ड और बरमा राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त कर अपनी उन्नति के लिये प्रयत्नशील हैं, और इन्डोचायना व मलाया में ऐसे आन्दोलन जारी हैं, जिनका यह परिणाम अवश्यम्भावी है, कि ये भी शीघ्र ही राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त कर लें।

इन देशों की वर्तमान राजनीति ने अभी ऐसा स्पष्ट रूप धारण नहीं किया है, कि इनके भविष्य के सम्बन्ध में कोई बात निश्चित रूप से कही जा सके। पर पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में कुछ बातें ऐसी हैं, जिनका यहां उल्लेख करना उपयोगी होगा—

(१) संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके साथी अन्य लोकतन्त्रवादी देश इस बात के लिये उत्सुक हैं, कि जापान फिर से शक्तिशाली हो। प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में कम्युनिस्ट चीन और रूस का प्रभाव जिस ढंग से बढ़ गया है, उसे ये देश अत्यन्त चिन्ता की दृष्टि से देखते हैं और कम्युनिज्म की बाढ़ को रोकने का उन्हें यह उपाय क्रियात्मक प्रतीत होता है, कि जापान फिर से शक्तिशाली बने। अमेरिका का सहारा पाकर जहां जापान अपनी सामरिक शक्ति को बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील है, वहां वह अपनी आर्थिक व व्यावसायिक उन्नति पर भी विशेषरूप से ध्यान दे रहा है। वह समय दूर नहीं है, जब जापान एक बार फिर संसार के सम्पन्न व शक्तिशाली राज्यों में गिना जाने लगेगा।

(२) दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में कम्युनिज्म का प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा है। इन देशों की आबादी में चीनी लोगों की संख्या कम नहीं है। इन्डोचायना, थाईलैण्ड और मलाया में चीनी लोग पर्याप्त संख्या में बसे हुए हैं। फिलीप्पीन, इन्डोनीसिया और बरमा में भी चीनी लोग अच्छी संख्या में विद्यमान हैं। इन प्रवासी चीनी लोगों का अपने देश के साथ घनिष्ट सम्पर्क है। कम्युनिज्म इनमें निरन्तर शक्ति पकड़ रहा है, और इनके द्वारा अन्य लोग भी कम्युनिज्म के प्रभाव में आते जा रहे हैं। प्राचीन समय में दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देश चीन के सांस्कृतिक प्रभाव में रह चुके हैं। यदि आधुनिक समय में भी शक्तिशाली कम्युनिस्ट चीन [illegible] आर्थिक व्यवस्था को दक्षिण-पूर्वी एशिया में [illegible] नहीं

है। संयुक्त राज्य अमेरिका सदृश कम्युनिस्ट-विरोधी देश इस प्रयत्न में हैं, कि इन देशों को कम्युनिज्म के प्रभाव से बचाया जाय। इस उद्देश्य से वे इन देशों की दिल खोलकर सहायता कर रहे हैं। पर यह असम्भव नहीं है, कि निकट भविष्य में दक्षिण-पूर्वी एशिया कम्युनिज्म और लोकतन्त्रवाद के संघर्ष का क्षेत्र बन जाय।

(३) दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देश उन अर्थों में राष्ट्रीय दृष्टि से एक नहीं हैं, जिनमें कि फ्रांस, जर्मनी, इङ्गलैण्ड आदि देश राष्ट्रीय राज्य (नेशनल स्टेट) हैं। इनमें अनेक अल्पसंख्यक जातियों की सत्ता है। बरमा, मलाया, थाईलैण्ड आदि में अनेक ऐसी जातियों का निवास है, जो अल्पसंख्यक हैं, और जो अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये उत्सुक हैं। चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि यूरोपियन राज्यों में अल्पसंख्यक जातियों की जिस ढंग की समस्याएं १९३९-४५ के महायुद्ध से पहले विद्यमान थीं, वैसी ही समस्याएं दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में भी विद्यमान हैं। यह समय ही बतायगा, कि इन देशों में नये स्थापित हुए लोकतन्त्र राज्य इन समस्याओं को हल करने में कहां तक सफल हो सकते हैं। यह असम्भव नहीं है, कि अल्पसंख्यक जातियों के प्रश्न को लेकर कम्युनिस्ट लोग इन देशों में अपनी शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करें।

## (५) उपसंहार

एशिया के इस आधुनिक इतिहास का प्रारम्भ हमने उस समय से किया था, जब कि इस महाद्वीप के सब देश अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में डूबे हुए थे। धार्मिक सुधारणा, विद्या की पुनः जागृति, व्यावसायिक क्रान्ति आदि के कारण यूरोप के देशों में जिस प्रकार नवयुग का श्रीगणेश हो गया था, एशिया में उसके चिह्न भी अभी प्रकट नहीं हुए थे। उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में जब पाश्चात्य यूरोप के विविध देशों में यान्त्रिक शक्ति से चलनेवाले विशालकाय कारखाने स्थापित होने शुरू हो गये थे, रेलवे लाइनों के निर्माण से विविध देश एक दूसरे के अत्यन्त समीप आने लगे थे और भाप की शक्ति से चलनेवाले जहाज महासमुद्रों में स्वच्छन्द रूप से विचरने लगे थे, उस समय एशिया के विविध देश मध्यकालीन परिस्थितियों से आगे नहीं बढ़े थे। सर्वत्र राजाओं का एकच्छत्र व निरंकुश शासन विद्यमान था, लोकतन्त्रवाद व राष्ट्रीयता की प्रवृत्तियों से लोग सर्वथा अपरिचित थे और आधुनिक ज्ञान विज्ञानों का कहीं भी विकास व प्रवेश नहीं हुआ था। वस्तुतः एशिया उन्नति की दौड़ में यूरोप से बहुत पीछे रह गया था।

इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि पाश्चात्य देश एशिया में अपने साम्राज्यवाद का सुगमता के साथ विस्तार कर सकें। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन,

हालैण्ड, पोर्तुगाल आदि यूरोपियन देशों ने इस स्थिति का पूर्णरूप से उपयोग किया और एशिया के बड़े भाग को अपने अधीन कर लिया। जिन देशों को वे राजनीतिक दृष्टि से अपनी अधीनता में लाने में समर्थ नहीं भी हुए, वहां भी उन्होंने अपने आर्थिक साम्राज्य का विकास किया और कुछ समय के लिये जापान, चीन आदि देश भी यूरोप के वशवर्ती हो गये। इस दशा में अनेक विचारकों ने यह प्रतिपादित करना प्रारम्भ किया, कि पाश्चात्य लोग नसल व जाति की दृष्टि से एशियन लोगों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है, और ईश्वर ने उन्हें यह कार्य सुपुर्द किया है, कि वे एशिया व अफ्रीका के लोगों पर शासन करें और इस महाद्वीप के लोग पाश्चात्य सभ्यता का अनुसरण करने में ही अपना हित व लाभ समझें।

पर ये विचारक इस बात को भूल गये थे, कि यूरोप के लोगों का यह उत्कर्ष केवल सामयिक था। इतिहास में अनेक सदियों तक एशियन लोग ज्ञान, विज्ञान धर्म व सभ्यता के क्षेत्र में यूरोप की अपेक्षा अधिक उन्नत रहे थे, और इसीलिये वे संसार के बहुत बड़े भाग में अपनी सभ्यता का प्रसार करने में समर्थ हुए थे। राजनीतिक व सामरिक दृष्टि से भी अनेक बार एशियन लोगों ने यूरोप के अच्छे बड़े भाग को अपनी अधीनता में रखने में सफलता प्राप्त की थी। उन्नीसवीं सदी में जो यूरोपियन लोग एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हुए थे, उसका कारण यह नहीं था, कि पाश्चात्य लोग एशियन लोगों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं। इसका कारण केवल यह था, कि आधुनिक युग में ज्ञान विज्ञान की जो असाधारण उन्नति हुई, उसका प्रारम्भ यूरोप में हुआ था।

पर ज्ञान, विज्ञान व विचार किसी देश विशेष की सम्पत्ति नहीं होते। प्राचीन काल में चीन, भारत और अरब ने जो नये आविष्कार किये थे, उनके कारण इन देशों को सामयिक रूप से यूरोप व अन्य क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने का अवसर प्राप्त हो गया था। इसी प्रकार आधुनिक युग में यूरोप में जो नये आविष्कार हुए, उन्होंने सामयिक रूप से यूरोप को उत्कर्ष का अवसर प्रदान कर दिया था।

एक सदी के लगभग समय में एशिया के विविध देशों ने पाश्चात्य व आधुनिक ज्ञान विज्ञान व विचारसरणी को अपना लिया। परिणाम यह हुआ, कि जापान, चीन, भारत आदि एशियन देश भी उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुए, और अब बीसवीं सदी के मध्य भाग में पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद व उत्कर्ष का प्रायः अन्त हो गया है। जापान और चीन संसार की प्रधान शक्तियों में गिने जाने लगे हैं, और अब वह समय दूर नहीं है, जब कि भारत, इन्डोनीसिया आदि अन्य एशियन देश भी पाश्चात्य देशों के समकक्ष होकर संसार की सभ्यता और राजनीति में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर लें। अब एशिया जाग गया है, वह उन्नति के मार्ग पर बड़ी

तेजी के साथ अग्रसर हो रहा है। व्यवसाय, व्यापार, ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता आदि सब क्षेत्रों में वह उन्नति कर रहा है, और यह असम्भव नहीं कि प्राचीन काल के समान भविष्य में भी संसार का नेतृत्व फिर उसके हाथों में आ जाय। पाश्चात्य जगत् ने भौतिक विज्ञानों के सम्बन्ध में जो उन्नति की है, उसके कारण वह अपनी समस्याओं को हल नहीं कर सका है। संसार में युद्ध का भय बहुत अधिक बढ़ गया है, और मनुष्य अपनी वैज्ञानिक खोजों को परस्पर संहार के लिये प्रयुक्त करने में तत्पर है। एशिया के निवासी भौतिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक और मानव गुणों को भी महत्त्व देते रहे हैं। आज जब एशिया भौतिक उन्नति में भी यूरोप और अमेरिका का समकक्ष होकर संसार की राजनीति में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर रहा है, यह अवश्यम्भावी है, कि वह मानव जीवन सम्बन्धी अपने उच्च आदर्शों के अनुसार संसार की समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करे और इस प्रकार मानव समाज के हित व कल्याण में सहायक हो।

# शब्दानुक्रमणिका

पूर्वी एशिया
चीन का मध्यदेश (अठारह प्रान्त)
सिन्किआंग तिब्बत मंगोलिया
रूसी सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक
बाह्य मंगोलिया
मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक
सिन्किआंग
तकला मकान मरुस्थल
काशगर
तिब्बत
ल्हासा
चिंघाई
निंग्शिआ
सुईयुआन
चहर
जहोल
किरिन
मुकदन
कोरिया
पेकिंग
होपेह
शान्सी
शांतुंग
शेन्सी
होनान
नानकिंग
आन्हवेई
शंघाई
हूपेह
सिकाँग
जेचवान
किआँग्सी
हूनान
फूकिआन
फारमूसा
क्वाँगतुंग
क्वांगसी
क्वाईचौ
युनान
हाँगकाँग
हैनान
पाकिस्तान
भारत
थाइलैण्ड